स इति ह

पंचम भाग (अध्याय २६ से ३७)

(विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रकाश मे धर्मशास्त्र-रचना का विवेचन)

मूल लेखक

भारतरत्न, महामहोपाध्याय, डॉ० पाण्डुरङ्ग काणे

अनुवादक

अर्जुन चौबे का , एम० ए०

उत्तर प्रदेश शासन

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

महात्मा गान्धी मार्ग, लखनऊ

ास्त्र का इतिहास

भाग ५

संस्करण

१९७३

इस भाग का मूल्य

२६ रु

हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ

मुद्रक

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रका   की ओर से

• • •

धर्म एक ऐसा व्यापक शब्द है जो सामने आते ही किसी जाति या समाज का इतिहास और उसके जीवन की भूमिका प्रस्तुत करने मे समर्थ होता है। 'धर्म' शब्द मे जाति विशेष की सभ्यता, सस्कृति, आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा जीवन प्रणाली की प्रक्रिया और निदर्शन प्रस्तुत होता है। धर्म की परिभाषा भी हमारे दार्शनिको, चिन्तको और मनीषियो ने अपने-अपने समय के विचार और चिन्तन के परिणाम स्वरूप भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रस्तुत की है। 'धारणाद् धर्म इत्याहु' के अनुसार धर्म जीवन का मूलाधार है। इसी से मनुष्य को प्रेरणा और प्रकाश उपलब्ध होता है। यही धर्म जीवन की गतिविधि और प्रगति मे सहायक होता है। कहने का अर्थ यह है कि धर्म वस्तुत सकुचित नही, अपितु विशद, महान् और उदात्त भावना से प्रकाशमान होता है। ससार मे जितने भी धर्म है, उनका अपना महत्त्व और स्वत्व तो है ही किन्तु हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति की अपनी विशेष महत्ता और सत्ता रही है। हिन्दू धर्म अन्य सभी धर्मो और जातियो का समादर और सम्मान करने मे सदैव अग्रणी रहा है।

इसी हिन्दू धर्म की विभिन्न विशेषताओं तथा इसके अन्तर्गत उपलब्ध विभिन्न शाखाओ और क्षेत्रो का विशद परिचय एव सैद्धान्तिक विवरण प्रस्तुत ग्रथ 'धर्मशास्त्र का इतिहास' मे अकित करने की चेष्टा हुई है। इसके सम्मान्य और विद्वान् रचनाकार भारत-रत्न पाडुरग वामन काणे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लेखक तथा प्राच्य इतिहास और साहित्य के मनीषी रहे है। उन्होने सस्कृत और सस्कृति के साहित्य का प्रगाढ अध्ययन तो किया ही, साथ ही उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण साधना और सेवा यह है कि हमे इस प्रकार के अनमोल और महत्त्वपूर्ण ग्रथ उपलब्ध हुए। श्री काणे जैसे महाराष्ट्रीय विद्वानो के विद्या-व्यसन और निष्ठा की प्रशसा करनी ही पडती है। ऐसे विद्वानो और मनीषियो के प्रति हम कृतज्ञ है। उनकी इन कृतियो से जिज्ञासुओ और आनेवाली पीढी को प्रेरणा और प्रकाश मिलेगा, हमारा यह निश्चित मत है। हमे यह कहने मे सकोच नही कि 'धर्मशास्त्र का इतिहास' हमारे भारतीय जीवन का इतिहास है और इसमे हम

अपने अतीत की गौरवमयी गाथा और नियामक सूत्रो का निर्देश और सन्देश प्राप्त करते है। विद्वान् लेखक ने बडे मनोयोग और श्रम से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है । इसे एक तरह से हिन्दू जाति का विश्वकोश कहे तो अन्यथा न होगा । इसमे लेखक ने धर्म, धर्मशास्त्र, जाति, वर्ण, उनके कर्तव्य, अधिकार, सस्कार, आचार-विचार, यज्ञ, दान, प्रतिष्ठा, व्यवहार, तीर्थ, व्रत, काल, मुहूर्त, धार्मिक परम्पराओ की विभिन्न दार्शनिक पृष्ठभूमिओ, वर्तमान वैधानिक परिस्थिति आदि का विवेचन करते हुए सामाजिक परम्परा तथा उसकी उपलब्धियो का विस्तृत और आवश्यक विवरण प्रस्तुत किया है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थो से सकेत-सूत्र और सन्दर्भ एकत्र करना कितना कठिन है, इसकी कल्पना की जा सकती है ।

विद्वान् लेखक ने इस महान् ग्रन्थ को पाँच खण्डो मे सम्पूर्ण किया है। प्रस्तुत पुस्तक इसी 'धर्मशास्त्र का इतिहास' के पाँचवे खण्ड का उत्तरार्ध है। मूल ग्रन्थ के सात वाल्यूम है तथा इस हिन्दी सस्करण के पाँच भाग। इन सभी भागो की एक सयुक्त अनुक्रमणिका भी हम अलग पुस्तिका के रूप मे प्रस्तुत करेगे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कागज की महर्घता और मुद्रण, वेष्टन आदि की दरो मे पर्याप्त वृद्धि हो जाने पर भी हमने इसका मूल्य पहले मुद्रित भागो के लगभग समान ही रखने की चेष्टा की है। हमे विश्वास है कि प्रचार और प्रसार की दृष्टि से हमारे इस आयास का स्वागत और समादर किया जायगा । हमारी यह भी सतत चेष्टा होगी कि भविष्य मे भी हम इस प्रकार के महनीय ग्रन्थ उचित मूल्य पर ही अपने पाठको को सुलभ कर सके ।

हम एक बार पुन हिन्दी के छात्रो, पाठको, अध्यापको, जिज्ञासुओ और विद्वानो से, विशेषत उन लोगो से, जिन्हे भारत और भारतीयता के प्रति विशेष ममत्व और अपनत्व है, यह अनुरोध करना चाहेगे कि वे इस ग्रन्थ का अवश्य ही अध्ययन करे। इससे उन्हे बहुत कुछ प्राप्त होगा । इससे अधिक कुछ कहा नही जा सकता । हमारी अभिलाषा है, यह ग्रन्थ प्रत्येक परिवार मे सुलभ और समादृत हो ।

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
सचिव,
हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन

निर्जला एकादशी, स० २०३० (१९७३ ई०)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
महात्मा गाधी मार्ग, लखनऊ

प्राक्कथन

'व्यवहारमयूख' के संस्करण के लिए सामग्री संकलित करते समय मेरे ध्यान मे आया कि जिस प्रकार मैंने 'साहित्यदर्पण' के संस्करण मे प्राक्कथन के रूप मे "अलंकार साहित्य का इतिहास" नामक एक प्रकरण लिखा है, उसी पद्धति पर 'व्यवहारमयूख' मे भी एक प्रकरण संलग्न कर दूं, जो निश्चय ही धर्मशास्त्र के भारतीय छात्रो के लिए पूर्ण लाभप्रद होगा। इस दृष्टि से मै जैसे-जैसे धर्मशास्त्र का अध्ययन करता गया, मुझे ऐसा दीख पडा कि सामग्री अत्यन्त विस्तृत एवं विशिष्ट है, उसे एक संक्षिप्त परिचय मे आबद्ध करने से उसका उचित निरूपण न हो सकेगा। साथ ही उसकी प्रचुरता के समुचित परिज्ञान, सामाजिक मान्यताओ के अध्ययन, तुलनात्मक विधिशास्त्र तथा अन्य विविध शास्त्रो के लिए उसकी जो महत्ता है, उसका भी अपेक्षित प्रतिपादन न हो सकेगा। निदान, मैने यह निश्चय किया कि स्वतन्त्र रूप से धर्मशास्त्र का एक इतिहास ही लिपिवद्ध करूँ। सर्वप्रथम, मैंने यह सोचा, एक जिल्द मे आदि काल से अब तक के धर्मशास्त्र के कालक्रम तथा विभिन्न प्रकरणो से युक्त ऐतिहासिक विकास के निरूपण से यह विषय पूर्ण हो जायगा। किन्तु धर्मशास्त्र मे आने वाले विविध विषयो के निरूपण के बिना यह ग्रन्थ सांगोपांग नही माना जा सकता। इस विचार से इसमे वैदिक काल से लेकर आज तक के विधि-विधानो का वर्णन आवश्यक हो गया। भारतीय सामाजिक संस्थानो मे और सामान्यतः भारतीय इतिहास मे जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए है तथा भारतीय जनजीवन पर उनके जो प्रभाव पडे है, वे बडे गम्भीर है।

यद्यपि, उच्च कोटि के विश्वविद्यालय के विद्वानो ने धर्मशास्त्र के विशिष्ट विषयो पर विवेचन का प्रशस्त कार्य किया है, फिर भी, जहाँ तक मै जानता हूँ, किसी लेखक ने धर्मशास्त्र मे आये हुए समग्र विषयो के विवेचन का प्रयास नही किया। इस दृष्टि से अपने ढंग का यह पहला प्रयास माना जायगा। अतः इस महत्त्वपूर्ण कार्य से यह आशा की जाती है कि इससे पूर्व के प्रकाशनो की न्यूनताओ का ज्ञान भी सम्भव हो सकेगा। इस पुस्तक मे जो त्रुटि, दुरूहता और अदक्षता प्रतीत होती है, उनके लिए लेखन-काल की परिस्थिति एवं अन्य कारण अधिक उत्तरदायी है। इन बातो की ओर ध्यान दिलाना इसलिए आवश्यक है कि इस स्वीकारोक्ति से मित्रो को मेरी कठिनाइयो का ज्ञान हो जाने से उनका भ्रम दूर होगा और वे इस कार्य की प्रतिकूल एवं कटु आलोचना नही करेगे। अन्यथा, आलोचको का यह सहज अधिकार है कि प्रतिपाद्य विषय मे की गयी अशुद्धियो और संकीर्णताओ की कटु से कटु आलोचना करे।

आद्योपान्त इस पुस्तक के लिखते समय एक बडा प्रलोभन यह था कि धर्मशास्त्र मे व्याख्यात प्राचीन एवं मध्य कालीन भारतीय रीति, परम्परा एवं विश्वासो की अन्य जन-समुदायो और देशो की रीति, परम्परा तथा विश्वासो से तुलना की जाय। किन्तु मैने यथासंभव इस प्रकार की तुलना से दूर रहने का प्रयास किया है। फिर भी, कभी-कभी कतिपय कारणो से मुझे ऐसी तुलनाओ मे प्रवृत्त होना पडा है। अधिकांश लेखक (भारतीय तथा यूरोपीय) इस प्रवृत्ति के है कि वे आज का भारत जिन कुप्रथाओ से आक्रान्त है, उनका पूरा उत्तरदायित्व जातिप्रथा एवं धर्मशास्त्र मे निर्दिष्ट जीवन-पद्धति पर डाल देते है, किन्तु इस विचार से सर्वथा सहमत होना बडा कठिन है। अतः मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि विश्व के पूरे जन-

समुदाय का स्वभाव साधारणत एक जैसा है और उसमे निहित सुप्रवृत्तियाँ एव दुष्प्रवृत्तियाँ सभी देशो मे एक सी रही है । किसी भी स्थान-विशेष मे आरम्भकालिक आचार पूर्ण लाभप्रद रहते है, फिर आगे चल कर सम्प्रदायो मे उनके दुरुपयोग एव विकृतियाँ समान रूप मे स्थान ग्रहण कर लेती है । चाहे कोई देश विशेष हो या समाज, वे किसी न किसी रूप मे जातिप्रथा या उससे भिन्न प्रथा से आवद्ध रहते आये है।

सस्कृत ग्रन्थो से लिये गये उद्धरणो के सम्वन्ध मे दो शब्द कह देना आवश्यक है। जो लोग अग्रेजी नही जानते, उनके लिए ये उद्धरण इस पुस्तक मे दिये गये तर्को की भावनाओ को समझने मे एक सीमा तक सहायक होगे। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष मे इन उद्धरणो के लिए अपेक्षित पुस्तको को सुलभ करने वाले पुस्तकालयो या साधनो का भी अभाव है । उपर्युक्त कारणो से सहस्रो उद्धरण पादटिप्पणियो मे उल्लिखित हुए है । अधिकाश उद्धरण प्रकाशित पुस्तको से लिये गये है एव वहुत थोडे से अवतरण पाण्डुलिपियो और ताम्रलेखो से उद्धृत है। शिलालेखो तथा ताम्रपत्रो के अभिलेखो के अवतरणो के सम्वन्ध मे भी उसी प्रकार का सकेत अभिप्रेत है । इन तथ्यो से एक वात और प्रमाणित होती हे कि धर्मशास्त्र मे विहित विधियो से, जो कई हजार वर्षो से जनसमुदाय द्वारा आचरित हुई ह तथा शासको द्वारा विधि के रूप मे स्वीकृत हुई हे, यह निश्चित होता है कि ऐसे नियम पडितम्मन्य विद्वानो या कल्पनाशास्त्रियो द्वारा सकलित काल्पनिक नियम मात्र नही रहे है । वे व्यवहार्य रहे है ।

जिन पुस्तको के उद्धरण मुझे लगातार देने पडे हे और जिनसे मै पर्याप्त लाभान्वित हुआ हूँ, उनमे से कुछ ग्रन्थो का उल्लेख आवश्यक है। यथा—ब्लूमफील्ड की 'वैदिक अनुक्रमणिका', प्रोफेसर मैकडानल और कीथ की 'वैदिक अनुक्रमणिकाएँ', मैक्समूलर द्वारा सम्पादित 'प्राच्य धर्म पुस्तके ।'

इसके अतिरिक्त मै असाधारण विद्वान् डा० जाली को स्मरण करता हूँ जिनकी पुस्तक को मैने अपने सामने आदर्श के रूप मे रखा है। मैने निम्नलिखित प्रमुख पडितो की कृतियो से भी वहुमूल्य सहायता प्राप्त की है, जो इस क्षेत्र मे मुझसे पहले कार्य कर चुके है, जैसे डा० वुलर, राव साहव वी० एन० मडलीक, प्रोफेसर हापकिन्स्, श्री एम० एम० चक्रवर्ती तथा श्री के० पी० जायसवाल । मै 'वाई' के परमहस केवलानन्द स्वामी के सतत साहाय्य और निर्देश (विशेषत श्रौत भाग) के लिए, पूना के श्री चिन्तामणि दातार द्वारा दर्श-पौर्णमास के परामर्श और श्रौत भाग के अन्य अध्यायो के प्रति सतर्क करने लिए, श्री केशव लक्ष्मण ओगले द्वारा अनुक्रमणिका भाग पर कार्य करने के लिए और तर्कतीर्थ रघुनाथ शास्त्री कोकजे द्वारा सम्पूर्ण पुस्तक को पढकर सुझाव और सशोधन देने के लिए असाधारण आभार मानता हूँ। मै 'इडिया आफिस पुस्तकालय' (लदन) के अधिकारियो का और डा० एस० के० वेल्वेलकर, महामहोपाध्याय प्रोफेसर कुप्पुस्वामी शास्त्री, प्रोफेसर रगस्वामी आयगर, प्रोफेसर पी० पी० एन० शास्त्री, डा० भवतोष भट्टाचार्य, डा० आल्सडोर्फ, प्रोफेसर एच० डी० वेलणकर, विलसन कालेज वम्बई, का वहुत ही कृतज्ञ हूँ, जिन्होने मुझे अपने अधिकार मे सुरक्षित सस्कृत की पाण्डुलिपियो के वहुमूल्य सकलनो के अवलोकन की हर सभव सुविधाएँ प्रदान की । विभिन्न प्रकार के निर्देशन मे सहायता के लिए मै अपने मित्र समुदाय तथा डा० वी० जी० पराजपे, डा० एस० के० दे, श्री पी० के० गोडे और श्री जी० एन० वैद्य का आभार मानता हूँ। हर प्रकार की सहायता के वावजूद इस पुस्तक मे होनेवाली न्यूनताओ, च्युतियो और उपेक्षाओ से मै पूर्ण परिचित हूँ। अत इन सव कमियो के प्रति कृपालु होने के लिए मै विद्वानो से प्रार्थना करता हूँ।*

——पाण्डुरग वामन काणे

---

* मूल ग्रन्थ के प्रथम तथा द्वितीय खण्ड के प्राक्कथनो से सकलित ।

विषय-सूची

(पञ्चम खण्ड, अध्याय २६ से ३७ तक)

उ रण-संकेत

अग्नि०=अग्निपुराण
अ० वे० या अथर्व०=अथर्ववेद
अनु० या अनुशासन०=अनुशासन पर्व
अन्त्येष्टि०=नारायण की अन्त्येष्टिपद्धति
अ० क० दी०=अन्त्यकर्मदीपक
अर्थशास्त्र, कौटिल्य०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
आ० गृ० सू० या आपस्तम्बगृ०=आपस्तम्बगृह्यसूत्र
आ० ध० सू० या आपस्तम्बधर्म०=आपस्तम्बधर्मसूत्र
आप० म० पा० या आपस्तम्बम०=आपस्तम्बमन्त्रपाठ
आ० श्रौ० सू० या आपस्तम्बश्रौ०=आपस्तम्बश्रौतसूत्र
आश्व० गृ० सू० या आश्वलायनगृ०=आश्वलायनगृह्यसूत्र
आश्व० गृ० प० या आश्वलायन गृ० प०=आश्वलायन-गृह्यपरिशिष्ट
ऋ० या ऋग्०=ऋग्वेद, ऋग्वेदसहिता
ऐ० आ० या ऐतरेय आ०=ऐतरेयारण्यक
ऐ० ब्रा० या ऐतरेय ब्रा०=ऐतरेय ब्राह्मण
क० उ० या कठोप०=कठोपनिषद्
कलिवर्ज्य०=कलिवर्ज्यविनिर्णय
कल्प० या कल्पतरु, कृ० क०=लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु
कात्या० स्मृ० सा०=कात्यायनस्मृतिसारोद्धार
का० श्रौ० सू० या कात्यायनश्रौ०=कात्यायनश्रौतसूत्र
काम० या कामन्दक=कामन्दकीय नीतिसार
कौ० या कौटिल्य० या कौटिलीय०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौ०=कौटिल्य का अर्थशास्त्र (डॉ० शाम शास्त्री का सस्करण)
कौ० ब्रा० उप० या कौषीतकिब्रा०=कौषीतकिब्राह्मण उपनिषद्
ग० भ० या गगाभ० या गगाभक्ति०=गगाभक्तितरगिणी
गगा वा० या गगावाक्या०=गगावाक्यावली
गरुड़०=गरुडपुराण
गृ० र० या गृहस्थ०=गृहस्थरत्नाकर
गौ० या गौ० ध० सू० या गौतमधर्म०=गौतमधर्मसूत्र
गौ० पि० सू० या गौतमपि०=गौतमपितृमेधसूत्र
चतुर्वर्ग०=हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि या केवल हेमाद्रि
छा० उप० या छान्दोग्य उप०=छान्दोग्योपनिषद्
जीमूत०=जीमूतवाहन
जै० या जैमिनि०=जैमिनिपूर्वमीमासासूत्र
जै० उप०=जैमिनीयोपनिषद्
जै० न्या० मा०=जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
ताण्ड्य०=ताण्ड्यमहाब्राह्मण
ती० क० या ती० कल्प०=तीर्थकल्पतरु
तीर्थ प्र० या ती० प्र०=तीर्थप्रकाश
ती० चि० या तीर्थचि०=वाचस्पति की तीर्थचिन्तामणि
तै० आ० या तैत्तिरीया०=तैत्तिरीयारण्यक
तै० उ० या तैत्तिरीयोप०=तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० ब्रा०=तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० स०=तैत्तिरीय सहिता
त्रिस्थली०यात्रि०से०=भट्टोजि का त्रिस्थली सेतु सारसग्रह
त्रिस्थली०=नारायण भट्ट का त्रिस्थलीसेतु
नारद० या ना० स्मृ०=नारदस्मृति
नारदीय० या नारद०=नारदीयपुराण
नीति वा० या नीतिवाक्या०=नीतिवाक्यामृत
निर्णय० या नि० सि०=निर्णयसिन्धु
पद्म०=पद्मपुराण
परा० मा०=पराशरमाधवीय
पाणिनि या पा०=पाणिनि की अष्टाध्यायी
पार० गृ० या पारस्कर गृ०—पारस्करगृह्यसूत्र
पू० मी० सू० या पूर्व मी०=पूर्वमीमासासूत्र
प्रा० त० या प्राय० तत्व०=प्रायश्चित्ततत्त्व

प्रा० प्र० प्राय० प्र० या प्रायश्चित्तप्र०=प्रायश्चित्तप्रकरण
प्राय० प्रका० या प्रा० प्रकाश=प्रायश्चित्तप्रकाश
प्राय० वि०, प्रा० वि० या प्रायश्चित्तवि०=प्रायश्चित्त-विवेक
प्रा० म० या प्राय० म०=प्रायश्चित्तमयूख
प्रा० सा० या प्राय० सा०=प्रायश्चित्तसार
बु० भू०=बुधभूषण
बृ० या बृहस्पति०=बृहस्पतिस्मृति
बृ० उ० या बृह० उप०=बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ० स० या बृहत्स०=बृहत्संहिता
बौ० गृ० सू० या बौधायनगृ०=बौधायनगृह्यसूत्र
बौ० ध० सू० या बौधा० ध० या बौधायनधर्म०=बौधायनधर्मसूत्र
बौ० श्रौ० सू० या बौधा० श्रौ० सू०=बौधायनश्रौतसूत्र
ब्र०, ब्रह्म० या ब्रह्मपु०=ब्रह्मपुराण
ब्रह्माण्ड०=ब्रह्माण्डपुराण
भवि० पु० या भविष्य०=भविष्यपुराण
मत्स्य०=मत्स्यपुराण
म० पा० या मद० पा०=मदनपारिजात
मनु या मनु०=मनुस्मृति
मानव० या मानवगृह्य०=मानवगृह्यसूत्र
मिता०=मिताक्षरा (विज्ञानेश्वरकृत याज्ञवल्क्य-स्मृति की टीका)
मी० कौ० या मीमांसाकौ०=मीमांसाकौस्तुभ (खण्डदेव)
मेधा० या मेधातिथि=मनुस्मृति पर मेधातिथि की टीका या मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि
मैत्री-उप०=मैत्र्युपनिषद्
मै० स० या मैत्रायणी०=मैत्रायणी संहिता
य० ध० स० या यतिधर्म०=यतिधर्मसंग्रह
या०, याज्ञ या याज्ञ०=याज्ञवल्क्यस्मृति
राज०=कल्हण की राजतरंगिणी
रा० ध० कौ० या राज० कौ०=राजधर्मकौस्तुभ
रा० नी० प्र० या राजनी० प्र०=मित्र मिश्र का राज-नीति-प्रकाश
राज० र० या राजनीतिर०=चण्डेश्वर का राजनीतिरत्नाकर
वाज० स० या वाजसनेयी स०=वाजसनेयी संहिता
वायु०=वायुपुराण
वि० चि० या विवादचि०=वाचस्पति मिश्र की विवाद-चिन्तामणि
वि० र० या विवादर०=विवादरत्नाकर
विश्व० या विश्वरूप=याज्ञवल्क्यस्मृति की विश्वरूप कृत टीका
विष्णु०=विष्णुपुराण
विष्णु या वि० ध० स०=विष्णुधर्मसूत्र
वी० मि०=वीरमित्रोदय
वै० स्मा० या वैखानस०=वैखानसस्मार्तसूत्र
व्यव० त० या व्यवहार०=रघुनन्दन का व्यवहारतत्त्व
व्य० नि० या व्यवहारनि०=व्यवहारनिर्णय
व्य० प्र० या व्यवहारप्र०=मित्र मिश्र का व्यवहारप्रकाश
व्य० म० या व्यवहारम०=नीलकण्ठ का व्यवहारमयूख
व्य० मा० या व्यवहारमा०=जीमूतवाहन की व्यवहार-मातृका
व्यव० सा०=व्यवहारसार
श० ब्रा० या शतपथ ब्रा०=शतपथब्राह्मण
शातातप=शातातपस्मृति
शा० गृ० या शांखायनगृ०=शांखायनगृह्यसूत्र
शा० ब्रा० या शांखायनब्रा०=शांखायनब्राह्मण
शा० श्रौ० सू० या शांखायनश्रौत०=शांखायनश्रौतसूत्र
शान्ति०=शान्तिपर्व
शुक्र० या शुक्रनीति०=शुक्रनीतिसार
शु० कौ० या शुद्धिकौ०=शुद्धिकौमुदी
शु० क० या शुद्धिकल्प०=शुद्धिकल्पतरु (शुद्धि पर)
शु० प्र० या शुद्धिप्र०=शुद्धिप्रकाश
शूद्रकम०=शूद्रकमलाकर
श्रा० क० ल० या श्राद्धकल्प०=श्राद्धकल्पलता
श्रा० क्रि० कौ० या श्राद्धक्रिया०=श्राद्धक्रिया-कौमुदी

श्रा० प्र० या श्राद्धप्र०=श्राद्धप्रकाश
श्रा० वि० या श्राद्धवि०=श्राद्धविवेक
स० श्रौ० सू० या सत्या० श्रौ०=सत्याषाढश्रौतसूत्र
स० वि० या सरस्वतीवि०=सरस्वतीविलास
सा० ब्रा० या साम० ब्रा०=सामविधान ब्राह्मण
स्कन्द या स्कन्दपु०=स्कन्दपुराण
स्मृ० च० या स्मृतिच०=स्मृतिचन्द्रिका
स्मृ० मु० या स्मृतिमु०=स्मृतिमुक्ताफल
सं० कौ० या संस्कारकौ०=संस्कारकौस्तुभ
सं० प्र०=संस्कारप्रकाश
सं० र० मा० या संस्कारर०=संस्काररत्नमाला
हि० गृ० या हिरण्य० गृ०=हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र

अंग्रेजी नामो के संकेत

A G =ए० जि० (एन्श्येण्ट जियॉग्रफी आव इण्डिया)
Ain A =आइने अकबरी (अबुल फजल कृत)
A. I R =आल इण्डिया रिपोर्टर
A S, R =आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स
A S W I =आर्क्यालॉजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इण्डिया
B B R. A S =बाम्बे ब्राच, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी
B O R I =भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
C I I =कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम्
E I =एपिग्रैफिया इण्डिका (एपि० इण्डि०)
I A =इण्डियन एण्टिक्वेरी (इण्डि० ऐण्टि०)
I H Q =इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली
J A O S =जर्नल आव दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी
J A S B =जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बेंगाल
J B O R S =जर्नल आव दि बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसाइटी
J R A S =जर्नल आव दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (लन्दन)
S B E =सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट (मैक्समूलर द्वारा सपादित)

प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो तथा लेखको का काल-निर्धारण

[इनमे से वहुतो का काल सम्भावित, कल्पनात्मक एव विचाराधीन है।

[ई० पू० = ईसा के पूर्व, ई० उ० = ईसा के उपरान्त]

४०००—१००० (ई० पू०)	यह वैदिक सहिताओ, ब्राह्मणो एव उपनिषदो का काल है। ऋग्वेद, अथर्ववेद एव तैत्तिरीय सहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण की कुछ ऋचाएँ ४००० ई० पू० के वहुत पहले की भी हो सकती है, और कुछ उपनिषद् (जिनमे कुछ वे भी है जिन्हे विद्वान् लोग अत्यन्त प्राचीन मानते है) १०००ई० पू०के पश्चात्कालीन भी हो सकती है। (कुछ विद्वान् प्रस्तुत लेखक की इस मान्यता को कि वैदिक सहिताएँ ४००० ई० पू० प्राचीन है, नही स्वीकार करते।)
८००—५०० (ई० पू०)	यास्क की रचना, निरुक्त।
८००—४०० (ई० पू०)	प्रमुख श्रौतसूत्र (यथा आपस्तम्व, आश्वलायन, वौधायन, कात्यायन, सत्याषाढ आदि) एव कुछ गृह्यसूत्र (यथा आपस्तम्व एव आश्वलायन)।
६००—३०० (ई० पू०)	गौतम, आपस्तम्व, वौधायन, वसिष्ठ के धर्मसूत्र एव पारस्कर तथा कुछ अन्य लोगो के गृह्यसूत्र।
६००—३०० (ई० पू०)	पाणिनि।
५००—२०० (ई० पू०)	जैमिनि का पूर्वमीमासासूत्र।
५००—२०० (ई० पू०)	भगवद्गीता।
३०० (ई० पू०)	पाणिनि के सूत्रो पर वार्तिक लिखने वाले वररुचि कात्यायन।
३०० (ई० पू०) १०० (ई० उ०)	कौटिल्य का अर्थशास्त्र (अपेक्षाकृत पहली सीमा के आसपास)।
१५० (ई० पू०) १०० (ई० उ०)	पतञ्जलि का महाभाष्य (सम्भवत अपेक्षाकृत प्रथम सीमा के आसपास)।

२०० (ई० पू०) १०० (ई० उ०)	मनुस्मृति।
१००—३०० (ई० उ०)	याज्ञवल्क्यस्मृति।
१००—३०० (ई० उ०)	विष्णुधर्मसूत्र।
१००—४०० (ई० उ०)	नारदस्मृति।
२००—५०० (ई० उ०)	वैखानसस्मार्तसूत्र।
२००—५०० (ई० उ०)	जैमिनि के पूर्वमीमासासूत्र के भाष्यकार शबर (अपेक्षाकृत पूर्व समय के आसपास)।
३००–५०० (ई० उ०)	व्यवहार आदि पर बृहस्पतिस्मृति (अभी तक इसकी प्रति नही मिल सकी है।) एस० बी० ई० (जिल्द ३३) मे व्यवहार के अश अनूदित है और प्रो० रगस्वामी आयगर ने धर्म के बहुत से विषय सगृहीत किये है, जो गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित है।
३००—६०० (ई० उ०)	कुछ विद्यमान पुराण, यथा—वायु०, विष्णु०, मार्कण्डेय०, मत्स्य०, कूर्म०।
४००—६०० (ई० उ०)	कात्यायनस्मृति (अभी तक प्राप्त नही हो सकी है)।
५००—५५० (ई० उ०)	वराहमिहिर, पचसिद्धान्तिका, बृहत्सहिता, बृहज्जातक आदि के लेखक।
६००—६५० (ई० उ०)	कादम्बरी एव हर्षचरित के लेखक बाण।
६५०—६६५ (ई० उ०)	पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'काशिका'-व्याख्याकार वामन—जयादित्य।
६५०—७०० (ई० उ०)	कुमारिल का तन्त्रवार्तिक।
६००—९०० (ई० उ०)	अधिकाश स्मृतियाँ, यथा—पराशर, शख, देवल तथा कुछ पुराण, यथा—अग्नि०, गरुड०।
७८८—८२० (ई० उ०)	महान् अद्वैतवादी दार्शनिक शकराचार्य।
८००—८५० (ई० उ०)	याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विश्वरूप।
८०५—९०० (ई० उ०)	मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि।
९६६ (ई० उ०)	वराहमिहिर के बृहज्जातक के टीकाकार उत्पल।
१०००—१०५० (ई० उ०)	बहुत से ग्रन्थो के लेखक धारेश्वर भोज।
१०८०—११०० (ई० उ०)	याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर।
१०८०—११०० (ई० उ०)	मनुस्मृति के टीकाकार गोविन्दराज।
११००—११३० (ई० उ०)	कल्पतरु या कृत्यकल्पतरु नामक विशाल धर्मशास्त्र-विषयक निबन्ध के लेखक लक्ष्मीधर।
११००—११५० (ई० उ०)	दायभाग, कालविवेक एव व्यवहारमातृका के लेखक जीमूतवाहन।
११००—११५० (ई० उ०)	प्रायश्चित्तप्रकरण एव अन्य ग्रन्थो के रचयिता भवदेव भट्ट।
११००—११३० (ई० उ०)	अपरार्क, शिलाहार राजा ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर एक टीका लिखी।
१११४—११८३ (ई० उ०)	भास्कराचार्य, जो सिद्धान्तशिरोमणि के, जिसका लीलावती एक अश है, प्रणेता है।
११२७—११३८ (ई० उ०)	सोमेश्वरदेव का मानसोल्लास या अभिलषितार्थचिन्तामणि।
११५०—११६० (ई० उ०)	कल्हण की राजतरगिणी।

११५०—११८० (ई० उ०)	हारलता एव पितृदयिता के प्रणेता अनिरुद्ध भट्ट।
११५०—१२०० (ई० उ०)	श्रीधर का स्मृत्यर्थसार।
११५०—१३०० (ई० उ०)	मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक।
११५०--१३०० (ई० उ०)	गौतम एव आपस्तम्बधर्मसूत्रो तथा कुछ गृह्यसूत्रा के टीकाकार हरदत्त।
१२००—१२२५ (ई० उ०)	देवण्ण भट्ट की स्मृतिचन्द्रिका।
११७५—१२०० (ई० उ०)	धनञ्जय के पुत्र ,एव ब्राह्मणसर्वस्व के प्रणेता हलायुध।
१२६०—१२७० (ई० उ०)	हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि।
१२००—१३०० (ई० उ०)	वरदराज का व्यवहारनिर्णय।
१२७५—१३१० (ई० उ०)	पितृभक्ति, समयप्रदीप एव अन्य ग्रन्थो के प्रणेता श्रीदत्त।
१३००—१३७० (ई० उ०)	गृहस्थरत्नाकर, विवादरत्नाकर, क्रियारत्नाकर आदि के रचयिता चण्डेश्वर।
१३००—१३८० (ई० उ०)	वैदिक सहिताओ एव ब्राह्मणो के भाष्यो के सग्रहकर्ता सायण।
१३००—-१३८० (ई० उ०)	पराशरस्मृति की टीका पराशरमाधवीय तथा अन्य ग्रन्थो के रचयिता एव सायण के भाई माधवाचार्य।
१३६०—-१३९० (ई० उ०)	मदनपाल एव उसके पुत्र के सरक्षण मे मदनपारिजात एव महार्णवप्रकाश सगृहीत किये गये।
१३६०—-१४४८ (ई० उ०)	गगावाक्यावली आदि ग्रन्थो के प्रणेता विद्यापति के जन्म एव मरण की तिथियाँ। देखिये, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द १४, पृ० १९०-१९१), जहाँ देवसिह के पुत्र शिवसिह द्वारा विद्यापति को प्रदत्त विसपी नामक ग्राम-दान के शिलालेख मे चार तिथियो का विवरण उपस्थित किया गया है (यथा शक १३२१, सवत् १४५५, ल० स० २८३ एव सन् ८०७)।
१३७५—१४४० (ई० उ०)	याज्ञवल्क्य की टीका दीपकलिका, प्रायश्चित्तविवेक, दुर्गोत्सवविवेक एव अन्य ग्रन्थो के लेखक शूलपाणि।
१३७५—-१५०० (ई० उ०)	विशाल निबन्ध धर्मतत्त्वकलानिधि (श्राद्ध, व्यवहार आदि के प्रकाशो मे विभाजित) के लेखक एव नागमल्ल के पुत्र पृथ्वीचन्द्र।
१४००—-१५०० (ई० उ०)	तन्त्रवार्तिक के टीकाकार सोमेश्वर की न्यायसुधा।
१४००— १४५० (ई० उ०)	मिसरू मिश्र का विवादचन्द्र।
१४२५—१४५० (ई० उ०)	नृसिह देव मदराजा द्वारा सगृहीत विशाल निबन्ध मदनरत्न।
१४२५—१४६० (ई० उ०)	शुद्धिविवेक, श्राद्धविवेक आदि के लेखक रुद्रधर।
१४२५—१४९० (ई० उ०)	शुद्धिचिन्तामणि, तीर्थचिन्तामणि आदि के रचयिता वाचस्पति।
१४५०—१५०० (ई० उ०)	दण्डविवेक, गगाकृत्यविवेक आदि के रचयिता वर्धमान।
१४९०—१५१२ (ई० उ०)	दलपति का व्यवहारसार जो नृसिहप्रसाद का एक भाग है।
१४९०—१५१५ (ई० उ०)	दलपति का नृसिहप्रसाद, जिसके भाग है—श्राद्धसार, तीर्थसार, प्रायश्चित्तसार आदि।

१५००—१५२५ (ई० उ०)	प्रतापरुद्रदेव राजा के सरक्षण मे सगृहीत सरस्वतीविलास।
१५००—१५४० (ई० उ०)	शुद्धिकौमुदी, श्राद्धक्रियाकौमुदी आदि के प्रणेता गोविन्दानन्द।
१५१३—१५८० (ई० उ०)	प्रयोगरत्न, अन्त्येष्टिपद्धति, त्रिस्थलीसेतु के लेखक नारायण भट्ट।
१५२०—१५७५ (ई० उ०)	श्राद्धतत्त्व, तीर्थतत्त्व, शुद्धितत्त्व, प्रायश्चित्ततत्त्व आदि तत्त्वो के लेखक रघुनन्दन।
१५२०—१५८९ (ई० उ०)	टोडरमल के सरक्षण मे टोडरानन्द ने कई सारयो मे शुद्धि, तीर्थ, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक एव अन्य १५ विपयो पर ग्रन्थ लिखे।
१५६०—१६२० (ई० उ०)	द्वैतनिर्णय या धर्मद्वैतनिर्णय के लेखक शकर भट्ट।
१५६०—१६३० (ई० उ०)	वैजयन्ती (विष्णुधर्मसूत्र की टीका) श्राद्धकल्पलता, शुद्धिचन्द्रिका एव दत्तकमीमासा के लेखक नन्द पण्डित।
१६१०—१६४० (ई० उ०)	निर्णयसिन्धु तथा विवादताण्डव, शूद्रकमलाकर आदि २० ग्रन्थो के लेखक कमलाकर भट्ट।
१६१०—१६४० (ई० उ०)	मित्र मिश्र का वीरमित्रोदय, जिसके भाग है, तीर्थप्रकाश, प्रायश्चित्त-प्रकाश, श्राद्धप्रकाश आदि।
१६१०—१६४५ (ई० उ०)	प्रायश्चित्त, शुद्धि, श्राद्ध आदि विपयो पर १२ मयूखो मे (यथा-नीतिमयूख, व्यवहारमयूख आदि) रचित भगवन्तभास्कर के लेखक नीलकण्ठ।
१६५०—१६८० (ई० उ०)	राजधर्मकौस्तुभ के प्रणेता अनन्तदेव।
१७००—१७४० (ई० उ०)	वैद्यनाथ का स्मृतिमुक्ताफल।
१७००—१७५० (ई० उ०)	तीर्थेन्दुशेखर, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, श्राद्धेन्दुशेखर आदि लगभग ५० ग्रन्थो के लेखक नागेश भट्ट या नागोजिभट्ट।
१७९० (ई० उ०)	धर्मसिन्धु के लेखक काशीनाथ उपाध्याय।
१७३०—१८२० (ई० उ०)	मिताक्षरा पर 'बालम्भट्टी' नामक टीका के लेखक बालम्भट्ट।

धर्मशास्त्र का इतिहास

खण्ड ५ (उत्तरार्ध)

अध्याय २६

तान्त्रिक सिद्धान्त एवं धर्मशास्त्र

जब हम इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड मे दुर्गा-पूजा के विषय मे पढ रहे थे तो ऐसा कहा गया था कि यह पूजा, जिसे शाक्त पूजा (दुर्गा को शक्ति के रूप मे भी पूजा जाता है) भी कहा जाता है, सारे भारतवर्ष मे महत्त्वपूर्ण रही है, ओर यह भी कहा गया था कि आगे के किसी खण्ड मे हम शक्तिवाद की चर्चा करेगे। अब हम शाक्तो एव तन्त्रो की सविस्तार चर्चा करेगे। क्योकि इन्होने पुराणो पर कुछ प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप मे तथा पुराणो के द्वारा मध्यकाल की भारतीय धार्मिक रीतियो एव व्यवहारो (आचारो) को प्रभावित किया है।

तन्त्र विषय पर एक विशद साहित्य है, कुछ ग्रन्थ प्रकाशित एव कुछ अप्रकाशित है। तीनो प्रकार के तन्त्र है, बौद्ध, हिन्दू एव जैन। कुछ तन्त्रो का दार्शनिक या आध्यात्मिक पहलू भी है, जिस पर आर्थर अवालोन, बी० भट्टाचार्य एव कुछ अन्य लोगो के अध्ययनो के अतिरिक्त कोई विशेष अध्ययन नही उपस्थित हो सका है। सामान्यत लोग तन्त्रो से तात्पर्य लगाते है शक्ति (काली देवी) की पूजा, मुद्राएँ, मन्त्र, मण्डल, पञ्च मकार, दक्षिण मार्ग, वाम मार्ग एव ऐन्द्रजालिक क्रियाएँ, जिनके द्वारा अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की जाती है। यहाँ हम बहुत ही सक्षेप मे शक्तिवाद एव तन्त्र के उद्गम के विषय मे जानकारी प्राप्त करेगे ओर देखेगे कि किस प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पुराणो के द्वारा तन्त्र हिन्दू धार्मिक रीतियो मे प्रविष्ट होते रहे है।

अमरकोश के अनुसार तन्त्र का अर्थ है 'प्रमुख विषय या भाग', 'सिद्धान्त' (अर्थात् मत, तत्त्व, वाद या शास्त्र), करघा (कपडा बुनने का एक यन्त्र) या सामग्री या उपकरण। किन्तु इससे यह नही पता चलता कि तन्त्र कार्यो का कोई विलक्षण वर्ग है। अत ऐसा अनुमान निकालना दोषपूर्ण नही कहा जा सकता कि अमरकोश के काल मे तो तन्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थो का प्रणयन नही हुआ था, या हुआ भी रहा होगा तो वे ग्रन्थ अभी जन सामान्य की बुद्धि मे बैठ नही सके थे। ऋ० (१०।७१।९) मे 'तन्त्र' शब्द आया है, किन्तु वह करघा के अर्थ मे ही प्रयुक्त है, ऐसा लगता है[1]—'ये अबोध व्यक्ति नीचे (इस विश्व मे) नही चलते (घूमते) और न उच्च लोक मे ही (घूमते), न तो ये विद्वान् ब्राह्मण है और न सोम निकालने वाले पुरोहित है, ये (दुष्ट प्रकार की बोली) बोलते है ओर उस दुष्ट (या पापमय) बोली के साथ हलो एव तन्त्रो को चलाते है।' अथर्ववेद (१०।७।४२ 'तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्राम वयत षण्मयूखम्') एव तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।५।५।३) ने इसी अर्थ मे 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग किया है। पाणिनि (५।२।७०) ने 'तन्त्रक' (वह वस्त्र जो अभी-अभी करघे से उतारा गया हो) शब्द 'तन्त्र'

१ इमे ये ऽर्वाङ न पाश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरास । त एते वाचमधिपद्य पापया सिरीस्तन्त्र तन्वते अप्रजज्ञय । ऋ० १०।७१।९। सायण ने व्याख्या की है—सिरी सीरिणो भूत्वा तन्त्र कृषिलक्षण तन्वते विस्तारयन्ति कुर्वन्तीत्यर्थ ।

से निष्पन्न माना है। आप० श्रौ० सूत्र (१।१५।१) ने तन्त्र शब्द 'कई भागो वाली विधि' के अर्थ मे प्रयुक्त किया है[2]। शाखायन श्रौ० (१।१६।६) मे आया हे कि वही तन्त्र हे जो एक बार हो जाने पर (किये जाने पर) वहुत-से अन्य कर्मो का उपयोग सिद्ध करता हे। महाभाष्य ने पाणिनि (४।२।६०) एव वार्तिक 'सर्वसादेर्द्विगोश्च ल' पर 'सर्वतन्त्र' एव 'द्वितन्त्र' को उदाहरणो के रूप मे लिया हे, जिनका तात्पर्य हे वह, 'जिसने सभी तन्त्रो को पढ लिया हे' या 'जिसने दो तन्त्रो का अध्ययन किया हे', यहाँ पर 'तन्त्र' का सम्भवत अर्थ हे सिद्धान्त। याज्ञ० १।२२८ 'तन्त्र वावैश्वदेविकम्' मे प्रयुक्त 'तन्त्र' शब्द उसी अर्थ मे हे जिसमे शाखायनश्रौतसूत्र ने प्रयुक्त किया है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र के १५वे अधिकरण का नाम हे 'तन्त्रयुक्ति' (देखिए जे० ओ० आर०, मद्रास, जिल्द ४, १९३०, पृ० ८२) जिसका अर्थ हे किसी शास्त्र की व्याख्या के मुख्य नियम, विधियाँ या सिद्धान्त। चरक (सिद्धि-स्थान, अध्याय १२।४०-४५) ने भी '३६ तन्त्रस्य युक्तय', एव सुश्रुत (उत्तरतन्त्र, अध्याय ६५) ने ३२ तन्त्र-युक्तियो का उल्लेख किया हे। बृहस्पति, कात्यायन एव भागवत मे 'तन्त्र' का प्रयोग 'सिद्धान्त' या 'शास्त्र' के अर्थ मे हुआ हे। शबर ने जैमिनि (११।१।१) के भाष्य मे कहा हे कि जब कोई कार्य या पदार्थ एक बार हो जाता है तो वह बहुत-सी अन्य बातो या विषयो मे उपयोगी होता है और इसे तन्त्र कहा जाता हे[3]। शकराचार्य ने वेदान्त सूत्र के भाष्य मे कई स्थानो पर 'साख्य सिद्धान्त को साख्य तन्त्र तथा पूर्वमीमासा को प्रथम तन्त्र' कहा हे (वे० सू० २।२।१, २।१।१ एव २।४।९, वे० सू० ३।३।५३ मे पूर्वमीमासा-सूत्र को प्रथम तन्त्र कहा हे)। कालिका-पुराण (८७।१३०) मे उशना एव बृहस्पति के राजनीति विषयक ग्रन्थो को तन्त्र कहा गया हे ओर विष्णुधर्मोत्तर पुराण को तन्त्र की सज्ञा दी गयी हे (९२।२)। इन सभी उपर्युक्त उदाहरणो मे कही भी 'तन्त्र' शब्द का मध्य-कालीन विलक्षण अर्थ नही पाया जाता।

तन्त्र साहित्य के अर्थ मे प्रयुक्त 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग कब प्रचलित हुआ, यह कहना कठिन है ओर यह भी निश्चित करना सम्भव नही हे कि किन लोगो ने सर्वप्रथम तन्त्र-सिद्धान्तो एव प्रयोगो (व्यवहारो) को आरम्भ किया ओर न यही जानना सरल हे कि यह सब सर्वप्रथम कहाँ हुआ। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री इस बात को मानने को सन्नद्ध थे कि तन्त्र के सिद्धान्त एव व्यवहार भारत मे बाहर से आये ओर वे कुब्जि का मत तन्त्र के एक श्लोक[4] पर विशेष निर्भर रहे है, जिसका अर्थ यह हे—'सभी स्थानो पर अधिकार करने के लिए भारत-

२ उदित आदित्ये पौर्णमास्यास्तन्त्र प्रक्रमयति प्रागुदयादमावास्याया। आप० श्रौ० १।१५।१, जिस पर, टीकाकार की टीका हे 'अगसमुदायस्तन्त्रम्। तत्प्रक्रमयति यजमानोऽध्वर्युणा।' 'तन्त्रलक्षण तत्।' शाखायनश्रौतसूत्र (१।१६।६), जिस प्रकार कि यह टीका हे—'यत्सकृत्कृत बहूनामुपकरोति तत्तन्त्रमित्युच्यते।'

३ आम्नोय स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभि। शरीरार्ध स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले सना॥ बृहस्पति, अपरार्क (पृ० ७४०), दायभाग ११।१।२ (पृ० १४९), कुल्लूक (मनु ९।१८७) द्वारा उद्धृत। 'आत्मतन्त्रे तु यत्प्रोक्त तत्कुर्यात्पारतन्त्रिकम्।' कात्यायन से स्मृतिचन्द्रिका (पृ० ५) द्वारा उद्धृत। तन्त्र सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्य कर्मणो यत। भागवत १।३।८। यहाँ पर 'पञ्चरात्र' को सात्वततन्त्र कहा गया हे। 'यत्सकृत्कृत बहूनामुपकरोति तत्तन्त्रमि-त्युच्यते यथा बहूना ब्राह्मणाना मध्ये कृत प्रदीप।' शबर का भाष्य (जैमिनि ११।४।१)।

४ इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली (जिल्द ९, पृ० ३५८)—'गच्छ त्व भारते वर्षे अधिकाराय सर्वत। पीठोपपीठक्षेत्रेषु कुरु सृष्टिमनेकधा॥' देखिए हरप्रसाद शास्त्री का कैटलॉग, ताडपत्र पाण्डुलिपि, नेपाल दरबार लाइब्रेरी (कलकत्ता, १९०५), भूमिका पृ० ८९, यह पाण्डुलिपि पश्चात्कालीन गुप्तलिपि मे है, अर्थात् ७वीं शती

वर्ष मे जाओ और पीठो, उपपीठो एव क्षेत्रो मे अनेक प्रकार मे इसकी सृष्टि करो।' सम्मान के साथ हम उस विद्वान् की बात का विरोध करते ओर कहते है कि इस श्लोक से यह नही स्पष्ट होता कि भारत मे तन्त्र-सिद्धान्तो का प्रचलन इस श्लोक के उपरान्त ही हुआ। तन्त्र सिद्धान्तो के रहने पर भी उस वचन का उच्चारण सम्भव था ओर पीठो एव क्षेत्रो की ओर जो निदश है (श्लोक मे) वह इस बात की पुष्टि-सी करता है कि उनमे तन्त्र-सिद्धान्त प्रचलित थे। पुराणो मे हमे भविष्यवाणी के रूप मे वही प्राप्त होता है जो बीत चुका रहता है। यह सम्भव है कि **कुलाचार एव वामाचार** ऐसे कुछ रहस्यवादी प्रयोग वाह्य तत्त्वो मे प्रभावित रहे हो या वे मौलिक रूप से वाहरी रहे हो। किन्तु उस श्लोक पर महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने जो निर्भरता प्रदर्शित की है, वह इसे सिद्ध करने को कदापि उपयुक्त नही है। रुद्रयामल (जीवानन्द द्वारा सम्पादित, १८९२) मे अथर्ववेद (१८वाँ पटल, चोथा श्लोक) की प्रशस्ति आयी है कि उसमे सभी देवो, सभी प्राणियो (स्थलचर, जलचर एव नभचर), सभी ऋषियो, कामविद्या एव महाविद्या का निवास है, श्लोक १०–१७ मे रहस्यमयी कुण्डलिनी का वर्णन है, ३१ श्लोको मे योगिक प्रयोगो का, ६ श्लोको मे शरीर के चक्रो का उल्लेख है, ५१ से ५३ तक के श्लोको मे कामरूप, जालन्धर, पूर्णगिरि, उड्डियान एव कालिका पीठो आदि का वर्णन है। बागची ('स्टडीज इन तन्त्र', पृ० ४५-५५) तान्त्रिक सिद्धान्तो मे वाह्य तत्त्वो के समावेश के विषय मे कुछ प्रमाण उपस्थित करते है। रुद्रयामल (१७वाँ पटल, श्लोक ११९-१२५) मे आया है कि महाविद्या वसिष्ठ ऋषि के समक्ष प्रकट हुई ओर उनसे चीन देश एव वुद्ध के यहाँ जाने को कहा, वुद्ध ने सिद्धि प्राप्त करने के लिए वसिष्ठ को कौल मार्ग एव योग के प्रयोगो मे शिक्षित किया ओर उन्हे पूर्ण योगी होने की साधना के लिए पच-मकारो के उपयोग का निर्देश किया [५]। इससे प्रकट है कि जब रुद्रयामल का प्रणयन हुआ था तब भारत मे

की है। डा० बी० भट्टाचार्य ने भी यही सम्मति दी है।' (देखिए 'बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म' मे उनकी भूमिका, पृ० ४३)। आर्थर अवालोन ने महानिर्वाणतन्त्र (तृतीय सस्करण, १९५३, पृ० ५६०) मे लिखा है कि तन्त्र भारत मे चाल्डीआ या शकद्वीप से आया। माडर्न रिव्यू (१९३४, पृ० १५०-१५६) मे प्रो० एन० एन० चौधरी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारतीय तन्त्रवाद का मूल तिब्बत के बॉन धर्म मे पाया जाता है। वे इस विषय मे इस तिब्बती परम्परा मे विश्वास करते है कि असग ने भारत मे तन्त्रवाद चलाया। किन्तु यह परम्परा केवल तारानाथ के बौद्धधर्म के इतिहास पर निर्भर रहती है। लामा तारानाथ का जन्म सन् १५७३ ई० (कुछ लोगो के मत से १५७५ ई०) मे हुआ था और उन्होने अपना इतिहास सन् १६०८ मे पूरा किया, अर्थात् उन्होने असग के लगभग १२०० वर्षो के उपरान्त लिखा। प्रो० चौधरी ने आगे एकजटासाधन (साधनमाला, सख्या १२७, आर्य-नागार्जुनपादैर्भोटेषु उद्धृतमिति) के अन्त मे लिखित बात पर निर्भर किया है। किन्तु यह वाक्य उन आठ पाण्डुलिपियो मे, जिनपर यह सस्करण आधारित है, तीन पाण्डुलिपियो मे नहीं पाया जाता। प्रो० चौधरी ने यह भी कहा है कि तन्त्र मे गुरु की स्थिति न तो वैदिक है और न पौराणिक। यहाँ वे त्रुटिपूर्ण है। निरुक्त (२।४) मे विद्यासूक्त एव श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।१८) के वचन से गुरु की स्थिति स्पष्ट है। गुरु की पौराणिक स्थिति के विषय मे देखिए लिंगपुराण एव देवीभागवत (११।१।४९), श्वेताश्व० ६।२३ एव अग्नि पुराण (३९२।६)।

५ य कुलार्थी सिद्धमन्त्री भवेदाचारनिर्मल। प्राप्नोति साधन पुण्य वेदानामप्यगोचरम्॥ बौद्धदेशेऽथर्ववेदे महाचीने सदा व्रज॥ मत्कुलज्ञो महर्षे त्व महासिद्धो भविष्यसि। ततो मुनिवर श्रुत्वा महाविद्यासरस्वतीम्। जगाम चीनभूमौ च यत्र बुद्ध प्रतिष्ठति॥ बुद्ध उवाच। वसिष्ठ शृणु वक्ष्यामि कुलमार्गमनुत्तमम्। येन विज्ञान(त ?)

पीठ थे, चीन या तिब्बत मे तान्त्रिक प्रयोगो का प्रचलन था और ऐसा कहा जाता है कि बुद्ध ने ही ऐसे प्रयोगो की शिक्षा दी है, जो कि बुद्ध की उदात्त शिक्षा के प्रति एक कृत्रिम लेख एव दुष्ट उपहास-सा लगता है।

ऐन्द्रजालिक (मायावी) मन्त्र अथर्ववेद मे बहुत सख्या मे पाये जाते है और ऋग्वेद मे कुछ रहस्य-वादी शब्द या वचन प्रयुक्त हुए है, यथा—'वषट्' (ऋ० ७।६६।७, ७।१००।७ आदि) एव 'स्वाहा' शब्द (ऋ० १।१३।१२, ५।५।११, ७।२।११)[६]। नीद लाने वाला मन्त्र ऋग्वेद (७।५५।५-८) मे आया है[७], ये मन्त्र अथर्ववेद (४।५।६,५, १, ३) मे भी आये है, ओर सम्भवत यह मन्त्र पुरोहित द्वारा उस भद्र व्यक्ति के लिए कहा जाता है जो अनिद्रा से रुग्ण रहता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानो का कथन है कि यह मन्त्र प्रेमी द्वारा अपनी प्रेमिका को गुप्त प्रेम के लिए अथवा चोरिकाभेट के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु इसमे कही भी प्रेम शब्द की गन्ध नही मिलती है। हम पाश्चात्य विद्वानो की बात स्वीकार नही कर सकते। ऋ० (१०।१४५) का उपयोग सोत के विरोध मे हुआ है, जिसका प्रथम मन्त्र यो है—'मै इस ओषधि को खोदता हूँ, यह अत्यन्त शक्तिशाली लता है, जिसके द्वारा एक स्त्री अपनी सोत को पीडित करती है, ओर जिसके द्वारा वह अपने पति को (केवल अपने लिए) प्राप्त करती है।

ऋग्वेद मे बहुधा ऐसे जादूगरो का उल्लेख मिलता है जो अधिकाश मे अनार्य कहे गये है और उन्हे अदेव, अनृतदेव (झूठे देवो की पूजा करने वाले), शिश्नदेव (लम्पट, ऋ० ७।२१।५, १०।९९।३) की सज्ञाएँ प्राप्त है। स्थानाभाव के कारण हम विस्तार मे यहाँ नही जा सकेगे। तान्त्रिक ग्रन्थो मे छह क्रूर कर्मो का वर्णन है, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा। वैदिक काल मे ऐसी कल्पना थी कि कुछ दुष्ट लोग, माया, मन्त्र आदि से लोगो एव पशुओ को मार सकते है या उन्हे बीमार कर सकते है। दो सूक्त (७।१०४ एव १०।८७, दोनो मे २५ मन्त्र है) इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि ऋग्वेदीय लोग अभिचार से डरते थे। दोनो प्रकार के सूक्तो मे 'यातुधान' (जो अभिचार करता है) एव 'रक्षस्' (दुष्ट आत्मा) शब्द आये है, 'यातु' शब्द 'जादू' (या जादू) ही है जो भारतीय भाषाओ मे प्रयुक्त होता है। पिशाचियाँ (पिशा-चिनियाँ) भी होती थी (ऋ० १।१३३।५ हे इन्द्र, रक्तिम एव शक्तिशाली पिशाची को नष्ट कर दो ओर सभी दुष्ट आत्माओ को मार डालो।) यहाँ ऋग्वेद से कुछ मन्त्र अनुवादित हो रहे है—'मै (वसिष्ठ) आज ही मर जाऊँ यदि मै अभिचार प्रयोग करने वाला होऊँ या यदि मैने किसी व्यक्ति के जीवन को जला डाला

मात्रेण रुद्ररूपी भवेत्क्षणात् ॥ अत कुल समाश्रित्य सर्वसिद्धीश्वरो भव । मासेनाकर्षण सिद्धिर्द्विमासे वाक्पतिर्भवेत् । . शक्ति विना शिवोऽशक्त किमन्ये जडबुद्धय । इत्युक्त्वा बुद्धरूपी च कारयामास साधनम् ॥ कुरु विप्र महाशक्ति-सेवन मद्यसाधनम् । मदिरासाधन कर्तु जगाम कुलमण्डले । मद्य मास तथा मत्स्य मुद्रा मैथुनमेव च ॥ पुन पुन साधयित्वा पूर्णयोगी बभूव स ॥ रुद्रयामल, १७ वाँ पटल, श्लोक १२१-१२३, १२५, १३५, १५२-१५३, १५७-१५८, १६०-१६१।

६ तन्त्रो मे 'स्वाहा' शब्द (मन्त्रो मे) अग्नि की पत्नी के अर्थ मे भी आया है। देखिए तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ७, जहाँ स्वाहा को वह्निजाया, ज्वलनवल्लभा एव द्विठ कहा गया है। ओर देखिए शारदातिलक (६।६२-६३)।

७ सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पति । ससन्तु सर्वे ज्ञातय सस्त्वयमभितो जन ॥ य आस्ते यश्च चरति यश्च पश्यति नो जन । तेषा स हन्मो अक्षाणि यथेद हर्म्य तथा। प्रोष्ठेशया वह्येशया नारीर्यास्तल्प-शीवरी । स्त्रियो या पुण्यगन्धास्ता सर्वा स्वापयामसि ॥ ऋ० (७।५५।५-८)।

हो, वह व्यक्ति, जिसने मुझे झूठमूठ अभिचार करने वाला कहा हो, अपने दस पुत्रो से रहित हो जाये, जिसने मुझे यातुधान कहा हो उसे इन्द्र भयकर शस्त्र से मार डाले, यद्यपि म वैसा नही हूँ और वह, जो स्वय 'रक्षस्' है, अपने को पवित्र घोषित करता ह, जो अत्यन्त दुष्ट हे, वह सभी प्राणियो मे निम्न (हीन या नीच) हो जाय (ऋ० ७।१०४।१५-१६), हे मरुतगणो, तुम लोगो के मध्य विभिन्न स्थानो मे फैल जाओ और दुष्टो को पकड लो और इन राक्षसो को, जो पक्षियो का रूप धारण करके रात्रि मे विचरण करते हैं और यज्ञ के समय भयकर विघ्न उपस्थित करते हे, चूर्ण-चूर्ण कर दो (वही, मन्त्र १८), हे इन्द्र, उन पुरुषो को-जो जादू-टोना करते ह, और उन नारियो को (जादूगरनियो को), जो माया मे नाश करती हैं, मार डालो, जो मूर्ख देवो के पूजक हे, वे गर्दन कटा कर मर जायें, वे सूर्य का उदय न देख सके (ऋ० ७।१०४।२४), हे अग्नि, यातुधान के चर्म के टुकडे कर दो, तुम्हारा नाशकारी वज्र उष्णता से उसे मार डाले, हे जातवेदा, उसकी गाँठो को छिन्न-भिन्न कर दो, इस छिन्न-भिन्न (यातुधान) को मास की इच्छा करने वाले मासाहारी पशु खा डाले, हे अग्नि, तुम यातुधानो को अपनी उष्णता से तथा रक्षसो को अपनी ज्वाल से चूर-चूर कर दो और मूरदेवो (मूर्ख देवो) के पूजको का नाश कर दो, और उनकी ओर, जो असुतृप (मनुष्य को खाने वाले) है, चमकते हुए उन्हे चूर-चूर कर दो' (ऋ० १०।८७।५ एव १४)।

आप० गृह्य सूत्र (३।६।५-८) मे ऐसा उल्लिखित हे कि सौत द्वारा प्रयुक्त पौवा पाठा कहलाता है और पति पर शासन करने एव सोत को हानि पहुँचाने के लिए ऋ० (१०।१४५) को प्रयुक्त किया जाता है। ऋ० (१।१६१) बहुत से विषयो का विरोधी (निवारक) एक मोहनमन्त्र हे। अथर्ववेद मे बहुत से सूक्त 'शत्रुनाशन' के शीर्षक वाले हे, यथा—२।१२-२४, ३।६, ४।३ एव ४० ५।८, ६।८, ६५-६७ एव १३४। अथर्व० (२।११) को 'कृत्या-दूषण' (अभिचार के प्रभाव को दूर करने वाला) कहा गया हे। कुछ मन्त्र यहाँ दिये जा रहे हे[८]। 'उसके विरोध मे, जो हमें घृणा की दृष्टि से देखता है या जिसे हम घृणा की दृष्टि से देखते हैं, जादू करो, जो श्रेष्ठ हे उस पर शासन करो और जो समान हे उससे श्रेष्ठ हो जाओ', 'हे सोम, तुम उसे अपने वज्र से मुख मे मारो, जो हम लोगो की, जो केवल अच्छा ही बोलते हे, बुराई करता हे, और वह पिट कर भाग जाये।' शुक्रनीतिसार (४।२।३६) मे ऐसा आया हे कि तन्त्र अथर्ववेद के उपवेद हे (जी० ऑपर्ट द्वारा सम्पादित, १८८२)। अथर्ववेद (३।२५ एव ६।१३०) मे ऐसे सूक्त हे जो क्रम से एक पुरुष एव नारी द्वारा अपनी प्रेमिका एव प्रेमी को वश मे करने के लिए प्रयुक्त होते हे। अथर्व० (२।३० एव ३१) मे ऐसे मन्त्र हे जिनके द्वारा रोग उत्पन्न करने वाले कीडे नष्ट किये जाते है तथा ५।३६ पिशाचो को नष्ट करने के लिए हे। 'फट्' शब्द वाजसनेयी सहिता मे पाया जाता है।[९] आप०

८ प्रति तमभि चर योऽस्मान् द्वेष्टि य वय द्विष्म। आप्नुहि श्रेयासमति सम क्रम॥ अथर्ववेद (२।११।३); यो न सोम सुशसिनो दु शस आदिदेशति। वज्रेणास्य मुखे जहि स सपिष्टो अपायति॥ अथर्व० (६।६।२), विविधोपास्य मन्त्राणा प्रयोगा सुविभेदत। कथिता सोपसहारास्तद्धमनियमैश्च षट्। अथर्वणा चोपवेदस्तन्त्ररूप स एव हि॥ शुक्रनीतिसार (४।३।३६)।

९ उपरि प्रुता भगेन हतोऽसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा। वाज० स० (७।३) जिस पर महीधर की टीका यो है—'उपरि आप्तेन भगेन आमर्दन असाविति देवदत्तादिनामनिर्देश। असौ द्वेषो हतो निहत सन् फट् विशीर्णो भवतु। स्वाहाकारस्थाने फडिति अभिचारे प्रयुज्यते।

श्रौ० सू० में 'फट्' का प्रयोग अभिचार (दुष्ट उद्देश्य को लेकर मन्त्रों के प्रयोग) के लिए सोम-डण्ठलों की आहुति के सिलसिले में किया गया है। तन्त्र ग्रन्थों में देवी-पूजा में 'फट्' का बहुधा प्रयोग हुआ है।

किन्तु अथर्ववेद से तन्त्रों के मध्य में किसी प्रत्यक्ष साहचर्य को बताना कठिन है। शान्तरक्षित (७०५-७६२ ई०) के तत्त्वसंग्रह ने बुद्ध को भी जादू के प्रयोगों से सम्बन्धित माना है। इसमें आया है—'सभी विचक्षण लोगों द्वारा यह घोषित है कि यह धर्म है जिससे लौकिक समृद्धि एवं परमोच्च तत्त्व अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है। प्रत्यक्ष परिणाम, यथा—बुद्धि, स्वास्थ्य, विभुता (ऐश्वर्य) आदि बुद्ध द्वारा उद्घोषित मन्त्रों, योग आदि के पालन से उत्पन्न होते हैं[१०]। किन्तु घटना या निर्देशित व्यक्ति के एक सहस्र वर्ष से अधिक काल पूर्व किये गये सदिग्ध कथन पर निर्विवाद विश्वास नहीं किया जा सकता। हाँ, यह बात है कि हम पालि के पवित्र ग्रन्थों में बुद्ध के शिष्यों के बीच जादू की शक्तियों की उत्पत्ति के विषय में कहानियाँ सुनते हैं, यथा—उस भारद्वाज की गाथा जो एक अति सुगन्धित चन्दन के बने पात्र के लिए हवा में उठ गये।[११] महावग्ग (६।३४।१, से० बु० ई०, जिल्द १७, पृ० १२१) में आया है कि एक उपासक जिसका नाम मेण्डक था, अलौकिक शक्तियाँ रखता था, उसकी पत्नी, पुत्र एवं पतोहू सबमें ऐसी शक्तियाँ थीं। यहाँ पर भी हमें यह स्मरण रखना होगा कि त्रिपिटक या किसी अन्य आरम्भिक बौद्ध लिखित प्रमाण में ऐसा नहीं है जिसके आधार पर हम ऐसा सिद्ध करें कि बुद्ध या उनके प्रथम शिष्यों का सम्बन्ध मुद्राओं, मन्त्रों एवं मण्डलों में था और न युवॉन्वॉग (ह्वेनसाँग) या इत्सिग ने तन्त्रों की कोई चर्चा ही की है, जब कि उन्होंने बौद्ध संस्कृति के रूप में मठों का उल्लेख किया है। (देखिए डा० डे, न्यू इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १, पृ० १)। साधनमाला (जिल्द २, ९८) की भूमिका में डा० भट्टाचार्य साधनमाला के पृ० ३३४-३३५ पर आये हुए 'सुगतोपदिष्टम्' एवं 'सुगतैः' पर निर्भर रहते हैं और कहते हैं कि स्वयं बुद्ध ने कुछ मन्त्रों को प्रवर्तित अवश्य किया होगा। इस पर दो महत्त्वपूर्ण विरोध उपस्थित किये जा सकते हैं, यथा—प्रथमतः 'सुगत' का अर्थ सदैव बुद्ध नहीं होता, इसका अर्थ 'बुद्ध के अनुयायी गण' भी हो सकता है और द्वितीयतः, जिस प्रकार हिन्दू तन्त्रों में अधिकांश शिव एवं पार्वती के बीच कथनोपकथन है, उसी प्रकार

१० यतोऽभ्युदयनिष्पत्तिर्यतो निःश्रेयसस्य च। स धर्म उच्यते तादृक् सर्वैरेव विचक्षणैः॥ तदुक्तमन्त्रयोगादिनियमाद्विधिवत्कृतात्। प्रज्ञारोग्यविभुत्वादि दृष्टधर्मापि जायते॥ तत्त्वसंग्रह (पृ० ९०५), कमलशील (शान्तरक्षित के शिष्य) ने टीका की है—'तेन भगवतोक्तश्चासौ मन्त्रयोगादिनियमश्चेति विग्रहः। योगः समाधिः। आदिशब्देन मुद्रामण्डलादिपरिग्रहः।' प्रथम श्लोक वैशेषिक सूत्र (१।१।१-२) पर आधृत सा लगता है, जो यों है—'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। अभ्युदय शब्द कणाद के सूत्र के टीकाकारों द्वारा कई प्रकार से व्याख्यायित हुआ है, किन्तु सामान्यतः अभ्युदय का तात्पर्य है 'सांसारिक सुख या समृद्धि', मिलाइए भरत का नाट्यशास्त्र—'विवाहप्रसवावाहप्रमोदाभ्युदयादिषु। विनोदकरणं चैव नृत्तमेतत्प्रकीर्तितम्॥' अध्याय ४।२६३ (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज)। कुछ लोग इसका अर्थ स्वर्ग लगाते हैं, क्योंकि निःश्रेयस का अर्थ मोक्ष या अमृतत्व होता है।

११ चुल्लवग्ग (सै० बु० ई०, जिल्द २०, पृ० ७८) में पुण्डोल भारद्वाज की गाथा आयी है। बुद्ध के शिष्य भारद्वाज ने हवा में उड़कर, हाथ में पात्र लेकर राजगृह नगर में तीन बार प्रदक्षिणा की। ऐसा आया है कि बुद्ध ने अपने शिष्य को घुड़की दी और पात्र को तोड़कर चूर-चूर कर देने की आज्ञा दी।

पश्चात्कालीन लेखकों ने इतना सरलतापूर्वक कह दिया होगा कि वे बुद्ध को उद्धृत कर रहे ह। ये विरोध डा० भट्टाचार्य द्वारा उद्धृत कमलशील के वक्तव्यों के विषय में भी उपस्थित किये जा सकते है, क्योकि कमलशील एव उनके गुरु बुद्ध के १२०० वर्ष उपरान्त हुए ह।

पहले हिन्दू तन्त्रो का उद्भव हुआ कि बौद्ध तन्त्रो का? इसका उत्तर देना कठिन है। ऐसा लगता है कि दोनो का उद्भव एक ही काल मे हुआ। देखिए ई० ए० पेयने कृत 'दि शाक्तज' (पृ० ७०-८२) जहाँ पर मतो पर विवेचन उपस्थित किया गया है। साधनमाला (यह एक वज्रयानी कृति ह जिसमे छोटे-छोटे ३१२ ग्रथ ह जो डा० भट्टाचार्य के मत से तीसरी शती मे लेकर १२वी शती तक प्रणीत होते रहे ह) मे वज्र-यान के चार पीठ (प्रमुख केन्द्र) कहे गये ह, यथा—कामाख्या, सिरिहट्ट (या श्रीहट्ट), पूर्णगिरि एव उड्डियान।[१२] इनमें प्रथम दो क्रम से कामाख्या या कामरूप (गौहाटी से तीन मील दूर) एव सिल्हट ह। अन्य दो स्थानो के विषय मे मतैक्य नही है। म० म० ह० प्र० शास्त्री ने उड्डियान को (जो अधिकतर एक पीठ के रूप मे वर्णित है) उडीसा कहा ह। उनके पुत्र डा० बी० भट्टाचार्य के विचार मे यह अत्यन्त सम्भव है कि वज्रयान तन्त्रवाद उड्डियान (बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म, भूमिका पृ० ४६) मे ही प्रादुर्भूत हुआ। डा० बागची (स्टडीज इन दि तन्त्रज, पृ० ३७-४०) ने अच्छे तर्को के आधार पर ऐसा कहा है कि उड्डियान स्वात घाटी (भारत के पश्चिमोत्तर भाग मे) के पास था। यही बात ग्रोस्सेट ('इन दि फूटस्टेप्स आव बुद्ध', पृ० १०६-११०) ने भी कही है। बार्हस्पत्यसूत्र (एफ्० डब्लू० टॉमस द्वारा सम्पादित) ने आठ शाक्त क्षेत्रो के नाम लिये ह (३।१२३-१२४)। साधनमाला (जिल्द २, पृ० ७८) की भूमिका मे डा० भट्टाचार्य ने ऐसा मत व्यक्त किया है कि हिन्दू तन्त्रो का मूल बौद्ध तन्त्रो मे पाया जाता है। किन्तु विन्तरनित्ज (हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, अग्रेजी अनुवाद, जिल्द २, पृ० ४०१) का कथन है कि डा० भट्टाचार्य का यह मत तथ्यो के विरोध मे पडता ह। प्रस्तुत लेखक विन्तरनित्ज के इस मत का समर्थन करता है।

यद्यपि डा० भट्टाचार्य ने यह स्वीकार किया है कि बौद्ध धर्म एव जैन धर्म ने आरम्भिक काल मे हिन्दू देवो का सहारा लिया, तब भी उन्होने (बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म की भूमिका, पृ० १४७) कहा है—"बिना विरोधाभास के भय के ऐसी घोषणा करना सम्भव है कि बौद्धो ने ही, सर्वप्रथम अपने धर्म मे तन्त्रवाद का श्रीगणेश किया और हिन्दुओ ने उनसे आगे चलकर उसे उधार लिया।" प्राचीन भारतीयो को मारण-मोहन

१२ ऐसा प्रतीत होता ह कि कुछ तन्त्र ग्रन्थो ने पॉच पीठ उल्लिखित है (हरप्रसाद शास्त्री के मतानुसार, नेपाल ताडपत्र एव कागद की चुनी हुई कागद की पाण्डुलिपियो का कैटलॉग, नेपाल दरबार लाइब्रेरी, कलकत्ता, १९०५, १९०५, पृ० ८०), यथा—ओडियान (उडीसा मे, हरप्रसाद शास्त्री के मत से), जाल (जलन्दर या जालन्धर मे), पूर्ण, मतग (श्रीशैल मे) एव कामाख्या (आसाम मे)। ये पॉच पीठ शिव द्वारा प्रेषित गन्थ मे उल्लिखित ह, अत यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उस ग्रन्थ के पूर्व तन्त्रवाद सम्पूर्ण देश मे फैल चुका था। साधनमाला (जिल्द १, पृ० ४५३ एव ४५५) मे उड्डियान, पूर्णगिरि, कामाख्या एव सिरिहट्ट का उल्लेख है। कुलचूडामणितन्त्र (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ४) ने छठे पटल श्लोक ३-७ मे पॉच पीठो का उल्लेख किया है, यथा—उड्डियान, कामरूप, कामाख्या, जालन्धर एव पूर्णगिरि (देखिए तीसरा पटल भी, ५९-६१)। इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली (जिल्द ११, पृ० १४२-१४४) मे तर्क दिया गया ह कि उड्डियान एव शाहोर बगाल मे ह। देवीभागवत (७।३०।५५-८०) ने एक सौ से अधिक देवियो के क्षेत्रो का उल्लेख किया है।

आदि के उद्भावको के रूप मे मानना कोई सम्मान की बात नही है। किन्तु विद्वानो को सम्मान या असम्मान की भावना से दूर रह कर सत्य की खोज करनी होती है। श्री वैल्ली पोशिन (इसाइक्लोपीडिया आव रेलिजिन एण्ड एथिक्स, जिल्द १२, पृ० १९३), विन्तरनित्ज एव पेयने (शाक्तज, पृ० ७३) ने डा० भट्टाचार्य के मत के विरुद्ध पुष्ट प्रमाण दिये है, जिन्हे प्रस्तुत लेखक स्वीकार करता है। स्पष्ट है कि सस्कृत से सैकडो ग्रन्थ तिब्बती एव चीनी भापाओ मे अनूदित हुए। भारत से ही तिब्बतियो एव चीनियो ने ऋण लिया है। देखिए प्रो० लियॉग ची चाओ का निवन्ध 'चाइनाज डेट टु इण्डिया' (विश्वभारती क्वार्टरली, जिल्द २, १९२४-२५, पृ० २५१-२६१) जहॉ ऐसा कहा गया है कि सन् ६७ से ७८९ ई० तक २४ हिन्दू विद्वान् चीन आये। इसके अतिरिक्त कश्मीर से १३ विद्वान् आये ओर सन् २६५ से ७९० ई० तक जितने चीनी पढने के लिए भारत गये उनकी सख्या १८७ थी, जिनमे १०५ के नामो का पता चल गया है। इस विपय मे हमे कोई प्रमाण नही मिलता कि तिब्बती या चीनी ग्रन्थो का अनुवाद सस्कृत मे हुआ हो। इसके अतिरिक्त तीन महान् चीनी यात्रियो ने भारत मे वोद्ध तन्त्रो के अध्ययन की कोई चर्चा नही की है। वाटर्स (युवॉच्वॉग्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, जिल्द १, पृ० ३६०) ने यात्री के जीवन की एक कथा कही है कि जव वह अयोध्या से आगे नौका से पूर्व की ओर गगा मे जा रहा था, ठगो ने उसे लूट लिया ओर उसकी वलि देवी दुर्गा को देनी चाही, किन्तु चीनी यात्री एक अन्धड से वच गया ओर ठगो ने डर कर उसे छोड दिया ओर उसका मान-सम्मान किया। ओर देखिए रेने ग्रौउस्सेट कृत 'इन दि फूटस्टेप्स आव वुद्ध' (पृ० १३३-१३५); जहॉ इस घटना का उल्लेख है। इससे प्रकट है कि ७वी शती के पूर्व भारत मे तन्त्र एव शाक्त पूजा प्रचलित थी। ६५० ई० के पूर्व के किसी वोद्ध तान्त्रिक ग्रन्थ का उल्लेख नही मिलता, गुह्यसमाजतन्त्र एव मञ्जुश्री-मूलकल्प ऐसे ग्रन्थ है, किन्तु उनमे पश्चात्कालीन तत्त्व पाये जाते है।

इस प्रकार हम देखते है कि कल्पना एव काल दोनो यह वताते है कि हिन्दू धर्म पर वोद्ध, तिब्बती या चीनी तान्त्रिक ग्रन्थो का कोई ऋण नही है। देखिए सर चार्ल्सबेल (१९२४) कृत 'तिब्बत पास्ट एण्ड प्रजेण्ट' (पृ० २३, २५, २९), सरदार के० एम० पणिक्कर कृत 'इण्डिया एण्ड चाइना' (१९५७) पृ० ७०, म० म० डा० सतीशचन्द्र कृत 'इण्ट्रोडक्शन आव दि अल्फावेट इन तिब्बत'। अन्तिम ग्रन्थ मे ऐसा विचार प्रकट किया गया है कि तिब्बत मे मगध से सातवी शती मे अक्षर आये, जिससे सिद्ध होता है कि कश्मीर मे प्रचलित भारतीय अक्षरो पर आधारित लिपि तिब्बत मे सर्वप्रथम ६४० ई० मे प्रविष्ट हुई, और यह भी सिद्ध होता है कि तान्त्रिक वौद्ध पद्मसम्भव को तिब्बती राजा ति-सोन-दे-त्सोन (७४९-७८६) ने शान्तरक्षित वोधिसत्त्व के कहने पर उड्डियान से बुलाया और तिब्बत मे रहने को प्रेरित किया। बुजियू नञ्जियो के 'कैटालॉग आव त्रिपिटक' (आक्स- फोर्ड, १८८३), ऐपेण्डिक्स २, पृ० ४४५ स० १५५ से पता चलता है कि अमोघवज्र ने ७४६ एव ७७१ ई० के वीच मे वहुत-से ग्रन्थ अनुवादित किये और वे ७७४ ई० मे मर गये और उन्ही के प्रभाव से चीन देश मे तन्त्र सिद्धान्त का प्रचलन हुआ। वाण के ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि भारत मे ६०० ई० के पूर्व मद्य एव मास के साथ चण्डिका की पूजा प्रचलित थी, श्रीपर्वत तान्त्रिक सिद्धियो के लिए प्रसिद्ध था, शिव-सहिताएँ विद्यमान थी, श्मशान मे एक करोड वार मन्त्र-जप से सिद्धियॉ प्राप्त हो सकती थी तथा कृष्ण पक्ष की अमावस्या जप एव जादू-टोने के लिए उचित तिथि थी। अत यह अत्यन्त सम्भव है कि शाक्त या तान्त्रिक सिद्धान्त तिब्बत एव चीन मे भारत से ही गये, न कि भारत मे उन दोनो देशो से आये। प्रो० पी० वी० वापट ('वौद्ध मत के २५०० वर्ष', पृ० ३६०-३७६) ने डा० वी० भट्टाचार्य का अनुसरण किया है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि तिब्बती तन्त्रवाद हिन्दू तन्त्रवाद से प्राचीन है, किन्तु

उनके तर्क डा० भट्टाचार्य के तर्कों के समान ही कोई पुष्ट आधार नही रखते। डा० ए० एस० अल्तेकर ने अपने निबन्ध 'सस्कृत लिटरेचर इन तिब्बत' (ए० बी० ओ० आर० आई, जिल्द ३५, पृ० ५४-६६) मे व्यक्त किया है कि किस प्रकार बौद्ध धर्म स्ट्रांग-त्सान-गैम्पो (६३७-६८३ ई०) के शासन काल मे तिब्बत मे प्रविष्ट हुआ। किस प्रकार लगभग ७५० ई० मे उडीसा से पद्मसम्भव एव कश्मीर से वैरोचन तिब्बत गये तथा किस प्रकार लगभग ४५०० पुस्तके तिब्बती भाषा मे अनुवादित हुई।

डा० बी० भट्टाचार्य ने इतना स्वीकार किया है कि बौद्ध तन्त्र बाह्य रूप मे हिन्दू तन्त्र मे बहुत कुछ मिलता-जुलता है (बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म, भूमिका, पृ० ४७), किन्तु उन्होंने यह व्यक्त किया है कि विषय-वस्तु, दार्शनिक सिद्धान्तो एव धार्मिक दृष्टिकोणो मे दोनो मे कोई समानता नही है। बौद्ध धर्म हिन्दू देवो मे विश्वास नही करता था अत वह शक्ति या शक्तिवाद की चर्चा नही करता। जिस प्रकार हिन्दू तन्त्रो मे पुरुषतत्त्व एव स्त्रीतत्त्व क्रम से **शिव** एव **देवी** है, उसी प्रकार बौद्धो ने **प्रज्ञा** (जो स्त्री है) एव **उपाय** (पुरुष) दो तत्त्व रखे है, किन्तु यहाँ स्वरूप उलटा है। उन्हे **शून्यता** की धारणा पर शिव एव देवी या शक्ति की धारणाओ से सम्बन्धित विचार जमाने थे ही। लक्ष्य एव साधन (योग आदि) मे सम्बन्धित विषय-वस्तु एक-सी है, मन्त्र, गुरु, मण्डल आदि की पद्धति भी एक ही है। बौद्ध तन्त्र-सम्प्रदाय के अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण एव आरम्भिक ग्रन्थ है प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि एव ज्ञानसिद्धि, जो ८वी शती मे जब कि शक्तिवाद एव तन्त्रवाद भारत मे भली भाँति सुदृढ हो चुके थे, पहले के नही है।

'शाक्त' शब्द का अर्थ है शक्ति (जगत्-शक्ति) का भक्त या पूजक। ऐसा लगता है कि आठवी शती के बहुत पहले से भारत के सभी भागो मे, विशेषत बगाल एव आसाम मे शाक्त सम्प्रदाय फैल चुका था। विभिन्न नामो (यथा—त्रिपुरा, लोहिता, षोडाशिका, कामेश्वरी) वाली शक्ति इस विश्व की सम्पूर्ण क्रिया के आदि तत्त्व (बीज तत्त्व) के रूप मे धारित हुई और सामान्यत देवी के रूप मे पूजित होती है। 'देवीमाहात्म्य' शाक्तो के प्रमुख ग्रन्थो मे एक है। शाक्त सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषताएं ये है—देव या इष्ट एक है और वह माँ के रूप मे एव सहार करने वाली शक्ति के रूप मे होती है[१३] और पूजा-सम्बन्धी क्रियाएँ कुछ ऐसी है जो कभी-कभी बडा घृणित रूप धारण कर लेती है। देवी की प्रशस्तियाँ अन्य पुराणो मे भी है, यथा वामन (१८-१९), देवीभागवत (३।२७), ब्रह्माण्ड (जिसमे ४४ अध्यायो मे ललितामाहात्म्य है), मत्स्य (१३।२४-५४), जहाँ देवी के १०८ नाम एव उसकी पूजा के १०८ स्थान उल्लिखित है), कूर्म (१।१२)। कूर्म (१।१२) मे देवी को महामहिषमर्दिनी (६८), अनाहता, कुण्डलिनी (१२८) दुर्गा, कात्या-यनी, चण्डी, भद्रकाली (१४३ एव १४८) कहा गया है और ऐसा व्यक्त किया गया है कि वेद एव स्मृति-विरोधी शास्त्र, जो लोगो मे प्रसिद्ध हुए है, यथा—कापाल, भैरव, यामल, वाम, आर्हत, देवी द्वारा लोक को भ्रम मे डालने के लिए प्रवर्तित है और वे केवल मोह एव अज्ञान पर आधारित है। और देखिए ब्रह्मपुराण (१८१।४८-५२) जहाँ देवी के नाम आये है और ऐसा कहा गया है कि जब देवी की पूजा मद्य, मास एव अन्य भोज्य पदार्थो से की जाती है तो वे प्रसन्न होती है और मनुष्य की मनोकामनाएँ पूर्ण करती है। भद्र-काली अपेक्षाकृत प्राचीन नाम है (देखिए शाखायन गृह्यसूत्र (सै० बु० ई०, जिल्द २९, पृ० ८६)।

१३ काली के रूप मे देवी के ध्यानो मे एक यो है—'शवारूढा महाभीमा घोरदंष्ट्रीं हसन्मुखीम्। चतुर्भुजा खड्गमुण्डवराभयकरा शिवाम्। मुण्डमालाधरा देवी ललज्जिह्वा दिगम्बराम्। एव सचिन्तयेत्कालीं श्मशानालय-वासिनीम्॥ शाक्तप्रमोद मे कालीतन्त्र (वेंकटेश्वर प्रेस सस्करण)।

तन्त्रो एव शाक्त ग्रन्थो मे बहुत-सी बाते समान है, प्रमुख अन्तर यह है कि शाक्त सम्प्रदाय मे देवी (या शक्ति) को परमोच्च शक्ति मान कर पूजा जाता है, किन्तु तन्त्रो (इनमे बौद्ध एव जैन दोनो प्रकार के ग्रन्थ सम्मिलित है) मे केवल देवी या शक्ति की पूजा तक ही सीमा नही रखी गयी है, प्रत्युत वह पूजा बिना ईश्वर-सम्बन्धी धारणा के या वेदान्तवादी या सास्यवादी भी हो सकती है। डॉ० बी० भट्टाचार्य (गुह्यसमाजतन्त्र, पृ० ३४, साधनमाला, जिल्द २, पृ० १६) का कथन है कि वास्तविक तन्त्र ग्रन्थ के लिए शक्ति के तत्त्व का होना परमावश्यक है। किन्तु यह कथन केवल अतिकथन है। वायुपुराण (१०४।१६) ने शाक्त को छह दर्शनो के अन्तर्गत रखा है[१४]।

ऋग्वेद मे भी महान् देवो की शक्तियो का उल्लेख है। किन्तु शक्ति या शक्तियाँ परमात्मा की ही है, वह एक पृथक् सृष्टि करने वाले तत्त्व के रूप मे नही है, कभी-कभी तो शक्ति को कवि, पुरोहित या यजमान के अश रूप मे व्यक्त किया गया है (यथा ऋ० १।१३।१८, १।८३।३, ४।२२।८, १०।२५।५)। शक्ति शब्द ऋग्वेद मे एक दर्जन बार एकवचन एव बहुवचन मे ५ बार इन्द्र के साथ (३।२१।१४, ५।३१।६, ७।२०।१०, १०।८८।१०), एक बार अश्विनो के साथ (ऋ० २।२६।७), दो बार पितरो के साथ (१।१०९।३, ६।७५।९) एव एक बार सामान्यत देवो के साथ (१०।८८।१०, जिन्होने अपनी शक्ति से अग्नि उत्पन्न की है) आया है। कही-कही 'शक्ति' के स्थान पर 'माया' शब्द प्रयुक्त हुआ है (ऋ० ६।४७।१८)। 'शची' शब्द कई बार आया है ('शचीभि' ३६ बार एव 'शच्या' १२ बार)। 'शचीपति' ऋग्वेद मे १६ बार आया है जिनमे एक बार अश्विनीकुमारो के लिए आया है (ऋ० ७।६७।५)। ऐसा नही कहा जा सकता कि ऋग्वेद मे 'शची' इन्द्र की पत्नी का द्योतक है (जैसा आगे चलकर ऐसा व्यक्त हो गया है), क्योकि शची अधिक बार बहुवचन मे है ओर अश्विनो को भी एक बार 'शचीपति' कहा गया है। इसी प्रकार 'शचीव' ११ बार आया है, जिनमे ९ बार यह इन्द्र के लिए सम्बोधित है, किन्तु यह एक बार अग्नि के लिए (ऋ० ३।२१।४) प्रयुक्त है ओर एक बार सोम के लिए (ऋ० ९।८७।९)। 'शक्ति' एव 'शची' के साथ जो विचार लगे है वे है—सृष्टि, रक्षा, वीरता एव औदार्य (उदारता) से सम्बन्धित। ऋ० (१।५६।४) मे इन्द्र की शक्ति को 'देवी तविषी' कहा गया है, किन्तु 'शची' शब्द उस पद्य मे नही आया है।

वाक् (वाणी) की शक्ति के विषय मे एक उदात्त एव उत्कृष्ट स्तोत्र (ऋ० १०।१२५ नामक सूक्त) है, जहाँ पर वाक् को रुद्रो, आदित्यो, वसुओ एव विश्वेदेवो से सम्बन्धित होने को कहा गया है और मित्र एव वरुण, इन्द्र एव अग्नि, अश्विनो, सोम, त्वष्टा, पूषा एव भग को आश्रय देने के लिए उद्घोषित है। वाक् को रुद्र के लिए धनुष तानने को कहा गया है, जिससे कि ब्रह्म (स्तुति या ब्रह्मा नामक देव) का नाशकारी शत्रु मारा जा सके। वाक् सभी लोको मे विराजमान है, उसका शरीर स्वर्ग को छूता है, वह पृथिवी एव स्वर्ग से अतीत है और वह अपनी महत्ता से अति विशद या विशाल है। वाक् (वाणी) सारी शक्ति का मूल तत्त्व हो जाती है। निघण्टु (१।११) के अनुसार 'मेना', 'ग्ना' एव 'शची' नामक तीन शब्द उन ५७ शब्दो मे परिगणित है जिनका अर्थ वाक् होता है। तै० स० (५।१।७।२) मे मात्राएँ 'ग्ना' कही जाती है। ऋ० (१।१६४।४१) मे वाक् का प्रहेलिका-मय विवरण है जो निरुक्त (११।४०) मे विश्लेषित है। यह द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार 'देवी' या 'शक्ति' पश्चात्कालीन साहित्य मे शिव से सम्बन्धित है, उसी प्रकार इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी, रोदसी क्रम से इन्द्र,

१४ ब्राह्म शैव वैष्णव च सौर शाक्त तथार्हतम्। षड् दर्शनानि चोक्तानि स्वभावनियतानि च।(१०४।१६)॥

वरुण, अग्नि एव मरुतो से उनकी पत्नियो के रूप मे सम्बन्धित है। 'मै इन्द्राणी, वरुणानी एव अग्नायी को अपने कल्याण एव सोम पीने के लिए बुलाता हूँ' (ऋ० १।२२।१२), 'देवो की पत्नियाँ आहुति को ग्रहण करे, यथा—इन्द्राणी, अग्नायी, अश्विनो की ज्योति (पत्नी), रोदसी, वरुणानी (हमारी स्तुति) सुने, देवियां स्त्रियो के उचित काल पर आहुति ग्रहण करे'[१५]। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये देवियां ऋग्वेद मे बहुत गौण महत्त्व रखती है, अर्थात् उनका कार्य अप्रधान ही है। पश्चात्कालीन देवी या शक्ति से इन वैदिक देवियो का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। इन्द्राणी का आह्वान रक्षा के लिए किया गया है (ऋ० १।२२।१२, २।३२।८, ५।४६।८, १०।८६।११-१२)। ऋ० (५।४६।८) मे इन्द्राणी एव अन्य तीन को 'देवपत्नी' एव 'ग्ना' कहा गया है। ऋ० (१।६१।८) मे ऐसा आया है कि जब इन्द्र ने राक्षस अहि को मारा तो देव-पत्नियो, ग्नाओ ने पूजा का गान बुना (बनाया)। 'ग्ना' शब्द ऋ० मे २० बार आया है, वह सज्ञा, कर्म, करण एव अधिकरण कारको मे आया है, और पत्नी के लिए भारोपीय शब्द है। देखिए निरुक्त (३।२१) जहाँ 'मेना' एव 'ग्ना' शब्द आये हैं।

केनोपनिषद् मे उमा हैमवती (हिमवान् की पुत्री) अग्नि, वायु एव इन्द्र से ब्रह्म के विषय मे कहती है (३।१२)। श्वेताश्वतरोपनिषद् मे ऐसा आया है कि उन्होने (ब्राह्मणो ने) ध्यान एव योग से सपृक्त होकर शक्ति को देखा, जो परमात्मा से पृथक् नही थी तथा अपने गुणो (सत्त्व, रज एव तम) से निगूढ (अव्यक्त, छिपी) थी। इसी उपनिषद् (६।८) मे मे ब्रह्म को परमोच्च शक्ति वाला कहा गया है[१६] और शकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (२।१।२४) मे इस वचन को उद्धृत किया है। वे० सू० (२।१।३०) के भाष्य एव सूत्र मे ब्रह्म सर्वशक्तिसम्पन्न कहा गया है। और देखिए श्वेताश्व० (४।१)। नारायणोपनिषद् (२।१) मे दुर्गा-देवी का आह्वान है—'मै जलती हुई, अग्नि के समान वर्णवाली, तप से चमकती हुई एव धर्म-कर्म फल देने वाली देवी दुर्गा की शरण मे हूँ, हे अत्यन्त शक्तिवाली देवी, मै तुम्हारी शक्ति को प्रणाम करता हूँ। राघवभट्ट ने दृढतापूर्वक कहा है कि तन्त्र सम्प्रदाय श्रुति पर आधृत है, जैसा कि रामपूर्वोत्तरतापनी

१५ इन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानी स्वस्तये। अग्नायी सोमपीतये। ऋ० १।२२।१२, उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्। आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥ ऋ० (५।४६।८)। सूर्या, अश्विनो की पत्नी कही गयी है (ऋ० १०।८५।८-९), यास्क ने ऋ० (५।४६।८) की व्याख्या निरुक्त (१२।४६) मे की है और रोदसी को रुद्र की पत्नी कहा है, ऋ० (५।५६।८) मे आया है कि मरुतो के रथ पर रोदसी है, ऋ० (५।६१।४) मे ऐसा उल्लेख है कि मरुतो की एक सुन्दर स्त्री है, ऋ० (६।५०।५) मे रोदसी को देवी कहा गया है और वह मरुतो से मिश्रित मानी गयी है। ऋ० (१।१६७।४ एव ६।६६।६) रोदसी मरुतो से सम्बन्धित है।

१६ ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। श्वेताश्व० १।३, परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ श्वेताश्व० ६।८, सर्वोपेता च तद्दर्शनात्। वेदान्तसूत्र २।१।३०, जिस पर शकर की टीका है—'एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इति।' किन्तु पश्चात्कालीन शाक्त सिद्धान्त से यह सर्वथा भिन्न है। यहाँ पर ब्रह्म विभिन्न शक्तियो वाला कहा गया है, किन्तु शाक्तो मे शक्ति स्त्री तत्त्व है और वह परमतत्त्व है। यह सम्भव है कि शक्ति के इस वेदान्तसिद्धान्त ने पश्चात्कालीन एक तत्त्व वाली तथा सर्वत्र व्यापी रहने वाली शक्ति की उद्भावना की हो।

एव नृसिहपूर्वोत्तरतापनी नामक उपनिषदो से व्यक्त होता है (वामकेश्वर तन्त्र पर सेतुवन्ध , पृ० ४) । इसी प्रकार भास्कराचार्य ने वामकेश्वरतन्त्र पर अपनी सेतुवन्ध नामक टीका मे कई उपनिषदो का उल्लेख किया है जो महात्रिपुरसुन्दरी की भक्ति पर विस्तार के साथ उल्लेख करती है। उन्होने ऋ० (५।४७। ४) मे आये हुए 'चत्वारि ईम्' अश मे 'कादिविद्या' का सकेत देखा है । किन्तु ये उपनिषदे, ऐसा लगता है, तन्त्रो को आलम्बन देने के लिए (क्योकि वे अनादृत हो चले थे) प्रणीत हुई और उनका उल्लेख राघवभट्ट एव भास्कराचार्य जैसे मध्यकालीन लेखको ने ही किया है। महाभारत मे दुर्गा को सम्वोधित दो स्तोत्र है, यथा—विराटपर्व (अध्याय ६) मे युधिष्ठिर द्वारा तथा दूसरा भीष्म पर्व (अध्याय २३) मे अर्जुन द्वारा, किन्तु इन दोनो स्तोत्रो को लोग क्षेपक मानते है।[17] विश्ववर्मा के गगाधर शिलालेख (मालव स० ४८०-४२४ ई०) मे माताओ एव तन्त्र का उल्लेख है।[18] बृहत्सहिता (५७।५६) ने माताओ के दलो का उल्लेख किया है । वृद्धहारीतस्मृति (११।१४३) मे आया है कि गृहस्थ को शैव, बौद्ध स्कान्द एव शाक्त सम्प्रदायो के स्थलो मे प्रवेश नही करना चाहिए। विष्णुपुराण (जो प्राचीन विद्यमान पुराणो मे एक है) ने सम्पूर्ण विश्व को विष्णु का विश्व कहा है और विष्णु को परम ब्रह्म एव शक्ति से समन्वित माना है । इस पुराण ने दुर्गा के कुछ नाम गिनाये है, यथा—आर्या, वेदगर्भा, अम्बिका, भद्रा, भद्रकाली, क्षेमदा, भाग्यदा और अन्त मे कहा है कि जब दुर्गा की पूजा मद्य, मास, विभिन्न प्रकार के भोजन आदि से की जाती है तो वह

१७ जे० आर० ए० एस्० (१६०६, पृ० ३५५-३६२) मे बी० सी० मजूमदार ने यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि दुर्गा के ये दो स्तोत्र महाभारत मे क्षेपक मात्र है और सम्भवत सम्भलपुर के पास रहने वाले ओडिया भाषा बोलने वाले अनार्य शूद्रो के आचारो पर आधारित है। किन्तु वे भूल जाते है कि अन्य आधारो के अतिरिक्त कालिदास (४०० ई० के पश्चात् के नहीं) ने पार्वती को अपने कतिपय ग्रन्थो मे उमा, अपर्णा, दुर्गा, गौरी, भवानी एव चण्डी कहा है और शिव के अर्धनारीश्वर रूप का उल्लेख किया है । शाकुन्तल के अन्तिम श्लोक मे कालिदास ने शिव को 'परिगतशक्ति' कहा है, जिससे यह प्रकट होता है कि उनके काल मे पश्चात्कालीन शक्ति-पूजा के बीज उपस्थित थे। अत दुर्गा-पूजा अपने कतिपय रूपो मे ३०० ई० से कम-से-कम सो वर्ष पुरानी है।

१८ मातृणा च प्रमुदितघनात्यर्थनिर्ह्लादिनीना तन्त्रोद्भूतप्रबलपवनोद्वर्तिताम्भोनिधीनाम् । गुप्तशिलालेख, सख्या १७, पृ० ७२। बृहत्सहिता (५७।५६) मे माताओ की प्रतिमाओ के विषय मे नियमो की व्यवस्था है—'मातृगण कर्तव्य स्वनामदेवानुरूपकृतचिह्न ।' विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।२२६) मे बहुत-सी माताओ का उल्लेख है जिनमे काली एव महाकाली भी है (कुल मिलाकर १८० माताएँ है)। देखिए हाल का ग्रन्थ, ई० ओ० जेम्स (लन्दन, १६५६) लिखित 'कल्ट आव दि मदर गॉडेसेज' जिसके ६६-१२४ तक के पृष्ठ भारत से सम्बन्धित है। देखिए डा० करमबेल्कर का निबन्ध 'मत्स्येन्द्रनाथ एण्ड हिज योगिनी कल्ट' (इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द ३१, पृ० ३६२-३७४, सन् १६३५), जिसमे यह व्यक्त है कि आदिनाथ (स्वय शिव) मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु थे और स्वय मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे । मत्स्येन्द्रनाथ को तिब्बत मे लुइपा कहा जाता है और वे ८४ सिद्धो मे एक है। देखिए कनिंघम की आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, ६, जिसमे भेडाघाट के ६४ योगिनियो के मन्दिर का उल्लेख है। और देखिए बी० पी० देसाई का निबन्ध 'तान्त्रिक कल्ट इन एपिग्राफ्स' (जे० ओ० आर० , मद्रास, जिल्द १६, पृ० २८५-२८८) ।

प्रसन्न होकर मनुष्यो की सभी कामनाएँ पूर्ण करती है ।[१९] वाणभट्ट की कादम्वरी मे उज्जयिनी से कुछ दिनो के मार्ग पर अवस्थित चण्डिका के मन्दिर का एक लम्वा वर्णन है, जहाँ पर एक वूटा, द्रविड भक्त रहता था। इस वर्णन की कुछ वाते यो ह 'पशुओ के मुण्डो की आहुतियाँ, वाहन के रूप मे सिह, महिपासुर की वलि, पाशुपतो के सिद्धान्त जो ताडपत्र पर लिखे छोटे-छोटे ग्रन्थो के रूप मे थे, जिनमे तन्त्र, मन्त्र, जादू लिखित थे, दुर्गा-स्तोत्र (एक वस्त्र-खण्ड पर लिखित), माताओ के जीर्ण-शीर्ण मन्दिर, द्रविड भक्त का वर्णन जो श्रीपर्वत के विषय मे सहस्रो कथाएँ जानता था।' वाण ने पुत्र की इच्छा रखने वाली रानी विलासवती की धार्मिक क्रियाओ का उल्लेख किया है, यथा—चण्डिका के मन्दिर मे शयन करना, जहाँ लगातार गुग्गुल जल रहा था, राहो पर अमावस्या की रात्रि मे स्नान करना, जहाँ जादूगरो द्वारा ऐन्द्रजालिक वृत्त खिचे हुए थे, माताओ के मन्दिरो मे जाना, रक्षाकरड धारण करना जिसके भीतर भूर्ज पत्रो पर पीले रग से मन्त्र लिखे हुए थे, और जब प्रसव का समय सन्निकट आ गया तो विस्तर को भाँति-भाँति की जडी-बूटियो एव यन्त्रो (चित्र या अक) से शुद्ध किया गया। हर्षचरित (३) मे जादू के वृत्तान्तो एव मानव-वलियो की चर्चा हुई है। शैव साधु भैरवाचार्य को शिव-सहिताएँ स्मरण थी, उसने महाकालहृदय नामक महाममन्त्र का जप एक श्मशान मे एक करोड वार किया था। वह उस मन्त्र मे पूर्णता प्राप्त करने के लिए पुण्यभूति (सम्राट् हर्ष के एक पूर्व पुरुप) की सहायता चाहता था और वेताल को हराना चाहता था। अन्त मे वह विद्याधर की स्थिति को प्राप्त हो गया और नक्षत्रमण्डल मे ज्योतिर्मान् हो गया । हर्पचरित की भूमिका के अन्तिम श्लोक मे हर्ष को श्लेषात्मक ढग से श्रीपर्वत कहा गया है, जो शरणागतो की इच्छाओ के अनुसार सभी सिद्धियो को देने वाला है। वाण के ग्रन्थो के ये विवरण प्रकट करते ह कि किस प्रकार ७वी शती के वहुत पहले से मास के साथ चण्डी की पूजा , मन्त्रो के शाक्त या तान्त्रिक उपकरण, सिद्धियाँ, मण्डल एव यन्त्रो ने धनी एव दरिद्र तथा वडे एव छोटे सभी प्रकार के भारतीय लोगो के मनो को अभिभूत कर रखा रखा था । मालती-माधव (अक ५) मे हम चामुण्डा के लिए मानव-वलि का दारुण चित्र पाते ह। उसी नाटक मे सौदामिनी का उल्लेख हुआ है जिसने श्रीपर्वत पर एक कापालिक के व्रतो (नियमो) का पालन किया हे और मन्त्रो के वल से अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की ह। वनपर्व (८५।१९-२०) मे श्रीपर्वत को शिव एव देवी का पवित्र स्थल कहा गया है। सुवन्धु की वासवदत्ता मे श्री पर्वत को 'सन्निहित-मल्लिकार्जुन' कहा गया है। आगे चलकर सस्कृत एव पालि साहित्य से उद्धरण देकर यह प्रदर्शित किया जायेगा कि किस प्रकार तान्त्रिक प्रयोगो से धर्म का नाम कलकित किया गया और घोर अनैतिकता को वढावा मिला।

तन्त्रो का साहित्य वहुत विशद् है (देखिए 'प्रिसिपुल्स आव तन्त्र' ए० एवालोन द्वारा सम्पादित, भाग १, पृ० ३९०-३९८ जहाँ तन्त्रो की एक लम्वी सूची दी हुई हे)। हिन्दू एव वौद्ध लेखको ने तन्त्र पर वहुत से ग्रन्थ लिखे और उन ग्रन्थो मे वहुत से विपय सम्मिलित हो गये। कुछ रूपो मे हिन्दू एव बौद्ध तन्त्र समान हैं, किन्तु विषयो के विवरण, दार्शनिक सिद्धान्तो एव धार्मिक तत्वो तथा प्रयोगो मे दोनो एक-दूसरे से

१९ एतत्सर्वमिद विश्व जगदेतच्चराचरम् । पर ब्रह्मस्वरूपस्य विष्णो शक्तिसमन्वितम् ॥ विष्णुपु० (५। ७।६०), सुराया सोपहारैश्च भक्ष्यभोज्यैश्च पूजिता । नृणामशेष कामास्त्व प्रसन्ना सम्प्रदास्यसि ॥ विष्णु पु० (५। १।८६) । यह श्लोक ब्रह्मपुराण (१८१।५२) मे भी आया हे और पीछे के तीनो श्लोको जिनमे दुर्गा के नाम आये है दोनो मे पाये जाते हैं ।

भिन्न । तन्त्र ग्रन्थ तिब्बत, मगोलिया, चीन, जापान, एव दक्षिण-पूर्व एशिया मे प्रचारित हुए। बहुत से सस्कृत तान्त्रिक ग्रन्थो के मूल रूप आज उपलब्ध नहीं ह, किन्तु उनके कुछ तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हो सके ह[20]। ऐसा कहा जाता हे कि यदि उचित खोज की जाय तो तन्त्र पर ३०० ग्रन्थ प्राप्त हो सकते हे (देखिए डा० बी० भट्टाचार्य, श्री रामवर्मा इस्टीच्यूट आव रिसर्च, कोचीन, जिल्द १०, पृ० ८१)।

तन्त्रो की सामान्य परिभाषा देना कठिन हे। 'तन्त्र', शब्द व हुधा 'तन् (फैलाना, तानना) एव 'त्रै' (बचाना) धातुओ से निष्पन्न माना जाता हे। यह बहुत-से विषयो को, जिनमे तत्त्व एव मन्त्र भी सम्मिलित ह, विस्तारित करता हे और रक्षण देता हे, अत इसे 'तन्त्र' कहा जाता हे[21]। सभी तन्त्रो मे एक विषय समान रूप से पाया जाता हे, यथा **पॉच मकार**। बहुधा उनमे धर्म, दर्शन, अन्धविश्वासमय सिद्धान्त, क्रियाओ, रीतियो, ज्योतिष, फलित ज्योतिष, औषधि एव शकुनो (निमित्तो) का समावेश पाया जाता ह। बहुत सी बातो मे वे पुराणो से मिलते-जुलते हे। बौद्धो ने बौद्धधम के बहुत-से व्यक्तियो का देवकरण किया और कालान्तर मे गणेश एव सरस्वती जैसे कुछ हिन्दू देव-देवियो को भी ले लिया। अपेक्षाकृत पश्चात्कालीन ग्रन्थो मे तन्त्रो को तीन दलो मे बॉटा गया हे—**विष्णुक्रान्त, रथक्रान्त एव अश्वक्रान्त** और प्रत्येक मे ६४ तन्त्र सम्मिलित ह (देखिए तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द १, आर्थर एवालोन द्वारा सम्पादित, भूमिका, पृ० २–४)। किन्तु ये सख्याएँ कल्पनात्मक भी लगती हे। कुछ ग्रन्थो मे एक ही तन्त्र दो वर्गो मे रखा हुआ हे। कुलार्णव-तन्त्र (३।६–७) ने ५ आम्नायो (पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर एव ऊर्ध्व) की चर्चा की है जो मोक्ष के मार्ग हैं। यही बात परशुरामकल्पसूत्र (१–२) मे भी पायी जाती हे[22]। इसके अतिरिक्त तान्त्रिक पूजक भी तीन वर्गो मे विभाजित हे, यथा शैव, शाक्त एव वैष्णव। बागची (स्टडीज इन तन्त्रज, पृ० ३) का कथन हे कि तान्त्रिक साहित्य **स्तोत्रो** (जो तीन हे), **पीठ** एव **आम्नाय** मे विभक्त हैं। सौन्दर्यलहरी ने, जो कुछ लोगो के मत से शकराचार्यकृत हे, ६४ तन्त्रो की चर्चा की हे (३१ वे श्लोक मे आया हे–'चतुष्षष्ट्या तन्त्रै'), जो

२० शाक्त सिद्धान्तो एव प्रयोगो के विषय मे कुछ जानकारी देने के लिए निम्नोक्त ग्रन्थ अवलोकनीय है आर० जी० भण्डारकर कृत 'वैष्णविज्म, शैविज्म आदि' (सगृहीत ग्रन्थ, जिल्द ४, पृ० २०३-२१०), सर जॉन वुड्रौफ कृत 'शक्ति एव शाक्त' (१९२०), आर्थर एवालोन (सर जॉन वुड्रौफ) कृत 'सर्पेण्ट पावर', ई० ए० पेयने कृत 'दि शाक्तज' (आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, १९३३), डा० सुधेन्दु कुमार दास कृत 'शक्ति और डिवाइन पावर' (कलकत्ता यूनि० १९४५), डा० पी० सी० चक्रवर्ती कृत 'डाक्ट्रिन आव शक्ति इन इण्डियन लिटरेचर' (१९४०)। देखिये प्रो० बागची का 'स्टडीज इन तन्त्रज' पृ० १-३ (कम्बुज या कम्बोडिया मे लगभग ८०० ई० के चार तान्त्रिक बातो का प्रवेश, यथा—शिरश्छेद, विनाशिख, सम्मोह एव नयोत्तर) तथा डा० आर० सी० मजूमदार कृत 'इस्क्रिप्शस फ्राम कम्बुज' (कलकत्ता, १९५३), पृ० ३६२-३७३-३७४ एव जे० आर० ए० एस० (१९५०), पृ० १६३-६५, जहाँ मुस्लिम मलाया मे शक्तिवाद के अवशेषो का उल्लेख है।

२१. तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्। त्राण च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

२२ भगवान् परमशिवभट्टारक भगवत्या भैरव्या स्वात्माभिन्नया पृष्ट पचभिर्मुखै पञ्चाम्नायान परमार्थसारभूतान् प्रणिनाय। परशुरामकल्पसूत्र (१।२)। कुछ ऐसे भी ग्रन्थ है जो पॉचो आम्नायो के मन्त्रो एव ध्यानो की चर्चा करते हैं, यथा—डकन कालेज पाण्डुलिपि, स० ३९४ (१८८२-८३)।

ससार को विमोहित करने के लिए शकर द्वारा घोपित किये गये हैं [३]। बहुत-से हिन्दू एव बौद्ध तन्त्रो का प्रकाशन हो चुका है अत अब हमे यह ज्ञात हो गया है कि तन्त्रो का क्या स्वरूप है। कुछ हिन्दू तन्त्र ये हैं—

कुलार्णव, तन्त्रसार, नित्योत्सव, परशुराम कल्पसूत्र, पारानन्दसूत्र, प्रपञ्चसार, मन्त्रमहोदधि (महीधर कृत), महानिर्वाण तन्त्र, रुद्रयामल, वामकेश्वरतन्त्र, शारदातिलक (लगभग ११ वी शती)। इनके अतिरिक्त कश्मीरी तन्त्रवाद के अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक एव मालिनी विजयवार्तिक ऐसे तन्त्र ग्रन्थ भी है, जो उपर्युक्त ग्रन्थो से कुछ भिन्न है। कुछ प्रकाशित बौद्ध ग्रन्थ ये है—अद्वयवज्रसगह, आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प, गुह्यसमाजतन्त्र (सम्भवत ६ ठी शती), इन्द्रभूति (७१७ ई०) की ज्ञानसिद्धि, अभयाकर गुप्त की निष्पन्नयोगावलि (११वी शती के अन्तिम चरण एव १२वी शती के प्रथम चरण मे प्रणीत) अनगवज्र, (७०५ ई०) की प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि, षट्चक्रनिरुपण (१५७७ ई०), साधनमाला (जिसमे तीसरी शती से १२वी शती तक के छोटे-छोटे ३१२ ग्रन्थो का सग्रह है)। डा० बी० भट्टाचार्य (गुह्यसमाजतन्त्र की भूमिका पृ० ३८) के मत से बौद्ध तन्त्रो मे आर्यमजुश्रीमूलकल्प एव गुह्यसमाजतन्त्र सबसे प्राचीन है (२४)। ऊपर के बहुत-से ग्रन्थ आर्थर एवालोन (सर जॉन वुड्रौफ) द्वारा एव गायकवाड ओरियण्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित है। कुछ

२३ सौन्दर्यलहरी को शकराचार्यकृत कहने के लिए जो साक्ष्य उपस्थित किया जाता है, वह ठीक नही जँचता और न उसमे कोई बल ही है। हरप्रसाद शास्त्री के ताडपत्र-पाण्डुलिपि (नेपाल दरबार लाइब्रेरी, पृ० ६२) के कैटलॉग मे ताराहस्यवृत्तिका नामक एक तन्त्र-सग्रह है जो गोडदेश के शकराचार्य द्वारा तैयार किया गया है। इससे यह बात जाननी चाहिए कि उस अद्वैतगुरु शकराचार्य के नाम पर किसी पुस्तक को थोपने के पूर्व हमे सावधानी बरतनी चाहिए। देखिए डी० एन० बोस कृत 'तन्त्रज, देयर फिलॉसॉफी एण्ड ऐकल्ट सीक्रेट्स' (पृ० २६-३०), जहाँ वाराहीतन्त्र मे उल्लिखित ६४ तन्त्रो के नाम दिये गये है। देखिये सौन्दर्यलहरी जिसमे ६४ तन्त्रो के नाम आये है। और देखिये बागची (स्टडीज इन दि तन्त्रज, पृष्ठ ५) जिन्होने ८वी शती मे तथा उसके पूर्व के प्रामाणिक तन्त्रो के नाम दिये है। अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक मे आया है कि १०,१८ एव ६४ के दलो मे शैवतन्त्र है 'दशाष्टादशवस्वष्टभिन्न यच्छासन विभो। तत्सार त्रिकशास्त्र हि तत्सार मालिनीमतम् ॥ १।१८ (काश्मीर सस्कृत सीरीज, जिल्द २२, पृ० ३५)। नित्याषोडशिकार्णव (वामकेश्वरतन्त्र का एक भाग) ने प्रथम विश्राम के १३ से २२ तक श्लोको मे ६४ तन्त्रो के नाम दिये है, किन्तु इसने तन्त्रो मे ८ यामलो को भी परिगणित कर लिया है, किन्तु डा० भट्टाचार्य (बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म, भूमिका पृ० ५२) ने आगमो एव यामलो मे अन्तर बताने का प्रयत्न किया है और यही कार्य उन्होने साधनमाला (जिल्द २, पृ० २१-२२) की भूमिका मे भी किया है। ज्ञानानन्दगिरि (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द १४) के कौलावलीनिर्णय ने बहुत से तन्त्रो के नाम दिये है जिनमे यामलो का भी उल्लेख है। (१।२-१४) और आठ गुरुओ के नाम भी दिये है (१।६२-६३)।

२४ डा० बी० भट्टाचार्य, (गुह्यसमाजतन्त्र, भूमिका, ३४) ने यह मत प्रकाशित किया है कि सम्भवत गुह्यसमाजतन्त्र का लेखक असग है, अत वह तीसरी या चौथी शती मे लिखा गया होगा। किन्तु यह बात ठीक नही जँचती। सिलवैन लेवी द्वारा सम्पादित असगकृत महायानसूत्रालकार की परिमार्जित सस्कृत से गुह्यसमाज की अशुद्ध सस्कृत से तुलना करने पर पता चलता है कि गुह्यसमाज असग की कृति नहीं है। गुह्यसमाज तीसरी या चौथी शती का ग्रन्थ है, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है, हाँ, वह दो या अधिक शतियो के उपरान्त का हो सकता है। बागची (स्टडीज इन तन्त्रज, पृ० ४१) ने साधना स० १५६ के लेखक असग को योगाचार के महान् गुरु के रूप मे नहीं माना है।

हिन्दू तन्त्रो मे उपनिषदो एव गीता या साख्य एव योग के दार्शनिक सिद्धान्तो की चर्चा भी की गयी है ओर उनके अनुसार सबके लिए अन्तिम लक्ष्य मुक्ति (जन्मो एव मरणो के चक्रो से छुटकारा) ही है, किन्तु उसकी प्राप्ति तन्त्रो द्वारा व्यवस्थित मार्ग से ही सम्भव हे। प्रकाशित हिन्दू तन्त्रो की सख्या अधिक हे, अत कुछ ही तन्त्रो, यथा--कुलार्णव, पारानन्दसूत्र, प्रपचसार, महानिर्वाणतन्त्र, वामकेश्वरतन्त्र, (आनन्दाश्रम सस्करण), शक्तिसगमतन्त्र, शारदातिलक, की ओर निर्देश किया जायगा। बोद्ध तत्वो मे आर्यमजुश्रीमूलकल्प, गुह्यसमाजतन्त्र, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, ज्ञानसिद्धि, साधनमाला, सेकोद्देशटीका की ओर सकेत किया जायगा।

बौद्ध तन्त्रो मे अधिकाश का उद्देश्य है बुद्धत्व प्राप्ति के लिए योग-क्रियाओ द्वारा सरल मार्ग का अनुसरण करना तथा सिद्धियो (अलौकिक शक्तियो) की प्राप्ति करना। धर्मशास्त्र के इतिहास मे बौद्ध तन्त्रो के विपय मे विशेप चर्चा की आवश्यकता नही है। हॉ, तुलना के लिए कुछ महत्वपूर्ण बातो की जानकारी आवश्यक हे। हम यहॉ हिन्दू तन्त्रो पर ही विशेप ध्यान देगे। तान्त्रिक सस्कृति के दार्शनिक पहलुओ का अध्ययन परशुरामकल्पसूत्र, वामकेश्वरतन्त्र, तन्त्रराज, काश्मीरी शैवागम के ग्रन्थो, भास्कराचार्य के ग्रन्थो एव भावनोपनिपद् मे किया जा सकता हे। यह अन्तिम ग्रन्थ पश्चात्कालीन है और इसे उपनिपद् होने का सम्मान दिया गया है, क्योकि इसने **भावना** पर प्रकाश डाला है ओर तन्त्रराजतन्त्र के वासनापटल का निष्कर्प उपस्थित किया है। गौतमीयतन्त्र (डकन कालेज पाण्डुलिपि, स० ११२०, १८८६-१८९२) एव केशव (जो निम्बार्क के परवर्ती थे) की क्रमदीपिका, जिसके साथ गोविन्द विद्याविनोद, (चोखम्वा स० सीरीज) की टीका भी है, आदि **वैष्णव तन्त्र** है, जिनके विषय मे यहॉ स्थानाभाव से सकेत नही किया जायगा। देखिए अग्निपुराण (३९। १-७) जहाँ २५ वैष्णव तन्त्रो का उल्लेख है, विष्णु-प्रतिमा के प्रतिष्ठापन की चर्चा है तथा माहेश्वरतन्त्र आदि का उल्लेख है (२९।१६-२०)।

हिन्दू तन्त्र, जिनमे शिव एव पार्वती या स्कन्द या भैरव के कथनोपकथन है (यथा दत्तात्रेयतन्त्र, डकन कालेज पाण्डुलिपि, स० ९६२, १८८७-९१) यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते है, कि वे वेदो, आगमो, स्मृतियो एव पुराणो पर आधारित हे। वे यह भी कहते हे कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए सरलतर एव क्षिप्रसाध्य मार्ग भी है और वे बहुधा वैदिक वाक्य भी उद्धृत करते हे। उदाहरणार्थ, कुलार्णव मे शिव देवी से कहते है 'मैने (सत्य) ज्ञान की मथानी से वेदो एव आगमो के महासागर को मथा है। मै इनके सारतत्त्व को जानता था और मैने कुलधर्म को बाहर निकाला है, कौलशास्त्र, वेदवचनो के समान प्रामाणिक है और तर्क द्वारा इसे समाप्त नही करना चाहिए [२५]।' इस तन्त्र मे आगे ऐसा आया हे -'जिसने चारो, वेद पढ लिये ह, किन्तु

२५ मथित्वा ज्ञानदण्डेन वेदागममहार्णवम्। सारज्ञेन मया देवि कुलधर्म समुद्धृत ॥ कलार्णव (२।१०), परानन्दसूत्र (३।६४) मे भी सर्वथा यही आया हे 'मथित्वा ज्ञानमन्थेन वेदागममहार्णवम्। पारानन्दमत शुद्ध रसज्ञेन मयोद्धृतम ॥ इति' (पृ० ७), 'कुलशास्त्राणि सर्वाणि मयैवोक्तानि पार्वति। प्रमाणानि न सन्देहो न हन्तव्यानि हेतुभि ॥ देवताभ्य पितृभ्यश्च मधुवाता ऋतायते। स्वादिष्ठया मदिष्ठया क्षीर सर्पिर्मधूदकम्। हिरण्यपावा खादिश्च अवध्न पुरुप पशुम्। दीक्षामुपेयादित्याद्या प्रमाण श्रुतय प्रिये ॥ कुलार्णव (२।१३९-१४१)। देवताभ्य पितृभ्यश्च' वायु पु० (७४।१५) हे, 'मधुवाता ऋतायते' ऋ० (१।९०।६) है, 'स्वादि ष्ठया' ऋ० (९।१।१) है, क्षीर - दकम्' ऋ० (९।६७।३२) हें; 'हिरण्यपावा' ऋ० (९।८६।४३) है। बहुत-से वैदिक सकेत इतनी चालाकी से चुने हुए है कि उनसे मद्य एव मास की मधुरता प्राप्त हो।

कुल धर्मो से अनभिज्ञ है, वह चाण्डाल से भी अधम हे, किन्तु वह चाण्डाल, जो कुलधर्मो को जानता है, ब्राह्मण से उच्च हे। यदि सभी धर्मो, यथा—यज्ञो, तीर्थयात्राओ, एव व्रतो को एक ओर रखा जाय तथा कुलधर्म को दूसरी ओर, तो कौल (धर्म) अर्थात् कुलधर्म भारी (उत्तम) पडेगा' (कुलार्णवतन्त्र २।११ एव ६७, और देखिए महानिर्वाणतन्त्र ४।५२, जहाँ सर्वथा ऐसे ही शब्द आये ह)। अत यह आवश्यक है कि हम कुल अथवा कौलधर्म के अर्थ को जान ले। गुह्य समाज तन्त्र (१८ वा पटल, पृ० १५०) मे उल्लिखित है कि 'गुह्य' का अर्थ है तीन —काया, वाक् (वाणी) एव चित्त (मन) तथा 'समाज' का अर्थ हे 'मीलन' अर्थात् 'मिलन्' (एक साथ आना), कुल के त्रिकुल, पचकुल या १०१ भेद ह ओर गुह्य का अर्थ ह त्रिकुल। देवशकर ने पाँच तत्व घोपित किये हे—मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा (हाथ एव अगुलियो की मुद्रा या योगी की नारी सहायिका) एव मैथुन, ये ऐसे कर्म है जो वीर के आसन की प्राप्ति के साधन ह और शक्ति या मन्त्र तब तक पूर्णता नही प्रदान करता, जब तक कुल के प्रयोगो का अनुसरण नही किया जाता। अत व्यक्ति को चाहिए कि वह कुलाचारो मे रत हो, जिसके द्वारा वह शक्तिसाधना प्राप्त करता हे। मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा एव मैथुन—ये शक्ति-पूजा विधि के पाँच तत्व कहे गये हे[२६]। एक अन्य स्थान पर महानिर्वाणतन्त्र मे आया हे कि जीव, प्रकृति, दिक्, काल, आकाश, क्षिति (पृथिवी), जल, तेज (अग्नि) एव वायु—ये कुल कहे जाते ह, और जब व्यक्ति इन सभी के प्रति ब्रह्मबुद्धि से आचरण करता हे तो वह कुलाचार कहलाता हे, इससे चार पुरुपार्थो, धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष की प्राप्ति होती हे[२७]। शक्तिसगमतन्त्र मे आया हे कि कुल का तात्पर्य काली के उपासको (पूजा करने वालो) से हे। कुलार्णव मे उल्लिखित हे—'कुल का अर्थ हे गोत्र ओर वह शक्ति एव शिव से उदित होता है, वह व्यक्ति कौलिक हे, जो यह जानता है कि मोक्ष की प्राप्ति उससे (अर्थात् शक्ति एव शिव से) होगी। शिव अकुल कहलाता है, और शक्ति को कुल कहते है, जो लोग कुल एव अकुल का ध्यान

२६ वीरसाधनकर्माणि पञ्चतत्त्वोदितानि च। मद्य मासं तथा मत्स्य मुद्रा मैथुनमेव च। एतानि पञ्च तत्त्वानि त्वया प्रोक्तानि शकर। महानिर्वाण (१।५७)। साधक के तीन प्रकार है। पशु, वीर एव दिव्य। देखिये शक्तिसगमतन्त्र, कालीखण्ड (६।२१), महानिर्वाण (१।५१ एव ५५, ४।१८-१९), कौलावलीनिर्णय (७।१८६)। कुलाचार विना देवि शक्तिमन्त्रो न सिद्धिद। तस्मात्कुलाचारत साधयेच्छक्तिसाधनम्॥ मद्य मास तथा मत्स्य मुद्रा मैथुनमेव। शक्तिपूजाविधावाद्ये पञ्चतत्त्व प्रकीर्तितम॥ महानिर्वाण (५।२१-२२)। 'आद्ये' 'आद्या' का सम्बोधन है जो शिव की पत्नी शक्ति के लिए प्रयुक्त है। कौलावलीनिर्णय मे आया हे 'चण्डिका पूजयेद्यस्तु विना पञ्चमकारकै। चत्वारि तस्य नश्यन्ति आयुर्विद्यायशो धनम्॥ मद्य मास मैथुनमेव च। मकारपचक देवि देवताप्रीतिदायकम्॥ विना पचोपचार हि देवीपूजा करोति य। योगिनीना भवेद्भक्ष्य पाप चैव पदे पदे॥ (४।२४-२८), इसके अतिरिक्त कौलावलीनिर्णय के २।१०१-१०५ पद अत्यन्त प्रभावशाली है 'सस्थाप्य वामभागे तु शक्ति स्वामिपरायणाम्। विना शक्त्या तु या पूजा विफला नात्र सशय। तस्माच्छक्तियुक्तो वीरो भवेच्च यत्नपूर्वकम्। या शक्ति सा महादेवी हरस्वरूपस्तु साधक। अन्योन्यचिन्तनाच्चैव देवत्वमुपजायते। शक्ति विनापि पूजाया नाधिकारी भवेत्सदा।

२७ जीव प्रकृतितत्त्व च दिक्कालाकाशमेव च क्षित्यप्तेजोवायवश्च कुलमित्यभिधीयते। ब्रह्मबुद्ध्या निर्विकल्पमेतेष्वाचरण च यत्। कुलाचार स एवाद्ये धर्मकामार्थमोक्षद॥ महानिर्वाण (७।९७-९८) ७।१०९-११० मे इस तन्त्र ने मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा एव मैथुन नामक पाँच तत्वो को तेज (अग्नि), पवन, जल, पृथिवी एव वियत् (आकाश) के समान कहा हे।

करते है वे विज्ञ **कौलिक** कहे जाते है[२८]। गुह्यसमाज (प्रथम पटल, पृ० ६), शक्ति सगम (भूमिका, पृ० ८), ताराखड मे बहुत-सी परिभाषाएँ दी हुई है। किन्तु उसी तन्त्र मे द्वयर्थवाक्य आये है और उद्घोषणा हुई है—"शक्ति कुल के नाम से विख्यात है, उसकी पूजा आदि वर्णित हे, उसे कुलाचार कहना चाहिए जो देवो के लिए भी दुर्लभ है। केवल मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा एव मैथुन से की गयी पूजा को ही कुलाचार कहा जाता है"। पारानन्दसूत्र मे आया है कि **परमात्मा** एक है, **ईश्वर** सात है, यथा—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, शक्ति एव भैरव, **जीव** असख्य है, **मार्ग** तीन है, यथा—**दक्षिण, वाम** एव **उत्तर,** जिनमे प्रत्येक अपने पूर्व वाले से उत्तम है, दक्षिण मार्ग वह है जो वेद, स्मृतियो एव पुराणो मे घोषित है, वाम मार्ग वेदो एव आगमो द्वारा घोषित है, और तीसरा मार्ग (उत्तर) वह होता हे जिसे वेद के वचन एव गुरु घोषित करते है, गुरुवाक्य, अपने उस गुरु का होता है, जो स्वय **जीवनमुक्त** होता हे और मन्त्रो की शिक्षा देता हे। सूत्र मे आगे आया है कि **वामाचार** दो प्रकार का होता हे, यथा **मध्यम** एव **उत्तम,** उत्तम वह हे जिसका सम्बन्ध मद्य, मैथुन एव मुद्राओ से है, और मध्यम वह जिसमे पाँचो, अर्थात् मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा एव मैथुन पाये जाते है[२९]। यह द्रष्टव्य है कि स्वय तन्त्रो ने पूजा मे पचमकारो के प्रयोग को **वामाचार** कहा हे, न कि उनके कट्टर योग पक्षपातियो ने, जैसा कि हीनरिच जिम्मर महोदय ने कहा है (दि आर्ट आव इण्डियन एशिया, जिल्द १, पृष्ठ १३०)।

पारानन्दसूत्र (पृ० ५, सूत्र १२–१६) का कथन है कि शिष्य को किसी 'गुणवान् गुरु से दीक्षा लेनी पडती है, जो उसे मन्त्र सिखाता हे, जो अपने मुख मे पानी भरकर शिष्य के मुख मे डालता है और जिसे शिष्य पीता हुआ मन्त्र को स्वीकार करता है। यह विधि तब प्रयोग मे लायी जाती हे जब कि गुरु ब्राह्मण होता है। किन्तु जब गुरु क्षत्रिय होता हे तो वह कान मे मन्त्र सुनाता हे। तन्त्रराजतन्त्र मे आया है कि गुरु को १,२,३,४ या ५ वर्षों तक क्रम से चारो वर्णो एव मिश्रित जाति वालो के गुणो एव भक्ति की परीक्षा लेनी चाहिए और तब मन्त्र देना चाहिए, नही तो गुरु एव शिष्य दोनो कष्ट मे पडेगे (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ८, २।३७–३८)। अधिकाश तन्त्रो का कथन है कि गुरु एव पचमकारो द्वारा की गयी पूजा द्वारा प्राप्त ज्ञान गुप्त रखना

२८ श्रीकाल्युपासका ये च ˬ परिकीर्तितम्। तेषा समूहो देवेशि कुल सकीर्तित मया। शक्तिसगम, कालीखण्ड (३।३२), मद्य मास तथा मत्स्य मुद्रा मैथुनमेव च। एभिरेव कृता पूजा कुलाचार प्रकीर्तित ॥ शक्ति सगम, ताराखण्ड, ३६ वाँ पटल, १८-२० श्लोक, कुल गोत्र समाख्यात तच्च शक्तिशिवोद्भवम्। येन मोक्ष इति ज्ञान कौलिक सोभिधीयते॥ अकुल शिव इत्युक्त कुल शक्ति प्रकीर्तिता। कुलाकुलानिसन्धानान्निपुणा कौलिका प्रिये। कुलार्णव (१७।२६-२७)। पञ्चमकार शोधनविधि (डकन कालेज पाण्डुलिपि स० ६६४, १८६१-६५) मे आया है "मद्य मैथुनमेव च। भाग्यहीना (नै ?) न लभ्यन्ते मकारा पञ्च दुर्लभा।"

२९ एक परमात्मा। ईश्वरा सप्त। असख्या जीवा। ब्रह्माविष्णुशिवसूर्यगणेशशक्तिभैरवाश्चेश्वरा। पारानन्दे मते त्रयो मार्गा। दक्षिण। वाम। उत्तर। तथैव गाथामुदाहरन्ति। दक्षिणादुत्तम वाम वामादुत्तरमुत्तमम्। उत्तरादुत्तम किंचिन्नैव ब्रह्माण्डमण्डले। वामाचारो मुद्रामैथुनैर्युक्तो मध्यम। पारानन्द सूत्र (गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज पृ० १-३, १३)। मिलाइये कुलार्णवतन्त्र (२।७-८) 'वैष्णवादुत्तम शैव शैवा द दक्षिणमुत्तमम्। दक्षिणादुत्तम वाम वामात् सिद्धान्तमुत्तमम्। सिद्धान्तादुत्तम कौल कौलात्परतर नहि॥ 'वामाचार' शब्द सम्भवत इसीलिये ˬ है कि इसमे वामा अर्थात् नारी महत्वपूर्ण योगदान देती हे अथवा क्योकि यह गुप्त रूप से (जो कि वाम गति कहा जायेगा) प्रयोगित होता था। अत इसे वामाचार कहा गया।

चाहिए, यदि उसका रहस्य अन्य लोगो को ज्ञात हो जाय तो नरक प्राप्त होता है । देखिए परशुरामकल्पसूत्र (१।१२) एव शक्तिसगमतन्त्र (तारा० ३६।२४–२५)। दीक्षा एव मन्त्र की प्राप्ति के उपरान्त शिष्य को गुरु के आदेशो का पालन तब तक करते जाना चाहिए जब तक उसे इष्ट का दर्शन न हो जाय। गुरु सभी अन्य लोगो से श्रेष्ठ है, मन्त्र गुरु से श्रेष्ठ है, देवता मन्त्र से श्रेष्ठ है तथा परमात्मा देवता से श्रेष्ठ है। सिद्धियो की प्राप्ति के लिए शिष्य द्वारा सभी प्रकार से गुरु की सेवा की जानी चाहिए। भोग, स्वर्ग एव अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए केवल भक्ति ही एक मार्ग है, ऐसा श्रुति का कथन है (देखिए पारानन्द०, पृ० ६–७, सूत्र ३५, ३८ एव ५६)। 'जीवन्मुक्ति' का अर्थ है अपने उपास्य के दर्शन की प्राप्ति (स्वोपास्य दर्शन जीवन्मुक्ति) एव 'वह, जो जीवित रहते हुए मुक्त है, अपने कर्मो से लिप्त नही होता, चाहे वे कर्म पुण्य वाले हो, अथवा पाप वाले'[३०]। ये सिद्धान्त कुछ उपनिषदो मे कहे गये उन शब्दो से मिलते है जो ब्रह्मज्ञानी के लिए प्रयुक्त है। जो ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह पुण्य एव पाप से रहित हो जाता है और शरीर को छोडकर ब्रह्मलोक मे पहुँच जाता है। वह लौट कर नही आता है, अर्थात् वह आवागमन से मुक्त हो जाता है। इस स्थिति के लिए प्रयास करना चाहिए। अत जिसे सत्य ज्ञान प्राप्त हो गया है उसे भक्त हो जाना चाहिए। जो आर्त है, जिज्ञासु है, अर्थार्थी (किसी कामना वाला) है तथा ज्ञानी है, वह भद्र है, किन्तु जो परमात्मा को जानता है और भक्त हो जाता है वह परमात्मा के लोक को पाता है, जैसा कि वैदिक शब्दो मे आया है—'ब्रह्मज्ञानी परम को प्राप्त होता है'।

इस उच्च दर्शन की पृष्ठभूमि मे पारानन्दसूत्र ने स्वच्छन्द रूप से व्यवस्था दी है कि गुरु को पुष्पाञ्जलि से पूजन करके तथा अग्नि मे कुछ भोज्यान्न डालकर मकारो को एकत्र करना चाहिए, पुन देवता के पूजा-स्थल मे आना चाहिए और अग्नि मे हवि डालनी चाहिए तथा नवशिष्य को मद्य पीने के लिए पात्र, मुद्रा, व्यञ्जनो के साथ भोजन एव एक वेश्या समर्पित करनी चाहिए। इसके उपरान्त नवशिष्य जब तीन मकारो (मद्य, मुद्रा एव मैथुन) को ग्रहण कर चुके तो उसे कौलधर्म मे प्रशिक्षित करना चाहिए। देखिए पारानन्द० (पृ० १५–१६, सूत्र ५६–६३)। इसके उपरान्त पारानन्दसूत्र नवशिष्य को सिखाये जाने वाले कौलधर्मो को दो पृष्ठो (१६–१७) मे उल्लिखित करता है, जहाँ की कुछ महत्त्वपूर्ण बाते इस प्रकार है—"नवयुवती वेश्या (स्वेच्छा ऋतुमती) स्वय शक्ति का अवतार है, ब्रह्म है, स्त्रियाँ देवता है, प्राण है, और (विश्व के) अलकार है, स्त्रियो की निन्दा नही करनी चाहिए और न उन पर क्रोध करना चाहिए"। 'इस प्रकार वेदो एव तन्त्रो मे दिये हुए नियमो के अनुसार देवो एव गुरु की पूजा करने के उपरान्त जब व्यक्ति देवो को स्मरण करता हुआ मद्य पीता है या वेश्या के साथ मैथुन करता है तो वह पाप कर्म नही करता। जो केवल अपने को आनन्द देने के लिए मद्य पीता है तथा अन्य मकार

३० स्वोपास्यदर्शन जीवन्मुक्ति जीवन्मुक्तो न कर्मभिर्लिप्यते पुण्यै पापैर्वा। न स पुनरावर्तते। न स भूय ससारसम्पद्यते। तस्मात्सदर्शने यतितव्यम्। ज्ञानी भक्तो भवेत्। आर्तजिज्ञास्वर्थार्थिज्ञानिन उदारास्तत्रेशस्य ज्ञानी भक्त एव परमात्मलोक प्राप्नोति ब्रह्मविदाप्नोति परमिति शब्दात्। पारानन्द (पृ० ६, सूत्र ३-८) 'न च पुनरावर्तते' छा० उप० (८।१५) के अन्त मे आया है तथा 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' तै० उप० (ब्रह्मानन्दवल्ली) के प्रारम्भ मे ही आया है। 'आर्त ज्ञानी भक्त एव' गीता (७।१६-१७) से उद्धृत है। 'चतुर्विधा भजन्ते उदारा सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।" मिलाइये मुण्डकोपनिषद् (३।१।३) 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरजन परमसाम्यमुपैति)' छा० उप० (८।१३), महानिर्वाणतन्त्र (४।२२) 'ब्रह्मज्ञाने समुत्पन्ने मेध्यामेध्य न विद्यते' एव ७।९४ 'ब्रह्म से कृत्याकृत्य न विद्यते ॥'

करते है वे विज्ञ **कौलिक** कहे जाते हे[२८]। गुह्यसमाज (प्रथम पटल, पृ० ६), शक्ति सगम (भूमिका, पृ० ८), ताराखड मे वहुत-सी परिभाषाएँ दी हुई है। किन्तु उसी तन्त्र मे द्वयर्थवाक्य आये है और उद्घोपणा हुई है—"शक्ति कुल के नाम से विख्यात है, उसकी पूजा आदि वर्णित हे, उसे कुलाचार कहना चाहिए जो देवो के लिए भी दुर्लभ है। केवल मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा एव मैथुन से की गयी पूजा को ही कुलाचार कहा जाता है"। पारानन्दसूत्र मे आया है कि **परमात्मा** एक है, **ईश्वर** सात है, यथा—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, शक्ति एव भैरव, **जीव** असख्य हे, **मार्ग** तीन हे, यथा—**दक्षिण**, **वाम** एव **उत्तर**, जिनमे प्रत्येक अपने पूर्व वाले से उत्तम है, दक्षिण मार्ग वह है जो वेद, स्मृतियो एव पुराणो मे घोपित हे, वाम मार्ग वेदो एव आगमो द्वारा घोषित है, और तीसरा मार्ग (उत्तर) वह होता है जिसे वेद के वचन एव गुरु घोपित करते है, गुरुवाक्य, अपने उस गुरु का होता है, जो स्वय **जीवनमुक्त** होता है और मन्त्रो की शिक्षा देता हे। सूत्र मे आगे आया है कि **वामाचार** दो प्रकार का होता है, यथा **मध्यम** एव **उत्तम**, उत्तम वह हे जिसका सम्वन्ध मद्य, मैथुन एव मुद्राओ से है, और मध्यम वह जिसमे पाँचो, अर्थात् मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा एव मैथुन पाये जाते है[२९]। यह द्रष्टव्य है कि स्वय तन्त्रो ने पूजा मे पचमकारो के प्रयोग को **वामाचार** कहा हे, न कि उनके कट्टर योग पक्ष-पातियो ने, जैसा कि हीनरिच जिम्मर महोदय ने कहा है (दि आर्ट आव इण्डियन एशिया, जिल्द १, पृष्ठ १३०)।

पारानन्दसूत्र (पृ० ५, सूत्र १२—१६) का कथन है कि शिष्य को किसी 'गुणवान्' गुरु से दीक्षा लेनी पडती है, जो उसे मन्त्र सिखाता है, जो अपने मुख मे पानी भरकर शिष्य के मुख मे डालता है और जिसे शिष्य पीता हुआ मन्त्र को स्वीकार करता हे। यह विधि तव प्रयोग मे लायी जाती है जव कि गुरु ब्राह्मण होता है। किन्तु जव गुरु क्षत्रिय होता है तो वह कान मे मन्त्र सुनाता है। तन्त्रराजतन्त्र मे आया हे कि गुरु को १,२,३,४ या ५ वर्षो तक क्रम से चारो वर्णो एव मिश्रित जाति वालो के गुणो एव भक्ति की परीक्षा लेनी चाहिए और तव मन्त्र देना चाहिए, नही तो गुरु एव शिष्य दोनो कष्ट मे पडेगे (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ८, २।३७—३८)। अधिकाश तन्त्रो का कथन है कि गुरु एव पचमकारो द्वारा की गयी पूजा द्वारा प्राप्त ज्ञान गुप्त रखना

२८ श्रीकाल्युपासका ये च तत्कुल परिकीर्तितम् । तेषा समूहो देवेशि कुल सकीर्तित मया। शक्तिसगम, कालीखण्ड (३।३२), मद्य मास तथा मत्स्य मुद्रा मैथुनमेव च। ऐभिरेव कृता पूजा कुलाचार प्रकीर्तित ॥ शक्ति सगम, ताराखण्ड, ३६ वाँ पटल, १८-२० श्लोक, कुल गोत्र समाख्यात तच्च शक्तिशिवोद्भवम् । येन मोक्ष इति ज्ञान कौलिक सोभिधीयते ॥ अकुल शिव इत्युक्त कुल शक्ति प्रकीर्तिता। कुलाकुलानिसन्धानान्निपुणा कौलिका प्रिये। कुलार्णव (१७।२६-२७)। पञ्चमकार शोधनविधि (डकन कालेज पाण्डुलिपि स० ६६४, १८९१-९५) मे आया है "मद्य मैथुनमेव च। भाग्यहीना (नै ?) न लभ्यन्ते मकारा पञ्च दुर्लभा।"

२९ एक परमात्मा। ईश्वरा सप्त। जीवा। ब्रह्माविष्णुशिवसूर्यगणेशशक्तिभैरवाश्चेश्वरा। पारानन्दे मते त्रयो मार्गा। दक्षिण। वाम। उत्तर। तथैव गाथामुदाहरन्ति। दक्षिणादुत्तम वाम वामादुत्तरमुत्तमम्। उत्तरा-दुत्तम किंचिन्नैव ब्रह्माण्डमण्डले। वामाचारो मुद्रामैथुनैर्युक्तो मध्यम। पारानन्द सूत्र (गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज पृ० १-३, १३)। मिलाइये कुलार्णवतन्त्र (२।७-८) 'वैष्णवादुत्तम शैव शैवा द दक्षिणमुत्तमम्। दक्षिणादुत्तम वाम वामात् सिद्धान्तमुत्तमम्। सिद्धान्तादुत्तम कौल कौलात्परतर नहि॥ 'वामाचार' शब्द सम्भवत इसीलिये है कि इसमे वामा अर्थात् नारी महत्वपूर्ण योगदान देती हे अथवा क्योकि यह गुप्त रूप से (जो कि वाम गति कहा जायेगा) प्रयोगित होता था। अत इसे वामाचार कहा गया।

चाहिए, यदि उसका रहस्य अन्य लोगो को ज्ञात हो जाय तो नरक प्राप्त होता है । देखिए परशुरामकल्पसूत्र (१।१२) एव शक्तिसगमतन्त्र (तारा० ३६।२४–२५)। दीक्षा एव मन्त्र की प्राप्ति के उपरान्त शिष्य को गुरु के आदेशो का पालन तब तक करते जाना चाहिए जब तक उसे इष्ट का दर्शन न हो जाय। गुरु सभी अन्य लोगो से श्रेष्ठ है, मन्त्र गुरु से श्रेष्ठ है, देवता मन्त्र से श्रेष्ठ हे तथा परमात्मा देवता से श्रेष्ठ है। सिद्धियो की प्राप्ति के लिए शिष्य द्वारा सभी प्रकार से गुरु की सेवा की जानी चाहिए। भोग, स्वर्ग एव अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए केवल भक्ति ही एक मार्ग है, ऐसा श्रुति का कथन है (देखिए पारानन्द०, पृ० ६–७, सूत्र ३५, ३८ एव ५९)। 'जीवन्मुक्ति' का अर्थ है अपने उपास्य के दर्शन की प्राप्ति (स्वोपास्य दर्शन जीवन्मुक्ति) एव 'वह, जो जीवित रहते हुए मुक्त हे, अपने कर्मो से लिप्त नही होता, चाहे वे कर्म पुण्य वाले हो, अथवा पाप वाले'[30]। ये सिद्धान्त कुछ उपनिषदो मे कहे गये उन शब्दो से मिलते ह जो ब्रह्मज्ञानी के लिए प्रयुक्त ह। जो ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह पुण्य एव पाप से रहित हो जाता हे और शरीर को छोडकर ब्रह्मलोक मे पहुँच जाता है। वह लौट कर नही आता हे, अर्थात् वह आवागमन से मुक्त हो जाता हे। इस स्थिति के लिए प्रयास करना चाहिए। अत जिसे सत्य ज्ञान प्राप्त हो गया हे उसे भक्त हो जाना चाहिए। जो आर्त हे, जिज्ञासु हे, अर्थार्थी (किसी कामना वाला) है तथा ज्ञानी है, वह भद्र हे, किन्तु जो परमात्मा को जानता हे और भक्त हो जाता हे वह परमात्मा के लोक को पाता है, जैसा कि वैदिक शब्दो मे आया है—'ब्रह्मज्ञानी परम को प्राप्त होता हे'।

इस उच्च दर्शन की पृष्ठभूमि मे पारानन्दसूत्र ने स्वच्छन्द रूप से व्यवस्था दी हे कि गुरु को पुष्पाञ्जलि से पूजन करके तथा अग्नि मे कुछ भोज्यान्न डालकर मकारो को एकत्र करना चाहिए, पुन देवता के पूजा-स्थल मे आना चाहिए और अग्नि मे हवि डालनी चाहिए तथा नवशिष्य को मद्य पीने के लिए पात्र, मुद्रा, व्यञ्जनो के साथ भोजन एव एक वेश्या समर्पित करनी चाहिए। इसके उपरान्त नवशिष्य जब तीन मकारो (मद्य, मुद्रा एव मैथुन) को ग्रहण कर चुके तो उसे कौलधर्म मे प्रशिक्षित करना चाहिए। देखिए पारानन्द० (पृ० १५–१६, सूत्र ५६–६३)। इसके उपरान्त पारानन्दसूत्र नवशिष्य को सिखाये जाने वाले कौलधर्मो को दो पृष्ठो (१६–१७) मे उल्लिखित करता है, जहाँ की कुछ महत्त्वपूर्ण बाते इस प्रकार है—"नवयुवती वेश्या (स्वेच्छा ऋतुमती) स्वय शक्ति का अवतार है, ब्रह्म है, स्त्रियाँ देवता है, प्राण ह, और (विश्व के) अलकार है, स्त्रियो की निन्दा नही करनी चाहिए और न उन पर क्रोध करना चाहिए"। 'इस प्रकार वेदो एव तन्त्रो मे दिये हुए नियमो के अनुसार देवो एव गुरु की पूजा करने के उपरान्त जब व्यक्ति देवो को स्मरण करता हुआ मद्य पीता है या वेश्या के साथ मैथुन करता है तो वह पाप कर्म नही करता। जो केवल अपने को आनन्द देने के लिए मद्य पीता है तथा अन्य मकार

३० स्वोपास्यदर्शन जीवन्मुक्ति जीवन्मुक्तो न कर्मभिर्लिप्यते पुण्यै पापैर्वा। न स पुनरावर्तते। न स भूय ससारसम्पद्यते। तस्मात्तद्दर्शने यतितव्यम्। ज्ञानी भक्तो भवेत्। आर्तजिज्ञास्वर्थार्थिज्ञानिन उदारास्तत्रेशस्य ज्ञानी भक्त एव परमात्मलोक प्राप्नोति ब्रह्मविदाप्नोति परमिति शब्दात्। पारानन्द (पृ० ९, सूत्र ३-८) 'न च पुनरावर्तते' छा० उप० (८।१५) के अन्त मे आया है तथा 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' तै० उप० (ब्रह्मानन्दवल्ली) के प्रारम्भ मे ही आया है। 'आर्त ज्ञानी भक्त एव' गीता (७।१६-१७) से उद्धृत है। 'चतुर्विधा भजन्ते उदारा सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।" मिलाइये मुण्डकोपनिषद् (३।१।३) 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरजन परमसाम्यमुपैति)' छा० उप० (८।१३), महानिर्वाणतन्त्र (४।२२) 'ब्रह्मज्ञाने समुत्पन्ने मेध्यामेध्य न विद्यते' एव ७।९४ 'ब्रह्म ज्ञे कृत्याकृत्य न विद्यते ॥'

का सेवन करता है वह भयकर नरक मे गिरता है। जो शस्त्रानुमोदित नियमो के विरोध मे जाकर मनोनुकूल कर्म करता है वह सिद्धि नही प्राप्त करता और न स्वग पाता और न परम लक्ष्य (मोक्ष) का अधिकारी होता है। साधक को मद्य का सेवन उतना ही करना चाहिए कि उसकी आँखे नाचने न लगे और उसका मन अस्थिर न हो जाये, इससे अधिक पीना पशुवत् व्यवहार है[31]।' परानन्दसूत्र (पृ० ७०-७१) ने तान्त्रिको के उत्सव की विधि का भी वर्णन किया है। मन्त्र यह है "ईश्वरात्मन्, तव दासोहम्", जो किसी चाण्डाल को भी दिया जा सकता है या चाण्डाल मे प्राप्त भी किया जा सकता है। आगे भी ऐसी व्यवस्था है कि वाम मार्ग के अनुयायीगण सर्वोच्च तीन मकारो के विषय मे निम्नोक्त मन्त्रो का प्रयोग कर सकते है—'मै यह पवित्र अमृत ले रहा हूँ, जो ससार के लिए ओषध है, जो एक ऐसा साधन है जिससे वह पाश कटता है जिससे पशु (मनुष्य मे पाया जाने वाला भाव) बँधा हुआ है और जो भैरव द्वारा घोषित है' (ऐसा मद्य लेते समय कहा जाता है), 'मै इस मुद्रा को गहण कर रहा हूँ, जो परमात्मा की उच्छिष्ट है (अर्थात् जो सर्वप्रथम परमात्मा को अर्पित हुई थी), जो हृदय की पीडाओ को नष्ट करती है, जो आनन्द उत्पन्न करती है, और जो अन्य भोज्य पदार्थो से विवृद्ध होती है' (ऐसा मुद्रा के समय कहा जाता है), 'मै इस दिव्य नवयुवती को, जिसने मद्य पी लिया है, गहण करता हूँ, जो हृदय को सदा आनन्दित करती है और जो मेरी साधना को पूर्ण करती है (यह तब कहा जाता है जबकि लायी गयी कई नारियो मे एक को ग्रहण किया जाता है)। यहाँ पर 'मुद्रा' का अर्थ 'हाथ एव अँगुलियो की मुद्राएँ' नही है यहाँ वह अर्थ है जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

हिन्दू तन्त्र ग्रन्थ दो स्वरूप प्रकट करते है—एक है दार्शनिक एव आध्यात्मिक, और दूसरा है प्रचलित, व्यावहारिक तथा अधिक या कम ऐन्द्रजालिक, जो मन्त्रो, मुद्राओ, मण्डलो, न्यासो, चक्रो एव यन्त्रो पर निभर रहता है, जो मात्र भौतिक साधन है जिनके द्वारा ध्यान लगा कर परम शक्ति से तादात्म्य स्थापित किया जाता है और जो भक्त को अलौकिक शक्तियाँ प्रदान करते है। इसका निदर्शन दो आदर्शभूत तन्त्रो, यथा शारदातिलक एव महानिर्वाणतन्त्र से किया जा सकता है। यद्यपि महानिर्वाणतन्त्र ने पच मकारो को उपासना के साधन के रूप मे गहण किया है, और उसने यह भी कहा है कि यदि महान् तन्त्र को लोग समझ ले तो वेदो, पुराणो एव शास्त्रो

31 स्वेच्छाऋतुमती शक्ति साक्षाद् ब्रह्म न सशय । तस्मात्ता पूजयेद्भक्त्या वस्त्रालकारभोजनैरिति ॥ स्त्रियो देवा स्त्रिय प्राणा स्त्रिय एव हि भूषणम् । स्त्रीणा निन्दा न कर्तव्या न च ता क्रोधयेदपि ॥ इति । देवान् गुरून्समभ्यर्च्य वेदतन्त्रोक्तवर्त्मना। देव स्मरन् पिबन् मद्य वेश्या गच्छन्न दोषभाक् ॥ इति। सेवेदात्मसुखार्थं यो मद्यादिकमशास्त्रत । स याति नरक घोर नात्र कार्या विचारणा ॥ य शास्त्रविधि ... परा गतिम् ॥ इति। यावन्न चलते दृष्टिर्यावन्न चलते मन । तावत्पान प्रकुर्वीत पशुपानमित परम् ॥ इति। जीवन्मुक्त पिबेदेवमन्यथा पतितो भवेत ॥ इति। परानन्द (पृ० १६-१७, सूत्र ६४, ६५, ७४-७६, ८०-८१) बहुत-से तन्त्रो मे स्त्रियो की प्रशसा मे अत्युक्ति की गयी है, यथा—'शक्तिसगमतन्त्र, कालीखण्ड (३।१४२-१४४) एव ताराखण्ड (१३।४३-५०), कौलावलीनिर्णय (१०।८८)। 'स्त्रियो ... भूषणम्' की अर्धाली शक्तिसगमतन्त्र, ताराखण्ड (२३।१०) मे आया है। 'य शास्त्र ...' वाला श्लोक भगवद्गीता (१६।२३) है। 'यावन्न ... परम्' को मिलाइये, कुलार्णवतन्त्र (७।९७-९८)। कुलार्णव मे आया है कि प्रत्येक नारी महान् माता के कुल मे जन्म लेती है, अत नारी को एक पुष्प से भी कभी नही पीटना चाहिए। भले ही उसने सैकडो दुष्कर्म कर डाले हो, नारियो के अपराधो एव दोषो की परवाह नही करनी चाहिए, उनके सद्गुणो को ही प्रसिद्धि देनी चाहिए (११।६४-६५) और देखिये कौलावलीनिर्णय (१०।६६-६९)।

की उपयोगिता कुछ भी नही रह जाती, तव भी उसने ४।३४–३७ मे महत्वपूर्ण धारणा उपस्थित की है कि परमेश्वर एक है और उसे सत् चित् एव आनन्द कहना चाहिए, वह अद्वितीय हे, गुणातीत ह और उसका परिज्ञान वेदान्त वचनो से ही प्राप्त हो सकता है। इसमे पुन आया हे कि सर्वोत्तम मन्त्र हे—'ओम् सच्चिदेक 'ब्रह्म' (३।१८)। जो परम ब्रह्म की उपासना करता है उसे अन्य साधना की आवश्यकता नही हे, इस मन्त्र पर आरुढ होकर व्यक्ति ब्रह्म हो जाता है। किन्तु चाथे अध्याय मे महानिर्वाण तन्त्र यह कहकर आरम्भ करता हे कि दुर्गा परमात्मा की परम प्रकृति हे, उसके अनेक नाम ह। यथा—काली, भुवनेश्वरी, वगला, भैरवी, छिन्नमस्तका, वह सरस्वती, लक्ष्मी एव शक्ति है, वह अपने भक्तो की कामना पूर्ति तथा राक्षसो के नाश के लिए विभिन्न रूप धारण करती हे। कलियुग मे विना कुलाचारो के अनुसरण किये पूर्णता नही प्राप्त की जा सकती, क्योकि कुल के आचारो (व्यवहारो) से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है और ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त होता है। इसके उपरान्त देवी की महान् स्तुति की गयी हैं (४।१०), उसे आदि परम शक्ति (आद्यापरमा शक्ति) कहा गया हे और उससे सभी देव (यहाँ तक कि शिव भी) अपनी शक्तियाँ ग्रहण करते ह (क्योकि वह परम शक्ति हे)। इस तन्त्र मे एक विलक्षण उक्ति भी दी हुई ह— ,सत्य, त्रेता एव द्वापर युगो मे मद्यसेवन चलता था, कलियुग मे भी वैसा ही करना चाहिए, किन्तु कुल के आचार के साथ। जो व्यक्ति सत्यवादी योगी को कुल के मार्ग (ढग) से शोधित पच तत्त्वो (मद्य, मास, आदि) अर्पित करता है वह कलि से बाँधा नहीं जाता, अर्थात् कलियुग से उसे कष्ट नही मिलता[३२]। इसके उपरान्त दस अक्षरो वाला मन्त्र उद्घोषित हुआ हे—' ह्रीं श्रीं क्रीं परमेश्वरी स्वाहा'[३३], जिसके केवल श्रवण मात्र से व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है। इसके उपरान्त रहस्यपूर्ण बीजाक्षरो के विभिन्न मिलापो से तथा परमेश्वरी एव कालिका के साथ सयोजन से १२ मन्त्र उपस्थित किये गये हैं (५।१८)। किन्तु इन मन्त्रो से तव तक सिद्धि नही प्राप्त हो पाती जब तक कुलाचार का ढग न अपनाया जाय (अर्थात् मद्य, मास आदि पच तत्त्वो का प्रयोग परमावश्यक है)। इसके उपरान्त एक गायत्री मन्त्र कहा गया है (५।६२–६३) 'आद्यायै विद्महे परमेश्वर्यै धीमहि तन्न्र काली प्रचोदयात्। जिसे प्रतिदिन तीन वार कहना होता था। प्रकृति, महत्, अहकार आदि साख्य तत्त्वो को शक्ति-पूजा मे समन्वित कर दिया गया हे ओर 'हस शुचिषद्' (ऋ० ४।४०।५) नामक वैदिक मन्त्र को तान्त्रिक बीज 'ह्रीं' (५।१६७) के साथ रखा गया हे ।

मास के पवित्रीकरण के लिए यह तन्त्र निर्देश करता हे (५।२०६-२०८) ओर वहाँ ऋ० (१।२२।२०) के 'तद्विष्णो परम पदम्०' का प्रयोग होता है। **मत्स्य** के पवित्रीकरण मे ऋ० (८।५९।१२) के 'त्र्यम्बकम्०' का प्रयोग

---

३२ सत्यत्रेताद्वापरेषु, यथा मद्यादिसेवनम् । कलावपि तथा कुर्यात् कुलवर्त्मानुसारत ॥ कुलमार्गेण तत्त्वानि शोधितानि च योगिने। ये दधु सत्यवचसे न हि तान् बाधते कलि । महानिर्वाण तन्त्र ४।५६ एव ६०।

३३ तन्त्र ग्रन्थो मे मन्त्रो के बीजो के अक्षर घुमा-फिरा कर रहस्यवादी ढग से रखे हुए है। 'ह्रीं' के प्राथमिक बीज के विषय मे एक उदाहरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है। प्राणेशस्तै जसारूढो भेरुण्डा व्योमबिन्दुमान्। (महानिर्वाण ५।१०), यहाँ पर 'ह' प्राणेश है, 'र' तेजस हे, 'ई' भेरुण्डा है, अनुस्वार व्योमबिन्दु है और इस प्रकार बीज 'ह्रीं प्राप्त होता है। इसी प्रकार नित्याषोडशिका० (१।१६२-६४) मे ह्रीं एव क्रीं' की व्याख्या हुई है। ह्रीं एव श्रीं क्रम से माया (या भुवनेश्वरी) एव लक्ष्मी के बीज ह । देखिये मातृकानिघण्टु (तान्त्रिक टेक्स्ट्स, जिल्द १, ५-२२, जहाँ २६-३४ पृष्ठो मे बीजनिघण्टु हे, ३५-४५ पृष्ठो मे मातृकानिघण्टु है, अर्थात् 'ओम्' एव 'अ' से लेकर 'क्ष' के अक्षरो के लिए)। प्रत्येक बीज मन्त्र मे अनुस्वार बिन्दु अवश्य रहेगा, यथा ह्रीं, श्रीं, क्रीं आदि।

होता है (५।२०६-२१०)। मुद्रा के लिए 'तद्विष्णो परम०' एव 'तद्विप्रासो०' (ऋ० १।२२।२०-२१) का प्रयोग होता है और वह देवी को अर्पित होती हे। महानिर्वाणतन्त्र (१८ वी शती) का प्रणयन तब हुआ था जब शक्तिवाद का उपहास होता था और उसकी घोर निन्दा की जाती थी और तभी वह मर्यादा के भीतर है। इसमे आया है कि कुलीन स्त्रियो को मद्य की केवल मद्य लेनी चाहिए न कि पीना चाहिए, गृहस्थ साधक को केवल पाँच पात्र मद्य ग्रहण करना चाहिए, क्योकि अधिक पीने से कुलीन लोगो की सिद्धि की हानि होती हे और उतना ही पीना चाहिए कि आँखे घूमने न लगे और मन अस्थिर न हो जाय[३४]। मैथुन के विषय मे लिखा हुआ हे कि साधक को केवल उसी नारी तक अपने को सीमित रखना चाहिए जिसका उसने शक्ति के रूप मे वरण कर लिया हे (६।१४), यदि उसकी पत्नी जीवित है तो उसे किसी अन्य का स्पर्श गन्दी भावना से नही करना चाहिए, नही तो वह नरक मे पडेगा[३५]। तान्त्रिक आचारो के साथ-साथ पृथक् सम्मान की भावना से उत्प्रेरित हो कर महानिर्वाणतन्त्र ने आठवे अध्याय मे वर्णाश्रमधर्मो, राजा के कर्तव्यो, सामान्य भृत्यो के कर्तव्यो के विषय मे भी लिखा हे और व्यवस्था दी है[३६] कि सभी वर्णो को अपने वर्ण के भीतर विवाह एव भोजन करना चाहिए, किन्तु भैरवीचक्र एव तत्त्वचक्र के सम्पादन मे ऐसा नही हे (८।१५०), क्योकि उस समय सभी वर्णो के लोग उत्तम ब्राह्मणो के समान है और जाति-पक्ति का भेदभाव एव उच्छिष्ट (अर्थात् जूठा भोजन) आदि का अलगाव नही रहता। इसमे ऐसी व्यवस्था है कि जब तक साधक ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त न कर ले उसे तत्त्वचक्र के सम्पादन मे सलग्न नही होना चाहिए। उस चक्र मे तत्त्वो (मद्य, मास आदि) का सग्रह करके देवी के समक्ष रखना चाहिए, ऋ० (४।४०।५) का 'हस' मन्त्र तत्त्वो पर पढा जाना चाहिए, और तत्त्वो का परमात्मा के समक्ष समर्पण 'ब्रह्मार्पण ब्रह्म हवि०' (भगवद्गीता ४।२४=महानिर्वाण० ८।२१४) के साथ होना चाहिए और सभी साधको को खाने-पीने मे सलग्न होना चाहिए[३७]।

३४ अलिपान कुलस्त्रीणा गन्धस्वीकारलक्षम्। साधकाना गृहस्थाना पञ्चपात्र प्रकीर्तितम्। अतिपानाकुलीनाना सिद्धिहानि प्रजायते। यावन्न चालयेद् दृष्टि यावन्न चालयेन्मन। तावत्पान प्रकुर्वीत पशुपानमत परम्॥ महानिर्वाण० (६।१९४)। पात्र सोना या चाँदी या शीशा या नारियल का हो सकता हे किन्तु उससे पाँच तोलको (तोलो) से न अधिक और न तीन तोलको से कम अटना चाहिये 'पानपात्र अकुर्वीत न पञ्चतोलकाधिकम्। तोलकत्रितयान्न्यून स्वार्ण राजतमेव च। अथवा काचजनित नारिकेलोद्भव च वा। महानिर्वाण० (६-१८७-१८८)। मिलाइये कौलावलीनिर्णय (८।५५-५६)।

३५ स्थितेषु स्वीयदारेषु स्त्रियमन्या न सस्पृशेत्। दुष्टेन् चेतसा विद्वानन्यथा नारकी भवेत। महानिर्वाण तन्त्र (८।४०)।

३६ सप्राप्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजोत्तमा। निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा पृथक् पृथक्॥ नामजातिविचारोस्ति नोच्छिष्टादिविवेचनम्। चक्रमध्ये गता वीरा मम रूपा नाराख्यया॥ चक्राद्विनिसृता सर्वे रचस्ववर्णाश्रमोदितान्। लोकयात्राप्रसिद्धयर्थं कुर्युः कर्म पृथक् पृथक्॥ महानिर्वाण (८।१७९-१८०, १९७) 'प्रवृत्ते भैरवीचक्रे पृथक्' कौलावलीनिर्णय (८।४८-४९) मे आया हे। भैरवीचक्र एव तत्त्वचक्र क्रम से महानिर्वाण० के (८।१५४-१७६) मे एव (८।२०८-२१९) मे आये ह।

३७ ततो ब्राह्मेण मनुना समर्प्य परमात्मने। ब्रह्मज्ञै साधकै सार्धं विदध्यात्पानभोजनम्॥ महानिर्वाण० (८।२१६) 'मनु' अधिकतर 'मन्त्र' के 'अर्थ' मे प्रयुक्त हुआ हे, देखिये कुलार्णव (१२।१८), वृद्धहारीतस्मृति (६।१६१, १६३) 'मन्त्र' एव 'मनु' दोनो एक ही धातु 'मन्' (सोचना-विचारना) से निकले हे। ब्राह्म-मनु है 'ओ सच्चिदेक ब्रह्म'।

९ वे अध्याय मे गर्भाधान से लेकर विवाह तक के दस सस्कारो का तीन वर्णो के लिए उल्लेख है और ९ सस्कार (उपनयन को छोडकर) शूद्रो के लिए व्यवस्थित है, इन सभी मे धर्मसूत्रो एव स्मृतियो की भाँति वैदिक मन्त्रो का विधान किया गया है। एक मनोरजक बात यह है कि यहाँ **शैव विवाह** का उल्लेख है। **शैव विवाह** के दो प्रकार है, एक मे चक्र के नियमो के अनुसार विवाह होता है और दूसरे मे जीवन भर का विवाह होता है। शैव विवाह मे वर्ण एव अवस्था की बात नही उठती, और यदि किसी के पास ब्राह्म विवाह वाली पत्नी से उत्पन्न पुत्र हो और शैव विवाह से भी पुत्र हो तो पहले वाले ही उत्तराधिकार प्राप्त करते है और दूसरे वाले केवल भोजन-वस्त्र के अधिकारी होते है (९।२६१–२६४)। महानिर्वाणतन्त्र के अध्याय १०, ११ एव १२ मे श्राद्धो, प्रायश्चित्तो एव व्यवहार (कानून) की चर्चा है।

अब हम ११ वी शती के तन्त्र-ग्रन्थ शारदातिलक का उल्लेख करेगे। इसमे २५ पटल एव ४५०० श्लोक है। इसके आरम्भ मे कुछ दुर्बोध एव आच्छन्न दर्शन है। इसमे आया है कि शिव **निर्गुण** एव **सगुण** दोनो है, जिनमे प्रथम प्रकृति से भिन्न और दूसरा प्रकृति से सम्बन्धित है। इसके उपरान्त इसमे सृष्टि के विकास एव अभिव्यक्ति का निदर्शन है। **सगुण परमेश्वर** से, जो 'सच्चिदानन्दविभव' कहा जाता है, **शक्ति** का उद्भव होता है[३८], शक्ति से **नाद** (पर) की उत्पत्ति होती है, नाद से **बिन्दु** (पर) का उद्भव होता है, बिन्दु तीन भागो मे विभक्त है यथा—बिन्दु (अपर), नाद (अपर) एव बीज, प्रथम का शिव से तादात्म्य है, बीज शक्ति है और नाद दोनो अर्थात् शिव एव शक्ति का सम्मिलन है। शक्ति लोको की सृष्टि करती है, वह शब्द-ब्रह्म है (१।५६) और पराशक्ति (१।५२) एव परदेवता (१।५७) कही जाती है । वह **आधारचक्र**[३९] मे बिजली के समान चमकती है।

३८ शारदातिलक के विद्वान् टीकाकार राघवभट्ट ने, जिन्होने अपनी टीका बनारस (आधुनिक वाराणसी) मे विक्रम सवत् १५५० (१४९४ ई०) मे लिखी, व्याख्या की है कि साख्य पद्धति से शक्ति को प्रकृति वेदान्त मे माया एव शिवतन्त्रो मे शक्ति कहा गया है।

३९ देखिये षट्चक्रनिरूपण (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द २, आर्थर एवालोन द्वारा सम्पादित) श्लोक ४-४९, दक्षिणामूर्तिसहिता (७।११-१६) जहाँ चक्रो का उल्लेख है। और देखिये 'सर्पेण्ट पावर' (ए० एवालोन द्वारा सम्पादित, १९५३) जिसमे षट्चक्र निरूपण का अग्रेजी अनुवाद है, जिसमे प्लेट १ मे ६ चक्रो की स्थितियाँ प्रदर्शित है, वे पद्म भी कहे जाते है। प्लेट स० २ से ७ तक (पृ० ३५६, ३६५, ३७०, ३८२, ३९२, ४१४) मूलाधार से आज्ञा के चक्रो को उनके रगो, दलो, अक्षरो एव देवताओ की सख्या, आदि के साथ प्रदर्शित करते है। ये ऐसे चित्र है जो योगियो द्वारा प्रयोग मे लाये जाते है। पृष्ठ ४३० पर आठवाँ प्लेट 'सहस्रार' प्रदर्शित करता है। देखिये सी० डब्ल्यू० लेडबीटर का ग्रन्थ 'दि चक्रज' (आधार, १९२७) जिसमे लेखक का ऐसा कहना है कि ये चक्र वैसे ही है जैसा कि वे देखने वाले को दीख पडते है और पृष्ठ ५६ मे लेखक ने कमल के दलो के रगो की सूची प्रदर्शित की है जिसे लेडबीटर एव उनके मित्रो ने निरीक्षित कर रखा है और जो षटचक्रनिरूपण, शिवसहिता एव गरुडपुराण मे उल्लिखित है। रुद्रयामल (१७ वॉ पटल, श्लोक १०) ने कुण्डली का उल्लेख 'अथर्ववेदचक्रस्था कुण्डली परदेवता' के समान किया है। श्लोक २१-२४ मे आया है कि कुण्डलिनी मूलाधार चक्र को पार करती हुई मस्तक मे पहुँचती है जहाँ सहस्रदल होते है और जब शिव से एकाकार हो जाता है तो साधक वहाँ अमृत पान करता है। रुद्रयामल (२७।५८-७०) ने छह चक्रो, दलो के साथ सहस्रार और प्रत्येक के अक्षरो का वर्णन विस्तार के साथ किया है। यहाँ पर एक सख्त सावधानी अवश्य दी जानी चाहिए जिससे कि कोई केवल पुस्तको को पढ़कर

शक्ति मानव शरीर मे कुण्डलिनी का रूप धारण करती है। शम्भु से बिन्दु के रूप मे क्रम से सदाशिव, ईश, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा उदित होते है, अव्यक्त बिन्दु से क्रम से साख्य पद्धति मे उल्लिखित महत्-तत्त्व, अहकार तथा अन्य तत्त्व उद्भूत होते है। शक्ति विभु (सभी स्थानो मे रहने वाली) है, तब भी अत्यन्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, वह सर्प की कुण्डली या कुण्डलिनी के समान है और सस्कृत वर्णमाला के ५० (अ से क्ष तक) अक्षरो के रूप मे अभिव्यक्त होती है।

आगे कुछ कहने के पूर्व अब हम ६ चक्रो के विषय मे विवरण उपस्थित करेगे, क्योकि कतिपय तन्त्रो मे यह एक महत्त्वपूर्ण भाग है। मानव शरीर मे, ऐसा कहा गया है, ६ चक्र होते है, यथा—आधार या **मूलाधार** (सुषुम्ना के आधार पर), **स्वाधिष्ठान** (जननेन्द्रिय के पास), **मणिपुर** (नाभि के पास), अनाहत (हृदय के पास), **विशुद्ध** (गले के पास) एव **आज्ञा** (भाहो के बीच मे)। इनके अतिरिक्त, मस्तक के (ललाट के) भीतर सहस्रदल के बीज-कोश के रूप मे **ब्रह्मरन्ध्र** है। चक्रो को बहुधा लोग आधुनिक शरीर-विज्ञान द्वारा प्रदर्शित स्नायुओ के गुच्छो के समान मानते है, किन्तु बात वास्तव मे ऐसी है नही। सस्कृत ग्रन्थो मे जिस कुण्डलिनी एव चक्रो का वर्णन है वे स्थूल देह से सम्बन्धित नही है, प्रत्युत वे सूक्ष्म देह मे अवस्थित होते है। धारणा यह है कि कुण्डलिनी शक्ति ('कुण्ड-लिनी' का अर्थ सस्कृत मे सर्प होता है) मूलाधार-चक्र मे सर्प के समान कुण्डली मारकर सोयी रहती है, उसे योग के साधनो एव गम्भीर ध्यान से जगाना होता है[४०]। शारदातिलक ने साधक से कुण्डलिनी पर ध्यान करने को

चक्रो पर प्रयोग करना आरम्भ न कर दे और न कुण्डलिनी ही जगाना आरम्भ कर दे। यह सब योग के ज्ञाता के निर्देशो के अनुसार ही किया जा सकता है, नही तो भयकर परिणाम भुगतने पड सकते हैं। प्राणायाम, धारणा की त्रुटिमय विधियो के विषय मे वायुपुराण (११।३७-६०) मे आया है कि अज्ञानी द्वारा योगसाधना करने पर भयकर परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं, यथा—बुद्धि-क्षीणता, बहरापन, गूँगापन, अन्धापन, स्मृतिक्षीणता, पहले ही बुढौती का आगमन एव रोग। इन दोषो को दूर करने के लिए इस पुराण ने औषधियाँ भी बतायी है।

४० देवीभागवत (११।१।४३) मे आया है 'आधारे लिगनाभिप्रकटितहृदये तालुमूले ललाटे द्वे पत्रे षोड-शारे द्विदशदशदलद्वादशार्धे चतुष्के। नासान्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणा ह क्ष तत्त्वार्थयुक्त सकलदलगत वर्णरूप नमामि ॥' जब कुण्डलिनी सहस्रार मे पहुँचती है तो उसमे अमृत बहने लगता है, यह ४७ वे श्लोक मे आया है 'प्रकाशमाना प्रथमे प्रयाणे प्रतिप्रयाणेप्यमृतायमानाम्।अन्त पदव्यामनुसञ्चरन्तीमानन्दरूपामबला प्रपद्ये॥' मूलोन्निद्रभुजगराजमहिषी यान्ती सुषम्नान्तर। भित्त्वाधारसमूहमाशु विलसत्सौदामिनीसन्निभाम्॥ व्योमाम्भोजगतेन्दु मण्डलगलद् दिव्यामृतौघप्लुता सम्भाव्य स्वगृह गता पुनरिमा सञ्चिन्तयेत्कुण्डलीम्॥ शारदा० २५।६५, देखिये वही, २५।७८ जहाँ पर ६ चक्रो के रगो का उल्लेख है। श्लोक ६५ मे मूल एव स्वगृह का अर्थ है मूलाधारचक्र और भुजग-राजमहिषी का अर्थ है कुण्डलिनी। देखिये षट्चक्रनिरूपण, श्लोक ५३ जहाँ सहस्रारपद्म मे कुण्डलिनी पर अमृत-धार बहने का उल्लेख है। और देखिये मन्त्रमहोदधि (४।१६-२५), ज्ञानार्णवतन्त्र (२४।४५-५४), महानिर्वाणतन्त्र (५।११३-११५) जहाँ चक्रो मे दलो की सख्या, उनके रगो, प्रत्येक के अक्षरो का उल्लेख है, और जहाँ चक्रो का पाँचो तत्त्वो एव मन से तादात्म्य प्रदर्शित है। सौन्दर्यलहरी (श्लोक ९) मे भी आया है 'मही मूलाधारे सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे।' इसमे भी ६ चक्रो को ५ तत्त्वो एव मन के समान कहा गया है। पडित गोपीनाथ कविराज ने 'सरस्वतीभवन स्टडीज' (जिल्द २, पृ० ८३-९२) मे गोरक्षनाथ के मतानुसार चक्र पद्धति का उल्लेख किया है। रुद्र-यामल (३६।६-१६८) ने कुण्डलिनी के १००८ नामो का उल्लेख किया है जिनमे प्रत्येक 'क' अक्षर से आरम्भित है।

कहा है, जो जग जाने पर सुषुम्ना नाडी (जो रीढ की हड्डी के केन्द्र मे होती है) द्वारा मूलाधार-चक्र को पार करती हुई, ६ चक्रो से होकर सहस्रार चक्र मे शिव से मिल जाती है और पुन मूलाधार मे आ जाती है। ६ चक्रो मे प्रत्येक के दलो की कुछ निश्चित सख्या होती है, यथा ४, ६, १०, १२, १६ एव २ (कुल ५० दल) जो क्रम से मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एव आज्ञा के लिए व्यवस्थित है (देखिए रुद्रयामल, १७ वाँ पटल, श्लोक ५५–५६)। वर्णमाला के अक्षर भी ५० है (अ से क्ष तक) और वे ६ चक्रो के दलो मे निर्धारित है, यथा—'ह' एव 'क्ष' आज्ञा के लिए, १६ स्वर गले मे विशुद्ध के लिए, 'क' से 'ठ' तक (कुल १२) अनाहत के लिए, 'ड' से 'फ' तक (कुल १०) मणिपुर के लिए, 'ब' से 'ल' तक (कुल ६) स्वाधिष्ठान के लिए तथा 'व' से 'स' तक (कुल ४) मूलाधार के लिए निर्धारित है। कुछ तन्त्रो मे ६ चक्रो के रगो का भी उल्लेख है और वे ५ तत्त्वो एव मन के सदृश कहे गये है। योग एव तन्त्र की ये परिकल्पनाएँ प्राचीन उपनिषद्सम्बन्धी सिद्धान्तो के विकास मात्र है[४१]।

अक्षरो मे शब्द बनते है, शब्द मन्त्रो का निर्माण करते है और मन्त्र शक्ति के अवतार होते है। इसके उपरान्त शारदातिलक ने आसन, मण्डप, कुण्ड, मण्डल, पीठो (जिन पर देवो की प्रतिमाएँ रखी जाती है), दीक्षा, प्राणप्रतिष्ठा (मूर्तियो मे प्राण डालना), यज्ञिय अग्नि की उत्पत्ति का उल्लेख किया है। शारदातिलक (१।१०९ एव ५।८१-९१), वरिवस्यारहस्य (२।८०), परशुरामकल्पसूत्र (१।४, 'षट्-त्रिंशत् तत्त्वानि विश्वम्') तथा अन्य तान्त्रिक एव आगमिक ग्रन्थो ने ३६ तत्त्वो (जिनमे साख्य के तत्त्व भी सम्मिलित है) का उल्लेख किया है। ७ वे अध्याय से २३ वे अध्याय तक विभिन्न देवो के मन्त्रो, उनके निर्माण, प्रयोग एव परिणामो, अभिषेको एव मुद्राओ की चर्चा है। २४ वे अध्याय मे मन्त्रो एव २५ वे मे योग का वर्णन है। शारदातिलक की विशेषता यह है कि इसमे केवल मन्त्रो एव मुद्राओ का ही उल्लेख है, कदाचित् ही कही अन्य मकारो की चर्चा है। गोविन्दचन्द्र, रघुनन्दन, कमलाकर, नीलकण्ठ, मित्रमिश्र आदि मध्यकाल के धर्मशास्त्रकारो ने शारदातिलक को प्रामाणिक तन्त्र के रूप मे उद्धृत किया है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध (जर्नल आव् दि गगानाथ झा

४१ उपनिषदो के काल से ही हृदय की उपमा कमल से दी जाती रही है और ऐसा आया है "हृदय की १०१ नाडियाँ है, इनमे एक ललाट मे प्रविष्ट होती है, इसके द्वारा व्यक्ति (जो मुक्त हो चुका है) ऊपर उठता हुआ अमरत्व को प्राप्त करता है"। देखिये, 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीक वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्य तद्भाव विजिज्ञासितव्यमिति। छा० उप० (८।१।१), तदेष श्लोक। शत चैका हृदयस्य नाड्यस्तासा मूर्धानमभिनि सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङन्या उत्क्रमणे भवन्ति। छा० उप० (८।६।६)। कठोप० (६।१६) मे भी 'शत चैका' वाला श्लोक आया है। मिलाइये प्रश्नोप० (३।६) जहाँ ऐसा ही वक्तव्य किया गया है। और मिलाइये वे० सू० (३।२।७) 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च' एव ४।२।१७, शकराचार्य ने वे० सू० (४।२।७) के भाष्य मे 'शत चैका' को उद्धृत किया है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।१०८–१०९) ने इडा, पिंगला, सुषुम्ना एव ब्रह्मरन्ध्र का उल्लेख किया है और रुद्रयामल (६।४९) ने दस नाडियो का उल्लेख कर इडा आदि को सोम, सूर्य एव अग्नि कहा है। मैत्र्युपनिषद् (६।२१) मे आया है: 'अथान्यत्राप्युक्तम्। ऊर्ध्वगा नाडी सुषुम्नाख्या प्राणसचारिणी ताल्वन्तर्विच्छिन्ना। कभी-कभी 'सुषुम्णा' भी लिखा जाता है। बृह० उप० (२।१।१९) ने ७२००० नाडियो का उल्लेख किया है जो हृदय से उभरकर पुरीतत् की ओर जाती हैं। और देखिये याज्ञ० (३।१०८), जहां यही बात कही गयी है।

रिसर्च इस्टीच्यूट, इलाहाबाद, जिल्द ३, पृ० ९७–१०८) नाद, बिन्दु एव कला पर लिखा हे ओर बडी तत्परता के साथ इनका तात्पर्य समझाया है और आशा की हे कि उनका विश्लेपण इन शब्दो के अर्थ को स्पष्ट कर देगा (पृ० १०३)। फिर भी सम्भवत उनका विश्लेषण इतना स्पष्ट नही हो पाया है कि शब्दो की व्याख्या स्पष्ट हो सके।

वहुत-से तन्त्र पच मकारो को देवी की पूजा का साधन मानते हे, जिनके द्वारा मनुष्य अलौकिक शक्तियाँ पाता है और अन्त मे मुक्ति का अधिकारी होता हे। कुलार्णव मे आया है—'महात्मा भैरव ने व्यवस्था दी है कि कौलदर्शन मे सिद्धि (पूर्णता) इन्ही द्रव्यो से प्राप्त होती है, जिनके करने से सामान्यजन पाप के भागी होते है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कौल दर्शन विष को विप से मारता हे, जैसा आधुनिक होमियोपैथी मे पाया जाता है[४२]।

तन्त्रो को यह बात ज्ञात थी कि मुक्ति के लिए पच मकारो की व्यवस्था करते हुए वे अग्नि से खिलवाड कर रहे हे। स्वय कुलार्णव मे आया हे (२।११७–११९ एव १२२)—'यदि मद्य पीने मात्र से सिद्धि प्राप्त हो जाती है तो सभी दुप्ट मद्यपो को सिद्धि प्राप्त हो जानी चाहिए। यदि मास खा लेने से ही पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति हो जाय तो सभी मासाहारी व्यक्ति इस विश्व मे पवित्र हो जायँ। यदि केवल नारी (शक्ति) के साथ सभोग करने से ही मोक्ष प्राप्त होता हो तो ससार मे सभी लोग मुक्ति पा जायँ। कुलमार्ग का अनुसरण करना वडा कठिन है, यह तलवार की धार पर चलने से, व्याघ्र की गर्दन पर बैठने से तथा हाथ से सॉप को पकड लेने से अधिक भयकर है'। उपर्युक्त बातो के प्राक्कथन के रूप मे कुलार्णव मे आया हे—'वहुत-से लोग, जो परम्परागत ज्ञान से शून्य है और त्रुटिपूर्ण विचारो से शास्त्र का अतिक्रमण करते हे (उसे अपवित्र करते हे), वे अपने खोखले ज्ञान का सहारा लेकर ऐसी कल्पना करते हे कि कौलिक सिद्धान्त ऐसा है, वैसा है' (२।११६)।

देवीभागवत (११।१।२५) मे आया हे कि तन्त्र का वह भाग जो वेद के विरोध में नही पडता, प्रामाणिक है, (वेदाविरोधिचेत् तन्त्र तत् प्रमाण न सशय) इसमे कोई सशय नही है। किन्तु जो अश वेदविरोधी है, वह अप्रामाणिक है।

हिन्दू तन्त्रो एव बौद्ध तन्त्रो मे साधको को लेकर महान् विरोध रहा है। शक्तिसगमतन्त्र मे, जो अत्यन्त प्रचलित एव विशाल तन्त्रो मे एक है, ऐसा आया हे कि बौद्धो व अन्य पाषण्डियो के नाश, विभिन्न सम्प्रदायो के विरोधी मिश्रण को दूर करने, सच्चे सिद्धान्त की स्थापना, ब्राह्मणो की रक्षा तथा मन्त्रशास्त्र की सिद्धि के लिए देवी आविर्भूत होती हे। इसी प्रकार बौद्ध तन्त्रो ने भी प्रत्युत्तर दिया है।

४२ यैरेव पतन द्रव्यै सिद्धिस्तैरेव चोदिता। श्रीकौलदर्शने चापि भैरवेण महात्मना॥ कुलार्णव० (५।४८), देखिये ज्ञानसिद्धि (बौद्ध तन्त्र, १।१५) 'कर्मणा येन वै सत्त्वा कल्पकोटि-शतान्यपि। पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते॥' और मिलाइये प्रज्ञोपाय० (बौद्ध, ५, पृ० २३, श्लोक २४–२५) 'जनयित्री स्वसार च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्। कामयन् तत्त्वयोगेन लघु सिध्येत साधक॥' (दोनो ग्रन्थ, 'टू वज्रयान टेक्ट्स, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज)। वागची (स्टडीज इन तन्त्रज, पृ० ३६–३७) ने प्रदर्शित किया है कि कुछ तान्त्रिक ग्रन्थो के मतानुसार 'जनयित्री', 'स्वसृ' एव 'भागिनेयी' शब्द गूढार्थात्मक हे, उनका कोई सामान्य अर्थ नही है। किन्तु दो वज्रयान ग्रन्थो मे ये जिस सदर्भ मे प्रयुक्त हुए है, उससे यह मानना कठिन है कि वे किसी गूढ या अलौकिक या प्रतीक रूप मे प्रयुक्त है।

सक्षेप मे बौद्ध तन्त्रो, विशेषत वज्रयान के विषय मे कुछ शब्द लिख देना अनावश्यक न होगा। यह हमने बहुत पहले (गत अध्याय–२४ मे) देख लिया है कि हीनयान या महायान दोनो प्रकार के बौद्धो के लिए कुछ कठोर नियमो एव रीतियो का पालन आवश्यक था, यथा पचशीलो का पालन, बुद्ध, धर्म एव सघ की शरण जाना तथा (भिक्षुओ के लिए) दशशीलो का पालन। निर्वाण की प्राप्ति (विशेषत महायान, सिद्धान्त के अन्तर्गत) लम्बी अवधि या कतिपय जन्मो के उपरान्त होती है। मद्य, मास, मत्स्य एव स्त्रिया वर्जित थी, सामान्य लोग, सम्भवत भिक्षु भी कठोर नियमो एव लक्ष्य की लम्बी अवधि को जोहते-जोहते थक गये थे। बौद्ध तन्त्रो ने, विशेषत गुह्यसमाज० (वज्रयान सम्प्रदाय का तन्त्र ग्रन्थ) ने एक सरल विधि निकाली, जिसके द्वारा थोडे समय मे निर्वाण, यहाँ तक कि बुद्धत्व भी,[४३] केवल एक ही जीवन मे प्राप्त हो सकता था, और यह भी दृढतापूर्वक घोषित किया कि बोधिसत्त्वो एव बौद्धो ने धर्म का आसन सर्वकामो के उपसेवन से ही प्राप्त किया[४४]। 'वज्र' शब्द के दो अर्थ होते है—'हीरक' (हीरा) एव 'मेघगर्जन' (मेघध्वनि)। गुह्यसमाज मे प्रथम अर्थ मुख्य रूप से लिया गया है, किन्तु दूसरा अर्थ भी थोडा-बहुत लिया गया है। वज्र उस वस्तु का द्योतक है जो हीरा के समान कठोर हो। गुह्यसमाज-तन्त्र मे 'वज्र' शब्द अकेले या सामासिक रूप मे सैकडो बार आया है। 'काय' (शरीर), 'वाक्' (वाणी) एव 'चित्त' (मन) 'त्रिवज्र' कहे गये है (गुह्य० पृ० ३१, ३५, ३६, ४३)। कतिपय अन्य पदार्थ[४५] भी वज्र कहे गये है, यथा—**शून्य** (माध्यमिक सम्प्रदाय का परम तत्त्व), **विज्ञान** (चेतना), जो योगाचार सम्प्रदाय के अनुसार परम तत्त्व है तथा **महासुख** जिसे शाक्तो ने जोड दिया है। शाक्तो की रहस्यवादी भाषा मे यह पुरुषेन्द्रिय भी कहा गया है। यद्यपि आरम्भिक बौद्ध नियम अहिसा पर बल देते थे, किन्तु गुह्यसमाज० ने कई प्रकार के मासो के

४३ तदिहैव जन्मनि गुह्यसमाजाभिरतो बोधिसत्त्व सर्वतथागता बुद्ध इति सख्या गच्छति। गुह्यस० (पृ० १४४), देखिये ज्ञानसिद्धि (१।४) 'ये तु सत्त्वा समारूढा सर्वसकल्पवर्जिता। ते स्पृशन्ति परा बोधि जन्मनीहैव साधका ॥ और देखिये प्रज्ञोपाय० (५।१६)।

४४ सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छत। अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥ दुष्करैर्नियमैस्तीव्रै सेव्यमानो न सिध्यति ॥ बुद्धाश्च बोधिसत्त्वाश्च मन्त्रचर्याप्रचारिण। प्राप्ता धर्मासन श्रेष्ठ सर्वकामोपसेवनै ॥ गुह्यस० (७ वॉ पटल, पृ० २७)।

४५ देखिये विन्तरनित्ज का ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर' (जिल्द १, पृ० ३८८) जहाँ 'वज्र' शब्द के कई अर्थ प्रकट किये गये है। यह द्रष्टव्य है कि ज्ञानसिद्धि (२।११, बौद्ध ग्रन्थ) मे आया है—'स्त्रीन्द्रिय च यथा पद्म वज्र पुसेन्द्रिय तथा ॥' शून्यता वज्र कहलाती है क्योकि यह 'दृढसारमसौ (स ?) शौर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्। अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥' अद्वयवज्रसग्रह (गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, पृ० २३, ३७)। यह कुछ-कुछ ब्रह्म एव आत्मा के सिद्धान्त के समान है, जो भगवद्गीता (२।२३–२५) मे पाया जाता है (नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि, आदि)। ज्ञानसिद्धि (पृ० ७६) ने व्याख्या की है—'सर्वसत्त्वेषु महाकरुणा प्रमाणानुगत बोधिचित्त वज्र इत्यर्थ' अर्थात् 'वज्र' एव 'बोधिचित्त' (सम्बुद्धता या सम्बोधि) समानार्थक है। न द्वय नाद्वय शान्त शिव सर्वत्र सस्थितम्। प्रत्यात्मवेद्यमचल प्रज्ञोपायमनाकुलम् ॥ प्रज्ञोपाय० (१।२०), प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्तिकाक्षिभि। ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता। अतोर्थ वज्रनाथेन प्रोक्ता बाह्यार्थसम्भवा ॥ प्रज्ञोपाय० (५।२२–२३)।

प्रयोग की अनुमति दे रखी है, यथा—हाथी, घोडा, कुत्ते का मास, यहाँ तक कि मानव मास भी[४६]। आरम्भिक बौद्ध धर्म ने सत्यता एव ब्रह्मचर्य पर बल दिया, वज्रयान ने, जो एक नये ढग का विरोध-प्रकार था, पशुओ की हत्या, असत्य भाषण, स्त्रियो के साथ सभोग (यहाँ तक कि माता, बहन एव पुत्री के साथ भी) तथा परद्रव्यग्रहण की अनुमति दे दी[४७]। यह था वज्रमार्ग, जो सभी बौद्धो के लिए सिद्धान्त-सा घोषित था।

वज्रयान-पद्धति द्वारा प्राप्त स्थिति का उल्लेख 'प्रज्ञोपाय०' (१।२०) मे हुआ है—'यह न तो द्वयता है और न अद्वयता, यह शान्त (शान्ति से भरपूर) है, शिव (कल्याणमय) है, सर्वत्र पाया जाने वाला है, अपनी आत्मा से ही जाना जाने वाला है, अचल है, आकुलतारहित है, प्रज्ञा (ज्ञान) एव उपाय (करुणा के साथ कर्म) से परिपूर्ण है'। इसमे पुन आया है (५।२२-२३)—'उनके द्वारा, जो मुक्ति की काक्षा रखते है तथा ज्ञान की पूर्णता चाहते है, यह सेवित होने योग्य है। यह ज्ञान की सिद्धि ललना (स्त्री) के रूप मे सभी स्थानो मे अवस्थित है। प्रज्ञा का सम्बन्ध महासुख से है (प्रज्ञोपाय०, १।२७)—'अनन्त सुख देने के कारण यह महासुख कही जाती है, यह सभी प्रकार से हितकर है और अत्यन्त श्रेष्ठ है, इससे पूर्ण सम्बोधि प्राप्त होती है'। 'यह बुद्ध ज्ञान, जो अपनी अन्तरात्मा द्वारा ही जाना जा सकता है, महासुख कहलाता है, क्योकि यह सभी आनन्दो से उत्कृष्ट है (ज्ञानसिद्धि ७।३)। 'प्रज्ञा' शब्द स्त्रीलिंग है अत कुछ वज्रयान-लेखको ने इसे स्त्री से सयोजित माना है, कामुक प्रतीकवाद एव असुगम समानताओ द्वारा स्त्री-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव किया गया।

डा० एच० वी० गुयेन्थर ने 'युगनद्ध' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है, जिसमे तान्त्रिक दृष्टिकोण पर आधारित जीवन की उद्घोषणा की गयी है। डा० गुयेन्थर ने उस ग्रन्थ (१६० पृष्ठो) मे यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि बौद्ध तान्त्रिक लोग जीवन को सम्पूर्णता मे लाना चाहते है, जो कि न तो विषयो के प्रति आसक्ति है और न अनासक्ति और न पलायन, प्रत्युत है जीवन के कठोर सत्यो के प्रति पूर्ण समझौता। तन्त्रो का काम-सम्बन्धी स्वरूप केवल दर्शन (शास्त्र) के ज्ञानवाद एव बुद्धिवाद (तर्क-विवेकवाद) के एकपक्षीय स्वरूप का सशोधन मात्र है, क्योकि दर्शन प्रतिदिन के जीवन की समस्याओ का समाधान करने मे समर्थ नही है और युगनद्ध का प्रतीक पुसत्व एव स्त्रीत्व स्थूल सत्य एव प्रतीकात्मक सत्य तथा ज्ञान एव मानवता की पूर्ण व्याख्या

४६ मासाहारादिकृत्यार्थं महामास प्रकल्पयेत्। हस्तिमास हयमास श्वानमास तथोत्तमम्। भक्षेदाहारकृत्यार्थं न चान्यत्तु विभक्षयेत्। प्रियो भवति बुद्धाना बोधिसत्त्वश्च धीमताम्। अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात्। गुह्यसमाज० (छठा पटल, पृ० २६), देखिये इन्द्रभूति द्वारा लिखित ज्ञानसिद्धि (१।१२–१४), जहाँ ऐसे ही पद आये है—प्राणिनश्च त्वयाघात्या वक्तव्य च मृषा वच। अदत्त च त्वया ग्राह्य सेवन योषितामपि॥

४७ अनेन वज्रमार्गेण वज्र सत्त्वान् प्रचोदयेत्। एषोहि सर्वबुद्धाना समय परम शाश्वत॥ गुह्यस० (१६ वाँ पटल, पृ० १२०), ये पर द्रव्याभिरता नित्य कामरताश्च ये। मातृभगिनी पुत्रीश्च कामयेद्यस्तु साधक। स सिद्धि विपुला गच्छेत् महायानाग्रधर्मताम्। गुह्यस० (५ वाँ पटल, पृ० २०), 'सर्वाङ्गकुत्सिताया वा न कुर्यादवमाननाम्। स्त्रिय सर्वकुलोत्पन्ना पूजयेद् वज्र धारिणीम्॥ चाण्डाल कुल सम्भूता डोम्बिका वा विशेषत। जुगुप्सितकुलोत्पन्ना सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात्। ज्ञानसिद्धि (१।८० एव ८२)। और देखिये डा० गुयेन्थर (युगनद्ध, पृ० १०६–१०९), जिन्होने इसकी तथा इसके समान प्रज्ञोपाय० (५।२५) के वचन की व्याख्या की है। देखिये डा० एस० बी० दास-गुप्त का ग्रन्थ 'इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म', पृ० ११४।

कर लेता है और उनकी विलक्षण समरसता का द्योतन करता है। यहाँ पर इस ग्रन्थ का निष्कर्ष उपस्थित करना एव उसकी आलोचना करना सम्भव नही है। वज्रयान तन्त्रो के सिद्धान्त का मूल यहाँ पाद-टिप्पणियो (सख्या ४३, ४४, ४६ एव ४७) मे उद्धृत है। तर्क यह है—इन तन्त्रो के अनुसार पूर्णता का प्रत्यक्षीकरण सभी मानवीय अनुभूतियो मे अत्यन्त आनन्ददायक अनुभूति है, और मनुष्य की अनुभूति तब तक पूर्ण नही हो सकती और केवल एकपक्षीय रहेगी जब तक कि उसे स्त्रीत्व की अनुभूति न हो जाय अर्थात् स्त्री के सभी कुछ की अनुभूति न हो जाय। वह अपने कुल के सभी स्त्री-सदस्यो से स्त्रीत्व की अनुभूति प्राप्त कर सकता है। अत, जैसा कि डा० गुयेन्थर का कथन है, इस पर आश्चर्य नही प्रकट करना चाहिए कि 'इस अनुभूति मे अगम्यगामी रूप पाया जाता है'। इसके उपरान्त डा० गुयेन्थर ने (पृ० १०६-११२) बडे विस्तार के साथ अपने मन्तव्य की व्याख्या की है, जो प्रस्तुत लेखक की बुद्धि एव सामर्थ्य के परे की बात है। डा० गुयेन्थर आज के मनोवैज्ञानिको, विशेषत डा० सिगमण्ड फ्राएड की अत्याधुनिक विचारधाराओ से प्रभावित है और यह सिद्ध करने का प्रयास करते है कि आठवी शती के बौद्ध लेखक, यथा अनगवज्र एव इन्द्रभूति, 'आज के चित्त-विश्लेषको की भाँति मानसिक जीवन की गहराइयो मे डूब चुके थे और मानव-मन के रहस्यो को जान सके थे। थोडी देर के लिए यदि हम डा० गुयेन्थर की कुछ बाते मान भी ले, यथा—द्विलिगता का सिद्धान्त (पुरुष एव स्त्री जाति का एक व्यक्ति मे होना), दोनो (पुरुष एव स्त्री) के अत्यन्त प्रगाढ सम्बन्ध के लिए मैथुन-सदस्यता सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है, पुरुष के लिए स्त्री एक भौतिक द्रव्य एव देवी है, तब भी एक प्रश्न अनुत्तरित एव अव्याख्यायित-सा रह जाता है, जो यह है—बौद्ध तान्त्रिको ने साधक को इस बात के लिए क्यो नही प्रेरित किया कि वे अपनी माता, बहन, पत्नी, पुत्री या सामान्य नारी के रूप मे एक स्त्री के सवेगो, दृष्टिकोणो एव मूल्य को समझे ? या उन तान्त्रिको ने लक्ष्य की प्राप्ति मे शीघ्रता के लिए बहुधा और कोलाहलपूर्ण ढग से मैथुन को ही, और वह भी अगम्यगामी ढग वाले मैथुन (यथा माता, बहन, पुत्री आदि के साथ) को, क्यो उचित माना है ?

गुह्यसमाजतन्त्र ने योग की क्रियाओ द्वारा बुद्धत्व एव सिद्धि की प्राप्ति के लिए लघु एव क्षिप्रकारी विधि बतायी है। **सिद्धियाँ** दो प्रकार की होती है—**सामान्य** (यथा अदृश्य हो जाना)[४८], एव **उत्तम** (यथा बुद्धत्व की प्राप्ति)। सामान्य सिद्धियो की प्राप्ति के लिए चार साधन उल्लिखित है जो **वज्र-चतुष्क** कहे गये है। यह व्यवस्थित है कि उत्तम सिद्धि की प्राप्ति योग के छह अगो (प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति एव समाधि) से प्राप्त ज्ञान के अमृत-पान से ही हो सकती है[४९]। यह अवलोकनीय है कि योगसूत्र मे उल्लिखित प्रथम तीन अगो,

४८ अन्तर्धानादय सिद्धा (सिद्धय) सामान्या इति कीर्तिता। सिद्धिरुत्तममित्याहुर्बुद्धा बुद्धत्व-साधनम्॥ चतुर्विधमुपाय तु बोधि वज्रेण वर्णितम्। सेवाविधान प्रथम द्वितीयमुपसाधनम्। साधन तु तृतीय वै महासाधन चतुर्थकम्॥ सामान्योत्तमभेदेन सेवा तु द्विविधा भवेत्। वज्र चतुष्केण सामान्यमुत्तम ज्ञानामृतेन च। गुह्यसमाज० १८वाँ पटल, (पृ० १६२)।

४९ उत्तमे ज्ञानामृते चैव कार्य योग षडङ्गत । सेवा षडङ्गयोगेन कृत्वा साधनमुत्तमम्। साधये-दन्यथा नैव जायते सिद्धिरुत्तमा। प्रत्याहारस्तथा ध्यान प्राणायामोऽथ धारणा। अनुस्मृति समाधिश्च षडङ्गोयोग उच्यते। गुह्यसमाज० (पृ० १६३)। ये छह अग पृ० १६३-१६४ मे व्याख्यायित हुए है। अनुस्मृति की व्याख्या यो है—'स्थिर तु वज्रमार्गेण स्फारयीत स्वधातुषु। विभाव्य यदनुस्मृत्या तदाकार तु सस्मरेत्। अनु-स्मृतिरिति ज्ञेया प्रतिभासोऽत्र जायते॥' गुह्यसमाज० (पृ० १६४)।

यथा **यम, नियम**[५०] एव **आसन** को छोड दिया गया है और एक नवीन अग 'अनुस्मृति' जोड दिया गया है। **यम** किसी प्रकार ग्राह्य नही था क्योकि गुह्यसमाज० की दृष्टि मे साधक द्वारा मासभक्षण, मैथुन, असत्य भाषण आदि का प्रयोग अनुचित नही था और योगसूत्र मे यम है—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह (भेट स्वीकार न करना)। **नियम** भी अग्राह्य थे, क्योकि पाँच नियमो (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) मे स्वाध्याय (वेदाध्ययन) एव ईश्वरप्रणिधान (ईश्वर के प्रति भक्ति या ईश्वर का चिन्तन) भी सम्मिलित है जो बौद्धधर्म मे अग्राह्य है। बहुत-से बौद्ध वेद की भर्त्सना करते थे और परमात्मा को नही मानते थे। गुह्यसमाज० ने बुद्धत्व शीघ्र प्राप्त करने के लिए योग की क्रियाओ का समावेश किया है। मास एव मैथुन की अनुमति के पीछे धारणा यह थी कि योगी को, जब तक वह बुद्धत्व के लक्ष्य की प्राप्ति नही कर लेता तथा अपने मानसिक जीवन का विकास नही कर लेता, तब तक, अपने कार्य-कलापो के प्रति उदासीन रहना चाहिए और उसे सारे सामाजिक नियमो एव परम्पराओ की उपेक्षा कर देनी चाहिए[५१]। वज्रयान की दूसरी नवीन प्रक्रिया थी मुक्ति के लिए योग द्वारा शक्ति की **उपासना** का उपयोग। गुह्यसमाज० मे आया है कि यदि छह मासो तक प्रयत्न करने के उपरान्त भी ज्ञान न प्राप्त हो तो साधक को यह प्रयत्न तीन बार और करना चाहिए, यदि ऐसा करने पर भी सम्बोधि न प्राप्त हो तो उसे हठयोग करना चाहिए और तब वह योग द्वारा सत्य ज्ञान की प्राप्ति करेगा। एक अन्य नवीन प्रयोग था पाँच ध्यानी-बुद्धो का सिद्धान्त[५२]। ये ध्यानी-बुद्ध, बुद्ध भगवान् से प्रकट हुए। ये उन पाँच स्कन्धो या मौलिक तत्त्वो के परिचायक है, जिनसे यह सृष्टि बनी हुई है और इनमे से प्रत्येक एक शक्ति से सम्बन्धित है। गुह्यसमाज० की शिक्षा यह है कि यदि मानसिक शक्ति एव अलौकिक सिद्धियाँ विकसित करनी है तो जो लोग अपने लक्ष्यो की पूर्ति के लिए यौगिक क्रियाएँ करते है उनसे स्त्रियो का सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार बुद्ध की वह भविष्यवाणी पूर्ण हो गयी, जो उन्होने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कही थी कि यदि सघ मे स्त्रियो का आगमन हो गया तो उनकी पद्धति केवल ५०० वर्षो तक ही चलेगी, नही तो वह एक सहस्र वर्षो तक चलेगी (चुल्लवग्गा, १०।१।६, विनय टेक्स्ट्स जिल्द ३, सै० बु० ई०, २०, पृ० ३२५)।

५० अहिसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा । शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वर प्राणिधानानि नियमा । योगसूत्र (२।३०-३१)।। योग के आठ अग ये है—यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान—समाधयोऽष्टावङगानि। योगसूत्र (२।२९)।

५१ भक्ष्याभक्ष्यविनिर्मुक्त पेयापेयविवर्जित । गम्यागम्य विनिर्मुक्तो भवेद्योगी समाहित ।। ज्ञान-सिद्धि (१।१८), गम्यागम्यादिसकल्प नात्र कुर्यात् कदाचन। मायोपमादियोगेन भोक्तव्य सर्वमेव हि ।। वज्रोपाय० (पृ० २३, श्लोक २९)।

५२ देखिये डा० भट्टाचार्य की गुह्यसमाजतन्त्र पर भूमिका (पृ० १९), एव 'बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म' की भूमिका (पृ० ३२-३३, ७०, ८०-८१, १२१, १२८-१३०) जहाँ ध्यानि-बुद्धो, उनकी शक्तियो, कुलो, कुल के अर्थ आदि का उल्लेख है। बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म के पृ० ३२ पर डा० भट्टाचार्य ने लिखा है—'हमने यह पहले उल्लिखित कर रखा है कि बौद्धधर्म पहले के ब्राह्मणधर्म के विरोध मे एक अभिग्रह अथवा चुनौती था। अब यह तान्त्रिक बौद्धधर्म की चुनौती थी, बुद्ध और आरम्भिक बौद्धधर्म के विरोध मे। बुद्ध द्वारा सभी प्रकार के सासारिक सुख-भोग, यथा—मद्य, मास, मत्स्य, मैथुन एव तामसिक भोजन वर्जित थे। पश्चात्कालीन तान्त्रिको ने इन सभी का समावेश अपने धर्म मे किया और उन्होने और आगे बढ कर ऐसी उद्घोषणा कर दी कि बिना इनके मुक्ति असम्भव है'।

यदि हम ई० पू० ४८३ को बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि मान ले (जैसा बहुत-से विद्वान् मानते है) या ई० पू० ४७७ (जैसा ए० फाउचर मानते है) को माने, तो उससे ५०० वर्ष उपरान्त होगी ईसा के उपरान्त की प्रथम शती, और यह प्रकट है कि उससे एक या दो शती उपरान्त बुद्ध की शिक्षा का बहुत कुछ अश महायान एव वज्रयान तन्त्रो के सिद्धान्तो से नष्ट हो चुका था। ऐसा दुर्भाग्य रहा कि बुद्ध का 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' उनके वज्रयानी अनुयायियो द्वारा 'अधर्म-चक्र-प्रवर्तन' मे परिवर्तित कर दिया गया। महापरिनिब्बानसुत्त (५।२३, सै० बु० ई०, जिल्द ११, पृ० ९१) मे बुद्ध ने अपनी कठोर बात कही थी ओर भिक्षुओ को भिक्षुणियो मे दूर रहने के लिए सावधान कर दिया था। उन्होने कहा था—'उनकी ओर न देखो, यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो उनसे बाते न करो और यदि कोई भिक्षुणी बात कर रही हो तो बहुत सावधान रहो'। बुद्ध ने अपने एक शिष्य को इसलिए घुडक दिया कि उसने अलौकिक शक्तियाँ प्रदर्शित कर दी थी (चुल्लवग्ग, सै० बु० ई०, जिल्द २०, पृ० ७८)। किन्तु गुह्समाज० एव अन्य बौद्ध तन्त्रो ने ऐसी व्यवस्था कर दी कि साधक लोग अलौकिक शक्तियाँ (सिद्धियाँ) रखने लगे, यथा—अनावृष्टि पर वृष्टि कराना, शत्रु की प्रतिमा पर जादू की क्रिया करके उसे मारना (गुह्यसमाज०, पृ०, ८४, ९६)। इसके अतिरिक्त गुह्यसमाज० को अति भयकर एव क्रूर छह कर्म (पट्कर्माणि) ज्ञात थे, यथा—**शाति** (रोग एव जादू को दूर करने की क्रिया), **वशीकरण** (स्त्रियो, पुरुषो यहाँ तक कि देवो को वश मे करना), **स्तम्भन** (दूसरे की गतियो एव क्रियाओ को रोकना), **विद्वेषण** (दो मित्रो या दो ऐसे व्यक्तियो मे, जो एक-दूसरे को प्यार करते है, शत्रुता उत्पन्न कर देना), **उच्चाटन** (किसी व्यक्ति या शत्रु को देश या नगर या गाँव से भगाना) एव **मारण** (प्राणियो को मारना या न मिटने वाला घाव कर देना)। गुह्यसमाज० ने इन छह कर्मो (विद्वेषण के स्थान पर आकर्षण रखा है) का उल्लेख क्रम से पृ० १६८, १६५, ९६, ८७ (आकर्षण), ८१ एव १३० मे किया है। देखिए साधनमाला (पृ० ३६८-३६९) जहाँ इनके तथा इनके मण्डलो एव कालो का उल्लेख किया गया है। शारदातिलकतन्त्र ऐसे मर्यादित ग्रन्थ ने भी इन छह कर्मो का उल्लेख किया है (२३।१२२), उनकी परिभाषा दी है (२३।१२३-१२५) और लिखा है कि रति, वाणी, रमा, ज्येष्ठा, दुर्गा एव काली क्रम से इन कर्मो के देवता है, कर्मो के आरम्भ मे उनकी पूजा होनी चाहिए। प्रात से दस घटिकाओ की छह अवधियाँ इन छह कर्मो के लिए उचित है तथा इसी प्रकार कुछ ऋतुएँ भी है (२३।१२६-१३९)। यह बडे आश्चर्य की बात है कि प्रपञ्चसार (२३।५) ने, जो अद्वैत के महान् आचार्य शकर द्वारा प्रणीत समझा जाता है, त्रैलोक्यमोहन नामक मन्त्र का विस्तार के साथ उल्लेख किया है, जो उपर्युक्त छह क्रूर कर्मो के लिए व्यवस्थित है।

हिन्दू एव बौद्ध दोनो तन्त्र गुरु की महत्ता एव अर्हताओ पर प्रभूत बल देते है[५३]। बौद्ध तन्त्रो मे गुरु के प्रति अत्यन्त आदर का भाव है। ज्ञानसिद्धि (१३।९-१२) ने अर्हताओ का उल्लेख किया है तथा प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि (३।९।१६) मे गुरु के प्रति उत्कृष्ट प्रशस्ति है, वे बुद्ध के सदृश कहे गये है, विभु आदि पदवियाँ दी गयी है। लक्ष्मीडकराकृत अद्वयसिद्धि (लगभग ७२९ ई०) मे ऐसा आया है कि तीन लोको मे आचार्य से बढकर कोई अन्य नही है। लक्ष्मीडकरा ने एक विलक्षण सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि अपने शरीर की पूजा करनी चाहिए, क्योकि उसमे सभी देवो का निवास रहता है। भासरानन्दनाथ (अर्थात् भास्करराय, दीक्षा के पूर्व का नाम)

५३ आचार्यात्परतर नास्ति त्रैलोक्ये सचराचरे। यस्य प्रसादात्प्राप्यन्ते सिद्धयोऽनेकधा बुधै। साधनमाला (जिल्द २, भूमिका पृ० ६४—६५)।

के शिष्य उमानन्दनाथ के नित्योत्सव मे गुरु भास्करराय की प्रशसा निम्नोक्त 'अतिशयोक्तिपूर्ण ढग से हुई है[५४] 'उन्हे इस पृथिवी (भूमण्डल) का कोई भी अश (योग दृष्टि के कारण) अदृष्ट नही था, कोई भी राजा ऐसा नही था जो उनका दास न रहा हो, उन्हे कोई भी शास्त्र अज्ञात नही था, अधिक क्यो कहा जाय, उनका स्वरूप स्वय पराशक्ति थी'। किन्तु ज्ञानसिद्धि एव कुलार्णव (१३।१२८) ने ऐसे गुरुओ से सावधान किया है जो धनलोभ से लोगो को धर्म-शिक्षा देते है और सत्य जानने का बहाना करते है। कुलार्णव (उल्लास १२ एव १३) ने गुरु की अर्हताओ एव महत्ता का उल्लेख किया है। और देखिए शारदातिलक (२।१४२-१४४ एव ३।१४५-१५२), जहाँ तान्त्रिक गुरु एव शिष्य की अर्हताओ की चर्चा है[५५]। गुरु को सभी आगमो, शास्त्रो के तत्त्वो एव अर्थ को जानना चाहिए, उसका वचन अमोघ (जो सत्य हो) होना चाहिए, उसे शान्त मनवाला होना चाहिए, उसे वेद एव वेदार्थ मे पारगत होना चाहिए, उसे योगमार्गानुगामी होना चाहिए और उसे देवता के समान कल्याणकारी होना चाहिए। शिष्य को चाहिए कि वह मन्त्रो, पूजा एव रहस्यो को गोपनीय रखे[५६]। शिष्य अपने गुरु के चरणो को अपने सिर पर रखता है, अपना शरीर, धन एव जीवन गुरु को समर्पित कर देता है। उपनिषदो ने भी गूढ दर्शन की प्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता पर बल दिया है। उदाहरणार्थ, कठोपनिषद्[५७] मे आया है—'यह ज्ञान तर्क से नही प्राप्त किया जा सकता, यह भलीभाँति तभी समझा जा सकता है जब कि किसी अन्य द्वारा इसकी व्याख्या की जाय'। और देखिए छा० उप० (४।९।३)। लिगपुराण[५८] आदि का कथन है कि गुरु शिव के समान है और शिवभक्ति एव

५४ यस्यादृष्टो नै भूमण्डलाशो यस्यादासो विद्यते न क्षितीश। यस्याज्ञात नैव शास्त्र किमन्यै यस्याकार सा परा शक्तिरेव॥ नित्योत्सव का आरम्भिक श्लोक ४। डा० बी० भट्टाचार्य ने गुह्यसमाज० (पृ० १३) मे जो लिखा है उससे पता चलता है कि उन्होने इस श्लोक को सर्वथा गलत समझा है क्योकि उन्होने अनुवाद यो किया है—'पराशक्ति वह है जिसको इस विस्तृत विश्व का कोई अश बिना देखा हुआ नही है ' आदि।

५५ सर्वागमाना सारज्ञ सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित्। अमोघवचन शान्तो वेदवेदार्थपारग। योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयङ्गम। शारदा० २।१४२-१४४।

५६ मन्त्रपूजा रहस्यानि यो गोपयति सर्वदा। शारदा० (२।१५१)।

५७ नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। कठ० (२।९)।

५८ यो गुरु स शिव प्रोक्तो य शिव स गुरु स्मृत। यथा शिवस्तथा विद्या यथा विद्या तथा गुरु॥ शिव विद्यागुरोस्तस्माद् भक्त्या च सदृश फलम्। सर्वदेवमयो देवि सर्वशक्तिमयो हि स। लिगपुराण (१।८५), १६४-१६५), गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वर। गुरुरेव परम ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवेनम॥ देवीभागवत (११।१।४९), ब्रह्माण्डपुराण के ललितोपाख्यान मे ऐसा आया है—'मनुष्यचर्मणा बद्ध साक्षात्परशिव स्वयम्। सच्छिष्यानुग्रहार्थाय गूढ पर्यटति क्षितौ॥ अत्रिनेत्र शिव साक्षादचतुर्बाहुरच्युत। अचतुर्वदनो ब्रह्मा श्रीगुरु कथित प्रिये॥' (४३।६८-७०)। ये श्लोक कुलार्णव मे भी पाये जाते है और दोनो मे बहुत-से श्लोक एक-से है। किसने किससे उद्धृत किया है, यह कहना कठिन है। शारदातिलक (५।११३-११४) मे आया है—गुरुविद्यादेवतानामैक्य सम्भावयन् धिया। प्रणमेद् दण्डवद्भूमौ गुरु त देवतात्मकम्॥ तस्य पादाम्बुजद्वन्द्व निजे मूर्धनि योजयेत्। शरीरमर्थं प्राण च सर्व तस्मै निवेदयेत्॥ प्रपञ्चसार (९।१२२) मे आया है—'गुरुणा समनुगृहीत मन्त्र सद्यो जपेच्छतावृत्त्या। गुरुदेवतामनूनामैक्य सम्भावयन् धिया शिष्य॥

गुरुभक्ति के फल समान होते ह। कुलार्णव (११।४६) मे आया है कि गुरुओ, आगमो, आम्नाय, मन्त्र एव प्रयोगो का क्रम जव गुरु के अधरो द्वारा सुना जाता हे तो हितकर होता हे, अन्यथा नही। प्रपञ्चसार मे आया है—'शिष्य को यह मन मे विचारना चाहिए कि गुरु, देवता एव मन्त्र एक ही हे, और उसे गुरु से प्राप्त मन्त्र को एक सौ बार जपना चाहिए।

वेदान्त पद्धति को समझने के लिए उच्च ज्ञान एव नैतिक उपलब्धियो की आवश्यकता होती हे और यह बहुत ही थोडे प्रतिभाशाली व्यक्तियो द्वारा समझा भी जा सकता हे। ऐसा विश्वास किया जाता हे कि तन्त्र ऐसी विधि उपस्थित करते हे जिसके द्वारा सामान्य ज्ञान के व्यक्ति भी लाभ उठा लेते ह, जिसके द्वारा चाक्षुप एव शारीरिक गतियो से आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त हो सकती है तथा मन्त्रो के पाठ, मुद्राओ, न्यासो, मण्डलो, चक्रो एव यन्त्रो से मुक्ति-प्राप्ति मे शीघ्रता हो सकती है। तान्त्रिक लेखको ने गुरु की प्रशसा एव आदर-भक्ति मे बडी अतिशयोक्ति की है ओर इस भावना की अभिव्यक्ति मे ऐसी बाते कह डाली ह जो घृणास्पद हे। इस विषय मे ताराभक्तिसुधार्णव (४, पृ० ११६) का उद्धरण उल्लेखनीय हे[५९]।

पञ्च मकारो के विषय मे तान्त्रिक ग्रन्थो की शिक्षा ने सभी वर्णो एव जातियो के लोगो, विशेषत समाज के निम्नवर्गीय लोगो मे अस्वास्थ्यकर एव अनैतिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कर दी होगी। ७वी शती से १२वी तक के लम्बे काल मे हिन्दू एव बौद्ध तान्त्रिको का दौर-दौरा था। वज्रयान के एक सम्प्रदाय मे गुरु लोग नीले रग का वस्त्र धारण करते थे। सम्मितिय शाखा के एक गुरु के विषय मे एक गाथा हे। गुरु महोदय नील पट धारण करके एक वेश्या के यहाँ गये। वे रात्रि मे मठ को लोट कर नही आये। जब प्रात काल उनके शिष्यो ने नीलपट धारण करने का कारण जानना चाहा तो गुरु महाराज ने नीलपट के आध्यात्मिक महत्त्व को समझाया। तभी से उनके अनुयायियो ने नीलपट धारण करना आरम्भ कर दिया। उनकी पुस्तक 'नीलपटदर्शन' मे ऐसा उल्लिखित हे—'कामदेव' एक रत्न है, वेश्या एक रत्न हे, मदिरा एक रत्न हे, मै इन तीन रत्नो को नमस्कार करता हूँ, अन्य तथाकथित तीन रत्न शीशे की मनियाँ मात्र हे'। यह जानना चाहिए कि भक्त बौद्धो के लिए बुद्ध, धर्म एव सघ तीन रत्न कहे गये है। नीलपटदर्शन के अनुयायीगण इन तीन रत्नो को व्यर्थ मानते है, उन्हे केवल शीशे की गुटिकाएँ मात्र मानते है। देखिए भिक्षु राहुल साकृत्यायन का निबन्ध 'ऑन वज्रयान और मन्त्रयान' (जे० ए०, जिल्द २२५, १९३४, पृ० २१६), जहाँ यह गाथा दी हुई हे। झूठे गुरुओ ने लोगो को मद्य, मास एव नारियो के साहचर्य की सरल विधि द्वारा निर्वाण प्राप्ति की हरी वाटिका दिखा कर उनको भ्रमित कर दिया। इस लम्बे काल मे भारतीय साहित्य मद्य, मास एव मैथुन से सचालित तान्त्रिक पूजा की भर्त्सना एव उपहासात्मक आलोचनाओ से परिपूर्ण हे। दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जा रहे है। राजशेखर (लगभग ९०० ई०) द्वारा प्रणीत प्राकृत नाटक 'कर्पूरमञ्जरी' का एक पात्र भैरवानन्द हे, जो अलौकिक शक्ति वाला कहा जाता हे। उसने (मदवश या मतवाला होने का नाट्य करते हुए) कहा ह—'गुरु के प्रसाद से हम लोग मन्त्रो या तन्त्रो या ध्यान के विषय मे कुछ भी नही जानते। हम मद्य पीते है, महिलाओ के साथ रमण करते हे तब भी कुलमार्ग मे सलग्न रहने के कारण मोक्ष पाते हे। एक उग्र गणिका दीक्षित की जाती है ओर नियमानुकूल पत्नी बनायी जाती हे, मद्य पिया जाता हे, मास खाया जाता हे, भोजन भिक्षा से प्राप्त होता हे, हम लोगो की शैया चर्म-खण्ड की है। यह कौलधर्म किसको आकर्षक नही लगता?

५९ भगिनीं वासुता भार्यां यो दद्यात्कुलयोगिने। मधुमत्ताय देवेशि तस्य पुण्य न गण्यते। ताराभक्ति सुधार्णव (४, पृ० ११६) द्वारा उद्धृत।

विष्णु एव ब्रह्मा के नेतृत्व मे देवता लोग भी घोषित करते है कि मोक्ष ध्यान, वेदपाठ एव वैदिक यज्ञो से प्राप्त होता है, केवल उमा के पति ने इसे देखा (जाना) कि मोक्ष की प्राप्ति सुरारसपान एव नारियो के साथ सभोग करने से हो सकती है'[६०]। यशस्तिलकचम्पू (सन् ९५९ ई०) ने शैवागम के दक्षिण एव वाम मार्गो की ओर निर्देश करने के उपरान्त महाकवि भास का एक श्लोक उद्धृत किया है—'व्यक्ति को सुरा पीनी चाहिए, प्रियतमा के मुख को देखना चाहिए, स्वभाव से सुन्दर और जो अविकृत न हो वैसा वेप धारण करना चाहिए, वह पिनाकपाणि (शिव) दीर्घायु हो, जिन्होने मोक्ष का ऐसा मार्ग (सर्वप्रथम) ढूंढ निकाला'[६१]। क्षेमेन्द्र (११ वी शती के तीसरे चरण मे) के दशावतारचरित मे एक श्लोक है जो तान्त्रिक गुरुओ एव उनके अनुयायियो के कर्म पर प्रकाश डालता है[६२]—'गुरुओ की घोषणा है कि एक ही पात्र से भाँति-भाँति के शिल्पियो, यथा धोवियो, जुलाहो, चर्मकारो, कापालिको द्वारा मद्य पीने से, चक्रपूजा से, विना किसी विकल्प के स्त्रियो के साथ सभोग करने से तथा उत्सवो से

६० मौलिक श्लोक (१।२२-२४) प्राकृत मे है। उनके सस्कृत रूप यो है मन्त्राणा तन्त्राणा न किमपि जाने ध्यान च नो किमपि गुरु प्रसारात्। मद्य पिवामो महिला रमामो मोक्ष च यामो कुलमार्गलग्ना ।। रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्य मास पीयते खाद्यते च। भिक्षा भोज्य चर्मखण्ड च शय्या कौलो धर्मो कस्य नाभाति रम्य ।। भुक्ति भणन्ति हरिब्रह्म मुखा आप देवा ध्यानेन वेदयपठनेन क्रतुक्रियाभि एकेन केवल मुमादयितेन दृष्टो मोक्ष सम सुरतकेलि सुरारसै ।। यह सभव है कि भैरवानन्द द्वयर्थक हो। पारानन्दसूत्र ने बहुत-से तान्त्रिक गुरुओ का उल्लेख किया है जिनके नाम आनन्द से अन्त होते है, यथा अमृतानन्द (पृ० ५४, ७३), उन्मादानन्द (पृ० ५४, ७२, ७६), ज्ञानानन्द (पृ० ५४, ७३, ९१), देवानन्द (पृ० ४४), परानन्द (पृ० ७२, ९१७, जो पारानन्द सूत्र के लेखक है), मुक्तानन्द (पृ० ५४), सुरानन्द (पृ० ५४, ७०, ७२)। बहुत-से गुरुओ के नाम मे 'भैरव' भी आया है और ऐसे नाम पारानन्दसूत्र मे पर्याप्त आये है, यथा—आकाशभैरव (९ बार), उन्मत्त भैरव (१७ बार), काल भैरव (११ बार)। पृ० ६६ मे भैरव नाम एक लेखक का भी आया है। राजशेखर ने इन तान्त्रिक गुरुओ का, जिन्होने मकारो का समर्थन किया है, बडा उपहास किया है। पारानन्द सूत्र सम्भवत ९०० एव १२०० ई० के बीच मे कभी प्रणीत हुआ होगा (भूमिका, पृ० १२)। परशुरामकल्पसूत्र (१।४०) मे ऐसी व्यवस्था है कि दीक्षा के उपरान्त गुरु शिष्य को ऐसा नाम देते है जिसका अन्त आनन्दनाथ से हो। यही बात महानिर्वाण० (१०।१८२) मे भी पायी गयी है।

६१ इममेव च मार्गमाश्रित्याभाषि भासेन महाकविना। पेया सुरा प्रियतमा मुखमीक्ष्यणीय ग्राह्य स्वभाव-ललितोऽविकृतश्च वेष । येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्ष वर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणि । यशस्तिलकचम्पू (पृ० १५१)। यह पल्लव राजा महेन्द्रविक्रमवर्मन के मत्तविलास प्रहसन का सातवॉ श्लोक है जो कपाली के मुख से कहलाया गया है। इससे एक पहेली उत्पन्न हो जाती है। या तो यशस्तिलक के लेखक ने लेखक का नाम ठीक से नहीं बताया या यह श्लोक भास के किसी ऐसे नाटक का है जो अभी उपलब्ध नही हो सका है और उसे मत्तविलास प्रहसन ने ज्यो-का-त्यो उठा लिया है, जो मात्र प्रहसन होने के कारण कोई गम्भीर वात नहीं थी। प्रस्तुत लेखक दूसरे मत को अगीकार करता है।

६२ चक्रस्थितौ रजक-वायक-चर्मकार-कापालिक प्रमुख शिल्पिभिरेक पात्रे । पानेन मुक्तिमविकल्प-रतोत्सवेन वृत्तेन त्रोत्सवला गुरवो वदन्ति ।। दशावतारचरित (पृ० १६२)। चक्रपूजा के विषय मे आगे लिखा जायगा ।

परिपूर्ण जीवन से मुक्ति प्राप्त होती हैं। राजतरगिणी (१२ वी शती) मे भी तान्त्रिको एव उनके कर्मो की ओर सकेत मिलता है। ५।६६ मे कल्हण का कथन है[६३] कि कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के शासन-काल मे भट्ट कल्लट ऐसे सिद्ध लोगो ने (जो अलौकिक शक्तियाँ रखते थे, यथा अणिमा) ससार के कल्याण के लिए जन्म लिया था। कल्हण ने एक अच्छे राजा यशस्कर (६३६–६४८ ई०) के शासन का वर्णन करते हुए लिखा है[६४] कि उसके राज्य मे गृहिणियाँ गुरुदीक्षा के कृत्य मे देवताओ के रूप मे नही दीख पडती थी, और न अपने पतियो की शीलश्री (अच्छे चरित्र) से दूर रहने के लिए अपने सिर को हिलाती ही थी। कश्मीर का राजा कलश (१०६३–१०८६ ई०) अमरकण्ठ के पुत्र प्रमदकण्ठ का शिष्य हो गया था। प्रमदकण्ठ अच्छा ब्राह्मण था, किन्तु कलश, जो स्वभाव से दुष्ट था, अपने गुरु द्वारा बुरे आचरणो मे लिप्त करा दिया गया, और वह (राजा कलश) अच्छी या बुरी स्त्रियो मे भेद नही करता था। इस विषय मे कल्हण ने लिखा है—'मै इस (कलश के) गुरु की गत विकल्पता का क्या वर्णन करूँ, जब कि अन्य विकल्पो का त्याग करके उसने अपनी पुत्री के साथ व्यभिचार किया?'[६५]। इससे स्पष्ट है कि कश्मीर मे ११ वी शती मे कुछ ऐसे तान्त्रिक गुरु थे, जो गुह्यसमाजतन्त्र द्वारा बौद्ध योगियो के लिए व्यवस्थित आचरणो का अक्षरश, पालन करते थे। कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयदेव के शासन-काल मे यशपाल नामक

६३ अनुग्रहाय लोकाना भट्ट श्री कल्लटादय । अवन्ति वर्मण काले सिद्धा भुवमवातरन् ॥ राजत० (५। ६६)। अवन्तिवर्मा ने सन् ८५५ से ८८३ ई० तक राज्य किया। काश्मीरी शैववाद मे कल्लट एक महान् नाम से विख्यात है। यह द्रष्टव्य है कि बौद्धधर्म की वज्रयान-शाखा मे ८४ सिद्ध पुरुषो का उल्लेख है जो ७ वी से ९ वी तक हुए थे। देखिये बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म (पृ० ३४) एव भिक्षु राहुल साकृत्यायन का निवन्ध 'दि ओरीजिन आव वज्रयान एण्ड दि ८४ सिद्धज' (जे० ए०, जिल्द २२५, १९३४, पृ० २०९–२३०) जहाँ पृ० २२०–२२५ मे ८४ सिद्धो की एक लम्बी सूची है जिसमे लूइपा से भलिपा के नाम, उनकी जातियो, स्थितियो, उत्पत्ति-स्थान, उनमे से ८वी शती के आगे के कुछ के समकालीनो के नाम के साथ दिये गये है। मत्स्येन्द्रनाथ को लूइपा कहा गया है। देखिये इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली (जिल्द ३१, पृ० ३६२–३७५) जहाँ डा० करमबेल्कर का 'मत्स्येन्द्रनाथ एण्ड हिज योगिनी कल्ट' नामक लेख है।

६४ नादृश्यन्त च गेहिन्यो गुरुदीक्षोत्सवदेवता । कुर्वाणा भर्तृशील श्री निषेध मूर्धधूननैः ॥ राजत० (६।१२)। इससे प्रकट होता है कि तान्त्रिको से लिग के विषय मे समान भावना के कारण स्त्रियाँ तान्त्रिक कृत्यो मे गुरु बनायी जाती थी। देखिये प्राणतोषिणी (पृ० १७९), जहाँ पर स्त्री गुरु की अर्हताएँ दी हुई है, और देखिए पृ० ५४०, जहाँ गुरु की पत्नी की पूजा तथा अपने अधिकार से गुरु के रूप मे पूजित होने वाली स्त्री का उल्लेख है। गुरु एव उसके पूर्वजो की पूजा शिष्यो द्वारा इस प्रकार होती थी मानो वे (शिष्य) यजमान हो। जब यजमान (शिष्य) लोग गुरुओ के रूप मे पूजित स्त्रियो के पतियो की प्रशसा करते थे तो वे असहमति मे अपना सिर हिलाती थीं, जिसका तात्पर्य यह था कि वे स्पष्ट रूप से अपने पतियो के चरित्र की आलोचना करती थीं। कल्हण का कथन है कि यशस्कर के शासन-काल मे ऐसा नही होता था। यशस्कर ने तान्त्रिको के आचारो को अवश्य बन्द करा दिया होगा और स्त्रियो को गुरु बनने का अवसर ही नही मिलता रहा होगा।

६५ गुरोर्गतविकल्पत्व तस्यान्यत्किमिवोच्यताम्। त्यक्तशङ्क प्रववृते स्वसुता सुरतेपि य ॥ राजत० (७।२७८)।

नाटककार की रचना मोहराजपराजय मे पात्र 'कौल' है जो अपने इस सिद्धान्त की घोषणा करता है कि वह बिना किसी मनस्ताप के प्रतिदिन मास खाता है, मद्य पीता है और मन को पूरी छूट दिये रहता है[६६]। अपरार्क ने एक श्लोक उद्धृत किया है, जिससे स्पष्ट है कि बहुत-से सम्प्रदायो के बीच मे एक सगति मे रहना कठिन है—'कोई व्यक्ति हृदय से कौल हो सकता है, बाह्य रूप से वह शैव-सा प्रतीत हो सकता है और वह अपने वास्तविक आचरण मे वैदिक कृत्यो का अनुसरण कर सकता है। व्यक्ति को सार ग्रहण करके नारिकेलफल की भाँति रहना चाहिए'[६७]। लगता है कि उच्च विद्वान् एव कवि तान्त्रिक पूजा के प्रति कुछ अनिश्चित भावना रखते थे। मिथिला के महान् कवि विद्यापति अपने भक्तिपरक गीतो से जहाँ वैष्णव है, वही उन्होने शैवसर्वस्वसार नामक ग्रन्थ भी लिखा है (अत वे शैव कहे जा सकते है), दुर्गाभक्तितरगिणी भी लिखी है (जो उन्हे शाक्त भी सिद्ध करती है) और लिखा है एक तान्त्रिक ग्रन्थ[६८]। विद्यापति की 'पुरुषपरीक्षा' का प्रथम श्लोक 'आदिशक्ति' का आह्वान करता है। बगाल एव आसाम मे शाक्त सिद्धान्तो का बडा प्राबल्य रहा है और अब भी वहाँ काली-पूजा प्रचलित है, किन्तु बल्लालसेन नामक विख्यात बगाली राजा ने अपने दान-सम्बन्धी महान् ग्रन्थ 'दानसागर' मे देवीपुराण को कुत्सित समझ कर छोड दिया है[६९]।

यह सम्भव है कि पञ्च मकारो के प्रवर्त्तक तान्त्रिक या शाक्त सम्प्रदाय ने भगवान् या परमात्मा के उस भयकर स्वरूप की अवमानना की जो मानवो एव पदार्थों के भाग्यो पर शासन करता है, जो कभी-कभी सच्चरित्र लोगो को भी भीषण दुखो मे पलने देता है, सम्भवत इसी से इस सम्प्रदाय ने परम्परागत नैतिक भावना एव सामाजिक सदाचरणो की अवज्ञा कर दी और ऐसी आशा की कि यौगिक आचारो से उच्च मानसिक शक्तियाँ एव आनन्द की प्राप्ति हो जायगी। देखिए डा० बी० भट्टाचार्य की भूमिका (गुह्यसमाज०, पृ० २२), जहाँ ऐसी ही

६६ मोहराजपराजय (गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, बडोदा) पृ० १०० मे कौल कहता है 'खाद्यते मासमनुदिन पीयते मद्य च मुक्त सकल्पम्। अनिवारित मन प्रसर एष धर्मो मया दृष्ट ॥ (प्राकृत श्लोक का यह सस्कृत रूप है)। यह नाटक ११७२–११७५ ई० मे लिखा गया था।

६७ अन्त कौल बहि शैव लोकाचारे तु वैदिकम्। सारमादाय तिष्ठेत्तु नारिकेल फल यथा। अपरार्क (पृ० १०)। नारिकेल फल के तीन स्वरूप है पहला बाहरी कठोर कोश, दूसरा वह अश जो कोश के भीतर कोमल एव स्वादयुक्त होता है और तीसरा वह अश जो जल होता है। कुलार्णवतन्त्र मे आया है 'अन्त कौलो बहि शैवो जनमध्ये तु वैष्णव । कौल सुगोपयेद्देवि नारिकेल फलाम्बुवत्॥ (११।८३)। शैवो एव शाक्तो दोनो का साम्प्रदायिक चिह्न है त्रिपुण्ड (पवित्र विभूति, अथवा भस्म की तीन समानान्तर रेखाएँ, जो मस्तक पर एक आँख से दूसरी आँख तक अँगूठे एव कनिष्ठिका को छोड़ अन्य तीन अगुलियो से खीची जाती है। देखिये बृहज्जाबालोपनिषद् (४।१०–११), देवी भागवत (११।१५।१७–२३)।

६८ देखिये डी० सी० भट्टाचार्यकृत निबन्ध (जर्नल आव गगानाथ झा रीसर्च इस्टीच्यूट, जिल्द ६, पृ० २४१–२४७) 'विद्यापतिस वर्क ऑन तन्त्र'। पुरुष परीक्षा का प्रथम श्लोक (दरभगा सस्करण, १८८८) यह है—'ब्रह्मापि या नौति नुत सराणा (सुराणा ?) यामर्चितोप्यर्चयन्तीन्दुमालि ॥ या ध्यायतिध्यानगतोपि विष्णुस्तामादिशक्ति शिरसा प्रपद्ये ॥'

६९ नानावेश धरा कौला कुलाचारेषु निश्चला। सेवन्ते त्वा कुलाचौर्यनहि तान् बाधते कलि॥ महानिर्वाणतन्त्र (४।६३)।

भावना व्यक्त है। सम्भवत एक अन्य प्रवृत्ति भी रही होगी। सामान्य जन बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट होते चले जा रहे थे। हिन्दू तान्त्रिक सम्प्रदायो के प्रवर्त्तको ने उन्हे हिन्दू-सीमा के अन्तर्गत ही रहने देना चाहा। सामान्य जन मास-मदिरा का प्रयोग करते ह, उन्हे बताया गया कि यदि वे तान्त्रिक गुरुओ एव आचारो का अनुसरण करेगे तो मास एव मद्य मे चूर रहने पर भी उच्चतर आध्यात्मिक स्तर प्राप्त करेगे। इसके मूल मे धारणा यह थी कि शक्ति ही सब कुछ हे और सब के लिए हे, भोग का परित्याग आवश्यक नही हे, क्योकि मनुष्य देवी या शिव का अश है। भोग का ऊर्ध्वायन होना चाहिए, बस इतना ही कौलशास्त्र मे पर्याप्त हे। तान्त्रिको ने सयम एव तप के योग के स्थान पर भोग का योग स्थापित करना चाहा। वाममार्ग के आचारो मे प्रवृत्त साधक से यही आशा की जाती हे कि वह आत्मा के अहकारमय तत्त्वो का नाश कर देगा[७०]।

महानिर्वाणतन्त्र तथा कुछ अन्य तन्त्रो ने कामुक अनैतिकता एव सकुलता के ज्वार को बाँधने का भी प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, परशुरामकल्पसूत्र के टीकाकार रामेश्वर का कथन हे कि जो जितेन्द्रिय नही हे उसे कौल-मार्ग का अधिकार नही है (पृ० १५३)। यह महानिर्वाणतन्त्र के इस कथन के प्रत्यक्ष विरोध मे पडता है कि ब्राह्मणो से लेकर अस्पृश्य तक सभी लोग कौल आचारो के अधिकारी ह[७१]। आजकल के कुछ ऐसे लोग, जो तन्त्रवाद का छद्म रूप से समर्थन करते है, कहते हे कि गुह्यसमाज मे जो निर्देश दिये हुए ह, तथा वज्रयान के अनुयायियो द्वारा पालित होने वाले जो नियम हे, वे केवल उन योगियो के लिए हैं जिन्होने यौगिक पूर्णता का कुछ अश प्राप्त कर लिया है। किन्तु स्पष्ट उत्तर यह हे—'किन्तु केवल उस व्यक्ति को छोडकर (जो साधनारत है) कौन बता सकता हे कि उसने थोडी-बहुत आध्यात्मिकता प्राप्त कर ली हे ? और यदि यह मान भी लिया जाय कि सारे निर्देश योगियो के लिए ही ह तो यही भारी-भरकम ढग एव भाषा मे कहने की क्या आवश्यकता पडी थी कि एक वज्र-यानी योगी वैसा ही आचरण करे जिसे साधारण लोग कदाचार कहते हे ?' प्राचीन एव मध्यकालीन तन्त्रो के समर्थको की बातो का उत्तर देने के लिए यह उचित स्थान नही हैं। किन्तु दो-एक बातो का उत्तर दे देना आवश्यक हे, क्योकि यदि उनकी आलोचना नही की गयी तो लोगो मे भ्रामक धारणा उत्पन्न हो सकती हे।

सर जॉन वुड्रौफ ने 'प्रिंसिपुल्स आव तन्त्र' (भाग २, पृ० ६) मे कहा हे कि मास, मत्स्य एव मदिरा का प्रयोग वैदिक काल मे सर्वसाधारण था तथा महाभारत एव पुराणो मे (यथा कालिका, मार्कण्डेय, कर्म आदि) मद्य, मास एव मत्स्य के सेवन की ओर सकेत हैं। यह कथन एक विशेष समर्थन है और गुमराह (पथभ्रष्ट) करने वाला है। प्रश्न है क्या वह सुरा जो प्रतिदिन के या आवधिक यज्ञो मे देवो को अर्पित की जाती थी, ऋग्वेद या किसी अन्य वेद मे आहुति कही गयी थी ? वैदिक युग मे मद्य का ज्ञान था या उसका सेवन होता भी रहा हो, किन्तु बात वास्तव मे यह जानने की है कि उन दिनो सोम एव सुरा मे अन्तर किया जाता था। देखिए शतपथ ब्राह्मण (५।१।५।२८ सत्य वै श्रीज्योति सोमोऽनृत पाप्मा तम सुरा।) 'सोम सत्य, श्री (समृद्धि), ज्योति (प्रकाश) हे तथा सुरा असत्य, कष्ट एव अधकार हे। सोम का उल्लेख ऋग्वेद मे सैकडो बार हुआ है और नवाँ मण्डल इसकी प्रशस्ति के लिए ही सुरक्षित-सा हे, और सोम देवो

७० यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोग। श्री सुन्दरी सेवन तत्पराणा भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥ कौलरहस्य से हसविलास (पृ० १०४) द्वारा उद्धृत।

७१. विप्राद्यन्त्यजपर्यन्ता द्विपदा येऽत्र भूतले। ते सर्वेऽस्मिन्कुलाचारे भवेयुरधिकारिण। महानिर्वाण-तन्त्र (१४।१८४)।

को दिया जाता था, किन्तु ऋग्वेद मे सुरा का उल्लेख केवल छह वार हुआ है और यह कही भी स्पष्ट रूप से नही उल्लिखित है कि यह देवो को धार्मिक रूप मे अर्पित की जाती ह, वल्कि वरुण के एक स्तोत्र मे, सुरा को पापमय कहा गया है और उसे क्रोध एव जुए के समकक्ष मे रख दिया गया हे (ऋ० ७।८६।६ न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुति सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्ति)। तन्त्रवाद के समर्थन के उत्साह मे आर्थर एवालोन (सर जॉन वुड्रौफ्) ने कुछ सरल शव्दो की भ्रामक व्याख्या मे विवेकशून्यता प्रदर्शित की हे। 'प्रिसिपुल्स आव तन्त्र' की भूमिका (पृ० ७) मे उन्होने ऋ० (१।१६६।७) को उद्धृत किया हे—'अर्चन्त्यर्क मदिरस्य पीत ये' और उसका अनुवाद यो किया हे—'मदिरा (मद्य) पीने से पहले सूर्य की पूजा करते है।' यहाँ **मदिर** (मदिरा नही) शव्द आया है, यह विशेपण है और इसका अर्थ है 'आनन्दप्रद' या 'आह्लादक'। 'मदिरा' शव्द ऋग्वेद मे कही भी नही आया है, किन्तु विशेपण के रूप मे 'मदिर' शव्द १६ वार आया हे और सामान्य रूप (वहुत कम स्पष्ट व्यजना के रूप) से यह सोम, इन्दु, अशु, रस या मधु की विशेषता वताता है। उपर्युक्त मन्त्रभाग मे 'पहले' के अर्थ मे कोई शव्द नही आया है। इस अश का अर्थ है—वे (पूजा करने वाले या मरुत लोग) उस (इन्द्र) की पूजा करते है जो स्तुति के योग्य हे (और मरुतो का एक मित्र हे)। जिससे कि वह आह्लादमय (सोम) को पीने के लिए आये। 'मदिरा' शव्द (मद्य के अर्थ मे) वैदिक काल के किसी भी शुद्ध ग्रन्थ मे नही आया हे। यह सर्वप्रथम महाभारत मे प्रयुक्त हुआ है। कुछ तन्त्र समर्थक लोग इन्द्र के सम्मान मे की जाने वाली **सौत्रामणी** दृष्टि मे सुरा के प्रयोग की चर्चा करते है किंतु परिस्थितियाँ विलक्षण है। सौत्रामणी वहुत से यज्ञो मे एक है और इसके सम्पादन के अवसर विरल होते थे, इसका सम्पादन **राजसूय** के अन्त मे होता था और **अग्निचयन** के अन्त मे भी होता था जवकि पुरोहित अधिक सोम पी लेने के कारण वमन कर देता था। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सौत्रामणि मे हवन की गयी सुरा का अवशेष यज्ञ मे रत पुरोहित द्वारा नही ग्रहण किया जाता था, प्रत्युत एक व्राह्मण को इसे पीने के लिए शुल्क देकर वुलाया जाता था और यदि कोई व्राह्मण नही मिलता था तो उसे चीटियो के ढूह पर गिरा दिया जाता था। इस विषय मे हमने इस ग्रन्थ के खण्ड (जिल्द २) मे पढ लिया है। काठकसहिता मे एक मनोरजक वक्तव्य आया है[७२]—"अत एक अपेक्षाकृत वूढा (ज्येष्ठ) व्यक्ति एव एक कम अवस्था वाला व्यक्ति, पतोहू, श्वसुर सुरा पीते हे और आपस मे आलाप करते रहते ह, विचारहीनता पाप है, अत एक व्राह्मण इस विचार से सुरा नही पीता कि 'अन्यथा (यदि मै इसे पीऊँ), मै पापी हो जाऊँगा', अत यह क्षत्रिय के लिए है, व्राह्मण से ऐसा कहना चाहिए कि सुरा, यदि क्षत्रिय द्वारा पी जाय, तो उसे हानि नही पहुँचाती।"

उपर्युक्त वक्तव्यो से प्रकट होता है कि न केवल पुरोहित लोग ही सौत्रामणि मे भी सुरा पीने को मिलते थे, प्रत्युत काठकसहिता के काल तक उसे पीने के लिए शुल्क पर भी व्राह्मण का मिलना कठिन था। वाजसनेयीसहिता (१९।५) ने भी सौत्रामणी की ओर ही सकेत किया हे, अन्य यज्ञो की वात नही उठायी है। मन्त्र यह है—'व्रह्म क्षत्र पवते तेज इन्द्रिय सुरया सोम सुत आसुतो मदाय', जिसका अर्थ है—'सोम जव सुरा से मिश्रित हो जाता हे तो कडा पेय हो जाता है और उससे नशा (मद) हो जाता है'। छान्दो-

७२ तस्माज्ज्यायाश्च कनीयाश्च स्नुषा ॱ सुरा पीत्वा सह आसते। पाप्मा वै माल्व्य तस्माद् व्राह्मण सुरा न पिवति पाप्मना नेत्ससृज्या इति तदेतत् क्षत्रियाय व्राह्मण वूयान्नैन सुरा पीता हिनस्ति। काठकसहिता (१२।१२)।

ग्योपनिषद् (५।१०।९) ने सुरापान करने वाले को पच महापापियो मे गिना है[७३]। अत सौत्रामणी के सुरा-दान (हवि) तथा देवी को मद्य देने के उपदेश मे (जिसकी व्यवस्था तन्त्रो मे है) कोई साम्य नही है। इस प्रकार अथर्ववेद मे जादू के कृत्यो से सम्बन्धित सकेत से भी कोई सहायता नही प्राप्त हो सकती। उस काल से समाज बहुत आगे आ चुका था और मनु (११।६३) ने अभिचार (अर्थात् किसी को मारने के लिए श्येनयाग के समान जादू की क्रिया) एल मूलकर्म (जडी-बूटियो तथा मन्त्रो से किसी व्यक्ति या स्त्री को अपने वश मे करना) को उपपातक ठहरा दिया था। महाभारत (उद्योगपर्व, ५९।५) से सम्बन्धित सकेत भी भ्रामक है। महाभारत-काल मे मद्यसेवन होता था किन्तु तन्त्रो के समान धार्मिक कृत्य के अश के रूप मे नही। इसी प्रकार तन्त्रो मे मद्यसेवन के पक्ष मे मार्कण्डेय तथा अन्य पुराणो का जो हवाला दिया गया है वह भी व्यर्थ ही है, क्योकि पुराणो के वे अश तब लिखे गये थे या क्षेपक रूप मे तब जोडे गये जब हिन्दू समाज के कुछ अशो पर तान्त्रिक क्रियाओ का प्रभाव प्रगाढ रूप मे पड चुका था। महाव्रत [७४] मे मैथुन की ओर जो सकेत किया गया है वह अत्यन्त भ्रामक एव अविवेकपूर्ण है। कुलार्णव एव गुह्यसमाज ऐसे तन्त्रो मे केवल साधक को अलौकिक शक्तियो एव उच्च आध्यात्मिक उपलब्धियो के लिए मैथुन का आचरण करना पडता था किन्तु महाव्रत मे मैथुन का कर्म अभ्यागतो द्वारा निर्देशित है (न कि यजमान या किसी पुरोहित द्वारा) और वह भी केवल प्रतीकात्मक है न कि देवी को प्रसन्न करने के लिए धार्मिक कृत्य के रूप मे स्वय साधक द्वारा किये जाने वाले मैथुन के अनुरूप है। यहाँ तक कि पश्चात्कालीन सुधारवादी तन्त्र ग्रन्थ महानिर्वाणतन्त्र ८।१७४-१७५) ने स्पष्ट रूप से कहा है कि उन पञ्च तत्त्वो पर, जिन्हे साधक एकत्र करता है (यथा—मद्य, मास आदि) सौ बार 'आ, ह्री, क्रो, स्वाहा' नामक मन्त्र का पाठ होना चाहिए, साधक को यह विचार करना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म से उत्पन्न है, उसे आँखे बन्द करनी चाहिए और उन तत्त्वो को काली को समर्पित करना चाहिए, ओर फिर स्वय खाना-पीना चाहिए।

अलौकिक शक्तियो एव मुक्ति की प्राप्ति के लिए मकारो की व्यवस्थाओ से जनता सक्षुब्ध हो चुकी थी और तन्त्रो की अवमानना आरम्भ हो गयी थी, अत शक्तिसगमतन्त्र (१५५५-१६०७ ई०) ऐसे पश्चात्कालीन हिन्दू तन्त्र ग्रन्थो ने प्रतीकात्मक व्याख्याएँ करनी आरम्भ कर दी। उनका कथन है कि मद्य, मुद्रा, मैथुन आदि शब्द सामान्य अर्थ मे नही प्रयुक्त है, प्रत्युत वे विशिष्ट गूढ अर्थ मे प्रयुक्त है[७५]। उदाहरणार्थ, मुद्रा के

७३ तदेष श्लोक । स्तेनो हिरणस्य सुरा पिबेश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वार पचम, पूञ्चाचरस्तैरिति । छा० उप० (५।१०।९)।

७४ सत्र के एक दिन पूर्व महाव्रत होता है। देखिये इस महाग्रन्थ का खण्ड (जिल्द) २।

७५ गुडार्द्रकरसो देवि मुद्रा तु प्रथमा मता । पिण्याक लवण देवि द्वितीया परिकीर्तिता । लशुन तिंतिडी चैव तृतीया परिकीर्त्तिता। गोधूममाषसम्भूता सुन्दरी च चतुर्थिका। शक्त्यालाप पचमी स्यात्पचमुद्रा प्रकीर्तिता ॥ शक्तिसङ्गम, ताराखण्ड, ३२, १३–१५, देखिये महानिर्वाणतन्त्र (६।६–१०) जहाँ चावल, जो, या गेहूँ का घी के साथ बना व्यजन या भूना हुआ अन्न मुद्रा कहा गया है। न मद्य माधवीमद्य मद्य शक्तिरसोद्भवम्। सुषुम्ना शखिनी मुद्रा उन्मन्यनुत्तम रस ।।' सामरस्यामृतोल्लास मैथुन च सदाशिवम्। महा-कुण्डलिनी शक्तिस्तद्योगार्थ महेश्वरि। सयोगामृतयोगेन कुण्डल्युत्थानकारणात् । शक्तिसगम०-ताराखण्ड ३२, २५-२७, ३२। देखिये 'शक्ति एण्ड शाक्त' (पृ० ३३९-३४०) जहाँ पर मद्य, मास, मत्स्य एव मैथुन का योगिनी-

कई अर्थ है, यथा—गुड एव सिरका का मिश्रण, या नमक एव खली का मिश्रण या लहसुन एव इमली का मिश्रण या गेहू एव उर्द का मिश्रण, इसी प्रकार **मद्य** वह नही हे जो माधवी (महुआ) से वनता है, प्रत्युत यह हे कुण्डलिनी के जगाने के प्रयत्न मे शक्ति की आह्लादमय अनुभूति (या रस)। यह मान लिया जा सकता है कि कुछ तान्त्रिक ग्रन्थ एव लेखक मनुष्यो को तीन वर्गो मे बाँटते ह, यथा—पशु, वीर (वे जिन्होने आध्यात्मिक अनुशासन के मार्ग मे बडी उन्नति कर ली हे) एव **दिव्य** (जो देवो के समान है) इन तीन वर्गो के लिए तन्त्र के समर्थक लोग पाँच मकारो की विभिन्न व्याख्याएँ करते ह। डी० एन० वोस ने अपने ग्रन्थ 'तन्त्रज' देयर फिलॉसफी एण्ड ऑकल्ट सीक्रेट्स' (पृ०११०-१११) मे बलपूर्वक कहा हे कि पच मकारो के वास्तविक महत्त्व को दुष्ट प्रकृति के लोगो ने जानबूझ कर गन्दा कर डाला हे, **मद्य** वह अमृतमय धारा हे जो मस्तिष्क के उस कोश से फूटती हे,जहाँ आत्मा का निवास हे, **मत्स्य** का अर्थ हे प्राणोच्छ्वासो का अवदमन, **मास** का तात्पर्य है 'मौन व्रत' तथा **मैथुन** का अर्थ हे 'सृष्टि एव नाश के कर्मो पर ध्यान'।

तान्त्रिक लोग अपने प्रयोगो को अतिशयोक्तिपूर्ण उच्च अर्थ वाले शब्दो मे बाँधने के अभ्यासी रहे है। पचमकारो को पञ्च तत्त्व, कुलद्रव्य या कुलतत्त्व कहा गया हे। मैथुन को सामान्यत पचमतत्त्व कहा जाता है, और वह नारी, जिसके साथ सम्भोग किया जाता हे या जो तन्त्रपूजा मे पुरुष से सम्बन्धित होती है, **शक्ति** (देखिये कुलार्णव ७।३९-४३ एव महानिर्वाण०, ६।१८-२०) या **प्रकृति** या **लता** कहलाती है और यह विशिष्ट **कृत्य** 'लतासाधन' (महानिर्वाण १।५२) कहा जाता हे। **मद्य** को **तीर्थवारि** या **कारण** (८।१६८ एव ६।१७) कहा जाता है। महानिर्वाणतन्त्र ने, जो एक सुधारवादी ग्रन्थ है और कुछ बातो मे राजा मे मद्यपियो को दण्डित करने को कहता हे (११।११३-१२१) सुरा की प्रशसा मे कलम तोड दी है और उसे द्रवमयी-तारा, जीवनिरस्तारकारिणी, भोग एव मोक्ष की माता तथा विपत्ति एव रोग को नाश करने वाली कहा है (११।१०५)। शक्ति-पूजा के लिए पच तत्त्व अनिवार्य हे (महानिर्वाणतन्त्र ५।२१-२४ एव कुलार्णव०५। ६९ एव ७६)[७६]। कुछ तन्त्रो मे ऐसा आया है कि तत्त्वो के अर्थ मे तब अन्तर पड जाता है जब सम्बन्धित व्यक्ति **तामसिक** (पशु प्रकार का साधक) होता हे या **राजसिक** (वीर प्रकार का साधक) होता है या **सात्त्विक**

तन्त्र (अध्याय ६) एव आगमसार के अनुसार दिव्यभाव के रूप मे अलौकिक अर्थ दिया हुआ हे। योगिनीतन्त्र का एक श्लोक यह हे 'सहस्रारोपरि बिन्दौ कुण्डल्या मलेन शिवे। मैथुन परम द्रव्य यतीना परिकीर्तितम्॥ पशु वर्ग के लोगो के लिए, जो शक्ति-पूजको की निम्न श्रेणी मे परिगणित है, तत्त्वो के प्रतिनिधि विभिन्न प्रकार के है। कौलावलीनिर्णय (५।११३-१२३) ने कई एक प्रतिनिधियो का उल्लेख किया है, यथा—एक ब्राह्मण मद्य के स्थान पर ताम्रपात्र मे मधु, पीतल के पात्र मे गाय का दूध या नारियल का पानी रख सकता है, मास के अभाव मे लहसुन एव सिरका का प्रयोग हो सकता है, मत्स्य के स्थान पर भैस या भेंड का दूध प्रयोग मे लाया जा सकता हे तथा मैथुन के स्थान पर भूने हुए फल एव जड-मूल प्रयोग मे लाये जा सकते हे। ये व्याख्याएँ ठीक नहीं जँचतीं और इनकी सत्यता पर सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक हे।

७६ कुलद्रव्यैर्विना कुर्याज्जपयज्ञतपोव्रतम्। निष्फल तद्भवेद्देवि भस्मनीव यथा हुतम्॥, मन्त्रपूत कुलद्रव्य गुरुदेवार्पित प्रिये। ये पिबन्ति जनास्तेषा स्तन्यपान न विद्यते॥ कुलार्णव० (५।६९ एव ७६)। 'स्तन्यपान न विद्यते' का अर्थ है कि वह पुन नहीं जन्म लेता। कुलार्णव० (५।७९-८०) मे आदेश हे 'सुरा शक्ति शिवो मास—तद्भोक्ता भैरव स्वयम्। तयोरैक्यसमुत्पन्न आनन्दो मोक्ष उच्यते॥ आनन्द ब्रह्मणो रूप तच्च देहे व्यवस्थितम्। तस्याभिव्यञ्जक मद्य योगिभिस्तेन पीयते॥'

(दिव्य, व्यक्ति जो श्वेता के समान होता है)। बहुत-से तन्त्र-ग्रन्थो के अनुसार मद्य का अर्थ सुरा एव उसका प्रतिनिधि, यथा नारियल का जल या कोई पेय पदार्थ, इसका अर्थ वह मत्त करने वाला ज्ञान भी है जो योग-क्रियाओ के उपरान्त प्राप्त होता है। जिसके द्वारा साधक बाह्य ससार के लिए एक प्रकार से सज्ञा शून्य हो जाता है। मास वह कर्म है जिसके द्वारा साधक अपने एव अपने कर्म को भगवान् शिव को समर्पित कर देता है। मत्स्य (जिसके प्रथम भाग 'मत' का अर्थ होता है 'मेरा') वह मानस-स्थिति है जिसके द्वारा साधक प्राणियो के सुख एव दुख से सहानुभूति रखता है। मैथुन मूलाधारचक्र मे शक्ति कुण्डलिनी (मनुष्य की देह मे स्थित नारी) मे तथा सहस्रारचक्र मे परम शिव का मस्तिष्क के सर्वोच्च केन्द्र मे सम्मिलन है और वह सहस्रार से चूने वाले मधुर-रस की धार है। कुछ लोगो के मत से विजया या भग ही मद्य है। महानिर्वाण० (८।१७० एव १७३) का कथन है कि मद्य के लिए 'मधुर-त्रय' एव मैथुन के लिए देवी की प्रतिमा के चरणो का ध्यान एव वाछित मन्त्र का जप रखा जा सकता है। कौलावलीनिर्णय (३।३) ने निर्भय होकर कहा है कि यदि व्यक्ति विजया (भग) छान (पी) कर ध्यान मे लगता है तो वह ध्यानमन्त्र मे वर्णित देवी के आकार का साक्षात् दर्शन करता है। कौलज्ञाननिर्णय एव भास्करराय (ललितासहस्रनाम की टीका मे) ऐसे तन्त्रो का कथन है कि जब कुण्डलिनी योगी द्वारा जगा ली जाती है और वह सहस्रार चक्र मे प्रविष्ट हो जाती है तो वहाँ से (जहाँ बीजकोश मे चन्द्र का निवास है) अमृत चूने लगता है, जो आलकारिक रूप से मद्य कहलाता है। कुलार्णव ने सर्वप्रथम उद्घोष किया है (१।१०५-१०७)—'मुक्ति का उदय न तो वेदाध्ययन से होता और न शास्त्रो के अध्ययन से, इसका उदय केवल ठीक ज्ञान से होता है, आश्रम मोक्ष के साधन नही और न दर्शन ही ऐसे है और न शास्त्र ही, यह ज्ञान ही कारण है, गुरु द्वारा दिया गया ज्ञान ही मुक्ति प्रदान करता है, अन्य विद्याएँ मात्र हास्यास्पद है'। इसके उपरान्त वेदान्ती ढग से ऐसा कहा गया है (१।१११-११२)—'दो शब्द (क्रम से) बन्धन या मुक्ति की ओर ले जाते है, यथा—(यह) मेरा (है) या 'मेरा कुछ भी नही है'। व्यक्ति यह सोचकर कि 'यह मेरा है' बन्धन मे पडता है और जब उसे इसका ज्ञान हो जाता है कि 'मेरा कुछ भी नही है' तो वह मुक्त हो जाता है। वही उचित कर्म है जिससे व्यक्ति बन्धन मे नही पडता, वही वास्तविक ज्ञान है जो मुक्ति प्रदान करता है।' इन उच्च विचारो के उपरान्त वही तन्त्र (२।२२-२३ एव २६) कौल सिद्धान्त पर आ जाता है। 'वह व्यक्ति जो योगी है, (सामान्यत) जीवन का उपभोग नही करता, और जो योग नही जानता जीवन का उपभोग करता है; किन्तु कौल सिद्धान्त मे योग एव भोग दोनो है, अत यह सभी (सिद्धान्तो) मे श्रेष्ठ है, कौल सिद्धान्त मे भोग सीधे ढग से योग हो जाता है, जो (अन्य साधारण लोगो की दृष्टि मे) पाप है, वही पुण्य हो जाता है, ससार मोक्ष मे परिवर्तित हो जाता है। जिसका मन शिव-पूजा, दुर्गा-पूजा आदि के मन्त्रो से पवित्र हो चुका है उसे कौल ज्ञान प्रकाशित करता है।'

कुलार्णव साधारण लोगो को दो मनो वाला लगता है। जहाँ एक साँस मे वह मद्य पीने, मास खाने की बात कौल सिद्धान्त के अनुयायियो से कह डालता है, उसी ढग से दूसरे अवसर पर वह मकारो का गूढार्थ उपस्थित करने लगता है (५।१०७-११२)—मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र मे पहुँचने पर कुण्डलिनी—शक्ति एव बुद्धि (चित्, शिव) के रूप मे चन्द्र के सम्मिलन का आनन्द उभरता है, मस्तक के कमल से स्रवित होने वाले अमृत के स्वाद पर ध्यान देने वाला व्यक्ति सुधा (अमृत, मद्य) पीता है, अन्य व्यक्ति मात्र

मद्य पीते है। जब योग का अभ्यासी [७७] ज्ञान की तलवार से अच्छा या बुरा कर्म करने वाले पशु (अह) को काटता हुआ अपने मन को परम (तत्त्व) मे लगा देता हे तो वह पल (सर्वोच्च, मास) का खाने वाला कहा जाता हे । योगी, जो अपने मन से अपनी कतिपय इन्द्रियो को सयमित करता हुआ, उन्हे आत्मा मे केन्द्रित कर देता है, 'मत्स्याशी' हो जाता है[७८], अन्य सब केवल प्राणियो के हन्ता कहे जाते है। पशु (वर्ग के) व्यक्ति की शक्ति (साधक से सम्बन्धित नारी) अप्रवुद्ध होती हे, किन्तु कौलिक की शक्ति प्रवुद्ध होती हे, जो ऐसी शक्ति को सम्मानित करता है वह वास्तविक रूप मे शक्तिपूजक है । जव व्यक्ति परा-शक्ति (सर्वोच्च शक्ति) एव आत्मा (शिव) के सम्मिलन से उत्पन्न आनन्द से परिपूर्ण हो जाता हे तो वही मैथुन कहलाता हे, अन्य व्यक्ति मात्र स्त्रीनिपेवक हे ।

लोकमर्यादाविरुद्ध तान्त्रिक आचारो के समर्थक अपेक्षाकृत अधिक या कम कुलार्णव की भाँति ही पचमकारो के विपय मे व्याख्याएँ एव तर्क उपस्थित करते हे। उदाहरणार्थ, अपने ग्रन्थ 'प्रिसिपुल्स ऑव तन्त्र' (भाग २) की भूमिका मे आर्थर एवालोन (सर जॉन वुड्रौफ) ने पारानन्दसूत्र (पृ० १७) मे प्रयुक्त 'पीने' की अलोकिक अर्थ (गुप्त या गूढ अर्थ) मे व्याख्या की है—'बार-बार पीने पर, पृथिवी पर गिर जाने पर पुन उठ कर पी लेने पर पुनर्जन्म नही होता'[७९]। उन्होने व्याख्या की हे—'इस प्रकार जग जाने पर कुण्डलिनी मुक्ति के वृहद् मार्ग मे प्रवेश करती हे, वह मार्ग सुपुम्ना स्नायु हे और सभी केन्द्रो को एक के उपरान्त एक वेधती सहस्रार मे पहुँच जाती है और पुन उसी मार्ग से मूलाधार चक्र को लौट आती है। इस प्रकार के सम्मिलन से अमृत धार का प्रवाह होता है । साधक उसे पीता हे और परम सुख प्राप्त करता है । यही कुलामृत नामक मद्य हे जिसे आध्यात्मिक स्तर वाला साधक पीता हे ।' आध्यात्मिक वर्ग के साधक के विपय मे तन्त्र का कथन है—'पीत्वा पीत्वा विद्यते'। षट्-चक्र-साधना की प्रथम अवस्था मे साधक वहुत देर तक अपनी साँस रोक कर शक्ति के प्रत्येक केन्द्र मे धारणा एव ध्यान का अभ्यास नही कर पाता। वह कुण्डलिनी को सुपुम्ना मे अपने कुम्भक की शक्ति से अधिक देर तक नही रख सकता। अत परिणामत उसे स्वर्गिक अमृत का पान करने के उपरान्त पृथिवी पर अर्थात् उस मूलाधार पर उतर

७७ आमूलाधारमाब्रह्मरन्ध्र गत्वा पुन पुन । चिच्चन्द्र कुण्डली शक्तिसामरस्य सुखोदय ॥ व्योमपकज-निस्यन्दसुधापानरतोनर । सुधापानमिद प्रोक्तमितरे मद्यपायिन ॥ पुण्यापुण्य-पशु हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित्। परे-लय नयेच्चित्त पलाशी स निगद्यते॥ मनसा चेन्द्रियगण सयम्यात्मनि योजयेत्। मत्स्याशी स भवेद्देवि शेषा स्यु प्राणिहिसका ॥ अप्रवुद्धा पशो शक्ति प्रबुद्धा कौलिकस्य च। शक्ति ता सेवयेद्यस्तु स भवेच्छक्ति सेवक ॥ परा-शक्त्यात्ममिथुनसयोगानन्दनिर्भर । य आस्ते मैथुन तत् स्यादपरे स्त्रीनिषेवका ॥ कुलार्णव० (५।१०७-११२)। चौथा तत्त्व मुद्रा है, किन्तु यह शब्द वहुधा साधक से सम्बन्धित शक्ति के लिए प्रयुक्त होता हे।

७८ पलाशी का अर्थ है 'पल को खाने वाला' या 'पल का आनन्द लेने वाला'। पल अर्थ हे 'मास'। 'पल' 'पर' (सर्वोच्च) के लिए भी प्रयुक्त होता हे क्योकि 'र' एव 'ल' उच्चारण-स्थान से एक ही हे और 'अश्' धातु, का अर्थ 'पहुँचना' एव 'खाना' दोनो होता हे। 'मत्स्याशी' का शाब्दिक अर्थ हे 'मत्स्य' को खाने वाला', किन्तु अलौ-किक व्याख्या मे 'मत्स्य' 'मनस्' (मन) + 'स्य' के लिए हे जो 'सयम' का प्रतिनिधित्व करता हे।

७९ जीवन्मुक्त पिवेदेवमन्यथा पतितो भवेदिति। पुन पीत्वा पुन पीत्वा पतित्वा धरणी तले। उत्थाय च पुन पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।। पारानन्दसूत्र (पृ० १७, सूत्र ८१-८२)।

पडना होता है जो कि पृथिवी तत्त्व का केन्द्र हे। साधक को इसका अभ्यास वार-वार करना होता है और लगातार अभ्यास से ही पुनर्जन्म का कारण अर्थात् वासना (इच्छा) दूर होती हे।" यह व्यारया अति गम्भीर एव उत्कृष्ट रूप से मानसिक है। किन्तु किसी प्रकार भी प्रतीति मे वैठने वाली नही हे।

प्रस्तुत लेखक यह जानना चाहता हे कि कितने तन्त्र-लेखको एव कितने तान्त्रिको ने ऊर्ध्वायन के सिद्धान्त को, जो 'तन्त्रज ऐज ए वे ऑव रीयलिजेशन' (आत्मज्ञान के लिए तन्त्र-विधि, कल्चरल हेरिटेज ऑव इण्डिया, जिल्द ४, पृ० २३३-२३५) मे उल्लिखित हे, पचमकारो के आलम्बन की व्यारया करके अनुभव किया हे। प्रथम प्रश्न यह है—'एक अति गम्भीर एव उच्च आनन्द की अवस्था के वर्णन के लिए अश्लील भाषा का प्रयोग क्यो आवश्यक था? मान लिया जाय कि वुड्रोफ ने मद्य की जो व्यास्या की हे वह ठीक हे, तो मत्स्य एव मास की क्या व्याख्या होगी? समर्थको ने जो गूढार्थ 'मत्स्याशी' एव 'मासाशी' के विपय मे दिया है वह भूलभूलैया मात्र हे, उससे कुछ अर्थ स्पष्ट नही हो पाता। कुलार्णव०, परानन्द-सूत्र तथा कतिपय अन्य ग्रन्थो ने सदैव साधारण अर्थ मे ही मद्य, मास एव मत्स्य ऐसे शब्दो का प्रयोग किया है। कुलार्णव० (२।१२६) ने मनु (६।६३ सुरा वै मलमन्नाना आदि) को उद्धृत किया हे। तीन प्रकार की सुरा वनाने की विधि वतायी है (५।१५-२१) और कहता है कि मदो मे सुरा १२वॉ प्रकार है ओर अन्य ११ प्रकार के मद (मद्य) पनस, अगूर, खजूर, गन्ना आदि से वनते हे (५।२६)। कुलार्णव ने कौल आचार मे मद्य पीने के ढग पर प्रकाश डाला है (११।२२-३५)। इसने मास के तीन प्रकार वताये हैं—नभचर जीवो (पक्षियो) के, जलचर के एव स्थलचर के। स्वच्छन्दतन्त्र (कश्मीरी शैवागम पर एक महान् प्रामाणिक ग्रन्थ) मे आया है कि भाँति-भाँति की मछलियाँ एव मास तथा ऐसे भोजन जो चूसे जाते है एव पिये जाते है, शिव की प्रतिमा पर चढाये जाने चाहिए और इस विषय मे कजूसी नही की जानी चाहिए। परानन्दसूत्र के उद्धरण यह भली भाँति प्रकट करते ह कि मद्य, मास एव मैथुन साधारण अर्थ मे ही प्रयुक्त हुये है। परानन्दसूत्र (पृ० ८०-८३) ने साधक द्वारा किये जाने वाले मैथुन का ऐसा अश्लील वर्णन किया है कि यहाँ उसका उद्घाटन करना असम्भव है। देवी-पूजा सविस्तार होती थी, सोलह उपचार किये जाते थे। तो ऐसी स्थिति मे मद्य, मास एव मैथुन को देवी-पूजा के लिए अनिवार्य क्यो माना गया? कुलार्णव एव अन्य तन्त्रो ने वेद की प्रशसा की है, वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किया है तथा उपनिषदो एव गीता के वचन उद्धृत किये है। तब भी दुख की वात है कि उन्होने इस वात का ध्यान नही रखा कि सामान्य जनता पर उनके कथनो एव आचारो का क्या प्रभाव पड सकता हे। मध्यकाल के कुछ ऐसे कौल-सम्प्रदाय-सम्वन्धी ग्रन्थ है, जो मद्य पीने मास खाने एव मैथुन करने का वर्णन अश्लील ढग से करते हे और देवी-पूजा के लिए आवश्यक मानते ह ओर वलपूर्वक कहते है कि इससे मुक्ति मिलती हे। कौलरहस्य (जिसमे १०० श्लोक हे) के दो श्लोको से पता चल जायेगा कि सामान्य लोग पच मकारो के विषय मे क्या धारणा रखते थे [८०]।

८० निधाय धारा वदने सुधाया श्रीचक्रमभ्यर्च्य कुलक्रमेण। आस्वाद्य मद्य पिशित मृगाक्षीमालिंग्य मोक्षं सुधियो लभन्ते।। आस्वादयन्त पिशितस्य खण्डम कण्डपूर्ण च सुधा पिबन्त। मृगेक्षणासङ्गतमाचरन्तो भुक्ति च मुक्ति च वय व्रजाम॥ कौलरहस्य (श्लोक ४ एव ७, डकन कालेज पाण्डुलिपि, सख्या ६५६, १८८४-८७, सवत् १७६०=१७३४ ई० मे प्रतिलिपि वनी)। यह नीलपटदर्शन के सिद्धान्त से मिलाया जा सकता ह। देखिये पाद-टिप्पणी सख्या ६०। भण्डारकर ओरिएण्टल रीसर्च इस्टीच्यूट (पूना) मे एक पाण्डुलिपि (डकन कालेज, सख्या

प्रो० इनिरिख जिम्मर ने अपनी पुस्तक 'आर्ट आव इण्डियन एशिया' (जिल्द १, पृ० १२६-१३०) मे कुछ वक्तव्य दिये ह जो विचारणीय हे। उन्होने जो कुछ कहा हे वह कला-विशेषज्ञ एव भारतीयकला के इतिहासकार के रूप मे कहा हे। उनकी धारणाएँ उडीसा के पुरी एव अन्य मन्दिरो तथा भारत के अन्य स्थानो मे पाये जाने वाले मन्दिरो पर तक्षित तन्त्र सम्बन्धी प्रतिमाओ पर आधारित ह। उनका कहना है कि भारतीय कला के पीछे भारतीय धार्मिक एव दार्शनिक जीवन हे। भारतीय कलाकारो ने भौतिक जीवन की स्थूल आवश्यकताओ पर भी ध्यान दिया हे। भारतीयो ने न केवल योग पर ध्यान दिया हे, प्रत्युत उन्होने भोग एव प्रेम की पूर्ण अनुभूति को भी स्थान दिया हे। हिन्दू एव बौद्ध परम्पराओ मे जो प्रतीक प्राप्त होते ह उनसे यह व्यक्त होता हे कि योग एव भोग मे कोई मौलिक आन्तरिक विरोध नही ह। योग के कठोर अनुशासनो मे आध्यात्मिक शिक्षक एव पथ प्रदर्शक के रूप मे गुरु का जो कर्म था वह भक्तो एव कामुक सहकर्मियो द्वारा भोग के उपक्रमो मे ग्रहण कर लिया गया। दीक्षित एव अभिमन्त्रित नारी शक्ति के रूप मे प्रकट होती हे ओर दीक्षित एव अभिमन्त्रित पुरुष शिव के रूप मे, ओर दोनो देवी एव देव के एकशरीर या एकमूर्ति के रूप मे अपने भीतर परम महत्ता की अनुभूति गहण करते हे। हमने यह पहले ही कह दिया हे कि प्रो० जिम्मर की यह धारणा त्रुटिपूर्ण है कि तान्त्रिक कृत्यो को योग के भारतीय साम्प्रदायिको ने वाममार्ग के रूप मे विधिवत् अवमानना (अवज्ञा) दी। प्रो० जिम्मर, यह कहते हुए भी त्रुटिपूर्ण हे कि प्रथम शती भर तान्त्रिक कृत्य भारतीय सहज अनुभूति के आधार थे। इस कथन की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नही हे। स्वय तान्त्रिको ने पूजा मे पचमकारो का प्रयोग **वामाचार** कहा हे।

अब हम तान्त्रिको की दो-एक विलक्षण धारणाओ एव आचारो का उल्लेख करेगे। 'आ, ह्री, क्रो' नामक तीन बीजो के पाठ तथा 'ओ आनन्द भैरवाय नम' एव 'ओ आनन्द भैरव्यै नम' के जप से मद्य, मास एव मुद्रा के द्रव्य की शुद्धि की जाती थी[८१]। महानिर्वाण० एव तन्त्रराजतन्त्र मे आया है कि बिना शुद्धि[८२]

६६४, १८८१-१८८५) हे जिसका नाम हे पचमकारशोधनविधि, जिसमे वैदिक मन्त्रो से महानिर्वाणतन्त्र की भाँति ही पचमकारो की शुद्धि का उल्लेख हे।

८१ शुद्धि विना मद्यपान केवल विषभक्षणम्। चिररोगी भवेन्मन्त्री स्वल्पायुर्म्रियतेऽचिरात्।। महानिर्वाण० (६।१३)। सर जॉन वुड्रोफ एक विचित्र व्याख्या उपस्थित करते हे कि बिना भोजन के मद्य अधिक हानि या कष्ट उत्पन्न करता हे तथा मन्त्र-जप एव अन्य कृत्यो का सम्पादन, साधको के विश्वास के अनुसार, मद्य से उत्पन्न शाप को दूर करता हे ओर साधक देवी एव शिव के सम्मिलन का ध्यान मद्य मे करता हे, क्योकि मद्य स्वय एक देवता हे। सत्यत्रेताद्वापरेषु यथा मद्यादिसेवनम्। कलावपि तथा कुर्यात् कुलवर्त्मानुसारत ।। कुलमार्गेण तत्त्वानि शोधितानि च योगिने। ये दद्यु सत्यवचसे नहि तान् बाधते कलि। महानिर्वाण० (४।५६-६०)।

८२ कुलार्णव० (१७।२५) ने 'वीर' की परिभाषा यो की है 'वीतरागमदक्लेशकोपमात्सर्यमोहत। रजस्तमोविदूरत्वाद्वीर इत्यभिधीयते।।' इन उत्कृष्ट गुणो की आवश्यक के रहते हुए भी रुद्रयामल (२८।३१-३६) मे आया है कि वीर को दूसरे की सुन्दर पत्नी (या अपनी) का सम्मान करना चाहिए, जो आभूषणयुक्त हो, जिसकी देह कामुक रागो से व्याप्त हो ओर जो मद्य से उत्फुल्ल हो उठी हो—'अथ वीरो यजेत्कान्ता परकीयामथापि वा। मदनानलतप्ताङ्गीमासवानन्दविग्रहाम् ।।' आदि। महानिर्वाण० (१।५७) ने साधको की तीन श्रेणियाँ बतायी ह—पशु, वीर एव दिव्य, अन्तिम की परिभाषा यो ह—'दिव्यश्च देवताप्राय शुद्धान्त करण सदा। द्वन्द्वा-

के मद्य-सेवन, विप-सेवन के सदृश हे, जो व्यक्ति ऐसा करता है वह वहुत दिनो तक रुग्ण रहेगा और आयु के पूर्व ही शीघ्र मर जायेगा । मद्य-सेवन वह भी कर सकता है जिसे कुछ पूर्णता प्राप्त हो चुकी है ओर वह देवी के ध्यान मे डूवकर अलोकिक आनन्द की अनुभूति कर लेता हे, जव वह उस स्थिति के ऊपर अधिक पीता हे तो वह पापी हो जाता ह (आर देखिए कुलार्णव० ७। ९७-९८, जहाँ पर अन्तिम वात की ओर सकेत हे)।

आडम्बरहीन लोगो के दृष्टिकोण से एक अत्यन्त विद्रोहपूर्ण कृत्य हे चक्र-पूजा (घेरे मे होने वाली पूजा)। बरावर सख्या मे पुरुष एव नारी, विना जाति-भेद के, यहा तक कि सन्निकट रक्त सम्वन्धी जन भी गुप्त रूप से रात्रि मे मिलते हे और एक वृत्त मे वैठते ह (देखिए कुलावलीनिर्णय, ८।७६)। एक यन्त्र (चित्र) के रूप मे देवी चित्रित होती हे। चक्र का एक नेता होता हे। नियम ऐसे थे कि केवल वीर स्थिति मे कुशल व्यक्ति ही सम्मिलित किये जाते थे[८३] और पशु भाव वाले (साधारण जन लोग जो अपने पशुत्व पर विजय नही पा सके है) सर्वथा त्याज्य थे। यह कैसे विश्वास किया जा सकता था कि 'चक्र' के नेता मे वे उत्तम गुण विद्यमान है जो ऊपर उल्लिखित हे ओर वह नेता उन गुणो से युक्त लोगो को ही सम्मिलित करेगा? उपस्थित स्त्रियो मे सभी अपनी-अपनी कचुकी को एक पात्र (या आधार या स्थान) मे रख देती थी और उपस्थित पुरुषो मे प्रत्येक उनमे से किसी एक को उस रात्रि के लिए चुन लेता था (अर्थात् पात्र मे से कचुकी को उठाकर उसकी मालकिन को चुन लेता था)। इस चक्र के आचार ने तान्त्रिको को अवश्य भर्त्सना एव निन्दा का पात्र वनाया होगा। इसी से कुलार्णव०[८४] ने अपनी सम्मति दी है कि चक्रपूजा गुप्त रीति से होनी चाहिए। 'श्री चक्र मे जो कुछ भला या वुरा होता हे, उसे जनता मे कभी

तीतो वीतराग सर्वभूतसम क्षमी।। (वही १।५५)। इन तीन भावो के विषय मे तन्त्र विभिन्न मत रखते हे। कालीविलासतन्त्र मे आया है कि दिव्य प्रकार के लोग केवल सत्ययुग एव त्रेतायुग मे होते थे, वीर प्रकार के लोग केवल त्रेतायुग एव द्वापर युग मे पाये जाते थे, ये दोनो कलियुग मे नही होते हे, केवल पशु-भाव कलियुग मे बचा रह गया है (६।१० एव २१)।

८३ देखिए 'शक्ति एव शाक्त' (पृ० ३५४), फर्कुहर का ग्रन्थ 'आउटलाइस आव दि रिलिजियस लिटरेचर आव इण्डिया (पृ० २०३), महानिर्वाणतन्त्र ८।२०४-२१९। श्रीचक्र वृत्तात शुभ वा यदि वाशुभम्। कदाचिन्नैव वक्तव्यमित्याज्ञा परमेश्वरि।। कुलधर्मादिकं सर्वं सर्वावस्थासु सर्वदा। गोपयेच्च प्रयत्नेन जननीजारगर्भवत्। वेद-शास्त्रपुराणानि स्पष्टानि गणिका इव। इय तु शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव।। कुलार्णव० (११।७९, ८४, ८५)। किन्तु महानिर्वाण० (४।७९-८०) मे शिव द्वारा कहलाया गया है कि कौलिक साधना खुले रूप मे होनी चाहिए और उन्होने अन्य तन्त्रो मे जो यह कहा है कि कौलिक धर्म को गोपनीय रखना दोषयुक्त नहीं है, वह अब, जब कि कलियुग प्रबल हो गया हे, ठीक नही है।

८४ शेषतत्त्व महेशानि निर्वीय प्रवले कलौ। स्वकीया केवला ज्ञेया सर्वदोषविवर्जिता।। अथवात्र स्वय-म्भ्वादि कुसुम प्राणवल्लभे। कथित तत्प्रतिनिधौ कुसीद परिकीर्तितम।। महानिर्वाण० (६।१४-१५) 'अत्र' का अर्थ हे 'शेप तत्व के निवेदन अर्थात् हव्य मे', शेषतत्त्व का अर्थ है पाँचवाँ तत्त्व अर्थात् मैथुन। टीकाकार ने व्याख्या दी हे 'कुसीद रक्तचन्दनम्'। शक्ति होने वाली स्त्रियाँ तीन वर्गो मे विभाजित हे, यथा--स्वीया (अपनी पत्नी), परकीया (दूसरे की पत्नी) एव साधारणी (वह स्त्री जो वेश्या हो)।

नही कहना चाहिए, यह (परमात्मा का) अनुशासन है, चक्र-पूजा की घटना का उल्लेख कभी भी नही होना चाहिए।' १८ वी शती मे लिखित सुधारवादी महानिर्वाणतन्त्र का कथन है कि कलियुग (जिसमे लोग सामर्थ्य-हीन होते ह और पापमय युग का प्रभाव अधिक होता है) मे पाँचवे तत्त्व (मैथुन) के लिए अपनी पत्नी ही शक्ति हो सकती है, क्योकि उस स्थिति मे कोई अपराध नही हो सकता, या उसके स्थान पर लालचन्दन लेप का प्रयोग हो सकता है। श्री अच्युतराय मोदक कृत 'अवैदिकधिक्कृति' (अवैदिक प्रयोगो एव आचारो की भर्त्सना) मे पचमकारो के सम्प्रदाय की कटु आलोचना की गयी है। देखिए तारापोरेवाला कमेमोरेशन, वाल्यूम (डकन कालेज रिसर्च इस्टीच्यूट, पृ० २१४–२२०) जहाँ अच्युतराय मोदक पर निबन्ध है। उनका ग्रन्थ १८१५ ई० मे प्रणीत हुआ था।

स्वभावत सामान्य लोगो ने, जो शक्ति, नाद, विन्दु आदि के गहन एव सूक्ष्म दर्शन को न तो पसन्द करते थे और न समझ सकते थे, कौतूहल एव अतिस्पृहा के साथ तन्त्रो द्वारा व्याख्यायित पचमकारो एव मन्त्रो, बीजो, चक्रो आदि द्वारा की जाने वाली शक्ति-पूजा के सरल मार्ग को अपना लिया, और कुछ लोग गुरुओ, शाक्तो एव तान्त्रिको का रूप धारण करके कालान्तर मे अति गर्हित हो गये।

तन्त्रो का मार्ग, अपने उच्चतर स्तर पर, **उपासना या भक्ति** का था, किन्तु यह बहुधा जादूगरी एव अनैतिकता के गर्त्त मे गिर जाया करता था। पूजित होने वाली देवी, परमेश्वरी, **उपासक** के लिए तीन रूपो वाली थी, यथा—**स्थूल, सूक्ष्म** एव **परा**। प्रथम रूप मे देवी हाथो-पैरो आदिवाली होती थी और भक्त लोग उसकी पूजा हाथो एव आँखो से करते थे, दूसरे रूप मे अच्छे गुरु से प्राप्त मन्त्र होते थे जो श्रवण एव वाणी की इन्द्रियो द्वारा ग्रहण किये जाते थे, तीसरे (परा) रूप मे देवी को साधक मन द्वारा समझता था और वह विभु चेतना आदि के रूप मे वर्णित होती थी (देखिए नित्याषोडशिका, ६।४९–५०)।

कुछ आधुनिक लेखको ने सम्पूर्ण तान्त्रिक साहित्य के प्रति अन्याय किया है और उसे अभिचार आदि का जादू या अश्लीलतापूर्ण कहा है। प्रस्तुत लेखक उन लोगो के समान नही है जो किसी बात को न समझ पाने पर उसे त्रुटिपूर्ण, असत्य या व्यर्थ समझते है। प्रस्तुत लेखक इस बात मे विश्वास करता है कि कुछ उच्चतर मन स्थिति वाले तान्त्रिको तथा कुछ तन्त्र-ग्रन्थो का उद्देश्य था योग-क्रियाओ द्वारा आध्यात्मिक शक्तियो की प्राप्ति करना, परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना (जिसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव या देवी के नाम से पुकारा जाता है) तथा मोक्ष की प्राप्ति करना। प्रस्तुत लेखक यह जानता है कि उपर्युक्त बहुत-सी बातो का आधार तथा कुछ तन्त्र-ग्रन्थो मे उल्लिखित जादू-टोना का आरम्भ या स्रोत, बहुत कम मात्रा मे ही, ऋग्वेद, अथर्ववेद, साम-विधान ब्राह्मण एव अन्य वैदिक ग्रन्थो मे पाया जाता है। भले ही प्रस्तुत लेखक को, जिसने बहुत-से तन्त्रो एव पतजलि के योगसूत्र को भाष्य एव टीकाओ के साथ गम्भीरता एव सावधानी के साथ पढा है, कोई रहस्य-वादी अनुभूति नही हुई है, किन्तु यह लेखक यह मानने को सन्नद्ध नही है कि पैगम्बरो, सन्तो, कवियो आदि को रहस्यवादी दर्शन एव अनुभव नही प्राप्त हुए थे। मानव की मानस शक्तियाँ विशद् एव अज्ञात है। यह बात ठीक है कि कुछ तान्त्रिक ग्रन्थो ने सामान्य सामाजिक जीवन के नियमो एव परम्पराओ (समाजधर्म) मे अन्तर प्रकट किया है, किन्तु तान्त्रिक पूजा के विचित्र स्वरूपो मे, जिनमे जब तक वह चलती रहती है, जाति एव लिग का विभेद नही खडा किया जाता। यह बात भी ठीक है कि तन्त्र-ग्रन्थो ने स्त्रियो को पुरुषो के समान माना और उन्हे उच्च स्थिति प्रदान की, इतना ही नही, उन्होने सभी के लिए देवी की पूजा को प्रतिष्ठित कर वैष्णवो, शैवो एव अन्य लोगो को एक-दूसरे के विरोध मे जाने एव विवाद से बचाने के लिए एक ही मञ्च स्थापित किया। किन्तु इस विषय मे अधिक सफलता नही प्राप्त हो सकी और वैष्णव

एव शैव आपस मे लडते-झगडते चले गये और स्वय तान्त्रिक पाँच वर्गो मे बँट गये, यथा—शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर एव गाणपत्य। आगे चलकर स्वय तान्त्रिको के बीच कादिमत, हादिमत आदि सिद्धान्त परस्पर विरोधी रूप पकडते गये।

जिन बातो मे तान्त्रिक ग्रन्थ सस्कृत के अन्य धार्मिक ग्रन्थो से भिन्न है वे ये है —अलौकिक अथवा अद्भुत शक्तियो की उपलब्धियो का प्रतिवचन [८५], तान्त्रिक साधना द्वारा बहुत ही शीघ्र परम तत्त्व की अनुभूति प्राप्त करना (देखिए प्रिसिपुल्स आव तन्त्र, भूमिका, पृ० १४), वाञ्छित फलो की प्राप्ति के लिए पचमकारो द्वारा देवी की पूजा पर बल देना (महानिर्वाण० ५।२४, 'पचतत्त्व विहीनाया पूजाया न फलोद्भव' एव मन्त्रो, बीजो (ऐसे अक्षर जिनका अर्थ सामान्य लोग नही समझते), न्यासो, मुद्राओ, चक्रो, यन्त्रो तथा अन्य ऐसी बातो को, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, महत्ता देना। तन्त्रवाद की भर्त्सना के मूल मे हे उसका मद्य, मास, मैथुन आदि पर बल देना, जिनके द्वारा देवी की पूजा अति प्रभावशाली मानी जाती हे, उसकी भर्त्सना का अन्य कारण है वह सिद्धान्त कि केवल मन्त्र या मन्त्रो के पाठ से मद्य, मास तथा अन्य तत्त्व शुद्ध हो जाते है, देवी को समर्पित कर देने से तथा उन पर ध्यान करने से वे ग्रहण करने योग्य हो जाते ह, जबकि उसी साँस मे यह बात भी कही जाती है कि मद्य एव मास का ग्रहण बिना इस कृत्य के पापमय हे। ये बाते उन लोगो को जो कौल नही है, विरोध मे खडा करती हैं। बहुधा लोग यह समझते हैं कि तन्त्र की शिक्षा सामान्य लोगो को भ्रष्ट कर देने वाली है और उसमे कपट एव छल की बास (गन्ध) आती है।

कुछ तन्त्रो ने ऐसी बाते कही है जो अतान्त्रिको को उच्छृखलतापूर्ण जँचती हे। कौलावलिनिर्णय (४।१५) मे आया है—'शाक्तो के हित मे सुख एव मोक्ष के लिए पाँचवे तत्त्व (मैथुन) से बढकर कोई अन्य तत्त्व नही है, केवल पाँचवे तत्त्व (के अभ्यास) से साधक सिद्ध हो जाता है। यदि वह केवल पहले (अर्थात् मद्य) का सेवन करता हे तो वह **भैरव** होता है, यदि वह दूसरे (अर्थात् मास) का सेवन करता है तो **ब्रह्मा** होता है, तीसरे (मत्स्य) से **महाभैरव** होता है, चौथे (मुद्रा) से वह **साधको मे श्रेष्ठ** होता है'। इसी तन्त्र ने, आगे पुन कहा है—'सभी स्त्रियाँ (शाक्त) साधक के सभोग के योग्य होती है, केवल गुरु की पत्नी एव उन शाक्तो की, जो वीर अवस्था को प्राप्त हो गये रहते हे, पत्नियो को छोड कर,—किन्तु जो लोग

८५ सर जॉन वुड्रौफ (प्रिसिपुल्स आव तन्त्र, भाग २, भूमिका, पृ० १२-१४) का कथन हे कि तान्त्रिक ग्रन्थ अन्य धार्मिक ग्रन्थो से एक विषय मे विभिन्न हे और वह हे इसके कृत्य के विभिन्न अग, यथा—मन्त्र, बीज, मुद्राएँ, यन्त्र, भूतशुद्धि, और केवल इन्ही बातो के कारण किसी ग्रन्थ को तान्त्रिक ग्रन्थ कहा गया। और देखिए ई० ए० पेयने कृत 'शाक्तज' (पृ० १३७) जहाँ ऐसा ही मत प्रकाशित किया गया है। सर जॉन वुड्रौफ ने पेयने के ग्रन्थ की समीक्षा (जे० आर० ए० एस०, १९३५, पृ० ३८७) करते हुए स्वय माना हे कि शाक्त कृत्य की विशेषता हे इसका मन्त्र, इन्द्र-जाल सम्बन्धी इसके अश और इसका वह भाग जो गुप्त रहता है, सामान्यत जहाँ योग होता हे वहाँ भोग नहीं होता, किन्तु शाक्त सिद्धान्त मे व्यक्ति योग एव भोग दोनो की उपलब्धि कर सकता है और यही उस सिद्धान्त की स्पष्ट एव गहन विशेषता हे। यहाँ तक कि बौद्ध वज्रयान तन्त्रो ने बोधि (देखिये गुह्यसमाज०, पृ० १५४, साधनमाला, १, पृ० २२५ एव २, पृ० ४२१ एव ज्ञानसिद्धि १।४ ये तु सत्त्वा समारूढा सर्वसकल्पवर्जिता। ते स्पृशन्ति परा बोधि जन्मनीहैव साधका ॥) की प्राप्ति को परम उद्देश्य माना है।

अद्वैतावस्था को पहुँचे रहते हैं उनके लिए कोई नियन्त्रण नही हे ओर न कोई व्यवस्था है। पवित्र के लिए सभी कुछ पवित्र हे। केवल वासना ही दूषण के योग्य हे [८६]। इसी सदर्भ मे उस ग्रन्थ ने नियम विरुद्ध एव कदाचारमय सभोग के विषय मे कुछ ऐसे तुच्छ एव अश्लील तर्क उपस्थित किये हे जिन्हे हम यहाँ नही लिख सकते। इस प्रकार के वक्तव्यो के लिए अन्य तन्त्र भी कुख्यात ह। उदाहरणार्थ, कालीविलासतन्त्र (१०।२०-२१) ने शाक्त भक्त को परनारी के साथ सभोग की अनुमति दी है, किन्तु ऐसी व्यवस्था दी ह कि वीर्यपात न होने पाये, उसने दृढता के साथ यह कहा है कि यदि साधक ऐसा कर पाता हे तो वह सर्वसिद्धीश्वर हो जाता हे। वडे आश्चर्य की बात तो यह है कि इस ग्रन्थ के लेखक ने ऐसी लज्जास्पद वात शकर द्वारा पार्वती से कहलायी है। मद्य के विषय मे उस ग्रन्थ मे आया है—'जिस प्रकार वैदिक यज्ञो मे ब्राह्मणो के लिए सोमपान का विधान ह, उसी प्रकार, (कौल धर्म के आचार के अनुसार) उचित कालो मे मद्य सेवन करना चाहिए। क्योकि इससे भोग एव मोक्ष दोनो प्राप्त होते ह, केवल उनके लिए मद्य सेवन निषिद्ध हे जो फलार्थी एव अहकारी है, किन्तु जो अहकार रहित ह उनके लिए न तो निषेध ओर न विधि। जो लोग भरेपाश निर्मुक्त (अन्तर करने के पाश से रहित) ह उन्हे मन्त्रार्थ के स्मरण एव मन को स्थिर रखने के लिए मद्यपान करना चाहिए, किन्तु जो व्यक्ति केवल सुख के लिए मद्य तथा अन्य तत्त्वो का सेवन करता हे वह पातकी है'। इस प्रकार के वक्तव्यो से समाज अवश्य दूषित हो गया होगा और यदि तन्त्रो के विरोध मे बाते कही जाती रही ह तो वे ठीक ही थी। यदि कभी किसी एक व्यक्ति ने अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त भी कर ली और आध्यात्मिक रूप से पर्याप्त ऊपर उठ गया तो सैकडो ऐसे पथभ्रष्ट, छली, कपटी, कदाचारी एव व्यभिचारी व्यक्ति रहे होगे जिन्होने अबोध लोगो, विशेषत नारियो को पथभ्रष्ट कर दिया होगा।

बहुत थोडे-से पुराणो, यथा—देवीपुराण, कालिका, देवीमहात्म्य (मार्कण्डेयपुराण मे) ने ही देवीपूजा मे मद्य, मास एव मत्स्य ऐसे कुत्सित मकारो के प्रयोग की चर्चा की हे। छठी एव सातवी शती के उपरान्त पुराणो ने शाक्तो एव तान्त्रिको की विशिष्ट कृत्य-सस्कार-सम्बन्धी विशेषताओ का समावेश करना आरम्भ कर दिया। अपरार्क ने देवीपुराण [८७] से उद्धरण देकर स्थापक (जो देवी प्रतिष्ठा सम्पादन करता हे)

८६ अथात सप्रवक्ष्यामि पञ्चतत्त्वविनिर्णयम्। पञ्चमात्तु पर नास्ति शाक्ताना सुखमोक्षयो। केवलै पञ्चमैरेव सिद्धो भवति साधक। केवलेनाद्ययोगेन साधको भैरवो भवेत्। आदि-आदि, कौलावलीनिर्णय ४।१५-१६, गुरवीरवधूस्त्यक्त्वा रम्या सर्वाश्च योषित। एता वर्ज्या प्रयत्नेन सन्दिग्धाना च सर्वदा ॥ अद्वैताना च कुत्रापि निषेधो नैव विद्यते। अत एव यदा यस्य वासना कुत्सिता भवेत्। तदा दोषाय भवति नान्यथा दूषण क्वचित्।। कौलावलीनिर्णय ८।२२१-२२२, २२६, पवित्र सकल चैव वासना कुत्सिता भवेत्। वही, (१७।१७०)। दीक्षित परनारीषु यदि मैथुनमाचरेत। न बिन्दो पातन कार्यं कृते च ब्रह्महा भवेत्। यदि न प्रपतेद् बिन्दु परनारीषु पार्वति। सर्वसिद्धीश्वरो भूत्वा विहरेद् भूमिमण्डले।। कालीविलासतन्त्र (१०।२०-२१)।

८७ यदपि देवीपुराणे—वामदक्षिणवेत्ता यो मातृवेदार्थपारग। स भवेत्स्थापक श्रेष्ठो देवीन-मातरा (तृका?) सु च। पञ्चरात्रार्थकुशलो मातृतन्त्रविशारद। आदि—अपरार्क० (पृ० १६), इसके उपरान्त पुन मत्स्य (२६५।१-५) से स्थापक के गुणो के विषय मे उद्धरण आया हे जिसमे वाम, दक्षिण एव तन्त्र की ओर कोई सकेत नही हे। यह सब भागवत से लिये गये अन्य उद्धरण यह बताते हे कि मत्स्य का प्रणयन देवीपुराण एव भागवतपुराण से कई शतियो पूर्व हो चुका था।

की अर्हताओ का उल्लेख किया है, यथा--उसे देवी एव माताओ की प्रतिमाओ का सर्वश्रेष्ठ स्थापक होना चाहिए, उसे पूजा के वाम (विरोधी) एव दक्षिणमार्गो का ज्ञान होना चाहिए, उसे मातृसम्बन्धी वेद का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, उसे पचरात्रार्थो मे प्रवीण होना चाहिए और मातृ-तन्त्रो का विशारद होना चाहिए। कालिकापुराण के कई अध्यायो (५४) मे मन्त्रो, कवचो, मुद्राओ, न्यासो आदि का उल्लेख है । भागवतपुराण एव अग्नि० (३७२।३४) [८८] मे स्पष्टत आया है कि देवताओ एव विष्णु की पूजा तीन प्रकार की होती है—**वैदिकी तान्त्रिकी एव मिश्र,** जिनमे प्रथम एव तृतीय तीन उच्च वर्णो के लिए एव द्वितीय शूद्रो के लिए है। भागवत-पुराण (११।३।४७ एव ४९) ने तन्त्रो मे उल्लिखित केशव-पूजा को उनके लिए व्यवस्थित माना है जो हृदय की ग्रन्थि (गाँठ या क्लेश) दूर कर देना चाहता है [८९]। इसने भी वैदिकी एव तान्त्रिकी दीक्षा (११।११।३७) का उल्लेख किया है और तान्त्रिक विधियो यथा—विष्णु के अगो, उपागो, आयुधो एव अल-करणो की ओर निर्देश किया है [९०] । कुछ पुराणो एव मध्यकालीन निबन्धो ने तान्त्रिको के मन्त्रो, जप, न्यास, मण्डल, चक्र, यन्त्र तथा अन्य समान बातो का उपयोग किया है। उदाहरणो द्वारा इसे हम आगे उल्लिखित करेगे। १६ उपचारो ऐसे सरल एव सामान्य विषय मे वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० १५९) एव एकादशीतत्त्व ने प्रपचसारतन्त्र (६।४१-४२) से उद्धरण लिया है।

पुराणो एव कुछ स्मृतियो ने सभी उद्देश्यो की पूर्ति के लिए ५, ६, ८, १२, १३ एव अधिक अक्षरो के मन्त्रो की व्यवस्था की है। कुछ मन्त्र नीचे पादटिप्पणी मे दिये जा रहे है [९१]। मेधातिथि या

८८ वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रो विष्णोर्वै त्रिविधो मख । त्रयाणामीप्सितेनैकविधिना हरिमर्चयेत् । अग्नि० (३७२।३४) ।

८९ य आशु हृदयग्रन्थि निर्जिहीर्षु परात्मन । विधिनोपचरेद् देव तन्त्रोक्तेन च केशवम् ।। लब्धानुग्रह आचार्यात्तेन सन्दर्शितागम । पिण्ड विशोध्य सन्यासकृतरक्षोर्चयेद्धरिम् ।। भागवत (११।३।४७ एव ४९)। यहाँ पर 'पिण्डशोधन' महानिर्वाणतन्त्र (५।९३-१०५) ऐसे तन्त्रो मे व्यवस्थित 'भूतशुद्धि' की ओर निर्देश करता है जो पूजाप्रकाश (पृ० १२९-१३३) ऐसे पश्चात्कालीन मध्यकालीन मे भी आ गया है। न्यास भी दुष्टता से रक्षा करने के लिए उल्लिखित है।

९० तान्त्रिका परिचर्याया केवलस्य श्रिय पते । अगोपागायुधाकल्प कल्पयन्ति यथैव हि। भागवत (१२।-११।२)।

९१ देखिये शारदातिलक (१।७३) जहाँ ५ या इससे अधिक अक्षरो के मन्त्रो का उल्लेख है । एक पञ्चाक्षर मन्त्र है 'नम शिवाय' (लिगपुराण १।८५), यही छह अक्षरो वाला मन्त्र हो जाता है जब 'ओम्' पहले लगा दिया है। छह अक्षरो वाले अन्य मन्त्र है 'ओ नमो विष्णवे (वृद्धहारीतस्मृति ६।२।३), ओ नमो हराय (हेमाद्रि, व्रत, भाग १, पृ० २२७), श्रीरामरामरामेति। 'खखोल्काय नम' आदित्य का मन्त्र है (हेमाद्रि द्वारा भविष्यपुराण से उद्धृत, देखिये व्रत, २, पृ० ५२१)। कल्पतरु (व्रत, ९ एव १९९) ने भी इसको उद्धृत किया है और पृ० १९९ पर निम्बसप्तमी मे इसे मूलमन्त्र कहा है, जिसका वर्णन भविष्य, ब्राह्मपर्व (अध्याय २१५ एव २१६) से लिया गया है। आठ अक्षरो वाले मन्त्र ये है—ओ नमो नारायणाय (नारदपुराण १।१६।३८-३९, ब्रह्मपुराण ६०।२४, वराहपु० १२०।७), ओ नमो वासुदेवाय (वैखानसस्मार्तसूत्र ४।१२, नरसिंहपु० ६३।६, अपरार्क द्वारा उद्धृत, मत्स्य पु० १०२।४, स्मृतिचन्द्रिका द्वारा मूलमन्त्र के रूप मे उद्धृत, १, पृ० १८२), १२ अक्षरो वाला एक मन्त्र

मनु का कथन है कि 'मन्त्र' शब्द का प्रमुख अर्थ है ऋग्वेद, यजुर्वेद एव सामवेद का कोई अग, जिसे वे लोग, जिन्होने वेदाध्ययन कर लिया है, वैसा मानते है और 'अग्नये स्वाहा' ऐसी अभिव्यक्तियाँ, जो 'वैश्वदेव' आदि कृत्य मे होती है, केवल गौण अर्थ मे, मन्त्र के रूप मे, स्तुति के लिए प्रयुक्त होती है (मेधातिथि, मनु ३।१२१)। वैदिक धारणा ऐसी रही है कि मन्त्र मे महान् शक्ति होती है और उसका पाठ वाछित फल के लिए शुद्ध रूप मे ही होना चाहिए। जब मन्त्र का पाठ अशुद्ध होता है अर्थात् जब उच्चारण एव अक्षर अशुद्ध होता है या उसका उपयोग अयुक्त होता है तो वह शब्द के रूप मे वज्र हो जाता है और यजमान को नष्ट कर देता है (तै० स० २।४।१२।१ एव शतपथब्रा० १।६।३।८-१६)। वैदिक मन्त्र चार प्रकार के है, यथा **ऋक्** (जो मात्रिक होता है), **यजुष्** (जो मात्रिक नही भी हो सकता है, किन्तु वाक्य अवश्य होता है), **साम** (जो गाया जाता है) एव **निगद** (अर्थात् प्रैष जिसका अर्थ है ऐसे शब्द जो एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को कोई कर्म करने के लिए सम्बोधित होते है, यथा 'स्रुच सम्मृड्ढि, प्रोक्षणीरासादय')। निगद स्वरूप मे यजु ही होते है। किन्तु उनमे मूल यजु से अन्तर यह होता है कि वे उच्च स्वर से पढे जाते है, किन्तु यजु सामान्यत धीमे स्वर से कहे जाते है। सबसे अधिक पवित्र मन्त्र है गायत्री (ऋ० ३।६२।१०)। अथर्ववेद ने इसे वेदमाता (१९।७१।१) कहा है। बृहदारण्यकोपनिषद् (५।१४) मे गायत्री की बडी सुन्दर प्रशस्ति गायी गयी है। 'ओ' पवित्र अक्षर है, ब्रह्म का प्रतीक है और तन्त्र भाषा मे बीज कहा जा सकता है। 'ओ', 'फट्' एव 'वषट्' ऐसे थोडे-से वैदिक अक्षर है जिनका कोई अर्थ नही है किन्तु वे तन्त्र-भाषा मे बीज-मन्त्र है। एक बीज निघण्टु (बीज मन्त्रो का कोश) है, जो 'तान्त्रिक टेक्ट्स' (जिल्द १, पृ० २८-२९) मे मुद्रित है, और जिसमे 'ह्री, श्री, क्री, हु, फट्' ऐसे बीज दिये हुए है और उनके प्रतीको का उल्लेख है। ऐतरेयब्राह्मण (३।५)) मे यह लगभग बारह बार कहा गया है, यथा—"जब यह **रूपसमृद्ध** (रूप मे परिपूर्ण) होता है तो यज्ञ की पूर्णता है अर्थात् जब सम्पादित होते हुए यज्ञ की ओर ऋक् मन्त्र सीधे ढग से सकेत करता है (एतद्वै यज्ञस्य समृद्ध यद्रूप-समृद्ध यत्कर्म क्रियमाण मृगभिवदति)। निरुक्त (१।१५-१६) ने कौत्स के इस मत पर कि मन्त्रो का कोई अर्थ नही है (अर्थात् वे उद्देश्यहीन है, उनका कोई उपयोग नही है), एक लम्बा निरूपण उपस्थित किया है। इसी प्रकार का एक लम्बा विवाद पूर्वमीमासासूत्र (१। २।३१) मे भी है। जैमिनी का कथन है कि वेद मे प्रयुक्त शब्दो के अर्थ एव लोगो द्वारा प्रयुक्त शब्दो के अर्थ मे कोई अन्तर नही है और शबर ने अपने भाष्य (पू० मी० सू० १।२।३२) मे इतना जोड दिया है कि मन्त्रो का यज्ञो मे प्रयोग केवल अर्थ को प्रकट करने के लिए ही होता है। वैदिक मन्त्र क्या है, यह बताना कठिन है, और जैसा कि शबर ने कहा है, यह सामान्यत समझा जाता है कि वे श्लोक या वचन मन्त्र है जिन्हे विद्वान् लोग वैसा मानते है। सम्पूर्ण वेद पाँच वर्गो मे विभक्त है—**विधि** (आज्ञा देने वाले वचन, यथा—'अग्निहोत्र जुहुयात्'), **मन्त्र**, **नामधेय** (नाम, यथा—'उद्भिदा यजते' मे 'उद्भिद्' एव 'विश्वजिता यजते' मे 'विश्वजित्' ऐसे नाम), **निषेध** (यथा—'नानृत वदेत्' अर्थात् झूठ नही बोलना चाहिए) एव **अर्थवाद** (व्याख्यात्मक या प्रशसात्मक वचन, यथा—वायु एक देवता है, जो सबसे अधिक तेज चलते है)। निरुक्त (१।२०) मे प्राचीन मत का उल्लेख है कि ऋषियो

यह है—ओ नमो भगवते वासुदेवाय (नारदपु० १।१६।३८-३९, नरसिंहपु० ७।४३), तेरह अक्षरो का एक मन्त्र यह है—'श्रीरामजयरामजयजयरामेति', १६ अक्षरो का एक मन्त्र ये है—'गोपीजनवल्लभचरण शरण प्रपद्ये' (नारद पु०२।५९।४४) एव 'ह्रीं गौरि रुद्रदयिते योगेश्वरि हु फट् स्वाहा' (शारदातिलक ९।९९)।

को धर्म का प्रज्ञात्मक प्रत्यक्षीकरण था और उन लोगो ने अपने पश्चात् आने वालो को जिन्हे धर्म की प्रज्ञात्मक अनुभूति नही थी उन मन्त्रो का प्रेषण मौखिक शिक्षा द्वारा किया। ऋग्वेदीय काल मे भी ऐसा समझा जाता था कि मन्त्रो एव स्तोत्रो से आहूत होकर देवता यज्ञो मे आयेगे ओर मन्त्रो एव स्तोत्रो के पाठको को रक्षा, वीरपुत्र, पशु, धन-सम्पत्ति, विजय एव सभी प्रकार की वस्तुएँ प्रदान करेगे (देखिए ऋ० १।१०२।१-५, २।२४-१५-१६, २।२५।२, ३।३१।१४, ६।२०।७, ६।७२।६, १०।७८।८, १०।१०५।१)। हमने यह बात बहुत पहले देख ली है कि पुराणो ने बहुत-से धार्मिक कृत्यो के लिए स्वय अपने मन्त्र प्रणीत किये थे जो महत्त्व-पूर्ण है और निरर्थक नही है।

मन्त्र तन्त्रशास्त्र के हृदय एव अन्तर्भाग कहे जाते है, इसी से कभी-कभी तन्त्रशास्त्र को मन्त्रशास्त्र भी कहा जाता है। प्रपचसार एव शारदातिलक ऐसे तान्त्रिक ग्रन्थो मे जो सिद्धान्त हे, उसे सक्षेप मे इस प्रकार रखा जा सकता है —मानव शरीर मे दस **नाडियाँ** हे, जिनमे प्रमुख तीन ह, यथा—**इडा** (वायी ओर, वाये अण्डकोष से लेकर वायी नासिका तक), **सुषुम्ना** (शरीर के मध्य मे रीढ की नाडी मे) एव **पिगला** (दाहिनी ओर, दाहिने अण्डकोष से लेकर दाहिनी नासिका तक)। कुण्डलिनी सर्प की भाँति कुण्डली मार कर **मूलाधार-चक्र** मे सोती रहती है। यह शब्दब्रह्म का रूप है। देवी (शक्ति) कुण्डलिनी का रूप धारण करती हे, सभी देवता देवी मे निवास करते है और सभी मन्त्र उसके रूप है (शारदातिलक १।५५-५७)। यह हमने देख लिया है कि ज्योति के सम्पर्क मे आ जाने पर किस प्रकार शक्ति चेतन हो उठती है ओर उसमे सृष्टि या रचना करने की इच्छा उत्पन्न होती है और तब वह घनीभूत हो जाती है और विन्दु के रूप मे प्रकट होती है। काल के कारणत्व के द्वारा विन्दु तीन भाग मे बँट जाता है, यथा—**वीज, सूक्ष्म** (अर्थात् नाद, जो वीज विन्दु है) एव **पर** (अर्थात् वह विन्दु जो क्रिया विन्दु है)। यह अन्तिम, अव्यक्त स्वर के स्वभाव वाला हे और ऋषियो द्वारा **शब्दब्रह्म** कहा जाता है (शारदातिलक १।११-१२, प्रपचसार १।४१)। शब्दब्रह्म सभी पदार्थो मे चेतना के रूप मे विद्यमान रहता है, यह कुण्डलिनी के रूप मे सभी जीवित मानवो की देह मे स्थित रहता हे और तव गद्य-पद्य आदि के अक्षरो के रूप मे प्रकट होता है और वायु द्वारा कण्ठ, तालु, दन्तो आदि मे पहुँचता है। इस प्रकार से उत्पन्न स्वर **अक्षर** कहे जाते है और जब वे लिखे जाते हे तो **वर्ण** (वर्णमाला के अक्षर, मातृका, जो अ से लेकर क्ष तक ५० है) कहे जाते है। मूलाधारचक्र से उठते हुए स्वर की उत्पत्ति की उत्तेजना **'परा'** (वाक्) कही जाती हे, और जब यह स्वाधिष्ठानचक्र मे पहुँचती है तो **पश्यन्ती**, हृदय मे पहुँचती है तो **मध्यमा** तथा मुख मे पहुँचती हे तो **वैखरी** कही जाती है। अक्षर एव वर्ण दोनो कुण्डलिनी ही ह जो क्रम से वाणी मे स्फुट एव लिखावट मे दृश्य या चक्षुग्राह्य होते हे। सभी मन्त्र (कुछ लोगो के मत से वे ७ करोड है) वर्णमाला के वर्णो से विकसित हुए हे और तान्त्रिक लोग वर्णो को जीवित (चेतन) स्वर-शक्तियाँ मानते हे। ह्री, श्री, क्री के समान वीजमन्त्र ही देवता के रूप को दृश्य बनाते है (महानिर्वाणतन्त्र ५।१८-१९)। मन्त्रो को मात्र अक्षर या शब्द या भाषा समझना अनुचित है। वे विभिन्न रूप धारण करते हे, यथा—वीजमन्त्र, कवच, हृदय आदि। ह्री (त्रिभुवनेश्वरी या माया का प्रतिनिधित्व करने वाला)। श्री (लक्ष्मी का प्रतिनिधित्व करने वाला), क्री (काली का प्रतिनिधित्व करने वाला) के समान वीजमन्त्र सम्भवत भाषा नही कहे जा सकते, क्योकि उनसे लोगो के समक्ष कोई अर्थ नही प्रकट हो पाता। ये देवता (साधक या पूजक के इष्टदेवता) ह, जो गुणी गुरु द्वारा दीक्षा के समय साधक को दिये जाते है। केवल पुस्तको से उन्हे पढ लेने से कोई लाभ नही होता। तन्त्र-ग्रन्थो के अनुसार मन्त्र-शक्ति की स्वर-देह है जो मन्त्र के मूल तान्त्रिक द्रष्टा की व्यक्तिता से नि सृत स्वर-स्फुरणो से विद्ध होती हे आर तान्त्रिक

ऋषि द्वारा प्रदत्त-शक्ति के अमोघ भण्डार से युक्त होती है। शिष्य मे उस शक्ति को जगाने एव मन्त्र के पूर्ण प्रभाव की प्राप्ति के लिए गुरु का स्पर्श एव साधक (शिष्य) की कल्पना और उसकी इच्छा-शक्ति की सलग्नता आवश्यक है। अक्षरो द्वारा उत्पन्न स्वर शिवशक्ति अर्थात् शब्दब्रह्म के रूप ह। इसी अन्तिम से सम्पूर्ण विश्व स्वरो (शब्द) एव पदार्थो (अर्थ) के रूप मे, जिसे स्वर या शब्द बोधित करते ह, अग्रसर होता है। देवता, मन्त्र एव गुरु साधना के लिए (वह विधि, जो सिद्धि की ओर ले जाती है, जैसा कि तान्त्रिक ग्रन्थो मे उल्लिखित ह) आवश्यक ह, साधक (शिष्य) को अपने मन मे यही विचारते रहना होता है कि ये तीनो अभिन्न ह। मन्त्र स्तुति या प्राथना नही है। प्रार्थना मे व्यक्ति किन्ही शब्दो का प्रयोग कर सकता है, किन्तु मन्त्र मे निश्चित अक्षरो का विधान होता है, इन्ही अक्षरो द्वारा शक्ति साधक के समक्ष अपनी अभिव्यक्ति करती है। मन्त्र ऐसे शब्दो के रूप मे हो सकता है जिनका स्पष्ट अर्थ होता ह या ऐसे अक्षरो से बना हो सकता है जो एक क्रम मे व्यवस्थित होते ह और अदीक्षित व्यक्ति के समक्ष कुछ भी अर्थ नही रखते। इस शास्त्र के कुछ ग्रन्थो मे यह स्वीकार किया गया है कि विचार मे सर्जना शक्ति है ओर प्रत्येक व्यक्ति शिव है और अपने को वह जितना ही शिव के अनुरूप पाता जाता है उतना ही वह उच्चतर स्तरो मे पहुँचता जाता है। विचार वास्तविक है, उदार विचार अपना कल्याण करेगे ओर उनका भी भला करेगे जो हमारे चतुर्दिक् रहते है, अन्य लोगो के दुष्ट विचार एव काक्षाएँ हमे क्लेश मे टाल सकती ह।

तान्त्रिक ग्रन्थो के अपने मन्त्र है ओर वे वैदिक मन्त्रो का भी प्रयोग करते ह। उदाहरणार्थ, 'जातवेदसे सुनवाम' (ऋ० १।९९।१) जो अग्नि को सम्बोधित है, दुर्गा के आह्वान के लिए प्रयुक्त हुआ है, 'त्रियम्बक यजामहे' (ऋ० ७।५९।१२) जो रुद्र को सम्बोधित है, तन्त्र-ग्रन्थो मे मृत्युजयमन्त्र या मृत-सजीविनीमन्त्र है और मन को शुद्ध करने के लिए महानिर्वाण० (८।२४३) मे व्यवस्थित है। इसी प्रकार गायत्री मन्त्र (ऋ० ३।६२।१०) को तान्त्रिको ने अपना लिया है। देखिए शारदातिलक (२१।१-८ एव १६), प्रपञ्चसार (जिसका ३० वाँ अध्याय 'ओ', 'व्याहृतियो' तथा गायत्री एव गायत्री-साधन के शब्दो की व्याख्या से ही भरा पडा ह)। महानिर्वाण ने व्यवस्था दी है कि वैदिकी सन्ध्या के सम्पादन के उपरान्त तान्त्रिकी सन्ध्या की जानी चाहिए। तान्त्रिकी गायत्री यह है—आद्यानीविद्महे, परमेश्वर्यं धीमहि, तन्न काली प्रचोदयात्। (महानिर्वाण ५।६२-६३)। शूद्र तान्त्रिक भी इसे प्रयोग मे ला सकते थे, किन्तु वैदिक गायत्री का प्रयोग क्रम से 'ओ' 'श्री' एव 'ऐ' के साथ तीनो वर्णो के लोग करते थे। गुरु, मन्त्र एव देवता की महत्ता यो उल्लिखित है—'जो गुरु को केवल मनुष्य मानता है, मन्त्र को मात्र अक्षर समझता है तथा प्रतिमा को केवल पत्थर समझता है वह नरक मे पडता है[९२]। रुद्रयामल मे आया है—'यदि शिव क्रुद्ध हो जाते ह तो, गुरु (शिष्य की) रक्षा करता है, किन्तु जब गुरु क्रुद्ध हो जाता है, कोई नही (शिष्य को) बचाता।'

परशुरामकल्पसूत्र, ज्ञानार्णवतन्त्र, शारदातिलक तथा अधिकाशत सभी तन्त्र-ग्रन्थो का कथन है कि मन्त्रो मे आश्चर्यजनक एव अलोकिक शक्तियाँ होती ह। तन्त्रानुयायी अपने गुरु की शाखा के परम्परागत आचारो को विश्वास के साथ मानता है तो उसे सभी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती है। मन्त्रो के द्वारा वाञ्छित फलो की प्राप्ति हो जाती है। तन्त्रशास्त्र की प्रामाणिकता प्रमुखतया शास्त्रानुयायियो के विश्वास पर निर्भर रहती है। साधक को ऐसा अनुभव

९२ गुरौमनुष्य बुद्धि च मन्त्रे चाक्षरबुद्धिकम्। प्रतिमासु शिलाबुद्धि कुर्वाणो नरक व्रजते।। कुलार्णव० (१२।४५), कौलावलीनिर्णय (१०।१२-१३), रुद्रयामल (२।६५)मे आया है—'गुरु पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गति। शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।।' ओर देखिये कुलार्णव० (१२।४६, यहाँ 'गुरुर्देवो महेश्वर' पाठ आया है)।

करना चाहिए कि गुरु, मन्त्र, देवता, उसको आत्मा, मन एव प्राणोच्छ्वास सभी एक है, तभी वह परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। कुछ तान्त्रिक ग्रन्थो मे मन्त्रो की प्रशसा अतिशयोक्तिपूर्ण ढग से की गयी हे, विशेपत श्रीविद्यामन्त्र की प्रभूत महत्ता गायी गयी हे, यथा, ज्ञानार्णव का कथन हे—'करोडो वाजपेय एव सहस्रो अश्वमेध फल मे श्रीविद्या के उच्चारण मात्र के बराबर नही हो सकते, इसी प्रकार करोडो कपिला गायो का दान भी श्रीविद्या के एक उच्चारण के समान नही है (२४ वॉ पटल, श्लोक ७४–७६)। देखिए अग्नि-पुराण (१२५।५१-५५) जहॉ शत्रु को मारने के लिए मन्त्रो के प्रयोग की बात हे, अध्याय १३४ एव १३५मे त्रैलोक्यविजयविद्या एव सग्रामविजयविद्या का उल्लेख हे।

तन्त्रो मे असख्य मन्त्रो का उल्लेख ह जो एक मन्त्र के विभिन्न रूपो को विभिन्न ढगो से व्यवस्थित करके बनाये गये है। देखिए महानिर्वाण० (५।१०-१३), जहॉ 'ह्रीं श्रीं क्रीं परमेश्वरि स्वाहा' नामक १० अक्षरो के मन्त्र को कुछ शब्दो के मेल तथा 'कालिके' लगा कर १२ मन्त्रो के रूप मे रख दिया गया ह। इस ग्रन्थ मे ऐसा उल्लेख हुआ है कि करोडो मन्त्र है और तन्त्रो मे जितने मन्त्र हे वे सभी महादेवी के मन्त्र हे (महानिर्वाण० ५।१८-१९)।

'मन्त्र' शब्द 'मन्' (सोचना) एव 'त्रै' या 'त्रा' से निष्पन्न हुआ हे। यास्क के निरुक्त (७।१२) मे यह केवल 'मन्' से निकला कहा गया हे। कुलार्णव का कथन हे कि मन्त्र इसीलिए पुकारा जाता ह क्योकि यह सभी प्रकार के भयो से बचाता हे, साधक इसके द्वारा अपरिमित ज्योति वाले एव एक मात्र तत्त्व परमात्मा पर ध्यान लगा पाता है (१७।५४)। इसी प्रकार की व्युत्पत्ति रामपूर्वतापनीयोपनिपद (१।१२), प्रपञ्चसार (५।२) एव अन्य तन्त्रो मे दी हुई है। तान्त्रिक ग्रन्थो मे मन्त्रो के विभिन्न प्रकार, यथा—कवच, हृदय, उपहृदय, नेत्र, अस्त्र, रक्षा आदि दिये हुए हे। स्थानाभाव के कारण हम इनके उदाहरण यहॉ नही दे सकेंगे। देखिए ब्रह्माण्डपुराण (३।३३), महानिर्वाणतन्त्र (७।५६–६५), नारदपु० (२।५६, ४८–५०)।

शारदातिलक ने मन्त्रो को पुरुप, स्त्री एव नपुसक रूप मे बॉट दिया है। पुरुषवाची मन्त्रो का अन्त 'हु' एव 'फट्' से होता है, स्त्रीवाची मन्त्रो का 'स्वाहा' से तथा नपुसक का 'नम' से। 'ऋ', 'ॠ', 'ऌ' 'ॡ' नामक स्वर नपुसक ह, शेप स्वर नपुसक नही ह वरिक लघु एव गुरु हे (शारदातिलक, ६।३ एव राघवभट्ट की टीका)। शारदा तिलक ने १७ अध्यायो (अध्याय ७ से २३ तक) मे सरस्वती, लक्ष्मी, भुवनेश्वरी, त्वरिता एव अन्य—दुर्गा, त्रिपुरा, गणपति, चन्द्रमा के मन्त्रो का उल्लेख किया हे। बहुत-से मन्त्रो का पाठ सहस्रो या लाखो बार किया जाता था, जिससे कि पूर्ण फल की प्राप्ति हो (शारदातिलक १०।१०५-१०७)। यद्यपि शारदातिलक गम्भीर ग्रन्थ है और इसमे वाममार्गी सभोग आदि का उल्लेख नही हे तथापि इसमे कुछ मन्त्र जादूगरी के एव स्त्रियो को वश मे करने के ह (९।१०३-१०४, १०।७६), यहॉ तक कि मन्त्रो द्वारा शत्रु-मृत्यु का भी उल्लेख हे (११।६०–१२४, २१।६५, २२।१)।

मन्त्रो की शक्ति के विपय मे बौद्धतन्त्र हिन्दूतन्त्र से पीछे नही थे। साधनमाला (पृ० ५७५) मे ऐसा आया है कि उचित विधि अपनायी जाय तो मन्त्र द्वारा सभी कुछ सम्पन्न हो सकता है[९३]। उदाहरणार्थ, इसमे

९३ किमस्त्यसाध्य मन्त्राणा योजितानां यथाविधि। साधनमाला (पृ० ५७५) ओ आ ह्रीं हु हँ ह अप मन्त्रराजो बुद्धत्व ददाति किं पुनरन्या सिद्धय। वही (पृ० २७०); यातु किं बहु वचनीय परमति दुर्लभ बुद्धत्वमपि तेपा पाणितलावलीनबदरकफलमिवावतिष्ठति। वही (पृ० ६२)। ओम् चलचल चिलिचिलि चुलुचुलु फुलुफुलु मुलुमुलु हुहुहुहु फट्फट्फट्फट् पद्महस्ते स्वाहा दिने दिने पञ्चवारान् त्रिसन्ध्यमुच्चारयेत्। गर्दभोपि ग्रन्थ-शतत्रय गृह्णाति। वही (पृ० ८७)। सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र (अध्याय २१, बिब्लियोथेका इण्डिका सीरीज, डा० नलि-

आया है कि एक मन्त्र, जो मन्त्रो का राजा है, बुद्धत्व देता है, अन्य सिद्धियो के विषय मे कहने की आवश्यकता ही क्या हे ? दूसरे मन्त्र से अति दुर्लभ बुद्धत्व हाथ के तल मे पडे वदरीफल के समान हे, एक अन्य मन्त्र (जो निरर्थक शब्दो वाला है) यदि पाँच वार कहा जाय ओर दिन मे तीन वार (प्रात, दोपहर एव सन्ध्या) तो एक गदहा अर्थात् मूर्ख भी तीन सो ग्रन्थो का जानकार हो जाय। बोद्धतन्त्र भी मन्त्रो के लाख वार के पाठ की व्यवस्था करते हे (साधनमाला, जिल्द १, सख्या १६५, पृ० ३२६ एव सख्या १०८, पृ० २२१)[९४]। कुछ मन्त्रो मे महायान के सिद्धान्त 'ओ, फट्, स्वाहा' के साथ पाये जाते ह, यथा—'ओ शून्यता ज्ञानवज्रस्वभावात्मकोऽहम्' (साधनमाला, जिल्द १, पृ० ६२)। प्रपञ्चसार मे, जो अद्वैती गुरु शकराचार्य द्वारा लिखित कहा जाता हे, जिसपर पद्मपाद की

नाक्ष दत्त द्वारा सम्पादित, १९५२) मे भी वहुत-सी धारणियाँ हे (तिलस्मी वाक्य, कवच या रक्षा-सम्वन्धी तिलस्म), जिनमे एक यह है (पृ० २६७)—'अथ खलु वोधिसत्त्वो इमानि धारणीमन्त्रपदानि भाषते स्म। तद्यथा। ज्वले महाज्वले उक्के तुक्के मुक्के अडे अडावति नृत्ये इट्टिनि विट्टिनि नृत्यावति स्वाहा'।

९४ ओ मणितारे हु। लक्षजापेनार्या अग्रत उपतिष्ठति। यदिच्छति तत्सर्व ददाति। विना मण्डलकस्नानोपवासेन केवल जापमात्रेण सिध्यति सर्वं कार्यं च साधयति। साधनमाला (जिल्द १, पृ० २२१)। यहाँ आर्या का अर्थ हे देवी तारा। बौद्धो मे अत्यन्त प्रसिद्ध मन्त्र हे 'ओ मणिपद्मे हु', जहाँ पर 'मणिपद्मे' सम्वोधन मे हे और सम्भवत तारा देवी की ओर, जिसके पास कमल रत्न हे, सकेत हे। देखिये डा० एफ० डब्ल्यू० टॉमस (जे० आर० ए० एस०, १९०६, पृ० ४६४)। कभी-कभी इसका अर्थ यो लगाया जाता है 'हे मणिपद्म (जिसके पास कमल रत्न हो) आप को मनस्कार'। जव ये पृष्ठ प्रेस मे मुद्रित हो रहे थे तो लेखक को एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ, जो लामा अगारिक गोविन्द द्वारा लिखित हे और जिसका नाम हे ' शस आव तिवेटन मिस्टिसिज्म' (राइडर एण्ड कम्पनी, लण्डन, १९५९)। यह ग्रन्थ 'ओ मणिपद्मे हु' नामक महान् मन्त्र की गूढ (गुप्त या अलौकिक) शिक्षा पर आधारित हे। इस पाद-टिप्पणी मे इस ग्रन्थ की समीक्षा सम्भव नही हे। लेखक का कथन हे कि मन्त्र 'ओ मणिपद्मे हु' अवलोकितेश्वर को समर्पित हे (मुखपृष्ठ पर अवलोकितेश्वर का एक चित्र भी है)। मन्त्र की जो व्याख्या इस ग्रन्थ मे दी हुई है उसे केवल तिब्वती वोद्ध विद्वान् या साधु ही स्वीकार कर सकता है। पृ० २७ पर लिखा हुआ है कि तिब्वत मे मन्त्र 'ओ मणि पेमे हु' कहा जाता हे, और पूरा मन्त्र यो हे—'ओ हु, ह्री' (पृ० २३०)। लेखक इस बात का उपहास करता है कि तन्त्रवाद हिन्दूवादी प्रतिक्रिया हे, जिसे आगे चल कर बौद्ध सम्प्रदायो ने ग्रहण किया। लेखक महोदय मन्त्र के शब्दो का अलौकिक अर्थ बताते है। पृ० १३० रप वे लिखते है —'ओ सार्वभौमिकता की ओर समुत्थान है, हु सार्वभौमिकता (अभिव्यापित्व)की स्थितियो का मानव के हृदय की गहराई मे अवरोह (उतार) हैं'। पृ० १३१ पर आया है—'ओ अनन्त हे, किन्तु हु अन्त मे अनन्त हे (नियत मे अनियत हे), क्षणिक मे नित्य (शाश्वत) हैं' आदि-आदि। पृ० २३० मे आया हे—'ओ मे हम धर्मकाय एव सर्वगत (सार्वलौकिक) देह के रहस्य की अनुभूति पाते हे, मणि मे सम्भोगकाय की, पद्म से निर्माणकाय की अनुभूति पाते हैं, हु मे हम तीन रहस्यो के अत्युत्तम देह के सयोग के रूप मे वज्रकाय की अनुभूति करते हें। ह्री मे हम अपने परिवर्तित व्यक्तित्व की सम्पूर्णता को अमिताभ (बुद्ध) की सेवा मे समर्पित कर देते हे'। पृ० २५६ मे आया हे—'इस प्रकार ओ हुँ अपने मे मुक्ति, प्रेम (सवके प्रति) एव अन्तिम आत्मज्ञान की सुन्दर वार्ताएँ समाहित रखता हैं'। प्रस्तुत लेखक को वलात् कहना ही पडता है कि इस प्रकार की व्याख्याओ से किसी भी मन्त्र के शब्दो से हम अर्थ निकाल सकते हे।

तथोक्त टीका है, त्रैलोक्यमोहन नामक एक मन्त्र है[९५], जिसके द्वारा ६ क्रूर ऐन्द्रजालिक कर्म किये जाते है और उसमे एक यन्त्र है जिसकी पूजा द्वारा साधक किसी नारी को अपनी ओर खीच ला सकता हे। इस ग्रन्थ मे व्याकरण-सम्बन्धी कुछ दोष भी है जिससे गम्भीर सन्देह उत्पन्न होता हे कि यह कदाचित् ही महान् विद्वान् शकराचार्य द्वारा प्रणीत हुआ हो। इसमे सन्देह नही कि विद्वान् राघवभट्ट ने शारदातिलक की टीका मे महान् आचार्य शकर को ही प्रपचसार का लेखक माना है, जैसा कि कुछ अन्य पश्चात्कालीन लेखको ने किया हे। किन्तु यह जानना चाहिए कि लगभग ४०० ग्रन्थ अद्वैत आचार्य द्वारा प्रणीत कहे गये है ओर राघवभट्ट आचार्य से ७ शतियो के उपरान्त हुए, अत उनका कथन बिना अधिक भारी साक्ष्य के पूर्ण विश्वास के साथ ग्रहण नही किया जा सकता।

तान्त्रिक प्रकार के मन्त्रो की शक्ति के सिद्धान्त से कतिपय पुराण भी प्रभावित हुए है। गरुडपुराण (१।७, एव १०) ने कुछ एकाक्षरात्मक एव निरर्थक मन्त्रो का प्रयोग किया है, यथा—ह्रा, क्षौम्, ह्री, हु, हु, श्री, ह्री ओर उसमे (१।२३) आया हे कि 'ओ खखोल्काय सूर्यमूर्तये नम'। सूर्य का मूलमन्त्र हे और यह एक आरम्भिक निबन्ध, यथा—कृत्यकल्पतरु (व्रत पृ० ८) मे सूर्य-पूजा के लिए प्रयुक्त हुआ है। और देखिए इसी बात के लिए, 'भविष्यपुराण' (ब्राह्मपर्व २१५।४)। भविष्य (ब्राह्म० २९।९–१५) मे आया है कि 'ग स्वाहा' गणपति-पूजन का मूलमन्त्र है, उसमे **हृदय, शिखा, कवच** आदि के लिए मन्त्रो की व्यवस्था हे और गणपति की गायत्री भी है। गरुडपु० (१।३८) मे चामुण्डा के लिए एक लम्बा गद्य-मन्त्र हे। और देखिए अग्निपु० (१२१।१५–१७), अध्याय १३३–१३५ एव ३०७ [९६]।

महाश्वेता नामक एक मन्त्र का उल्लेख भविष्यपुराण मे हुआ है जिसका वर्णन कृत्यकल्पतरु (व्रत, पृ० ९) एव एकादशीतत्त्व (पृ० ४०) मे है और वह मन्त्र यह है–'ह्रा ह्री स' जिसका जप यदि उपवास के साथ रविवार को किया जाय तो वाञ्छित फल की प्राप्ति होती है।

पश्चात्कालीन निबन्धो ने शारदातिलक (२३।७१-७६) मे दिये हुए प्राणप्रतिष्ठा-मन्त्र का प्रयोग किया है। देवप्रतिष्ठातत्त्व (पृ० ५०६-५०७), दिव्यतत्त्व (पृ० ६०९-६१०), व्यवहारमयूख, (पृ० ८६), निर्णयसिन्धु (पृ० ३४९-३५०) आदि ने शारदातिलक से उद्धरण लिया है। शारदातिलक ने सम्भवत अपने पूर्व के ग्रन्थो, यथा जयाख्यसहिता (पटल २०) एव प्रपचसारतन्त्र (३५।१-९) का अनुसरण किया है[९७]।

९५ मारणोच्चाटनद्वेषस्तम्भाकेषणकाक्षिण। भजेयु सर्वमेवैन मन्त्र त्रैलोक्यमोहनम्॥ प्रपचसार (२३।-५)। देखिये शक्तिसगमतन्त्र (८।१०२-१०५) एव जयाख्यसहिता (२६ वॉ पटल, श्लोक २४), अग्निपु० (अध्याय १३८) मे भी ६ क्रूर कर्मो का उल्लेख है।

९६ ग स्वाहा मूलमन्त्रोय प्रणवेन समन्वित। गा नमो हृदय सेय गीं शिर परिकीर्तितम्। शिखा च गू नमो गेय गै नम कवच स्मृतम्। गौ नमो नेत्रमुद्दिष्ट ग फट् कामास्त्रमुच्यते। भविष्य (ब्राह्म २९।९)। गायत्री यह है—'महाकर्णाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ति प्रचोदयात्॥ वही (२९।१५)। पार्थिवे चाष्टह्रीकार मध्ये नाम च दिक्षु च। ह्रीं पुट पार्थिवे दिक्षु ह्री दिक्षु लिखेद्बसून्। गोरोचना-कुकुमेन भूर्जे वस्त्रे गले धृतम्।। शत्रवो वशमायान्ति, मन्त्रेणानेन निश्चितम्। अग्निपु० (१२१।१५-१७)।

९७ तेनाय मन्त्र। आ ह्रीं क्रो य र ल श ष स हो हस अमुष्य प्राणा इह प्राणा। अमुष्य जीव इह स्थित। अमुष्य सर्वेन्द्रियाणि। अमुष्य वाङमनश्चक्षु श्रोत्रघ्राणप्राणा इहागत्य सुख चिर तिष्ठन्तु स्वाहा। देवप्रतिष्ठातत्त्व (पृ० ५०६-५०७)। 'अमुष्य' प्रतिमा वाले देवता के लिए आया हे (यदि किसी देवी की प्रतिमा बैठायी जाती है तो

मध्यकाल के निवन्धो द्वारा तान्त्रिक मन्त्रो के प्रयोग के विषय मे यहाँ अव स्थानाभाव के कारण अधिक नही लिखा जा सकता। वैदिक मन्त्रो एव तान्त्रिक मन्त्रो की अन्तर सम्वन्धी एक वात यहाँ दी जा रही हे। जैमिनि (१।२।३२) के मत से वैदिक मन्त्र महत्त्वपूर्ण होता हे, किन्तु तन्त्रो ने ऐसे मन्त्रो के जप की वात चलायी है जो निरर्थक होते ह, इनना ही नही वे उलटे भी पढे जा सकते ह, यथा 'ओ दुर्गे' को 'गेंदु ओ' पढा जा सकता है। उदाहरणार्थ, कालीवलीतन्त्र (२२।२१) मे आया हे 'गेंदु ओ त्र्यक्षर मन्त्र सर्वकामफलप्रदम्'। महायान वोद्धधर्म के ग्रन्थ सद्धर्म पुण्डरीक (कर्न एव वुन्यीम् नेत्रीम्, १९१२, सैं० वु० ई०, जिल्द २१, पृ० ३७०–३७५) मे धारणीपदानि नामक मन्त्र ह। ऐसा नही समझना चाहिए कि मन्त्र केवल हिन्दुओ एव बौद्धो की ही विशेषता हे। प्राचीन काल मे वहुत-से लोग ऐसा विश्वास करते थे कि शव्दो एव अक्षरो में ऐन्द्रजालिक शक्ति होती है और इस विश्वास ने आगे वढकर ऐसा विश्वास उत्पन्न किया कि निरर्थक शव्दो एव अक्षरो मे भी वही बात पायी जा सकती हे। प्राचीन अग्रेजो, जर्मनो एव केल्टवासियो मे भी ऐसी वात पायी जाती थी (ई० जे० थॉमस, हिस्ट्री आव् वुद्धिस्ट थॉट, १९५३, पृ० १८६)।

वैदिक एव तान्त्रिक मन्त्रो का जप पुरश्चरण कहलाता हे। पुरश्चरण का शाव्दिक अर्थ हे पहले से सम्पादन[९८]। महानिर्वाणतन्त्र (७।७६–८५) मे पुरश्चरण (सक्षिप्त या विस्तृत) के कई ढग प्रदर्शित है। एक ढग के अनुसार कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी या मगल या शनि को पाँचो तत्त्वो को एकत्र करना होता हे, इसके उपरान्त देवी की पूजा होती है और महानिशा (अर्धरात्रि) मे एकाग्र होकर १० सहस्र वार मन्त्र का पाठ करना होता हे। इसके उपरान्त पूजा करने वाले को ब्रह्मभक्तो के लिए भोजन की व्यवस्था करनी होती है ओर तव वह पुरश्चरण का सम्पादक कहा जाता है। दूसरा ढग यह हे कि व्यक्ति को मगल से आरम्भ कर प्रतिदिन मन्त्र को एक सहस्र वार जपना पडता हे और यह क्रम उसे आगामी मगलवार तक चलाना होता है और इस प्रकार उसे आठ सहस्र वार मन्त्र-जप करने पर पुरश्चरण का सम्पादक कहा जाता है। कभी-कभी ऐसी व्यवस्था की जाती है कि 'शिवाय नम' या 'ओ शिवाय नम' ऐसे मन्त्र २४ लाख वार कहे जाने चाहिए और साधक को अग्नि मे पायस की २४ सहस्र आहुतियाँ देनी होती हे, तभी मन्त्र पूर्ण होता हे ओर साधक की अभीप्सित देता है। गायत्री का जप प्रतिदिन १००८ या १०८ या १० वार करना होता हे। यह पुराण एव धर्मशास्त्र-ग्रन्थो के अनुसार ही हे। नारदपुराण (२।५७।५४) मे आया है कि मन्त्र का जप ८, २८ या १०८ वार होना चाहिए। और देखिए एकादशी तत्त्व (पृ०५९)।

राघवभट्ट ने शारदातिलक (१६।५६) के भाष्य मे सभी मन्त्रो मे प्रयुक्त होने वाले पुरश्चरण का उल्लेख किया हे। वायवीय सहिता के अनुसार मूलमन्त्र की विधि को ठीक करने को पुरश्चरण कहा जाता हे। कुलार्णव मे आया है कि पुरश्चरण के पाँच तत्त्व हैं—इष्ट देवता की तीन वार पूजा, जप, तर्पण, होम एव ब्रह्मभोज। राघवभट्ट ने भी (शारदा०३१६।५६) इसकी विधि का उल्लेख किया है। कौलावली निर्णय (१४ वॉ

'अमुष्या' या 'अस्यै' शव्द रख दिये जाते हे। तन्त्रराजतन्त्र (१३।६२-६८) ने प्राणप्रतिष्ठाविद्या के लिए अमुष्य से स्वाहा तक ४० अक्षरो का मन्त्र बनाया हे जो तान्त्रिक ग्रन्थो की भाषा के अनुरूप ही हे।

९८ मन्त्र के पुरश्चरण के कई अग होते है, यथा—ध्यान (देवता की प्रतिमा या आकार का ध्यान करना), पूजा, मन्त्र-जप, होम, तर्पण, अभिषेक एव ब्रह्मभोज। सक्षिप्त पुरश्चरण मे प्रथम तीन का सम्पादन होता हे। तर्पण का अर्थ है देवता एव पितरो को जल से तृप्त करना।

पटल, श्लोक–७५–२६०) मे एक भयकर साधना का वर्णन है, जिसके द्वारा एक ही रात्रि मे साधक को मन्त्र-सिद्धि प्राप्त हो जाती हे। रात्रि मे एक पहर के उपरान्त श्मशान या एकान्त स्थान मे जाय, एक चाण्डाल का शव प्राप्त करे या उसका जो किसी व्यक्ति द्वारा तलवार से मारा गया हो, या साँप द्वारा काट लिया गया हो या रणक्षेत्र मे कोई नवयुवक मार डाला गया हो, उसका शव प्राप्त करे। उसे स्वच्छ करे, उसकी पूजा करे, दुर्गा की पूजा करे तथा 'ओ दुर्गे दुर्गे रक्षिणी स्वाहा' का पाठ करे। यदि साधक भयकर दृश्यो को देख कर डर न जाय और एक लम्बी पद्धति का अनुसरण करे, तो वह मन्त्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है। ताराभक्ति सुधार्णव (तरग ६, पृ० ३४५) ने शवसाधनविधि का वर्णन किया है। ओर देखिए कुलचूडामणितन्त्र (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ४,६।१६–२८)।

राघवभट्ट ने एक वचन उद्धृत करके कहा हे कि यदि साधक देवतारूपी अपने गुरु को सन्तुष्ट कर देता हे तो उसे विना पुरश्चरण के भी मन्त्र की सिद्धि प्राप्त हो सकती हे, पुरश्चरण मन्त्रो का प्रधान वीज है। जहाँ जप की सख्या न दी हुई हो, वहाँ मन्त्र को ८००० बार कहना चाहिए। राघवभट्ट ने यह भी उद्धृत किया है कि जिस प्रकार रोगग्रस्त व्यक्ति सभी कर्मो को नही कर पाता है उसी प्रकार पुरश्चरण मे हीन मन्त्र की बात है।

अग्निपुराण, कुलार्णव० एव शारदातिलक ने मन्त्र के पुरश्चरण के स्थानो के विषय मे नियमो की व्यवस्था की है। मन्त्रसिद्धि करने वालो के लिए निम्न स्थान, व्यवस्थित है—पुण्यक्षेत्र, नदीतीर, गुहा (गुफा), पर्वत-मस्तक, तीर्थस्थान के पास का स्थल, नदियो का सगम, पावन वन एव उद्यान, वेलवृक्ष के तल मे, पर्वत की ढाल, देवतायन (मन्दिर), समुद्र-तट, अपना घर, या ऐसा स्थान जहाँ मन प्रसन्न हो जाय। देखिए कुलार्णव० (१५।२०–२४), शारदातिलक (२।१३८–१४०) एव अहिर्बुध्न्य सहिता (२०।५२–५३)। पुरश्चरण के दिनो मे भोजन के विषय मे भी नियम बने है, यथा—(ब्रह्मचारी एव यति के लिए) भिक्षा माँग कर, (व्रतो के लिए) हविष्य भोजन, विहित शाक, फल, दूध, कन्दमूल, यव का सत्तू है। मन्त्रमहोदधि (२५।६६–७१) मे शान्ति के समय तथा अन्य क्रूर क्रिया–सस्कारो के समय के हविष्य भोजन के विषय मे नियम दिये हुए है। राघवभट्ट (१६।५६) ने अन्य ग्रन्थो से पुरश्चरण करने वाले साधक के लिए कुछ और नियम भी सगृहीत किये है, यथा मैथुन, मास, मद्य से दूर रहना, नारियो एव शूद्रो से न बोलना, असत्य न बोलना, इन्द्रियो को वासना से दूर रखना, प्रात से दोपहर तक विना किसी रुकावट के मन्त्र-जाप को करते जाना और प्रतिदिन ऐसा ही करते जाना।

जयाख्यसहिता (१६वाँ पटल, श्लोक १३–३३) का कथन है कि पुरश्चरण करने मे तीन वर्षों तक साधक के समक्ष, भाँति-भाँति की विघ्न-बाधाएँ आती है, किन्तु यदि उसके मन एव कर्म पर कोई प्रभाव नही पडता तो चौथे वर्ष से उसके पास लोग शिष्य बन कर आते हे। उसकी सेवा करने लगते हे और अपना सब कुछ समर्पित कर देते है, सात वर्षो के उपरान्त उसके पास घमण्डी राजा भी अनुग्रह एव प्रसाद के लिए पहुँचता है, नौ वर्षो के उपरान्त वह अलौकिक अनुभव प्राप्त करने लगता है, यथा—आह्लाद, गम्भीर स्वप्न, मधुर सगीत एव गन्ध[९९] तथा वैदिक पाठ का अनुभव होने लगता है, वह कम खाता है, कम सोता हे किन्तु दुर्बल नही

९९ योगसूत्र (३।३६) एव उसके भाष्य मे आया है कि शक्तियो के विकसित हो जाने पर योगी दैवी सगीत सुनने लगता है और सुगधो की अनुभूतियाँ करने लगता हे। एफ० यीट्स—ब्राउन (लण्डन, १९३०) ने

होता। ये सब मन्त्रसिद्धि की अवस्था के लक्षण है। उसी ग्रन्थ मे ऐसा आया है कि साधक को इन लक्षणो का वर्णन गुरु के अतिरिक्त अन्य लोगो से नही करना चाहिए, यदि वह अन्य लोगो से सारी बाते कह देता है तो सिद्धियाँ समाप्त हो जाती है (१६।३४-३७)। इसी संहिता (१५।१८६-१८८) मे ऐसा आया हे कि स्वाहा, स्वधा, फट्, हु एव नम का प्रयोग क्रम से होम, पिण्डदान, नाशकारी कार्यो, मित्रो मे विद्वेष उत्पन्न करने एव मोक्ष प्राप्ति के लिए लिए होता हे। सभी तन्त्र-ग्रन्थ इस बात पर बल देकर कहते है कि का मन्त्र का ग्रहण गुणी एव योग्य गुरु से होना चाहिए और मन्त्र की साधना गुरु के निर्देशन मे तब तक होनी चाहिए जब तक कि शिष्य सिद्ध न हो जाय। हमने ऊपर देख लिया है कि ऐसा विश्वास किया जाता था कि मन्त्र आध्यात्मिक एव अलौकिक शक्तियाँ प्रदान करते हे और साधक के पास सभी वाछित पदार्थ एव मोक्ष लाते है। कुलार्णव० (१४।३-४) मे आया है—यह शिवसाधन (शिव द्वारा बताये गये सिद्धान्त) मे उद्घोषित है कि बिना दीक्षा के मोक्ष नही प्राप्त हो सकता, बिना आचार्य के दीक्षा नही प्राप्त हो सकती तथा मन्त्र तब तक फल नही दे सकते जब तक गुरु उनके विषय मे शिक्षा न दे दे[100]। कुर्लाणव० मे पुन आया हे कि दीक्षाविहीन को न तो सिद्धि मिलती है और न सद्गति। अत व्यक्ति सभी प्रकार के प्रयत्नो से गुरु द्वारा दीक्षित होना चाहिए। दीक्षा सस्कार हो जाने पर जाति सम्बन्धी अन्तर मिट जाता हे, जब शूद्र एव विप्र दीक्षित हो जाते है तो शूद्रता एव विप्रता की समाप्ति हो जाती है। ऐसा कहा गया है कि कोई पुस्तक मे लिखित मन्त्र का जप करना आरम्भ कर दे तो उसे सिद्धि नही प्राप्त हो सकती और प्रत्येक पद पर हानि मिलेगी[101]।

महानिर्वाण० (२।१४-१५एव २०) मे ऐसा आया है कि सत्य एव अन्य युगो मे वैदिक मन्त्रो से वाछित फलो की प्राप्ति होती थी, किन्तु कलियुग मे वे विषविहीन सर्प या मृत सर्प के समान है, कलियुग मे तन्त्रो मे घोषित मन्त्र शीघ्र ही फल देते है और जप एव यज्ञो ऐसे सभी कर्मो मे उनका प्रयोग विहित है। तन्त्रो मे जो मार्ग बताया गया है वह कही और नही पाया जाता, केवल उसी से मोक्ष प्राप्त होता हे या इहलोक या परलोक मे सुख मिलता है। महानिर्वाण० (३।१४) का कथन है कि 'ओ सच्चिदेक ब्रह्म' सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है, जो परम ब्रह्म की

'बगाल लासर' नामक ग्रन्थ (पृ० २४६-२४७) मे वर्णन किया हे कि किस प्रकार वह कक्ष, जिसमे वे और उनके अमेरिकी मित्र बैठे हुए थे एक योगी द्वारा, जो केवल एक धोती पहने हुये था, कमल के इत्र की महक से परिपूर्ण हो गया, पुन गुलाब, कस्तूरी, चन्दन-गन्ध से परिपूर्ण हो गया, यह सब केवल एक छोटे से रुई-गुच्छ से निकला जिस पर योगी ने एक आकार बढा देने वाला शीशा रख दिया था। श्वेताश्व० उप० (२।१३) ने योग-क्रिया की प्रभावशीलता के प्रथम लक्षणो पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला है—'लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्व वर्णप्रसाद स्वरसौष्ठव च। गन्ध शुभो मूत्रपुरीषमल्प योगप्रवृत्ति प्रथमां वदन्ति।'

१०० बिना दीक्षा न मोक्ष स्यात्तदुक्त शिवसाधने। सा च न स्याद्विनाचार्यमित्याचार्यपरम्परा॥ अन्तरेणोपदेष्टार मन्त्रा स्युर्निष्फला यत। कुलार्णव० (१४।३-४)। देविदीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गति। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत्॥ गत शूद्रस्य शूद्रत्व विप्रस्यापि च विप्रता। दीक्षासस्कारसम्पन्ने जातिभेदो न विद्यते॥ कुलार्णव० (१४।९७ एव ९९)

१०१ पुस्तकाल्लिखितो मन्त्रो येन सुन्दरि जप्यते। न तस्य जायते सिद्धिर्हानिरेव पदे पदे। राघवभट्ट (शारदातिलक ४।१) द्वारा उद्धृत।

उपासना करते है उन्हे किसी अन्य साधना की आवश्यकता नही हे, केवल इसी मन्त्र की सिद्धि से आत्मा ब्रह्म मे ममाहित हो सकता है[१०२]। स्पष्ट है--मोक्ष कई लक्ष्यो मे एक लक्ष्य था। दूसरा लक्ष्य था अलोकिक या रहस्यवादी शक्तियो की प्राप्ति। प्रपञ्चसार ने आठ सिद्धियो की चर्चा की हे ओर कहा हे कि आठ सिद्धियो वाला व्यक्ति मुक्त कहा जाता है ओर उसे योगी की सज्ञा मिली हे[१०३]। सिद्धियो का सिद्धान्त प्राचीन हे और उसका उल्लेख आपस्तम्ब-धर्म-सूत्र (२।६।२३।६-७) मे हुआ है । योगसूत्रभाष्य मे आठ सिद्धियो के नाम आये ह ओर उनकी व्याख्या हुई है[१०४]। **अणिमा** (एक अणु के ममान हो जाना), **लघिमा** (हलका होकर ऊपर उठ जाना), **महिमा** (पर्वत के समान विशाल या आकाश के समान हो जाना), **प्राप्ति** (सभी पदार्थो का सन्निकट हो जाना, यथा अगुली से चन्द्रमा को छू देना), **प्राकाम्य** (कामना का अवरोध न होना, यथा पृथिवी मे समा जाना और वाहर निकल कर ऐसा प्रकट होना मानो जल मे प्रवेश हुआ था), **वशित्व** (पच तत्त्वो पर स्वामित्व), **ईशित्व** (तत्त्वो के निर्माण, समाहित होने या सगठन पर प्रभुत्व) एव **यत्र-कामावसायित्व** (अपनी इच्छा के अनुसार वस्तुओ को वना देना, यथा--व्यक्ति यह कामना कर सकता हे कि विप का प्रभाव अमृत हो, ओर वह वैसा हो जायगा) । जिसे ये आठ सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है, वह **सिद्ध** कहलाता है। गीता (१०।२६) मे आया है कि कपिल सिद्धो मे एक सिद्ध ह (सिद्धाना कपिलो मुनि)। योगसूत्र (४।१) मे सिद्धियो के पाँच प्रकार कहे गये हे--जन्म, ओषधियो, मन्त्रो, तपो एव समाधि से उत्पन्न होने वाली (जन्मौषधि-मन्त्र-तप -समाधिजा सिद्धय) । मन्त्रो से अन्य वाते भी प्राप्त की जाती थी, यथा--षट् क्रूर कर्म तथा नारी को कामासक्त करना। इससे प्रकट हे कि केवल तान्त्रिक ही नही, प्रत्युत वे लोग भी, जो योगाभ्यास मे विश्वास करते थे, मन्त्रो मे ऐसा विश्वास करते थे कि वे योगियो को अलौकिक शक्ति देते हे। योगसूत्र मे ऐसी व्यवस्था है कि कुछ सिद्धियाँ (यथा--३।३७ मे) समाधि मे अवरोध उत्पन्न करती है और ये सिद्धियाँ केवल उन लोगो के लिए हे जो तन्मयावस्था से व्युत्थित रहते है । याज्ञवल्क्यस्मृति (३।२०२-२०३) मे आया है कि अन्तर्धान हो जाने, दूसरे के शरीर मे प्रवेश कर जाने, थोडे काल के लिए अपना शरीर छोड देने, मनोनुकूल पदार्थ की उत्पत्ति कर देने की शक्ति तथा अन्य शक्तियाँ योग द्वारा सिद्धि-प्राप्ति की परिचायक है, जो लोग योग-सिद्धि कर लेते है अपने नाशवान् शरीर का त्याग कर ब्रह्म मे अमर हो जाते हे।

१०२ परब्रह्मोपासकाना किन्यै साधनान्तरै । मन्त्रग्रहणमात्रेण देही ब्रह्ममयो भवेत् । महानिर्वाणतन्त्र (३।२३-२४)। मन्त्र यो है 'ओ सच्चिदेक ब्रह्म' जिसके पूर्व विद्या, माया या श्री के लिए क्रम से ऐं, ह्रीं या श्री लगता है (३।३५-३७) ।

१०३ अणिमा महिमा च तथा गरिमा लघिमोशिता वशित्व च । प्राप्ति प्राकाम्य चेत्यष्टैश्वर्याणि योगयुक्तस्य ॥ अष्टैश्वर्यसमेतो जीवन्मुक्त प्रवक्ष्यते योगी। प्रपञ्चसार (१६।६२-६३)। आधुनिक काल मे हवा मे हलका हो कर उठ जाने के व्यक्तिगत अनुभव के लिए देखिए डा० अलेक्जैण्डर कैनन कृत 'दि इनविजिबुल इफ्लुऐंस' (१५वॉ मुद्रण, १६३५), अध्याय २, पृ० ३६-४१। कल्पतरु (मोक्षकाण्ड, पृ० २१६-१७) ने प्राचीन लेखक देवल से एक लम्बा गद्यवचन उद्धत किया हे जिसमे ८ सिद्धियो या विभूतियो (गरिमा के स्थान पर यत्रकामावसायित्व आया हे) का उल्लेख है ।

१०४ विभूतिर्भूतिरैश्वर्यमणिमादिकमष्टधा। अमरकोश, ततोऽणिमादिप्रादुर्भाव कायसम्पद्धर्मानभिघातश्च। योगसूत्र (३।४४), जन्मौषधि-मन्त्र-तप -समाधिजा सिद्धय । योगसूत्र (४।१)। भाष्य मे आया है 'मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिसिद्धि ।

प्रपञ्चसार (५), शारदातिलक (१३।१२१-१४५) शक्तिसगमतन्त्र (कालीखण्ड, ८।१०२-१०६), मन्त्र-महोदधि (२५ वी तरग) आदि तन्त्र-ग्रन्थो मे ६ कठोर क्रियाओ का विशद् उल्लेख हे। शारदातिलक (२३।१३७-१४१) ने मन्त्रो के ६ ढगो या सगठनो का शत्रु के नाम के साथ उल्लेख किया हे, यथा—**ग्रन्थन, विदर्भ, सम्पुट, रोधन, योग एव पल्लव**। हम इनका उल्लेख नही करेगे। किन्तु ऐसा प्रकट होता हे कि आरम्भिक पुराण भी जादू-टोना से प्रभावित थे। उदाहरणार्थ, मत्स्यपुराण[१०५] मे आया हे—'**विद्वेषण** (मित्रो या ऐसे लोगो मे जो एक-दूसरे से प्रेम करते हे) एव **अभिचार** मे एक त्रिकोण की व्यवस्था होनी चाहिए, उसमे ऐसे पुरोहितो से होम कराना चाहिए जिन्होने लाल पुष्प धारण किया हो, लाल चन्दन लगाया हो, जनेऊ को निवीत ढग से धारण किया हो, लाल पगडी एव लाल वस्त्र धारण किया हो, तीन पात्रो मे एकत्र किये हुए काओ के ताजे रक्त से सनी समिधा होनी चाहिए, जिसे श्येन (बाज) की अस्थि (हड्डी) पकडे हुए बाये हाथ से (कुण्ड मे) डालना चाहिए। पुरोहितो को सिर पर बाल खुले रखने चाहिए और रिपु (शत्रु) पर विपत्ति गिरने का ध्यान करना चाहिए, उन्हे 'दुर्मित्रि-यास्तस्मै सन्तु' नामक यन्त्र तथा 'ह्री' एव 'फट्' का जप करना चाहिए तथा श्येनयाग मे प्रयुक्त मन्त्र को छुरे पर पढकर उसमे शत्रु की प्रतिमूर्ति को टुकडे-टुकडे कर देना चाहिए और अग्नि मे फेक देना चाहिए। यह क्रिया केवल इस लोक मे फलप्रद होती हे, दूसरे लोक मे इससे कोई लाभ नही होता, अत जो लोग इसे करे उन्हे शान्ति कर लेनी चाहिए।' मत्स्य० (९३।१३९-१४८) मे नारी को वश मे करने एव उच्चाटन के नियम मे भी उल्लेख हे। यह सम्भव हे कि तान्त्रिको एव मत्स्य० दोनो ने ६ प्रकार के जादू की क्रियाओ को ब्राह्मण-ग्रन्थो एव श्रौत-सूत्रो मे उल्लिखित श्येनयाग से ग्रहण किया हो। और देखिए अग्नि पु० (अध्याय १३८)। अहिर्बुध्न्यसहिता मे भी, जो प्रमुखत पाञ्चरात्र-विषयक ग्रन्थ हे, मन्त्रो की भरमार है। देखिए इसके अध्याय ५२ के श्लोक २-५८। इसने मन्त्रो को स्थूल, सूक्ष्म एव परम माना हे (अध्याय ५१)।

यह द्रष्टव्य हे कि बौद्ध तन्त्रो ने भी कतिपय उपलब्धियो के लिए मार्ग-दर्शन किया हे। प्रेम मे सफलता-प्राप्ति से लेकर निर्वाण तक के लिए मन्त्रो के प्रयोग की चर्चा हे। बौद्ध तन्त्र-लेखको ने, विशेषत वज्रयानियो ने ८४ सिद्धो की बात चलायी हे, जिनके नाम नेपाल एव तिब्बत मे आज भी सम्मान के साथ लिये जाते हे[१०६]। बौद्धो

१०५ विद्वेषणेऽभिचारे च त्रिकोण कुण्डमिष्यते। होम कुर्युस्ततो विप्रा रक्तमाल्यानुलेपना। निवीत-लोहितोष्णीषा लोहिताम्बरधारिण। नववायसरक्ताढ्य पात्रत्रयसमन्विता। समिधो वामहस्तेन श्येनास्थिबलसयुता। होतव्या मुक्तकेशैस्तु ध्यायद्भिरशिव रिपौ। दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु तथा हु फडितीति च। श्येनाभिचारमन्त्रेण क्षुर समभिमन्त्र्य च। प्रतिरूप रिपो कृत्वा क्षुरेण परिकर्तयेत्। रिपुरूपस्य शकलान्यथैवाग्नौ विनिक्षिपेत्। इहैव फलद पुसामेतन्नामुत्र शोभनम्। तस्माच्छान्तिकमेवात्र कर्तव्य भूतिमिच्छता॥ मत्स्य० ९३।१४९-१५५। तै० स० (१।४।४५) एव तै० ब्रा० (२।६।६।३) मे एक मन्त्र है—'सुमित्रा न आप ओषधय दुर्मित्रास्तस्मै भूयासुर्यो-ऽस्मान् द्वेष्टि य च वय द्विष्म।' श्येन एक अभिचार (जादू) क्रिया का नाम हे (देखिए जैमिनि १।४।५ एव उस पर शबर), और सोमयाग का एक परिष्कृत रूप हे और श्येन के विषय मे (यथा—श्येनेनाभिचरन् यजेत) ये शब्द आये हे 'लोहितोष्णीषा लोहितवसना निवीता ऋत्विज प्रचरन्ति' (आप० श्रौ० २२।४।१३ एव २३) जो शबर द्वारा जैमिनि (१०।४१) मे उद्धृत हे। देखिए षड्विंश-ब्राह्मण (३।८।२ एव २२) जहाँ ऐसे ही वचन आये हैं।

१०६ देखिए डा० बी० भट्टाचार्य कृत 'इण्ट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म' (पृ० ८४, ९६ एव १२६), जहाँ ८४ सिद्धपुरुषो की ओर सकेत हे तथा 'कल्चरल हेरिटेज आव इण्डिया' (जिल्द ४, पृ० २७३-२७९), जहाँ

ने भी आठ सिद्धियो की चर्चा की है, किन्तु वे योगसूत्र से भिन्न है। साधनमाला (सख्या १७२, पृ० ३५०) मे ये नाम है—**खड्ग** (वह तलवार जिसपर मन्त्र फूँका गया हो, जिसे धारण कर योद्धा लडाई मे विजय प्राप्त करता है), **अजन** (वह अजन जिसके प्रयोग से व्यक्ति गुप्त धन देख लेता है), **पादलेप** (वह लेप जिसे लगने पर व्यक्ति अदृश्य रूप से विचरण कर सकता है), **अन्तर्धान** (देखते-देखते अदृश्य हो जाना), **रसरसायन** (साधारण धातु को सोना बना देना या अमरता के लिए रसायन या तेजोवर्धन प्राप्त करना), **खेचर** (आकाश मे उडना), **भूचर** (पृथिवी पर कही शीघ्रता से चला जाना) तथा **पातालसिद्धि** (पृथिवी के भीतर डूबना)। बौद्धो के पास धन नही होना चाहिए अत उनके पास धन के पीछे एक लालसा रहा करती थी, अत कुछ मन्त्रो द्वारा उन्होने कल्पना की कि कुबेर उन्हे अक्षय सम्पत्ति दे देगे। उन्होने ऐसी दुराशा भी की कि मन्त्रो के द्वारा हिन्दू देवता उनके चाकर हो जायेगे। यथा अप्सराएँ उन्हे घेरे रहेगी, इन्द्र उनके छत्रवाहक होगे, ब्रह्मा मन्त्री बनेगे और हरि प्रतिहारी। बौद्ध, शास्त्रार्थ मे लोगो को हराना चाहते थे और मन्त्रो द्वारा बिना पढे शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे (साधन०, सख्या १५१, १५५, २५६)। वे रोगो को अच्छा एव दूर करना तथा विष का मार्जन करना चाहते थे। उन्होने ऐसी कल्पना कर रखी थी कि वे मन्त्रो के बल से सर्वज्ञता एव बुद्धत्व प्राप्त कर लेगे।

यह हमने देख लिया है कि दीक्षा के उपरान्त गुरु से मन्त्र ग्रहण किया जाता था। अत दीक्षा के विषय मे दो-एक शब्द आवश्यक है। दीक्षा के विषय मे तान्त्रिको ने कोई नयी बात नही प्रचलित की। प्राचीन वैदिक समय से ही उपनयन से आध्यात्मिक जन्म का आरम्भ माना जाता रहा है और किसी यज्ञ के आरम्भ करने के पूर्व यजमान को पवित्रीकरण की क्रिया करनी पडती थी, किन्तु ये दोनो क्रियाएँ उतनी विशद नही थी जितनी कि तान्त्रिक ग्रन्थो वाली दीक्षा। तै० स० (६।१।१-३ एव ७।४।८) मे दीक्षा का उल्लेख है तथा ऐत० ब्रा० (१।३) ने वैदिक दीक्षा की मुख्य बाते यो दी है—पवित्र जल से जयमान का स्नान, मक्खन से मुख एव शरीर के अन्य अगो का लेप, आँखो मे अञ्जन, अध्वर्यु द्वारा सात दर्भो वाले तीन गुच्छो से दो बार यजमान के शरीर को नाभि के ऊपर पवित्र करना और तब नाभि के नीचे मन्त्रो से पवित्र करना, उसके उपरान्त विशिष्ट रूप से निर्मित मण्डप मे प्रवेश, जिस प्रकार भ्रूण घिरा रहता है उसी प्रकार वस्त्र से शरीर को ढँकना तथा काले मृग-चर्म से ऊपरी अग को ढँकना। शतपथब्राह्मण (३।२।१।१९ एव २२) मे दीक्षा का विशद उल्लेख है, उसमे यह भी आया है कि यजमान तब तक के लिए एक देवता हो जाता है, मानो दीक्षा यजमान के एक नये जीवन का द्योतक है (३।१।२।१०-२१, ३।१।३-२८)। अथर्ववेद (७।१।१) मे आया है—'महान् सत्य, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म, प्रार्थना एव यज्ञ पृथिवी को धारण करते है[१०७]।

प्रो० पी० सी० बागची ने 'कल्ट आव दि बुद्धिस्ट सिद्धाचार्यज' (पृ० २७४) नामक लेख मे तिब्बती परम्परा के आधार पर ८४ सिद्धो के नाम दिये है। सिद्धो की परम्परा आधुनिक काल तक चली आयी हुई है। देखिए ए० बी० ओ० आर० ई० (जिल्द १९, पृ० ४९-६०) जहाँ पर रत्नगिरि जिले के शृगारपुर के शिवयोगी नामक ब्राह्मण का वर्णन है जो कोकण से बगाल के राधा नामक सिद्ध के पास गया था। बडी भक्ति से बहुत दिनो तक उसकी सेवा की और स्वय सिद्ध बन गया। अपनी जन्मभूमि को लौट आया और एक मठ का निर्माण किया। हठयोगप्रदीपिका (१।५-८) मे आदिनाथ (शिव), मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, अल्लमप्रभु आदि से लेकर लगभग ३० महासिद्धो का उल्लेख है।

१०७ सत्य बृहदृतमुग्र दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथिवीं धारयन्ति। अथर्व० (१२।१।१)

कुछ तन्त्रो मे, यथा प्रपचसार (५ एव ६), कुलार्णव (१४।३६), शारदातिलक (चौथा पटल), नित्योत्सव (पृ० ४-१०), ज्ञानार्णव (२४ वॉ पटल), विष्णुसहिता (१०), महानिर्वाण० (१०।११२-११६) एव लिंगपुराण (२।२१) मे दीक्षा का विशद उल्लेख हे। निर्णयसागर प्रेस ने सत्यानन्दनाथ के शिष्य विष्णुभट्ट के ग्रन्थ दीक्षा-प्रकाशिका का प्रकाशन सन् १६३५ मे किया जो शक सवत् १७१६ (=१७६७ ई०) मे प्रणीत हुआ था । उपर्युक्त सभी ग्रन्थो मे 'दीक्षा' को 'दा' (देना) धातु एव 'क्षि' (नाश करना) से निष्पन्न माना हे। कुलार्णव० (१७।५१) मे आया है—'सज्जन लोग इसे दीक्षा कहते ह क्योकि यह दिव्य भाव प्रदान करती है, सभी पापो का क्षय करती है और इस प्रकार ससार के बधन से मुक्ति देती हे'। शारदातिलक (४।२) मे आया हे—'क्योकि यह दिव्यज्ञान देती हे और पापो का नाश करती है, अत तान्त्रिक गुरुओ द्वारा यह दीक्षा कहलाती हे'।

शक्तिसगमतन्त्र (१७।३६-३८) मे आया हे कि दीक्षा का सर्वोत्तम काल हे चन्द्र एव सूर्य का ग्रहण-काल, किन्तु चन्द्र-ग्रहण-काल सर्वोत्तम हे। जब मन्त्र-दीक्षा ग्रहण मे दी जाती हे तो वार, तिथि, नक्षत्र, मास या योग या करण का विचार नही होता । कालीविलासतन्त्र मे ऐसा कहा गया हे कि यदि भाग्य से फाल्गुन के कृष्ण पक्ष की पचमी को स्वाती नक्षत्र एव शुक्रवार मिल जाय तो उस दिन की दीक्षा से जो फल प्राप्त होता है वह एक करोड सामान्य दीक्षाओ से नही प्राप्त होता (६।३-४)। और देखिए निर्णयसिन्धु (पृ० ६७) जिसने ज्ञानार्णव को उद्धृत कर यह कहा हे कि मन्त्र-दीक्षा चन्द्र-ग्रहण या उससे सात दिन के भीतर हो जानी चाहिए और मुख्य काल सूर्य-ग्रहण है। उसने कालोत्तर को उद्धृत कर यह कहा हे कि यदि दीक्षा के लिए सूर्य-ग्रहण मिल जाय तो मास, तिथि, वार आदि का विचार नही करना चाहिए। निर्णयसिन्धु ने योगिनीतन्त्र को उद्धृत कर चन्द्र-ग्रहण मे दीक्षा की भर्त्सना की है। देखिए अन्य बातो के लिए विट्ठलकृत मुहूर्तकल्पद्रुम (पृ० ६४, श्लोक ६)।

अग्निपुराण (अध्याय २७, ८१-८६ एव ३०४) मे भी दीक्षा, तान्त्रिक मन्त्रो एव क्रियाओ के विषय मे उल्लेख है, किन्तु स्थानाभाव से हम उसे यहाँ नही दे सकेगे । ज्ञानार्णव० (२४।४५-५३) मे आया है कि दीक्षा के समय गुरु को अपने शिष्य को ६ चक्रो (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एव आज्ञा) के साथ प्रत्येक के दलो की सख्या, रग तथा प्रत्येक के अक्षरो का ज्ञान करा देना चाहिए।

पश्चात्कालीन धर्मशास्त्र-ग्रन्थो ने मन्त्र-दीक्षा के लिए तन्त्र-ग्रन्थो का सहारा लिया हे। **दीक्षा एव उपदेश** मे अन्तर है, क्योकि उपदेश मे मन्त्र-ज्ञान सूर्य-चन्द्र-ग्रहण मे, तीर्थस्थान मे, सिद्धक्षेत्र या शिवालय मे दिया जाता है। देखिए धर्मसिन्धु (पृ० ३२), रघुनन्दन (दीक्षातत्त्व, जिल्द २, पृ० ६४५-६५६)।

महानिर्वाण० (१०।२०१-२०२) मे आया है कि जब शिष्य शाक्त, शव, वैष्णव, सौर या गाणपत्य हो तो गुरु को उसी सम्प्रदाय का होना चाहिए, किन्तु कौल सभी के लिए अच्छा गुरु है। इस ग्रन्थ (१०।११३) मे यह भी आया है कि केवल मद्य पीने से ही कोई कौल नही हो जाता, प्रत्युत वह **अभिषेक** के उपरान्त वैसा होता है। श्लोक ११३-१६३ मे अभिषेक का विशद उल्लेख है जो ईसाइयो के बपतिस्मा के समान लगता है। सर्वप्रथम अभिषेक के एक दिन पूर्व गणेश-पूजा की जाती है, इसके उपरान्त आठ शक्तियो (ब्राह्मी आदि), लोकपालो एव उनके हथियारो की पूजा होती है। इसके उपरान्त दूसरे दिन (अर्थात् अभिषेक के दिन) स्नान के उपरान्त नवशिष्य पाप दूर करने के लिए तिल एव सोना का दान करता है और अभिषेक के सम्पादन के लिए प्रार्थना के साथ गुरु के पास जाता है। इसके उपरान्त गुरु वेदी पर सर्वतोभद्र मण्डल की रचना करता हे, पाँचो तत्त्वो को शुद्ध करता है, एक शुभ घट रखता है और उसे मद्य से या पवित्र जल से भरता हे। प्रमुख क्रिया हे गुरु द्वारा शिष्य पर ब्रह्मा, विष्णु, शिव, मातृकाओ, विभिन्न शक्तियो, अवतारो, देवी के विभिन्न रूपो, दिग्पालो, नवग्रहो, नक्षत्रो, योगो, वारो, करणो, समुद्रो, पवित्र नदियो, नागो, पेडो आदि का आह्वान करके २१ मन्त्रो के साथ (१०।१६०-१८०) जल का छिड-

काव। इसके उपरान्त गुरु शिष्य को एक नया नाम देता है जिसका आनन्दनाथ से अन्त होता है। शिष्य गुरु एव अन्य उपस्थित कौलो का सम्मान करता है। यह उत्सव (कृत्य) ९, ७, ५, ३ रातो या एक रात तक चलता है। देखिए तन्त्रराजतन्त्र (२।५८-७२), ज्ञानसिद्धि (१७)। और देखिए 'सेकोद्देशटीका' की भूमिका (मैरियो ई० करेल्ली द्वारा सम्पादित एक बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ), जहाँ ईसाइयो के बपतिस्मा से मिलता-जुलता कृत्य वर्णित है। अहिर्बुध्न्यसहिता (अध्याय ३९) मे **महाभिषेक** की विधि वर्णित है। महाभिषेक से सभी रोग दूर हो जाते है, सभी शत्रु नष्ट हो जाते है और सभी कामनाओ की पूर्ति होती है।

दीक्षा के चार प्रकार है—क्रियावती, वर्णमयी, कलावती एव वेधमयी। वास्तुयाग, मण्डप, कुण्डो एव स्थण्डिल के निर्माण के विषय मे विस्तृत नियम दिये हुए है, जिनका उल्लेख यहाँ नही किया जा रहा है।

अध्याय २७

न्यास, मुद्राएँ, यन्त्र, चक्र, मण्डल आदि

तान्त्रिक कृत्यो एव पूजा के महत्त्वपूर्ण अगो मे एक है न्यास, जिसका तात्पर्य है 'शरीर के कुछ अगो पर अवस्थित होने के लिए किसी देवता या देवताओ, मन्त्रो का मानसिक रूप से आह्वान करना, जिससे शरीर पवित्र हो जाय और पूजा एव ध्यान करने के योग्य हो जाय।' कुछ ग्रन्थो, यथा—जयाख्यसहिता (पटल ११), प्रपचसार (६), कुलार्णव (४।१८) ने न्यास के कई प्रकारो की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, शारदातिलक (४।२६-४१ एव ५।५-७), महानिर्वाणतन्त्र (३।४१-४३ एव ५।११३-११८) ने न्यास की कतिपय कोटियो का उल्लेख किया है। राघवभट्ट (शारदातिलक, ४।२६-४१) ने न्यास पर किसी विशाल साहित्य से बहुत-से उद्धरण दे डाले है। न्यास के कुछ प्रकार ये ह[1]—हसन्यास, प्रणवन्यास, मातृकान्यास, मन्त्रन्यास, करन्यास, अगन्यास, पीठन्यास। प्रणवन्यास की व्याख्या यो हुई है—'ओ आ ब्रह्मणे नम', 'ओ आ विष्णवे नम', इसी प्रकार अन्य नामो की भी व्याख्या दी गयी है (राघवभट्ट, शारदा० २५।५८)। अगन्यास यो व्याख्यायित है—'ओ हृदयाय नम, ओ शिरसे स्वाहा, ओ शिखायै वषट्, ओ कवचाय हु, ओ नेत्रत्रयाय (या नेत्रद्वयाय) वाषट्, ओ अस्त्राय फट्'। कतिपय पुराणो मे भी न्यास-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ पायी जाती ह। गरुडपुराण (१, अध्याय २६, ३१, ३२) ने अगन्यास को पूजा, जप एव होम का अग माना है। नारदीयपुराण (२।५७।१३-१४), भागवत (६।८, लगभग ४० श्लोक), ब्रह्म० (६०।३५-४०) ने मन्त्रो के न्यास के लिए 'ओ नमो नारायणाय', एव 'ओ विष्णवेनम' की व्यवस्था दी है। कालिका-पुराण (अध्याय ७७) ने मातृकान्यास का उल्लेख किया है। स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ० ३२६-३३१) ने कतिपय उद्धरण दिये है, जिनमे शरीर के विभिन्न अगो पर गायत्री (ऋ० ३।६२।१०) के २४ अक्षरो के न्यास, २४ अक्षरो पर कुछ पुष्पो के रगो, कुछ देवताओ एव अवतारो से सम्बन्धित बातो तथा शरीर के अगो पर गायत्रीपादो के न्यास का वर्णन है। ब्रह्मपुराण (६०।३५-३६) मे 'ओ नमो नारायणाय' नामक मन्त्र के न्यास का उल्लेख है, जो अगुलियो एव शरीर के अन्य अगो पर अवस्थित किया जाता है, उसमे करन्यास एव अगन्यास (२८।२६) का भी उल्लेख है। पद्म० (६।७६।१७-३०) ने शरीर मे सिर से लेकर पाँव तक के अगो पर विष्णु के नामो के न्यास का वर्णन किया है।[2] उसमे (८५।२६) 'ओ नमो भगवते वासुदेवाय' के मन्त्र के साथ अगन्यास एव करन्यास

१ राघवभट्ट ने हसन्यास को यो समझाया है—'ह पुरुषात्मने नम, स प्रकृत्यात्मने नम, हस प्रकृति-पुरुषात्मने नम' (शारदा० ४।२६), आत्मनो देवताभावप्रदानाद्देवतेति च। पद समस्ततन्त्रेषु विद्वद्भि समुदीरितम्॥ हृदयशिरसो शिखाया कवचाक्ष्यस्त्रेषु सह चतुर्थीषु। नत्या हुत्या च वषड् हु वौषट् फट्पदै षडङ्ग विधि॥ प्रपच-सार (६।५-६)। मिलाइए शारदा० (४।३१-३५) एव महानिर्वाण० (३।१४२), जहाँ इसी प्रकार की व्यवस्थाएँ दी हुई हैं।

२ पद्म (६।७६।१७-३०) का आरम्भ एव अन्त निम्नोक्त ढग से होता है शिखाया श्रीधर न्यस्यशिखाद्य श्रीकर तथा। हृशीकेश तु केशेषु मूर्ध्नि नारायण परम्॥ एव न्यासविधि कृत्वा साक्षान्नारायणो भवेत्। व्याहरे-त्किचित् तावद्विष्णुमय स्थित॥

का उल्लेख है। और देखिए मत्स्यपुराण (२२६।२६) जहाँ 'ओं, के साथ न्यास मे मन्त्रो के प्रयोग की बात पायी जाती है। करागन्यास एव करन्यास, जो गायत्री से सम्बन्धित है, देवीभागवत (११।१६-७६-८१) मे वर्णित हैं और वहाँ स्पष्ट रूप से सन्ध्या-पूजा के अग के रूप मे न्यास का नाम आया है। और देखिए देवीभागवत (११।७।२६-३८) एव कालिकापुराण (५३।३६)। देवीभागवत (७।४०।६-८) ने वक्षस्थल, भौहो के मध्य के स्थल, सिर के समान शरीरागो पर कुछ अक्षरो के न्यास का उल्लेख किया है। वृहद्योगियाज्ञवल्क्य (स्मृतिचन्द्रिका, १, पृ० १६८)[3] मे दाहिने हाथ की अगुलियो एव हथेली पर क्रम से गोविन्द, महीधर, हृषीकेश, त्रिविक्रम, विष्णु, माधव के नामो के न्यास का उल्लेख है, जिसे स्मृतिचन्द्रिका ने योगि-याज्ञवल्क्य से उद्धृत किया है और जो आजकल सन्ध्या-पूजा मे ज्यो-का-त्यो होता है। और देखिए स्मृतिच० (१, पृ० १४५), अपरार्क (पृ० १४०), शारदातिलक (५।५-८), राघवभट्ट (शारदा० ५।४) तथा महानिर्वाण० (५।१७६-१७८)।

उपर्युक्त वचनो से विदित होता है कि न्यास की बात तन्त्र-ग्रन्थो से पुराणो द्वारा योगियाज्ञवल्क्य, अपरार्क (१२ वी शती का पूर्वार्ध) एव स्मृतिचन्द्रिका के कई शतियो पूर्व ग्रहण की गयी थी। वर्षक्रियाकौमुदी (१६ वी शती का पूर्वार्ध) से प्रकट है कि इसके बहुत पहले गरुड एव कालिकापुराणो मे न्यास की व्यवस्थाएँ थी। रघुनन्दन के देवप्रतिष्ठातत्त्व (पृ० ५०५) ने मातृकान्यास एव तत्त्वन्यास का उल्लेख किया है। वीरमित्रोदय के पूजाप्रकाश नामक विभाग मे मातृकान्यास, अगन्यास एव गायत्रीन्यास का क्रम से पृ० १३०, १३१ एव १३२ पर उल्लेख है। इसी ग्रन्थ के विभाग भक्तिप्रकाश (पृ० ८८-८६) मे मातृकान्यास का वर्णन है। आजकल कुछ कट्टर लोग न्यास के दो प्रकारो का प्रयोग करते हैं, यथा—**अन्तर्मातृका**, जिसमे 'अ' से 'क्ष' तक के अक्षरो का न्यास हाथो की अगुलियो, हाथो की हथेलियो एव ऊपरी भागो तथा अन्य शरीरागो, यथा—गला, जननेन्द्रियो, आधार-स्थल, भौंहो के मध्य स्थल (जहाँ ६ चक्रो के आसन हैं) पर किया जाता है, तथा **बहिर्मातृकान्यास** जिसमे सभी अक्षरो (अनुस्वार के साथ) का न्यास सिर से पाँव तक के शरीरागो पर 'ओं नम मूर्ध्नि' आदि के रूपो मे होता है।

'न्यास' शब्द 'अस्' (स्थापित करना) एव 'नि' से बना है जिसका अर्थ है किसी मे या किसी पर रखना या स्थापित करना। कुलार्णव ने इसे यो समझाया है[4]—'न्यास इसलिए कहा जाता है कि वहाँ धर्मपूर्वक उपलब्ध धन रखा या स्थापित होता है और वह भी ऐसे लोगो के साथ जिनके द्वारा सुरक्षा प्राप्त होती है (अत वक्ष-स्थल तथा अन्य शरीरागो का अगुलियो के पोरो से तथा दाहिने हाथ की हथेली से मन्त्रो के साथ स्पर्श करने से साधक या पूजक दुष्ट लोगो के बीच मे निर्भयतापूर्वक कार्यशील हो सकता है और देवता के समान हो जाता है)। देखिए जयाख्य सहिता (पटल ११, १-३)। सर जॉन वुड्रॉफ ने न्यास की तुलना ईसाई धर्म मे क्रॉस के चिह्न बनाने से की है (७१-७७)

तान्त्रिक क्रिया का एक अन्य विशिष्ट विषय है मुद्रा। मुद्रा शब्द के कई अर्थ होते हैं जिनमे चार का सम्बन्ध तान्त्रिक प्रयोगो से है। यह योग की क्रियाओ मे एक आसन है, जिसमे सम्पूर्ण शरीर कार्यशील रहता है। यह धार्मिक पूजा के अग के रूप मे अगुलियो एव हाथो का प्रतीकात्मक या रहस्यवादी ढग है जो एक-दूसरे से

३ अगुष्ठे चैव गोविन्द तर्जन्या तु महीधरम्। मध्यमाया हृषीकेशमनामिक्या त्रिविक्रमम्। कनिष्ठिकयां न्यसेद्विष्णु हस्तमध्ये च माधवम्। स्मृतिच० (१, पृ० १६८) ने इसे योगियाज्ञवल्क्य का माना है।

४ न्यायोपार्जितवित्तानामङ्गेषु विनिवेशनात्। सर्वरक्षाकराद् देवि न्यास इत्यभिधीयते॥ कुलार्णव० (१७।५६)।

सयुक्त करने से प्रकट होता है। मुद्रा पचमकारो मे चौथा मकार है और उसका तात्पर्य है विभिन्न प्रकार के अन्न जो घृत से सयुक्त हो या ऐसे अन्न जो भुने हुए हो। मुद्रा का चौथा अर्थ है वह नारी जिससे तान्त्रिक योगी अपने को सम्बन्धित करता है (प्रज्ञोपाय० ५।२४ एव सेकोद्देशटीका, पृ० ५६)। कुलार्णव ने इसे 'मुद' (मोद, प्रसन्नता) से एव 'द्रावय' ('द्रु' का हेतुक) से निष्पन्न माना है और उसने ऐसा कहा है कि मुद्राओ का प्रदर्शन (पूजा मे) होना चाहिए और वे इसीलिए प्रसिद्ध है कि उनसे देवता लोग प्रसन्न होते है ओर उनके मन द्रवीभूत हो जाते है (वे पूजको पर कृपा करते है)। किन्तु शारदातिलक (२३।१०६) ने इसे 'मुद्' एव 'रा' (देना) से व्युत्पन्न माना है ओर इसके मत से मुद्रा का अर्थ है 'जो देवो को आनन्द देती है'[५]। कुछ अन्य व्युत्पत्तियाँ भी है (देखिए जे० ओ० आर०, बडौदा, जिल्द ६, पृ० १३)। राघवभट्ट का कथन है कि अँगूठे से कनिष्ठिका तक की अँगुलियाँ पच तत्त्व के समान है अर्थात् वे क्रम से आकाश, वायु, अग्नि, सलिल एव पृथिवी ह, उनके सम्मिलन से देवता प्रसन्न एव अनुग्रहशील होते ह, और वे उपस्थित होते ह, विभिन्न उचित मुद्राओ का प्रयोग पूजा, जप एव ध्यान मे होना चाहिए, मुद्राओ का प्रयोग उन सभी कृत्यो मे होना चाहिए जो किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए किये जाते ह, क्योकि उनसे देवता पूजक के पास उपस्थित होते है[६]। ऐसा समझा जाता था कि मुद्राओ से पूजा करने वाले का मनोयोग बढ जाता है। सातवी शती मे भी ऐसा विश्वास था कि विष के प्रभाव से मूर्च्छित व्यक्ति को मुद्राओ से पुनर्जीवित किया जा सकता है, जैसा कि कादम्बरी (उत्तर भाग) से प्रकट होता है। वर्षक्रियाकौमुदी मे ऐसा आया है कि जब तक उचित मुद्राएँ न हो जप, प्राणायाम, देव-पूजा, योग, ध्यान एव आसन फलप्रद नही होते।

'मुद्रा' शब्द अगस्त्य की पत्नी के नाम लोपामुद्रा मे भी आया है, जो ऋग्वेद (१।१७९।४) मे उल्लिखित है (लोपामुद्रा वृषण नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्॥)। 'मुद्रा' शब्द अमरकोश मे नही आया है।

५ मुद कुर्वन्ति देवाना मनासि द्रावयन्ति च। तस्मान्मुद्रा इति ख्याता दर्शितव्या कुलेश्वरि॥ कुलार्णव० (१७।५७)। मुद कुर्वन्ति देवाना राक्षसान्द्रावयन्ति च॥ विष्णुसहिता (७।४३), आवाहन्यादिका मुद्रा प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम्। याभिर्विरचिताभिस्तु मोदन्ते सर्वदेवता। शारदा० (२३।१०६) जिस प्रकार राघवभट्ट की टीका है 'रा दाने'। मुद रानि ददातीति मुद्रेति निर्वचनम्। अत एव तद्दर्शनेन देवताहर्षोत्पत्ति। स्वाङ्गुल्यो हि पचभूतात्मिका अगुष्ठाद्या आकाशवाय्वग्निसलिलभूरूपास्तासा मिथ सयोगरूप सकेतात्कोपि देवताप्रगुणीभावपूर्वको मोद सान्निध्यकरो भवति। तदुक्तम्। पृथिव्यादीनि भूतानि कनिष्ठाद्या क्रमान्मता। तेषामन्योन्यसम्भेदप्रकारैस्तत्प्रपञ्चता।' योगिनीहृदय (१।५७) ने इस शब्द की व्युत्पत्ति कुलार्णव के समान की है।

६ अर्चने जपकाले तु ध्याने काम्ये च कर्मणि। तत्तन्मुद्रा प्रयोक्तव्या देवतासनिधापका (पूजाप्रकाश द्वारा उद्धृत, पृ० १२३)। राघवभट्ट ने भी शारदा० (२३।३३६) पर उद्धृत किया है--स्नाने चावाहने चैव प्रातिष्ठाया च रक्षणे। नैवेद्ये च तथान्ते च तत्तत्कर्मप्रकाशने। स्थाने मुद्रा प्रकर्तव्या स्वलक्षणसयुता॥ तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १, पृ० ४६, श्लोक १-३)। मुद्राबन्धाद्ध्यानाद्वा विषप्रसुप्तस्योत्थापने कीदृशी युक्ति। कादम्बरी, उत्तरभाग (चन्द्रापीड की हृदयगति रुक जाने पर शुकनास द्वारा तारापीड को सान्त्वना देने वाली वक्तृता)। मिलाइए आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प (पृ० ३६६) 'निर्विषोपि भवेत्क्षिप्र यो जन्तुर्विषमूर्च्छित। चत्वारिंशति समाख्याता मु । श्रेष्ठा महर्धिका॥ वर्षक्रियाकौमुदी पृ० १५६ 'मुद्रा विना तु यज्जाप्य प्राणायाम सुरार्चनम्। योगो ध्यानासने चापि निष्फलानि तु भैरव'॥ यह श्लोक कालिकापुराण (७०।३५) का है। मेरुतन्त्र (१७।२२) मे आया है 'मुद्राभिरेवतुष्यन्ति न पुष्पादिक पूजनैः। महापूजा कृतातेन येन मुद्राष्टक कृतम्॥

बाली द्वीप वासी बौद्ध एव शैव पुजारी लोगो द्वारा मुद्राओ के प्रयोग के विषय मे मिस टीरा डि क्लीन का एक ग्रन्थ है, जिसकी ओर इस महाग्रन्थ के खण्ड-२ मे लिखा जा चुका है (देखिए अग्रेजी सस्करण, जिल्द २, पृ० ३२०-३२१)। यहाँ हम थोडा विस्तार के साथ उसका उल्लेख करेंगे।

तन्त्र, पुराण एव योग के ग्रन्थो मे मुद्राओ की सख्या, नामो एव परिभाषाओ के विषय मे बडा मतभेद है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १, पृ० ४६-४७) मे मुद्राओ के नामो एव परिभाषाओ का एक निघण्टु (शब्दकोश या वर्णन) है जिसमे ऐसा कथित है कि ९ मुद्राएँ (आवाहनी आदि) अधिक प्रचलित है (जो किसी भी पूजा मे प्रयुक्त की जाने योग्य है) और फिर विष्णु-पूजा सम्बन्धी मुद्राओ का उल्लेख है (कुल १९, यथा—शख, चक्र, गदा, पद्म, वेणु, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, ज्ञान, विद्या, गरुड, नारसिही, वाराही, हयग्रीवी, धनुष्, बाण, परशु, जगन्मोहिनी, वाम)। शिव की, दस मुद्राएँ ये है—लिंग, योनि, त्रिशूल, अक्षमाला, अभीति अर्थात् अभय, मृग, असिका, खट्वाग (गदा जिसके सिर पर खोपडी हो), कपाल, डमरु। सूर्य की एक मुद्रा है—पद्म। गणेश के लिए मुद्राएँ हैं, यथा—दन्त, पाश, अकुश, अविघ्न, परशु, लड्डुक, बीजपूर (जमीर नीबू या चकोतरा)[७]।

शारदातिलक (२३।१०६-११४) ने केवल ९ मुद्राओ का उल्लेख किया है और उनकी परिभाषाएँ दी हैं, विष्णुसहिता (७) के अनुसार मुद्राएँ अगणित है (श्लोक ४५) और उसने ३० के नामो एव परिभाषाओ का उल्लेख किया है तथा ज्ञानार्णव० (४) ने कम-से-कम १९ मुद्राओ का उल्लेख किया है। जयाख्यसहिता (८वाँ पटल) मे ५८ मुद्राओ की चर्चा है। तान्त्रिक ग्रन्थो (विष्णुसहिता, ७।४४-४५, महासहिता, जिसे राघवभट्ट ने शारदा० के श्लोक २३-११४ की टीका मे उद्धृत किया है, स्मृतिच०, १, पृ० १४८) मे ऐसी व्यवस्था दी हुई है कि मुद्राओ का सम्पादन गुप्त रूप से (वस्त्र के) भीतर होना चाहिए न कि बहुत-से लोगो के समक्ष, उसका उल्लेख किसी और से नही करना चाहिए, नही तो वे निष्फल हो जाती हैं। पुण्यानन्दकृत कामकलाविलास ने स्पष्ट रूप से त्रिखण्डा-मुद्रा का नाम लिया है और ९ मुद्राओ का उल्लेख किया है। देखिए नित्याषोडशिकार्णव (तीसरा विश्राम) जहाँ १० मुद्राओ की चर्चा है, यथा—त्रिखण्डा, सर्वसक्षोभकारिणी, सर्वविद्राविणी, आकर्षिणी, सर्वावेशकरी, उन्मादिनी, महाकुशा, खेचरी, बीजमुद्रा एव योनिमुद्रा।

ज्ञानार्णवतन्त्र (४।३१-४७ एव ५१-५६ तथा १५।४७-६८) ने ३० से अधिक मुद्राओ के नाम गिनाये है, जिनमे से कतिपय नित्याषोडशिकार्णव के नामोवाली है, उनकी परिभाषाएँ भी उसी प्रकार है और भास्करराय ने नित्याषोडशिकार्णव की टीका मे उन्हे उद्धृत भी किया है। हम यहाँ शारदातिलक (२३।१०७-११४) मे दी हुई ९ मुद्राओ का उल्लेख कर रहे है[८]—(१) **आवाहनी**, जिसमे दोनो हाथ जोडे जाते हैं, किन्तु बीच मे खोखला

७ ये मुद्राएँ, मुद्रालक्षण ग्रन्थ मे वर्णित हैं (डकन कालेज, पाण्डुलिपि सख्या २९१, १८८७-९१)। इनमें से कुछ मुद्राएँ, जो कुछ देवताओ के विषय मे हैं, विष्णुसहिता (७) एव ज्ञानार्णव० (४) मे हैं। मुद्रानिघण्टु ने शक्ति, अग्नि, त्रिपुरा एव अन्य देवो की मुद्राओ के नाम एव परिभाषाएँ दी हैं। विष्णु-पूजा मे प्रयुक्त होने वाली मुद्राएँ, यथा—शख, चक्र, गदा, पद्म, कौस्तुभ, श्रीवत्स, वनमाला, वेणु आदि नारदतन्त्र नामक ग्रन्थ मे उल्लिखित हैं जिन्हें वर्षक्रियाकौमुदी ने उद्धृत किया है (पृ० १५४-१५६)।

(८) सम्यक् सम्पूरित पुष्पैं कराभ्या कल्पितोऽञ्जलि। आवाहनी समाख्याता मुद्रा देशिकसत्तमै॥ अधोमुखी कृता सैव प्रोक्ता स्थापनकर्मणि। आश्लिष्टमुष्टियुगला प्रोन्नताङ्गुष्ठयुग्मका॥ सन्निधाने समुद्दिष्टा मुद्रेय

होता है जिसमे पुष्प भरे रहते हैं, (२) स्थापनी, इसमे आवाहनी का ही रूप होता है, अन्तर यह होता है कि हाथ एक-दूसरे के ऊपर-नीचे रहते है, (३) सन्निधापनी मुद्रा मे दोनो हाथ सटकर जुडे रहते हैं, किन्तु अगूठे उठे रहते है, (४) सन्निरोधिनी मे ऊपरवाली स्थिति होती है, किन्तु दोनो अगूठे मुष्टि के भीतर होते है, (५) सम्मुखीकरणी मे दोनो बँधी मुष्टिकाएँ (मुट्ठियाँ) उत्तान (ऊपर की ओर) हो, (६) सकलीकृति मे देवता की प्रतिमा के अगो से अपने ६ अगो के न्यास का नाट्य करना होता है, (७) अवगुण्ठनी मे अगुलियाँ सीधे बन्द करके हाथ को नीचा करके प्रतिमा के चारो ओर घुमाया जाता है, (८) धेनुमुद्रा (एक जटिल मुद्रा है) मे दाहिने हाथ की कनिष्ठिका को दाहिनी अनामिका पर दाहिनी अनामिका मे लपेट कर उसे वायी अनामिका मे लपेट देना, वायी अनामिका को वायी मध्यमा एव वाये अँगूठे के ऊपर रखना, पुन दाहिनी मध्यमा से लपेट कर दाहिनी तर्जनी के पास लाना तथा दाहिनी तर्जनी को वायी मध्यमा से मिलाना, (९) महामुद्रा मे दोनो अगूठो को लपेटा जाता है और अन्य अगुलियाँ सीधी रहती है ।

योग सम्बन्धी कुछ ग्रन्थो मे कतिपय मुद्राएँ वर्णित हैं, यथा हठयोगप्रदीपिका (३।६-२३) ने दस मुद्राओ एव घेरण्डसहिता (३।१-३) ने २५ मुद्राओ का उल्लेख किया है। शिवसहिता (४।१५-३१) ने १० मुद्राओ को उत्तम कहा है। हठयोग मे एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है खेचरीमुद्रा, जो देवीभागवत (११।१६।६२-६५), शिवसहिता (४।३१-३३), घेरण्डसहिता (३।२५-२७), हठयोगप्रदीपिका (३।३२-५३) मे वर्णित है । किन्तु यह वर्णन ज्ञानार्णव० (१५।६१-६३) एव नित्याषोडशिकार्णव (३।१५-२३) मे उल्लिखित खेचरी के वर्णन से भिन्न है। वज्रोलीमुद्रा (हठयोगप्रदीपिका ३।८२-९६) का वर्णन यहाँ नही किया जा सकता, क्योकि वह अश्लील है, ऐसा कहा हुआ है कि सभोग सम्बन्धी क्रियाओ के होने पर भी योगी की आयु इस मुद्रा से बढ़ती है।

कुछ पुराणो मे मुद्राओ का विशद वर्णन है । कालिकापुराण ने ६६वे अध्याय मे अगन्यास, करन्यास एव ७०।३६-५६ तथा ७८।३-६ मे धेनुमुद्रा, योनिमुद्रा, महामुद्रा एव खेचरी मुद्रा का उल्लेख है। देवीभागवत (११।१६।९८-१०२) ने गायत्री-जप के समय की २४ मुद्राओ का उल्लेख किया है। ब्रह्मपुराण (६१।५५) एव नारदीयपुराण (२।५७।५५-५६) ने विष्णु-पूजा मे आठ मुद्राओ की व्यवस्था दी है[९] । देखिए अग्निपुराण

तन्त्रवेदिभि । अगुष्ठगर्भिणी सैव सन्निरोधे समीहिता ॥ उत्तानो द्वौ कृतौ मुष्टी समुखीकरणी स्मृता । देवताङ्गे षडङ्गाना न्यास स्यात्सकलीकृति ॥ सव्यहस्तकृता मुष्टिर्दीर्घाधोमुखतर्जनी । अवगुण्ठनमुद्रेयमभितो भ्रामिता सती ॥ अन्योन्याभिमुखाश्लिष्टकनिष्ठानामिका पुन । तथा च तर्जनीमध्या ... समीरिता ॥ अमृतीकरण कुर्यात्तया देशिकसत्तम। अन्योन्यग्रथिताङगुष्ठा प्रसारित कराङगुली ॥ महामुद्रेयमुदिता परमीकरणे बुधै । प्रयोजयेदिमा मुद्रा देवतायागकर्माणि ॥ शारदा० (२३।१०७-११४)

(९) पद्म शखश्च श्रीवत्सो गदा गरुड एव च । चक्रखड्गश्च शाङर्गंच अष्टौ मुद्रा प्रकीर्तिता । ब्रह्म (६१।५५), नारदीय (२।५७।५५-५६) । यह अवलोकनीय है कि ये मुद्राएँ तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १) मे वर्णित १९ विष्णुमुद्राओ मे सम्मिलित हैं । श्रीवत्स को छोड कर ये सभी पूजाप्रकाश (पृ० १२४-१२५) मे सत्रावित एव व्याख्यापित हैं । पूजाप्रकाश (पृ० १३६) मे व्यवस्था दी हुई है कि विष्णु-पूजा मे आवाहन 'सहस्रशीर्ष' (ऋ० १०।९०।१) नामक मन्त्र के साथ होना चाहिए और १४ मुद्राएँ प्रदर्शित होनी चाहिए, जो ये हैं 'सहस्रशीर्षेतिमन्त्रेणावाहन कुर्यात् । तत आवाहनादिचतुर्दशमुद्रा प्रदर्शयेत् । ताश्च आवाहनी स्थापनी समुखकरणी सन्निरोधिनी प्रसादमुद्रा अवगुण्ठनमुद्रा ... गदापद्मम् ... धनुर्बाणमुद्रा ।'

(अध्याय २६) जहाँ ७ श्लोको मे कुछ मुद्राओ की ओर सकेत हैं। कालिकापुराण (७०।३२) में कथित है कि कुल १०८ मुद्राएँ है, जिनमे ५५ सामान्य पूजा तथा ५३ विशिष्ट अवसरो, यथा सामग्रियो को एकत्र करने, नाटक,नाटन आदि मे प्रयुक्त होती हैं ।

ब्रह्माण्डपुराण (ललितोपाख्यान, अध्याय ४२) के बहुत-से श्लोक मुद्रानिघण्टु (पृ० ५५-५७, श्लोक ११०-११८) मे भी पाये जाते है, किन्तु नृत्य की अधिकाश मुद्राएँ विष्णुधर्मोत्तर० मे पायी जाती है। अध्याय ३२ मे इसने गद्य मे मुद्राहस्त नामक कतिपय रहस्य (गुप्त) मुद्राओ का उल्लेख किया है, अध्याय ३३ (१-१२४) मे एक सौ सामान्य मुद्राओ से अधिक की चर्चा की है और अध्याय के अन्त मे उन्हे नृत्तशास्त्र-मुद्राएँ (नाट्यशास्त्र सम्बन्धी मुद्राएँ) कहा गया है। इससे एक ऐसे विषय का उद्घाटन हो जाता है जिसकी चर्चा यहाँ नही हो सकती, यथा—क्या पूजा की रहस्यवादी हस्तमुद्राएँ भरत के नाट्यशास्त्र (अध्याय ४, ८ एव ९) मे उल्लिखित करणो, रेचको एव ३२ अगहारो से निष्पन्न हुई है। यह द्रष्टव्य है कि नाट्यशास्त्र (४।१७१ एव १७३) ने नृत्तहस्तो का उल्लेख किया है।[१०] पाणिनि (४।३।११०-१११) को शिलाली एव कृशाश्व के नटसूत्रो के बारे मे ज्ञान था। भरत ने अभिनय (८।९-१०) के चार प्रकार बताये है आगिक, वाचिक, आहार्य एव सात्त्विक । नवे अध्याय मे हाथो एव अगुलियो के लपेट एव सम्मिलन (सयोग) का उल्लेख है। मुष्टि की परिभाषा भी दी हुई है (९।५५) मुद्राएँ आगिक अभिनय के अन्तर्गत आती है, अगहार करणो पर निर्भर होते हैं तथा करण हाथो एव पाँवो के विभिन्न सगठनो पर आधारित है। यह सम्भव है कि हिन्दू एव बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थो मे पायी जाने वाली मुद्राएँ प्राचीन भारतीय नृत्य एव नाटक मे वर्णित मुद्राओ एव शरीर-गतियो पर आधारित हो और उनके ही विकसित रूप हो। उनके अत्यन्त आरम्भिक स्वरूप नाट्यशास्त्र मे पाये जाते है तथा नाट्य सम्बन्धी मध्यकालीन ग्रन्थो (ने यथा अभिनयदर्पण[११]) भी उन पर प्रकाश डाला है ।

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प (पृ० ३८०) ने १०८ मुद्राओ के नाम और अर्थ दिये हैं। पृ० ३७९ मे ऐसा आया है कि मुद्राओ एव मन्त्रो के सयोग से सभी कर्मों मे सफलता मिलेगी और तिथि, नक्षत्र एव उपवास की कोई आवश्यकता नही पड़ेगी। विष्णुधर्मोत्तरपुराण[१२] मे नृत्य-मुद्राओ की बडी प्रशसा गायी गयी है, यथा—

१० करणैरिह सयुक्ता अगहारा प्रकल्पिता । एतेषामिह वक्ष्यामि हस्तपादविकल्पनम् । नाट्यशास्त्र (४) ३३-३४ । नाट्यशास्त्र (४।३४-५५) मे वर्णित १०८ अगहारो के चित्र गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित नाट्यशास्त्र (जिल्द १) मे हैं जो दक्षिण भारत के चिदाम्बरम् के नटराज मन्दिर के गोपुरो से लिये गये हैं ।

११ देखिए अभिनयदर्पण (डा० मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित, १९५७, पृ० ४७) जहाँ पर हाथो की कुछ मुद्राएँ शख, चक्र, सम्पुट, पाश, कूर्म, मत्स्य, वराह, गरुड, सिंहमुख के नाम से पुकारी गयी हैं और मुद्रानिघण्टु (तान्त्रिक टेक्ट्स, एवालोन द्वारा सम्पादित, जिल्द १, पृ० ४६, श्लोक ५-७ एव पृ० ४९-५०, श्लोक ३२) मे भी वर्णित हैं, जो वैष्णव मुद्राओ की व्याख्या करता है जिनमे से कुछ, यथा गरुड, नाट्यशास्त्र (९।२०१) मे भी पायी जाती हैं ।

१२ ईश्वराणा विलास तु चार्तांना दु खनाशनम् । मूढानामुपदेश तत् स्त्रीणा सौभाग्यवर्धनम् । शान्तिक पौष्टिक काम्य वासुदेवेन निर्मितम् । विष्णुधर्मोत्तर० (३।३४।३०-३१) ।

होता है जिसमे पुष्प भरे रहते हैं, (२) **स्थापनी**, इसमे आवाहनी का ही रूप होता है, अन्तर यह होता है कि हाथ एक-दूसरे के ऊपर-नीचे रहते है, (३) **सन्निधापनी मुद्रा** मे दोनो हाथ सटकर जुडे रहते हैं, किन्तु अगूठे उठे रहते है, (४) **सन्निरोधिनी** मे ऊपरवाली स्थिति होती है, किन्तु दोनो अगूठे मुष्टि के भीतर होते है, (५) **सम्मुखीकरणी** मे दोनो बँधी मुष्टिकाएँ (मुट्ठियाँ) उत्तान (ऊपर की ओर) हो, (६) **सकलीकृति** मे देवता की प्रतिमा के अगो से अपने ६ अगो के न्यास का नाट्य करना होता है, (७) **अवगुण्ठनी** मे अगुलियाँ सीधे वन्द करके हाथ को नीचा करके प्रतिमा के चारो ओर घुमाया जाता है, (८) **धेनुमुद्रा** (एक जटिल मुद्रा है) मे दाहिने हाथ की कनिष्ठिका को दाहिनी अनामिका पर दाहिनी अनामिका मे लपेट कर उसे बायी अनामिका मे लपेट देना, बायी अनामिका को बायी मध्यमा एव बाये अँगूठे के ऊपर रखना, पुन दाहिनी मध्यमा से लपेट कर दाहिनी तर्जनी के पास लाना तथा दाहिनी तर्जनी को बायी मध्यमा से मिलाना, (९) **महामुद्रा** मे दोनो अगूठो को लपेटा जाता है और अन्य अगुलियाँ सीधी रहती है ।

योग सम्वन्धी कुछ ग्रन्थो मे कतिपय मुद्राएँ वर्णित हैं, यथा हठयोगप्रदीपिका (३।६-२३) ने दस मुद्राओ एव घेरण्डसहिता (३।१-३) ने २५ मुद्राओ का उल्लेख किया है। शिवसहिता (४।१५-३१) ने १० मुद्राओ को उत्तम कहा है। हठयोग मे एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है खेचरीमुद्रा, जो देवीभागवत (११।६६।६२-६५), शिवसहिता (४।३१-३३), घेरण्डसहिता (३।२५-२७), हठयोगप्रदीपिका (३।३२-५३) मे वर्णित है । किन्तु यह वर्णन ज्ञानार्णव० (१५।६१-६३) एव नित्याषोडशिकार्णव (३।१५-२३) मे उल्लिखित खेचरी के वर्णन से भिन्न है। वज्रोलीमुद्रा (हठयोगप्रदीपिका ३।८२-९६) का वर्णन यहाँ नही किया जा सकता, क्योकि वह अश्लील है, ऐसा कहा हुआ है कि सभोग सम्बन्धी क्रियाओ के होने पर भी योगी की आयु इस मुद्रा से बढ़ती है।

कुछ पुराणो मे मुद्राओ का विशद वर्णन है । कालिकापुराण ने ६६वे अध्याय मे अगन्यास, करन्यास एव ७०।३६-५६ तथा ७८।३-६ मे धेनुमुद्रा, योनिमुद्रा, महामुद्रा एव खेचरी मुद्रा का उल्लेख है। देवीभागवत (११।१६।९८-१०२) ने गायत्री-जप के समय की २४ मुद्राओ का उल्लेख किया है। ब्रह्मपुराण (६१।५५) एव नारदीयपुराण (२।५७।५५-५६) ने विष्णु-पूजा मे आठ मुद्राओ की व्यवस्था दी है[९] । देखिए अग्निपुराण

तन्त्रवेदिभि । अगुष्ठगर्भिणी सैव सन्निरोधे समीहिता ॥ उत्तानो द्वौ कृतौ मुष्टी समुखीकरणी । देवताङ्गे षडङ्गाना न्यास स्यात्सकलीकृति ॥ सव्यहस्तकृता मुष्टिर्दीर्घाधोमुखतर्जनी । अवगुण्ठनमुद्रेयमभितो भ्रामिता सती॥ अन्योन्याभिमुखाश्लिष्टकनिष्ठानामिका पुन । तथा च तर्जनीमध्या धेनुमुद्रा समीरिता ॥ अमृतीकरण कुर्यात्तया देशिकसत्तम। अन्योन्यग्रथिताङ्गुष्ठा प्रसारित कराङ्गुली ॥ महामुद्रेयमुदिता परमीकरणे बुधै । प्रयोजयेदिमा मुद्रा देवतायागकर्माणि ॥ शारदा० (२३।१०७-११४)

(९) पद्म शखश्च श्रीवत्सो गदा गरुड एव च । चक्रखड्गश्च शार्ङ्गंच अष्टौ मुद्रा प्रकीर्तिता । ब्रह्म (६१।५५), नारदीय (२।५७।५५-५६) । यह अवलोकनीय है कि ये मुद्राएँ तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १) मे वर्णित १९ विष्णुमुद्राओ मे सम्मिलित है । श्रीवत्स को छोड कर ये सभी पूजाप्रकाश (पृ० १२४-१२५) मे सन्नावित एव व्याख्यापित हैं । पूजाप्रकाश (पृ० १३६) मे व्यवस्था दी हुई है कि विष्णु-पूजा मे आवाहन 'सहस्रशीर्ष' (ऋ० १०।९०।१) नामक मन्त्र के साथ होना चाहिए और १४ मुद्राएँ प्रदर्शित होनी चाहिए, जो ये हैं 'सहस्रशीर्षेतिमन्त्रेणावाहन कुर्यात् । तत आवाहनादिचतुर्दशमुद्रा प्रदर्शयेत् । ताश्च आवाहनी स्थापनी समुखकरणी सन्निरोधिनी प्रसादमुद्रा अवगुण्ठनमुद्रा शखचक्रगदापद्ममुसलखड्गधनुर्बाणमुद्रा ।'

(अध्याय २६) जहाँ ७ श्लोको मे कुछ मुद्राओ की ओर सकेत हैं। कालिकापुराण (७०।३२) में कथित है कि कुल १०८ मुद्राएँ है, जिनमे ५५ सामान्य पूजा तथा ५३ विशिष्ट अवसरो, यथा सामग्रियो को एकत्र करने, नाटक,नाटन आदि मे प्रयुक्त होती हैं।

ब्रह्माण्डपुराण (ललितोपारयान, अध्याय ४२) के बहुत-से श्लोक मुद्रानिघण्टु (पृ० ५५-५७, श्लोक ११०-११८) मे भी पाये जाते है, किन्तु नृत्य की अधिकाश मुद्राएँ विष्णुधर्मोत्तर० मे पायी जाती है। अध्याय ३२ मे इसने गद्य मे मुद्राहस्त नामक कतिपय रहस्य (गुप्त) मुद्राओ का उल्लेख किया है, अध्याय ३३ (१-१२४) मे एक सौ सामान्य मुद्राओ से अधिक की चर्चा की है और अध्याय के अन्त मे उन्हे नृत्तशास्त्र-मुद्राएँ (नाट्यशास्त्र सम्बन्धी मुद्राएँ) कहा गया है। इससे एक ऐसे विषय का उद्घाटन हो जाता है जिसकी चर्चा यहाँ नही हो सकती, यथा—क्या पूजा की रहस्यवादी हस्तमुद्राएँ भरत के नाट्यशास्त्र (अध्याय ४, ८ एव ९) मे उल्लिखित करणो, रेचको एव ३२ अगहारो से निष्पन्न हुई है। यह द्रष्टव्य है कि नाट्यशास्त्र (४।१७१ एव १७३) ने नृत्तहस्तो का उल्लेख किया है।[१०] पाणिनि (४।३।११०-१११) को शिलाली एव कृशाश्व के नटसूत्रो के बारे मे ज्ञान था। भरत ने अभिनय (८।९-१०) के चार प्रकार बताये हैं आंगिक, वाचिक, आहार्य एव सात्त्विक। नवे अध्याय मे हाथो एव अगुलियो के लपेट एव सम्मिलन (सयोग) का उल्लेख है। मुष्टि की परिभाषा भी दी हुई है (९।५५) मुद्राएँ आगिक अभिनय के अन्तर्गत आती है, अगहार करणो पर निर्भर होते है तथा करण हाथो एव पाँवो के विभिन्न सगठनो पर आधारित है। यह सम्भव है कि हिन्दू एव बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थो मे पायी जाने वाली मुद्राएँ प्राचीन भारतीय नृत्य एव नाटक मे वर्णित मुद्राओ एव शरीर-गतियो पर आधारित हो और उनके ही विकसित रूप हो। उनके अत्यन्त आरम्भिक स्वरूप नाट्य शास्त्र मे पाये जाते है तथा नाट्य सम्बन्धी मध्यकालीन ग्रन्थो (ने यथा अभिनयदर्पण[११]) भी उन पर प्रकाश डाला है।

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प (पृ० ३८०) ने १०८ मुद्राओ के नाम और अर्थ दिये हैं। पृ० ३७६ मे ऐसा आया है कि मुद्राओ एव मन्त्रो के सयोग से सभी कर्मों मे सफलता मिलेगी और तिथि, नक्षत्र एव उपवास की कोई आवश्यकता नही पडेगी। विष्णुधर्मोत्तरपुराण[१२] मे नृत्य-मुद्राओ की बडी प्रशसा गायी गयी है, यथा—

१० करणैरिह सयुक्ता अगहारा प्रकल्पिता। एतेषामिह वक्ष्यामि हस्तपादविकल्पनम्। नाट्यशास्त्र (४) ३३-३४। नाट्यशास्त्र (४।३४-५५) मे वर्णित १०८ अगहारो के चित्र गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित नाट्यशास्त्र (जिल्द १) मे हैं जो दक्षिण भारत के चिदाम्बरम् के नटराज मन्दिर के गोपुरो से लिये गये हैं।

११ देखिए अभिनयदर्पण (डा० मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित, १९५७, पृ० ४७) जहाँ पर हाथो की कुछ मुद्राएँ शख, चक्र, सम्पुट, पाश, कूर्म, मत्स्य, वराह, गरुड, सिहमुख के नाम से पुकारी गयी हैं और मुद्रानिघण्टु (तान्त्रिक टेक्ट्स, एवालोन द्वारा सम्पादित, जिल्द १, पृ० ४६, श्लोक ५-७ एव पृ० ४९-५०, श्लोक ३२) मे भी वर्णित है, जो वैष्णव मुद्राओ की व्याख्या करता है जिनमे से कुछ, यथा गरुड, नाट्य-शास्त्र (९।२०१) मे भी पायी जाती हैं।

१२ ईश्वराणा विलास तु चार्ताना दुखनाशनम्। मूढानामुपदेश तत् स्त्रीणा सौभाग्यवर्धनम्। शान्तिक पौष्टिक काम्य वासुदेवेन निर्मितम्। विष्णुधर्मोत्तर० (३।३४।३०-३१)।

वे धनिको के विलास है, आर्त लोगो की चिन्ता की नाशक है, मूर्खों के लिए उपदेश हैं, स्त्रियो के सौभाग्य की वर्धक है, वे अपशकुनो को दूर करने, समृद्धि को बढाने एव वाञ्छित पदार्थो की उपलब्धि के लिए वासुदेव द्वारा निर्मित हे ।

बौद्धो मे भी मुद्राओ का प्रयोग था। महायान शाखा के प्रारम्भिक ग्रन्थो मे आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प (३५ वाँ पटल, पृ० ३५५-३८१) मे मुद्राओ का उल्लेख है। पृ० ३८० पर १०८ की सख्या दी हुई है। पृष्ठ ३७२ पर अभयमुद्रा एव वरमुद्रा का उल्लेख है ।एल० एच० वैड्डेल ने 'दि बुद्धिज्म आव तिब्बत और लामा-इज्म' (लण्डन, १८९५) मे लामाओ द्वारा तिब्बत मे प्रयुक्त ९ मुद्राओ का उल्लेख किया है (पृ० ३३६-३३७) ।

इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द २६,१८९७, पृ० २४-२५) मे वर्गेस ने ९ बौद्ध मुद्राओ का उल्लेख किया है ('जो वैड्डेल से भिन्न ह), यथा—भूमिस्पृश् या भूमिस्पर्श मुद्रा, शाक्य बुद्ध की एक मुद्रा जो पृथिवी के साक्ष्य के रूप मे उद्घोपित हे, (२) धर्मचक्र मुद्रा (शिक्षा देने की मुद्रा), (३) अभयमुद्रा (आशीर्वाद देने की मुद्रा) जिसमे बायाँ हाथ पल्थी पर खुला रहता है, दायाँ हाथ वक्षस्थल के समक्ष उठा रहना है, अगुलियाँ एव अगूठा आधे फैले रहते ह और हथेली आगे की ओर रहती है, (४) ज्ञानमुद्रा (ध्यान मुद्रा ?) या पद्मासन-मुद्रा (ध्यान करने की मुद्रा), (५) वर या वरदमुद्रा, जिसमे दाहिना हाथ घुटने पर झुका रहता है, हथेली बाहर खुली रहती है माना दान का प्रतीक हो, (६) ललितमुद्रा (ऐन्द्रजालिक या मोहक), (७) तर्कमुद्रा (दायाँ हाथ वक्षस्थल की ओर उठा हुआ और थोडा सा आकुचित), (८) शरणमुद्रा (आश्रय या रक्षा की मुद्रा), (९) उत्तरबोधि मुद्रा (परम ज्ञान की मुद्रा, जो बहुधा धर्मचक्र मुद्रा की भ्रान्ति उत्पन्न करती है) ।

जैन लोग भी मुद्रा-प्रेमी थे। जे० ओ० आई० (बडोदा) के खण्ड ६, (स० १, पृ० १-३५) मे डा० प्रियबल शाह ने दो जैन ग्रन्थो पर एक सुन्दर निबन्ध लिखा है, जिनमे एक है मुद्राविचार, जिसने ७३ मुद्राओ का और दूसरा है मुद्राविधि, जिसने ११४ मुद्राओ का उल्लेख किया है ।

'रायल काक्वेस्ट एण्ड कल्चरल माइग्रेशस' कलकत्ता, १९५५ नामक पुस्तक मे श्री सी० शिवराममूर्ति ने पृ० ४३ पर लिखा है कि चिदम्बरम के गोपुर मे जो हस्तो एव करणो के रूप मिलते है वे जावा मे प्रम्बनन के शिव मन्दिर मे भी पाये जाते है और वहाँ पताका, त्रिपताक, अर्धचन्द्र, शिखर, कर्तरीमुख, शुचि ऐसे करणो तथा अञ्जलि, पुष्पपुट ऐसे हस्तो का अकन है । 'कण्ट्रीब्यूशस टु दि हिस्ट्री आव दि इण्डियन ड्रामा' (कलकत्ता, १९५८) मे डा० मनमोहन घोष ने ऐसा कहा है कि (वेयॉन अगकोर थॉम) के उभरे हुए नक्षित (नकाशे हुए) चित्रो (आकृतियो) मे जो नृत्य एव नाटक के स्वरूप अभिव्यजित होते हैं और जो आज भी कम्बोडिया के राजघराने मे नृत्य के भाव आदि देखने को मिलते हैं, ये सभी भारत के नाट्यशास्त्र मे वर्णित भाव-मुद्राओ से मिलते-जुलते है, यथा—अञ्जलि, पताका, अर्धचन्द्र, मुष्टि, चन्द्रकला एव कपोत (पृ० ६३) ।

१३वी शती के आगे के कुछ सस्कृत मध्यकालीन धर्मशास्त्र-ग्रन्थ मुद्राओ पर प्रकाश डालते है । हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० २४६-२४७) ने मुकुल, पकज, निष्ठुर एव व्योम नामक मुद्राओ का उल्लेख किया है। स्मृतिच० (१३वी शती का पूर्वार्ध) ने २४ मुद्राओ के नाम एव परिभाषाएँ दी हैं (१, पृ० १४६-१४७) । ये नाम देवीभागवत (११।१६।९८-१०२) मे भी आये है। पूजाप्रकाश (वीरमित्रोदय का एक अश) ने ३२ मुद्राओ की चर्चा की है जिनमे से आठ, यथा—आवाहनी, स्थापनी, सन्निधापनी, सरोधिनी, प्रसाद, अवगुण्ठन,

सम्मुख एव प्रार्थना, सभी देवो की पूजा मे प्रयुक्त होती हैं। कुछ केवल विष्णु-पूजा के लिए कुछ सूर्य, लक्ष्मी एव दुर्गा की पूजा के लिए है और अन्तिम दो, यथा—अञ्जलि एव सहार, सभी देवो के लिए प्रयुक्त होती है। आह्निकप्रकाश (वीरमित्रोदय का एक अश) ने २४ मुद्राओं का उल्लेख किया है जो गायत्री-जप के समय प्रदर्शित होती है और वे देवीभागवत (११।१६।९८-१०२) मे भी पायी जाती हैं, किन्तु वे ब्रह्म से उद्धृत मानी गयी है [१३]। 'ब्रह्म' शब्द से किस ग्रन्थ की ओर सकेत है, कहना कठिन है। मुद्राओं का प्रचलन सार्वभौमिक नही था। धर्मसिन्धु एव सस्कार-रत्नमाला से प्रकट होता है कि न्यास एव मुद्रा कम-से-कम महाराष्ट्र मे अवैदिक कहे जाते थे [१४]।

तान्त्रिक पूजा का एक अग था **मण्डल** जो मध्य एव आधुनिक कालो मे कट्टर हिन्दुओं द्वारा प्रयुक्त होता रहा है। किन्तु ऐसा नही कहा जा सकता कि सस्कृत-लेखकों ने इसे तान्त्रिको से उधार लिया . मण्डल शब्द वृत्त या चक्र के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। तै० स० (५।३।९।२) मे वृत्ताकार ईंटो (मण्डले-ष्टका) का उल्लेख है, और देखिए शत० ब्रा० (४।१।१।२५) सूर्य का चक्र या मण्डल पहिया (चक्र) कहा गया है (ऋ० ४।२८।२, ५।२९।१०) बृह० उप० (५।५।२) मे आया है—'यह आदित्य वह है जिसे सत्य कहा गया है, और सूर्य के मण्डल मे पुरुष की ओर सकेत भी किया गया है (तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एव एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चाय दक्षिणेऽक्षन् पुरुष)। और देखिए वही, (२।३।३)। आगे चलकर वही वेदी पर खीचा गया चित्र या आकार (सामान्यत वृत्ताकार) बन गया। आपस्तम्ब एव कात्यायन के शुल्वसूत्रो

१३ वरदाभयमुद्रे च वरदाभयवत् प्रिये। ज्ञानार्णवतन्त्र (४।३९), जयाख्यसहिता (८।१०४-५) मे वर एव अभय की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है सुस्पष्ट दक्षिण हस्त स्वात्मनस्तु पराङमुखम्। पराङमुख लम्बमान वामपाणि प्रकल्पयेत्। क्रमाद्वरा भयाख्य तु इद मुद्राद्वय द्विज। विज्ञेय लोकपालनामिन्द्रादीना समासत। देखिए भूमिस्पर्श मुद्रा के लिए ए० कुमारस्वामी कृत 'बुद्ध एण्ड दि गॉस्पेल आव बुद्ध' (लण्डन, १९१६, पृ० २९२) जहाँ १८वी शती का चित्र है (यह चित्र लका का है), और देखिए प्रो० ग्रुनवेडेल कृत 'बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया' श्री अग्नेस सी० गिब्बन द्वारा अनूदित, पृ० १७८, चित्र १२६। देखिए धर्मचक्र मुद्रा के लिए वही कुमारस्वामी का ग्रन्थ पृ० ३८ एव ३३० जहाँ क्रम से गुप्तकाल एव गन्धार (प्रथम या द्वितीय शती) के चित्र है। और देखिए डा० बी० भट्टाचार्य का ग्रन्थ 'बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी' (प्लेट ३८)। देखिए ए० एवालोन कृत 'सर्पेण्ट पावर' (५वाँ सस्करण, १९५३, पृ० ४८०, ४८८) जहाँ सिद्धासन मे योगमुद्रा का तथा महामुद्रा का क्रम से अकन है जो आज भी योगाभ्यासियो द्वारा प्रयुक्त होती ह। और देखिये मेम्वायर्स आव आर्क्यालॉजिकल सर्वे आव इण्डिया स० ६६, प्लेट १३ (अभयमुद्रा के लिए)। 'बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया (उपर्युक्त) पृ० १९२ (मैत्रेय की अभय मुद्रा के लिए जो स्वात से प्राप्त किया गया है) तथा वी० ए० स्मिथ लिखित 'हिस्ट्री आव फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन' (सस्करण १९३०), प्लेट ११३, जहाँ जावा से प्राप्त अभयमुद्रा का चित्र है। और देखिए एन० के० भट्टसलि कृत 'आइकॉनॉग्राफी आव बुद्धिस्ट एण्ड ब्रह्मनिकल स्कल्पचर्स इन दि ढाका म्यूजियम' (१९२९), प्लेट ८, जहाँ बुद्ध की भूमिस्पर्शमुद्रा का अकन है, प्लेट २० एव २१, जहाँ दाहिने हाथ की वरद मुद्राओ का चित्र है।

१४ सस्काररत्नमाला (जो अपेक्षाकृत एक आधुनिक ग्रन्थ है) मे कथन है (पृ० २२९) कि न्यास अवैदिक है '. एतमेके नेच्छन्ति स ह विधिरवैदिक इति।'

मे मण्डल के वर्गागार स्वरूप की ओर सकेत किया गया है[१५]। मत्स्यपुराण मे कतिपय वक्तव्यो मे मण्डलो की ओर सकेत है, जो पाँच रगो के चूर्णो से बनते थे (यथा ५८।२२)। इसमे १२ या ८ दलो वाले कमल की ओर भी सकेत है जो पीले या लालचन्दनलेप या विभिन्न रगो से खचित होते थे (७२।३०, ६२।१५, ६४।१२-१३, ७४।६-९ जहाँ आठ दलो वाले कमल का चित्र है और सूर्य-पूजा के लिए घेरेदार गड्ढे का उल्लेख है)। वाराहमिहिर ने बृहत्सहिता (अध्याय ४७) मे पुष्पस्नान नामक एक पवित्र क्रिया का उल्लेख किया है जिसमे विभिन्न रगो वाले चूर्णो से पवित्र भूमि पर मण्डल बनाने की ओर सकेत है, जिसमे देवताओ, ग्रहो, नक्षत्रो आदि के स्थान निर्धारित रहते थे[१६]। ब्रह्मपुराण (२८।२८) मे कमल-चित्र पर सूर्य के आवाहन का उल्लेख है और एक अन्य स्थान (६१।१-३) पर कमल के रूप मे मण्डल पर नारायण की पूजा की ओर सकेत है, जिसे रघुनन्दन ने पुरुषोत्तम-तत्त्व (पृ० ५६९) मे उद्धृत किया है। हर्षचरित (७वी शती का पूर्वार्ध) मे कई रगो से खचित एक बडे मण्डल का उल्लेख है[१७] और देखिए वराहपुराण (९९।९-११) जहाँ मण्डल मे लक्ष्मी एव नारायण की प्रतिमाओ या चित्रालेखनो की पूजा की चर्चा है। अग्निपुराण (अध्याय ३२०) मे आठ मण्डलो, सर्वतोभद्र आदि का उल्लेख है। शारदातिलक (३।११३-११८, १३१-१३४, १३५-१३६, नवनाभ मण्डल), ज्ञानार्णव० (२६।१५-१७) आदि मे कई मण्डलो का वर्णन है। अमरकोश (२, पुरवर्ग) के मतानुसार सर्वतोभद्र राजाओ एव धनिको के भवन का एक प्रकार है। शारदातिलक (३।१०६-१३०) मे सर्वतोभद्र के निर्माण का बृहद् उल्लेख है और ऐसा कहा गया है कि यह सभी प्रकार की पूजा मे प्रयुक्त होता है (मण्डल सर्वतोभद्रमेतत्सवारण स्मृतम्।)। इसमे (३।१२२-१२४) आया है कि मण्डल का आलेखन पाँच रगो के चूर्णो से होना चाहिए, यथा—हल्दी के चूर्ण से पीला, चावल के चूर्ण से श्वेत, कुसुम्भ चूर्ण से लाल, अधभुने मोटे अन्नो के चूर्ण से काला, जिस पर दूध छिडका गया हो, तथा बिल्व की पत्तियो के चूर्ण से हरा रग। इसी प्रकार प्रपचसार (५।६४-६५), अग्निपु० (३०।१९-२०) आदि मे रगो का विधान है। रघुनन्दन के वास्तुयागतत्त्व (पृ० ४१६) मे शारदातिलक (३।१२३-१२४) का उद्धरण

१५ चतुरश्रम मण्डल चिकीर्षन् मध्यात् कोट्या निपातयेत्। पार्श्वत परिकृष्यातिशयतृतीयेन सह परिलिखेत्। सा नित्या मण्डलम्। यावद्धीयते तावदागन्तु। मण्डल चतुरस्र चिकीर्षन् विष्कम्भ पचदशभागान् कृत्वा द्वावुद्धरेत्। त्रयोदशावशिष्यन्ते सा नित्या चतुरश्रमम्। आपस्तम्बशुल्वसूत्र (३।२-३)। मिलाइए कात्यायन का शुल्वसूत्र जो राघवभट्ट द्वारा (शारदातिलक ३।५७) उद्धृत है। देखिए विभूतिभूषण दत्त (कलकत्ता, १९३२) लिखित 'दि साइस आव दि शुल्ब' (आरम्भिक हिन्दू ज्यामेट्री का एक अध्ययन), पृ० १४०। वैदिक यज्ञो मे तीन अग्नि-कुण्ड थे, यथा—गार्हपत्य, आहवनीय एव दक्षिणाग्नि और वे क्रम से वृत्ताकार, वर्गाकार एव अर्धवृत्ताकार होते थे। और वे सभी क्षेत्रफल मे बराबर होते थे। आपस्तम्ब शुल्वसूत्र मे क्षेत्रफल निकालने की विधि की ओर सकेत है, क्योकि वह उन आकारो को बराबर (क्षेत्रफल मे) कहता है।

१६ तस्मिन् मण्डलमालिख्य कल्पयेत्तत्र मेदिनीम्। नानारत्नाकरवती स्थानानि विविधानि च। वर्णैर्विविधै कृत्वा हृद्यैर्गन्ध गुणान्वितै। यथास्व पूजयेद्विद्वान्गधमाल्यानुलेपनै। बृहत्सहिता (४७।२४)। यहाँ 'तस्मिन' से तात्पर्य है 'भूप्रदेशे'।

१७ महामण्डलेमिवानेकवर्णरागमालिखन्त शिववलिमिव दिक्षु विक्षियन्त (भैरवाचार्य .) ददर्श। हर्षचरित (३)।

है। ज्ञानार्णवतन्त्र (२४।८-१० एव २६।१५-१७) मे ऐसा आया है कि मण्डल एव चक्र एक-दूसरे के समानार्थी है ओर मण्डल का आलेखन एक मण्टप मे वेदी पर कुकुम या सिन्दूर रग के चूर्ण मे ८ कोणो मे होना चाहिए। ओर देखिए महानिर्वाणतन्त्र (१०।१३७-१३८)। मण्डल-क्रियाओ की चार विशेषताए हैं—मण्डल, मन्त्र, पूजा एव मुद्रा।

वौद्ध तन्त्रो मे भी मण्डलो का प्रभूत उल्लेख है। मञ्जुश्रीमूलकल्प मे मण्डलो के आलेखन की विशिष्ट विधियो एव रँगने की चर्चा की गयी है। गुह्यसमाजतन्त्र मे वीच मे चक्र वाले, १६ हाथ के एक मण्डल का उलेख है। देखिए प्रो० जी० टुस्सी का ग्रन्थ 'इण्डोतिब्वेतिका' (जिल्द ४, भाग १, रोम १९४१); जिसमे मण्डलो की तालिकाएँ दी हुई है, ए० गेट्टी कृत 'दि गॉड्स आव नार्दर्न वुद्धिज्म' (१९०८), प्लेट १६, जहा नो तत्त्वो का एक मण्डल प्रदर्शित है, 'ऐक्टा ओरिऐण्टालिया आव दि ओरिऐण्टल सोसाइटीज आव डेनमार्क, नार्वे आदि' मे एरिक हाई कृत 'कण्ट्रीव्यूशन टु दि स्टडी आव मण्डल एण्ड मुद्रा' (पृ० ५७-९१, जिल्द २३, स० १ एव २, १९५८), जिसमे अन्त मे लगभग १०० मुद्राओ के चित्र दिये गये हैं। वगाल के राजा रामपाल (१०८४-११३० ई०) के समकालीन अभयकर गुप्त के ग्रन्थ निष्पन्नयोगावलि (गायकवाड ओरिऐण्टल सीरीज, बडोदा) मे २६ अध्यायो मे २६ मण्डलो का वर्णन है, जहाँ प्रत्येक मण्डल मे एक केन्द्रीय देवता रहता है तथा बहुत-सी लघु वौद्ध दिव्यात्माओ का, जो कभी-कभी सख्या मे एक सो भी हो जाती है, आलेखन है।

निर्णयसागर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'ऋग्वेदब्रह्मकर्मसमुच्चय' (छठा सस्करण, वम्बई, १९३६) मे जो कृत्यो का एक सकलन है, आरम्भ मे ही कतिपय मण्डलो का, यथा—सर्वतोभद्र, चतुर्लिंगतोभद्र, प्रासाद वास्तु-मण्डल, गृहवास्तुमण्डल, ग्रहदेवतामण्डल, हरिहरमण्डल, एकलिगतोभद्र के चित्र है, जो रगीन एव सादे दोनो रूपो मे अकित है। स्मृतिकोस्तुभ ने द्वादशलिगतोभद्र हरिहर-मण्डल का, जिसके भीतर सर्वतोभद्र भी है, उल्लेख किया है। हम इनका वर्णन यहाँ नही करेगे। 'सर्वतोभद्र' का शाब्दिक अर्थ है 'सभी प्रकारो मे शुभ'। यह शुभ चित्रकाव्य-शास्त्र के अन्तर्गत भी समाविष्ट हो गया। काव्यादर्श मे दण्डी ने सर्वतोभद्र के रूप मे एक श्लोक का उदाहरण दिया है, जो 'चित्र-बन्धो' के लिए प्रयुक्त हुआ है। दण्डी से लगभग एक शती पूर्व के किरातार्जुनीय (१५।२५) मे सर्वतोभद्र का उदाहरण आया है।[१८]

'एक्टा ओरिऐण्टालिया' मे दो तिब्बती पाण्डुलिपियो के विषयो की एक सुन्दर व्याख्या उपस्थित की गयी है। एक पाण्डुलिपि मे चावल-मण्डल है जिसमे विभिन्न नामो मे ३७ तत्त्व प्रकट किये गये है और दूसरी मे मुद्राओ के १२३ चित्र प्रदर्शित है।

तन्त्र-पूजा का एक अन्य विशिष्ट विषय है **यन्त्र** (ज्यामितीय आकृति), जो कभी-कभी **चक्र** नाम से भी विख्यात होता है। यन्त्र का उल्लेख कुछ पुराणो मे भी हुआ है ओर यत्र-तत्र आधुनिक प्रयोगो मे भी इसकी चर्चा होती है। यह धातु, पत्थर, कागद या किसी अन्य वस्तु पर खोदा हुआ या तक्षित या खीचा हुआ या रँगा हुआ होता है। यह मण्डल से मिलता-जुलता है, अन्तर यह है कि मण्डल का उपयोग किसी देवता की पूजा

१८ प्राहुरर्धभ्रम नाम श्लोकार्धभ्रमण यदि। तदिष्ट सर्वतोभद्र भ्रमण यदि सर्वत ॥ काव्यादर्श ३।८०। किरातार्जुनीय (सर्ग १५, श्लोक २५) मे यो आया है सर्वतोभद्र—देवाकानिनिकावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा। काकारेभभरे काका निस्वभव्यव्यभस्वनि ॥

मे होता है किन्तु यन्त्र का उपयोग किसी विशिष्ट देवता की पूजा या किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए होता है। कुलार्णवतन्त्र[१९] मे आया है—'यन्त्र का विकास मन्त्र से हुआ है, और इसे मन्त्ररूपी देवता कहा गया है, यन्त्र पर पूजित देवता सहसा प्रसन्न हो जाता है (और अनुग्रह करता है), प्रेम एव क्रोध नामक दोषो से उत्पन्न क्लेशो को दूर करता है अत इसे यन्त्र कहा जाता है। यदि यन्त्रो मे परमात्मा पूजित हो तो वह प्रसन्न हो जाता है।' उसी तन्त्र मे पुन आया है कि 'यदि पूजा यन्त्र के विना की जाय तो देवता प्रसन्न नही होता।' यहाँ पर 'यन्त्र' शब्द 'यन्त्र्' धातु से निकला कहा गया है। एक अन्य स्थान पर इसी तन्त्र मे आया है कि 'यन्त्र इसलिए कहा जाता है कि यह सदैव पूजक को यम (मृत्यु के देवता) तथा अन्य भूतादि से बचाता है।' रामपूर्वतापनी उपनिषद्[२०] मे आया है—'यन्त्र की व्यवस्था (या निर्माण) देवता का शरीर है जो सुरक्षा प्रदान करता है।' कौलावलीनिर्णय मे ऐसा कहा गया है कि विना यन्त्र के देवता की पूजा, विना मास के तर्पण, विना शक्ति (पत्नी या कोई अन्य नारी जो साधक से सम्बन्धित हो) के मद्यपान—ये सभी निष्फल होते है। कुछ ग्रन्थो ने यन्त्र-गायत्री की भी कल्पना कर डाली है।[२१]

उपर्युक्त वचनो से यह व्यक्त होता है कि यन्त्र वह तत्त्व था जिसके द्वारा क्रोध, प्रेम आदि के कारण दोलायमान मन की गतियो पर नियन्त्रण किया जाता था और मन को उस चित्र या आकार पर लगाया जाता था जिसमे देवता को प्रतिष्ठापित किया गया रहता था। इससे मनोयोग होता था, और देवता की मानसिक प्रत्यभिज्ञा होती थी। देवता एव यन्त्र का अन्तर वही है जो आत्मा एव देह मे होता है।

त्रिपुरातापनी उपनिषद् (२।३), प्रपञ्चसारतन्त्र (पटल २१ एव ३४), शारदातिलक (७।५३-६३, २४), कामकलाविकास (श्लोक २२, २६, २८, ३० एव ३३), नित्याषोडशिकार्णव (१।३१-४३), नित्योत्सव (पृ० ६, ६४-६५), तन्त्रराजतन्त्र (२।४४-५१, ८।३०, २३), अहिर्बुध्न्यसंहिता (अध्याय २३-२६), मन्त्र-महोदधि (२० वी तरंग), कौलज्ञाननिर्णय (१०, जहाँ यन्त्रो को चक्र कहा गया है), कौलावलीनिर्णय (३।

१९ यन्त्र मन्त्रमय प्रोक्त देवता मन्त्ररूपिणी। मन्त्रे सा पूजिता देवी सहसैव प्रसीदति। काम-क्रोधादि-दोषोत्थ सर्वदु ख नियन्त्रणात्। यन्त्रमित्याहुरेतस्मिन् देव प्रीणाति पूजित ॥ कुलार्णव० (६।८५–८६), इसका प्रथम अर्ध श्लोक वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० १४७) द्वारा अगस्त्यसंहिता से उद्धृत किया गया है विना यन्त्रेण पूजा चेद् देवता न प्रसीदति (वही, १०।१०८)। यमभूतादि सर्वेभ्यो भयेभ्योपि कुलेश्वरि। त्रायते सतत चैव तस्माद्यन्त्रमितीरितम्। (वही, १७।६१)। 'यन्त्र' मे 'य' यम तथा अन्य लोगो के लिए प्रयुक्त है, 'त्र' को 'त्रै' (या 'त्रा') से निष्पन्न माना गया है। विना यन्त्रेण या पूजा विना मासेन तर्पणम्। विना शक्त्या तु यत्पान तत्सर्वं निष्फल भवेत्॥ कौलावलीनिर्णय (८।४१–४२)। साभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना। विना यन्त्रेण चेत्पूजा देवता न प्रसीदति॥ रामपूर्वतापनीयोपनिषद् (१।१२)।

२० यह अवलोकनीय है कि अन्तिम अर्धांश वही है जो अन्तिम अर्धांश कुलार्णव का है (१०।१०८)। देखिए हीन-राइख जिम्मर कृत ग्रन्थ 'मीथ्स एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट एव सिविलिजेशन' (पृ० १४०–१४८), जहाँ यन्त्र की चर्चा है। और देखिए अहिर्बुध्न्यसंहिता (अध्याय ३६), जहाँ पर सुदर्शनचक्र के निर्माण एव पूजा का वर्णन है।

२१ यन्त्रगायत्री यह है—'यन्त्रराजाय विद्महे वरप्रदाय धीमहि। तन्नो यन्त्र प्रचोदयात्॥ मेरुतन्त्र (३३।१३)।

१०५-१३५), मेरुतन्त्र (३३वाँ प्रकाश, ५६२वाँ श्लोक), मन्त्रमहार्णवतन्त्र (उत्तरखण्ड, ११वी तरग) आदि मे यन्त्रो का उल्लेख है। इन तान्त्रिक ग्रन्थो मे यन्त्र के विषय मे जो कुछ कहा गया है उसका विवरण उपस्थित करना यहाँ सम्भव नही है। पद्मपुराण (पातालखण्ड, ७६।१) मे आया है कि हरि (विष्णु) की पूजा शाल-ग्राम-शिला पर या रत्न पर या यन्त्र, मण्डल पर या प्रतिमाओ मे हो सकती है, केवल मन्दिरो मे ही नही। अहिर्बुध्न्य० (३६, श्लोक ५-६६) ने सुदर्शन-यन्त्र की पूजा की विधि का वर्णन किया है जो राजा द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा समृद्धि के लिए की जाती है। हम यहाँ पर एक यन्त्र या चक्र का वर्णन कर रहे है। सबसे प्रमुख एव प्रसिद्ध है श्रीचक्र जो दो श्लोको (जो नीचे पाद-टिप्पणी मे दिये हुए है) मे वर्णित है और उसकी व्याख्या नित्याषोडशिकार्णव (१।३१-४६) की टीका सेतुबन्ध मे हुई है।[२२] एक छोटे से त्रिभुज मे एक विन्दु के साथ चक्र खीचा जाता है। वह विन्दु शक्ति या मूल प्रकृति का द्योतक है। तन्त्रो पर प्रकाशित ग्रन्थो मे श्रीचक्र रगो मे खीचा गया है (सौन्दर्यलहरी, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९५७), किन्तु अन्य तन्त्रो मे सादे ढग से खीचा गया है (कामकलाविलास, ए० एवालोन द्वारा सम्पादित एव गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास द्वारा प्रकाशित, १९५३)। कुछ ग्रन्थो मे श्रीचक्र के चित्र मे द्वार नही है (ए० एवालोन कृत 'प्रिंसिपुल्स आव तन्त्र' का मुखपृष्ठ) किन्तु कही-कही द्वार दिखाये गये है (सौन्दर्यलहरी)। कुल ९ त्रिभुज होते है, जिनमे पाँच के शीर्षकोण नीचे लटके रहते है और ये सभी शक्ति के द्योतक है, अन्य चार त्रिभुजो (शिव के द्योतक) के शीर्षकोण ऊपर होते है। सबसे छोटे त्रिभुज मे, जो नीचे की ओर झुका रहता है, विन्दु बना हुआ होता है। पुन दस-दस त्रिभुजो के दो दल होते है (कुछ ग्रन्थो मे नीले एव लाल रगो मे प्रदर्शित है), फिर

२२ विन्दु-त्रिकोण-वसुकोण-दशारयुग्म-मन्वस्त्रनागदलसयुतषोडशारम्। वृत्तत्रय च धरणीसदनत्रय च श्रीचक्रराजमुदित परदेवताया ॥ आनन्दगिरि के शकरविजय द्वारा उद्धृत (पृ० २५५)। नित्याषोडशिका० (१।३१) की टीका सेतुबन्ध एव यामल (सम्भवत रुद्रयामल, जो आद्य शकराचार्य द्वारा प्रणीत कहा जाता है) एव 'चतुर्भि श्रीकण्ठै शिवयुवतिभि पञ्चभिरपि प्रभिन्नाभि शम्भोर्नवभिरपि मूल प्रकृतिभि। त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्म - त्रिवलय-त्रिरेखाभि सार्ध तव भवनकोणा परिणता ॥ सौन्दर्यलहरी (श्लोक ११, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९५७, लक्ष्मीधरा नामक टीका के साथ) मे कुछ लोग दूसरे श्लोक मे चतुश्चत्वारिंशत् पढते है। वसु का अर्थ है ८, मनु का १४, नाग का ८ एव कला का १६। इसके वर्णन के दो रूप है—(१) विन्दु से आगे (जिसे सृष्टि-क्रम कहा जाता है) या (२) बाहरी रेखाओ से विन्दु की ओर (जिसे सहारक्रम कहा जाता है)। देखिए सर जॉन वुड्रौफ कृत 'शक्ति एण्ड शाक्त' (तीसरा सस्करण, १९२९, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास द्वारा प्रकाशित), पृ० ३९९ पर श्रीचक्र के चित्र की व्याख्या दी हुई है। देवीरहस्य (डकन कालेज पाण्डु-लिपि, स० ४६०, १८९५–९८) नामक तान्त्रिक ग्रन्थ ने 'बिन्दुत्रिकोण देवताया' को उद्धृत किया है, किन्तु इस चक्र का एक अन्य ढग से वर्णन करने वाले एक दूसरे श्लोक को भी उद्धृत किया है। विभिन्न ग्रन्थो मे चक्रो का वर्णन विभिन्न ढगो से हुआ है। उदाहरणार्थ, डकन कालेज की पाण्डुलिपि स० ९६२ (१८८४–१८८७) ने कौलागम के अनुसार दुर्गा-पूजा मे प्रयुक्त चक्रभेद को पाँच चक्रो के रूप में माना है, यथा—राजचक्र, महाचक्र, देवचक्र, वीरचक्र एव पशुचक्र, किन्तु पाण्डुलिपि स० ९६४ (१८८७–९१) मे कुछ अन्य चक्र भी दिये गये है, यथा—अकडमचक्र, ऋणधनशोधनचक्र, राशिचक्र, नक्षत्रचक्र (कैटॉलॉग, जिल्द १६, तन्त्र, पृ० २५१)।

मे होता है किन्तु यन्त्र का उपयोग किसी विशिष्ट देवता की पूजा या किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए होता है। कुलार्णवतन्त्र[19] मे आया है—'यन्त्र का विकाम मन्त्र से हुआ है, और इसे मन्त्ररूपी देवता कहा गया है, यन्त्र पर पूजित देवता सहसा प्रसन्न हो जाता है (और अनुग्रह करता है), प्रेम एव क्रोध नामक दोषो से उत्पन्न क्लेशो को दूर करता है अत इसे यन्त्र कहा जाता है। यदि यन्त्रो मे परमात्मा पूजित हो तो वह प्रसन्न हो जाता है।' उसी तन्त्र मे पुन आया है कि 'यदि पूजा यन्त्र के बिना की जाय तो देवता प्रसन्न नही होता।' यहाँ पर 'यन्त्र' शब्द 'यन्त्' धातु से निकला कहा गया है। एक अन्य स्थान पर इसी तन्त्र मे आया है कि 'यन्त्र इसलिए कहा जाता है कि यह सदैव पूजक को यम (मृत्यु के देवता) तथा अन्य भूतादि से बचाता है।' रामपूर्वतापनी उपनिषद्[20] मे आया है—'यन्त्र की व्यवस्था (या निर्माण) देवता का शरीर है जो सुरक्षा प्रदान करता है।' कौलावलीनिर्णय मे ऐसा कहा गया है कि बिना यन्त्र के देवता की पूजा, बिना मास के तर्पण, बिना शक्ति (पत्नी या कोई अन्य नारी जो साधक से सम्बन्धित हो) के मद्यपान—ये सभी निष्फल होते है। कुछ ग्रन्थो ने यन्त्र-गायत्री की भी कल्पना कर डाली है।[21]

उपर्युक्त वचनो से यह व्यक्त होता है कि यन्त्र वह तत्त्व था जिसके द्वारा क्रोध, प्रेम आदि के कारण दोलायमान मन की गतियो पर नियन्त्रण किया जाता था और मन को उस चित्र या आकार पर लगाया जाता था जिसमे देवता को प्रतिष्ठापित किया गया रहता था। इससे मनोयोग होता था, और देवता की मानसिक प्रत्यभिज्ञा होती थी। देवता एव यन्त्र का अन्तर वही है जो आत्मा एव देह मे होता है।

त्रिपुरातापनी उपनिषद् (२।३), प्रपञ्चसारतन्त्र (पटल २१ एव ३४), शारदातिलक (७।५३-६३, २४), कामकलाविकास (श्लोक २२, २६, २९, ३० एव ३३), नित्याषोडशिकार्णव (१।३१-४३), नित्योत्सव (पृ० ६, ६४-६७), तन्त्रराजतन्त्र (२।४४-५१, ८।३०, २३), अहिर्बुध्न्यसहिता (अध्याय २३-२६), मन्त्र-महोदधि (२० वी तरग), कौलज्ञाननिर्णय (१०, जहाँ यन्त्रो को चक्र कहा गया है), कौलावलीनिर्णय (३।

१९ यन्त्र मन्त्रमय प्रोक्त देवता मन्त्ररूपिणी। मन्त्रे सा पूजिता देवी सहसैव प्रसीदति। काम-क्रोधादि-दोषोत्थ सर्वदुःख नियन्त्रणात्। यन्त्रमित्याहुरेतस्मिन् देव प्रीणाति पूजित ॥ कुलार्णव० (६।८५-८६), इसका प्रथम अर्ध श्लोक वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० १४७) द्वारा अगस्त्यसहिता से उद्धृत किया गया है बिना यन्त्रेण पूजा चेद् देवता न प्रसीदति (वही, १०।१०९)। यमभूतादि सर्वेभ्यो भयेभ्योपि कुलेश्वरि। त्रायते सतत चैव तस्माद्यन्त्रमितीरितम्। (वही, १७।६१)। 'यन्त्र' मे 'य' यम तथा अन्य लोगो के लिए प्रयुक्त है, 'त्र' को 'त्रै' (या 'त्रा') से निष्पन्न माना गया है। बिना यन्त्रेण या पूजा बिना मासेन तर्पणम्। बिना शक्त्या तु यत्पान तत्सर्वं निष्फल भवेत् ॥ कौलावलीनिर्णय (८।४१-४२)। साभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना। बिना यन्त्रेण चेत्पूजा देवता न प्रसीदति ॥ रामपूर्वतापनीयोपनिषद् (१।१२)।

२० यह अवलोकनीय है कि अन्तिम अर्धाश वही है जो अन्तिम अर्धाश कुलार्णव का है (१०।१०९)। देखिए होन-राइख जिम्मर कृत ग्रन्थ 'मीथ्स एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट एव सिविलिजेशन' (पृ० १४०-१४८), जहाँ यन्त्र की चर्चा है। और देखिए अहिर्बुध्न्यसहिता (अध्याय ३६), जहाँ पर सुदर्शनचक्र के निर्माण एव पूजा का वर्णन है।

२१ यन्त्रगायत्री यह है—'यन्त्रराजाय विद्महे वरप्रदाय धीमहि। तन्नो यन्त्र प्रचोदयात् ॥ मेरुतन्त्र (३३।१३)।

१०५-१३५), मेरुतन्त्र (३३वाँ प्रकाश, ५६२वाँ श्लोक), मन्त्रमहार्णवतन्त्र (उत्तरखण्ड, ११वी तरग) आदि मे यन्त्रो का उल्लेख है। इन तान्त्रिक ग्रन्थो मे यन्त्र के विषय मे जो कुछ कहा गया है उसका विवरण उपस्थित करना यहाँ सम्भव नही हे। पद्मपुराण (पातालखण्ड, ७६।१) मे आया है कि हरि (विष्णु) की पूजा शालग्राम-शिला पर या रत्न पर या यन्त्र, मण्डल पर या प्रतिमाओ मे हो सकती है, केवल मन्दिरो मे ही नही। अहिर्बुध्न्य० (३६, श्लोक ५-६६) ने सुदर्शन-यन्त्र की पूजा की विधि का वर्णन किया है जो राजा द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा समृद्धि के लिए की जाती हे। हम यहाँ पर एक यन्त्र या चक्र का वर्णन कर रहे है। सबसे प्रमुख एव प्रसिद्ध हे श्रीचक्र जो दो श्लोको (जो नीचे पाद-टिप्पणी मे दिये हुए है) मे वर्णित है और उसकी व्याख्या नित्याषोडशिकार्णव (१।३१-४६) की टीका सेतुबन्ध मे हुई है।[22] एक छोटे मे त्रिभुज मे एक बिन्दु के साथ चक्र खीचा जाता है। वह बिन्दु शक्ति या मूल प्रकृति का द्योतक हे। तन्त्रो पर प्रकाशित ग्रन्थो मे श्रीचक्र रगो मे खीचा गया हे (सौन्दर्यलहरी, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९५७), किन्तु अन्य तन्त्रो मे सादे ढग से खीचा गया है (कामकलाविलास, ए० एवालोन द्वारा सम्पादित एव गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास द्वारा प्रकाशित, १९५३)। कुछ ग्रन्थो मे श्रीचक्र के चित्र मे द्वार नहीं ह (ए० एवालोन कृत 'प्रिंसिपुल्स आव तन्त्र' का मुखपृष्ठ) किन्तु कहीं-कही द्वार दिखाये गये है (सौन्दर्यलहरी)। कुल ९ त्रिभुज होते ह, जिनमे पाँच के शीर्षकोण नीचे लटके रहते है और ये सभी शक्ति के द्योतक हे, अन्य चार त्रिभुजो (शिव के द्योतक) के शीर्षकोण ऊपर होते हे। सबसे छोटे त्रिभुज मे, जो नीचे की ओर झुका रहता है, बिन्दु बना हुआ होता है। पुन दस-दस त्रिभुजो के दो दल होते है (कुछ ग्रन्थो मे नीले एव लाल रगो मे प्रदर्शित हैं), फिर

२२ बिन्दु-त्रिकोण-वसुकोण-दशारयुग्म-मन्वस्रनागदलसयुतषोडशारम्। वृत्तत्रय च धरणीसदनत्रय च श्रीचक्रराजमुदित परदेवताया ॥ आनन्दगिरि के शकरविजय द्वारा उद्धृत (पृ० २५५)। नित्याषोडशिका० (१।३१) की टीका सेतुबन्ध एव यामल (सम्भवत रुद्रयामल, जो आद्य शकराचार्य द्वारा प्रणीत कहा जाता है) एव 'चतुर्भि श्रीकण्ठै शिवयुवतिभि पञ्चभिरपि प्रभिन्नाभि शम्भोर्नवभिरपि मूल प्रकृतिभि। त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्म - त्रिवलय-त्रिरेखाभि सार्ध तव भवनकोणा परिणता ॥ सौन्दर्यलहरी (श्लोक ११, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९५७, लक्ष्मीधरा नामक टीका के साथ) मे कुछ लोग दूसरे श्लोक मे चतुश्चत्वारिंशत् पढते हैं। वसु का अर्थ है ८, मनु का १४, नाग का ८ एव कला का १६। इसके वर्णन के दो रूप हे—(१) बिन्दु से आगे (जिसे सृष्टि-क्रम कहा जाता हे) या (२) बाहरी रेखाओ से बिन्दु की ओर (जिसे सहारक्रम कहा जाता है)। देखिए सर जॉन वुड्रौफ कृत 'शक्ति एण्ड शाक्त' (तीसरा सस्करण, १९२९, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास द्वारा प्रकाशित), पृ० ३९९ पर श्रीचक्र के चित्र की व्याख्या दी हुई है। देवीरहस्य (डकन कालेज पाण्डुलिपि, स० ४९०, १८९५-९८) नामक तान्त्रिक ग्रन्थ ने 'बिन्दुत्रिकोण देवताया' को उद्धृत किया है, किन्तु इस चक्र का एक अन्य ढग से वर्णन करने वाले एक दूसरे श्लोक को भी उद्धृत किया है। विभिन्न ग्रन्थो मे चक्रो का वर्णन विभिन्न ढगो से हुआ हे। उदाहरणार्थ, डकन कालेज की पाण्डुलिपि स० ९६२ (१८८४-१८८७) ने कौलागम के अनुसार दुर्गा-पूजा मे प्रयुक्त चक्रभेद को पाँच चक्रो के रूप मे माना है, यथा—राजचक्र, महाचक्र, देवचक्र, वीरचक्र एव पशुचक्र, किन्तु पाण्डुलिपि स० ९६४ (१८८७-९१) मे कुछ अन्य चक्र भी दिये गये हैं, यथा—अकडमचक्र, ऋणधनशोधनचक्र, राशिचक्र, नक्षत्रचक्र (कैटॉलॉग, जिल्द १६, तन्त्र, पृ० २५१)।

८ दल वाले कमल (कभी-कभी लाल रँग मे रँगे) होते ह, १६ दल वाले कमल (नीले रँगो मे) होते हैं, तब तीन वृत्त होते ह, तब चार द्वारो वाली तीन सीमा-रेखाएँ होती ह, जिनमे दो यन्त्र के बाहरी भागो की द्योतक होती हे आर ८ एव १६ दलो के कमल यन्त्र के भीतरी भाग मे होते ह। कुल मिलाकर ४३ कोण (कुछ ग्रन्थो मे ४४) होते ह। सीमा-रेखाओ के भीतर का चक्र-भाग **भूपुर** कहलाता हे। यन्त्र की पूजा **बहिर्याग** (शक्ति की बाहरी पूजा) कहलाती ह। **अन्तर्याग** मे मूलाधार से आज्ञाचक्र तक के चक्रो द्वारा जाग्रत कुण्डलिनी को ले जाना होता हे और तब उसे सहस्रार-चक्र म शिव से मिलाना होता हे। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एव आज्ञा नामक छह चक्रो को पाँच तत्त्वो एव मन के अनुरूप माना गया हे। यह सोन्दर्यलहरी (श्लोक ९) मे वर्णित हे। बहिर्याग विधि द्वारा शक्ति-पूजक शक्ति-पूजा मे कितना आगे बढ गये ह इसकी जानकारी लक्ष्मीधर की टीका के एक वक्तव्य से हो सकती हे, क्योकि लक्ष्मीधर सोन्दर्यलहरी के सबसे अन्तिम टीकाकार है ओर वे कोलिको की विधियो से भयाक्रान्त थे।[२३]

नित्यापोडशिकार्णव की टीका सेतुबन्ध ने बडे बल के साथ कहा हे कि त्रिपुरसुन्दरी की पूजा उपासना के प्रकार की ह न कि भक्ति के प्रकार की, ओर यह उपासना दो ढग की हे, एक मे देवी के मन्त्र का जप होता हे आर दूसरे मे यन्त्र की पूजा होती हे (नित्या० १।१२५)। श्लोक १२६-२०४ मे श्रीचक्र की पूजा के विभिन्न विषयो का उल्लेख हे। नित्यापोडशिका० तथा अन्य तन्त्र ग्रन्थो का कहना हे कि त्रिपुरसुन्दरी श्रीचक्र मे निवास करती ह।[२४] शाक्त साधक का महान् ध्येय होता हे यन्त्र, मन्त्र, गुरु एव त्रिपुरादेवी से तादात्म्य स्थापित करना। वर्षक्रियाकोमुदी (पृ० १४७) ने एक श्लोक उद्धृत कर कहा है कि मन्त्रो से यन्त्र-पूजा का सम्पादन होना चाहिए, ओर ऐसा करने पर साधक अभीष्ट की प्राप्ति कर लेता हे।।[२५]

शारदातिलक जैसे गम्भीर ग्रन्थ ने भी दुष्ट उद्देश्यो की पूर्ति के लिए यन्त्रो के आलेखन की अनुमति दी हे। उदाहरणार्थ, ७।५८-५९ मे आया हे कि शत्रु-नाश के लिए श्मशान से चिता-वस्त्र लेकर उस पर आग्नेय यन्त्र बना कर शत्रु के घर के पास गाड देना चाहिए। ओर देखिए उसी ग्रन्थ मे २४।१७-१८ एव १९-२१, जहाँ शत्रु-नाश के लिए दो यन्त्रो का उल्लेख है। प्रपचसार (३४।३३) मे भी एक यन्त्र का उल्लेख हे, जिसके प्रयोग से स्त्री साधक के पास पहुँच जाती हे।

२३ तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया नवात्मान मन्ये नवरसमहाताण्डव नटम्। उभाभ्यामेताभ्यामुदयविधिमुद्दिश्य दयया सनाथाभ्या जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम्॥ सौन्दर्यलहरी, श्लोक ४१ (पृ० १८१, गणेश एण्ड कम्पनी का सस्करण, १९५१)। लक्ष्मीधर की टीका मे इस प्रकार आया हे 'अत एव कौलास्त्रिकोणे बिन्दु नित्य समर्चयन्ति। श्रीचक्रस्थितनवयोनिमध्यगतयोनि भूर्जहेमपट्टवस्त्रपीठादौ लिखिता पूर्वकोला पूजयन्ति। तरुण्या प्रत्यक्षयोनिमुत्तरकोला पूजयन्ति। उभय योनिद्वय बाह्यमेव नान्तरम्। अतस्तेषामाधारचक्रमेव पूज्यम्। अत्र बहु वक्तव्यमस्ति तत्तु अवैदिकमार्गत्वात् स्मरणार्हमपि न भवति।'

२४ सस्थितात्र महाचक्रे महात्रिपुरसुन्दरी। नित्याषोडशिका० (१।८२), ज्ञात्ता स्वात्मा भवेज्ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेय बहि स्थितम्। श्रीचक्रपूजन तेषामेकीकरणमीरितम्॥ तन्त्रराजतन्त्र (२३५।६), आसीना बिन्दुमये चक्रे सा त्रिपुरसुन्दरीदेवी। कामेश्वराकनिलया कलया चन्द्रस्य कल्पितोत्तसा॥ कामकलाविलास, (श्लोक ३७)।

२५. सर्वेषामपि मन्त्राणा पूजा यन्त्रे प्रशस्यते। यन्त्रे मन्त्र समाराध्य यदभीष्ट तदाप्नुयात्॥ व० क्रि० कौ० (पृ० १४०)।

तन्त्रराजतन्त्र (पटल ८, श्लोक ३०-३२) मे आया है कि सभी वाञ्छित फलो को देने वाले यन्त्रो को सोने, चाँदी, ताम्र या वस्त्र या भूर्जपत्र पर चन्दनलेप, कपूर, कस्तूरी या कुकुम आदि से खचित कर सिर पर या हाथो पर या गले, कमर या कलाई पर वाँव लेना चाहिए या कही रखकर उनकी पूजा करनी चाहिए। देखिए प्रपचसारतन्त्र (११।४६) जहाँ ऐसी व्यवस्थाएँ दी हुई है।

तान्त्रिक सिद्धान्तो एव आचारो से सम्बन्धित इस अध्याय के अन्त मे एक विचित्र वात की चर्चा कर देना आवश्यक है। सायण-माधव भाइयो (१४ वी शती) ने सर्वदर्शनसग्रह नामक ग्रन्थ मे १५ दर्शनो की चर्चा की है। किन्तु आश्चर्य की वात यह है कि इन लोगो ने तन्त्रो के विषय मे एक शब्द भी नही लिखा है, जब कि उन्होने चार्वाक-दर्शन एव वौद्ध तथा जैन सिद्धान्तो पर पर्याप्त लिखा है। ऐसा मानना असम्भव है कि इन विद्वान् दो भाइयो को तन्त्र के विषय मे ज्ञान नही था। यदि कल्पना का सहारा लिया जाय तो ऐसा कहा जा सकता है कि जिन कारणो से वगाल के राजा वल्लालसेन ने अपने दानसागर मे देवी-पुराण को छोड दिया था, उन्ही कारणो से सम्भवत इन विद्वान् भाइयो ने तन्त्रो की चर्चा नही की, इतना ही नही, तब तक तन्त्र-ग्रन्थ समाज मे पर्याप्त रूप से अरुचिकर हो चुके थे और विद्वान् लोग उनका विरोध करने लग गये थे।

गत प्रकरण का परिशिष्ट

यहाँ कुछ ऐसे प्रकाशित ग्रन्थो का उल्लेख किया जा रहा हे, जिन्हे प्रस्तुत लेखक ने तन्त्रो के विषय मे लिखने के लिए पढा है। सस्कृत ग्रन्थ सस्कृत वर्णमाला के अनुसार दिये जा रहे हे । बहुत सक्षेप मे लेखको, तिथियो एव सस्करणो का उल्लेख किया जा रहा है।

अद्वयवज्रसग्रह लेखक अद्वयवज्र (११ वी शती), इसमे बौद्ध दर्शन सम्बन्धी छोटे-छोटे २१ ग्रन्थ हे, एक मूल्यवान् भूमिका के साथ म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने इसका सम्पादन किया है। गायकवाड ओरिऐण्टल सीरीज ।

आर्य-मजुश्रीमूलकल्प (त्रिवेन्द्रम् सस्कृत सीरीज मे तीन भागो मे प्रकाशित), चौथी शती से नवी शती के विभिन्न कालो का विवरण। यह बौद्ध ग्रथ है और तिब्बती कग्युर मे सम्मिलित हे। इसमे अब ५५ अध्याय हे, किन्तु चीन के १० वी शती के अनुवाद मे केवल २८ अध्याय है। डा० बी० भट्टाचार्य ने इसे दूसरी शती का माना है, किन्तु विन्तरनित्ज ने असहमति प्रकट की है (इण्डियन हिस्टॉ० क्वार्टली, जिल्द ६, पृ० १)। जायसवाल ने 'इम्पीरियल हिस्ट्री आव इण्डिया' मे ५३ पटलविसर मे १००३ श्लोको का माना है, जिनमे ६–३४४ श्लोक बुद्ध के निर्वाण तक के जीवन पर प्रकाश डालते है और वास्तविक इतिहास ७८ ई० से आठवी शती का है जो ३४५–६८० श्लोको मे है।

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति लेखक ईशानशिवगुरुदेव मिश्र, चार भाग, यथा—सामान्यपाद, मन्त्रपाद, क्रिया-पाद एव योगपाद, इसमे लगभग १८००० श्लोक है और त्रिवेन्द्रम् स० सी० द्वारा प्रकाशित है। इसमे गौतमीय तन्त्र, प्रपचसार एव भोजराज का उल्लेख है, लगभग ११०० ई० के आसपास या कुछ उपरान्त प्रणीत।

कामकलाविलास लेखक पुण्यानन्दनाथ, नटनानन्दनाथ की चिद्वल्ली नामक टीका के साथ (काश्मीर सस्कृत सीरीज़), ५५ श्लोक, अनुवाद एव टिप्पणी आर्थर एवालोन द्वारा (गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास द्वारा प्रकाशित, १९५३), सर्वप्रथम तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १०) मे प्रकाशित।

कालचक्रतन्त्र बौद्ध, देखिए जे० ए० एस० बी०, पत्र, जिल्द २८, १९५२, पृ० ७१–७६; जहाँ विश्व-नाथ वन्द्योपाध्याय द्वारा इस ग्रन्थ का विवरण दिया हुआ हे।

कालज्ञाननिर्णय. प्रो० पी० सी० बागची द्वारा सम्पादित (कलकत्ता स० सी०, १९३४), हर-प्रसाद शास्त्री ने पाण्डुलिपि को ९ वी शती की माना है, किन्तु प्रो० बागची ने उसे ११ वी शती के मध्य मे माना है। इसके लेखक का नाम मत्स्येन्द्रपाद आया है, जिसे हठयोगप्रदीपिका (१।५-६) ने महासिद्धो मे परि-गणित किया हे।

कालविलासतन्त्र ३५ पटलो मे आर्थर एवालोन द्वारा सम्पादित (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ६, १९१७)। १०।२०-२१ मे इसने पारदार्य (परभार्यालघन) की अनुमति दी है बशर्ते कि मैथुनकर्म पूर्ण न हुआ हो। इसने (२०।१ मे) कालिकापुराण का उल्लेख किया है तथा (१५।१२-१३ मे) एक ऐसी भाषा मे मन्त्र दिया है जो असमी एव पूर्वी बगाली से मिलती है।

कुलचूडामणिमन्त्र • ७ पटलो एव ४३० श्लोको मे, आर्थर एवालोन द्वारा (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ४, १९१५) सम्पादित। १।४-१२ मे ६४ तन्त्रो के नाम दिये गये है।

कुलार्णवतन्त्र इसमे १७ उल्लास एव २००० से अधिक श्लोक है। यह प्रसिद्ध ग्रन्थ है और इसके उद्धरण पर्याप्त सख्या मे लिये गये है (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ५, लन्दन, १९१७ मे प्रकाशित)। यह प्राचीन तन्त्र है जो सम्भवत १००० ई० मे प्रणीत हुआ था। अन्त मे ऐसा आया है कि यह ऊर्ध्वाम्नाय (५ आम्नायो मे पाँचवाँ) तन्त्र है और १ लाख २५ सहस्र श्लोको का एक अश है। देखिए ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १३, पृ० २०६-२११, जहाँ इस ग्रन्थ, इसके विषय-विस्तार पर प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने एक निबन्ध दिया है।

कौलावलीनिर्णय ज्ञानानन्द गिरि द्वारा लिखित, २१ उल्लासो मे, ए० एवालोन द्वारा सम्पादित (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द १४), १।२-१४ मे अनेक तन्त्रो का उल्लेख है जिनमे यामलो की भी चर्चा हुई है, १।९२-९३ मे ९ पूर्ववर्ती गुरुओ के नाम दिये हुए है।

गणपतितत्त्व प्राचीन जावा की पाण्डुलिपि, डा० (श्रीमती) सुदर्शना देवी सिंहल द्वारा आलोचित, सम्पादित, व्याख्यायित एव अनूदित (इण्टरनेशनल एकेडेमी आव् साइसेज, नयी दिल्ली, १९५८, द्वारा प्रकाशित), इसमे मूलाधार एव अन्य चक्रो का उल्लेख है। चक्रो की स्थितियो, रगो, योग के ६ अगो का (**यम, नियम, आसन** को छोड दिया गया है और **तर्क** को सम्मिलित कर लिया गया है) विवेचन है। इसमे निष्कल से नाद की, नाद से बिन्दु की उत्पत्ति, मन्त्रो, बीजो आदि की चर्चा है।

गुह्यसमाजतत्र या तथागत-गुह्यक (बौद्ध) यह गायकवाड स० सी० मे प्रकाशित है, डा० बी० भट्टाचार्य ने इसे चौथी शती का माना है (भूमिका, साधनमाला, जिल्द २, पृ० ९५)। किन्तु सम्भवत यह ५वी या छठी शती का है।

गोरक्षसिद्धान्तसग्रह योग एव तन्त्र का मिश्रण है। एस० बी० टेक्ट्स (१९२५) मे प्रकाशित है।

विद्गगनचन्द्रिका कालिदास द्वारा लिखित माना गया है, त्रिविक्रम तीर्थ द्वारा सम्पादित (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द २०)।

जयाख्यसहिता गायकवाड स० सी० मे प्रकाशित। यह पाञ्चरात्र ग्रन्थ है। डा० बी० भट्टाचार्य ने इसे ४५० ई० का माना है। इसमे यक्षिणी-साधना, चक्रयन्त्रसाधना, स्तम्भन आदि तन्त्र विषय भी है।

ज्ञानसिद्धि लेखक राजा इन्द्रभूति, जो अनगवज्र के शिष्य एव गुरु पद्मसम्भव के पिता थे, दो वज्रयान ग्रन्थ, गायकवाड स० सी० मे प्रकाशित, ७१७ ई० मे प्रणीत, वज्रयान सिद्धान्तो का निष्कर्ष उपस्थित करता है।

ज्ञानार्णवतन्त्र आनन्दाश्रम प्रेस (पूना) द्वारा प्रकाशित, इसमे २६ पटल एव लगभग २३०० श्लोक है।

तन्त्रराजतन्त्र तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द ८ एव १२) मे सम्पादित (गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९५४), सुभगानन्दनाथ द्वारा मनोरमा टीका, इसमे ३६ अध्याय है। इसमे कादि मत की चर्चा है।

तन्त्रसार कृष्णानन्द द्वारा लिखित, चौखम्बा स० सी० द्वारा प्रकाशित, १७ वी शती मे प्रणीत।

तन्त्रसार अभिनवगुप्त द्वारा लिखित, तन्त्रालोक का एक निष्कर्ष (सक्षिप्त रूप), काश्मीर स० सी० (१९१८) द्वारा प्रकाशित, लगभग ११वी शती मे प्रणीत।

तन्त्राभिधान बीजनिघण्टु एव मुद्रानिघण्टु के साथ, ए० एवालोन द्वारा तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १, १९१३) मे सम्पादित।

तन्त्रालोक अभिनवगुप्त द्वारा लिखित, जयरथ नामक टीका, कई खण्डो मे काश्मीर स० सी० मे प्रकाशित, लगभग १००० ई० मे प्रणीत।

तारातन्त्र गिरीशचन्द्र द्वारा सम्पा० गौड ग्रन्थमाला (स० १, १९१३) द्वारा प्रकाशित, ६ पटलो एव १५० श्लोको मे, इसमे आया है कि बुद्ध एव वसिष्ठ प्राचीन तान्त्रिक मुनि है। इसमे 'नाथ' से अन्त होने वाले ९ गुरुओ के नाम आये है, इसने महाचीनाख्यतन्त्र का उल्लेख किया हे और पुरुष भक्तो से कहा हे कि वे तारा को अपना रक्त दे।

ताराभक्तिसुधार्णव . लेखक नरसिह ठक्कुर, जो काव्यप्रकाश की टीका प्रदीप के लेखक गोविन्द ठक्कुर की पीढी मे पाँचवे है। १६८० ई० मे प्रणीत, पचानन भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द २१, १९४०), ११ तरगो एव ४३५ पृष्ठो मे तारा की पूजा पर एक विशाल ग्रन्थ, यहाँ तारा बौद्ध देवी 'तारा' नही हे, प्रत्युत वह शक्ति से सम्बन्धित १० विद्याओ मे एक है। ९वी तरग मे शवसाधना कृत्य का भयकर वर्णन है (पृ० ३४५–३५१)।

ताररहस्य ब्रह्मानन्द द्वारा लिखित, जीवानन्द (१८९६) द्वारा प्रकाशित, इसमे महाचीन, नीलतन्त्र, योगिनीतन्त्र एव रुद्रयामल का उल्लेख है।

त्रिपुरारहस्य लेखक हारीतायन, श्रीनिवास की टीका तात्पर्यदीपिका के साथ, एस० बी० सीरीज मे प्रकाशित, यह हारीतायन द्वारा नारद को दिया गया प्रवचन है। इसका ताराखण्ड वाला अश दार्शनिक हे।

त्रिपुरासारसमुच्चय नागभट्ट द्वारा लिखित, गोविन्दाचार्य की टीका, जीवानन्द द्वारा प्रकाशित (१८९७)।

दक्षिणामूर्तिसहिता . यह श्रीविद्योपासना पर है, ६५ पटल एव १७०० श्लोक है, एस० बी० सीरीज मे प्रकाशित।

नित्याषोडशिकार्णव (वामकेश्वरतन्त्र का एक अश), भास्करराय (१७००–१७५० ई०) की टीका, आनन्दाश्रम प्रेस द्वारा प्रकाशित (१९४४)।

नित्योत्सव उमानन्दनाथ द्वारा लिखित, दीक्षा के पूर्व उमानन्दनाथ का नाम था जगन्नाथ, जो महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और तञ्जौर के मराठा सरदार द्वारा माने-जाने जाते थे, यह परशुरामकल्पसूत्र का एक पूरक ग्रन्थ है, उमानन्दनाथ के गुरु थे भासुरानन्दनाथ (दीक्षा के पूर्व भास्करराय), यह ग्रन्थ कलि सवत् ४८४६ (रसार्णव-करि-वेदमितेषु) अर्थात् १७४५ ई० मे प्रणीत हुआ। यह सम्भव है कि 'अर्णव' शब्द ४ के स्थान पर ७ के लिए प्रयुक्त हुआ हो (अर्थात् ४८७६=१७७५ हो सकता है), गायकवाड स० सी० (१९२३) मे प्रकाशित।

निष्पन्नयोगावली बगाल के राजा रामपाल (१०८४–११३० ई०) के समकालीन अभयाकरगुप्त द्वारा प्रणीत। यह बौद्ध ग्रन्थ हे। इसका लेखक विहार के विक्रमशिला नामक विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक था, इसने २६ मण्डलो का उल्लेख किया हे, प्रत्येक मण्डल मे एक केन्द्रीय देवता रहता है और अन्य गौण देवताओ की सख्या अधिक होती हे, कही कही तो १०० से अधिक। पश्चात्कालीन बौद्धधर्म का यह एक मूल्यवान् ग्रन्थ है, क्योकि इसमे देवताओ एव कृत्य-विधि का उल्लेख हे। गायक० स० सीरीज मे प्रकाशित (१९४९ ई०)।

परशुरामकल्पसूत्र रामेश्वर की टीका सोभाग्योदय के साथ, गायक० स० सीरीज (१९२३) मे प्रकाशित, १३०० ई० से पूर्व प्रणीत, महादेव के मुख्य शिष्य एव जमदग्नि के पुत्र परशुराम द्वारा प्रणीत कहा गया है।

पादुकापञ्चक आर्थर एवालोन द्वारा सम्पादित (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द २, १९१३)।

परानन्दसूत्र गायक० स० सीरीज (१९३१) द्वारा प्रकाशित, जैसा कि डा० बी० भट्टाचार्य का कथन है, यह ९०० ई० के पूर्व का नहीं है।

प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि तिब्बत मे प्रशसित एव पूज्य तथा ५४ सिद्धो मे एक अनगवज्र द्वारा प्रणीत। बौद्ध वज्रयान ग्रन्थ, गायक० म० सी० (१९२९) द्वारा प्रकाशित, डा० बी० भट्टाचार्य के मतानुसार लगभग ७५० ई० मे प्रणीत।

प्रपञ्चसार (शकराचार्य द्वारा लिखित माना गया है) पद्मपाद की विवरण नामक टीका के साथ, तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द ३) एव नया सस्करण (जिल्द १८-१९) सन् १९३९ में। ३६ पटलो मे।

प्राणतोषिणी रामतोषण भट्टाचार्य द्वारा सगृहीत एव जीवानन्द (कलकत्ता) द्वारा प्रकाशित, यह १०९७ पृष्ठो का एक बृहद् आधुनिक ग्रन्थ है।

ब्रह्मसहिता जीव गोस्वामी की टीका के साथ, वैष्णवो के लिए, तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १५) मे प्रकाशित।

मन्त्रमहोदधि महीधर द्वारा प्रणीत, लेखक की टीका, वि० स० १६४५ (=१५८८-८९ ई०) मे प्रणीत, जीवानन्द एव वेकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित।

महानिर्वाणतन्त्र हरिहरानन्द भारती की टीका के साथ। यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु पश्चात्कालीन है, इसका प्रकाशन कई बार हुआ है, ए० एवालोन द्वारा सम्पा० (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द १३, १४ उल्लासो मे)। इस ग्रन्थ मे गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास (१९२९) का सस्करण उपयोग मे लाया गया है। १९५३ ई० का सस्करण कही-कही परिवर्तित है।

मातृकाचक्रविवेक स्वतन्त्रानन्दनाथ द्वारा प्रणीत, शिवानन्द की टीका, एस० बी० सीरीज (१९३४) मे प्रकाशित।

माहेश्वरतन्त्र ५१ पटलो एव ३०६० श्लोको मे (चौ० स० सी०), इसमें ६४ तन्त्रो का उल्लेख है (१।१५ एव २६।११), २५ वैष्णव तन्त्रो के नाम आये हैं (२६।१६-२०), इसमे ऐसा मत प्रकाशित है कि बौद्ध तन्त्र भ्रामक हैं और क्रूर कर्मो के लिए हैं (२६।२१-२२)।

मेरुतन्त्र ३२ अध्यायो एव ८२१ पृष्ठो मे एक बृहद् ग्रन्थ (१९००० श्लोको मे), वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०८ ई०।

योगिनीतन्त्र जीवानन्द द्वारा पकाशित, एकादशीतत्त्व (पृ० ५८) में रघुनन्दन द्वारा उद्धृत।

योगिनीहृदय नित्याषोडशिकार्णव के अन्तिम तीन अध्यायो (६-८) को इस नाम से पुकारा जाता है।

योगिनीहृदयदीपिका पुण्यानन्दनाथ के शिष्य, अमृतानन्दनाथ द्वारा लिखित, एस० बी० सीरीज (१९२३) मे प्रकाशित, लगभग १०वी या ११वी शती मे लिखित।

रुद्रयामलतन्त्र जीवानन्द द्वारा प्रकाशित (द्वितीय सस्करण १८९२)। ६६ अध्यायो एव ६००० से अधिक श्लोको मे एक बृहद् ग्रन्थ (अनुष्टुप छन्द मे), भैरवी द्वारा भैरव (शिव) को सम्बोधित। सवा लाख श्लोको से परिपूर्ण कहा गया है (डकन कालेज, पाण्डुलिपि स० ९९७(1), १८९५-१९०२)। धनदापुरश्चरणविधि ने कहा है कि यह रुद्रयामल का एक अश है (इति रुद्रयामल-सपादलक्षग्रन्थो किंकिणी-तन्त्रोक्त-धनदापुरश्चरणविधि), बी० ओ० आर० आई० कैटालॉग (जिल्द १९, पृ० २४७)।

ललितासहस्रनाम बीजापुर मुस्लिम राजा के मत्री गम्भीरराय के पुत्र भास्करराय की टीका सौभाग्य-भास्कर के साथ, सवत् १७८५ (=१७२९ ई०) मे लिखित, निर्णयसागर प्रेस मे प्रकाशित (१९३५)।

वरिवस्यारहस्य : भास्करराय (दीक्षा के उपरान्त भासुरानन्दनाथ नाम वाले) द्वारा लिखित, स्वय लेखक की टीका 'प्रकाश'। १७०० से १७५० ई० तक लेखक का काल है, अद्यार मे प्रकाशित, १९३४।

विष्णुसहिता : ३० पटलो मे, त्रिवेन्द्रम् स० सी० से प्रकाशित, १९२५।

शक्तिसगमतन्त्र चार भागो में, यथा—काली, तारा, सुन्दरी एव छिन्नमस्ता, १५०५–१६०७ के मध्य प्रणीत। देखिए पूना ओरियण्टलिस्ट, जिल्द २१, पृ० ४७–४९, (१५३०–१७०० ई० के बीच)।

शक्तिसूत्र सरस्वती भवन सीरीज़, जिल्द १० (पृ० १८२–१८७), ११३ सूत्र, १९ सूत्रो पर टीका, टीका ने लेखक का नाम अगस्त्य दिया है, सूत्र मे जैमिनि एव व्यास के नाम आये हैं।

शाक्तप्रमोद (हाल का ग्रन्थ), शिवहर के प्रमुख (सरदार) श्री राजदेवनन्दन सिंह द्वारा सकलित, वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित, १९५१, इसमे १७ तन्त्र है, यथा—कालीतन्त्र, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, त्रिपुराभैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातगी, कमलात्मिका, कुमारिका, बलिदानक्रम, दुर्गा, शिव, गणेश, सूर्य, विष्णु।

शारदातिलक लक्ष्मण-देशिकेन्द्र (उत्पल के शिष्य), तन्त्र पर अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थो मे एक। औफ्रेक्ट (पृ० ६४) ने कई टीकाओ के नाम दिये हैं, जिनमे सर्वोत्तम है राघवभट्टकृत पदार्थादर्श (स० १५५० =१४९३–९४ ई० मे प्रणीत)। राघवभट्ट महाराष्ट्री थे और गोदावरी के तट पर जनस्थान (पचवटी) के निवासी थे। काशी स० सी० एव तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १६ एव १७) द्वारा प्रकाशित। शारदातिलक का प्रणयन लगभग ११वी शती मे हुआ। रघुनन्दन ने स्पष्ट रूप से अपने ज्योतिष्तत्त्व (पृ० ५८०) मे शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट का नाम लिया है।

श्रीचक्रसम्भारतन्त्र बौद्ध ग्रन्थ, तिब्बती पाण्डुलिपि, अग्रेजी अनुवाद, लामा काज़ी दवा सन्द्रुप द्वारा, ए० एवालोन द्वारा तान्त्रिक टेक्ट्स (१९१९) मे सम्पादित।

श्रीविद्यारत्नसूत्र गौडपाद द्वारा लिखित कहा गया है, १०१ सूत्रो मे, विद्यारण्य के शिष्य शकराचार्य की टीका, एस० बी० (सरस्वती भवन) टेक्ट्स सीरीज, बनारस (१९२४) मे प० गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित।

श्यामारहस्य पूर्णानन्द द्वारा प्रणीत, १६ अध्यायो मे, जीवानन्द सस्करण, १६ वीं शती।

षट्चक्रनिरूपण पूर्णानन्द कृत, ८५ श्लोको मे, तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द २), शक स० १४९९ (=१५७७–७८ ई०) मे प्रणीत।

सनत्कुमारतन्त्र सनत्कुमार एव पुलस्त्य के बीच सवाद, ११ पटलो एव ३७५ श्लोको मे, ज्येष्ठाराम मुकुन्दजी (बबई) द्वारा १९०५ ई० मे प्रकाशित। इसमे योग एव तान्त्रिक विधि का मिश्रण है और 'क्ली, गौं' आदि तान्त्रिक बीजो मे कृष्णपूजा का विवरण भी है।

साधनमाला गायकवाड स० सी० द्वारा दो खण्डो मे प्रकाशित, डा० बी० भट्टाचार्य द्वारा भूमिका (खण्ड २), ३१२ साधनाएँ हैं, अधिकाश के प्रणेताओ के नाम अज्ञात हैं, वे सभी तिब्बती कग्यूर हैं। डा० भट्टाचार्य का कथन है कि साधनाएँ तीसरी शती से १२ वी शती तक की हैं। विन्तरनित्ज़ इस बात को नही मानते कि प्रज्ञापारमितासाधन असग द्वारा प्रणीत है (इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द ९, पृ० ५–६)।

साम्राज्यलक्ष्मीपीठिका आकाशभैरव-महातन्त्र का एक अश कहा गया है, तजौर सरस्वती महल सीरीज द्वारा प्रकाशित, १३९ अध्यायो में, ३० अध्यायो मे मन्त्र, जप, होम का उल्लेख है, ३१ के आगे से अध्याय राज्य के विभागो, राज्याभिषेक, उत्सवो (नववर्ष, रामनवमी, नवरात्र आदि) पर प्रकाश डालते हैं।

सेकोद्देशटीका • श्री नडपाद कृत बौद्ध ग्रन्थ, गायकवाड स० सी० में मिरियो ई० करेल्ली द्वारा सम्पादित एव अग्रेजी मे अनूदित ।

सौन्दर्यलहरी शङ्कराचार्य द्वारा प्रणीत कही गयी है, बहुत-सी टीकाएँ हैं, सर जॉन वुड्रोफ द्वारा सम्पादित एव अद्यार से प्रकाशित (१९३७), १९५७ का सस्करण गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास द्वारा तीन टीकाओ के साथ प्रकाशित। इसका एक सस्करण १०० श्लोको मे है (ग्रन्थ, अग्रेजी अनुवाद, प्रो० नार्मन ब्राउन द्वारा, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५८) ।

हसविलास हसमिट्ठू द्वारा प्रणीत, गायकवाड स० सी० (१९३७) द्वारा प्रकाशित, लेखक गुजरात मे विक्रम सवत् १७९४ (=१७३८ ई०) मे फाल्गुन पूर्णिमा को उत्पन्न हुआ था। यह शुद्ध रूप से तान्त्रिक ग्रन्थ नही है। तथापि कुलार्णव० (पृ० ६८–७६), कौलरहस्य (पृ० १०४), योगिनीतन्त्र (पृ० १०३), शारदातिलक (पृ० ८४–८५, १०५) जैसे तान्त्रिक ग्रन्थो का उद्धरण देता है। इसमे कई प्रकार के विषयो का उल्लेख है, यथा––अलकार शास्त्र, काम शास्त्र सम्बन्धी बातें आदि।

हेवज्रतन्त्र डा० डी० एल० स्नेलग्रोव द्वारा सम्पादित एव अनूदित (आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, १९५९), दो भागो मे। यह पुस्तक इस परिशिष्ट के छपते-छपते प्राप्त हुई है। यह एक मूल्यवान् तन्त्र-साहित्य है और इसका सम्पादन सुन्दर ढग से हुआ है। भाग–१ (१९५९ मे प्रका०) मे भूमिका (पृ० १–४६), अग्रेजी अनुवाद (पृ० ४७–११९), विषय (पृ० १२१–१२५), चित्र (पृ० १२६–१२९), शब्द-भाण्डार (पृ० १३१–१४१), अनुक्रमणिका (पृ० १४२–१६०), भाग–२ मे सस्कृत मूल एव तिब्बती मूल, जो नेपाली पाण्डुलिपि (प्रो० टुच्ची द्वारा प्रदत्त) पर आधृत है, पडित कान्ह कृत योगरत्नमाला नामक टीका, जो एक प्राचीन बगाली पाण्डुलिपि से ली गयी है। सम्पादक का कथन है कि हेवज्रतन्त्र ८वी शती के अन्त मे विद्यमान था और अद्वयवज्रसग्रह एव सेकोद्देशटीका ने इससे उद्धरण लिया है । साधनमाला स० २२९ (आरम्भिक दो श्लोक) हेवज्र (२।८।६–७) ही है । हेवज्रतन्त्र में वज्र का आह्वान है (हे वज्र) । भाग–१ के पृ० ११ पर सम्पादक ने पूछा है कि योगी लोग अपने को बौद्ध कैसे कहते हैं जब कि वे योगिनी के आलिंगन में सम्बोधि की अनुभूति करते हैं ? भाग–१ के पृ० ७० पर जालन्धर, ओड्डियान एव पौर्णगिरि को पीठ कहा गया है और अन्य उपपीठो, उपक्षेत्रो का उल्लेख है। हेवज्र मे 'शक्ति' का उल्लेख नही हुआ है, प्रत्युत उसके स्थान पर 'प्रज्ञा' है। भाग–२ (श्लोक ११–१५, पृ० ९८) मे आया है कि किस प्रकार इस तन्त्र के अनुयायी 'मुद्रा' नामक नारियो से मैथुन करते थे और सिद्धि प्राप्त करते थे। भाग–१ के पृ० ५४ मे एक कृत्य है, जिसके द्वारा किसी नवयुवती को वश मे किया जाता है। भाग–२, पृ० २ मे आया है—'हेकारेण महाकरुणा वज्र प्रज्ञा च भण्यते। प्रज्ञोपायात्मक तन्त्र तन्मे निगदित शृणु ।'

तन्त्र बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ एवं निबन्ध

(१) महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा उपस्थापित नेपाल की दरबार लाइब्रेरी मे ताडपत्र एव कागद की पाण्डुलिपियो की नामावली (कैटॉलॉग), १९०५ ।

(२) तारानाथ की 'हिस्ट्री आव बुद्धिज्म इन इण्डिया', ए० शीफनर द्वारा जर्मन मे अनुवाद (सेण्ट पीटर्सबर्ग, १८६९)। इण्डियन ऐण्टिक्वेरी (जिल्द ४,१०१ एव ३६१) मे इसके कुछ अश अग्रेजी मे हैं ।

(३) एल० ए० वैड्डेल द्वारा 'लामाइज्म' (एलेन एण्ड कम्पनी, लन्दन, १८९५) ।

(४) बुस्टोन कृत 'हिस्ट्री आव बुद्धिज्म इन इण्डिया एण्ड तिब्बत', डा० ई० ओबरमिलर द्वारा अनूदित ।

(५) एशियाटिक सोसाइटी आव बगाल की लाइब्रेरी मे पाण्डुलिपियो की वर्णनात्मक नामावली, जिल्द ८, इसमे ८९२ पृष्ठो मे ६४८ पाण्डुलिपियो का वर्णन है ।

(६) भाण्डारकर कृत 'वैष्णविज्म, शैविज्म आदि' (कलेक्टेड वर्क्स, जिल्द ४, पृ० २०२-२१०, शाक्तो पर) ।

(७) आर्थर एवालोन द्वारा महानिर्वाणतन्त्र का अनुवाद, भूमिका एव टीका, १९१३ ।

(८) तान्त्रिक टेक्ट्स, आर्थर एवालोन द्वारा सपादित, जिल्द १ से लेकर २२ तक, भूमिकाएं, टिप्पणियाँ, विश्लेपण आदि ।

(९) सर्पेण्ट पावर, ए० एवालोन कृत (१९१४), इसमे षट्-चक्र-निरूपण एव पादुकापञ्चक के अनुवाद हैं, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास द्वारा, पाँचवाँ सस्करण, १९५३ ।

(१०) 'प्रिंसिपुल्स आव तन्त्र', ए० एवालोन कृत, दो भागो मे (१९१४ एव १९१६), भाग-२ मे लम्बी भूमिका ।

(११) 'वेव आव ब्लिस', आनन्दलहरी (सौन्दर्यलहरी के ४१ श्लोक) का अनुवाद एव टिप्पणियाँ, सर जॉन वुड्रौफ (आर्थर एवालोन का नया नाम) द्वारा ।

(१२) 'वेव ऑव ब्यूटी', सौन्दर्यलहरी का अनुवाद (मूल एव टीकाएँ), गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९५७ ।

(१३) 'चक्रज' राइट रेवरेण्ड सी० डब्लू० लेडबीटर, अद्यार, १९२७, प्लेट भी हैं ।

(१४) 'शिवसहिता', श्रीशचन्द्र विद्यार्णव द्वारा अनुवाद ।

(१५) 'थर्टी माइनर उपनिषद्स', के० नारायणस्वामी ऐय्यर द्वारा अनूदित ।

(१६) 'मिस्टीरिअस कुण्डलिनी', डा० वी० जी० रेले (१९२७) द्वारा ।

(१७) 'शक्ति ऑर डिवाइन पावर', डा० सुवेन्दु कुमार दास द्वारा (कलकत्ता यूनि०, १९३४) ।

(१८) पी० सी० बागची की भूमिका, कुलार्णवनिर्णय (कलकत्ता स० सीरीज, १९३४) ।

(१९) 'तिब्बतन योग एण्ड सीक्रेट डाक्ट्रिन्स', डब्लू० वाई० इवान्स-वेट्ज । आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस (१९३५) ।

(२०) 'स्टडीज इन तन्त्रज', पी० सी० बागची कृत, कलकत्ता यूनि० (१९३९) ।

(२१) डा० बी० भट्टाचार्य की भूमिका, साधनमाला, जिल्द २ (गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज), पृ० ११-७७, इसी विद्वान् की दो भूमिकाएँ (१) गुह्यसमाजतन्त्र (गायकवाड ओरि० सी०) एव 'बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म' (आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, १९३२) ।

(२२) 'फिलॉसफी आव त्रिपुरातन्त्र', म० म० गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज, १९३४, जिल्द ९, पृ० ८५-९८।

(२३) 'सम आस्पेक्ट्स आव दि फिलॉसॅफी आव शाक्त तन्त्र', म० म० गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज, १९३८, जिल्द १० पृ० २१-२७।

(२४) 'बुद्धिस्ट तन्त्र लिटरेचर', प्रो० एस० के० दे, न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द १, पृ० १-२३।

(२५) 'इन्फ्लुएस आव तन्त्रज ऑन दि तत्त्वज आव रघुनन्दन', प्रो० आर० सी० हज्रा (इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द ९, १९३३, पृ० ६७८-७०४।

(२६) 'इन्फ्लुएस आव तन्त्र इन स्मृतिनिबन्धज', प्रो० आर० सी० हज्रा, ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १५, पृ० २२०-२३५ एव जिल्द १६, पृ० २०३-२११।

(२७) 'दि तान्त्रिक डाक्ट्रिन आव डिवाइन बाई-यूनिटी', ए० के० कुमारस्वामी, ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १९, पृ० १७३-१८३।

(२८) 'कम्परेटिव एण्ड क्रिटिकल स्टडी आव मन्त्रशास्त्र', श्री मोहनलाल भगवानदास झवेरी (१९४४)।

(२९) प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती के निम्नलिखित निबन्ध 'एण्टीक्वेरी आव तान्त्रिकिजम' (इण्डि० हिस्टॉ० क्वा०, जिल्द ६, पृ० ११४), 'कण्ट्रोवर्सी रेगार्डिग दि ऑथरशिप आव तन्त्रज', प्रो० के० बी० पाठक कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० २१०-२२०, 'ए नोट ऑन दि एज एण्ड ऑथरशिप आव दि तन्त्रज', जर्नल एण्ड प्रोसीडिंग्स आव दि एशियाटिक सोसायटी आव बेगाल, न्यू सीरीज, जिल्द २९ (१९३३), स० १, पृ० ७१-७९, 'आइडियल्स आव तन्त्र राइट्स', (इण्डि० हिस्टॉ० क्वा०, जिल्द १०, पृ० ४९८), 'शाक्त फेस्टिवल्स आव बेगाल एण्ड देयर एण्टीक्वेरी', (इण्डि० हिस्टॉ० क्वा०, जिल्द २७, १९५१, पृ० २५५-२६०), 'एप्लिकेशन आव वैदिक मन्त्रज इन तान्त्रिक राइट्स' (जे० ए० एस० बी० लेटर्स, जिल्द १८, १९५२, पृ० ११३-११५, 'काली वर्शिप इन बेगाल', आधार लाइब्रेरी बुलेटिन, जिल्द २१, भाग ३-४, पृ० २९६-३०३।

(३०) 'तन्त्रज, देयर फिलॉसॅफी एण्ड ऑकल्ट सीक्रेट्स', डी० एन० बोस (कलकत्ता, ओरिएण्टल पब्लिशिंग कम्पनी)।

(३१) 'वज्र एण्ड दि वज्रसत्त्व', डा० एस० बी० दास गुप्त, 'इण्डियन कल्चर', जिल्द ८, पृ० २३-३२।

(३२) 'इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म', डा० एस० बी० दास गुप्त (कलकत्ता, १९५०)।

(३३) 'फिलॉसॅफीज आव इण्डिया', हेनरिख ज़िम्मर (१९५१), पृ० ५६०-६०२।

(३४) 'दि वेद एण्ड दि तन्त्र', श्री टी० वी० कपाली शास्त्री (मद्रास, १९५१), पृ० १—२५५।

(३५) 'युगनद्ध' (जिसका शाब्दिक अर्थ है, विरोधी तत्त्वो के विषय मे 'एक-दूसरे से बँधे हुए या जुते हुए', 'तान्त्रिक व्यू आव लाइफ,' डा० हरबर्ट बी० गुइन्थर, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, बनारस, स्टडीज, जिल्द ३, १९५२।

(३६) 'कल्चरल हेरिटेज आव इण्डिया', जिल्द ४ मे निम्नलिखित लेख—'इवल्यूशन आव दि तन्त्र', डा० पी० सी० बागची, पृ० २११-२२६, 'तन्त्र ऐज ए वे आव रीयलिजेशन', स्वामी प्रत्यगात्मानन्द, पृ० २२७-२४०, 'दि स्पिरिट एण्ड कल्चर आव दि तन्त्रज', पृ० २४१-२५१, श्री अटलविहारी घोष, 'शक्ति कल्ट इन साउथ इण्डिया', श्री के० आर० वेंकटरमन, पृ० २५२-२५९, 'तान्त्रिक कल्चर एमग

दि बुद्धिस्ट्स', डा० बी० भट्टाचार्य, पृ० २६०-२७२, 'दि कल्ट आव दि बुद्धिस्ट सिद्धाचार्यज', पृ० २७३-२७९, श्री पी० वी० बापट ।

(३७) 'लाइट ऑन दि तन्त्र', एम० पी० पण्डित कृत (गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास १९५७) । यह छोटी पुस्तिका है, ५४ पृष्ठो मे, ५५-७१ पृष्ठ में कुछ टिप्पणियाँ हैं जिनमे लेखक की अपनी कोई बात नही है। इस ग्रन्थ का तीन-चौथाई भाग वुड्रौफ (विशेषत 'शक्ति एव शाक्त' से), श्री अरविन्द एव श्री कपाली शास्त्री से उधार लिया गया है । यत्र-यत्र बडे साहस के साथ कुछ अप्रामाणिक बाते दी हुई हैं, यथा—'तान्त्रिक विचारो एव कृत्यो के मूल सत्यो के आधार पर आज के हिन्दू समाज का ढाँचा खडा है' (पृ० ३६) । प्रस्तुत लेखक ऐसी भ्रामक धारणा का घोर विरोध करता है । यत्र-यत्र लेखक ने तन्त्र की कुछ भ्रान्तिपूर्ण एव अनैतिक बातो की भर्त्सना भी की है, यथा पृ० ३६ एव २१ मे ।

(३८) 'हिस्ट्री आव फिलॉसॅफी, ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न', डा० एस० राधाकृष्णन द्वारा सम्पादित, जिल्द १, पृ० ४०१-४२८, 'एक्पोज़ीशन आव शाक्त बीलीफ्', म० म० गोपीनाथ कविराज (१९५३) ।

(३९) 'योग, इम्मारटैलिटी एण्ड फ्रीडम', मिर्सिया एलियाडे कृत, विलार्ड ट्रास्क द्वारा फ्रेंच से अनूदित (राउटलेज, केगन, पॉल, लन्दन, १९५८), पृ० २००-२७३, जहाँ 'योग एण्ड तन्त्रिज्म' पर निबन्ध है ।

(४०) 'तिबेतन बुक आव दि डेड', डा० डब्लू० वाई० इवास वेट्ज़ द्वारा (तीसरा सस्करण, आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, १९५७) ।

(४१) 'तिबेतन योग', बर्नार्ड ब्रोमेज़ द्वारा (दूसरा सस्करण, १९५९, एक्वैरियम प्रेस) । इसमे तिब्बतियो के जादू एव धार्मिक आचारो का उल्लेख है और उन मन्त्रो एव प्रयोगो की चर्चा है जिनसे अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं ।

अध्याय २८

मीमांसा एवं धर्मशास्त्र

याज्ञवल्क्यस्मृति मे आया है कि विद्या एव धर्म के चौदह मूल (कारण या हेतु) है[1], यथा—पुराण, न्याय, मीमासा, धर्मशास्त्र, अग (छह) एव वेद (चार)। कुछ लोग ऐसा ही श्लोक मनु का भी कहते है, किन्तु विद्यमान मनुस्मृति मे वह नही मिलता। यहाँ 'मीमासा' शब्द के उद्भव एव अर्थ का ज्ञान आवश्यक है, यह भी जानना अपेक्षित है कि इस शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं, इतना ही नही, हमे यह भी जानना चाहिए कि व्याख्या करने के महत्त्वपूर्ण नियम क्या है और धर्मशास्त्र के विषयो से सम्बन्धित कौन-कौन-सी उक्तियाँ है। हम यहाँ इस शास्त्र के कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो एव उनकी तिथियो पर भी प्रकाश डालेंगे।

'मीमासा' शब्द अति प्राचीन है। तै० स० (७।५।७।१) मे आया है—'ब्रह्मवादी लोग मीमासा करते हैं (प्रश्न पर विचार करते हैं) कि एक मिति (दिन) त्यागी जाय या नही।' यहाँ 'मीमासन्ते' का क्रिया-रूप किसी सन्देहात्मक बात के विषय मे विचार-विमर्श करने या खोजबीन करने के तथा किसी निर्णय पर पहुँच जाने के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। और भी देखिए तै० स० (६।२।६।४-५) जहाँ इसी अर्थ मे 'मीमासन्त' एव 'मीमासेरन्' का प्रयोग हुआ है।[2] कतिपय स्थानो पर तै० स० ने ब्रह्मवादियो द्वारा मीमासा किये जाने का प्रश्न उठाया है, किन्तु वहाँ 'मीमांसन्ते' या तत्सम्बन्धी शब्द का प्रयोग नही हुआ है। देखिए तै० स० २।५।३।७ (सान्नाय्य के देवता के बारे मे), ५।५।३।२, ६।१।४।५, ६।१।५।३-५। काठकसहिता (८।१२) ने छानबीन करने के लिए एक सन्देहात्मक

1 पुराणन्यायमीमासा ... च चतुर्दश ॥ याज्ञ० १।३। बृहद्योगियाज्ञवल्क्य में यो आया है पुराणतर्कमीमासा ... चतुर्दश (१२।३)। अपरार्क (पृ० ६) ने विष्णुपुराण (३।६।२७ = वायु० ६१।७८) से उद्धृत किया है 'अगानि वेदाश्चत्वारो मीमासा न्यायविस्तरः। पुराण धर्मशास्त्र च विद्या एताश्चतुर्दश ॥' इसे प्रो० टी० आर० चिन्तामणि ने मनु का वचन कहा है (जे० ओ० आर०, मद्रास, जिल्द ११, पूरक पृ० १)। यह भविष्य पुराण (ब्राह्मपर्व २।६) मे भी है। देखिए इस महाग्रन्थ का अग्रेजी सस्करण, जिल्द १, पृ० ११२, पाद-टिप्पणी १९८, जहाँ १४ विद्याओ के लिए औशनसधर्मशास्त्र का उद्धरण है, और देखिए वही, जिल्द ३, पृ० १०, टिप्पणी १७, जहाँ अतिरिक्त विद्याओ के नाम हैं और वे कुल १८ कही गयी हैं, याज्ञ० की सूची मे आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एव अर्थशास्त्र के जोडने से १८ विद्याएँ हो जाती हैं। कालिदास के पूर्व भी विद्याएँ १४ थी, देखिए रघुवश (५।२१) 'वित्तस्य विद्यापरिसख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति।'

2 उत्सृज्या३ नोत्सृज्या३ मिति मीमासन्ते ब्रह्मवादिनस्तद्वाहुरुत्सृज्यमेवेति। तै० स० (७।५।७।१), व्यावृत्ते देवयजने याजयेद् व्यावृत्काम य पात्रे वा तल्पे वा मीमासेरन् ... नैन पात्रे न तल्पे मीमासन्ते। तै० स० (६।२।६।४–५)। अन्तिम वाक्य का अर्थ है 'अन्य लोगो के साथ भोजन करने योग्य है या विवाह से सम्बन्ध स्थापित करने योग्य है, इस विषय मे उन्हे कोई सन्देह नही है।'

बात उभारी है किन्तु 'ब्रह्मवादी कहते हैं' ऐसा नही कहकर 'मीमासन्ते' कहा है। अथर्ववेद (९।१।३) मे आया है—'बहुधा लोगो ने पृथक्-पृथक मीमासा करते हुए उसके कर्मों को इस पृथिवी पर निरीक्षित किया।' इस वेद ने पुन एक स्थान (९।६।२४) पर 'मीमासित' एव 'मीमामसमान' शब्दो का प्रयोग किया है। शाखायनब्राह्मण (२।८) मे आया है—'वे मीमासा करते हैं कि सूर्योदय के पश्चात् या पूर्व होम करना चाहिए।' तै० ब्रा० (३।१०।९) ने 'मीमासा' शब्द का प्रयोग किया है। शतपथब्राह्मण ने भी काण्व के पाठान्तर मे ऐसा किया है (से० बु० ई०, जिल्द २६, पाद-टिप्पणी–१)। छान्दोग्योपनिषद् (५।११।१) मे आया है कि पॉच महाश्रोत्रिय लोग, जो महाशाल (बडे घर वाले या बडी सम्पत्ति वाले) थे और प्राचीनशाल औपमन्यव नाम से पुकारे जाते थे, तथा अन्य लोग एकत्र हुए ओर इस प्रश्न पर मीमासा करने लगे कि 'हम लोगो का आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है?' तै० उप० (२।८) मे आया है—'यही आनन्द की मीमासा हे।'[3] दोनो वचनो मे 'मीमासा' का अर्थ उच्च दार्शनिक विषयो पर 'विचार-विमर्श करना' (विचारण) है।

पाणिनि (३।१।५-६) ने 'सन्' प्रत्यय के साथ सात धातुओ के निर्माण की बात कही है, जिनमे एक है 'मीमासते' जो 'मान्' से बना है, और काशिका ने इतना जोडकर कहा है कि इसका अर्थ है 'जानने की इच्छा, अर्थात् छानबीन एव अन्तिम निष्कर्ष', सम्भवत उसके कथन के सदर्भ मे ये सूत्र रहे है, यथा—'अथातो धर्म-जिज्ञासा' एव 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा'।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन से प्रकट हुआ होगा कि उपनिषदो के बहुत पहले से 'मीमासा' शब्द का अर्थ था—'किसी विवाद के विषय मे विचार-विमर्श करना तथा उस विषय में कोई निर्णय करना या निष्कर्ष उपस्थित करना।' वही शब्द एक निश्चित अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा (यथा उपर्युक्त याज्ञ० मे), अर्थात् धर्म के विषय मे छानबीन तथा व्याख्यान एव तर्क द्वारा सन्देहात्मक विषयो पर निर्णय करना।

कुछ धर्मसूत्र शुद्ध रूप से मीमासा की उक्तियो एव सिद्धान्तो से सुपरिचय प्रकट करते दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणार्थ, गौतम (१।५) मे आया है—'तुल्यबलयोर्विकल्प', अर्थात् 'जब दो तुल्य प्रमाण वाले ग्रन्थो मे विरोध हो तो विकल्प होता है।' केवल आपस्तम्बधर्मसूत्र मे ही मीमासा-सम्बन्धी उक्तियो एव सिद्धान्तो का विरल प्रयोग मिलता है, अन्य धर्मसूत्रो मे नही। इसमे आया है—'आनुमानिक आचार (ऐसे वैदिक वचन पर आधारित, जो अब लुप्त हो चुका हो) से भावात्मक (उपस्थित) वैदिक वचन अपेक्षाकृत अधिक बलवान् होता है।'[4] यह जैमिनि (१।-

३ प्राचीनशाल औपमन्यव ... ते हैते महाशाला महाश्रोत्रिया समेत्य मीमासा चक्रु को न आत्मा किं ब्रह्मेति। छा० (५।११।१), सैषानन्दस्य मीमासा भवति। तै० उप० (२।८)।

४ तुल्यबलयोर्विकल्प। गौतम० (१।५), मिलाइए जैमिनि० (१२।३।१०) एकार्थास्तु विकल्पेरन् समुच्चये ह्यावृत्ति स्यात्प्रधानस्य, शबर ने व्याख्या की है; ये त्वेकार्था एककार्यास्ते विकल्पेरन् यथा व्रीहियवौ, देखिए शबर 'तुल्यार्थयोर्हि तुल्यविषययोर्विकल्पो भवति न नानार्थयो।' (जैमिनि १०।६।३३), मिलाइए मनु (२।१४) 'श्रुतिद्वय तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।' श्रुतिर्हि बलीयस्यानुमानिकादाचारात्। आप० ध० १।१।४।८, मिलाइए 'विरोधे त्वनपेक्ष स्यादसति ह्यनुमानम्।' जै० १।३।३, विद्या प्रत्यनध्याय श्रूयते न कर्मयोगे मन्त्राणाम्। आप० ध० १।४।१२।९, मिलाइए जै० १२।३।१९ 'विद्या प्रति विधानाद्वा सर्वकाल प्रयोग स्यात् कर्मार्थत्वात् प्रयोगस्य।', यत्र तु प्रीत्युपलब्धित प्रवृत्तिर्न तत्र शास्त्रमस्ति। आप० ध० १।४।१२।११, मिलाइए जै० ४।१।२ 'यस्मिन् प्रीति पुरुषस्य तस्य लिप्सार्थलक्षणाऽविभक्तत्वात्।'

३।३) के समान है—'यदि (स्पष्ट वैदिक वचन एव स्मृति वचन मे) विरोध हो, तो स्मृति का त्याग होना चाहिए, यदि विरोध न हो तो अनुमान निकालना चाहिए (कि स्मृतिवचन किसी वैदिक वचन पर आधारित है)।' आप० मे आया है—'अनध्याय (वैदिक अध्ययन को पर्वो आदि मे बन्द करने) के नियम केवल वैदिक मन्त्रो के अध्ययन तक ही प्रयुक्त होते हैं, यज्ञो मे उनके प्रयोग के लिए नही।' स्थानाभाव से हम आप० ध० एव जैमिनि का मिलान यही समाप्त करते है। उपर्युक्त बातो से यह विदित होता है कि आपस्तम्ब के काल मे मीमासा के सिद्धान्त प्रचलित हो चुके थे और उनका पर्याप्त विकास भी हो चुका था। आपस्तम्ब ने 'न्यायवित्समय' (जो लोग न्याय जानते हैं उनका सिद्धान्त) एव 'न्यायविद' शब्दो का प्रयोग किया है, जिससे प्रकट होता है कि उन्होने किसी मीमासा-सम्बन्धी ग्रन्थ की ओर या किसी ऐसे लेखक की ओर सकेत किया है, जिसने मीमासा-सूत्र लिखा हो। आप० ध० एव पूर्वमीमासासूत्र के विचारो एव शब्दो मे जो साम्य दीखता है उससे प्रकट होता है कि आपस्तम्ब को या तो मीमासासूत्र का पता था या उनके समक्ष उसका कोई आरम्भिक पाठान्तर विद्यमान था। ऐसी बात नही है कि ये सभी वचन पश्चात्कालीन क्षेपक हैं, क्योकि उन सभी की व्याख्या हरदत्त ने की है।

कुछ श्रौतसूत्रो मे (यथा कात्यायन० मे) वैदिक वचनो की व्याख्या से सम्बन्धित नियम हैं जो जैमिनि के सूत्रो से मिलते-जुलते है, कही-कही तो शब्द-व्यवहार ज्यो-के-त्यो है।[५] थोडे उदाहरण यहाँ दिये जा रहे है। मिलाइए

५. यह द्रष्टव्य है कि पूर्वमीमासासूत्र के लेखको को शकर ने बहुधा 'न्यायविद' कहा है (वेदान्तसूत्र ४।२२), विश्वरूप आदि ने भी यही सज्ञा दी है। ब्रह्मसूत्र (१।१।१, पृष्ठ ५, चौखम्बा सीरीज) की टीका मे भास्कर का कथन है—यच्छब्द आह तदस्माक प्रमाणमिति हि न्यायविद। ये शब्द शबर के हैं (पू० मी० सू० ३।२।३६ के भाष्य मे)। विश्वरूप की बालक्रीडा ने याज्ञ० (१।५८) की टीका करते हुए कहा है— तथा च नैयायिका 'नहि वचनस्यातिभारोस्तीत्याहु।' मिलाइए शबर (जैमिनि २।२।३) 'किमिव वचन न कुर्यात् नास्ति वचनस्यातिभार।' अत यहाँ शबर नैयायिक कहे गये हैं। बालक्रीडा ने याज्ञ० (१।५३) पर कहा है—'न्यायविदश्च याज्ञिका। अपि वा सर्वधर्म स्यात् तन्न्यायत्वाद् विधानस्य।' यह अन्तिम जैमिनि (१।३।१६) हैं। अत यहाँ जैमिनि को न्यायविद् एव याज्ञिक कहा गया है। और देखिए बालक्रीडा (याज्ञ० १।८७)। माधवाचार्य के जैमिनि-न्यायमालाविस्तर मे आया है कि न्याय धर्म के निर्णायक और जैमिनि द्वारा व्याख्यायित अधिकरण हैं, (जैमिनिप्रोक्तानि धर्मनिर्णायकान्य धिकरणानि न्याया)। श्रौतसूत्रो के लेखको को बालक्रीडा (याज्ञ० १।३८) ने केवल याज्ञिक कहा है 'तथा च याज्ञिका व्यवहार्या भवन्ति इत्याहु।' यह उद्धरण कात्यायनश्रौतसूत्र (२२।४।२७–२८) का है। और भी, 'प्रायश्चित्त विधानाच्च' नामक सूत्र का० श्रौ० (१।२।१६) एव पू० मी० सू० (६।३।७) दोनो मे है और का० श्रौ० (१।८।६) पू० मी० सू० (१२।३।१५) ही है, इतना ही नहीं, का० श्रौ० (८।११।१४–१५) मे वे ही शब्द हैं जो पू० मी० सू० (३।५।३६–३९) मे हैं, किन्तु दोनों के मत भिन्न हैं। मिलाइए पू० मी० सू० (४।४।१९–२१) एव कात्या० श्रौ० (४।१।२८–३०)। ऋ० (१।९८।१) एव (१५९।६) मे आये हुए 'वैश्वानर' शब्द के अर्थ के विवाद मे निरुक्त (७।२१–२३) ने 'आचार्यो', प्राचीन 'याज्ञिको' (जिन्होने वैश्वानर को आकाश मे सूर्य माना है) एव 'शाकपूणि' (जिन्होने उसे भूमि की अग्नि माना है) के मतों का प्रकाशन किया है। निरुक्त ने याज्ञिको के दृष्टिकोण व्यक्त किये हैं (५। ११, ७।४, जहाँ याज्ञिको एव नैरुक्तो मे मतैक्य नहीं है, ९।२९, जहाँ नैरुक्तो का मत है कि अनुमति एव राका देवताओ की पत्नियाँ हैं, और याज्ञिको का मत है कि वे पूर्णमासी के नाम हैं); और देखिए ११।३१ एव ११।४२–४३।

कात्या० (१।१।९-१० रथकार के बारे मे) एव जै० (६।७।४४), कात्या० (१।१।१२-१४) एव जै० (६।१।५१ एव ६।८।२०-२२), कात्या० (१।१।१८-२०) एव जै० (१२।२।१-४), कात्या० (१।२।१८-२०) एव जै० (६।३।२-७, नित्य कर्म के विषय मे, जो पूर्ण फलदायक होते हैं, भले ही कुछ अग न सम्पादित हुए हो), कात्या० (१।३।१-३) एव जै० (१।१।३५-४०), कात्या० (१।३।२८-३०) एव जै० (६।६।३)। कही-कही कात्यायन ने पूर्वमीमासासूत्र का विरोध किया है, किन्तु वहुधा शब्द एक-से आये हैं।

कात्यायन के पाणिनीय वार्तिको एव महाभाष्य से प्रकट होता है कि मीमासा की उक्तियाँ एव सिद्धान्त उनसे बहुत पहले विकसित हो चुके थे। उदाहरणार्थ, वार्तिको मे मीमासा के ये शब्द आये है—'प्रसज्यप्रतिषेध' (वार्तिक ७, पाणिनि १।१।४४, वार्तिक ५, पा० १।२१, वा० २, पा० ७।३।८५), 'पर्युदास' (वा० ३, पा० १।१।२७), 'शास्त्रातिदेश' (पा० ७।१।९६ पर वा०), 'नियम' एव 'विधि' मे अन्तर (वा १ एव २, पा० ३।३।१६३), 'प्रकरण' (वा० ४, पा० ६।२।१४३)। पतञ्जलि का महाभाष्य पू० मी० सू० से परिपूर्ण है। 'मीमासक' शब्द आया है (भाष्य, पा० २।२।२९)। महाभाष्य मे 'पाँच पाँच नख वाले' पशु खाये जा सकते है' (पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या　) वाला प्रख्यात उदाहरण आया है और कहा गया है कि उन पाँचो के अतिरिक्त अन्यो को नही खाना चाहिए।[६] किन्तु पतञ्जलि ने 'परिसख्या' शब्द का प्रयोग नही किया है, जैसा कि मीमासा ग्रन्थो मे आया है। जैमिनि मे 'परिसख्या' आया है (७।३।२२)। महाभाष्य ने (पा० ४।१।१४, वार्तिक ५, एव ४।१।६३, वार्तिक ९) एक मूल्यवान् सूचना दी है, यथा—यदि कोई नारी काशकृत्स्नि द्वारा व्याख्यायित मीमासा पढती है तो वह ब्राह्मण नारी 'काशकृत्स्ना' कही जायेगी।[७] इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि पतजलि के काल मे काशकृत्स्नि

६ भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते। पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्युक्ते गम्यत एतदतोऽन्येऽभक्ष्या इति। महाभाष्य (कीलहार्न द्वारा सम्पादित, जिल्द १, पृ० ५)। मिलाइए शबर, जै० (१०।७।२८) 'किन्तु परिसख्यया प्रतिषेध स्यात्। यथा पञ्च पञ्चनखाश्चाशल्यक इति शशादीना पञ्चाना कीर्तनादन्येषा भक्षण प्रतिषिध्यत इत्ययमर्थो वाक्येन गम्यते।' पाँच पशु ये है—शल्यक श्वाविधो गोधा शश कूर्मश्च पञ्चम ॥ रामायण (४।१७।३९), मनु (५।१८, यहाँ इन पाँच पशुओ के साथ खड्ग भी जोड दिया गया है)। देखिए याज्ञ० (१।१७७, पाँच के लिए) गौतमधर्मसूत्र (१७।२७) 'पञ्चनखाश्च। शल्यकशशश्वाविड्गोधाखड्गकच्छपा' (अभक्ष्या)।

७ काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमासा काशकृत्स्नी, काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी। महाभाष्य (पा० ४।१।१४)। काशकृत्स्नि की मीमासा मे यदि पूर्वमीमासा का विवेचन था तो यह आश्चर्य है कि पूर्व-मीमासासूत्र के विद्यमान ग्रन्थ मे इसकी ओर कोई सकेत नहीं है, जब कि उसमे (पूर्वमीमासासूत्र मे) जैमिनि के अतिरिक्त ९ पूर्ववर्ती मीमासको के नाम आये है, यथा—आत्रेय, आलेखन (६।५।१७), आश्मरथ्य (६।५।१६), ऐतिशायन, कामुकायन, कार्ष्णाजिनि, बादरायण, बादरि एव लाबुकायन। डा० उमेश मिश्र ने म० म० गगानाथ झा के ग्रन्थ 'पूर्वमीमासा इन इट्स सोर्सेज' के अन्त मे दी गयी ग्रन्थसूची मे भूल से आश्मरथ्य का नाम छोड दिया है। पतञ्जलि ने काशकृत्स्नि की मीमासा का उल्लेख किया है, अत ई० पू० २०० के पूर्व उसे रखना ही होगा। यदि काशकृत्स्नि ने पूर्वमीमासा पर लिखा, जैसा कि अत्यन्त सम्भव है, तो ऐसा सोचना सर्वथा ठीक है कि यदि उपस्थित पूर्वमीमासा का प्रणयन ई० पू० २०० के उपरान्त एव लगभग २०० ई० मे (जैसा कि जैकोबी एव कीथ दोनो महोदयो ने लिखा है) हुआ, तो काशकृत्स्नि का नाम पू० मी० सू० मे अवश्य आ जाना

नामक एक मीमासा ग्रन्थ उपस्थित था और उसे ब्राह्मण स्त्रियाँ पढती थी। यह नही ज्ञात हो पाता कि काश-कृत्स्नि-मीमासा की विषयवस्तु क्या थी, वह जैमिनि की पूर्वमीमासा के समान थी या उत्तरमीमासा (वेदान्तसूत्र) के समान थी, या उसमे मीमासा एव वेदान्त दोनो थे, जिनमे अन्तिम का होना असम्भव नही है। वेदान्तसूत्र (१।४।-२२) ने आचार्य काशकृत्स्न का मत उल्लिखित किया है, जिसे शकराचार्य ने अन्तिम निष्कर्ष एव वेदविहित माना है। काशकृत्स्न का पुत्र काशकृत्स्नि कहा गया होगा (पाणिनि ४।१।६५)। उन महत्त्वपूर्ण विषयो पर, जिन पर मीमासा के अपने सिद्धान्त ह, वार्तिको एव पतञ्जलि ने पूर्ण विवेचन उपस्थित किया है। पाणिनि (१।२।६४) के वार्तिक स० ३५ से ५६ मे पदो (शब्दो) के अर्थ (या भाव) के प्रश्न पर लम्बा विवेचन है (सरूपाणामेकशेप एकविभक्तौ), यथा—यह आकृति है या व्यक्ति है? वार्तिक स० ३५ मे ऐसा आया है कि वाजप्यायन के मत से आकृति किसी पद का भाव है, किन्तु व्याडि के अनुसार (वार्तिक ४५ मे—द्रव्याभिधान व्याडि) द्रव्य (या व्यक्ति) पद का भाव है। महाभाष्य ने टिप्पणी की है कि पाणिनि ने कुछ ऐसे सूत्र (यथा—१।२।५८ जात्या-ख्यायाम् आदि) रचे है जिनमे उन्होने 'जाति' को पदो के अर्थ मे लिया है, किन्तु अन्य सूत्रो मे (यथा—१।३।-६४, सरूपाणाम् आदि) उन्होने 'द्रव्य' को शब्दो (पदो) के अर्थ मे लिया है। यह द्रष्टव्य है कि जैमिनि (१।३-३३, आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्) के मत से 'आकृति' शब्दो (पदो) का भाव है। पाणिनि (४।१।६२) के वार्तिक स० ३ 'सामान्य चोदनास्तु विशेषेषु' पर पतजलि का कथन है कि कुछ वस्तुओ एव पदार्थो के सन्दर्भ मे सामान्य रूप से घोषित विधियाँ विशेष वस्तुओ एव पदार्थो से ही सम्बन्ध रखती है (अर्थात् उन्ही के लिए प्रयुक्त होती ह) और उन्होने इस विषय मे मीमासा के उदाहरण उपस्थित किये है। वार्तिककार एव पतञ्जलि दोनो ने 'चोदना' का प्रयोग पूर्वमीमासा वाले अर्थ मे किया है और उन्होने ऐसे उदाहरण दिये है जो शावर भाष्य से मिलते-जुलते है। व्याकरण के अध्ययन से जिन बहुत-से उद्देश्यो की पूर्ति होती है उनमे 'ऊह' एक है (जो पूर्वमीमासासूत्र के नवे अध्याय का विषय है)। पाणिनि (१।४।३) पर भाष्य करते हुए पतञ्जलि ने मीमासा की भाषा का व्यवहार किया है—'अपूर्व इव विधिर्भविष्यति न नियम ।'

ऐसा प्रतीत होता है कि सकर्षकाण्ड आरम्भिक कालो से ही उपेक्षित-सा रहा है। इसके प्रणेता के विषय मे मतमतान्तर रहा है। वेङ्कटनाथ की न्यायपरिशुद्धि का कथन है (इण्डि० हि० क्वा०, जिल्द ६, पृ० २६६) कि सकर्षकाण्ड के प्रणेता थे काशकृत्स्न। शबर के भाष्य से प्रकट होता है कि उनके समय मे यह काण्ड विद्यमान था और वह उनकी दृष्टि मे जैमिनि कृत था। शकराचार्य ने अपने भाष्य (वे० सू० ३।३।४३, प्रदानवदेव तदुक्तम्) मे सकर्ष का उल्लेख किया है और उससे एक सूत्र उद्धृत किया है और कहा है कि वह वेदान्तसूत्र को ज्ञात था और ऐसा प्रकट होता है कि यह जैमिनि कृत है। ऐसा प्रकट होता है कि रामानुज ने भी माना है कि जैमिनीय १६ अध्यायो (१२ अध्यायो मे पूर्वमीमासा और चार अध्यायो मे सकर्ष) मे था। अप्पयदीक्षित के कल्पतरुपरिमल (वे० सू० ३।३।४३ पर टीका) मे ऐसा आया है कि देवताओ पर विचार-विमर्श के लिए सकर्षकाण्ड प्रारम्भ किया गया और यह १२ अध्यायो वाले पू० मी० सू० का परिशिष्ट है। सकर्षकाण्ड का धर्मशास्त्र पर कोई प्रभाव नही

चाहिए। किन्तु यदि जैमिनि काशकृत्स्नि से पहले के थे या उनके समकालीन थे, तो यह सम्भव है कि पू० मी० सू० मे उन्होने काशकृत्स्नि का नाम न लिया हो। अत यद्यपि मौन रह जाने से ऐसा तर्क देना उतना ठीक एव बलशाली नहीं कहा जा सकता, तथापि यह कहा जा सकता हे कि विद्यमान पूर्वमीमासासूत्र कम-से-कम ई० पू० २०० के पूर्व ही प्रणीत हुआ होगा।

है, अत हम इसके विषय मे कुछ और नही लिखेंगे। इस विषय में देखिए प० वी० ए० रामस्वामी शास्त्री का निवन्ध (इण्डि० हि० क्वा०, जिल्द ६, पृ० २९०–२९९), जहाँ सकर्षकाण्ड को पू० मी० सू० का परिशिष्ट कहा गया है।

मध्यकाल के पश्चात्कालीन लेखको ने मीमासाशास्त्र को विद्यास्थानो मे (वेदो के अतिरिक्त) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा है, क्योकि यह अन्य वैदिक वचनो के अर्थ के विषय मे उत्पन्न सन्देहो, भ्रामक धारणाओ एव अवोधता को दूर करता है तथा अन्य विद्यास्थानो को अपने अर्थ स्पष्ट करने के लिए इसकी आवश्यकता पडती है।[८]

कुछ ग्रन्थो मे, यथा वेदान्तसूत्र पर रामानुज के भाष्य एव प्रपचहृदय मे, मीमासाशास्त्र को बीस अध्यायो वाला कहा गया है और सूचित किया गया है कि सम्पूर्ण पर बोधायन द्वारा प्रणीत कृतकोटि नामक एक भाष्य था, आगे चलकर उपवर्ष द्वारा एक छोटी टीका प्रणीत हुई, देव-स्वामी ने १६ अध्यायो पर एक टीका लिखी और भवदास ने भी जैमिनि पर एक टीका लिखी, किन्तु शबर ने केवल प्रथम १२ अध्यायो पर ही टीका लिखी और सकर्ष पर कुछ नही लिखा। राजराज (९९९ ई०) के एक अभिलेख (इडि० हि० क्वा०, जिल्द १५, पृ० २९२-२९३) मे आया है कि एक विद्वान् ब्राह्मण को कुछ भूमि इसलिए दी गयी कि वह चार छात्रो के रहने और पढने का प्रवन्ध करे, उसमे जिन विषयो के पठन-पाठन का उल्लेख है, उनमे बीस अध्यायो वाली मीमासा की भी चर्चा है। ये बीस अध्याय इस प्रकार हैं, १२ अध्याय (जिनमे तीसरे, छठे एव दसवें अध्यायो को छोडकर प्रत्येक अध्याय ४ पादो मे, तीसरा, छठा एव दसवाँ अध्याय ८ पादो मे विभाजित है, इस प्रकार कुल ९×४+३×८=६० पादो मे) जैमिनि के है, ४ अध्याय सकर्षकाण्ड के हैं और शेष ४ अध्याय वेदान्त सूत्र के हैं। बारह अध्यायो को बहुधा पूर्वमीमासा कहा जाता है, जो एक बृहद् ग्रन्थ है, जिसमे ९१५ या लगभग एक सहस्र अधिकरण एव लगभग २७०० सूत्र हैं, जो विभिन्न विषयो पर हैं और ऐसे नियमो का उल्लेख करते हैं जो वैदिक व्याख्या मे सहायक होते हैं। याज्ञ० (१।३) ने जिस मीमासा का उल्लेख किया है, वह सम्भवत १२ अध्यायो वाला जैमिनि का ग्रन्थ है। बहुत-से लेखको ने, यथा—माधवाचार्य ने[९] पूर्व एव उत्तर नामक दो मीमासाओ का उल्लेख किया है, जो १२ अध्यायो मे हैं, जैमिनि द्वारा लिखित हैं तथा उनमे वेदान्तसूत्र के चार अध्याय हैं। शकराचार्य ने विद्यमान पूर्वमीमासा को 'द्वादशलक्षणी' (वे० सू० ३।३।२६), 'प्रथम तन्त्र' (वे० सू० ३।३।२५, ३।३।५३ एव ३।४।२७), 'प्रथम काण्ड' (वे० सू० ३।३।१, ३।३।३३, ३।३।४४, ३।३।५०), 'प्रमाणलक्षण' (वे० सू० ३।४।४२) कहा है। एक स्थान (वे० सू० ३।३।५३) पर उन्होने पूर्वमीमासासूत्र के प्रथम पाद को 'शास्त्रप्रमुख इव प्रथमे पादे' कहा है और इससे यही व्यक्त किया है कि वे पू० मी० सू० एव वेदान्तसूत्र को एक शास्त्र मानते हैं।

८ प्रातिस्विकानेकवाक्यार्थगततत्तद्ज्ञानसशयविपर्ययव्युदासेन पारमार्थिकार्थसतत्त्वस्वरूपनिर्णयार्थं समस्तैरप्येभिर्विद्यास्थानैरभ्यर्थ्यमानत्वात्तेभ्योपि मीमासाख्य, विद्यास्थान गरीयस्तरम्। तथा ह्याहु—चतुर्दशसु विद्यासु मीमासैव गरीयसी। जैमिनीयसूत्रार्थसग्रह (ऋषिपुत्र-परमेश्वर कृत, भाग-१, पृ० २, त्रिवेन्द्रम् सस्कृत सीरीज)।

९ ये पूर्वोत्तरमीमासे ते व्याख्यायातिसग्रहात्। कृपालुर्माधवाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यत ॥ ऋग्वेद की टीका, आरम्भिक श्लोक ४ (पूना)। कुछ पाण्डुलिपियों में 'माधवाचार्यो' के स्थान पर 'सायणाचार्यो' लिखा है।

उपस्थित पूर्वमीमासासूत्र एव वेदान्तसूत्र (या ब्रह्मसूत्र) के प्रणेता तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे कुछ अति कठिन एव मत-मतान्तरपूर्ण प्रश्न उठ खडे हुए हैं। इन सभी प्रश्नो पर यहाँ विचार सम्भव नही है। प्रथम द्रष्टव्य बात यह है कि यद्यपि वेदान्तसूत्रो की सख्या पू० मी० सू० की सख्या का १।५ भाग मात्र है, तथापि वेदान्तसूत्र मे व्यक्तिगत सकेत अधिक (अर्थात् ३२) हैं और पू० मी० सू० मे अपेक्षाकृत कम (अर्थात् २७)। दूसरी बात यह है कि वेदान्तसूत्र मे जैमिनि का नाम ११ बार और बादरायण का ९ बार आया है तथा पू० मी० सू० ने दोनो का नाम केवल ५ बार लिया है। प्रश्न उठता है— क्या जैमिनि एव बादरायण समकालीन थे ? यदि नही, तो दोनो मे क्या सम्बन्ध था ? विद्वान् लोग सामान्यत यही स्वीकार करते हैं कि दोनो समकालीन नही थे। सामविधानब्राह्मण मे एक प्राचीन परम्परा की ओर निर्देश है, जिसके अनुसार जैमिनि पाराशर्य व्यास के शिष्य कहे गये हैं।[१०] हमने इस खण्ड के अध्याय २२ मे यह पढ लिया है कि किस प्रकार पुराणो ने यह घोषित किया है कि व्यास पाराशर्य ने, जो कृष्ण द्वैपायन भी कहे जाते हैं, एक वेद को चार मे गठित किया और क्रम से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एव अथर्ववेद को पैल, वैशम्पायन, जैमिनि एव सुमन्तु को पढाया। महाभारत मे सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन एव पैल को शुक (व्यास के पुत्र) के साथ व्यास का शिष्य कहा गया है (देखिए सभा० ४।११, शान्तिपर्व ३२८।२६-२७, ३५०।११-१२)। आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।४।४) मे तर्पण के सिलसिले मे एक मनोरजक कथन है, यथा—'सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्र-भाष्य-भारत-महाभारत-धर्माचार्या।' इस कथन से यह प्रकट होता है कि ईसा की कई शतियो पूर्व से ही जैमिनि एक आदरणीय नाम था और वह सामवेद से सम्बन्धित था। विद्वानो ने पू० मी० सू० एव वेदान्तसूत्र मे आये हुए जैमिनि एव बादरायण के नामो एव सकेतो की जाँच की है। प्रो० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री (इण्डि० एण्टी०, जिल्द ५०, पृ० १६७-१७४) ने एक चकित करने वाली स्थापना दी है कि जैमिनि नाम के तीन व्यक्ति थे। टी० आर० चिन्तामणि (जे० ओ० आर०, मद्रास, जिल्द ११, सप्लिमेण्ट, पृ० १४) ने शास्त्री से सहमति प्रकट की है। पू० मी० सू० मे जैमिनि का नाम पाँच बार आया है (३।१।४, ६।३।४, ८।३।७, ९।२।३९ एव १२।१।७।) सामान्य ज्ञान तो यही कहता है कि ये पाँच बार आये हुए सकेत केवल एक ही व्यक्ति के विषय मे है।' यदि पू० मी० सू० द्वारा इसके लेखक के अतिरिक्त दो अन्य जैमिनियो के नाम इन पाँच सूत्रो मे लिये गये होते तो स्पष्ट रूप से यह बात कही गयी होती। प्रो० शास्त्री का ऐसा कथन है कि ६।३।४ मे उल्लिखित जैमिनि अन्य चार सूत्रो मे उल्लिखित जैमिनि से भिन्न हैं, क्योकि शबर ने उसमे जैमिनि के लिए 'आचार्य' उपाधि का प्रयोग नही किया है, जैसा कि उन्होने

१० सोयं प्राजापत्यो विधिस्तमिमं प्रजापतिर्बृहस्पतये बृहस्पतिर्नारदाय नारदो विष्वक्सेनाय विश्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय व्यास पाराशर्यो जैमिनये जैमिनि पौष्पिण्ड्याय पौष्पिण्ड्य पाराशर्यायणाय पाराशर्यायणो बादरायणाय बादरायणस्ताण्डिशाट्यायनिभ्यां ताण्डिशाट्यायनिनौ बहुभ्य . आदि। सामविधान ब्राह्मण (अन्त मे)। न्या० र० ने श्लोकवा० (प्रतिज्ञा-सूत्र, श्लोक २३) पर पूर्वमीमासा की गुरु-परम्परा को यो व्यक्त किया है— ब्रह्मा—प्रजापति—इन्द्र—आदित्य—वसिष्ठ—पराशर—कृष्णद्वैपायन—जैमिनि। युक्ति-स्नेहप्रपूरणी (पृ० ८, चौखम्बा सीरीज) ने दो समान गुरुक्रम उपस्थित किये हैं, जो सामविधान ब्रा० से तथा एक दूसरे से थोडा-सा अन्तर रखते हैं। वसिष्ठ तक गुरुपरम्परा व्यावहारिक रूप से व्यर्थ-सी है। यह अवलोक-नीय है कि सामविधान ब्राह्मण मे जैमिनि को व्यास पाराशर्य का शिष्य कहा गया है, जब कि जैमिनि एव बाद-रायण के बीच में दो अन्य नाम आ जाते हैं।

अन्य चार सूत्रो मे किया है। इतना ही नही, ६।३।४ मे जो बात कही गयी है वह पूर्वपक्ष मात्र है और अन्य चार सूत्रो में जैमिनि का दृष्टिकोण मीमासासूत्र का सिद्धान्त है। जिन सूत्रो मे जैमिनि के नाम आये हे, वे केवल पॉच है, जिनमे शवर ने केवल चार के लिए 'आचाय' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु यह एक बहुत ही हलका तर्क है कि चार सूत्रो वाले जैमिनि एव एक सूत्र वाले जैमिनि मे अन्तर है। 'आचार्य' या 'भगवान्' जैसे उपाधि-सूचक शब्दो के प्रयोगो के विषय मे लेखको के व्यवहारा मे अन्तर है। कुमारिल ने जैमिनि के लिए 'आचार्य' या 'भगवान्' की उपाधि नही जोडी हे और एक स्थान पर तो ऐसा लिख दिया हे (तन्त्रवार्तिक, पृ० ८६५) कि जैमिनि असारभूत सूत्र लिखते है।

वेदान्तसूत्र के जिन सूत्रो मे जैमिनि के नाम आये हैं (यथा—१।२।२८, १।२।३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२, ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११) उनमे शकराचार्य ने 'आचार्य' की उपाधि जोडी है (केवल ३।४।४० मे ऐसा नही हो सका हे), यद्यपि जैमिनि के बहुत-से प्रमेय वेदान्तसूत्र के प्रणेता बादरायण को एव स्वय शकर को मान्य नही है। ३।४।४० मे शकराचार्य ने जैमिनि एव बादरायण दोनो के लिए 'आचार्य' की उपाधि नही दी है। इस विषय मे ऐसा तो किसी ने नही कहा है कि ३।४।४० मे 'आचार्य' शब्द न आने से उसमे उल्लिखित बादरायण अन्य सूत्रो मे उल्लिखित बादरायण से भिन्न है। एक अन्य स्थान (वे० सू० ४।१।१७ पर) मे शकराचार्य का कथन है कि जैमिनि एव बादरायण दोनो इस बात को स्वीकार करते है कि काम्य प्रकार के कुछ कर्म ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति मे किसी प्रकार सहायक नही होते। इससे यह प्रकट होता है कि शकर के मत से जैमिनि ने ब्रह्मविद्या के उदय के विषय मे विचार किया है। दूसरे तर्क के विषय मे यह कहा जा सकता है कि ६।३।४ में किसी भी प्रकार से पूर्वपक्ष नही प्रकट होता। उसी अधिकरण मे पूर्वपक्ष प्रथम सूत्र मे लिखित है, यथा—'अग्निहोत्र या दर्श-पूर्णमास जसे कृत्यो को सम्पादित करने का वही अधिकारी है जो उन्हे पूर्णता एव समग्रता के साथ कर सके।' दूसरे सूत्र में सिद्धान्त का दृष्टिकोण व्यक्त है, यथा— 'नित्य कर्मो मे यह कोई आवश्यक नही हे कि सभी कृत्य सम्पादित किये जायँ।' एक तीसरा सूत्र ऐसा कहता है कि स्मृति मे ऐसा घोषित है कि यदि मुख्य कृत्य सम्पादित न किया जाय तो यह अपराध है, अत मुख्य कृत्य अपरिहार्य है और उसे अवश्य करना चाहिए। इसके उपरान्त चौथा सूत्र आता है जिसमे जैमिनि का नाम आया है। इस पर शबर का भाष्य बहुत सक्षिप्त और अस्पष्ट है। इन सूत्रो (६।३।१-७) पर टुप्टीका पृथक्-पृथक् भाष्य नही उपस्थित करती, और व्याख्या मे इसने जैमिनि का नाम छोड दिया है तथा इस अधिकरण के विषय मे जो अन्तिम बात कही गयी है वह प्रस्तुत लेखक द्वारा उपस्थापित चौथे सूत्र की व्याख्या को और बल देती हे। इस बात मे किसी को कोई सन्देह नही है कि ५ से लेकर ७ तक के सूत्र सिद्धान्त के दृष्टिकोण का समर्थन करते है। इस विवाद मे विशेष जाने की कोई आवश्यकता नही है। निष्कर्ष यह है कि पू० मी० सू० मे पाँच बार उल्लिखित जैमिनि एक ही व्यक्ति है और जिसने पूर्वमीमासा पर लिखा है वह उपस्थित पू० मी० सू० के लेखक से भिन्न व्यक्ति है।

स्वय प्रो० शास्त्री यह स्वीकार करते है कि पॉच सकेतो में चार मे, जहाँ जैमिनि स्पष्ट रूप से अकित हैं, उनके विचार सिद्धान्त के विचार हे। पू० मी० सू० के ६।२।३ एव १२।१।५६ सूत्र कुछ विशिष्ट हैं। दोनो विषयो मे अधिकरण केवल एक सूत्र का है, जो सिद्धान्ती दृष्टिकोण है और वहाँ जैमिनि स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। पू० मी० सू० के सूत्र ३।१।४ मे जैमिनि बादरि (३।१।३) से भिन्न हैं और अधिकरण को पूर्ण करने के लिए दो और सूत्र जोड दिये गये हे। पू० मी० सू० के ८।३।७ मे जैमिनि का विचार बादरि के सूत्र ८।३।६ के विचार का विरोधी है, वह सिद्धान्ती दृष्टिकोण है और पू० मी० सू० के लेखक के दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए कोई पृथक् सूत्र भी नही है।

वे० सू० (३।४।४०) की व्याख्या मे शकराचार्य ने जो वक्तव्य दिये है, उनसे प्रकट होता है कि वे बादरायण को वेदान्तसूत्र का लेखक मानते है । वे० सू० (३।२।३८-३९) मे सिद्धान्त आया है कि कर्मों का फल ईश्वर द्वारा दिया जाता है, किन्तु जैमिनि का विचार (दृष्टिकोण) यह है कि कर्मों का फल धर्म होता है (३।२।४०) और सूत्र ३।२।४१ मे ऐसा आया है कि बादरायण प्रथम बात मानते है, अर्थात् ईश्वर कर्मों का फल देता है । यहाँ पर बादरायण को स्पष्ट रूप से सिद्धान्त सूत्र (३।२।३८) का पोषक माना गया है । शकराचार्य ने वे० सू० के अन्तिम सूत्र (४।४।२२) मे जो बाते कही है उनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि बादरायण सम्पूर्ण वेदान्तसूत्र के प्रणेता थे। इस विषय मे हमे कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल पाता कि जब ५५५ सूत्रो के प्रणेता बादरायण थे तो वेदान्तसूत्र मे बादरायण के नाम ९ बार क्यो आये हैं और जब २७०० सूत्रो के प्रणेता जैमिनि के नाम से विख्यात है तो जैमिनि के विचार पाच बार क्यो व्यक्त है, जिनमे चार तो ऐसे है जो पू० मी० सू० के विख्यात लेखक के विचार से सर्वथा मिलते हैं ? इन प्रश्नो के उत्तर मे केवल दो सिद्धान्त कहे जा सकते है, यथा--एक तो यह कि इसकी व्याख्या नहीं हो सकती और दूसरा यह कि दो जैमिनि एव दो बादरायण थे ।

वेदान्तसूत्र के प्रणेता से सम्बन्धित समस्या विकट है। शकराचार्य के समान भास्कर का कथन है कि वेदान्तसूत्र के प्रणेता बादरायण थे । उन्होने वे० सू० की टीका का आरम्भ बादरायण को प्रणाम करके किया है, क्योकि उनके शब्दो मे बादरायण ने इस लोक मे ब्रह्मसूत्र को भेजा, जो जन्म-बन्धन से लोगो को मुक्त कर देता है । शकराचार्य के शिष्य पद्मपाद की पञ्चपादिका मे बादरायण का अभिवादन किया गया है (आरम्भिक दूसरा श्लोक) । रामानुज ने विरोधी वक्तव्य दिये है। 'श्रीभाष्य' मे रामानुज ने सभी भद्र पुरुषो से कहा है कि उन्हे पाराशर्य के अमृत-रूपी शब्दो का पान करना चाहिए, किन्तु वे सू० (२।१२।४२) के भाष्य मे उन्होने लिखा है कि बादरायण महाभारत के प्रणेता थे, जहाँ पर पाञ्चरात्र-शास्त्र एव वे० सू० का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है (शान्तिपर्व, अध्याय ३३४-३३९)। किन्तु रामानुज के गुरु के गुरु यामुनाचार्य के मत से वे० सू० के प्रणेता थे बादरायण । शकराचार्य के कहने पर भी उनके वेदान्त-सूत्र के भाष्य की प्रसिद्ध टीका 'भामती' के रचयिता वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मसूत्र के लेखक वेदव्यास का अभिवादन किया है। पराशरमाधवीय के दो मत हैं—जिल्द १, भाग-१, पृ० ५२, ९७, जिल्द २, भाग-२, पृ० ३ एव २७५ मे वे० सू० के प्रणेता बादरायण कहे गये हैं, किन्तु कुछ स्थानो पर वेदान्तसूत्र को वेदव्याससूत्र कहा गया है (जिल्द १ भाग-१, पृ० ५६, ११३)। इन विभिन्न मतो से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या बादरायण, जो वेदान्तसूत्र के प्रणेता कहे जाते हैं, और वेदव्यास एक ही व्यक्ति है या भिन्न ? शकराचार्य के भाष्य से प्रकट है कि वे इन दोनो को भिन्न मानते है ।[११] उदाहरणार्थ, वे० सू० (१।३।२९।) पर

११ अत एव च नित्यत्वम्। वे० सू० (१।३।२९), भाष्य— 'वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति। युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान्सेतिहासान्महर्षय । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ।।' इति। यह श्लोक शान्तिपर्व (२१०।१९) मे आया है, स्मरन्ति च । वे० सू० (२।३।४७), भाष्य— 'स्मरन्ति च व्यासादयो यथा जैवेन दुःखेन न परमात्मा दुःखायत इति। तत्र य परमात्मा हि स नित्यो निर्गुण स्मृत । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। कर्मात्मा त्वपरो योसौ मोक्षबन्धै स युज्यते । स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुन ।।' इति। ये दोनो शान्ति पर्व मे आये हैं (३५२।१४-१५)।

उन्होंने वेदव्यास का श्लोक वेदान्तसूत्र के इस समर्थन मे उद्धृत किया है कि वेद नित्य है। वे० सू० (२।३।४७) पर इसके समर्थन मे कि यद्यपि आत्मा परमात्मा का ही अश है तथापि परमात्मा आत्मा द्वारा पाये जाते हुए कष्ट से दुखी नही होता, शकराचार्य ने महाभारत से दो श्लोक स्मृति के समान उद्धृत किये है। इससे यह प्रकट है कि यदि वेदान्तसूत्र के प्रणेता एव वेदव्यास एक ही व्यक्ति होते तो शकराचार्य उदाहरण रूप मे वेदव्यास के वचन उद्धृत नही करते, यदि वे ऐसा करते भी तो यही कहते कि इस लेखक ने ऐसा एक स्थान पर और कहा है, आदि। यही तर्क शकराचार्य की आलोचनाओ के विषय मे भी दिया जा सकता है। यदि महान् आचार्य का यही मत था कि वेदान्तसूत्र के लेखक वे ही महोदय थे जिन्होंने महाभारत एव गीता का प्रणयन किया है तो वे महाभारत एव गीता से उद्धरण देकर वे० सू० के तर्क का समर्थन न करते।

यदि यह कहा जाय कि जैमिनि केवल एक ही थे (दो नही, तीन की बात तो दूर है) तो एक बडी गम्भीर समस्या उठ खडी होती है। पू० मी० सू० (जिसमे २७०० सूत्र है) के लेखक ने अपने दृष्टिकोणो की ओर अपने नाम से, और वह भी केवल पाँच बार ही, क्यो सकेत किया है? कुछ टीकाकारो ने ऐसा कहा है कि पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती लेखको के नाम आदर व्यक्त करने के लिए उल्लिखित किये है, तो क्या यह समझा जाय कि जैमिनि ने भी ऐसा किया है? यदि वे अपना नाम ही लेना चाहते थे तो केवल पाँच ही बार क्यो लिया? स्पष्ट है, उन्होंने अपने किसी पूर्ववर्ती व्यक्ति की ओर सकेत किया है, जिनका नाम सयोग से जैमिनि ही था और जिन्होंने अपने मत किसी ग्रन्थ मे व्यक्त किये थे।

वेदान्तसूत्र मे ११ सूत्र ऐसे हैं जिनमे जैमिनि के दृष्टिकोणो की ओर निर्देश किया गया है, यथा—१।२।२८ एव ३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२, ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११। इनमे ६ सकेत ऐसे हैं (१।२।२८, १।२।३१, १।४।१८, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११), जिनके लिए पू० मी० सू० का कोई अधिकरण या सूत्र नही दिखाया जा सकता। किन्तु ३।२।४०, ३।४।२, ३।४।१८ नामक सूत्र ऐसे हैं जो पू० मी० सू० के विख्यात सिद्धान्त हैं। वे० सू० १।३।३१ पू० मी० सू० ६।१।५ है तथा ३।४।४० मे जैमिनि वे० सू० से मिलते हैं। अत ऐसा प्रतीत होता है कि उन जैमिनि ने, जो शुद्ध रूप से वेदान्त-सम्बन्धी विषयो पर अपने मत प्रकाशित करते हैं और जिनके दृष्टिकोण पू० मी० सू० में नही पाये जाते, वेदान्त पर कोई ग्रन्थ लिखा था।

वेदान्तसूत्र के ९ सूत्रो में बादरायण के नाम आये हैं, यथा १।३।२६ एव ३३ (एक ही अधिकरण मे बादरायण जैमिनि के विरोध में दो बार उल्लिखित है), ३।२।४१, ३।४।१, ३।४।८, ३।४।१९, ४।३।१५, ४।४।७, ४।४।१२। यह अवलोकनीय है कि ४।३।१५ को छोडकर सभी मे बादरायण के मत जैमिनि से पृथक् है या थोडा अन्तर रखते हैं (४।४।७ एव ४।४।१२)। प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री का विचार है कि वे सभी दृष्टिकोण जो बादरायण के कहे गये हैं, वेदान्त सूत्र के लेखक के ही मत हैं, जिन्होंने अपने लिए प्राचीन लेखको के समान अन्य-पुरुष का प्रयोग किया है (इण्डि० एण्टी०, जिल्द पृ० ५०, पृ० १६९)। इस विचार से यह नही ज्ञात हो पाता कि वेदान्तसूत्र (जिसमे ५५५ सूत्र हैं) के लेखक की ही स्थिति को दृढ करने के लिए बादरायण का नाम ९ बार लेना क्यो आवश्यक माना गया? यदि वे० सू० के लेखक एव ९ बार उल्लिखित बादरायण एक ही व्यक्ति थे तो बादरायण का नाम सामान्यत अधिकरण के अन्त मे आता न कि मध्य मे। उदाहरण व्यक्त करते है कि यद्यपि बादरायण एव वे० सू० के लेखक का अन्तिम निष्कर्ष एक ही है, किन्तु भाषा एव तर्क भिन्न हैं, वेदान्तसूत्र मे उल्लिखित बादरायण प्रस्तुत वेदान्तसूत्र के लेखक से पहले हुए थे और उन्होंने वेदान्त पर कोई ग्रन्थ लिखा था, जिसका समर्थन वेदान्तसूत्र अपने तर्कों से करता है।

पाणिनि के काल मे ऐसे भिक्षु होते थे जो 'पाराशर्य के भिक्षुसूत्र' या 'कर्मन्द के भिक्षुसूत्र' का अध्ययन करते थे और 'पाराशरिण' एव 'कर्मन्दिन' कहे जाते थे। भिक्षु सन्यास मार्ग का द्योतक है। अत भिक्षुसूत्र मे सन्यास, उसके समय, नियम, अन्तिम लक्ष्य आदि के विषय अवश्य रहे होगे। बृहदारण्यकोपनिषद् (३।५।१ एव ४।४।२२) के अनुसार वे लोग जो ब्रह्म की अनुभति वाले होते है, सभी इच्छाओ का परित्याग कर देते है और भिक्षाटन करते है। यही बात गौतमधर्मसूत्र (३।२।१०-१३) मे भी है। कर्मन्द के भिक्षुसूत्र के विषय मे अभी तक कुछ नही ज्ञात हो सका है। किन्तु ऐसा कहना सम्भव है कि पाराशर्य द्वारा घोषित भिक्षुसूत्र आज के ब्रह्मसूत्र या इसके परवर्ती सूत्र ग्रन्थो मे किसी के समान रहा होगा। सन्यासाश्रम पर पाराशर्य के सूत्र के विषय मे यह आरम्भिकतम सकेत है। पाणिनि की तिथि के विषय मे अभी मतैक्य नही है। किन्तु कोई भी आधुनिक विद्वान् उन्हे ई० पू० तीसरी शती के उपरान्त का नही मानता। प्रस्तुत लेखक उन्हे ई० पू० ५वी या छठी शती मे रखता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पाराशर्य का भिक्षुसूत्र ई० पू० चौथी एव ७वी शती के बीच मे कभी प्रणीत हुआ होगा। पाणिनि (४।१।९७) के वार्तिक (१) से प्रकाश मिलता है कि व्यास का 'अपत्य' (पुत्र) 'वैयासकि' (शुक) कहलाता था (जैसा कि महाभाष्य से पता चलता है)। पाणिनि (४।१।९९, नडादिभ्य फक्) के अनुसार 'बादरायण' शब्द 'बदर' (जो ७६ शब्दो वाले नडादि-गण का एक शब्द है) से बना है, 'बादरि' बदर का पुत्र है और 'बादरायण' बदर का प्रपौत्र (या अनुवर्ती पुरुष उत्तराधिकारी)। किसी काल मे 'व्यास' एव 'बादरायण' मे भ्रम हो गया और वह शुक, जो वार्तिक एव महाभाष्य के मत से व्यास का पुत्र है, 'बादरायणि' (बादरायण का पुत्र) कहलाने लगा, जैसा कि भागवतपुराण (१२।५।८, जहाँ शुक को 'भगवान् बादरायणि' कहा गया है) मे आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ९वी शती के उपरान्त बादरायण को भ्रमवश व्यास पाराशर्य कहा जाने लगा।

पूर्वमीमासासूत्र एव ब्रह्मसूत्र मे उद्धृत बादरायण एव जैमिनि के मतो की परीक्षा आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बादरायण केवल ५ बार पू० मी० सू० मे उल्लिखित हुए है। (१) पू० मी० सू० (१।१।५) मे लेखक का कथन है कि वे और बादरायण वेद की नित्यता एव अमोघता मे विश्वास करते है, (२) पू० मी० सू० (५।२।१७।२०) मे नक्षत्रेष्टि पर विवेचन हुआ है। यज्ञ के नमूने मे नारिष्ठ नामक होम किये जाते है, प्रश्न यह उपस्थित होता है कि नमूने के परिष्कारो मे जहाँ कुछ उपहोम किये जाते है, वहाँ नारिष्ठ होमो का सम्पादन उपहोमो के पूर्व होना चाहिए या उपरान्त। सिद्धान्त का दृष्टिकोण यह है कि नारिष्ट होम पहले कर दिये जाते है। आत्रेय इस मत का विरोध करते है, किन्तु बादरायण इसका समर्थन करते है। (३) पू० मी० सू० (१।१।८) मे बादरायण का मत प्रकाशित है कि केवल पुरुष ही नही, प्रत्युत नारियाँ भी ऋतुओ (वैदिक यज्ञो) मे भाग ले सकती है, यही मत सिद्धान्त का भी है। (४) पू० मी० सू० (१०।८।३५-३६) मे एक विशद अधिकरण है जिसमे उस पुरुष के लिए, जिसने अभी तक सोमयज्ञ न किया हो, दर्श-पूर्णमास मे आग्नेय एव ऐन्द्राग्न पुरोडाशो के लिए जो वचन आये है उनमे प्रश्न आया है कि क्या वे उसके लिए किसी विधि या केवल अनुवाद की व्यवस्था देते है? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि बादरायण विधि की बात करते है और सिद्धान्त अनुवाद की (१०।८।४५)। (५) पू० मी० सू० (११।१। ५४-६७) मे एक लम्बा अधिकरण आया है जिसमे इस विषय मे एक विवेचन उपस्थित किया गया है कि दर्शपूर्णमास मे आग्नेय आदि प्रमुख विषयो मे आधार जैसे अगो को दोहराया जा सकता है या केवल एक बार किया जाता है।

उपर्युक्त पाँच स्थलो से, जहाँ बादरायण उल्लिखित है, तीन बाते स्पष्ट हो उठती है—पू० मी० सू० का

लेखक वादरायण के दृष्टिकोण से सहमत है, केवल १०।८।४४ मे ही असहमति प्रकट की गयी है, पू० मी० सू० (१।१।५) मे वादरायण का मत वेदान्तसूत्र (१।३।२८-२९) मे प्रकाशित मतो से मिलता है तथा पाँच स्थलो मे चार स्थलो के मत यज्ञिय वातो से सम्बन्धित है, जिनके विषय मे वेदान्तसूत्र मे कुछ भी नही है। इससे प्रकट होता है कि विद्यमान पू० मी० सू० के लेखक के समक्ष पूर्व मीमासा-सम्बन्धी विषयो पर वादरायण द्वारा लिखित कोई ग्रन्थ था और यदि विद्यमान वेदान्तसूत्र के लेखक वादरायण होते तो उनके द्वारा लिखित एक पूर्वमीमासा-सम्बन्धी ग्रन्थ भी रहा होता, अथवा एक अन्य वादरायण थे जिन्होने केवल पूर्वमीमासा पर ही लिखा था। पू० मी० सू० मे जैमिनि के प्रति पाँच सकेतो की ओर पहले ही ध्यान आकृष्ट कर दिया गया है और उस सूत्र (६।३।४) की ओर भी सकेत किया जा चुका है जिसके आधार पर प्रो० शास्त्री ने तीन जैमिनियो की वात उठा दी है, किन्तु हमने ऊपर इस वात को स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार के निष्कर्ष के लिए कोई पुष्ट भूमि नही है।

एक अन्य विकल्प उपस्थित किया जा सकता है, यथा यह कहा जा सकता है कि विद्यमान वेदान्तसूत्र एव पू० मी० सू० के समक्ष जैमिनि एव वादरायण के ग्रन्थ थे ही नही, तथा जैमिनि एव वादरायण के विषय मे जो सकेत मिलते है वे जैमिनि एव वादरायण की शाखाओ अथवा सम्प्रदायो मे प्रचलित मतो से सम्बन्धित है। किन्तु यह अनुमान सम्भव नही जँचता। विद्यमान वेदान्तसूत्र एव पू० मी० सू० आर्यावर्त मे सभी के लिए मान्य थे, और यहाँ ऐसा नही लगता कि दोनो सम्प्रदायो की मौखिक परम्पराएँ सम्पूर्ण देश मे सभी लोगो को ज्ञात होनी ही चाहिए थी।

बहुत-सी वातो मे जहाँ वादरायण का उल्लेख हुआ है, वहाँ वे० सू० मे बहुत-सी व्याख्याएँ जोडी गयी है और अन्य वातो का समावेश हुआ है। यह कहा जा चुका है कि शकराचार्य, भास्कर एव यामुन मुनि ने वे० सू० को वादरायण लिखित माना है तथा वाचस्पति आदि ने उसे व्यास पाराशर्य कृत माना है। ९ वी शती के उपरान्त वेदव्यास को वादरायण क्यो कहा जाने लगा, यह कहना कठिन है। कुछ अन्य सम्बन्धित वातो का उल्लेख भी आवश्यक है। गीता मे क्षेत्र एव क्षेत्रज्ञ के विषय मे एक श्लोक एक समस्या खडी कर देता है।[१२] गीता (१३।-

१२ ऋषिभिर्बहुधा गीत छन्दोभिर्विविधै पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिविनिश्चितै ॥ गीता १३।४। प्रथम अर्धाली वेदो एव उपनिषदो के वचनो की ओर सकेत करती है तथा दूसरी ब्रह्मसूत्रपदो की ओर। सभी टीकाकारो के अनुसार 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' का सम्बन्ध 'गीत' से अवश्य होना चाहिए। प्रस्तुत लेखक का कथन है कि 'ऋषिभि' को 'छन्दोभि' से सम्बन्धित रखना आवश्यक है, तो इसमे कोई तर्क नही है कि वह 'ब्रह्मसूत्रपदै' से भी क्यो न सम्बन्धित माना जाय।' प्रथम अर्धाली मे दो शब्द करण कारक मे है, यथा 'ऋषिभि' एव 'छन्दोभि'। यदि हम 'ऋषिभि' को दूसरी अर्धाली मे माने तो हमे 'ऋषिभि' एव 'ब्रह्मसूत्रपदै' को उसी भाँति रखा हुआ मानना पडेगा। प्रथम अर्धाली मे वेदो एव उपनिषदो के वचनो तथा दूसरी अर्धाली के तर्कयुक्त एव सुनिश्चित वचनो मे विरोध भी व्यक्त है। तव तो अर्थ होगा कि ऋषियो ने कई ब्रह्मसूत्रो का प्रणयन किया था। प्रस्तुत लेखक का मत है कि गीता ने अपने समय के कई ब्रह्मसूत्रो की ओर सकेत किया है न कि वेदान्तसूत्र की ओर। यहाँ शकराचार्य के अतिरिक्त अन्य टीकाकार 'ब्रह्मसूत्र' शब्द से अपने कालो में प्रचलित ग्रन्थो की ओर सकेत करते है। लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य (परिशिष्ट भाग—३, १९१५ का सस्करण) मे गीता एव ब्रह्मसूत्र के सम्बन्ध पर विवेचन उपस्थित किया है और अपनी एक तर्कना उपस्थित की है कि उस लेखक ने जिसने

४) में ऐसा आया है—'क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का यह वास्तविक स्वरूप ऋषियों द्वारा विभिन्न मन्त्रों (छन्दों) में विभिन्न ढंगों से तथा तर्क-संगत ब्रह्मसूत्रपदों द्वारा, जो निश्चित निष्कर्षों तक पहुँचते हैं, पृथक्-पृथक् गाया गया है।' यहाँ पर गीता ने स्पष्ट रूप से ब्रह्मसूत्र का उल्लेख किया है। यदि कोई ब्रह्मसूत्र (या वेदान्तसूत्र) का अवलोकन करे तो पता चलेगा कि बहुत-से सूत्रों में स्मृति पर निर्भरता प्रकट की गयी है, जिस (स्मृति) को आचार्यों ने गीता ही माना है। उदाहरणार्थ, 'स्मृतेश्च' (वे० सू० १।२।६) पर शंकराचार्य ने स्मृतिवचन के रूप में गीता (१८।६१ एवं १३।२) को उद्धृत किया है। इसी प्रकार 'अपि च स्मर्यते' (वे० सू० १।३।२३) पर शंकराचार्य ने गीता (१५।६ एवं १२) का निर्देश दिया है। और देखिए वे० सू० (२।३।४५) एवं गीता (१५।७), वे० सू० (४।१।१०) एवं गीता ६।११ तथा वे० सू० (४।२।२१) एवं गीता (८।२४-२५)। अतः यद्यपि ब्रह्मसूत्र में गीता का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं हुआ है, तथापि आचार्यों ने एक स्वर से यही माना है कि उपर्युक्त सभी सूत्रों में संकेत गीता की ओर ही है, अन्यत्र नहीं। अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीता ने ब्रह्मसूत्र का उल्लेख किया है जो उससे (गीता से) पहले का है, किन्तु गीता के वचन कुछ वेदान्तसूत्रों के आधार कहे गये हैं अतः गीता वेदान्त-सूत्र से प्राचीन है। यह विरोधाभास है। शंकराचार्य ने इस विरोधाभास को देखा, इसी कारण उन्होंने 'ब्रह्मसूत्रपदैः' को उपनिषदों के पदों से सम्बन्धित माना, जो ब्रह्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं (अर्थात् उन्होंने 'सूत्र' को 'सूचक' माना है)। किन्तु इस व्याख्या में केवल खींचातानी है और इसे अन्य टीकाकारों ने स्वीकृत नहीं किया है। इसी से अन्य सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़ गयी है, यथा—दोनों का लेखक एक ही है, या महाभारत तथा गीता में समय-समय पर ऊपर से बातें जोड़ी जाती रहीं और जब महाभारत का अन्तिम संस्करण बना तो ब्रह्मसूत्र के विषय वाला श्लोक गीता में जोड़ दिया गया, अथवा गीता के समय में विद्यमान ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी थे जो ब्रह्मसूत्र कहलाते थे।

प्रस्तुत लेखक के विचार में यह अधिक सम्भव जँचता है कि गीता के सम्मुख ब्रह्मसूत्र नामक कई ग्रन्थ थे और उसने १३।४ में उनकी ओर संकेत किया है, उसने बादरायण के ब्रह्मसूत्र की ओर संकेत नहीं किया है। पू० मी० सू० एवं वे० सू० में उल्लिखित लेखकों की एक संक्षिप्त व्याख्या आवश्यक है। इन दोनों ग्रन्थों ने जैमिनि एवं बादरायण के अतिरिक्त कई अन्य लेखकों के नाम लिये हैं, जो निम्नलिखित हैं—

आत्रेय—पू० मी० सू० ४।३।१८, ५।२।१८, ६।१।२६ एवं वे० सू० ३।४।४४,

आश्मरथ्य—पू० मी० सू० ६।५।१६ एवं वे० सू० १।२।२९, १।४।२०,

कार्ष्णाजिनि—पू० मी० सू० ४।३।१७, ६।७।३५ एवं वे० सू० ३।१।९,

बादरि—पू० मी० सू० ३।१।३, ६।१।२७, ८।३।६, ९।२।३३ एवं वे० सू० १।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०।

ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किया, मौलिक महाभारत एवं गीता का नवीन संस्करण उपस्थित किया तथा उन दोनों को आज वाला (उपस्थित) रूप प्रदान किया। किन्तु प्रस्तुत लेखक को यह बात मान्य नहीं है। यह अवलोकनीय है कि प्रो० आर० डी० कर्मर्कर ने 'ब्रह्मसूत्रपदैः' से सम्बन्धित लोकमान्य तिलक की व्याख्या नहीं ठीक समझी है (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द ३, पृ० ७३-७९) और कहा है कि गीता (१३।४) में 'ब्रह्मसूत्रपदैः' शब्द बादरायण के सूत्रों की ओर संकेत नहीं करता, प्रत्युत वह अन्य समान ग्रन्थों की ओर निर्देश करता है। किन्तु प्रो० कर्मर्कर महोदय इसके आगे और कुछ नहीं कहते।

लेखक बादरायण के दृष्टिकोण से सहमत हे, केवल १०।८।४४ मे ही असहमति प्रकट की गयी है, पू० मी० सू० (१।१।५) मे बादरायण का मत वेदान्तसूत्र (१।३।२८-२९) मे प्रकाशित मतो से मिलता हे तथा पॉच स्थलो मे चार स्थलो के मत यज्ञिय बातो से सम्बन्धित हे, जिनके विषय मे वेदान्तसूत्र मे कुछ भी नही हे। इससे प्रकट होता ह कि विद्यमान पू० मी० सू० के लेखक के समक्ष पूर्व मीमासा-सम्बन्धी विषयो पर बादरायण द्वारा लिखित कोई ग्रन्थ था ओर यदि विद्यमान वेदान्तसूत्र के लेखक बादरायण होते तो उनके द्वारा लिखित एक पूवमीमासा-सम्बन्धी ग्रन्थ भी रहा होता, अथवा एक अन्य बादरायण थे जिन्होने केवल पूवमीमासा पर ही लिखा था। पू० मी० सू० मे जैमिनि के प्रति पॉच सकेतो की ओर पहले ही ध्यान आकृष्ट कर दिया गया हे और उस सूत्र (६।३।४) की ओर भी सकेत किया जा चुका है जिसके आधार पर प्रो० शास्त्री ने तीन जेमिनियो की बात उठा दी हे, किन्तु हमने ऊपर इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार के निष्कष के लिए कोई पुष्ट भूमि नही हे।

एक अन्य विकल्प उपस्थित किया जा सकता हे, यथा यह कहा जा सकता हे कि विद्यमान वेदान्तसूत्र एव पू० मी० सू० के समक्ष जैमिनि एव बादरायण के ग्रन्थ थे ही नही, तथा जेमिनि एव बादरायण के विषय मे जो सकेत मिलते ह वे जेमिनि एव बादरायण की शाखाओ अथवा सम्प्रदायो मे प्रचलित मतो से सम्बन्धित ह। किन्तु यह अनुमान सम्भव नही जॅचता। विद्यमान वेदान्तसूत्र एव पू० मी० सू० आर्यावर्त मे सभी के लिए मान्य थे, और यहॉ ऐसा नही लगता कि दोनो सम्प्रदायो की मौखिक परम्पराएँ सम्पूर्ण देश मे सभी लोगो को ज्ञात होनी ही चाहिए थी।

बहुत-सी बातो मे जहॉ बादरायण का उल्लेख हुआ हे, वहॉ वे० सू० मे बहुत-सी व्याख्याएँ जोडी गयी है और अन्य बातो का समावेश हुआ हे। यह कहा जा चुका हे कि शकराचार्य, भास्कर एव यामुन मुनि ने वे० सू० को बादरायण लिखित माना हे तथा वाचस्पति आदि ने उसे व्यास पाराशय कृत माना है। ९ वी शती के उपरान्त वेदव्यास को बादरायण क्यो कहा जाने लगा, यह कहना कठिन हे। कुछ अन्य सम्बन्धित बातो का उल्लेख भी आवश्यक हे। गीता मे क्षेत्र एव क्षेत्रज्ञ के विषय मे एक श्लोक एक समस्या खडी कर देता हे।[१२] गीता (१३।-

१२ ऋषिभिर्बहुधा गीत छन्दोभिर्विविधै पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्‌भिर्विनिश्चितै ॥ गीता १३।४। प्रथम अर्धाली वेदो एव उपनिषदो के वचनो की ओर सकेत करती है तथा दूसरी ब्रह्मसूत्रपदो की ओर। सभी टीकाकारो के अनुसार 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' का सम्बन्ध 'गीत' से अवश्य होना चाहिए। प्रस्तुत लेखक का कथन हे कि 'ऋषिभि' को 'छन्दोभि' से सम्बन्धित रखना आवश्यक हे, तो इसमे कोई तर्क नही हे कि वह 'ब्रह्मसूत्रपदै' से भी क्यो न सम्बन्धित माना जाय।' प्रथम अर्धाली मे दो शब्द करण कारक मे हे, यथा 'ऋषिभि' एव 'छन्दोभि'। यदि हम 'ऋषिभि' को दूसरी अर्धाली मे माने तो हमे 'ऋषिभि' एव 'ब्रह्मसूत्रपदै' को उसी भॉति रखा हुआ मानना पडेगा। प्रथम अर्धाली मे वेदो एव उपनिषदो के वचनो तथा दूसरी अर्धाली के तर्कयुक्त एव सुनिश्चित वचनो मे विरोध भी व्यक्त हे। तब तो अर्थ होगा कि ऋषियो ने कई ब्रह्मसूत्रो का प्रणयन किया था। प्रस्तुत लेखक का मत है कि गीता ने अपने समय के कई ब्रह्मसूत्रो की ओर सकेत किया हे न कि वेदान्तसूत्र की ओर। यहॉ शकराचार्य के अतिरिक्त अन्य टीकाकार 'ब्रह्मसूत्र' शब्द से अपने कालो में प्रचलित ग्रन्थो की ओर सकेत करते है। लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य (परिशिष्ट भाग—३, १९१५ का सस्करण) मे गीता एव ब्रह्मसूत्र के सम्बन्ध पर विवेचन उपस्थित किया हे और अपनी एक तर्कना उपस्थित की है कि उस लेखक ने जिसने

४) मे ऐसा आया है—'क्षेत्र एव क्षेत्रज्ञ का यह वास्तविक स्वरूप ऋषियो द्वारा विभिन्न मन्त्रो (छन्दो) मे विभिन्न ढगो से तथा तर्क-सगत ब्रह्मसूत्रपदो द्वारा, जो निश्चित निष्कर्षो तक पहुचते है, पृथक्-पृथक् गाया गया है।' यहाँ पर गीता ने स्पष्ट रूप से ब्रह्मसूत्र का उल्लेख किया है। यदि कोई ब्रह्मसूत्र (या वेदान्तसूत्र) का अवलोकन करे तो पता चलेगा कि बहुत-से सूत्रो मे स्मृति पर निर्भरता प्रकट की गयी है, जिस (स्मृति) को आचार्यों ने गीता ही माना है। उदाहरणार्थ, 'स्मृतेश्च' (वे० सू० १।२।६) पर शकराचार्य ने स्मृतिवचन के रूप मे गीता (१८।६१ एव १३।२) को उद्धृत किया है। इसी प्रकार 'अपि च स्मर्यते' (वे० सू० १।३।२३) पर शकराचार्य ने गीता (१५।६ एव १२) का निर्देश दिया है। और देखिए वे० सू० (२।३।४५) एव गीता (१५।७), वे० सू० (४।१।१०) एव गीता ६।११ तथा वे० सू० (४।२।२१) एव गीता (८।२४-२५)। अत यद्यपि ब्रह्मसूत्र मे गीता का उल्लेख स्पष्ट रूप से नही हुआ है, तथापि आचार्यो ने एक स्वर से यही माना है कि उपर्युक्त सभी सूत्रो मे सकेत गीता की ओर ही है, अन्यत्र नही। अत हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि गीता ने ब्रह्मसूत्र का उल्लेख किया है जो उससे (गीता से) पहले का है, किन्तु गीता के वचन कुछ वेदान्तसूत्रो के आधार कहे गये है अत गीता वेदान्त-सूत्र से प्राचीन है। यह विरोधाभास है। शकराचार्य ने उस विरोधाभास को देखा, इसी कारण उन्होने 'ब्रह्मसूत्रपदै' को उपनिषदो के पदो से सम्बन्धित माना, जो ब्रह्म के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते है (अर्थात् उन्होने 'सूत्र' को 'सूचक' माना है)। किन्तु इस व्याख्या मे केवल खीचातानी है और इसे अन्य टीकाकारो ने स्वीकृत नही किया है। इसी से अन्य सिद्धान्तो की आवश्यकता पड गयी है, यथा—दोनो का लेखक एक ही है, या महाभारत तथा गीता मे समय-समय पर ऊपर से बाते जोडी जाती रही और जब महाभारत का अन्तिम सस्करण बना तो ब्रह्मसूत्र के विषय वाला श्लोक गीता मे जोड दिया गया, अथवा गीता के समय मे विद्यमान ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी थे जो ब्रह्मसूत्र कहलाते थे।

प्रस्तुत लेखक के विचार मे यह अधिक सम्भव जँचता है कि गीता के सम्मुख ब्रह्मसूत्र नामक कई ग्रन्थ थे और उसने १३।४ मे उनकी ओर सकेत किया है, उसने बादरायण के ब्रह्मसूत्र की ओर सकेत नही किया है। पू० मी० सू० एव वे० सू० मे उल्लिखित लेखको की एक सक्षिप्त व्याख्या आवश्यक है। इन दोनो ग्रन्थो ने जैमिनि एव बादरायण के अतिरिक्त कई अन्य लेखको के नाम लिये है, जो निम्नलिखित है—

आत्रेय—पू० मी० सू० ४।३।१८, ५।२।१८, ६।१।२६ एव वे० सू० ३।४।४४,

आश्मरथ्य—पू० मी० सू० ६।५।१६ एव वे० सू० १।२।२९, १।४।२०,

कार्ष्णाजिनि—पू० मी० सू० ४।३।१७, ६।७।३५ एव वे० सू० ३।१।९,

बादरि—पू० मी० सू० ३।१।३, ६।१।२७, ८।३।६, ९।२।३३ एव वे० सू० १।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०।

ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किया, मौलिक महाभारत एव गीता का नवीन सस्करण उपस्थित किया तथा उन दोनो को आज वाला (उपस्थित) रूप प्रदान किया। किन्तु प्रस्तुत लेखक को यह बात मान्य नही है। यह अवलोकनीय है कि प्रो० आर० डी० कर्मकर ने 'ब्रह्मसूत्रपदै' से सम्बन्धित लोकमान्य तिलक की व्याख्या नहीं ठीक समझी है (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द ३, पृ० ७३-७९) और कहा है कि गीता (१३।४) मे 'ब्रह्मसूत्रपदै' शब्द बादरायण के सूत्रो की ओर सकेत नही करता, प्रत्युत वह अन्य समान ग्रन्थो की ओर निर्देश करता है। किन्तु प्रो० कर्मकर महोदय इसके आगे और कुछ नहीं कहते।

पूर्व मीमासा सूत्रो मे आलेखन (६।५।१७), ऐतिशायन (३।२।४४, ३।४।२४, ६।१।६), कामुकायन (११।१।५८ एव ६३) एव लावुकायन (६।७।३७) के नाम आये है, जो वेदान्त सूत्रो द्वारा उल्लिखित नही हुए है। दूसरी ओर वे० सू० ने औडुलोमि (१।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६) एव काशकृत्स्न (१।४।२२) के नाम लिये है, जो पू० मी० सू० मे नही आये है। पू० मी० सू० ने बहुत कम कुछ आचार्यो की ओर 'एके' कहकर निर्देश किया है (यथा—१।१।२७ एव ६।३।४), वे० सू० मे 'एके' १।४।६ एव १८, २।३।४३, ३।२।२ एव १३, ३।४।१५, ४।२।१३ मे तथा 'एकेपाम्' १।४।१३, ४।१।१७, ४।२।१३ मे तथा 'अन्ये' ३।३।२७ मे आये है और इन सभी सकेतो मे वेद या उपनिपदो के सभी पाठान्तरो की ओर निर्देश है, किन्तु ३।४।४२ मे 'एके' 'आचार्यो' की ओर तथा ३।३।५३ मे 'एके' 'लोकायतिको' की ओर सकेत करता है। व्यास या पाराशर्य पूर्वमीमासा-सूत्र एव वेदान्तसूत्र मे नाम से व्यक्त नही है।

वादरि के विषय मे विचार कर लेना आवश्यक हे। पू० मी० सू० ने वादरायण एव जैमिनि को पॉच बार उल्लिखित किया है, किन्तु उसने एव वे० सू० ने वादरि को चार वार उल्लिखित किया हे। वादरि ने जैमिनि से दो महत्त्वपूर्ण वातो पर विरोव प्रकट किया है, यथा—'शेप' शब्द के अर्थ अथवा उपलक्षण के विपय मे तथा इस महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण उपस्थित करने मे कि शूद्रो को भी अग्निहोत्र एव अन्य वैदिक कृत्यो के सम्पादन करने का अविकार है। वे० सू० मे बादरि को वैश्वानर की उपासना (छान्दोग्योपनिपद् ५।१८।१-२) के विषय मे जैमिनि से विरोध करते हुए दर्शाया गया है तथा 'स एनान् ब्रह्म गमयति' (छा० उप० ४।१५।५) पर तथा वे० सू० (४।४।१०) मे वादरि को मुक्त आत्मा के विपय मे जैमिनि के विरोव मे कहते हुए प्रकट किया गया है। उपर्युक्त वातो से प्रकट होता है कि पू० मी० सू० एव वे० सू० के समक्ष वादरि का कोई ग्रन्थ उपस्थित था, जिसमे पूर्वमीमासा तथा वेदान्त-सम्वन्धी वाते लिखित थी। आलेखन एव आश्मरथ्य को आपस्तम्वश्रोतसूत्र मे कम-से-कम १६ वार उद्धृत किया गया है और यज्ञो के कृत्यो पर उनके मतो का प्रकाशन किया गया है और विरोव भी प्रकट किया गया है तथा आप० श्रौ० सू० मे केवल इन्ही दो लेखको की वातो की ओर सकेत है। यह सम्भव है कि आत्रेय, आश्मरथ्य एव कार्ष्णाजिनि ने पूर्वमीमासा एव वेदान्त पर किसी ग्रन्थ या ग्रन्थो का प्रणयन किया हो और औडुलोमि (वे० सू० द्वारा तीन वार उद्धृत) एव काशकृत्स्न ने वेदान्त पर ग्रन्थ लिखे हो।

उपर्युक्त विवेचन से यह सत्यभासक-सा प्रतीत होता हे कि गीता (१३।४) का 'ब्रह्मसूत्रपदै' शब्द वादरि, ओडुलोमि, आश्मरथ्य एव एक या दो अन्य लेखको के सूत्र-ग्रन्थो की ओर निर्देश करता हे, न कि उपस्थित ब्रह्म-सूत्र की ओर। ऐसा कोई नही कह सकता कि वादरि एव आत्रेय 'ऋपि' नही हे। शवर ने आत्रेय को मुनि कहा है (पूर्वमीमासासूत्र, ६।१।२६ की व्याख्या मे)।

यह स्मरणीय हे कि जैमिनि, वादरि एव वादरायण गोत्रनाम है। व्यास गोत्रनाम नही है और पाराशर्य पराशरो के दल के तीन प्रवरो मे एक प्रवर हे।[13]

आप० श्रौ० सू० (२४।८।१०, गार्वे द्वारा सम्पादित) एव प्रवरमञ्जरी (छेन्त्सलाव, मैसूर, १६००, पृ० ६१) ने वादरायण को विष्णुवृद्ध गोत्र का एक उपवर्ग (उपदल) माना हे, किन्तु प्रवरमञ्जरी ने पृ० ३८ पर जैमिनि को यास्क, वाधूल, मौन एव अन्यो के साथ 'भार्गव-वैतहव्य-सावतसेति' प्रवर वाला माना हे तथा पृ० १०८

१३ अथ पाराशराणा त्र्यार्षेय। वसिष्ठ–शाक्त्य–पाराशर्येति। पराशरवच्छक्तिवद्वसिष्ठवदिति। आप० श्रौ० सू० (२४।१०।६)।

एवं १७८ पर वादरि (या बादरि) को पराशरों का एक उपविभाग माना है। अतः यह सम्भव था कि कतिपय व्यक्ति शतियों के उपरान्त भी जैमिनि या बादरायण के नाम ग्रहण कर सकते थे।

शंकराचार्य के अत्यन्त प्रसिद्ध शिष्य सुरेश्वराचार्य की 'नैष्कर्म्यसिद्धि' की उक्तियों का उत्तर देना भी आवश्यक है। सुरेश्वराचार्य का कथन है कि जैमिनि का यह मन्तव्य नहीं है कि वेद के सभी वचन यज्ञिय कृत्यों से सम्बन्धित हैं, यदि वे वास्तव में वैसा विश्वास करते तो उन्होंने उस 'शारीरकसूत्र' का प्रणयन न किया होता, जिसका आरम्भ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' एवं 'जन्माद्यस्य यतः' से होता है और जिसमें सभी वेदान्तवचनों के अर्थ के विषय में खोज की बात पायी जाती है, जिसमें ब्रह्म के रूप का स्पष्ट निरूपण है और है गंभीर तर्क के साथ अपने शब्द का समर्थन, किन्तु उन्होंने शारीरक शास्त्र का प्रणयन अवश्य किया। इस वचन (उक्ति) का तात्पर्य यह है कि जैमिनि ने ब्रह्म के ज्ञान एवं खोज पर शारीरक-सूत्र नामक एक सूत्र-ग्रन्थ लिखा, जिसका आरम्भ उन्हीं दो सूत्रों से हुआ जो विद्यमान वेदान्तसूत्र के प्रथम दो सूत्र कहे जाते हैं।[१४] कर्नल जैकब ने नैष्कर्म्यसिद्धि के प्रथम संस्करण की भूमिका (पृ० ३) में ऐसा विचार व्यक्त किया है कि नैष्कर्म्यसिद्धि ने जैमिनि को वेदान्तदर्शन का लेखक माना है। किन्तु उनका कथन त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि सुरेश्वर ने जो कुछ कहा है वह यही है कि जैमिनि ने कर्ममीमांसा पर न केवल एक सूत्र-ग्रन्थ लिखा प्रत्युत उन्होंने ब्रह्ममीमांसा के सिद्धान्तों पर शारीरक-सूत्र नामक एक ग्रन्थ भी लिखा, किन्तु उन्होंने (सुरेश्वर ने) यह नहीं कहा है कि वेदान्तसूत्र का सम्पूर्ण ग्रन्थ जैमिनि द्वारा लिखित है। डा० बेल्वाल्कर ने (देखिए वेदान्त दर्शन पर गोपाल बसु मल्लिक लेक्चर्स, पृ० १४१-१४२) दो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, यथा—(१) छान्दोग्योपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् तथा अन्य उपनिषदों की प्रत्येक शाखा के लिए पृथक्-पृथक् ब्रह्म-सूत्र लिखित थे, एवं (२) जैमिनि का शारीरक सूत्र इसमें सम्मिलित कर लिया गया और वह विद्यमान ब्रह्मसूत्र के विषयों में प्रमुख स्थान रखता था। किन्तु प्रस्तुत लेखक इन दोनों सिद्धान्तों का विरोध करता है। यहाँ पर अति विस्तार के साथ कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि डा० बेल्वाल्कर के कथन के पीछे कोई साक्ष्य नहीं है। यदि 'जन्माद्यस्य यतः' जैमिनि (जो महाभारत एवं पुराणों द्वारा विशेष रूप से सामवेदी घोषित हैं) का ही एक सूत्र है तो वह सूत्र भाष्यकारों द्वारा तैत्तिरीयोपनिषद् के वचन पर आधारित क्यों माना जाता है? छान्दोग्योपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रत्येक, अन्य आठ उपनिषदों (दस प्रमुख उपनिषदों में) से विस्तार में दुगुनी है और तैत्तिरीयोपनिषद् से ६ गुनी बड़ी है। अतः ये दोनों उपनिषदें विद्यमान ब्रह्मसूत्र में अधिक बार चर्चा का विषय रही हैं। दूसरा सिद्धान्त तो मात्र अनुमान है। हमें इस बात की पुष्टि के लिए कोई साक्ष्य नहीं प्राप्त होता कि वेदान्तसूत्र का प्रमुख भाग जैमिनि के शारीरक सूत्र से उठाकर रख लिया गया है, जब कि हमें वह (जैमिनि का शारीरक सूत्र) अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है और न उससे कोई अन्य सूत्र (ऊपर उद्धृत दो सूत्रों के अतिरिक्त) कहीं किसी ग्रन्थ में उद्धृत हुए हैं।

अब हम कुछ उन सूत्रों की चर्चा करेंगे जिनमें 'तदुक्तम्' शब्द आये हैं। कुल आठ सूत्रों में ये शब्द आये

१४. यतो न जैमिनेरयमभिप्राय आम्नायः सर्व एव क्रियार्थक इति। यदि ह्ययमभिप्रायोऽभविष्यद् अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यत—इत्येवमादिब्रह्मवस्तुस्वरूपमात्रयाथात्म्यप्रकाशनपरं गम्भीरन्यायसन्दृब्धं सर्ववेदान्तार्थमीमांसनं श्रीमच्छारीरकं नासूत्रयिष्यत्, असूत्रयच्च। तस्माज्जैमिनेरेवायमभिप्रायो यथैव विधिवाक्यानां स्वार्थमात्रे प्रामाण्यमेवमैकात्म्यवाक्यानामप्यनधिगतवस्तुपरिच्छेदसाम्यादिति। नैष्कर्म्यसिद्धि, पृ० ५४-५५ (श्री कर्नल जैकब द्वारा सम्पादित, बी० एस० एस०, १९०६)।

हैं। शकराचार्य का कथन हे कि वे० सू० (१।३।२१, २।१।३१, २।१।३१, ३।३।१८) मे जहाँ 'तदुक्तम्' आया है वहाँ स्वय वे० सू० के पूर्ववर्ती सूत्र की ओर ही निर्देश किया गया हे। वे० सू० (३।३।२६, ३।३।३३, ३।३।५० एव ३।४।४२) मे शकराचार्य का कथन है कि ये सूत्र क्रम से पू० मी० सू० (१०।८।१५, ३।३।८, ११।४।१० एव ११।३।८-६) की ओर तथा वे० सू० (३।३।४३) सकर्पकाण्ड की ओर सकेत करते है। अन्य आचार्य शकराचार्य से तथा आपस मे इस विपय मे असहमति व्यक्त करते हे। वल्लभाचार्य का, जो भागवत को वेद के समान प्रामाणिक मानते ह और कही-कही वेद से अति उच्च ठहराते हे, कथन हे कि वे० सू० (३।३।३३, ३।३।५० एव ३।४।४२) मे आये 'तदुक्तम्' शब्द भागवत पुराण के वचनो की ओर सकेत करते है। वे० सू० (३।३।४४) मे पू० मी० सू० (३।३।१४) के शब्दो एव सिद्धान्तो की ध्वनि टपकती हे।[१५] 'तदुक्तम्' का अर्थ सामान्यत सभी स्थलो पर एक ही होना चाहिए, अर्थात् इन शब्दो को सदैव पू० मी० सू० या वे० सू० की ओर ही सकेत करते हुए समझा जाना चाहिए। किन्तु इन विकल्पो मे किसी एक को पूर्णतया स्वीकार करने के लिए कोई आचार्य सन्नद्ध नही होते। एक अन्य बात भी विचारणीय हे कि विद्यमान पू० मी० सू० मे 'तदुक्तम्' बहुत कम प्रयुक्त हुआ हे, जैसा कि ५।३।६ मे जहाँ यह ५।१।१६ की ओर सकेत करता हे।[१६] पू० मी० सू० ने यद्यपि बादरायण को पाँच बार उल्लिखित किया हे, तथापि यह कही भी वे० सू० द्वारा प्रभावित हुआ दृष्टिगोचर नही होता। दूसरी ओर न केवल वे० सू० के कुछ सूत्रो मे 'तदुक्तम्' शब्द पू० मी० सू० की ओर सकेत करते हुए दृष्टिगत होते है, प्रत्युत वे० सू० ने कुछ पूर्वमीमासा के शब्दो का बहुधा प्रयोग किया हे, यथा—अर्थवाद, प्रकरण, लिग, विधि, शेप, तथा शुद्ध रूप से पूर्वमीमासा विपयो का प्रयोग किया हे, यथा—३।३।२६ (कुशाछन्दस्तुत्युपगानवत्), ३।३।३३ (औपसदवत्), ३।४।२० (धारणवत्), ४।४।१२ (द्वादशाहवत्)। अत ऐसा प्रतीत होता हे कि विद्यमान वेदान्तसूत्र अधिक अश मे पू० मी० सू० की पूर्वकल्पना करता हे और पू० मी० सू० किसी रूप मे वेदान्त-सूत्र मे प्रभावित होता नही प्रकट होता।

अब प्रस्तुत लेखक व्यास, जैमिनि, बादरायण, पू० मी० सू० एव वे० सू० के विपय के विभिन्न सूत्रो को एकत्र कर अधोलिखित निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करता हे—

(१) महाभारत एव कुछ पुराणो का कथन हे कि जैमिनि पाराशर्य व्यास के शिष्य थे। किन्तु यह कथन जैमिनि के लिए सामवेद-ज्ञान के प्रेपण के सम्बन्ध मे ही हे और इसे उसी विपय तक सीमित रखना चाहिए (अन्य विपयो से सम्बन्धित नही करना चाहिए), जैसा कि मीमासा का सिद्धान्त "यावद्वचन वाचनिकम्" कहता हे। हमे जैमिनीय ब्राह्मण, जेमिनीय श्रौत सूत्र एव गृह्य सूत्र की उपलब्धि हुई हे। जेमिनि को सामवेद का ज्ञान दिया गया, ऐसी परम्परा प्रचलित हे, जिसे त्रुटिपूर्ण सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नही हैं। किन्तु इस परम्परा को पू० मी० सू० एव वे० सू० के लेखको तक बढाने के लिए हमारे पास कोई साक्ष्य नही है। वल्लभाचार्य जैसे पश्चात्कालीन मध्यकालिक लेखको ने, जिन्हे इतिहास, कालनिर्णय आदि का ज्ञान नही था और जो अपने प्रिय

१५ मिलाइए 'लिगभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि', वे० सू० (३।३।४४) एव 'श्रुतिलिङगवाक्यप्रकरण-स्थानसमाख्याना समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्', पू० मी० सू० (३।३।१४)।

१६ अन्ते वा तदुक्तम्। पू० मी० सू० (५।३।६)। यह ५।१।१६ (अन्ते तु बादरायणस्तेपा प्रधान-शब्दत्वात्) की ओर निर्देश करता हे। पू० मी० सू० (६।२।२) मे 'तदुक्तदोपम्' आया है जो पू० मी० सू० (७।२।१३) की ओर निर्देश करता है।

लेखको एव ग्रन्थो को गोरव देने मे अतिशयोक्ति का सहारा लेते ह, सामवेद के विषय की परम्परा को पू० मी० सू० एव वे० सू० के लेखको तक बढा दिया हे। उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता हे कि प्रस्तुत पू० मी० सू० प्रस्तुत वे० सू० से पुराना हे तथा पू० मी० सू०का लेखक वे० सू० के लेखक का शिष्य नहीं हो सकता। मध्यकालीन लेखको ने इस बात पर ध्यान नही दिया कि जमिनि एव बादरायण गोत्रनाम ह, वे केवल व्यक्तिनाम ही नही ह।

(२) पाणिनि से यह प्रकट ह कि उनके पूर्व पाराशर्य एव कर्मन्द द्वारा लिखित दो भिक्षु-सूत्र थे। पतञ्जलि ने काशकृत्स्न द्वारा लिखित एक मीमासा-ग्रन्थ का उल्लेख किया ह । अत ईसा से कई शतिया पूर्व ही भिक्षुआ एव मीमासा पर सूत्र-ग्रन्थ प्रणीत हो चुके थे।

(३) प्रस्तुत वेदान्तसूत्र मे उल्लिखित जैमिनि के मतो की जाँच से प्रतीत होता ह कि जैमिनि ने वेदान्त पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था। नैष्कर्म्यसिद्धि मे पाये गये कुछ उल्लेखो से इस बात की पुष्टि होती है। इस बात को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नही होता कि ये जैमिनि बादरायण या पाराशर्य के शिष्य थे। इसके विपरीत वे० सू० (३।४।४०) मे 'जैमिनेरपि' नामक शब्द प्रस्तुत वे० सू० के लेखक द्वारा जैमिनि के समर्थन के प्रति प्रकट किये गये आभार-प्रदर्शन की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते ह। प्रस्तुत वे० सू० का लेखक जैमिनि के मतो के प्रति विशिष्ट सम्मान व्यक्त करता हे, क्योकि उसने अन्य आचार्यो (जिनमे बादरायण भी सम्मिलित ह) की अपेक्षा जैमिनि के उद्धरण बहुत बार दिये हैं। ऐसा मान लेना आवश्यक हो जाता हे कि जैमिनि नाम के दो लेखक थे, जिनमे एक ने पूर्वमीमासा एव वेदान्त जैसे विषयो पर लिखा था और दूसरे ने प्रस्तुत (विद्यमान) पू० मी० सू० का प्रणयन किया था। वह जैमिनि विद्यमान पू० मी० सू० के लेखक जैमिनि से भिन्न था।

(४) यह बात कि पू० मी० सू० ने बादरायण को पाँच बार उल्लिखित किया हे, जिनमे चार बार के उल्लेख केवल यज्ञिय मामलो के विषय मे ही हे, तथा यह बात कि वे० सू० ने वेदान्त के मामलो मे बादरायण का उल्लेख नो बार किया है, यह अनुमान निकालने के लिए हमे प्रेरित करती ह कि बादरायण ने कोई ऐसा ग्रन्थ अवश्य लिखा था जिसमे पूर्वमीमासा एव वेदान्त के विषय थे। वह ग्रन्थ उपलब्ध नही हे। यह बादरायण उस बादरायण से भिन्न हे जिसे शकराचार्य आदि ने प्रस्तुत वे० सू० का लेखक माना हे। अत बादरायण नाम के दो लेखक थे।

(५) शकराचार्य, भास्कर एव अन्य आरम्भिक भाष्यकारो के मत से प्रस्तुत वे० सू० के प्रणेता बादरायण ही थे। किन्तु ८ वी शती के उपरान्त बादरायण तथा वेदव्यास के नामो मे भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी।

(६) जहाँ तक पूर्वमीमासासूत्र एव वेदान्तसूत्र का सम्बन्ध हे, जमिनि केवल दो ही ह (तीन नही, जैसा कि प्रो० शास्त्री का कथन है (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ५०, पृ० १७२) और बादरायण भी दो हे।

यहाँ पर हमारा प्रमुख सम्बन्ध केवल उन पूर्वमीमासा-सिद्धान्तो एव प्रणाली से ह जिनका धर्मशास्त्र के ग्रन्थो पर प्रभाव पडा हे। यहाँ इतना कह देना आवश्यक हे कि जैमिनि के पश्चात् सभी पूर्वमीमासा-ग्रन्थ स्मृतियो एव धर्मशास्त्र पर निर्भर रहे ह। दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हे। पू० मी० सू० (१।३) ने स्मृतियो की प्रामाणिकता की सीमाओ का उल्लेख किया हे। पू० मी० सू० (६।७।६) ने 'धर्मशास्त्र' शब्द का उल्लेख किया हे। पू० मी० सू० स्पष्ट रूप से अपने प्रमेयो (सिद्धान्तो) के समर्थन मे स्मृति का सहारा लेता हे, यथा—१२।४।४३ मे। पू० मी० सू० (६।१।१२) पर शबर ने एक स्मृति-श्लोक उद्धृत किया है, जो सवथा मनु (८।४।६) एव आदिपर्व (८२।२३) का श्लोक है। शबर ने अपने तर्कों की व्याख्या एव समर्थन मे बहुधा धर्मसूत्रो एव स्मृतियो को उद्धृत किया हे, यथा—पू० मी० सू० (६।१।१०) पर आप०

धर्मसूत्र (२।६।१३।११), पू० मी० सू० (६।१।१५) पर व्यारया करते हुए शवर ने लिखा है कि स्मृतियो मे वर्णित कन्या-विक्रय शिष्टो द्वारा अमान्य ठहराया गया है।[१७] उपर्युक्त प्रमेय के समर्थन मे अन्य उदाहरण देना आवश्यक नही है। और देखिए जे० वी० वी० आर० ए० एस०, जिल्द २६ (ओल्ड सीरीज, १६२४, पृ० ८३-६८) एव वही न्यू सीरीज, जिल्द १ एव २, (१६२५, पृ० ६५-१०२)।

अब हम पूर्वमीमासासूत्र पर ही चर्चा करेगे। प्रत्येक शास्त्र के विषय मे चार अनुबन्ध (अनिवार्य तत्त्व) ठहराये गये है। यथा—**विषय** (जिसका विवेचन किया जाता है), **प्रयोजन, सम्बन्ध** (प्रयोजन से शास्त्र का सम्बन्ध) एव **अधिकारी** (वह व्यक्ति जो शास्त्राध्ययन के लिए योग्य या समर्थ हो)।[१८] श्लोकवार्तिक मे आया है—'जब तक किसी शास्त्र या कर्म का प्रयोजन घोषित नही होता तब तक उसे कोई ग्रहण नही करता' (न तो पढता या करता है)।[१९] अत पू० मी० सू० का प्रथम सूत्र **विषय** को उपस्थित करता है और शास्त्र का **प्रयोजन** व्यक्त करता है।[२०] उस सूत्र का कथन है—'अब यहाँ से धर्म की जिज्ञासा एव विचार करना चाहिए। इस शास्त्र का प्रयोजन से सम्बन्ध **साध्य** तथा **साधन** का है, अर्थात् यह शास्त्र धर्म-ज्ञान की प्राप्ति का साधन है।' अत जैसा कि शास्त्रदीपिका (पू० मी० सू० पर) का कथन है, इस शास्त्र का उपर्युक्त विषय है धर्म, वेदार्थ नही (तस्माद् धर्म इत्येव शास्त्रविषयो न वेदार्थ इति)। अधिकारी वही है जिसने वेद का या इसके एक अश का अध्ययन शुरू से किया हो, पू० मी० सू० के छठे अध्याय मे इसका विशद वर्णन है।

१७ 'विक्रयो हि श्रूयते शतमतिरथ दुहितृमते दद्यात्, आर्षे गोमिथुनम्-इति' (६।१।१०) पर एव 'स्मार्तं च श्रुतिविरुद्ध विक्रय नानुमन्यन्ते' (पू० मी० सू० ६।१।१५ पर) शबर। देखिए आप० ध० सू० (२।६।१३।११) जहाँ प्रथम वाक्य आया है और देखिए मनु (३।५३) जहाँ 'आर्षे गोमिथुन शुल्कम्' आया है। पू० मी० सू० (६।८।१८) पर शबर ने 'यथैव स्मृति धर्मे नातिचरितव्येति, धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्या कुर्वीतेति च। एवमिदमपि स्मर्यत एव, अन्यतरापायेऽन्या कुर्वीतेति' उद्धृत किया है। आप० ध० (२।५।११। १२-१३) मे दो सूत्र आये है, यथा—'धर्मप्रजा कुर्वीत' एव 'अन्यत कुर्वीत' (थोडा सा अन्तर है)।

१८ पूर्वमीमासा के विषय मे चार अनुवन्ध सक्षिप्त रूप मे यो है—'शास्त्रे धर्मादिर्विषय, तदवबोध प्रयोजन, त्रैवर्णिकोऽधिकारी, विषयविषयिभावादय सम्बन्धा।'

१६ सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्। यावत्प्रयोजन नोक्त तावत्तत्केन गृह्यते॥ श्लोकवा० (प्रतिज्ञासूत्र) १२, बालक्रीडा (याज्ञ० १।१, पृ०—२) द्वारा उद्धृत।

२० अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्रमाद्यमिद कृतम्। धर्माख्य विषय वक्तु मीमासाया प्रयोजनम्॥ श्लोक-वार्तिक (प्रतिज्ञासूत्र) ११। अथ का अर्थ है आनन्तर्य अर्थात् गुरु से वेदाध्ययन के उपरान्त, जो पहले ही हो चुका है। शास्त्रदीपिका मे आया है (पृ० १२)—'तत्सिद्धमध्ययनादनन्तर धर्मजिज्ञासा कर्तव्येति। सा चतुर्विधा धर्मस्वरूप-प्रमाण-साधन-फलै।' प्रतिज्ञासूत्र के श्लोक १८ पर न्यायरत्नाकर की टीका यो है—'योय पूर्वो-क्तेन प्रयोजनेन सह शास्त्रस्य साध्यसाधन-सम्बन्ध स एव शास्त्रारम्भहेतु। इस प्रसिद्ध कथन से मिलाइए 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' (श्लोकवा०, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, श्लोक ५५)। प्राभाकर सम्प्रदाय के लेखक गण कहते है कि पू० मी० सू० (१।१।२) मे 'धर्म' शब्द का अर्थ है 'वेदार्थ'। देखिए बृहती पर ऋजु-विमलापञ्जिका (पृ० २०)—'चोदनासूत्रेण चोदनालक्षण कार्यरूप एव वेदार्थ, न सिद्धरूप इति प्रतिज्ञातम्। तदनेन भाष्येण व्याख्यायते। धर्मशब्दश्च वेदार्थमात्रपर

मीमासासूत्र यह नही बताता कि अर्थ जानने के पूर्व कितना वेदाध्ययन किया जाना चाहिए। इस विषय मे स्मृतियाँ प्रकाश डालती है। गौतम (२।५१-५२) ने कई विकल्प दिये है—यथा—एक वेद के लिए १२ वर्ष या चार वेदो मे प्रत्येक के लिए १२ वर्ष अथवा जब तक एक वेद कण्ठस्थ न हो जाय। मनु० (३।१-२) मे ऐसी ही बाते है, यथा—गुरु के चरणो मे ३६ वर्षा तक वेदाध्ययन करना चाहिए या १८ वर्षो तक या ९ वर्षो तक अथवा जब तक वेद स्मृतिपटल पर अकित न हो जाय। इस प्रकार तीन वेदो या एक वेद पढने का विकल्प दिया हुआ है, याज्ञ० (१।३६) मे आया है कि वेदाध्ययनकाल प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्षो का होता है, या ५ वर्षो का या कुछ ऋषियो के मत मे उतने काल तक जब तक कि छात्र एक वेद या उससे अधिक स्मरण न कर ले। किन्तु ये निर्देश बहुत-से ब्राह्मणो, क्षत्रियो एव वैश्यो के लिए केवल ध्वनियाँ या शब्द मात्र रहे होगे। इतना ही नही, मीमासा का कथन है कि तीनो वर्णों के व्यक्ति को न केवल वेदाध्ययन करना चाहिए, प्रत्युत उसे उसका अर्थ भी समझना चाहिए। पू० मी० सू० (१।१।१) पर शबर का कथन है कि श्रद्धास्पद याज्ञिक लोग ऐसा घोषित नही करते कि केवल वेदाध्ययन मात्र मे अर्थात् केवल वेद को स्मरण कर लेने से फल की प्राप्ति होती है, जहाँ ऐसा वचन आया है कि वेद स्मरण कर लेने से जो फल मिलता है वहाँ ऐसा कथन अर्थवाद (अर्थात् केवल वेदाध्ययन की प्रशसा) मात्र है। देखिए तैत्तिरीयारण्यक (२।१५)[२१], जहाँ ऐसा आया है—'जो जो यज्ञ के विषय मे वैदिक वचन का स्मरण करता है, उसका फल यह है कि मानो वह यज्ञ ही कर रहा हो, और वह अग्नि, वायु, सूर्य से सायुज्य प्राप्त कर लेता है।' तै० उप० (१।९) ने **स्वाध्याय** (वेद को धारण करना) एव **प्रवचन** (वेद को पढाना या उसकी व्याख्या करना) को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कहा है और दो ऋषियो के मतो का उद्घाटन करने के उपरान्त नाक मौद्गल्य का मत दिया है कि स्वाध्याय एव प्रवचन अति महत्त्वपूर्ण है और उनको अपनाना चाहिए तथा उनके लिए प्रयत्न करना चाहिए, यद्यपि ऋत, सत्य, दम, शम, अग्निहोत्र, आतिथ्य आदि उनके साथ जोडे जा सकते है, क्योकि ये दोनो तप कहे जाते है। पू० मी० सू० (३।८।१८) मे आया है (ज्ञाते च वाचन न ह्यविदान विहितोऽस्ति) कि केवल वही व्यक्ति जो वेद जानता है यज्ञो के सम्पादन का अधिकारी है। शबर ने एक प्रश्न उठाया है कि वैदिक यज्ञ करने के योग्य होने के लिए किसी व्यक्ति को कितना वेद जानना चाहिए और स्वय उत्तर दिया है कि उसे उतना वेद स्मरण होना चाहिए जिससे वह अपने सकल्पित यज्ञ को पूर्ण कर सके। इसी सूत्र पर तन्त्रवार्तिक ने इतना जोडा है कि ब्रह्मचर्य काल मे सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए, किन्तु यदि कोई सम्पूर्ण वेद को स्मरण करने मे असमर्थ हो, किन्तु किसी प्रकार अग्निहोत्र एव दर्शपूर्णमास के अश को स्मरण कर लेता है तो ऐसा नही कहा जा सकता कि उसे इन दोनो के सम्पादन का अधिकार नही है। वेद को स्मृति मे धारण करना और उसके अर्थ को जानना बहुत बडा कार्य था। बहुत-से वैदिक मत्र तीन प्रकार के प्रयोग वाले होते थे, यथा—यज्ञो के लिए (अधियज्ञ), देवो के लिए (अधिदैवत या अधिदैव) एव अध्यात्म के लिए अर्थात् आध्यात्मिक या तात्त्विक अर्थ के लिए। देखिए निर्णयसागर प्रेस सस्करण का ३।१२ (जहाँ ऋ० १।१६४।२१ अधिदैवत एव अध्यात्म ढग से व्याख्यायित

२१ तस्मात्स्वाधायोऽध्येतव्यो य य ऋतुमधीते तेन तेनास्येष्ट भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्य गच्छति। तै० आ० (२।१५), ऋत च स्वाध्यायप्रवचने च सत्यमिति सत्यवचा राथीतर। तप इति तपोनित्य पौरशिष्टि स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्य। तद्धि तप तद्धि तप। तै० उप० (१।९)।

धर्मसूत्र (२।६।१३।११), पू० मी० सू० (६।१।१५) पर व्याख्या करते हुए शबर ने लिखा है कि स्मृतियों में वर्णित कन्या-विक्रय शिष्टों द्वारा अमान्य ठहराया गया है।[17] उपर्युक्त प्रमेय के समर्थन में अन्य उदाहरण देना आवश्यक नहीं है। और देखिए जे० बी० बी० आर० ए० एस०, जिल्द २६ (ओल्ड सीरीज, १९२४, पृ० ८३-९८) एवं वही न्यू सीरीज, जिल्द १ एवं २, (१९२५, पृ० ९५-१०२)।

अब हम पूर्वमीमांसासूत्र पर ही चर्चा करेंगे। प्रत्येक शास्त्र के विषय में चार अनुबन्ध (अनिवार्य तत्त्व) ठहराये गये हैं। यथा—**विषय** (जिसका विवेचन किया जाता है), **प्रयोजन**, **सम्बन्ध** (प्रयोजन से शास्त्र का सम्बन्ध) एवं **अधिकारी** (वह व्यक्ति जो शास्त्राध्ययन के लिए योग्य या समर्थ हो)।[18] श्लोकवार्तिक में आया है—'जब तक किसी शास्त्र या कर्म का प्रयोजन घोषित नहीं होता तब तक उसे कोई ग्रहण नहीं करता' (न तो पढ़ता या करता है)।[19] अतः पू० मी० सू० का प्रथम सूत्र **विषय** को उपस्थित करता है और शास्त्र का **प्रयोजन** व्यक्त करता है।[20] उस सूत्र का कथन है—'अब यहाँ से धर्म की जिज्ञासा एवं विचार करना चाहिए। इस शास्त्र का प्रयोजन से सम्बन्ध **साध्य** तथा **साधन** का है, अर्थात् यह शास्त्र धर्म-ज्ञान की प्राप्ति का साधन है।' अतः जैसा कि शास्त्रदीपिका (पू० मी० सू० पर) का कथन है, इस शास्त्र का उपर्युक्त विषय है धर्म, वेदार्थ नहीं (तस्माद् धर्म इत्येव शास्त्रविषयो न वेदार्थ इति)। अधिकारी वही है जिसने वेद का या इसके एक अंश का अध्ययन शुरू से किया हो, पू० मी० सू० के छठे अध्याय में इसका विशद वर्णन है।

१७ 'विक्रयो हि श्रूयते शतमतिरथं दुहितृमते दद्यात्, आर्षे गोमिथुनम्—इति' (६।१।१०) पर एवं 'स्मार्तं च श्रुतिविरुद्धं विक्रयं नानुमन्यन्ते' (पू० मी० सू० ६।१।१५ पर) शबर। देखिए आप० ध० सू० (२।६।१३।११) जहाँ प्रथम वाक्य आया है और देखिए मनु (३।५३) जहाँ 'आर्षे गोमिथुनं शुल्कम्' आया है। पू० मी० सू० (६।८।१८) पर शबर ने 'यथैव स्मृतिः धर्मे ... नातिचरितव्येति, धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीतेति च। एवमिदमपि स्मर्यत एव, अन्यतरापायेऽन्यां कुर्वीतेति' उद्धृत किया है। आप० ध० (२।५।११। १२-१३) में दो सूत्र आये हैं, यथा—'धर्मप्रजा... कुर्वीत' एवं 'अन्यत... कुर्वीत' (थोड़ा सा अन्तर है)।

१८ पूर्वमीमांसा के विषय में चार अनुबन्ध संक्षिप्त रूप में यों हैं—'शास्त्रे धर्मादिर्विषयः, तदवबोधः प्रयोजनं, त्रैवर्णिकोऽधिकारी, विषयविषयिभावादयः सम्बन्धाः।'

१९ सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्। यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते॥ श्लोकवा० (प्रतिज्ञासूत्र) १२, बालक्रीडा (याज्ञ० १।१, पृ०—२) द्वारा उद्धृत।

२० अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्रमाद्यमिदं कृतम्। धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्॥ श्लोक-वार्तिक (प्रतिज्ञासूत्र) ११। अथ का अर्थ है आनन्तर्य अर्थात् गुरु से वेदाध्ययन के उपरान्त, जो पहले ही हो चुका है। शास्त्रदीपिका में आया है (पृ० १२)—'तत्सिद्धमध्ययनादनन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्तव्येति। सा चतुर्विधा धर्मस्वरूप-प्रमाण-साधन-फलैः।' प्रतिज्ञासूत्र के श्लोक १८ पर न्यायरत्नाकर की टीका यों है—'योयं पूर्वा-वर्तेन प्रयोजनेन सह शास्त्रस्य साध्यसाधन-सम्बन्धः स एव शास्त्रारम्भहेतुः। इस प्रसिद्ध कथन से मिलाइए 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' (श्लोकवा०, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, श्लोक ५५)। प्राभाकर सम्प्रदाय के लेखक गण कहते हैं कि पू० मी० सू० (१।१।२) में 'धर्म' शब्द का अर्थ है 'वेदार्थ'। देखिए बृहती पर ऋजु-विमलापञ्जिका (पृ० २०)—'चोदनासूत्रेण चोदनालक्षणं कार्यरूपं एवं वेदार्थं, न सिद्धरूपं इति प्रतिज्ञातम्। तदनेन भाष्येण व्याख्यायते। धर्मशब्दश्च वेदार्थमात्रपरः

मीमांसासूत्र यह नहीं बताता कि अर्थ जानने के पूर्व कितना वेदाध्ययन किया जाना चाहिए। इस विषय में स्मृतियाँ प्रकाश डालती हैं। गौतम (२।५१-५२) ने कई विकल्प दिये हैं—यथा—एक वेद के लिए १२ वर्ष या चार वेदों में प्रत्येक के लिए १२ वर्ष अथवा जब तक एक वेद कण्ठस्थ न हो जाय। मनु० (३।१-२) में ऐसी ही बातें हैं, यथा—गुरु के चरणों में ३६ वर्षों तक वेदाध्ययन करना चाहिए या १८ वर्षों तक या ९ वर्षों तक अथवा जब तक वेद स्मृतिपटल पर अंकित न हो जाय। इस प्रकार तीन वेदों या एक वेद पढ़ने का विकल्प दिया हुआ है, याज्ञ० (१।३६) में आया है कि वेदाध्ययनकाल प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्षों का होता है, या ५ वर्षों का या कुछ ऋषियों के मत से उतने काल तक जब तक कि छात्र एक वेद या उससे अधिक स्मरण न कर ले। किन्तु ये निर्देश बहुत-से ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए केवल ध्वनियाँ या शब्द मात्र रहे होंगे। इतना ही नहीं, मीमांसा का कथन है कि तीनों वर्णों के व्यक्ति को न केवल वेदाध्ययन करना चाहिए, प्रत्युत उसे उसका अर्थ भी समझना चाहिए। पू० मी० सू० (१।१।१) पर शबर का कथन है कि श्रद्धास्पद याज्ञिक लोग ऐसा घोषित नहीं करते कि केवल वेदाध्ययन मात्र से अर्थात् केवल वेद को स्मरण कर लेने से फल की प्राप्ति होती है, जहाँ ऐसा वचन आया है कि वेद स्मरण कर लेने से जो फल मिलता है वहाँ ऐसा कथन अर्थवाद (अर्थात् केवल वेदाध्ययन की प्रशंसा) मात्र है। देखिए तैत्तिरीयारण्यक (२।१५)[21], जहाँ ऐसा आया है—'जो जो यज्ञ के विषय में वैदिक वचन का स्मरण करता है, उसका फल यह है कि मानो वह यज्ञ ही कर रहा हो, और वह अग्नि, वायु, सूर्य से सायुज्य प्राप्त कर लेता है।' तै० उप० (१।९) ने **स्वाध्याय** (वेद को धारण करना) एवं **प्रवचन** (वेद को पढ़ाना या उसकी व्याख्या करना) को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कहा है और दो ऋषियों के मतों का उद्घाटन करने के उपरान्त नाक मौद्गल्य का मत दिया है कि स्वाध्याय एवं प्रवचन अति महत्त्वपूर्ण हैं और उनको अपनाना चाहिए तथा उनके लिए प्रयत्न करना चाहिए, यद्यपि ऋत, सत्य, दम, शम, अग्निहोत्र, आतिथ्य आदि उनके साथ जोड़े जा सकते हैं, क्योंकि ये दोनों तप कहे जाते हैं। पू० मी० सू० (३।८।१८) में आया है (ज्ञाते च वाचन न ह्यविदान विहितोऽस्ति) कि केवल वही व्यक्ति जो वेद जानता है यज्ञों के सम्पादन का अधिकारी है। शबर ने एक प्रश्न उठाया है कि वैदिक यज्ञ करने के योग्य होने के लिए किसी व्यक्ति को कितना वेद जानना चाहिए और स्वयं उत्तर दिया है कि उसे उतना वेद स्मरण होना चाहिए जिससे वह अपने संकल्पित यज्ञ को पूर्ण कर सके। इसी सूत्र पर तन्त्रवार्तिक ने इतना जोड़ा है कि ब्रह्मचर्य काल में सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए, किन्तु यदि कोई सम्पूर्ण वेद को स्मरण करने में असमर्थ हो, किन्तु किसी प्रकार अग्निहोत्र एवं दर्शपूर्णमास के अंश को स्मरण कर लेता है तो ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसे इन दोनों के सम्पादन का अधिकार नहीं है। वेद को स्मृति में धारण करना और उसके अर्थ को जानना बहुत बड़ा कार्य था। बहुत-से वैदिक मन्त्र तीन प्रकार के प्रयोग वाले होते थे, यथा—यज्ञों के लिए (अधियज्ञ), देवों के लिए (अधिदैवत या अधिदैव) एवं अध्यात्म के लिए अर्थात् आध्यात्मिक या तात्त्विक अर्थ के लिए। देखिए निर्णयसागर प्रेस संस्करण का ३।१२ (जहाँ ऋ० १।१६४।२१ अधिदैवत एवं अध्यात्म ढंग से व्याख्यायित

२१ तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यो यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति। तै० आ० (२।१५), ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः। तै० उप० (१।९)।

धर्मसूत्र (२।६।१३।११), पू० मी० सू० (६।१।१५) पर व्याख्या करते हुए शवर ने लिखा है कि स्मृतियो मे वर्णित कन्या-विक्रय शिष्टो द्वारा अमान्य ठहराया गया है।[17] उपर्युक्त प्रमेय के समर्थन मे अन्य उदाहरण देना आवश्यक नही हे। और देखिए जे० वी० वी० आर० ए० एस०, जिल्द २६ (ओल्ड सीरीज, १९२४, पृ० ८३-९८) एव वही न्यू सीरीज जिल्द १ एव २, (१९२५, पृ० ६५-१०२)।

अव हम पूर्वमीमासासूत्र पर ही चर्चा करेगे। प्रत्येक शास्त्र के विपय मे चार **अनुवन्ध** (अनिवार्य तत्त्व) ठहराये गये हे। यथा—**विषय** (जिसका विवेचन किया जाता है), **प्रयोजन, सम्बन्ध** (प्रयोजन से शास्त्र का सम्वन्ध) एव **अधिकारी** (वह व्यक्ति जो शास्त्राध्ययन के लिए योग्य या समर्थ हो)।[18] श्लोकवार्तिक मे आया हे—'जब तक किसी शास्त्र या कर्म का प्रयोजन घोपित नही होता तव तक उसे कोई ग्रहण नही करता' (न तो पढता या करता हे)।[19] अत पू० मी० सू० का प्रथम सूत्र **विषय** को उपस्थित करता हे और शास्त्र का **प्रयोजन** व्यक्त करता हे।[20] उस सूत्र का कथन हे—'अव यहाँ से धर्म की जिज्ञासा एव विचार करना चाहिए। इस शास्त्र का प्रयोजन से सम्वन्व **साध्य** तथा **साधन** का हे, अर्थात् यह शास्त्र धर्म-ज्ञान की प्राप्ति का साधन है।' अत जैसा कि शास्त्रदीपिका (पू० मी० सू० पर) का कथन है, इस शास्त्र का उपर्युक्त विपय हे धर्म, वेदार्थ नही (तस्माद् धर्म इत्येव शास्त्रविपयो न वेदार्थ इति)। अधिकारी वही है जिसने वेद का या इसके एक अग का अध्ययन शुरू से किया हो, पू० मी० सू० के छठे अध्याय मे इसका विशद वर्णन हे।

१७ 'विक्रयो हि श्रूयते शतमतिरथ दुहितृमते , आर्षे गोमिथुनम्—इति' (६।१।१०) पर एव 'स्मार्तं च श्रुतिविरुद्ध विक्रय नानुमन्यन्ते' (पू० मी० सू० ६।१।१५ पर) शवर। देखिए आप० ध० सू० (२।६।१३।११) जहाँ प्रथम वाक्य आया है और देखिए मनु (३।५३) जहाँ 'आर्षे गोमिथुन शुल्कम्' आया है। पू० मी० सू० (६।८।१८) पर शवर ने 'यथैव स्मृति धर्मे नातिचरितव्येति, धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्या कुर्वीतेति च। एवमिदमपि स्मर्यत एव, अन्यतरापायेऽन्या कुर्वीतेति' उद्धृत किया है। आप० ध० (२।५।११। १२–१३) मे दो सूत्र आये है, यथा—'धर्मप्रजा कुर्वीत' एव 'अन्यत कुर्वीत' (थोडा सा अन्तर है)।

१८ पूर्वमीमासा के विषय मे चार अनुवन्ध सक्षिप्त रूप मे यो हे—'शास्त्रे धर्मादिर्विषय, तदवबोध प्रयोजन, त्रैवर्णिकोऽधिकारी, विषयविषयिभावादय सम्बन्धा।'

१९ सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्। यावत्प्रयोजन नोक्त तावत्तत्केन गृह्यते॥ श्लोकवा० (प्रतिज्ञासूत्र) १२, वालक्रीडा (याज्ञ० १।१, पृ०—२) द्वारा उद्धृत।

२० अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्रमाद्यमिद कृतम्। धर्माख्य विषय वक्तु मीमासाया प्रयोजनम्॥ श्लोक-वार्तिक (प्रतिज्ञासूत्र) ११। अथ का अर्थ हे आनन्तर्य अर्थात् गुरु से वेदाध्ययन के उपरान्त, जो पहले ही हो चुका हे। शास्त्रदीपिका मे आया है (पृ० १२)—'तत्सिद्धमध्ययनादनन्तर धर्मजिज्ञासा कर्तव्येति। सा चतुर्विधा धर्मस्वरूप-प्रमाण-साधन-फलै।' प्रतिज्ञासूत्र के श्लोक १८ पर न्यायरत्नाकर की टीका यो ह—'योय पूर्वोक्तेन प्रयोजनेन सह शास्त्रस्य साध्यसाधन-सम्वन्ध स एव शास्त्रारम्भहेतु। इस प्रसिद्ध कथन से मिलाइए 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' (श्लोकवा०, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, श्लोक ५५)। प्राभाकर सम्प्रदाय के लेखक गण कहते ह कि पू० मी० सू० (१।१।२) मे 'धर्म' शब्द का अर्थ हे 'वेदार्थ'। देखिए वृहती पर ऋजु-विमलापञ्जिका (पृ० २०)—'चोदनासूत्रेण चोदनालक्षण कार्यरूप एव वेदार्थ, न सिद्धरूप इति प्रतिज्ञातम्। तदनेन भाष्येण व्याख्यायते। धर्मशब्दश्च वेदार्थमात्रपर।'

मीमासासूत्र यह नही बताता कि अर्थ जानने के पूर्व कितना वेदाध्ययन किया जाना चाहिए। इस विषय मे स्मृतियाँ प्रकाश डालती है। गौतम (२।५१-५२) ने कई विकल्प दिये है—यथा—एक वेद के लिए १२ वर्ष या चार वेदो मे प्रत्येक के लिए १२ वर्ष अथवा जब तक एक वेद कण्ठस्थ न हो जाय। मनु० (३।१-२) मे ऐसी ही बाते हे, यथा—गुरु के चरणो मे ३६ वर्षा तक वेदाध्ययन करना चाहिए या १८ वर्षो तक या ९ वर्षो तक अथवा जब तक वेद स्मृतिपटल पर अकित न हो जाय। इस प्रकार तीन वेदो या एक वेद पढने का विकल्प दिया हुआ हे, याज्ञ० (१।३६) मे आया ह कि वेदाध्ययनकाल प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्षा का होता है, या ५ वर्षो का या कुछ ऋषियो के मत मे उतने काल तक जब तक कि छात्र एक वेद या उससे अधिक स्मरण न कर ले। किन्तु ये निर्देश बहुत-से ब्राह्मणो, क्षत्रियो एव वैश्यो के लिए केवल ध्वनियाँ या शब्द मात्र रहे होगे। इतना ही नही, मीमासा का कथन है कि तीनो वर्णों के व्यक्ति को न केवल वेदाध्ययन करना चाहिए, प्रत्युत उसे उसका अर्थ भी समझना चाहिए। पू० मी० सू० (१।१।१) पर शबर का कथन हे कि श्रद्धास्पद याज्ञिक लोग ऐसा घोषित नही करते कि केवल वेदाध्ययन मात्र मे अर्थात् केवल वेद को स्मरण कर लेने से फल की प्राप्ति होती हे, जहाँ ऐसा वचन आया हे कि वेद स्मरण कर लेने से जो फल मिलता है वहाँ ऐसा कथन अर्थवाद (अर्थात् केवल वेदाध्ययन की प्रशसा) मात्र ह। देखिए तैत्तिरीयारण्यक (२।१५)[२१], जहाँ ऐसा आया हे—'जो जो यज्ञ के विषय मे वैदिक वचन का स्मरण करता है, उसका फल यह है कि मानो वह यज्ञ ही कर रहा हो, और वह अग्नि, वायु, सूर्य से सायुज्य प्राप्त कर लेता है।' तै० उप० (१।९) ने **स्वाध्याय** (वेद को धारण करना) एव **प्रवचन** (वेद को पढाना या उसकी व्याख्या करना) को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कहा है और दो ऋषियो के मतो का उद्घाटन करने के उपरान्त नाक मौद्गल्य का मत दिया है कि स्वाध्याय एव प्रवचन अति महत्त्वपूर्ण हैं और उनको अपनाना चाहिए तथा उनके लिए प्रयत्न करना चाहिए, यद्यपि ऋत, सत्य, दम, शम, अग्निहोत्र, आतिथ्य आदि उनके साथ जोडे जा सकते ह, क्योकि ये दोनो तप कहे जाते हे। पू० मी० सू० (३।८।१८) मे आया है (ज्ञाते च वाचन न ह्यविदान विहितोऽस्ति) कि केवल वही व्यक्ति जो वेद जानता है यज्ञो के सम्पादन का अधिकारी है। शबर ने एक प्रश्न उठाया हे कि वैदिक यज्ञ करने के योग्य होने के लिए किसी व्यक्ति को कितना वेद जानना चाहिए और स्वय उत्तर दिया हे कि उसे उतना वेद स्मरण होना चाहिए जिससे वह अपने सकल्पित यज्ञ को पूर्ण कर सके। इसी सूत्र पर तन्त्रवार्तिक ने इतना जोडा है कि ब्रह्मचर्य काल मे सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए, किन्तु यदि कोई सम्पूर्ण वेद को स्मरण करने मे असमर्थ हो, किन्तु किसी प्रकार अग्निहोत्र एव दर्शपूर्णमास के अश को स्मरण कर लेता है तो ऐसा नही कहा जा सकता कि उसे इन दोनो के सम्पादन का अधिकार नही हे। वेद को स्मृति मे धारण करना और उसके अर्थ को जानना बहुत बडा कार्य था। बहुत-से वैदिक मत्र तीन प्रकार के प्रयोग वाले होते थे, यथा—यज्ञो के लिए (अधियज्ञ), देवो के लिए (अधिदैवत् या अधिदैव) एव अध्यात्म के लिए अर्थात् आध्यात्मिक या तात्त्विक अर्थ के लिए। देखिए निर्णयसागर प्रेस सस्करण का ३।१२ (जहाँ ऋ० १।१६४।२१ अधिदैवत एव अध्यात्म ढग से व्याख्यायित

२१ तस्मात्स्वाधायोऽध्येतव्यो य य ऋतुमधीते तेन तेनास्येष्ट भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्य गच्छति। तै० आ० (२।१५), ऋत च स्वाध्यायप्रवचने च सत्यमिति सत्यवचा राथीतर। तप इति तपोनित्य पौरुशिष्टि स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्य। तद्धि तप तद्धि तप। तै० उप० (१।९)।

धर्मसूत्र (२।६।१३।११), पू० मी० सू० (६।१।१५) पर व्याख्या करते हुए शबर ने लिखा है कि स्मृतियों में वर्णित कन्या-विक्रय शिष्टों द्वारा अमान्य ठहराया गया है।[१७] उपर्युक्त प्रमेय के समर्थन में अन्य उदाहरण देना आवश्यक नहीं है। और देखिए जे० बी० बी० आर० ए० एस०, जिल्द २६ (ओल्ड सीरीज, १९२४, पृ० ८३-९८) एवं वही न्यू सीरीज, जिल्द १ एवं २, (१९२५, पृ० ९५-१०२)।

अब हम पूर्वमीमांसासूत्र पर ही चर्चा करेंगे। प्रत्येक शास्त्र के विषय में चार **अनुबन्ध** (अनिवार्य तत्त्व) ठहराये गये हैं। यथा—**विषय** (जिसका विवेचन किया जाता है), **प्रयोजन**, **सम्बन्ध** (प्रयोजन से शास्त्र का सम्बन्ध) एवं **अधिकारी** (वह व्यक्ति जो शास्त्राध्ययन के लिए योग्य या समर्थ हो)।[१८] श्लोकवार्तिक में आया है—'जब तक किसी शास्त्र या कर्म का प्रयोजन घोषित नहीं होता तब तक उसे कोई ग्रहण नहीं करता' (न तो पढ़ता या करता है)।[१९] अतः पू० मी० सू० का प्रथम सूत्र **विषय** को उपस्थित करता है और शास्त्र का **प्रयोजन** व्यक्त करता है।[२०] उस सूत्र का कथन है—'अब यहाँ से धर्म की जिज्ञासा एवं विचार करना चाहिए। इस शास्त्र का प्रयोजन से सम्बन्ध **साध्य** तथा **साधन** का है, अर्थात् यह शास्त्र धर्म-ज्ञान की प्राप्ति का साधन है।' अतः जैसा कि शास्त्रदीपिका (पू० मी० सू० पर) का कथन है, इस शास्त्र का उपर्युक्त विषय है धर्म, वेदार्थ नहीं (तस्माद् धर्म इत्येव शास्त्रविषयो न वेदार्थ इति)। अधिकारी वही है जिसने वेद का या इसके एक अंश का अध्ययन गुरु से किया हो, पू० मी० सू० के छठे अध्याय में इसका विशद वर्णन है।

१७ 'विक्रयो हि श्रूयते शतमतिरथं दुहितृमते दद्यात्, आर्षे गोमिथुनम्–इति' (६।१।१०) पर एवं 'स्मार्तं च श्रुतिविरुद्धं विक्रयं नानुमन्यन्ते' (पू० मी० सू० ६।१।१५ पर) शबर। देखिए आप० ध० सू० (२।६।१३।११) जहाँ प्रथम वाक्य आया है और देखिए मनु (३।५३) जहाँ 'आर्षे गोमिथुनं शुल्कम्' आया है। पू० मी० सू० (६।८।१८) पर शबर ने 'यथैव स्मृतिः धर्मे नातिचरितव्येति, धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीतेति च। एवमिदमपि स्मर्यत एव, अन्यतरापायेऽन्यां कुर्वीतेति' उद्धृत किया है। आप० ध० (२।५।११। १२–१३) में दो सूत्र आये है, यथा–'धर्मप्रजा... कुर्वीत' एवं 'अन्यत... कुर्वीत' (थोड़ा सा अन्तर है)।

१८ पूर्वमीमांसा के विषय में चार अनुबन्ध संक्षिप्त रूप में यों हैं—'शास्त्रे धर्मादिर्विषयः, तदवबोधः प्रयोजनं, त्रैवर्णिकोऽधिकारी, विषयविषयिभावादयः सम्बन्धाः।'

१९ सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्। यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते॥ श्लोकवा० (प्रतिज्ञासूत्र) १२, बालक्रीडा (याज्ञ० १।१, पृ०–२) द्वारा उद्धृत।

२० अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्रमाद्यमिदं कृतम्। धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्॥ श्लोक-वार्तिक (प्रतिज्ञासूत्र) ११। अथ का अर्थ है आनन्तर्य अर्थात् गुरु से वेदाध्ययन के उपरान्त, जो पहले ही हो चुका है। शास्त्रदीपिका में आया है (पृ० १२)—'तत्सिद्धमध्ययनादनन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्तव्येति। सा चतुर्विधा धर्मस्वरूप-प्रमाण-साधन-फलैः।' प्रतिज्ञासूत्र के श्लोक १८ पर न्यायरत्नाकर की टीका यों है—'योयं पूर्वोक्तेन प्रयोजनेन सह शास्त्रस्य साध्यसाधन-सम्बन्धः स एव शास्त्रारम्भहेतुः'। इस प्रसिद्ध कथन से मिलाइए 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' (श्लोकवा०, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, श्लोक ५५)। प्राभाकर सम्प्रदाय के लेखक गण कहते हैं कि पू० मी० सू० (१।१।२) में 'धर्म' शब्द का अर्थ है 'वेदार्थ'। देखिए बृहती पर ऋजु-विमलापञ्जिका (पृ० २०)—'चोदनासूत्रेण चोदनालक्षणः कार्यरूप एव वेदार्थः, न सिद्धरूप इति प्रतिज्ञातम्। तदनेन भाष्येण व्याख्यायते। धर्मशब्दश्च वेदार्थमात्रपरः।'

मीमासासूत्र यह नही बताता कि अर्थ जानने के पूर्व कितना वेदाध्ययन किया जाना चाहिए। इस विषय मे स्मृतियाँ प्रकाश डालती है। गौतम (२।५१-५२) ने कई विकल्प दिये है—यथा—एक वेद के लिए १२ वर्ष या चार वेदो मे प्रत्येक के लिए १२ वर्ष अथवा जब तक एक वेद कण्ठस्थ न हो जाय। मनु० (३।१-२) मे ऐसी ही बाते है, यथा—गुरु के चरणो मे ३६ वर्षा तक वेदाध्ययन करना चाहिए या १८ वर्षो तक या ९ वर्षो तक अथवा जब तक वेद स्मृतिपटल पर अकित न हो जाय। इस प्रकार तीन वेदो या एक वेद पढने का विकल्प दिया हुआ है, याज्ञ० (१।३६) मे आया है कि वेदाध्ययनकाल प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्षो का होता है, या ५ वर्षो का या कुछ ऋषियो के मत मे उतने काल तक जब तक कि छात्र एक वेद या उससे अधिक स्मरण न कर ले। किन्तु ये निर्देश बहुत-से ब्राह्मणो, क्षत्रियो एव वैश्यो के लिए केवल ध्वनियाँ या शब्द मात्र रहे होगे। इतना ही नही, मीमासा का कथन है कि तीनो वर्णों के व्यक्ति को न केवल वेदाध्ययन करना चाहिए, प्रत्युत उसे उसका अर्थ भी समझना चाहिए। पू० मी० सू० (१।१।१) पर शबर का कथन है कि श्रद्धास्पद याज्ञिक लोग ऐसा घोषित नही करते कि केवल वेदाध्ययन मात्र से अर्थात् केवल वेद को स्मरण कर लेने से फल की प्राप्ति होती है, जहाँ ऐसा वचन आया है कि वेद स्मरण कर लेने से जो फल मिलता है वहाँ ऐसा कथन अर्थवाद (अर्थात् केवल वेदाध्ययन की प्रशसा) मात्र है। देखिए तैत्तिरीयारण्यक (२।१५)[21], जहाँ ऐसा आया है—'जो जो यज्ञ के विषय मे वैदिक वचन का स्मरण करता है, उसका फल यह है कि मानो वह यज्ञ ही कर रहा हो, और वह अग्नि, वायु, सूर्य से सायुज्य प्राप्त कर लेता है।' तै० उप० (१।९) ने **स्वाध्याय** (वेद को धारण करना) एव **प्रवचन** (वेद को पढाना या उसकी व्याख्या करना) को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कहा है और दो ऋषियो के मतो का उद्घाटन करने के उपरान्त नाक मौद्गल्य का मत दिया है कि स्वाध्याय एव प्रवचन अति महत्त्वपूर्ण है और उनको अपनाना चाहिए तथा उनके लिए प्रयत्न करना चाहिए, यद्यपि ऋत, सत्य, दम, शम, अग्निहोत्र, आतिथ्य आदि उनके साथ जोडे जा सकते है, क्योकि ये दोनो तप कहे जाते है। पू० मी० सू० (३।८।१८) मे आया है (ज्ञाते च वाचन न ह्यविदान विहितोऽस्ति) कि केवल वही व्यक्ति जो वेद जानता है यज्ञो के सम्पादन का अधिकारी है। शबर ने एक प्रश्न उठाया है कि वैदिक यज्ञ करने के योग्य होने के लिए किसी व्यक्ति को कितना वेद जानना चाहिए और स्वय उत्तर दिया है कि उसे उतना वेद स्मरण होना चाहिए जिससे वह अपने सकल्पित यज्ञ को पूर्ण कर सके। इसी सूत्र पर तन्त्रवार्तिक ने इतना जोडा है कि ब्रह्मचर्य काल मे सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए, किन्तु यदि कोई सम्पूर्ण वेद को स्मरण करने मे असमर्थ हो, किन्तु किसी प्रकार अग्निहोत्र एव दर्शपूर्णमास के अश को स्मरण कर लेता है तो ऐसा नही कहा जा सकता कि उसे इन दोनो के सम्पादन का अधिकार नही है। वेद को स्मृति मे धारण करना और उसके अर्थ को जानना बहुत बडा कार्य था। बहुत-से वैदिक मत्र तीन प्रकार के प्रयोग वाले होते थे, यथा—यज्ञो के लिए (अधियज्ञ), देवो के लिए (अधिदैवत् या अधिदैव) एव अध्यात्म के लिए अर्थात् आध्यात्मिक या तात्त्विक अर्थ के लिए। देखिए निर्णयसागर प्रेस सस्करण का ३।१२ (जहाँ ऋ० १।१६४।२१ अधिदैवत एव अध्यात्म ढग से व्याख्यायित

२१ तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यो य य क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्ट भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्य गच्छति। तै० आ० (२।१५), ऋत च स्वाध्यायप्रवचने च सत्यमिति सत्यवचा राथीतर। तप इति तपोनित्य पौरुशिष्टि स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्य। तद्धि तप तद्धि तप। तै० उप० (१।९)।

धर्मसूत्र (२।६।१३।११), पू० मी० सू० (६।१।१५) पर व्याख्या करते हुए शवर ने लिखा है कि स्मृतियो मे वर्णित कन्या-विक्रय शिष्टो द्वारा अमान्य ठहराया गया हे।[१७] उपर्युक्त प्रमेय के समर्थन मे अन्य उदाहरण देना आवश्यक नही हे। और देखिए जे० वी० वी० आर० ए० एस०, जिल्द २६ (ओल्ड सीरीज, १६२४, पृ० ८३-६८) एव वही न्यू सीरीज, जिल्द १ एव २, (१६२५, पृ० ६५-१०२)।

अव हम पूर्वमीमासासूत्र पर ही चर्चा करेगे। प्रत्येक शास्त्र के विपय मे चार **अनुबन्ध** (अनिवार्य तत्त्व) ठहराये गये ह। यथा—**विषय** (जिमका विवेचन किया जाता है), **प्रयोजन, सम्बन्ध** (प्रयोजन से शास्त्र का सम्वन्ध) एव **अधिकारी** (वह व्यक्ति जो शास्त्राध्ययन के लिए योग्य या समर्थ हो)।[१८] श्लोकवार्तिक मे आया हे—'जव तक किसी शास्त्र या कर्म का प्रयोजन घोषित नही होता तव तक उसे कोई ग्रहण नही करता' (न तो पढता या करता है)।[१९] अत पू० मी० सू० का प्रथम सूत्र **विषय** को उपस्थित करता हे और शास्त्र का **प्रयोजन** व्यक्त करता हे।[२०] उस सूत्र का कथन हे—'अव यहाँ से धर्म की जिज्ञासा एव विचार करना चाहिए। इस शास्त्र का प्रयोजन से सम्वन्ध **साध्य** तथा **साधन** का हे, अर्थात् यह शास्त्र धर्म-ज्ञान की प्राप्ति का साधन हे।' अत जैसा कि शास्त्रदीपिका (पू० मी० सू० पर) का कथन हे, इस शास्त्र का उपर्युक्त विषय हे धर्म, वेदार्थ नही (तस्माद् धर्म इत्येव शास्त्रविपयो न वेदार्थ इति)। अधिकारी वही है जिसने वेद का या इसके एक अश का अध्ययन शुरू से किया हो, पू० मी० सू० के छठे अध्याय मे इसका विशद वर्णन है।

१७ 'विक्रयो हि श्रूयते शतमतिरथ दुहितृमते दद्यात्, आर्षे गोमिथुनम्–इति' (६।१।१०) पर एव 'स्मार्तं च श्रुतिविरुद्ध विक्रय नानुमन्यन्ते' (पू० मी० सू० ६।१।१५ पर) शवर। देखिए आप० ध० सू० (२।६।१३।११) जहाँ प्रथम वाक्य आया है और देखिए मनु (३।५३) जहाँ 'आर्षे गोमिथुन शुल्कम्' आया हे। पू० मी० सू० (६।८।१८) पर शबर ने 'यथैव स्मृति धर्मे नातिचरितव्येति, धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्या कुर्वीतेति च। एवमिदमपि स्मर्यत एव, अन्यतरापायेऽन्या कुर्वीतेति' उद्धृत किया है। आप० ध० (२।५।११। १२–१३) मे दो सूत्र आये हे, यथा–'धर्मप्रजा कुर्वीत' एव 'अन्यत कुर्वीत' (थोडा सा अन्तर है)।

१८ पूर्वमीमासा के विषय मे चार अनुबन्ध सक्षिप्त रूप मे यो हे—'शास्त्रे धर्मादिर्विषय, तदवबोध प्रयोजन, त्रैवर्णिकोऽधिकारी, विषयविषयिभावादय सम्बन्धा।'

१६ सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्। यावत्प्रयोजन नोक्त तावत्तत्केन गृह्यते॥ श्लोकवा० (प्रतिज्ञासूत्र) १२, बालक्रीडा (याज्ञ० १।१, पृ०–२) द्वारा उद्धृत।

२० अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्रमाद्यमिद कृतम्। धर्माख्य विषय वक्तु मीमासाया प्रयोजनम्॥ श्लोक-वार्तिक (प्रतिज्ञासूत्र) ११। अथ का अर्थ हे आनन्तर्य अर्थात् गुरु से वेदाध्ययन के उपरान्त, जो पहले ही हो चुका हे। शास्त्रदीपिका मे आया है (पृ० १२)—'तत्सिद्धमध्ययनादनन्तर धर्मजिज्ञासा कर्तव्येति। सा चतुर्विधा धर्मस्वरूप-प्रमाण-साधन-फलै।' प्रतिज्ञासूत्र के श्लोक १८ पर न्यायरत्नाकर की टीका यो हे—'योय पूर्वा-वतेन प्रयोजनेन सह शास्त्रस्य साध्यसाधन-सम्बन्ध स एव शास्त्रारम्भहेतु। इस प्रसिद्ध कथन से मिलाइए 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' (श्लोकवा०, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, श्लोक ५५)। प्राभाकर सम्प्रदाय के लेखक गण कहते ह कि पू० मी० सू० (१।१।२) मे 'धर्म' शब्द का अर्थ हे 'वेदार्थ'। देखिए बृहती पर ऋजु-विमलापञ्जिका (पृ० २०)—'चोदनासूत्रेण चोदनालक्षण कार्यरूप एव वेदार्थ, न सिद्धरूप इति प्रतिज्ञातम्। तदनेन भाष्येण व्याख्यायते। धर्मशब्दश्च वेदार्थमात्रपर।'

मीमांसासूत्र यह नही बताता कि अर्थ जानने के पूर्व कितना वेदाध्ययन किया जाना चाहिए। इस विषय मे स्मृतियाँ प्रकाश डालती है। गौतम (२।५१-५२) ने कई विकल्प दिये है—यथा—एक वेद के लिए १२ वर्ष या चार वेदो मे प्रत्येक के लिए १२ वर्ष अथवा जब तक एक वेद कण्ठस्थ न हो जाय। मनु० (३।१-२) मे ऐसी ही बाते है, यथा—गुरु के चरणो मे ३६ वर्षो तक वेदाध्ययन करना चाहिए या १८ वर्षो तक या ९ वर्षो तक अथवा जब तक वेद स्मृतिपटल पर अंकित न हो जाय। इस प्रकार तीन वेदो या एक वेद पढने का विकल्प दिया हुआ है, याज्ञ० (१।३६) मे आया है कि वेदाध्ययनकाल प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्षो का होता है, या ५ वर्षो का या कुछ ऋषियो के मत मे उतने काल तक जब तक कि छात्र एक वेद या उससे अधिक स्मरण न कर ले। किन्तु ये निर्देश बहुत-से ब्राह्मणो, क्षत्रियो एव वैश्यो के लिए केवल ध्वनियाँ या शब्द मात्र रहे होगे। इतना ही नही, मीमासा का कथन है कि तीनो वर्णों के व्यक्ति को न केवल वेदाध्ययन करना चाहिए, प्रत्युत उसे उसका अर्थ भी समझना चाहिए। पू० मी० सू० (१।१।१) पर शबर का कथन है कि श्रद्धास्पद याज्ञिक लोग ऐसा घोषित नही करते कि केवल वेदाध्ययन मात्र मे अर्थात् केवल वेद को स्मरण कर लेने से फल की प्राप्ति होती है, जहाँ ऐसा वचन आया है कि वेद स्मरण कर लेने से जो फल मिलता है वहाँ ऐसा कथन अर्थवाद (अर्थात् केवल वेदाध्ययन की प्रशसा) मात्र है। देखिए तैत्तिरीयारण्यक (२।१५)[२१], जहाँ ऐसा आया है—'जो जो यज्ञ के विषय मे वैदिक वचन का स्मरण करता है, उसका फल यह है कि मानो वह यज्ञ ही कर रहा हो, और वह अग्नि, वायु, सूर्य मे सायुज्य प्राप्त कर लेता है।' तै० उप० (१।९) ने **स्वाध्याय** (वेद को धारण करना) एव **प्रवचन** (वेद को पढाना या उसकी व्याख्या करना) को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कहा है और दो ऋषियो के मतो का उद्घाटन करने के उपरान्त नाक मौद्गल्य का मत दिया है कि स्वाध्याय एव प्रवचन अति महत्त्वपूर्ण है और उनको अपनाना चाहिए तथा उनके लिए प्रयत्न करना चाहिए, यद्यपि ऋत, सत्य, दम, शम, अग्निहोत्र, आतिथ्य आदि उनके साथ जोडे जा सकते है, क्योकि ये दोनो तप कहे जाते है। पू० मी० सू० (३।८।१८) मे आया है (ज्ञाते च वाचन न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति) कि केवल वही व्यक्ति जो वेद जानता है यज्ञो के सम्पादन का अधिकारी है। शबर ने एक प्रश्न उठाया है कि वैदिक यज्ञ करने के योग्य होने के लिए किसी व्यक्ति को कितना वेद जानना चाहिए और स्वय उत्तर दिया है कि उसे उतना वेद स्मरण होना चाहिए जिससे वह अपने सकल्पित यज्ञ को पूर्ण कर सके। इसी सूत्र पर तन्त्रवार्तिक ने इतना जोडा है कि ब्रह्मचर्य काल मे सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए, किन्तु यदि कोई सम्पूर्ण वेद को स्मरण करने मे असमर्थ हो, किन्तु किसी प्रकार अग्निहोत्र एव दर्शपूर्णमास के अश को स्मरण कर लेता है तो ऐसा नही कहा जा सकता कि उसे इन दोनो के सम्पादन का अधिकार नही है। वेद को स्मृति मे धारण करना और उसके अर्थ को जानना बहुत बडा कार्य था। बहुत-से वैदिक मन्त्र तीन प्रकार के प्रयोग वाले होते थे, यथा—यज्ञो के लिए (अधियज्ञ), देवो के लिए (अधिदैवत् या अधिदैव) एव अध्यात्म के लिए अर्थात् आध्यात्मिक या तात्त्विक अर्थ के लिए। देखिए निर्णयसागर प्रेस सस्करण का ३।१२ (जहाँ ऋ० १।१६४।२१ अधिदैवत एव अध्यात्म ढग से व्याख्यायित

२१ तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यो यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति। तै० आ० (२।१५), ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः। तै० उप० (१।९)।

है), १०।२६ (जहाँ ऋ० १०।८२।२ अधिदैवत एव अध्यात्म ढग से निरूपित है), ११।४ (जहाँ ऋ० १०।८५।३ अधियज्ञ एव अधिदैवत ढग से व्याख्यायित है), १२।३७ (जहाँ वाज०सहिता ३४।५५ अधिदैवत एव अध्यात्म ढग से निरूपित है), १२।३८ (जहाँ अथर्व० १०।८।६ अधिदैवत एव अध्यात्म ढग से व्याख्यायित है। मनु (१।२३) एव वेदागज्योतिष का कथन है कि तीन वेदो के मन्त्र अग्नि, वायु एव सूर्य से यज्ञो के सम्पादन के लिए लिये गये थे। विश्वरूप (याज्ञ० १।५१) ने 'वेद व्रतानि वा पार नीत्वा' की व्याख्या वेद को स्मृतिपटल मे धारित करने एव उसके अर्थ को पूर्णरूपेण समझने के अर्थ मे की है न कि केवल स्मृतिपटल मे धारित करने के अर्थ मे। दक्ष का कथन है कि वेदाभ्यास (वेदाध्ययन) मे पाँच बाते होती है, यथा—**वेदस्वीकरण** (पहले स्मृतिपटल पर धारण करना अर्थात् याद कर लेना), **विचार** (उस पर विचार करना); **अभ्यसन** (बार-बार दुहराना), **जप** एव **दान** (शिष्य को उसका ज्ञान देना)।[22] इन आदर्शो का पालन थोडे-से लोग ही कर पाते है, अधिक ब्राह्मण लोग सामान्यत एक वेद या उसके किसी एक अश को ही स्मरण कर पाते थे।

सभी दर्शनो मे पूर्वमीमासाशास्त्र अत्यन्त विशद है।[23] शास्त्र वही है जो नित्य शब्दो (वेद) द्वारा या मनुष्यो द्वारा प्रणीत ग्रन्थो के रूप मे (मानवीय) कर्मो (प्रवृत्तियो) एव सयमनो (निवृत्तियो) का नियमन करता है और उन्हे घोषित करता है।[24] पू० मी० मे २७०० सूत्र तथा ९०० से अधिक अधिकरण (जो विचारणीय विषयो के निष्कर्ष या **न्याय** कहलाते है) पाये जाते है। कुछ सूत्र बार-बार आये है, यथा—'लिगदर्शनाच्च' (यह ३० बार आया है) एव 'तथा चान्यार्थदर्शनम्' (जो २४ बार आया है। अधिकरण मे पाँच विषय होते है **विषय**, **विशय** (सन्देह), **सगीत**, **पूर्वपक्ष** एव **सिद्धान्त** (अन्तिम निर्णय)।[25] सूत्र को **अल्पाक्षर** (कम अक्षरो वाला अर्थात् सक्षिप्त), **असदिग्ध** (अर्थ मे स्पष्ट), **सार वाला** (जिसका कुछ सार हो); **विश्वतोमुख** (अर्थात् सभी दिशाओ वाला, जिसका प्रयोग विशद हो) **अस्तोभवाला** (अर्थात् विना व्यवधान

२२ वेदस्य पारनयनमर्थतो ग्रन्थतश्च स्वीकरण न ग्रन्थत एव। विश्वरूप (याज्ञ० १।५१)। वेदस्वीकरण पूर्वं विचारोऽभ्यसन जप । तद्दान चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ॥ दक्षस्मृति (२।३४) मिताक्षरा द्वारा विना नाम लिये याज्ञ० (३।३१०) की व्याख्या मे उद्धृत, अपरार्क (पृ० १२६, याज्ञ० १।६६)।

२३ दर्शन बहुत से है, जैसा कि माधवाचार्य के सर्वदर्शन सग्रह से प्रकट है, किन्तु शास्त्रसम्मत एव प्रसिद्ध दर्शन ६ है और वे जोडे मे विख्यात है, यथा—न्याय एव वैशेषिक, साख्य एव योग, पूर्व मीमासा एव उत्तरमीमासा। इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द ४५, पृ०, १–६ एव १७–२६) मे ऐसा कथित है कि सर्वदर्शनसग्रह माधवाचार्य द्वारा, जो आगे चलकर विद्यारण्य हो गये, नही लिखा गया है, प्रत्युत वह सायण के पुत्र तथा माधवाचार्य के भतीजे द्वारा लिखा गया था।

२४ प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्यन कृतकेन वा । शासनाच्छसनाच्चैव शास्त्रमित्यभिधीयते ॥ भामती (वे० सू० १।१।३ पर) जो परा० मा० (२।२, पृ० २८८) द्वारा पुराण से उद्धृत किया गया है। प्रथम अर्धाली श्लोकवार्तिक (शब्द परिच्छेद, श्लोक ४) है।

२५ विषयो विशयश्चैवपूर्वपक्षस्तथोत्तरम् । निर्णयश्चेति पञ्चाग शास्त्रेधिकरण स्मृतम ॥ तिथितत्त्व (पृ० ९२) रामकृष्ण की अधिकरणकौमुदी एव सर्वदर्शनकोमुदी (पृ० ८९) द्वारा उद्धृत । कुछ लोगो ने 'निर्णश्चेति सिद्धान्त' ऐसा पढा है । माधवाचार्य ऐसे लोगो ने पाँचो को यो कहा है—विषय, विशय (या सन्देह), सङ्गति, पूर्वपक्ष एव सिद्धान्त

या रुकावट वाला) तथा **अनवद्य** (दोपरहित) होना चाहिए।[२६] भाष्य वह है जो सूत्र के अर्थ को वैसे वाक्यो मे रखता हे जो सूत्र के शब्दो के अनुगामी होते ह और जो (भाष्य) स्वय अपने से कुछ जोडता है (मूल के विपय की व्याख्या या निरूपण के लिए)। वार्तिक वह हे जो यह बताता है कि मूल मे क्या उल्लिखित हे या क्या छूट गया है या क्या ठीक से नही कहा गया हे। राजशेखर की काव्यमीमासा (अध्याय २) मे सूत्र, भाष्य, वृत्ति, टीका, कारिका आदि की परिभापाएँ दी गयी ह।

पूर्वमीमासासूत्र ने प्रथम सूत्र मे घोपित किया हे कि व्यक्ति को वेदाध्ययन करना चाहिए। इसके उपरान्त उसमे आया हे कि जव व्यक्ति ऐसा कर ले तो उसे धर्म के प्रति जिज्ञासा करनी चाहिए। इसलिए दूसरे सूत्र मे धर्म की परिभापा ही दी गयी हे कि 'वह एक ऐसा कार्य है जो मनुष्य का सबसे अधिक हित करनेवाला हे, वह एक प्रबोधकारी (वैदिक) वचन से विशेपता को प्राप्त हे'। शबर ने व्याख्या की हे कि **'चोदना'** शब्द का अर्थ हे वह वाक्य जो व्यक्ति को कोई कार्य करने के लिए प्रेरित करता हे या प्रबोधित करता हे। अत इससे प्रकट होता हे कि धर्म के विपय मे ज्ञान (प्रमाण) के साधन वैदिक वाक्य हैं और उसका यह तात्पर्य भी हे कि चोदना द्वारा जो कुछ विशिष्टता को प्राप्त होता हे या प्रकट किया जाता ह वह धर्म हे अर्थात् उससे धर्म का स्वरूप प्रकट किया जाता है। 'अर्थ' शब्द द्वारा वे कर्म पृथक किये जाते हैं (धर्म से उनका पृथकत्व) प्रकट किया जाता है जो वेद मे उल्लखित तो होते हैं, किन्तु उसके करने से बुरा फल प्राप्त होता है, यथा—ऐसा वाक्य 'जो व्यक्ति (किसी को हानि पहुँचाने के लिए) अभिचार करता हे वह श्येन-याग कर सकता है'। यह धर्म नही है, अधर्म हे, क्योकि जादू को पापमय कह कर घृणित माना गया हे। यह वैदिक वाक्य यह नही कहता कि हिसा करनी चाहिए, यह केवल इतना ही कहता हे कि श्येनयाग से पीडा होती हे, अत यदि कोई पीडा देना चाहे या हिसा करना चाहे तो श्येन उसका साधन हे।[२७]

श्लोकवार्तिक मे आया हे कि 'चोदना' 'उपदेश' एव 'विधि' शब्द भाष्यकार शबर के अनुसार पर्याय ह। 'विधि' शब्द का अर्थ बहुधा शास्त्रचोदना या शास्त्राज्ञा के रूप मे किया जाता हे, किन्तु सामान्य सम्भापण

२६ अल्पाक्षरमसन्दिग्ध सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्ततोभमनवद्य च सूत्र सूत्रविदो विदु (पद्मपाद की पञ्चपादिका, पृ० ८२, ब्रह्माण्ड २।३३।५८, वायु० ५९।१४२, युक्तिदीपिका, पृ० ३ जहाँ 'अस्तोभ' को 'अपुनरुक्त' कहा गया हे)। पञ्चपादिका ने इसे पौराणिक श्लोक के रूप मे उद्धृत किया हे और वक्तव्य दिया है—'सर्वतोमुखमिति नानार्थतामोह' और टीका मे आया है 'अर्थैकत्वादेक' वाक्यमिति न्यायस्य सूत्रान्यविषयत्वात् न वाक्य भेद'।

२७ तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थ श्रेयस्कर य एव श्रेयस्कर स धर्म शब्देनोच्यते'। उभयमिह चोदनया लक्ष्यते अर्थोऽनर्थश्चेति। कोऽर्थ, यो नि श्रेयसाय ज्योतिष्टोमादि। कोऽनर्थ, य प्रत्यवायाय श्येनो वज्र इषुरित्येवमादि। तत्र अनर्थो धर्म उक्तो मा भूदिति अर्थग्रहणम्। कथ पुनरसावनर्थ। हिसा हि सा हिसा च प्रतिषिद्धेति। नैव श्येनादय कर्त्तव्या विज्ञायन्ते। यो हिसितुमिच्छेत् तस्यायमभ्युपाय इति तेषामुपदेश। हि श्येनेनाभिचरन् यजेत इति हि समामनन्ति, न 'अभिचरितव्यम्' इति। शबर (१।१।२, अन्त मे)। देखिए पू० मी० सू० (१।४।५ एव ३।८।३६–३८) जहाँ श्येनयाग का उल्लेख हे जो ज्योतिष्टोम का परिष्कृत रूप है और देखिए इषुयाग के लिए पू० मी० सू० (७।१।१३–१६, जहाँ ७।१।१३ पर शबर ने आप० श्रौ० (२२।७–१८, समानमितरच्छ्येनेन) को उद्धृत किया है।

है), १०।२६ (जहाँ ऋ० १०।८२।२ अधिदैवत एव अध्यात्म ढग से निरूपित है), ११।४ (जहाँ ऋ० १०।८५।३ अधियज्ञ एव अधिदैवत ढग से व्याख्यायित है), १२।३७ (जहाँ वाज०सहिता ३४।५५ अधिदैवत एव अध्यात्म ढग से निरूपित है), १२।३८ (जहाँ अथर्व० १०।८।९ अधिदैवत एव अध्यात्म ढग से व्याख्यायित है। मनु (१।२३) एव वेदागज्योतिष का कथन है कि तीन वेदो के मन्त्र अग्नि, वायु एव सूर्य से यज्ञो के सम्पादन के लिए लिये गये थे। विश्वरूप (याज्ञ० १।५१) ने 'वेद व्रतानि वा पार नीत्वा' की व्याख्या वेद को स्मृतिपटल मे धारित करने एव उसके अर्थ को पूर्णरूपेण समझने के अर्थ मे की है न कि केवल स्मृतिपटल मे धारित करने के अर्थ मे। दक्ष का कथन है कि वेदाभ्यास (वेदाध्ययन) मे पाँच बाते होती है, यथा--**वेदस्वीकरण** (पहले स्मृतिपटल पर धारण करना अर्थात् याद कर लेना), **विचार** (उस पर विचार करना); **अभ्यसन** (बार-बार दुहराना), **जप** एव **दान** (शिष्य को उसका ज्ञान देना)।[22] इन आदर्शो का पालन थोडे-से लोग ही कर पाते है, अधिक ब्राह्मण लोग सामान्यत एक वेद या उसके किसी एक अग को ही स्मरण कर पाते थे।

सभी दर्शनो मे पूर्वमीमासाशास्त्र अत्यन्त विशद है।[23] शास्त्र वही है जो नित्य शब्दो (वेद) द्वारा या मनुष्यो द्वारा प्रणीत ग्रन्थो के रूप मे (मानवीय) कर्मो (प्रवृत्तियो) एव सयमनो (निवृत्तियो) का नियमन करता है और उन्हे घोषित करता है।[24] पू० मी० मे २७०० सूत्र तथा ९०० से अधिक अधिकरण (जो विचारणीय विषयो के निष्कर्ष या **न्याय** कहलाते है) पाये जाते है। कुछ सूत्र बार-बार आये है, यथा--'लिगदर्शनाच्च' (यह ३० बार आया है) एव 'तथा चान्यार्थदर्शनम्' (जो २४ बार आया है। अधिकरण मे पाँच विषय होते है **विषय, विशय** (सन्देह), **सगीत, पूर्वपक्ष** एव **सिद्धान्त** (अन्तिम निर्णय)।[25] सूत्र को **अल्पाक्षर** (कम अक्षरो वाला अर्थात् सक्षिप्त), **असदिग्ध** (अर्थ मे स्पष्ट), **सार वाला** (जिसका कुछ सार हो); **विश्वतोमुख** (अर्थात् सभी दिशाओ वाला, जिसका प्रयोग विशद हो) **अस्तोभवाला** (अर्थात् बिना व्यवधान

२२ वेदस्य पारनयनमर्थतो ग्रन्थतश्च स्वीकरण न ग्रन्थत एव। विश्वरूप (याज्ञ० १।५१)। वेदस्वीकरण पूर्व विचारोऽभ्यसन जप। तद्दान चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा॥ दक्षस्मृति (२।३४) मिताक्षरा द्वारा बिना नाम लिये याज्ञ० (३।३१०) की व्याख्या मे उद्धृत, अपरार्क (पृ० १२६, याज्ञ० १।९९)।

२३ दर्शन बहुत से है, जैसा कि माधवाचार्य के सर्वदर्शन सग्रह से प्रकट है, किन्तु शास्त्रसम्मत एव प्रसिद्ध दर्शन ६ है और वे जोडे मे विख्यात है, यथा--न्याय एव वैशेषिक, साख्य एव योग, पूर्व मीमासा एव उत्तरमीमासा। इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द ४५, पृ०, १-६ एव १७-२६) मे ऐसा कथित है कि सर्वदर्शनसग्रह माधवाचार्य द्वारा, जो आगे चलकर विद्यारण्य हो गये, नही लिखा गया है, प्रत्युत वह सायण के पुत्र तथा माधवाचार्य के भतीजे द्वारा लिखा गया था।

२४ प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्यन कृतकेन वा। शासनाच्छ्सनाच्चैव शास्त्रमित्यभिधीयते॥ भामती (वे० सू० १।१।३ पर) जो परा० मा० (२।२, पृ० २८८) द्वारा पुराण से उद्धृत किया गया है। प्रथम अर्धाली श्लोकवार्तिक (शब्द परिच्छेद, श्लोक ४) है।

२५ विषयो विशयश्चैवपूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। निर्णयश्चेति पञ्चाग शास्त्रेधिकरण स्मृतम॥ तिथितत्त्व (पृ० ९२) रामकृष्ण की अधिकरणकौमुदी एव सर्वदर्शनकौमदी (पृ० ८९) द्वारा उद्धृत। कुछ लोगो ने 'निर्णश्चेति सिद्धान्त' ऐसा पढा है। माधवाचार्य ऐसे लोगो ने पाँचो को यो कहा है--विषय, विशय (या सन्देह), सङ्गति, पूर्वपक्ष एव सिद्धान्त।

या रुकावट वाला) तथा **अनवद्य** (दोषरहित) होना चाहिए।[२६] भाष्य वह है जो सूत्र के अर्थ को वर्णे वाक्यों मे रखता है जो सूत्र के शब्दों के अनुगामी होते है और जो (भाष्य) स्वयं अपने से कुछ जोड़ता है (सूत्र के विषय की व्याख्या या निरूपण के लिए)। वार्तिक वह है जो यह बताता है कि सूत्र मे क्या उल्लिखित है या क्या छूट गया है या क्या ठीक से नहीं कहा गया है। राजशेखर की काव्यमीमांसा (अध्याय २) मे सूत्र, भाष्य, वृत्ति, टीका, कारिका आदि की परिभाषाएँ दी गयी हैं।

पूर्वमीमांसासूत्र ने प्रथम सूत्र मे घोषित किया है कि व्यक्ति को वेदाध्ययन करना चाहिए। उसके उपरान्त उसमे आया है कि जब व्यक्ति ऐसा कर ले तो उसे धर्म के प्रति जिज्ञासा करनी चाहिए। इसलिए दूसरे सूत्र मे धर्म की परिभाषा ही दी गयी है कि 'वह एक ऐसा कार्य है जो मनुष्य का सबसे अधिक हित करनेवाला है, वह एक प्रबोधकारी (वैदिक) वचन से विशेषता को प्राप्त है'। शबर ने व्याख्या की है कि **'चोदना'** शब्द का अर्थ है वह वाक्य जो व्यक्ति को कोई कार्य करने के लिए प्रेरित करता है या प्रबोधित करता है। अतः इससे प्रकट होता है कि धर्म के विषय मे ज्ञान (प्रमाण) के साधन वैदिक वाक्य हैं और उसका यह तात्पर्य भी है कि चोदना द्वारा जो कुछ विशिष्टता को प्राप्त होता है या प्रकट किया जाता है वह धर्म है अर्थात् उससे धर्म का स्वरूप प्रकट किया जाता है। 'अर्थ' शब्द द्वारा वे कर्म पृथक् किये जाते हैं (धर्म से उनका पृथक्त्व) प्रकट किया जाता है जो वेद मे उल्लिखित तो होते है, किन्तु उसके करने से बुरा फल प्राप्त होता है, यथा—ऐसा वाक्य 'जो व्यक्ति (किसी को हानि पहुँचाने के लिए) अभिचार करता है वह श्येन-याग कर सकता है'। यह धर्म नहीं है, अधर्म है, क्योंकि जादू को पापमय कह कर घृणित माना गया है। यह वैदिक वाक्य यह नहीं कहता कि हिंसा करनी चाहिए, यह केवल इतना ही कहता है कि श्येनयाग मे पीड़ा होती है, अतः यदि कोई पीड़ा देना चाहे या हिंसा करना चाहे तो श्येन उसका साधन है।[२७]

श्लोकवार्तिक मे आया है कि 'चोदना' 'उपदेश' एवं 'विधि' शब्द भाष्यकार शबर के अनुसार पर्याय है। 'विधि' शब्द का अर्थ बहुधा शास्त्रचोदना या शास्त्राज्ञा के रूप मे किया जाता है, किन्तु सामान्य सम्भाषण

२६ अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः (पद्मपाद की पञ्चपादिका, पृ० ८२, ब्रह्माण्ड २।३३।५८, वायु० ५९।१४२, युक्तिदीपिका, पृ० ३ जहाँ 'अस्तोभ' को 'अपुनरुक्त' कहा गया है)। पञ्चपादिका ने इसे पौराणिक श्लोक के रूप मे उद्धृत किया है और वक्तव्य दिया है—'सर्वतोमुखमिति नानार्थतामोह' और टीका मे आया है 'अर्थैकत्वादेकं' वाक्यमिति न्यायस्य सूत्रान्यविषयत्वात् न वाक्यभेदः'।

२७ तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थः श्रेयस्करः। य एव श्रेयस्करः स धर्मशब्देनोच्यते'। उभयमिह चोदनया लक्ष्यते अर्थोऽनर्थश्चेति। कोऽर्थः, यो निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिः। कोऽनर्थः, यः प्रत्यवायाय श्येनो वज्र इषुरित्येवमादिः। तत्र अनर्थो धर्म उक्तो मा भूदिति अर्थग्रहणम्। कथं पुनरसावनर्थः। हिंसा हि सा हिंसा च प्रतिषिद्धेति। नैव श्येनादयः कर्तव्या विज्ञायन्ते। यो हिंसितुमिच्छेत् तस्यायमभ्युपाय इति तेषामुपदेशः। हि श्येनेनाभिचरन् यजेत इति हि समामनन्ति, न 'अभिचरितव्यम्' इति। शबर (१।१।२, अन्त मे)। देखिए पू० मी० सू० (१।४।५ एवं ३।८।३६-३८) जहाँ श्येनयाग का उल्लेख है जो ज्योतिष्टोम का परिष्कृत रूप है और देखिए इषुयाग के लिए पू०, मी० सू० (७।१।१३-१६, जहाँ ७।१।१३ पर शबर ने आप० श्रौ० (२२।७-१८, समानमितरच्छ्येनेन) को उद्धृत किया है।

है), १०।२६ (जहाँ ऋ० १०।८२।२ अधिदैवत एव अध्यात्म ढग से निरूपित है), ११।४ (जहाँ ऋ० १०।८५।३ अधियज्ञ एव अधिदैवत ढग से व्याख्यायित है), १२।३७ (जहाँ वाज०सहिता ३४।५५ अधिदैवत एव अध्यात्म ढग से निरूपित है), १२।३८ (जहाँ अथर्व० १०।८।६ अधिदैवत एव अध्यात्म ढग से व्याख्यायित है। मनु (१।२३) एव वेदागज्योतिष का कथन है कि तीन वेदो के मन्त्र अग्नि, वायु एव सूर्य से यज्ञो के सम्पादन के लिए लिये गये थे। विश्वरूप (याज्ञ० १।५१) ने 'वेद व्रतानि वा पार नीत्वा' की व्याख्या वेद को स्मृतिपटल मे धारित करने एव उसके अर्थ को पूर्णरूपेण समझने के अर्थ मे की है न कि केवल स्मृतिपटल मे धारित करने के अर्थ मे। दक्ष का कथन है कि वेदाभ्यास (वेदाध्ययन) मे पाँच वाते होती है, यथा—**वेदस्वीकरण** (पहले स्मृतिपटल पर धारण करना अर्थात् याद कर लेना), **विचार** (उस पर विचार करना); **अभ्यसन** (बार-बार दुहराना), **जप** एव **दान** (शिष्य को उसका ज्ञान देना)।[२२] इन आदर्शो का पालन थोडे-से लोग ही कर पाते है, अधिक ब्राह्मण लोग सामान्यत एक वेद या उसके किसी एक अश को ही स्मरण कर पाते थे।

सभी दर्शनो मे पूर्वमीमासाशास्त्र अत्यन्त विशद है।[२३] शास्त्र वही है जो नित्य शब्दो (वेद) द्वारा या मनुष्यो द्वारा प्रणीत ग्रन्थो के रूप मे (मानवीय) कर्मो (प्रवृत्तियो) एव सयमनो (निवृत्तियो) का नियमन करता है और उन्हे घोषित करता है।[२४] पू० मी० मे २७०० सूत्र तथा ९०० से अधिक अधिकरण (जो विचारणीय विषयो के निष्कर्ष या **न्याय** कहलाते है) पाये जाते है। कुछ सूत्र बार-बार आये है, यथा—'लिगदर्शनाच्च' (यह ३० बार आया है) एव 'तथा चान्यार्थदर्शनम्' (जो २४ बार आया है)। अधिकरण मे पाँच विषय होते है **विषय, विशय** (सन्देह), **सगीत, पूर्वपक्ष** एव **सिद्धान्त** (अन्तिम निर्णय)।[२५] सूत्र को **अल्पाक्षर** (कम अक्षरो वाला अर्थात् सक्षिप्त), **असदिग्ध** (अर्थ मे स्पष्ट), **सार वाला** (जिसका कुछ सार हो); **विश्वतोमुख** (अर्थात् सभी दिशाओ वाला, जिसका प्रयोग विशद हो) **अस्तोभवाला** (अर्थात् बिना व्यवधान

२२ वेदस्य पारनयनमर्थतो ग्रन्थतश्च स्वीकरण न ग्रन्थत एव। विश्वरूप (याज्ञ० १।५१)। वेदस्वीकरण पूर्व विचारोऽभ्यसन जप। तद्दान चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा॥ दक्षस्मृति (२।३४) मिताक्षरा द्वारा बिना नाम लिये याज्ञ० (३।३१०) की व्याख्या मे उद्धृत, अपरार्क (पृ० १२६, याज्ञ० १।९९)।

२३ दर्शन बहुत से है, जैसा कि माधवाचार्य के [illegible]न सग्रह से प्रकट है, किन्तु शास्त्रसम्मत एव प्रसिद्ध दर्शन ६ है और वे जोडे मे विख्यात है, यथा—न्याय एव वैशेषिक, साख्य एव योग, पूर्व मीमासा एव उत्तरमीमासा। इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द ४५, पृ०, १—६ एव १७—२६) मे ऐसा कथित है कि सर्वदर्शनसग्रह माधवाचार्य द्वारा, जो आगे चलकर विद्यारण्य हो गये, नहीं लिखा गया है, प्रत्युत वह सायण के पुत्र तथा माधवाचार्य के भतीजे द्वारा लिखा गया था।

२४ प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्यन कृतकेन वा। शासनाच्छसनाच्चैव शास्त्रमित्यभिधीयते॥ भामती (वे० सू० १।१।३ पर) जो परा० मा० (२।२, पृ० २८८) द्वारा पुराण से उद्धृत किया गया है। प्रथम अर्धाली श्लोकवार्तिक (शब्द परिच्छेद, श्लोक ४) है।

२५ विषयो विशयश्चैवपूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। निर्णयश्चेति पञ्चाग शास्त्रेधिकरण स्मृतम॥ तिथितत्त्व (पृ० ९२) रामकृष्ण की अधिकरणकौमुदी एव सर्वदर्शनकौमदी (पृ० ८९) द्वारा उद्धृत। कुछ लोगो ने 'निर्णश्चेति सिद्धान्त' ऐसा पढा है। माधवाचार्य ऐसे लोगो ने पाँचो को यो कहा है—विषय, विशय (या सन्देह), सङ्गति, पूर्वपक्ष एव सिद्धान्त।

या रुकावट वाला) तथा अनवद्य (दोपरहित) होना चाहिए।[२६] भाष्य वह है जो सूत्र के अर्थ को वैसे वाक्यो मे रखता हे जो सूत्र के शब्दो के अनुगामी होते ह और जो (भाष्य) स्वय अपने से कुछ जोडता है (सूत्र के विपय की व्याख्या या निरूपण के लिए)। वार्तिक वह हे जो यह वताता है कि सूत्र मे क्या उल्लिखित हे या क्या छूट गया हे या क्या ठीक से नही कहा गया हे। राजशेखर की काव्यमीमामा (अध्याय २) मे सूत्र, भाष्य, वृत्ति, टीका, कारिका आदि की परिभापाएँ दी गयी है।

पूर्वमीमासासूत्र ने प्रथम सूत्र मे घोपित किया हे कि व्यक्ति को वेदाध्ययन करना चाहिए। इसके उपरान्त उसमे आया हे कि जव व्यक्ति ऐसा कर ले तो उसे धर्म के प्रति जिज्ञासा करनी चाहिए। इसलिए दूसरे सूत्र मे धर्म की परिभापा ही दी गयी है कि 'वह एक ऐसा कार्य है जो मनुष्य का सवसे अधिक हित करनेवाला हे, वह एक प्रवोधकारी (वैदिक) वचन से विशेपता को प्राप्त हे'। शवर ने व्याख्या की है कि 'चोदना' शब्द का अर्थ हे वह वाक्य जो व्यक्ति को कोई कार्य करने के लिए प्रेरित करता है या प्रवोधित करता हे। अत इससे प्रकट होता है कि धर्म के विपय मे ज्ञान (प्रमाण) के साधन वैदिक वाक्य है और उसका यह तात्पर्य भी हे कि चोदना द्वारा जो कुछ विशिष्टता को प्राप्त होता हे या प्रकट किया जाता ह वह धर्म हे अर्थात् उससे धर्म का स्वरूप प्रकट किया जाता हे। 'अथ' शब्द द्वारा वे कर्म पृथक किये जाते है (धर्म से उनका पृथकत्व) प्रकट किया जाता हे जो वेद मे उल्लखित तो होते हे, किन्तु उसके करने से वुरा फल प्राप्त होता हे, यथा—ऐसा वाक्य 'जो व्यक्ति (किसी को हानि पहुँचाने के लिए) अभिचार करता हे वह श्येन-याग कर सकता है'। यह धर्म नही है, अधर्म हे, क्योकि जादू को पापमय कह कर घृणित माना गया हे। यह वैदिक वाक्य यह नही कहता कि हिसा करनी चाहिए, यह केवल इतना ही कहता हे कि श्येनयाग से पीडा होती ह, अत यदि कोई पीडा देना चाहे या हिसा करना चाहे तो श्येन उसका साधन हे।[२७]

श्लोकवार्तिक मे आया हे कि 'चोदना' 'उपदेश' एव 'विधि' शब्द भाष्यकार शवर के अनुसार पर्याय ह। 'विधि' शब्द का अर्थ बहुधा शास्त्रचोदना या शास्त्राज्ञा के रूप मे किया जाता हे, किन्तु सामान्य सम्भापण

मे शास्त्राज्ञा या शासन की आज्ञा का अर्थ होता है किसी व्यक्ति को कुछ करने से रोकना।' अत 'चोदना' या 'विधि' शब्द का प्रयोग यहाँ पर 'अनुशासन' या उपदेश के अर्थ मे हुआ है। परिणामस्वरूप धर्म का तात्पर्य है ऐसा धार्मिक कर्म (याग) जो सर्वोच्च हित साधने वाला हो। ऋ० (१०-६०-१६) मे यज्ञ को प्रथम (या प्राचीन) धर्म (यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्) कहा गया है और शवर ने पू० मी० सू० (१।१।२) के भाष्य मे इस सिद्धान्त के प्रतिपादन मे इसको उद्धृत किया हे कि धर्म का अर्थ हे 'याग'। वेदागज्योतिप (श्लोक ३, वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता) मे आया है कि वेदो का प्रवर्तन यज्ञ के लिए हुआ हे। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३५) एव दायतत्त्व (पृ० १७२) व्यवहारमयूख (पृ० १५७) ऐसे मध्यकालीन ग्रन्थो ने एक ऐसा श्लोक उद्धृत किया है जो देवल या कात्यायन का कहा जाता हे, जिसमे आया हे कि सारी सम्पत्ति यज्ञो के लिए उत्पन्न की गयी हे, अत उसका व्यय धर्म के उपयोगो मे होना चाहिए न कि नारियो, मूर्खो एव अधार्मिको के लिए।[२८]

शवर ने दूसरे सूत्र का परिचय यह कहकर दिया हे कि धर्म क्या हे (अर्थात् धम का स्वरूप क्या है), इसके लक्षण क्या है। इसकी प्राप्ति के साधन क्या हे, इमकी प्राप्ति के त्रुटिपूर्ण साधन क्या है और इसमे क्या प्राप्त होता है (अर्थात् इसके ज्ञान से क्या लाभ या फल मिलता हे) और पुन उत्तर दिया है कि दूसरे सूत्र ने प्रथम दो की (अर्थात् धर्म के स्वरूप एव लक्षणो की) व्यारया की है। इसका तात्पर्य यह है कि 'चोदनाएँ' (वैदिक प्रबोधक वचन) धर्म के विषय मे प्रमाण (ज्ञान के साधन) हे और वैदिक वचनो द्वारा जो व्यवस्थित होता हे वह धर्म (धर्मस्वरूप) हे। वेद एव पूर्वमीमासा शास्त्र के साथ धर्म का सम्बन्ध स्पष्ट एव सक्षिप्त ढग से कुमारिल के एक श्लोक से प्रकट हो जाता है[२९]। 'जब धर्म के सम्यक् ज्ञान के लिए विवेचन चलता रहता हे तो इस प्रकार के ज्ञान के लिए वेद एक साधन होता हे, विधि के विषय मे मीमासा पूर्ण सूचना प्रदान करेगी।' जिस प्रकार अच्छी दृष्टि रहने पर भी विना प्रकाश के कुछ नही जाना जा सकता, उसी प्रकार विना पू० मी० सू० की विधियो को जाने व्यक्ति धर्म का सम्यक् ज्ञान नही प्राप्त कर सकता। इसके उपरान्त जैमिनि ज्ञान (प्रमाण) के साधनो की जाँच करते हे और घोषित करते है कि 'शब्द' (अर्थात् वेद) के अतिरिक्त धर्म के विषय मे ज्ञान का कोई अन्य साधन नही हे, धर्म का प्रत्यक्षीकरण नही हो सकता। वह **प्रत्यक्ष** नही हे। अन्य सभी प्रमाण प्रत्यक्ष पर आधारित है अत उनसे धर्म की परिभाषा या व्यारया नही की जा सकती। कुमारिल के अनुसार प्रमाण ६ है—**प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति** एव **अभाव**। प्रभाकर ने अन्तिम (अर्थात् अभाव) को प्रमाण नही माना हे।

पू० मी० सू० के वारह अध्यायो के विपय यो है—(१) **प्रमाण**।(ज्ञान के साधन), (२) **भेद** (६ कारण जिनके आधार पर धार्मिक कृत्य एक-दूसरे से पृथक् माने जाते हे और कुछ प्रमुख तथा कुछ सहायक

२८ यज्ञार्थं विहित वृत्त तस्मात्तद् विनियोजयेत्। स्थानेषु धर्मजुष्टेषु न स्त्रीमूर्खविधर्मिषु॥ मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३५) ने इस सिद्धान्त का घोर विरोध किया हे।

२९ धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना। इतिकर्तव्यताभाग मीमासा पूरयिष्यति॥ कुमारिल की बृहट्टीका, तन्त्ररहस्य (गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, १९५६, पृ० ३६) द्वारा उद्धृत। इस श्लोक का परिचय अधोलिखित शब्दो द्वारा दिया गया है। 'वेदस्यार्थसशये सति तन्निर्णयौपयिकन्यायनिबन्धन हि शास्त्र मीमासा। सा च करणीभूतस्य वेदस्येतिकर्तव्यता। यथा चक्षुष आलोक। यथा वानुमानस्य व्याप्तिस्मरणम्। यथा वोपमानस्य सादृश्यम्। यथा वा अर्थापत्ते सन्देहापत्ति

माने जाते हैं), (३) शेष (शेष का अर्थ है अधीन या जो दूसरे के अधीन होता है वह शेषी कहलाता है या जो दूसरे का सहायक होता है), इसका प्रयोग कैसे होता है, तथा श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या की पारस्परिक शक्ति, (४) प्रयुक्ति (जो अपरिहार्य हो और जो कर्ता के अन्तःकरण पर निर्भर हो, अर्थात् जो कर्तव्य हो और पुरुषार्थ हो), (५) क्रम (श्रुति आदि पर क्रम के निश्चय के सिद्धान्त), (६) अधिकार (याग करने के अधिकारी व्यक्ति), (७) सामान्यातिदेश (आदर्श याग के विषयों या उसके परिष्कारों या परिमार्जनों तक फैलाव), (८) विशेषातिदेश (पृथक्-पृथक् कृत्यों के भिन्न भागों या विषयों का विस्तार), (९) ऊह (मन्त्रों तथा संस्कारों का अभियोजन), (१०) बाध (आदर्श यागों के परिमार्जनों में कुछ विषयों को छोड़ देना), (११) तन्त्र बहुत-से कर्मों या व्यक्तियों के लिए एक विषय की उपयोगिता एवं पर्याप्तता), (१२) प्रसंग (प्रयोग का विस्तार)। प्रथम अध्याय के चार पदों में चार विषय क्रमशः विवेचित हैं, यथा—विधि (प्रबोधक वाक्य या वचन), अर्थवाद (प्रशंसात्मक व्याख्यात्मक वचन जिनमें मन्त्र भी हैं), स्मृतियाँ (जिनमें लोकाचार एवं प्रयोग भी सम्मिलित हैं) एवं नाम (कृत्यों के नाम यथा—उद्भिद्, चित्रा)। यहाँ पर अध्यायों का विवेचन विशेष आवश्यक नहीं है। शबर ने सभी अध्यायों के निष्कर्ष उपस्थित किये हैं।[30]

स्वयं पू० मी० सू० एक अति विस्तृत ग्रन्थ है, ऊपर से इसका आकार टीकाओं में तथा टीकाओं की टीकाओं से बहुत बढ़ गया है। शबर के पूर्व एक टीकाकार थे, जिन्हें शबर ने वृत्तिकार की संज्ञा दी है[31]

३०. प्रथमेऽध्याये प्रमाणलक्षणं वृत्तम्। तत्र विध्यर्थवादमन्त्रस्मृतयस्तत्त्वतो निर्णीताः। गुणविधिनामधेयं परीक्षितम्। सन्दिग्धानामर्थानां वाक्यशेषादर्थाच्चाध्यवसानमुक्तम्। शबर (२।११ के आरम्भ में)। तन्त्रवार्तिक ने ऊपर के 'तत्त्वत' को इस प्रकार व्याख्यायित किया है 'विध्यादितत्त्वं निर्णीतिः प्रमाणेनैव स्थिता। समस्तो हि प्रथमः पादश्चोदनासूत्रपरिकरः। श्रुतिमूलत्वविज्ञानस्य स्मृतिप्रामाण्ये तत्त्वम्। नामधेयस्य चोदनान्तर्गतत्वात्प्रमाणत्वम्। सन्दिग्धनिर्णये वाक्यशेषसामर्थ्ययोः प्रामाण्यमित्येवं समस्तमध्यायं प्रमाणलक्षणमाचक्षते।' पू० मी० सू० बारह अध्यायों में विभक्त है। अतः इसे द्वादशलक्षणी भी कहा गया है।

३१ 'शब्द क्या है,' के विषय में शबर ने स्पष्ट रूप से (भगवान्) उपवर्ष (१।१।५ की व्याख्या में) का उल्लेख किया है, किन्तु रामानुज का कथन है कि बोधायन ने पू० मी० सू० एवं वे० सू० पर एक भाष्य लिखा था। वृत्तिकार, उपवर्ष एवं बोधायन के विषय में मतमतान्तर है। देखिए म० म० प्रो० कुप्पुस्वामी (तृतीय अखिल भारतीय ओरिएण्टल कान्फ्रेंस, पृ० ४६५-४६८) एवं पं० वी० ए० रमास्वामी (इण्डि० हि० क्वा०, जिल्द १०, पृ० ४३१-४३३), जिन्होंने वृत्तिकार एवं उपवर्ष के परिचय पर विचार किया है। डा० एस० के० आयंगर (मणिमेकलाई इन इट्स हिस्टॉरिक सेटिंग, पृ० १८९) एवं प्रस्तुत लेखक (जे० बी० बी० आर० ए० एस०, १९२१, पृ० ८३-९८) का मत है कि वृत्तिकार एवं उपवर्ष पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। म० म० कुप्पुस्वामी का मत है कि बोधायन एवं उपवर्ष एक ही हैं। शंकराचार्य ने सम्मान के साथ उपवर्ष का नाम दो बार लिया है (भगवान् कहा है, वे० सू० १।३।२८ एवं ३।३।५३ पर) किन्तु कहीं भी बोधायन का उल्लेख नहीं किया है। जिसकी विशद टीका के विषय में रामानुज ने वे० सू० के भाष्य में उल्लेख किया है। देखिए बोधायन एवं उपवर्ष पर जर्नल आव इण्डियन हिस्ट्री, मद्रास, जिल्द ७, पृ० ७, पृ० १०७-११५ एवं वी० ए० रमास्वामी शास्त्री (भूमिका तत्त्वबिन्दु, पृ० १४-१८, १९३६)। और देखिए इण्डि० हि० क्वा० (जिल्द १०, पृ० ४३१-४५२) जहाँ पूर्वमीमांसासूत्र के वृत्तिकारों पर एक लेख है।

ओर कतिपय स्थलो पर उन्हे सम्मानपूर्वक उद्धृत किया है (यथा---२।१।३२ एव ३२, २।२।२६, २।३।१६, ३।१।६ पर 'अत्र भगवान् वृत्तिकार कहा है , कही-कही यथा ८।१।१ पर 'वृत्तिकारै' बहुवचन मे आया है) । पू० मी० सू० १।१।३-५, २।१।३३। एव ७।२।६ की टीका मे शबर ने वृत्तिकार से असहमति प्रकट की है । पू० मी० सू० की सबसे प्राचीन विद्यमान टीका शबर का भाष्य हे । शबर ने पू० मी० सू० के विपयो से तथा कुछ अन्य विपयो से सम्वन्धित बहुत से श्लोक उद्धृत किये हे । पू० मी० सू० पर उद्धृत श्लोक २।१।३२, २।१।३३, २।२।१, ४।३।३, ४।४।२१, ४।४।२४ आदि पर पाये जाते ह । ये सभी श्लोक शबर द्वारा पू० मी० सू० की किसी टीका या उस पर लिखे गये किसी ग्रन्थ से उद्धृत हुए हे, जिनमे दो-एक सम्भवत किसी श्रोतसूत्र से लिये गये ह ओर दो-एक स्वय उनके द्वारा प्रणीत हे ।

पू० मी० सू० पर बहुत-सी टीकाएँ १०वी तथा उसके पश्चात् की शतियो के लेखको की हे और वे आज भी विद्यमान ह, जिनमे २२ का उल्लेख म० म० गोपीनाथ कविराज ने किया है (सरस्वतीभवन स्टडीज, जिल्द ६, पृ० १६६) । शबर के भाष्य पर कतिपय टीकाएँ हे, जैसा कि श्लोकवार्तिक से प्रकट हे । कुमारिल के पूर्व की प्रणीत टीकाएँ आज उपलव्ध नही हे ।

कुमारिल ने शबर के भाष्य (पू० मी० सू० १।१।) पर श्लोकवार्तिक लिखा जिसमे ४००० श्लोक हे तथा १।२ पर पू० मी० सू० के तीसरे अध्याय के अन्त तक एक विशद तन्त्रवार्तिक लिखा है ओर पू० मी० सू० (अध्याय ४-१२) पर टुप्-टीका लिखी है (जो छिट-पुट टिप्पणी के रूप मे हे न कि लगातार चलने वाली टीका) । ऐसा कहा जाता हे कि कुमारिल ने पू० मी० सू० पर दो अन्य टीकाएँ भी लिखी हे, यथा---'मध्यमटीका' एव बृहट्टीका । न्यायरत्नाकर ने बृहट्टीका का उल्लेख किया हे, तन्त्रवार्तिक पर न्याय-सुधा ने इसमे कई श्लोक उद्धृत किये हे तथा ऋषिपुत्र परमेश्वर के जैमिनीय-सूत्रार्थ सग्रह ने बृहट्टीका को कई बार उद्धृत किया हे । श्लोकवार्तिक पर दो टीकाएँ अब तक प्रकाशित हुई हे, यथा---पार्थसारथि का न्यायरत्नाकर एव सुचारित मिश्र की काशिका । तन्त्रवार्तिक के अग्रेजी अनुवाद मे म० म० डा० गगानाथ झा ने उस की आठ टीकाओ का उल्लेख किया है, जिनमे न्यायसुधा या सोमेश्वर का राणक बडी विशद ह, अन्य टीकाएँ अभी पाण्डुलिपियो के रूप मे ही हे । टुप्टीका की कई टीकाएँ ह जो अभी अप्रकाशित ह । पार्थसारथि मिश्र के तन्त्ररत्न मे पू० मी० सू० के कुछ अध्यायो के विपयो पर चर्चा ह । शबर के भाष्य पर प्रभाकर ने 'बृहती' नामक एक टीका लिखी हे, तर्कपाद (पू० मी० सू १।१) पर उसका कुछ अश शालिकनाथ मिश्र की ऋजुविमलापञ्चिका की टीका के साथ प० एस० के० रमानाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ हे (१९३४) । पार्थसारथि की शास्त्रदीपिका पू० मी० सू० पर कोई नियमित टीका नही हे, किन्तु यह उस पर एक अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ह और कुमारिल के मतो को स्वीकार करता हे । एक अन्य अति उपयोगी ग्रन्थ ह माधवाचार्यकृत जैमिनीय-न्याय-माला-विस्तार (आनन्दाश्रम प्रेस, पूना), जो पू० मी० सू० के पद्य मे निष्कर्ष उपस्थित करता हे, उसमे गद्य मे आलोचना भी हे आर प्रभाकर (शालिकनाथ आदि द्वारा 'गुरु' नाम से घोपित) का कुमारिल से अन्तर प्रकट किया गया हे । शालिकनाथ ने स्वतन्त्र रूप से प्रकरणपञ्चिका नामक ग्रन्थ लिखा ह । प्रभाकर के सम्प्रदाय का एक अन्य ग्रन्थ भी हे जो भवनाथ या भवदेव लिखित हे ओर नवविवेक नाम से प्रसिद्ध हे (प० एस० के० रमानाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९३७) । व्यवहार पर लिखित मदनरत्नप्रदीप द्वारा भवनाथ प्रशसित हे और प्रभाकर के सिद्धान्त रूपी कमल के सूर्य कहे गये है । रामानुजाचार्य का तन्त्र रहस्य, जो लगभग १७५० ई० मे प्रणीत हुआ ह, प्रभाकर सम्प्रदाय का अन्तिम महत्त्वपूर्ण

ग्रन्थ है और यह प्रभाकर के ग्रन्थो एव उन पर शालिकनाथ की टीकाओ के विषय मे उपयोगी बाते बताता है। प्रबोध चन्द्रोदय (अक २) ने गुरु, कुमारिल (या तौतातित), शालिकनाथ एव वाचस्पति का उल्लेख करने के उपरान्त महोदधि एव महाव्रती (महाव्रता की कृति) का उल्लेख किया है, जो नयविवेक द्वारा वर्णित है (पृ० २७१ एव २७३)।

प्रभाकर एव कुमारिल मे बहुत सी बातो को लेकर वैभिन्न्य है[३२] पू० मी० सू० के प्रथम सूत्र से ही दोनो के विवाद का आरम्भ हो जाता है[३३]। शालिकनाथ ने प्रकरणपञ्चिका मे कई स्थानो पर प्रभाकर को गुरु कहा है । कुमारिल भट्ट एव प्रभाकर के पारस्परिक काल की स्थिति के विषय मे कई मत पाये जाते है । देखिए म० म० गगानाथ झा कृत 'प्रभाकर सम्प्रदाय' (१९११), ए० बी० कीथ की 'कर्ममीमासा' (१९२१) द्वितीय अखिल भारतीय ओरियण्टल कान्फ्रेस (पृ० ४०८-४१२) एव तृतीय अखिल भारतीय ओरिएण्टल कान्फ्रेस (पृ० ४७४-४८१) तथा जे० ओ० आर० (मद्रास, जिल्द १, पृ० १३१-१४४ एव २०३-२१०) । प्रो० कुप्पुस्वामी ने ही दोनो कान्फ्रेसो का विवरण प्रकाशित किया है । प्रश्न यह उपस्थित है कि शालिकनाथ प्रभाकर के एक साक्षात् शिष्य थे या उनके पश्चात्कालीन अनुयायी मात्र थे । कई बातो के आधार पर प्रस्तुत लेखक के मत मे शालिकनाथ प्रभाकर के सीधे शिष्य से लगते है । शालिकनाथ ने न केवल 'प्रभाकर गुरु' कहा है, प्रत्युत एक

३२ देखिए बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी का जर्नल (जिल्द २, पृ० ३०९-३२५), जहाँ प्रभाकर एव कुमारिल भट्ट के अन्तरो को सस्कृत मे एकत्र किया गया है, विशेषत पृ० ३३१-३३५ जहाँ अन्तरो की तालिका उपस्थित की गयी है। और देखिए प० बी० ए० रमास्वामी शास्त्री द्वारा तत्त्वबिन्दु पर उपस्थित भूमिका (१९३६, पृ० ३७-४०), जहाँ दोनो के कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर व्यक्त है।

३३ भट्ट अर्थात् कुमारिल भट्ट सम्प्रदाय के अनुसार पू० मी० सू० (१।१।१) का 'विषयवाक्य' शतपथ (११।५।६) मे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' तथा तैत्तिरीय आरण्यक (२।१५।१) मे 'एतस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यो य य क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्ट भवतीति' है। प्रभाकर सम्प्रदाय के अनुसार विषय-वाक्य है—'अष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत', जिससे प्रकट होता है कि वेदाध्ययन उपनयन के उपरान्त विद्यार्थी को पढाने की विधि का एक अग मात्र है। विषयवाक्य (स्वाध्यायोऽध्येतव्य) के विरोध मे प्रभाकर सम्प्रदाय का विरोध यह है कि इसमे एक देखा हुआ फल है और जब जाना हुआ (देखा हुआ) फल पाया जाता है तो यह कहना कि बिना देखा हुआ फल है, अनुचित है। देखिए इस महाग्रन्थ की जिल्द ३, पृ० ८३७, जहाँ शबर तथा अन्य लोगो के कतिपय वचन इस कथन के विषय मे उदाहृत है। एकादशीतत्त्व (पृ० ८८-८९, मन्त्र पर) ने पू० मी० सू० (३।२।१) को उद्धृत करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला है—'इति दृष्टार्थसम्पत्तौ नादृष्टमिह कल्प्यते इति'। प्रस्तुत लेखक को यह नहीं ज्ञात हो सका है कि किस वैदिक ग्रन्थ से 'अष्टवर्ष पयीत' ग्रहण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह दृष्टिकोण कि इस वचन मे वेद के अध्यापन की विधि है केवल मनु (२।१४०, ३।२) एव गौतम (१।१०-११) के वचनो से अनुमान निकाला गया है। प्रकरणपञ्चिका (पृ० ६) ने इसे माना है 'क पुनराचार्यकरणविधि' 'उपनीय प्रचक्षते' (मनु २।१४०) इति स्मरणानुमित । इस मत से उपनयन केवल अध्यापन विधि का एक अग है। पद्मपाद (गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल सीरीज, मद्रास, १९५८, दो टीकाएँ भी साथ प्रकाशित है) की पञ्चपादिका के पृष्ठ २२५ पर इस विषयवाक्य ('अष्टवर्ष पयीत') की कटु आलोचना दी हुई है।

ओर कतिपय स्थलो पर उन्हे सम्मानपूर्वक उद्धृत किया हे (यथा—२।१।३२ एव ३२, २।२।२६, २।३।१६, ३।१।६ पर 'अत्र भगवान् वृत्तिकार कहा है , कही-कही यथा ८।१।१ पर 'वृत्तिकारै' बहुवचन मे आया हे)। पू० मी० सू० १।१।३-५, २।१।३३। एव ७।२।६ की टीका मे शबर ने वृत्तिकार से असहमति प्रकट की हे। पू० मी० सू० की सबसे प्राचीन विद्यमान टीका शबर का भाष्य हे। शबर ने पू० मी० सू० के विपयो से तथा कुछ अन्य विपयो से सम्बन्धित बहुत से श्लोक उद्धृत किये है। पू० मी० सू० पर उद्धृत श्लोक २।१।३२, २।१।३३, २।२।१, ४।३।३, ४।४।२१, ४।४।२४ आदि पर पाये जाते ह। ये सभी श्लोक शबर द्वारा पू० मी० सू० की किसी टीका या उस पर लिखे गये किसी ग्रन्थ से उद्धृत हुए है, जिनमे दो-एक सम्भवत किसी श्रौतसूत्र से लिये गये ह ओर दो-एक स्वय उनके द्वारा प्रणीत ह ।

पू० मी० सू० पर बहुत-सी टीकाएँ १०वी तथा उसके पश्चात् की शतियो के लेखको की ह और वे आज भी विद्यमान ह, जिनमे २२ का उल्लेख म० म० गोपीनाथ कविराज ने किया हे (सरस्वतीभवन स्टडीज, जिल्द ६, पृ० १६६)। शबर के भाष्य पर कतिपय टीकाएँ हे, जैसा कि श्लोकवार्तिक से प्रकट हे। कुमारिल के पूर्व की प्रणीत टीकाएँ आज उपलब्ध नही हे।

कुमारिल ने शबर के भाष्य (पू० मी० सू० १।१।) पर श्लोकवार्तिक लिखा जिसमे ४००० श्लोक हे तथा १।२ पर पू० मी० सू० के तीसरे अध्याय के अन्त तक एक विशद तन्त्रवार्तिक लिखा है ओर पू० मी० सू० (अध्याय ४-१२) पर टुप्-टीका लिखी हे (जो छिट-पुट टिप्पणी के रूप मे हे न कि लगातार चलने वाली टीका)। ऐसा कहा जाता हे कि कुमारिल ने पू० मी० सू० पर दो अन्य टीकाएँ भी लिखी हे, यथा—'मध्यमटीका' एव बृहट्टीका। न्यायरत्नाकर ने बृहट्टीका का उल्लेख किया हे, तन्त्रवार्तिक पर न्याय-सुधा ने इससे कई श्लोक उद्धृत किये हे तथा ऋपिपुत्र परमेश्वर के जैमिनीय-सूत्रार्थ सग्रह ने बृहट्टीका को कई बार उद्धृत किया हे। श्लोकवार्तिक पर दो टीकाएँ अब तक प्रकाशित हुई ह, यथा—पार्थसारथि का न्यायरत्नाकर एव सुचरित मिश्र की काशिका। तन्त्रवार्तिक के अग्रेजी अनुवाद मे म० म० डा० गगानाथ झा ने उस की आठ टीकाओ का उल्लेख किया हे, जिनमे न्यायसुधा या सोमेश्वर का राणक बडी विशद ह, अन्य टीकाएँ अभी पाण्डुलिपियो के रूप मे ही हे। टुप्टीका की कई टीकाएँ ह जो अभी अप्रकाशित ह। पार्थसारथि मिश्र के तन्त्ररत्न मे पू० मी० सू० के कुछ अध्यायो के विपयो पर चर्चा ह। शबर के भाष्य पर प्रभाकर ने 'बृहती' नामक एक टीका लिखी हे, तर्कपाद (पू० मी० सू १।१) पर उसका कुछ अश शालिकनाथ मिश्र की ऋजुविमलापञ्चिका की टीका के साथ प० एस० के० रमानाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ हे (१९३४)। पार्थसारथि की शास्त्रदीपिका पू० मी० सू० पर कोई नियमित टीका नही ह, किन्तु यह उस पर एक अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हे और कुमारिल के मतो को स्वीकार करता हे। एक अन्य अति उपयोगी ग्रन्थ हे माधवाचार्यकृत जैमिनीय-न्याय-माला-विस्तार (आनन्दाश्रम प्रेस, पूना), जो पू० मी० सू० के पद्य मे निष्कर्प उपस्थित करता हे, उसमे गद्य मे आलोचना भी हे और प्रभाकर (शालिकनाथ आदि द्वारा 'गुरु' नाम से घोपित) का कुमारिल से अन्तर प्रकट किया गया हे। शालिकनाथ ने स्वतन्त्र रूप से प्रकरणपञ्चिका नामक ग्रन्थ लिखा हे। प्रभाकर के सम्प्रदाय का एक अन्य ग्रन्थ भी हे जो भवनाथ या भवदेव लिखित हे और नयविवेक नाम से प्रसिद्ध हे (प० एस० के० रमानाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९३७)। व्यवहार पर लिखित मदनरत्नप्रदीप द्वारा भवनाथ प्रशमित हे और प्रभाकर के सिद्धान्त रूपी कमल के सूर्य कहे गये है। रामानुजाचार्य का तन्त्र रहस्य, जो लगभग १७५० ई० मे प्रणीत हुआ हे, प्रभाकर सम्प्रदाय का अन्तिम महत्त्वपूर्ण

ग्रन्थ है और यह प्रभाकर के ग्रन्थों एव उन पर शालिकनाथ की टीकाओ के विषय मे उपयोगी बाते बताता है। प्रबोध चन्द्रोदय (अक २) ने गुरु, कुमारिल (या तौतातित), शालिकनाथ एव वाचस्पति का उल्लेख करने के उपरान्त महोदधि एव महाव्रती (महाव्रता की कृति) का उल्लेख किया है, जो नयविवेक द्वारा वर्णित है (पृ० २७१ एव २७३)।

प्रभाकर एव कुमारिल मे बहुत सी बातो को लेकर वैभिन्न्य है[32] पू० मी० सू० के प्रथम सूत्र से ही दोनो के विवाद का आरम्भ हो जाता है[33]। शालिकनाथ ने प्रकरणपञ्चिका मे कई स्थानो पर प्रभाकर को गुरु कहा है। कुमारिल भट्ट एव प्रभाकर के पारस्परिक काल की स्थिति के विषय मे कई मत पाये जाते है। देखिए म० म० गगानाथ झा कृत 'प्रभाकर सम्प्रदाय' (१९११), ए० बी० कीथ की 'कर्ममीमासा' (१९२१) द्वितीय अखिल भारतीय ओरियण्टल कान्फ्रेस (पृ० ४०८-४१२) एव तृतीय अखिल भारतीय ओरिएण्टल कान्फ्रेस (पृ० ४७४-४८१) तथा जे० ओ० आर० (मद्रास, जिल्द १, पृ० १३१-१४४ एव २०३-२१०)। प्रो० कुप्पुस्वामी ने ही दोनो कान्फ्रेसो का विवरण प्रकाशित किया है। प्रश्न यह उपस्थित है कि शालिकनाथ प्रभाकर के एक साक्षात् शिष्य थे या उनके पश्चात्कालीन अनुयायी मात्र थे। कई बातो के आधार पर प्रस्तुत लेखक के मत से शालिकनाथ प्रभाकर के सीधे शिष्य से लगते है। शालिकनाथ ने न केवल 'प्रभाकर गुरु' कहा है, प्रत्युत एक

३२ देखिए बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी का जर्नल (जिल्द २, पृ० ३०९-३२५), जहाँ प्रभाकर एव कुमारिल भट्ट के अन्तरो को सस्कृत मे एकत्र किया गया है, विशेषत पृ० ३३१-३३५ जहाँ अन्तरो की तालिका उपस्थित की गयी है। और देखिए प० वी० ए० रमास्वामी शास्त्री द्वारा तत्त्वबिन्दु पर उपस्थित भूमिका (१९३६, पृ० ३७-४०), जहाँ दोनो के कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर व्यक्त है।

३३ भट्ट अर्थात् कुमारिल भट्ट सम्प्रदाय के अनुसार पू० मी० सू० (१।१।१) का 'विषयवाक्य' शतपथ (११।५।६) मे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' तथा तैत्तिरीय आरण्यक (२।१५।१) मे 'एतस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यो य य क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्ट भवतीति' है। प्रभाकर सम्प्रदाय के अनुसार विषय-वाक्य है--'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत', जिससे प्रकट होता है कि वेदाध्ययन उपनयन के उपरान्त विद्यार्थी को पढाने की विधि का एक अग मात्र है। विषयवाक्य (स्वाध्यायोऽध्येतव्य) के विरोध मे प्रभाकर सम्प्रदाय का विरोध यह है कि इसमे एक देखा हुआ फल है और जब जाना हुआ (देखा हुआ) फल पाया जाता है तो यह कहना कि बिना देखा हुआ फल है, अनुचित है। देखिए इस महाग्रन्थ की जिल्द ३, पृ० ८३७, जहाँ शबर तथा अन्य लोगो के कतिपय वचन इस कथन के विषय मे उदाहृत है। एकादशीतत्त्व (पृ० ८८-८९, मन्त्र पर) ने पू० मी० सू० (३।२।१) को उद्धृत करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला है--'इति दृष्टार्थसम्पत्तौ नादृष्टमिह कल्प्यते इति'। प्रस्तुत लेखक को यह नहीं ज्ञात हो सका है कि किस वैदिक ग्रन्थ से 'अष्टवर्ष ... पयीत' ग्रहण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह दृष्टिकोण कि इस वचन मे वेद के अध्यापन की विधि है केवल मनु (२।१४०, ३।२) एव गौतम (१।१०-११) के वचनो से अनुमान निकाला गया है। प्रकरणपञ्चिका (पृ० ६) ने इसे माना है 'क पुनराचार्यकरणविधि.' 'उपनीय ... प्रचक्षते' (मनु २।१४०) इति स्मरणानुमित। इस मत से उपनयन केवल अध्यापन विधि का एक अग है। पद्मपाद (गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल सीरीज, मद्रास, १९५८, दो टीकाएँ भी साथ प्रकाशित है) की पञ्चपादिका के पृष्ठ २२५ पर इस विषयवाक्य ('अष्टवर्ष ... पयीत') की कटु आलोचना दी हुई है।

स्थान पर उनका कथन है 'हमारे गुरु इसे सहन नही करते'।[३४] शालिकनाथ ने अपनी प्रकरणपचिका मे श्लोकवार्तिक के कई श्लोक उद्धृत किये हैं। मण्डन मिश्र ने पूर्व मीमासा पर कई ग्रन्थ लिखे है, यथा—विधि-विवेक (वाचस्पति की न्यायकणिका के साथ बनारस मे प्रकाशित), भावनाविवेक (उम्वेक की टीका के साथ। सरस्वती भवन सीरीज मे सम्पादित), विभ्रमविवेक एव मीमासानुक्रमणी (चौखम्भा सस्कृत सीरीज)। शास्त्रदीपिका (पू० मी० सू० २।१।१) ने कुमारिल के श्लोको पर मण्डन की व्याख्या उद्धृत की है।[३५] अत मण्डन या तो कुमारिल के पश्चात् हुए या कुमारिल के समकालीन, किन्तु अवस्था मे छोटे थे और लगभग ६६० ई० से ७१० ई० के आसपास हुए। इसके अतिरिक्त शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसग्रह (गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज) मे कुमारिल की कारिकाओं की आलोचना कई बार की है और उसके शिष्य कमलशील ने कुमारिल का नाम कई बार लिया है। शान्तरक्षित ने न तो प्रभाकर का नाम लिया है और न उन्हे उद्धृत ही किया है। उनका काल ७०५–७६२ ई० है। अत कुमारिल को लगभग ६५०–७०० ई० मे अवश्य रखा जा सकता है। शालिकनाथ ने श्लोकवार्तिक एव मण्डन के ग्रन्थो का उल्लेख किया है, अत उन्हे हम ७५०–८०० के बीच मे कही रख सकते हैं। यदि शालिकनाथ प्रभाकर के सीधे शिष्य रहे होगे तो प्रभाकर (जो शान्तरक्षित को अज्ञात थे) या तो कुमारिल के समकालीन (अर्थात् हम उन्हे ७००–७६० के बीच मे या थोडा बाद मे कही रख सकते हे) या कुमारिल के पश्चात् रख सकते हे। प्रभाकर के विषय मे ऐसी परम्परा हे कि वे कुमारिल के शिष्य थे। बहुत-सी परम्पराएँ (यथा विक्रमादित्य के समय के नवरत्न) यो ही उठ खडी होती है, किन्तु हमे उनका तिरस्कार नही कर देना चाहिए, प्रत्युत उनकी जाँच करनी चाहिए।

एक समय प्रभाकर को अति महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। विक्रमादित्य षष्ठ (१०९८ ई०) के गडक शिलालेख मे लक्किगुण्डी नामक स्थान पर प्रभाकर के सिद्धान्त को पढाने के लिए एक पाठशाला की स्थापना का उल्लेख है। (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १५, पृ० ३४८)। इस उल्लेख तथा मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४) मे पाये गये निर्देश से पता चलता है कि प्रभाकर सम्प्रदाय का ११ वी शती मे पर्याप्त प्रभाव था। विशेषत कर्नाटक एव महाराष्ट्र देशो मे। मदनपारिजात ने (जो १३६०–१३९० मे लिखित उत्तर भारतीय ग्रन्थ है) गुरु का एक आधा श्लोक उद्धृत किया है। स्मृतिचन्द्रिका (व्यवहार, पृ० २५७), वीरमित्रोदय (व्यवहार, पृ० ५२३) आदि ने भवनाथ के नयविवेक (प्रभाकर सम्प्रदाय का अन्तिम उत्कृष्ट ग्रन्थ) का उल्लेख किया है। धीरे-धीरे प्रभाकर

३४ यच्च बह्वीषु, ज्वालास्वेकवर्तिवर्तिनीषु ज्वालात्वं सामान्यं प्रत्यभिज्ञागोचर कैश्चिदिष्यतेतदपि गुरुरस्माक न मृष्यति। प्रकरण० (पृ० ३१)। यदि वे पश्चात्कालीन अनुयायी मात्र होते और शिष्य न होते तो केवल 'गुरुर्न मृष्यति' ही कहते।

३५ शास्त्रदीपिका (पू० मी० सू० २।१।२) मे आया है 'उक्त ह्येतदाचार्यै'। धात्वर्थ व्यतिरेकेण . गम्यते॥' यह तन्त्रवार्तिक (पृ० ३८२) मे पाया जाता है, इसके उपरान्त शास्त्रदीपिका पुन कहती है, विवृत चैतन्मण्डनेन 'कथ्यमानाद्रूप भावना कि प्रदुष्यति।।' यह भावनाविवेक मे पाया जाता है (पृ० ८०, थोडा-सा अन्तर है)। भावनाविवेक (पृ ६१) मे आया है 'तथा क्रमव्रतोर्नित्य' प्रतीयते'। यह तन्त्रवार्तिक (पृ० ३८१) मे आया है। दुख है कि म० म० गगानाथ झा (पूर्वमीमासा की भूमिका, पृ० २१) ने बहुत ही दुर्बल आधार पर (शास्त्रदीपिका के शब्दो पर) यह कह दिया है कि मण्डन ने तन्त्रवार्तिक पर एक टीका लिखी है।

सम्प्रदाय की प्रसिद्धि कम हो गयी और कुमारिल का भट्ट-सम्प्रदाय कई शतियो तक महत्त्वपूर्ण बना रहा। प्रस्तुत लेखक का मत है कि प्रभाकर कुमारिल के पश्चात् हुए हैं, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि उन्होने किस व्यक्ति से अपने विलक्षण दृष्टिकोण ग्रहण किये अथवा ये दृष्टिकोण उनके अपने थे (यह दूसरी बात अधिक ठीक लगती है)। प० के० एस० रमास्वामी शास्त्री (तन्त्ररहस्य की भूमिका, १९५६) ने कहा है कि प्रभाकर सम्प्रदाय के विचार बादरि के है। इस विद्वान ने कोई विशिष्ट तर्क नही उपस्थित किया है और न कोई प्रमाण ही उपस्थित किया है कि बादरि के सिद्धान्त भर्तृमित्र के मत से मिलते थे। भर्तृमित्र ने पू० मी० सू० की ऐसी व्याख्या की है जो ईश्वरवादी वही जाती है। मीमासा के विषयो पर बादरि के मत केवल चार बार पू० मी० सू० मे उद्धृत हैं (यथा ३।१।३ मे कौन से विषय शेष हैं, ६।१।२७ मे, वैदिक यज्ञ शूद्रो द्वारा भी सम्पादित हो सकते हैं, ८।३।६ मे, केवल शुद्ध यज्ञिय विषय, ९।३।३३ मे, सामवेद के गायन की विधि के विषय मे)। इन सभी स्थलो पर कही भी भर्तृमित्र के ईश्वरवादी मत या प्रभाकर के सिद्धान्तो का कोई सम्बन्ध नही है।

कुमारिल के पश्चात् मीमासा के सिद्धान्तो पर या पू० मी० सू० के विषयो पर बहुत-सी टीकाएँ, टीकाओ पर टीकाएँ एव सार-ग्रन्थ प्रणीत हुए। गत पचास-साठ वर्षों मे आज के विद्यमान खण्डित या पूर्ण ग्रन्थो के, उनके आरम्भिक लेखको के तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धो के विषय मे बहुत से कठिन एव पेचीदे प्रश्न उठ खडे हुए हैं और इन सभी बातो के विषय मे बहुत-से निबन्ध लिखे गये हैं। प्रस्तुत लेखक ने उनमे अधिकाश का अवलोकन कर लिया है, यदि उन सभी ग्रन्थो का उल्लेख तथा उन पर विवेचन उपस्थित किया जाय तो एक पृथक् ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता पड जायेगी। हम ऐसा यहाँ नही कर सकते। सादृश्य स्थापन तथा सम्बन्ध-ज्ञान के विषय मे कुछ प्रश्नो का उत्तर यहाँ दिया जा रहा है।

(१) क्या प्रभाकर कुमारिल के शिष्य थे? इसका उत्तर यह है कि इस विषय मे हमे कोई पुष्ट प्रमाण नही प्राप्त होता, केवल परम्परा का उल्लेख मात्र मिलता है, किन्तु प्रभाकर निश्चित रूप से कुमारिल के पश्चात् हुए थे।

(२) क्या शालिकनाथ प्रभाकर के साक्षात् शिष्य थे? हाँ।

(३) क्या मण्डन मिश्र कुमारिल के शिष्य थे? स्पष्ट उत्तर के लिए हमारे पास कोई पुष्ट प्रमाण नही है, किन्तु स्वय मण्डन ने अपने भावनाविवेक मे कुमारिल का एक श्लोक व्याख्यायितकिया है और तन्त्र-वार्तिक से एक श्लोक उद्धृत किया है। विधिविवेक मे भी, जिसे मण्डन ने भावनाविवेक के उपरान्त लिखा, उन्होने तन्त्रवार्तिक से उद्धरण लिया है। इसी विधिविवेक मे उन्होने श्लोकवार्तिक को उद्धृत किया है। मण्डन ने प्रभाकर की बृहती से अपने विधिविवेक मे उद्धरण दिया है। अत मण्डन, यदि कुमारिल के शिष्य नही थे, तो उनके पश्चात् हुए थे या उनके समकालीन, किन्तु अवस्था मे छोटे थे।

(४) क्या मण्डन एव उम्बेक एक ही हैं? नही। उम्बेक ने मण्डन के भावनाविवेक पर एक टीका लिखी जिसमे पृ० १७ एव ७६ पर उन्होने इसके कई भाषान्तरो का उल्लेख किया है। यह सम्भव नही है कि स्वय लेखक अपने ग्रन्थ पर विभिन्न भाषान्तरो का उल्लेख करेगा और उनकी व्याख्या उपस्थित करेगा। यदि दोनो एक होते तो ऐसी बात न होती।

(५) क्या मण्डन एव विश्वरूप एक ही हैं? नही।

(६) क्या विश्वरूप एव सुरेश्वर एक ही है? हाँ। जब विश्वरूप सन्यासी हो गये तो उन्होने अपना नाम सुरेश्वर रख लिया।

(७) क्या उम्बेक एव भवभूति एक ही हैं ? ऐसा समझने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नही है, किन्तु यह सम्भव है कि दोनो एक ही हों।

(८) क्या उम्बेक कुमारिल के शिष्य थे ? हाँ।

(९) क्या सुरेश्वर शकराचार्य के शिष्य थे ? हाँ।

उपरोक्त प्रश्नो एव उत्तरो के आधार पर हम नीचे पू० मी० के लेखको का कालक्रम उपस्थित कर रहे हैं, यथा—कुमारिल , प्रभाकर, मण्डन, उम्बेक, शालिकनाथ। ये लोग ६५० ई० एव ७५० ई० के बीच हुए थे और उनमे कुमारिल सबसे पहले हुए थे, प्रभाकर (जिन्होने किरातार्जुनीय (२।३०) को दो बार उद्धृत किया है) एव मण्डन दोनो समकालीन थे या मण्डन प्रभाकर से अवस्था मे छोटे थे।

बृहदारण्यकोपनिषद् एव तैत्तिरीयोपनिषद् पर शकर के भाष्य पर सुरेश्वर के वार्तिक के आरम्भिक एव अन्तिम श्लोक इस विषय मे कोई सन्देह नही छोडते कि सुरेश्वर शकर के शिष्य थे।

प्रस्तुत लेखक के लेख (जे० बी० बी० आर० ए० एस०, पृ० २८९–२९३) एव प्रो० कुप्पुस्वामी के मण्डन एव सुरेश्वर से सम्बन्धित लेख से (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १८, पृ० १२१–१५७) प्रकट होता है कि मण्डन एव सुरेश्वर एक ही व्यक्ति नही हैं।

अब हम नीचे पूर्वमीमांसा से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो एव लेखको की काल-तिथियो का उल्लेख करेंगे। इन तिथियो मे बहुत-सी केवल अनुमान पर आधारित हैं।

जैमिनि का पूर्वमीमांसासूत्र ई० पू० ४०० से ई० पू० २००।

वृत्तिकार शबर द्वारा उद्धृत वृत्तिकार के विषय मे कई विरोधी मत हैं। शास्त्रदीपिका में पार्थसारथी ने लिखा है कि वे उपवर्ष हैं। शबर ने वृत्तिकार को बडी श्रद्धा से उल्लिखित किया है, किन्तु कई स्थानो पर उन्होने उनसे अपना मतभेद भी प्रकट किया है। दोनो मीमासाओ पर लिखी गयी कृतकोटी नामक एक वृहद् टीका पञ्चहृदय द्वारा बोधायन द्वारा लिखी कही गयी है। यह अवलोकनीय है कि पू० मी० सू० पर लिखे गये किसी आरम्भिक ग्रन्थ द्वारा बोधायन का नाम नही लिया गया है और न शकर ने ही उनका नाम लिया है, यद्यपि उन्होने उपवर्ष का नाम दो बार लिया है। यद्यपि रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर लिखे गये, श्रीभाष्य के आरम्भिक शब्दो द्वारा ब्रह्मसूत्र पर बोधायन द्वारा प्रणीत एक विशाल टीका का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होने ऐसा नही लिखा है कि बोधायन ने पू० मी० सू० पर कोई टीका लिखी है। प्रस्तुत लेखक यह मानने को सर्वथा सन्नद्ध नही है कि शबर द्वारा इतनी बार उल्लिखित वृत्तिकार उपवर्ष ही हैं। शबर ने पू० मी० सू० (१।१।३–५) पर टीका करते हुए वृत्तिकार की विभिन्न व्याखाओ का उल्लेख विस्तार के साथ किया है और उसी बीच में उपवर्ष के मत का भी उद्‌घाटन किया है। शबर ने दोनो को, ऐसा प्रतीत होता है, अलग-अलग माना है। यह बात कि तन्त्रवार्तिक ने उपवर्ष एव वृत्तिकार को एक ही माना है, सिद्ध नही है। स्वय कुमारिल से हमे ज्ञात है कि शबर से पूर्व एव पश्चात् पू० मी० सू० पर कई वृत्तियाँ लिखी गयी थी। अत यह सम्भव है कि कुमारिल ने उपवर्ष को वृत्तिकार समझ लिया हो (२।३।१६), यद्यपि शबर-भाष्य के अन्य स्थलो पर उल्लिखित वृत्तिकार विभिन्न व्यक्ति हो सकते हैं।

उपवर्ष ई० पू० १०० एव ई० पश्चात् १०० के बीच मे।

भवदास श्लोकवार्तिक (प्रतिज्ञासूत्र , श्लोक ६३) ने इनका नाम लिया है और न्यायरत्नाकर की व्याख्या के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि भवदास शबर से पूर्व हुए थे। इनका काल १०० ई० एव २०० ई० के मध्य मे है।

: २०० एव ४०० ई० के बीच मे (सम्भवत २०० ई० के आसपास) । तन्त्रवार्तिक (२।३।२३, २।३।२७ एव ३।४।३१) से प्रकट होता है कि भाष्यकारान्तर नामक एक अन्य व्यक्ति था जो शबर से पूर्व हुआ था। तन्त्रवार्तिक (३।४।१२) एव टुपटीका (६।५।१०) से पता चलता है कि कुमारिल ने कही-कही वृत्तिकार शब्द शबर के लिए भी प्रयुक्त किया है।

भर्तृमित्र श्लोकवार्तिक के १० वें श्लोक पर नयरत्नाकर का कथन है कि भर्तृमित्र ने मीमासा को ईश्वर-वादी माना है। उम्बेक के कथनानुसार (तात्पर्यटीका, पृ० ३) उसका ग्रन्थ तत्त्वशुद्धि कहलाता था। काल ४०० एव ६०० ई० के बीच मे।

कुमारिल लगभग ६५०–७०० के बीच मे।

प्रभाकर शबर के भाष्य पर बृहती के लेखक। काल ६७५–७२५ ई० के बीच मे। कुमारिल के शिष्य या उनसे छोटी अवस्था के उन्ही के समकालीन । पूर्वमीमासा एव वेदान्त दोनो पर लिखा । विधिविवेक (पृ० १०९) मे बृहती को उद्धृत किया है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—भावनाविवेक, विभ्रमविवेक एव मीमासानुक्रमणिका । काल, ६८०–७२० ई० के बीच मे कही । और देखिए ए० बी० ओ० आर० आई०, (जिल्द १८, पृ० १२१–१५७, प्रो० कुप्पुस्वामी शास्त्री), जे० आई० एच० (जिल्द १५, ए० ए० ३२०–३२९)।

उम्बेक कुमारिल के शिष्य , कुमारिल के श्लोकवार्तिक एव मण्डन के भावनाविवेक के टीकाकार। सामान्यत उम्बेक को लोग नाटककार भवभूति मानते है। काल–७००–७५० ई० के बीच मे।

शालिकनाथ प्रभाकर के शिष्य, प्रभाकर के ग्रन्थ बृहती पर ऋजुविमला नामक टीका के लेखक तथा प्रकरणपञ्चिका नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के प्रणेता। यह महत्त्वपूर्ण है कि बृहती की टीका ऋजुविमला मे उन्होने श्लोकवार्तिक का एक श्लोक उद्धृत किया है और कुमारिल को वडे सम्मान के साथ (यदा हुर्वार्तिककार–मिश्रा) उल्लिखित किया है। काल, ७१०–७७० ई० के मध्य मे कही।

सुरेश्वर (सन्यासी होने के पूर्व विश्वरूप कहे जाते थे)। शकराचार्य के शिष्य । काल, ८००–८४० ई० के मध्य मे कही।

वाचस्पति मिश्र सभी शास्त्रो पर प्रसिद्ध ग्रन्थो का निर्माण किया है। मण्डन के विधिविवेक पर न्याय-कणिका एव शकर भाष्य पर भामती के लेखक। काल, ८२०–९०० ई० के बीच मे।

पार्थसारथि मिश्र शास्त्रदीपिका (निर्णय सागर प्रेस, १९१५), न्यायरत्नाकर (श्लोकवार्तिक की टीका), तन्त्ररत्न (टुप्टीका की टीका) एव न्यायरत्नमाला (गायकवाड सस्कृत सीरीज मे रामानुजाचार्य के नायक रत्न की टीका के साथ प्रकाशित) के लेखक का काल, ९००–११०० ई० के बीच मे कही।

पार्थसारथि के पश्चात् के अन्य लेखको के विषय मे हम सक्षेप में यो कह सकते हैं—**सुचारितमिश्र**, श्लोक-वार्तिक पर काशिका नामक टीका के लेखक, **भवनाथ या भवदेव**, नयविवेक (मद्रास यूनिवर्सिटी सस्कृत सीरीज, रविदेव की टीका विवेकतत्त्व के साथ) के लेखक, काल, १०५०–११५० ई०, **सोमेश्वर**, माधव के पुत्र, न्याय-शुद्धि या राणक (तन्त्रवार्तिक पर एक विस्तृत टीका) के लेखक, काल, १२०० ई० के लगभग, **मुरारिमिश्र**, जो मीमासा के तीसरे सम्प्रदाय (मुरारेस्तृतीय पन्था) के सस्थापक कहे जाते हैं, त्रिपादीनीतिनयन एव अगत्वनिरुक्ति के लेखक, काल, ११५०–१२२० के बीच, **माधवाचार्य**, जैमिनीय–न्यायमाला विस्तर के लेखक, काल , १२९७ १३८६, **अप्पय दीक्षित**, विधिरसायन के लेखक, विभिन्न शास्त्रो पर लगभग १०० या १०८ ग्रन्थो के लेखक, १५२०–१५९३ के मध्य हुए थे , ऐसा कहा जाता है, कुछ लोग इन्हे १५५४–१६२६ की तिथि देते हैं, **लौगाक्षि**

भास्कर, अर्थसंग्रह के लेखक, शंकर भट्ट, मीमांसा बालप्रकाश के लेखक, काल १५५०–१६२० ई० , आपदेव, अनन्तदेव के पुत्र, मीमांसा न्यायप्रकाश के प्रणेता, काल १६१०–१६८० ई० ।

खण्डदेव। भाट्टदीपिका एव 'भाट्ट रहस्य' के साथ भाट्ट कौस्तुभ के लेखक, काल, १६००–१६६५ ई० ।

गंगाभट्ट या विश्वेश्वर भट्ट दिनकर भट्ट के पुत्र, भाट्टचिंतामणि के लेखक, १६२०–१६८० ई० ।

रामानुजाचार्य तन्त्ररहस्य के लेखक, प्रभाकर सम्प्रदाय एव नायकरत्न पार्थसारथि की न्यायरत्नमाला की टीका से सम्बन्धित, काल , लगभग, १५००–१५७५ ई० ।

मीमांसाकोश (संस्कृत मे) पूर्वमीमांसा पर एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण सर्वशास्त्रीय ग्रन्थ, जिसे स्वामी केवलानन्द सरस्वती ने लिखा है। इसे महाराष्ट्र प्रदेश के सतारा जिले मे वाई नामक स्थान मे प्रज्ञा पाठशाला मण्डल ने प्रकाशित कराया है।

वे लोग जो पूर्वमीमांसा सूत्र पर आगे अनुसंधान कार्य करना चाहते है, उनकी सुविधा के लिए हम नीचे कुछ ग्रन्थो एव निबन्धो की सूची दे रहे हैं। म० म० गंगानाथ झा ने शबरभाष्य (३० जिल्दो मे, गायकवाड संस्कृत सीरीज), तन्त्रवार्तिक एव श्लोकवार्तिक (बिब्लियोथेका इण्डिका, कलकत्ता १६००) के अंग्रेजी अनुवाद किये हैं तथा उनके कुछ निबन्ध भी हैं। कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ एव निबन्ध निम्नोक्त हैं —

मैक्समूलर का ग्रन्थ 'सिक्स-सिस्टम्स आव् इण्डियन फिलॉसॉफी, १८६६ ई०, म० म० गंगानाथ झा कृत पूर्वमीमांसा का प्रभाकर सम्प्रदाय (अंग्रेजी मे) , १६११, ए० बी० कीथ कृत कर्ममीमांसा, १६२१, प्रो० दासगुप्त की इण्डियन फिलॉसॉफी (जिल्द १, पृ० ३६७–४०५) १६२२, प्रस्तुत लेखक का निबन्ध (ए० बी० ओ० आर० आई० जिल्द ६, पृ० ७–४०, १६२५), प्रो० एम० हिरियन्ना का ग्रन्थ 'आउटलाइंस आव इण्डियन फिलॉसॉफी', १६३२, प० वी० ए० रमास्वामी शास्त्री द्वारा वाचस्पति मिश्र के तत्त्वबिन्दु के संस्करण पर पूर्वमीमांसा शास्त्र सम्बन्धी लघु ऐतिहासिक निबन्ध, १६३६, डा० राधाकृष्णन् कृत 'इण्डियन फिलॉसॉफी १६४१, प्रो० सी० कुन्हनराजाकृत (श्लोकवार्तिक पर उम्बेक की टीका तात्पर्यटीका पर) भूमिका, १६४०, गंगानाथ झा कृत 'पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेज, १६४६), जिसमे डा० उमेश मिश्र ने एक समीक्षात्मक ग्रंथ-पुटी जोड दी है, डा० डी० बी० गर्ग कृत 'साइटेशंस इन शबरभाष्य', १६५२, प० के० एस० रामस्वामी शास्त्री की रामानुजाचार्य के तन्त्ररहस्य पर भूमिका, १६५६, प्रो० जी० वी० देवस्थली का 'मीमांसा– दि वाक्य शास्त्र आव एंश्एंट इण्डिया', १६५६, श्री नटराज ऐय्यर कृत मीमांसा जूरिसप्रूडेंस (झा रिसर्च इन्स्टीच्यूट, प्रयाग)।

अध्याय २९

पूर्वमीमासा के कुछ मौलिक सिद्धान्त

इस अध्याय मे हम पूर्वमीमासा के कुछ विशिष्ट मौलिक सिद्धान्तो को, कुछ सकेतो एव उन पर रची गयी कुछ टिप्पणियो के साथ उपस्थित करेगे। यथास्थान हम प्रभाकर एव उनके अनुयायियो के मतो की ओर भी निर्देश करते रहेगे।

(१) वेद नित्य, स्वयभू एव अपौरुषेय है और अमोघ है यही पूर्वमीमासा सिद्धान्त का हृदय या सार है। देखिए पू० मी० सू० (१।१।२७-३२) एव शबर (१।१।५) तथा श्लोकवार्तिक (व्याक्याधिकरण, श्लोक ३६६-३६८)।[1] सक्षिप्त रूप से तर्क यो है—वेद आज भी पढा जाता है और प्राचीनकाल मे भी गुरुओ से पढा जाता था, इस विषय मे कोई प्रमाण नही मिलता कि किसने इसका प्रणयन किया या किसने इसे सर्वप्रथम पढा। यदि ऐसा कहा जाय कि इस प्रकार का तर्क महाभारत के विपय मे भी दिया जा सकता है, तो उत्तर यह है कि लोग यह जानते है कि व्यास ने इसे लिखा है। इसी प्रकार स्मृतियो एव पुराणो मे जो यह कहा गया है कि प्रजापति ने वेद का प्रणयन किया, तो यह केवल अर्थवादमात्र है जो किसी साक्ष्य या प्रत्यक्ष पर आधृत नही है, और वह केवल वेद की प्रामाणिकता को स्थापित करने के लिए ही है। यदि शब्द एव अर्थ का सम्बन्ध नित्य है और वह किसी व्यक्ति द्वारा उत्पन्न नही है तो वही तर्क वेद के विपय मे भी है। यह मत नैयायिको के मत से भिन्न है। नैयायिको का कथन है कि वेद का प्रणेता ईश्वर है। यह मत वृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।१०) पर आधृत शकराचार्य द्वारा वे० सू० (१।१।३, शास्त्रयोनित्वात्) की व्याख्या से भी भिन्न है। मनु० (१।२१, जिसमे आया है कि ब्रह्मा ने वेद के शब्दो से सबके कर्तव्यो एव नामो की उत्पत्ति की है) मे ऐसा कहा लगता है कि वेद स्वयभू है। इसी प्रकार महाभाष्य (वार्तिक ३, पाणिनि ४।३।१०१, 'तेन प्रोक्तम्') मे आया है कि वेदो का प्रणयन किसी

१ पू० मी० सू० (१।१।५) पर शबर ने टीका की है–'तस्मान्मन्यामहे केनापि पुरुषेण शब्दानामर्थैं सह सम्बन्धं कृत्वा सव्यवहर्तुं वेदा प्रणीता इति । इदिदानीमुच्यते । अपौरुषेयत्वात्सम्बन्धस्य सिद्धिमिति। कथ पुनरिदमवगम्यतेऽपौरषेय एव सम्बन्ध इति। पुरुषस्य सम्बन्धुरभावात्। कथ सम्बन्धो नास्ति। प्रत्यक्षस्य प्रमाणास्याभावात् तत्पूर्वकत्वाच्चेतरेषाम्', वेदस्याध्ययन सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययन यथा ॥ भारतेपि भवेदेव कर्तृस्मृत्या तु वाध्यते। वेदेपि तत्स्मृतिर्यातु सार्थवाद निवन्धना॥ पारम्पर्येण कर्तार नाध्येतार स्मरन्ति हि। श्लोकवार्तिकवाक्याधिकरण श्लोक–३६६–३६८, प्रकरणपञ्चिका (पृ० १४०) मे टिप्पणी है 'कथ पुनरपौरुषेयत्व वेदान। । पुरुषस्य कर्तुरस्मरणात् काठकादिसमाख्यापि न कर्तृसद्भावमुपकल्पयितुमलम्। प्रवचनेनापि तदुपपत्ते' । जव तर्क रूप मे कहा जाय तो यो कथन उपस्थित किया जा सकता है 'वेदा अपौरुषेया, अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्। यन्नैव तन्नैव यथा महाभारत रघुवशादि।' शकराचार्य (वे० सू० १।३।२९, अतएव च नित्यत्वम्) ने अपने भाष्य का आरम्भ यो किया है 'स्वतन्त्रस्य कर्तुरस्मरणादिभि स्थिते वेदस्य नित्यत्वे।'

के द्वारा नही हुआ, प्रत्युत वे नित्य हैं, वेद का अर्थ नित्य है, किन्तु अक्षरो की व्यवस्था नित्य नही है, इसी से काठक, कालापक, पैप्पलादक आदि कई विभिन्न वैदिक सप्रदाय हैं। स्मृतियाँ भी कभी-कभी कहती हैं कि वेद का कोई लेखक नही है, ब्रह्मा इसे स्मरण रखते हैं और मनु भी विभिन्न कल्पो मे धर्म को स्मृति मे धारण करते हैं (पराशर-स्मृति १।२१)।

पू० मी० सू० (१।१।२८, अनित्यदर्शनाच्च) मे वेद की नित्यता के विरोधी कुछ ऐसे वचन हमारे समक्ष रखे गये हैं, यथा 'बबर प्रावाहणि (प्रवाहण के पुत्र) ने ऐसी इच्छा की' (तै० स० ७।१।१०।२) एव 'कुसुरुविन्द औद्दालकि ने इच्छा की' (तै० स० ७।२।२।१) जिनमे प्रावाहणि एव औद्दालकि (उद्दालक के पुत्र) के नाम आये हैं, जो मरणशील हैं, अत वे अर्थात् विरोधी, तर्क रखते है कि इन मरणशील लोगो के पूर्व वेद नही था, अत वह नित्य नही कहा जा सकता। इसका उत्तर पू० मी० सू० (१।१।३१, 'परतु श्रुतिसामान्यम्') मे यह है कि ऐसे उदाहरणो की व्याख्या विभिन्न ढग से होनी चाहिए, यथा—'बबर' एक ऐसा शब्द है जो अर्थ का अनुसारी है। अर्थात् उसके साथ चलने वाला है, और इसका अर्थ है मर्मर ध्वनि करने वाला तथा 'प्रावाहणि' (प्र+वाह्य) का अर्थ है वायु।

यह द्रष्टव्य है कि जैमिनि एव यास्क की कई शतियो पूर्व 'ऐतिहासिक' नामक वैदिक व्याख्याताओ का सम्प्रदाय था। उदाहरणार्थ, ऋ० १०।९८।५ एव ७ मे ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि एव शन्तनु की ओर निर्देश है। यास्क (निरुक्त २।१०) ने 'तत्र-इतिहासमाचक्षते' नामक शब्दो के साथ कहा है कि देवापि एव शन्तनु कुरु वश के भाई थे तथा छोटा भाई शन्तनु बडे भाई के अधिकारों को दबा कर राजा बनाया गया और ये शब्द उन्ही की ओर निर्देश करते हैं। ऋ० (१०।१०) मे यम एव यमी के बीच कथनोपकथन है और निरुक्त (५।२) मे इसके ८वें पद्य की ओर सकेत है। जो लोग वेद को नित्य मानते है वे ऐसी व्याख्या उपस्थित करेंगे कि यम का अर्थ है आदित्य एव यमी का रात्रि। ऋ० (३।३३) मे ऋषि विश्वामित्र एव नदियो मे एक सवाद है। निरुक्त (२।५-२७) ने ५-६ एव १० पद्यो का अर्थ ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किया है और कहा है कि विश्वामित्र राजा कुशिक के पुत्र थे।

दोनो अश्विनो के विषय मे निरुक्त (१२।१) ने कई मत दिये हैं, यथा—वे स्वर्ग एव पृथिवी है या दिन एव रात हैं या सूर्य एव चन्द्र हैं और कहा है कि ऐतिहासिको के मतानुसार वे ऐसे राजा थे जिन्होंने धन-सम्पत्ति एकत्र की थी। सम्भवत नैरुक्त लोग आपस मे एक मत नही रखते थे और उन्होने ऐसी व्याख्या की कि दोनो अश्विन्, विभिन्न प्राकृतिक रूपो के परिचायक थे। वृत्र के विषय मे, जो ऋ० (१।३२।११) मे आया है, नैरुक्तो का कथन है कि (निरुक्त २।१६) इस शब्द का अर्थ है 'बादल', किन्तु ऐतिहासिक लोगो के अनुसार वह (वृत्र) एक असुर था, जो त्वष्टा का पुत्र था। ऋ० (१।१०५) के १९ पद्यो (जिसके १८ पद्यो मे "वित्त मे अस्य रादसी" नामक टेक आयी है, मे निरुक्त (४।६) का कथन है कि यह सूक्त उस त्रित द्वारा रचा गया था जो कूप मे फेंक दिया गया था। ऋ० (७।३३।११) मे उर्वशी एव वसिष्ठ (मैत्रा—वरुण) का, जो उर्वशी से उत्पन्न हुए थे, उल्लेख है और निरुक्त (५।१३—१४) ने व्याख्या की है कि उर्वशी अप्सरा थी। ऋ० (१०।९५) मे ऐल पुरूरवा एव उर्वशी के बीच कथनोपकथन है। किन्तु नैरुक्तो एव ऐतिहासिको की व्याख्या उस कथा के विषय मे नही आयी है। सम्भवत नैरुक्त लोग उर्वशी को 'बिजली' के तथा पुरूरवा को गर्जन करते वायु के अर्थ मे लेते हैं। ऋ० (१०।१०८) में सरमा (इन्द्र की कुतिया) एव पणियो के बीच सवाद है। निरुक्त (११।२५) मे व्याख्या है और कहा गया है कि इसमें एक आख्यान (कहानी) है, यथा—इन्द्र द्वारा भेजी गयी

सरमा नामक कुतिया एव पणियो (जो असुर थे) के बीच बातचीत हुई थी। इन सभी उपर्युक्त कथानको मे नैरुक्तो के अनुसार प्राकृतिक स्वरूपो की ओर निर्देश है, किन्तु ऐतिहासिको के अनुसार इनमे ऐतिहासिक आधार है। यद्यपि निरुक्त द्वारा यह स्पष्ट रूप से नही व्यक्त किया गया है कि ऐतिहासिक लोग वेद को नित्य नही मानते, किन्तु उनकी (ऐतिहासिको की) व्याख्याओ से प्रकट होता है कि वे लोग वेद की नित्यता के सिद्धान्त को नही मानते।

(२) **शब्द एव अर्थ का सम्बन्ध नित्य है**[२] यह शबर (१।१।५) द्वारा व्याख्यायित किया गया है कि कोई ऐसा व्यक्ति नही है जो शब्द एव अर्थ के सम्बन्ध को समझाने मे समर्थ हो सका हो। देखिए पू० मी० सू० (१।१।६–२३) और शबर का भाष्य, श्लोकवार्तिक (४४४ श्लोक आये हैं) एव प्रकरणपञ्चिका (पृ० १३३–१४०)। इस प्रश्न पर कि 'गौ' के समान कोई शब्द क्या व्यक्त करता है, पू० मी० सू० ने उत्तर दिया है कि एक कोई भी शब्द 'आकृति' (या जाति) अर्थात् सार्वजनीन या एक विशिष्ट वर्ग का द्योतक है। सक्षेप मे, मीमासको का कथन है कि शब्द, अर्थ एव दोनो का सम्बन्ध नित्य है। देखिए पू० मी० सू० (१।३।३०–३५)।

(३) **आत्मा** पू० मी० सू० ने किसी भी सूत्र मे आत्मा के अस्तित्व के विषय मे कोई बात स्पष्ट रूप मे नही लिखी है। शकराचार्य ने वे० सू० (३।३।५३) की व्याख्या मे इस बात की ओर निर्देश किया है और कहा है कि भाष्यकार शबर ने आत्मा के अस्तित्व के विषय मे उद्घोष किया है तथा श्रद्धेय उपवर्ष ने पूर्वमीमासा की अपनी व्याख्या मे यह कहकर कि वे शारीरिक (अर्थात् वेदान्तसूत्र) के विषय मे विवेचन करते समय इस विषय मे विचार करेंगे, इस प्रश्न पर विचार करने से अपने को रोक दिया है। सम्भवत आत्मा-सम्बन्धी वक्तव्य के अभाव मे कुछ लोगो ने पूर्वमीमासा को अनीश्वरवादी कह डाला है। कुमारिल ने अभियोग लगाया है कि यद्यपि मीमासा अनीश्वरवादी नही है तथापि कुछ लोगो ने इसे लोकायत[३] कह डाला है, और इसी से

२ सूत्र (पू० मी० सू० १।१।५) मे कई निष्कर्ष निहित हैं। प्रथम यह है–'औत्पत्तिक (नित्य) शब्दस्य अर्थेन सम्बन्ध दूसरा है–'तस्य, ज्ञानमुपदेश (उपदेश, इसको, अर्थात् धर्म को जानने का साधन है), यहाँ ज्ञान का अर्थ है 'ज्ञायते येन' (श्लोकवार्तिक, औत्पत्तिक सूत्र, श्लोक८९), दूसरा अश है– 'अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे (जो प्रत्यक्ष नहीं है उसके लिए यह अव्यतिरेक है, अमोघ या निश्चित है), तत्प्रमाणमनपेक्षत्वात्, अर्थात् वैदिक आज्ञा ज्ञान का एक उचित साधन है क्योकि यह स्वतन्त्र है, बादरायणस्य (यही बादरायण का भी मत है)। 'शब्द क्या है ?' का उत्तर विभिन्न लेखको ने विभिन्न ढगो से दिया है। श्रद्धास्पद उपवर्ष का कथन है कि 'गौ.' ऐसे शब्द मे अक्षर ही शब्द के द्योतक हैं (देखिए शबर, १।१।५ एव शकर, वे० सू० १।३।२८)। अन्य मत यह है कि अक्षर 'स्फोट' को व्यक्त करते हैं और स्फोट ही अर्थ का परिचायक होता है। इस विषय पर यहाँ विचार नहीं किया जा सकता।

३ प्रायेणैव हि मीमासा लोके लोकायतीकृता। तामास्तिक पथे कर्तुमयं यत्न कृतो मया।। श्लोक वा० (श्लोक १०)। न्यायरत्नाकर ने टिप्पणी दी है कि भर्तृमित्र ने मीमासा के विषय में कई त्रुटिमय सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं यथा–आवश्यक कर्मो या निषिद्ध कर्मों के सम्पादन से वाञ्छित या अवाञ्छित फलो की प्राप्ति नहीं होती। देखिए इस महाग्रन्थ की जिल्द ३, पृ०–४६–४७, टिप्पणी ५७ एव जिल्द २, पृ० ३५८–३५९ जहाँ लौकायितो एव नास्तिको का उल्लेख है। लोकायत का अर्थ समय-समय पर बदलता रहता है। कौटिल्य (१।२) ने लोकायत को सांख्ययोग के साथ आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत रखा है। पाणिनि को 'लोकायत' का ज्ञान था। उनके सूत्र (४।२।६०) मे 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' है और उक्थादिगण मे लोकायत द्वितीय शब्द है। इस

उन्होने अपने श्लोकवार्तिक मे यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि यह मीमासा आत्मा एव परलोक मे विश्वास रखती है। आत्माएँ अनेक है, नित्य, विभु एव शरीर से भिन्न है, वे ज्ञान एव मन से भी भिन्न हैं। आत्मा का निवास शरीर मे होता है, वह कर्ता एव भोक्ता है, वह शुद्ध चेतना के स्वरूप वाला है और स्वसवेद्य (स्वय अपने से जाने योग्य) है।

यद्यपि पू० मी० सू० ने सीधे ढग से आत्मा के अस्तित्व की चर्चा नही की है, किन्तु कुछ ऐसे सकेत मिलते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि पू० मी० सू० ने उपलक्षित ढग से आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास किया है। बहुत से धार्मिक कृत्यो के सम्पादन का फल होता है स्वर्ग और पू० मी० सू० ने कतिपय वैदिक वचनो की ओर सकेत किया है जहाँ पर कृत्यो का फल स्वर्ग कहा गया है (उदाहरणार्थ, अधिकरण ३।७।१८–२०, 'शास्त्रफल प्रयोक्तरि' जो 'अग्निहोत्र जहुयात्स्वर्गकाम' ऐसे वचनो का अर्थ बताता है)। शबर (१।१।५) ने आत्मा को शरीर से भिन्न माना है। श्लोकवार्तिक ने इस विषय मे १४८ श्लोक दिये है और तन्त्रवार्तिक ने भी सक्षेप मे इस पर विचार किया है (पू० मी० सू० २।१।५)। श्लोकवार्तिक (आत्मवाद, श्लोक १४८) मे एक मनोरम श्लोक है[४]—'भाष्यकार (शबर) ने नास्तिकता का उत्तर देने के लिए यहाँ

सूत्र पर काशिका ने 'लौकायतिक' का उल्लेख किया है। कम-से-कम ६ठी शती के पूर्व तक लौकायतिक शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने लगा था जो आत्मा को शरीर से पृथक् नहीं मानते थे। कादम्बरी मे यो आया है 'लोकायतिकविद्येवाधर्मरुचे'। शकराचार्य ने वे० सू० (३।३।५४) मे कहा है कि लौकयतिक लोग चार तत्त्वो (पृथिवी, जल, अग्नि एव वायु) के अतिरिक्त किसी अन्य सिद्धान्त को नही मानते। देखिए प्रो० दासगुप्त का ग्रन्थ, 'इण्डियन फिलॉसॉफी, जिल्द ३, पृ० ५१२–५३३ एव डा० डब्ल्यू० रुबेन कृत 'लोकायत' (बर्लिन १९५४)। छान्दोग्योपनिषद् (८।८) से प्रकट होता है कि असुर विरोचन के मत से शरीर से पृथक कोई आत्मा नहीं है और शरीर ही आत्मा है। अभी हाल मे (सन् १९५९ ई०) श्री देवप्रसाद चट्टोपाध्याय ने 'लोकायत' नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमे विस्तार के साथ प्राचीन भारतीय भौतिकवाद पर अध्ययन उपस्थित किया गया है।

४ इत्याह नास्तिक्य निराकरिष्णुरात्मास्तिता भाष्यकृदत्र युक्त्या। दृढत्वमेतद्विषयस्य बोध प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥ श्लोकवा० (आत्मवाद, १४८)। आत्मा के स्वसवेद्य होने के विषय मे शबर का कथन है 'स्वसवेद्य स भवति, नासावन्येन शक्यते द्रष्टु कथमसो निर्दिश्येतेति। यथा च कश्चिच्चक्षुष्मान स्वय रूप पश्यति न च शक्नोत्यन्यस्मै जात्यन्धाय तन्निदर्शयितुम। न च तन्न शक्यते निदर्शयितुमित्येतावता नास्तीत्यवगम्यते' और वे बृहदारण्यकोपनिषद के कुछ वचनो पर निर्भर करते हैं, यथा—३।९।२६, ४।५।१५ (अगृह्यो न हि गृह्यते) ४।३।६ (आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति)। श्लोकवार्तिक मे, 'आत्मास्तिता' एव 'नास्तिक्य' शब्द एक-दूसरे की सन्निधि मे रखे हुए हैं, अत इससे यह प्रकट होता है कि कुमारिल के मत से नास्तिक मुख्य रूप से वह है जो आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास नहीं करता। पाणिनि ने एक सूत्र है 'अस्ति नास्ति दिष्टं मति' (४।४।६०) जिस पर महाभाष्य मे टीका है 'अस्तीत्यस्यमतिरास्तिक। नास्तीत्यस्य मतिर्नास्तिक' काशिका मे व्याख्या है 'परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिक तद्विपरीतो नास्तिक'। अत मुख्य रूप से नास्तिक का अर्थ है 'वह व्यक्ति जो आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास नहीं रखता है (परिणामत वह भौतिक लोक के अतिरिक्त किसी अन्य लोक मे विश्वास नहीं करता)। तन्त्रवार्तिक (पृ० ४०२–४०४, २।१।५) मे आत्मा के विषय मे ऐसा कहा गया है 'तत्रनित्य सन्नात्मा शरीराभ्यन्तरवर्ती (नाणुमात्र, न शरीरपरिमित), सर्वगत, आत्मनातात्वे त्वदोप, सर्वगतत्वात्सिद्ध्यात्मनो निश्चलत्वम्'।

(अर्थात् भाष्य-वचनो मे) तर्क द्वारा आत्मा के अस्तित्व को स्थापित किया है, इस विषय मे (अर्थात् आत्मा के अस्तित्व के विषय मे) वेदान्त के वचनो द्वारा बोध (ज्ञान) सुस्थिर एव चिरस्थायी हो जाता है।' पद्मपुराण (६।२६३।७४–७६) मे आया है कि जैमिनि ने एक विशाल किन्तु निरर्थक शास्त्र बनाया है जिसमे देवता के अनस्तित्व का विवेचन पाया जाता है।[५]

(४) ईश्वर एव यज्ञो मे देवतागण शबर की स्थिति यो है—वेदो का प्रणयन ईश्वर द्वारा नही हुआ है और न शब्द एव अर्थ का सम्बन्ध ही ईश्वर द्वारा निर्मित किया गया है। प्रकरणपञ्चिका ने भी अखिल विश्व के लिए किसी स्रष्टा की आवश्यकता नही समझी है। कुमारिल की बात भी विलक्षण एव आश्चर्यजनक है। उन्होने श्लोकवार्तिक मे कहा है कि यह सिद्ध करना कठिन है कि ईश्वर ने धर्माधर्म , उनकी प्राप्ति के साधनो, शब्दार्थो के सम्बन्धो एव वेद के साथ सर्वप्रथम इस ससार की सृष्टि की। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने स्पष्टरूप से सर्वोच्च शक्ति या ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नही किया है , प्रत्युत ऐसी शक्ति या ईश्वर के प्रति अनभिज्ञता मात्र प्रकट की है। इतना होते हुए भी उन्होने श्लोकवार्तिक का आरम्भ शिव-स्तुति के साथ किया है। न्यायरत्नाकर का कथन है कि यह श्लोक यज्ञ का देवकरण मात्र है। किन्तु वैसी स्थिति मे कुमारिल पर द्वैधीभाव या कपट का लाछन लग जायगा। ऐसा कहना अच्छा होगा कि किसी ग्रन्थ के आरम्भ करने मे मगल वचन कहने की परिपाटी को कुमारिल अमान्य नही कर सके।

पवित्र अग्नि मे आहुति डालने के सदर्भ मे देवता से सम्बन्धित प्रश्न पर विचार करने से आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त होते हैं। जैमिनि (८।१।३२–३४) के मत से यज्ञ मे 'हवि' प्रधान है और देवता गौण, और जब हवि एव देवता के चुनाव की बात उपस्थित हो तो अन्तिम निर्णय के लिए हमे हवि पर निर्भर रहना होगा। तर्क यह है कि वेद देवता को यज्ञिय कृत्य से सम्बन्धित कर देता है, यथा 'सन्तान के इच्छुक व्यक्ति को ११ घटशकलो पर पकाया गया हवि इन्द्र एव अग्नि के लिए देना चाहिए, तब इन्द्र उसे सन्तान देता है' (तै० स० २।२।१।१) इतना होते हुए भी फल की प्राप्ति यज्ञ से ही होती है न कि देवो से (यहाँ पर इन्द्र एव अग्नि से) और ऐसे शब्द कि 'इन्द्र एव अग्नि यजमान को सन्तान देते हैं', केवल स्तुति रूपात्मक हैं। इस विषय मे पू० मी० सू० (९।१।६–१०) अति महत्त्वपूर्ण है। शबर ने वैदिक वचन उद्धृत किये हैं, यथा— ऋ० १०।४७।१, ३।३०।५, ८।१७।८ (जहाँ इन्द्र के दाहिने हाथ, मुक्का, गले, पेट एव बाहुओ का उल्लेख है), १।६५।१०, ८।७७।४ (जहाँ इन्द्र को अपने पेट मे सभी खाद्य पदार्थो के रख लेने एव ३० पात्रो मे भरे सोमरस को पी लेने की चर्चा है), ८।३२।२२ एव १०।८९।१० (जहाँ इन्द्र को लोक, स्वर्ग, पृथिवी, जलो, पर्वतो का राजा कहा गया है। शबर ने यह सब उद्धृत करके टिप्पणी की है कि ये सब अर्थवाद मात्र है, यद्यपि ऐसा लगता है कि देवो को शरीर प्राप्त हैं और वे खाते-पीते हैं। शास्त्रदीपिका मे तर्क आया है कि यदि देवता को शरीर होता और वे खाते-पीते एव प्रसन्न होते तो वे अनित्य हो जाते और उनका वेद मे, जो स्वय नित्य है, इस प्रकार का उल्लेख न होता। आगे और कहा गया है कि सीमित बुद्धि वाले लोग वेद-वचनो को भली भाँति न जानने के कारण भ्रामक बाते करते हैं। शबर (१०।४।२३) ने टिप्पणी की है कि इस विषय मे कतिपय मत हैं कि देवता क्या हैं जिन्हे सूक्तो मे सम्बोधित किया जाता है (यथा ऋ० १।६४) या जिन्हे वेद द्वारा हवि देने का निर्देश है (यथा—आठ घटशकलो पर पका

५ वेदार्थवन्महाशास्त्र मायया यदवैदिकम्। मयैव रक्ष्यते देवि जगता नाशकारणात्। द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेद (चेद ?) मपार्थकम्। निरीश्वरेण वादेन कृत शास्त्र महत्तरम्।। पद्मपुराण (६।२६३।७४-७६)।

कर अग्नि को हवि देना चाहिए), देवता यो ही यज्ञ से नही सम्वन्वित हो जाता, प्रत्युत किसी हवि के सन्दर्भ मे प्रयुक्त शव्द से वह सम्वन्वित होता है। और जहाँ वेद के निर्देश के अनुसार अग्नि को हवि दिया जाता है वहाँ अग्नि के अन्य पर्याय शव्दो का प्रयोग नही किया जा सकता, यथा—शुचि, पावक, धूमकेतु, कृशानु, वैश्वानर या शाण्डिल्य। अत देवता शव्दो का ही विषय है, जैसा कि शवर का मत है। प्रकरणपञ्चिका का भी कथन है कि इसके विषय मे कोई प्रमाण नही है कि याग ऐसा साधन है जिसके द्वारा देवता को प्रसन्न किया जाता है, यदि ऐसा कहा जाय कि याग में देवता की पूजा होती है, तो यह केवल लाक्षणिक प्रयोग मात्र है। इससे और पूर्ववर्ती सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि पू० मी० सू०, शवर एव कुमारिल ने इस वात को अस्वीकार कर दिया है कि वेद ईश्वर का शव्द है या धार्मिक कृत्यो के फल ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त होते हैं। इसी मे पद्मपुराण (६।२६३।७४–७६) ने जैमिनि को निरीश्वरवादी कहा है।

यदि वेद यह कहता है कि 'स्वर्ग की इच्छा करने वाले को याग करना चाहिए' तो इससे तीन आकाक्षाएँ उत्पन्न होती हैं। प्रथम आकाक्षा है—क्या प्राप्त करना है? इसका उत्तर है 'स्वर्ग' जो याग का फल या उद्देश्य है। दूसरी आकाक्षा है—किन साधनो से? जो प्रथम है, जिसे प्राप्त करना है, वह 'यज' धातु से प्राप्त होता है। तीसरी आकाक्षा है—कौन सी विधि है या किस विधि से? और इसे पवित्र अग्नियो की सस्थापना से तथा उन कृत्यो द्वारा, जो वचन के सदर्भ मे उल्लिखित हैं, प्राप्त किया जाता है, (स्वर्गकामो यजते)। इस वचन से यह ज्ञात होता है कि फल या उद्देश्य (स्वर्ग) याग से प्राप्त होता है (उत्पन्नहोता है) न कि देवता से।

यज्ञो मे देवताओ के विषय मे पश्चात्कालीन लेखक इन विचारो को नही अपना सके। वेकटनाथ (या वेंकटदेशिक, १२६९–१३६९ ई०) ने 'सेश्वरमीमासा' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमे उन्होने भट्ट एव प्रभाकर दोनो सम्प्रदायो की आलोचना की है और कट्टर रामानुजी वैष्णव होने के कारण उन्होंने दोनो मीमासाओं का समन्वय उपस्थित करने का प्रयत्न किया है और शवर, कुमारिल, शालिकनाथ आदि के सम्मिलित साक्ष्य के विरोध मे यज्ञो के सम्पादन से उत्पन्न फल के दाता के रूप मे ईश्वर को माना है। देखिए डा० राधाकृष्णन की 'इण्डियन फिलॉसॉफी' जिल्द २ (पृ० ४२४–४२९), जहाँ पूर्वमीमासा के मतानुसार ईश्वर एव लोक पर विवेचन उपस्थित किया गया है।

(५) अखिल विश्व की न तो वास्तविक सृष्टि होती है और न विनाश आधारभूत तत्त्व या अग तो आते-जाते रहते हैं किन्तु विश्व का न तो आरम्भ है और न अन्त। सृष्टि एव प्रलय का वर्णन तो दैव (भाग्य या नियति) की शक्ति एव मानव प्रयत्न की निस्सारता प्रदर्शित करने का साधन मात्र है और वेदविहित कर्तव्यो को करने के लिए उद्बोधन मात्र है। विना किसी मानव प्रयास के लोक उत्पन्न हो सकता है और सभी प्रयासो के रहते हुए भी इसका (लोक का) विलयन भी हो सकता है। विश्व वास्तविक है, और सदा रहा है तथा सभी समयो मे चलता रहेगा। देखिए श्लोकवार्तिक (५।११२-११७), प्रकरणपञ्चिका (पृ० १३७-१४०) एव न्यायरत्नाकर[6]। श्लोकवार्तिक मे यहाँ तक कहा गया है—'यह निश्चित रूप से मान लेना चाहिए कि ये सब (लोक

६ तस्मादद्यवदेवात्र सर्गप्रलयकल्पना। समस्तक्षयजन्मभ्यां न सिध्यत्य प्रमाणिका।। सर्वज्ञवन्निषेध्या च स्रष्टु सद्भावकल्पना।। तस्मात् प्रागपि सर्वेऽमी स्रष्टुरासन् पदादय। स्यात्तत्पूर्वकता चास्य चैतन्यादस्मदादिवत्।। एवं ये युक्तिभि प्राहुस्तेषां दुर्लभमुत्तरम्। अन्वेष्यो व्यवहारोयमनादिर्वेदवादिभि ।। श्लोकवा० (सम्बन्धाक्षेप० श्लोर

आदि) स्रष्टा के पूर्व से ही उपस्थित थे, और फिर भी जिस प्रकार हमलोगों के पूर्व वेद का अस्तित्व था, उसी प्रकार वेद के पूर्व बुद्धिमान होने के कारण स्रष्टा का होना (अनुमान द्वारा) सिद्ध किया जा सकता है।

यह द्रष्टव्य है कि सृष्टि एव प्रलय के विषय में मीमासा का दृष्टिकोण महाभारत एव गीता (१०।८) के दृष्टिकोण से भिन्न है (अह सर्वस्य प्रभावो मत्त सर्वं प्रवर्तते)।

(६) अपूर्व का सिद्धान्त वेद मे आया है कि स्वर्गेच्छुक को यज्ञ करना चाहिए। किन्तु स्वर्ग की फल-प्राप्ति बहुत दिनो के उपरान्त होती है और यज्ञ थोडे काल मे ही समाप्त हो जाता है। अत यज्ञ (कारण) एव स्वर्ग (फल) या उद्देश्य के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नही रहता। वेद की आज्ञा से यह मान लेना चाहिए कि मनुष्य के यज्ञ-सम्पादन सम्बन्धी कर्म एव फल के बीच कोई जोडने वाली कडी है। इसके पूर्व कि यज्ञ मे प्रमुख एव गौण कर्म किये जाये, मनुष्यो के पास स्वर्ग के लिए कोई सामर्थ्य नही है और यज्ञ भी स्वर्ग को उत्पन्न करने मे असमर्थ है। किसी यज्ञ मे प्रमुख एव गौण कर्म जब सम्पादित होते है तो वे असमर्थता को दूर करते हैं और स्वर्ग के लिए किसी शक्ति की उत्पत्ति करते हैं। ऐसा सभी को अवश्य मान लेना चाहिए। यदि ऐसी समर्थता न पायी जाय तो एक अगीकार न किये जाने वाला निष्कर्ष उत्पन्न होगा कि कर्मों का सम्पादन एव उनका असम्पादन एक ही स्तर पर है। यह समर्थता या शक्ति जो या तो मनुष्य (कर्ता) मे होती है या सम्पादित यज्ञ से उत्पन्न होती है, शास्त्र मे अपूर्व नाम से घोषित है। यह सत्य है कि इस समर्थता की सिद्धि प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं हो सकती, केवल 'श्रुतार्थापत्ति' से ही इसे हम सिद्ध कर सकते हैं। जब हमसे कोई यह कहता है कि एक मोटा व्यक्ति दिन मे नही खाता है तो हमे यह मान लेना होता है कि वह रात्रि मे अवश्य खाता होगा। इसी प्रकार, वेद यज्ञ एव स्वर्ग दोनो को लाता है, हमे यह मान लेना है कि यज्ञ से हमे सूक्ष्म शक्ति की प्राप्ति होती है, यद्यपि स्वय यज्ञ कुछ काल के उपरान्त स्वय समाप्त हो जाता है और यह शक्ति स्वर्गफल को उत्पन्न करने का कारण है और हम उसे यजमान के आत्मा मे अवस्थित या एक अदृश्य प्रभाव के रूप मे मान सकते हैं। मीमासक लोग यह नही स्वीकार करते कि धार्मिक कर्मो के फल ईश्वर द्वारा दिये जाते हैं। वे० सू० (३।२।४०) का कथन है कि यह जैमिनि का दृष्टिकोण है (धर्म जैमिनिरत एव) और यह बादरायण, शकर एव भामती के इस मत का विरोधी है कि ईश्वर ही फल देने वाला है। प्रकरणपञ्चिका (पृ० १८६) के मत से अदृश्य शक्ति कर्ता नही है प्रत्युत वह स्वय कर्म से सूक्ष्म रूप मे उत्पन्न होती है। माधवाचार्य द्वारा दर्शपूर्णमास यज्ञ के विषय मे अपूर्व के चार प्रकार कहे गये हैं (अपूर्व के अन्य उप प्रकार भी कहे गये हैं)।

भावना यह है कि प्रत्येक कृत्य एक अपूर्व की उत्पत्ति करता है और कृत्य के प्रत्येक अग का एक अपूर्व होता है जो सम्पूर्ण कृत्य के अपूर्व का छोटा रूप होता है।

तन्त्रवार्तिक ने अपूर्व नाम की व्याख्या की है। यज्ञ-सम्पादन के पूर्व अदृश्य शक्ति का अस्तित्व नही था, इसका प्राकट्य यज्ञ-सम्पादन के उपरान्त ही एक नवीन शक्ति के रूप मे होता है, अत इसका अर्थ केवल यौगिक है।

११३-११७)। बुद्ध को सर्वज्ञ कहा गया था, जैसा कि अमरकोश मे आया है 'सर्वज्ञ सुगतो बुद्धो' आदि। न्यायरत्नाकर मे श्लोक ११३-११४ पर टिप्पणी हुई है 'यथा च बुद्धादे सर्वज्ञत्व पुरुषत्वादस्मदादिवन्निषिद्धम्, एव प्रजापतेरपि स्रष्टृत्व निषेध्यमित्याह सर्वज्ञवदिति। तेन दैवप्रभावकथनार्थोय सृष्टिप्रलयवाद। समस्त पुरुषकाराभावेऽपि सृष्टिकाले दैववशेनैव सर्वं प्रवर्तते, प्रलयकाले च सत्यपि पुरुषकारे दैवोपरमादेवोपरमिति तस्माद्धर्मानुष्ठान एव यतितव्यमित्येतत्पर सृष्टिप्रलय वचनमिति। न्या० र० (श्लोकवार्तिक, सम्बन्धक्षेपपरि०, श्लोक ११२)।

यदि कोई ऐसी धारणा बनाता है कि अपूर्व कोई ऐसी शक्ति है जो किसी यज्ञकर्ता मे निवास करने के निमित्त आती है, तो उसकी यह धारणा उन अर्वाचीन लेखको की भाँति है जो ऐसा विश्वास करते हैं कि वास्तविक पूजा केवल पुनीत समझे जाने वाले शब्दो का बार-बार कहना नही है, प्रत्युत यह ऊर्ध्वगामी गति है या पूजक की आध्यात्मिक शक्ति की तीव्रता की वृद्धि का द्योतक है (देखिए डबल्यू० जेम्स का ग्रन्थ 'वेराइटीज़ आव रिलिजिएस एक्स्पीरिएस', पृ० ४६७)।

(७) स्वत प्रामाण्य यह पहले ही कहा जा चुका है प्रमाण छह हैं (किन्तु प्रभाकर के अनुसार केवल पाँच है)। पूर्वमीमासा का कथन है कि सभी प्रत्यक्ष अपने मे स्वाभाविक रूप से सप्रमाण अथवा सिद्ध हैं, उन्हे अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वाह्य सहायता की आवश्यकता नही पडती, किन्तु प्रत्यक्ष की अप्रामाणिकता (परत) वाह्य रूप से यह प्रदर्शित कर स्थापित होती है कि प्रत्यक्ष उत्पन्न करने वाले अग मे दोष था या आगे चल कर यह कहकर कि एक विशिष्ट प्रत्यक्ष भ्रामक था, उसे स्थापित किया जाता है। प्रभाकर और आगे वढ जाते है और मत प्रकाशित करते है कि प्रत्येक अनुभव सप्रमाण होता है और कोई भी अनुभव भ्रामक या मिथ्या नही कहा जा सकता।

(८) स्वर्ग जैमिनि, शवर एव कुमारिल द्वारा व्यक्त स्वर्ग सम्वन्धी विचार वेद एव पुराणो मे उल्लिखित विचार से भिन्न है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड (जिल्द) ४, पृ० १६५-१६७ एव १६८-१७१ जहाँ पर वैदिक साहित्य, महाकाव्यो एव पुराणो मे उल्लिखित स्वर्ग से सम्वन्धित सुख का वर्णन किया गया है। स्थानाभाव से हम यहाँ पर वहुत ही सक्षेप मे कहेगे। ऋग्वेद (९।११३।७-११) मे ऋषि ने सोम से प्रार्थना की है कि वह उन्हें उस अमर लोक मे रख दे जहाँ निरन्तर प्रकाश रहता है, जहाँ सभी इच्छाओ की पूर्ति हो जाती है, जहाँ पर विभिन्न कोटियो के आनन्द की उपलब्धि होती है। स्वर्ग को ऐसा स्थान माना गया है जहाँ पर युद्ध लडने के उपरान्त वीर लोगो के जीवात्मा जाते है (ऋ० ६।४६।१२)। ऋ० (१०।१५४।२-४) मे आत्मा से कहा गया है कि वह उन लोगो से जाकर मिल जाय जो महान् तपो से अजय्य हो गये हैं, जो युद्ध मे मर गये हैं, जिन्होने सहस्रो गायो का दान किया है, जिन्होने सदाचार का जीवन विताया है और जो विज्ञ ऋषि थे।

अथर्ववेद (४।३४।२ एव ५-६) मे आया है कि स्वर्ग मे वहुत-सी नारियाँ हैं, खाने के लिए वहुत-से पौधे, विभिन्न प्रकार के पुष्प हैं, वहाँ घृत, मधु, सुरा, दूध, दही की नदियाँ हैं और चारो ओर कमल के सरोवर हैं। शतपथ ब्राह्मण (१४।७।१।३२-३३) मे आया है कि स्वर्ग का आनन्द, पृथिवी के आनन्द का सौगुना होता है। देखिए मेकडोनेल का ग्रन्थ 'वेदिक मैथॉलॉजी' (पृ० १६७-१६८) एव ए० बी० कीथ का ग्रन्थ 'रिलिजन एण्ड फिलासॉफी आव दि वेद' आदि (पृ० ४०३-४०६, १९२४)। यहाँ तक कि उपनिषदो ने भी स्वर्ग के आनन्द का उल्लेख किया है, यथा—छा० उप० (८।५।३) ने ब्रह्मा के लोक मे दो झीलो, सोम की वौछार करते हुए अश्वत्थ वृक्ष एव अपराजिता नामक ब्रह्मा की नगरी का उल्लेख किया है, कौशीतकि उप० (१।३ एव ४) ने इसे वढाया है और इतना जोड दिया है कि जो लोग स्वर्ग मे पहुँचते हैं उनके स्वागत मे पाँच सौ अप्सराएँ आती हैं, जिनमे एक सौ के हाथो मे जयमाल, एक सौ के पास अजन, एक सौ के पास सुगधियाँ, एक सौ के पास वस्त्र तथा एक सौ के पास फल रहते है। कालिदास ऐसे कवियो ने युद्ध मे मृत वीर के आत्मा के विषय मे लिखा है कि जब वह स्वर्ग मे पहुँचता है तो उसके पास अप्सराएँ आती हैं (रघुवश ७।५१ वामागससक्तसुरागन स्व नृत्यत्कवन्ध समरे ददर्श')। पुराणो ने स्वग के आनन्द का वडा सुन्दर वणन किया है। देखिए ब्रह्मपुराण (२२५।६), पद्म० (२।९५।२-५), मार्कण्डेय (१०।९३-९५), जिन्होने नन्दन वन, अप्सराओ के समूहो से युक्त विमानो, सोने के आसनो, विस्तरो, चिन्तामावो, सभी सुखो आदि का विशद उल्लेख किया है। शवर ने पू० मी० सू० (६।१।१)

पर लिखते हुए स्वर्ग सम्बन्धी दो प्रचलित मतो का उल्लेख किया है, एक है—वह स्वर्ग है जो व्यक्ति को आनन्द देता है, यथा रेशमी वस्त्र, चन्दन, षोडशियाँ, दूसरा है—स्वर्ग वह है जहाँ न उष्णता है, न जाडा है, न भूख है, न प्यास है, न असन्तोष है और न थकावट है।

शबर एव कुमारिल का कथन है कि स्वर्गविषयक प्रचलित धारणा अप्रामाणिक है, महाभारत एव पुराण मनुष्यकृत हैं, अत उनकी बाते अविचारणीय है तथा स्वर्ग सम्बन्धी वैदिक निरूपण केवल प्रशसा के लिए अर्थवाद है।

पू० मी० सू० (४।३।१५) मे आया है कि स्वर्ग सभी धार्मिक कृत्यो (यथा—विश्वजित) का फल है जिसके लिए वचनो द्वारा कोई स्पष्ट फल घोषित नही है। शबर का कथन है 'सुख ही स्वर्ग है और उसे सभी खोजते है'। एक प्राचीन श्लोक मे आया है—'वह सुख-स्थिति जिसमे दुख न मिला हो, और जो आगे दुख से न ग्रसित होने वाला हो, जो अभिलाषा करने पर प्राप्त हो जाय, वही 'स्वर' (स्वर्ग) शब्द से सज्ञायित होता है[७]।'

मेधातिथि ने टिप्पणी की है कि स्मृतियाँ कभी-कभी घोपित करती हैं[८] कि एक गाय के दान से सभी फलो की प्राप्ति होती है और पापो से छुटकारा मिल जाता है, इसका परिणाम यह हो जाता है कि महान् धार्मिक कृत्यो तथा हलके-फुल्के कृत्यो के फल एक-से समझ लिये जाते हैं, किन्तु यह सोच लेना चाहिए कि फल अवधि को लेकर भिन्न-भिन्न होते है, नही तो कोई भी महान् एव कठिन कृत्यो का सम्पादन नही करेगा।

कुछ वैदिक कृत्यो से ऐसे फल प्राप्त होते है जो स्वर्ग से भिन्न होते है। उदाहरणार्थ, तै० स० (२।४।६।१) मे आया है—'जो अधिक पशुओ की कामना रखता है उसे चित्रा नामक यज्ञ करना चाहिए' या जो एक ग्राम का नेता बनना चाहता है उसे 'सग्रहणी' नामक इष्टि करनी चाहिए (तै० स० २।३।६।२)। शबर का कथन है कि वेद ऐसा नही कहते कि इस प्रकार के यज्ञो से इस जीवन मे फल नही प्राप्त हो सकता। इस पर टुप्टीका (पू० मी० सू० ६।१।१) ने एक सुन्दर टिप्पणी की है। अभिलषित वस्तुओ (पुत्र-जन्म आदि) की प्राप्ति के लिए वेद मे जो उपाय घोषित है वह इस या उस लोक मे अवश्य फलदायक होगा। यदि किसी व्यक्ति ने पूर्व-

७ स स्वर्ग स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्। पू० मी० सू० (४।३।१५), शबर का कथन है 'सर्वे हि पुरुषा स्वर्गकाया कुत एतत्। प्रीतिर्हि स्वर्ग सर्वश्च प्रीतिं प्रार्थयते।' स्वर्ग साध्य है और याग साधन है जैसा कि पू० मी० सू० (६।२।४) की टुप्टीका मे आया है, यन्न दु खेन सम्भिन्न न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीत च तत्सुख स्व पदास्पदम्।। वाचस्पति की साख्यकौमुदी (पृ० ४५, चौखम्भा सीरीज) द्वारा तथा उद्योगपर्व (३३।७२) पर नीलकण्ठ द्वारा उद्धृत। कुछ लोगो ने इस श्लोक को विष्णुपुराण का माना है। प्रकरणपञ्चिका (पृ०१०२-१०३) मे इस श्लोक की ध्वनि प्राप्त होती है 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यवमादि समाम्नाय सकलदु खसम्भेदरहिताभिलाषोपनीतदीर्घतरसुखसाधनत्वेनार्थवादे स्तूयमान कर्म दृश्यते। तथा च यावत्तावत्सुखसाधने स्वर्गशब्द न प्रयुञ्जते किन्तु सातिशयप्रीतिजनके। मेधातिथि (मनु ४।८७=जहाँ नरको की सख्या २१ कही गयी है) ने टिप्पणी दी है 'नरकशब्दो निरतिशयदु खवचन। एकविंशति सख्या अर्थवाद। प्रकाशित विष्णुपुराण (२।६।४६) मे आया है 'मन प्रीतिकर स्वर्गो नरकस्तद्विपर्यय। नरकस्वर्गसज्ञे वै पुण्यपापे द्विजोत्तम॥

८ स्मृत्यन्तरे सर्वफलता पापप्रमोचनार्थतापि गोदानस्य श्रुता यावतामल्पोपकराणां महोपकारै फलसाम्यमुच्यते तेषा लोकवत्परिमाणत फलविशेषोऽवगन्तव्य। प्राप्यते तदेव फल न तु चिरकालम्। आबाध्यो ह्यय न्याय। पणलभ्य हि तत्प्राज्ञ क्रीणाति दशभि पणै—इति समानफलत्वे महाप्रयासानर्थक्य प्राप्नोति। मेधा० (मनु ३।९५)।

जन्म मे दुष्कृत्य किये हो तो उसे उन पापो के प्रभावो से निपटना पडेगा और जब तक वह पापप्रभावो मे रहता है तब तक यज्ञो से उत्पन्न फल स्थगित रहते हैं। किन्तु जब पापो के प्रभाव बहुत कम रह जाते है तो व्यक्ति इसी जीवन मे काम्य कृत्यो के फल प्राप्त करने लगता है। वेद-वचन केवल इतना कहते हैं कि कृत्य-सम्पादन का फल अवश्य मिलता है, किन्तु वे यह नही कहते कि फल (कृत्य-सम्पादन के उपरान्त) तुरत मिल जाते हैं। अत (फल प्राप्ति के काल के विपय मे) कोई निश्चितता नही है। किन्तु स्वर्ग का उपभोग (इसी जीवन मे सम्पादित कृत्यो के फल के रूप मे) परलोक मे ही होता हे। स्वर्ग निरतिशय प्रीति (अर्थात् आनन्द) है और कर्म के अनुरूप ही उसकी प्राप्ति होती है, किन्तु इसका उपभोग इस जन्म मे नही हो सकता, क्योकि मनुष्य इस लोक मे प्रत्येक क्षण मे सुख एव दुख का अनुभव करता रहता है। प्रत्येक सुख ज्योतिप्टोम से ही नही प्राप्त होता और प्रत्येक व्यक्ति ज्योतिप्टोम करता भी नही। किन्तु कुछ सुख मनुप्य को प्राप्त होता ही है। अत यह स्वाभाविक है। निरतिशय सुख के अनुभव के लिए दूसरे शरीर की कल्पना करनी ही है, क्योकि कोई अन्य तर्कसगत व्याख्या नही मिल पाती। वह निरतिशय सुख (प्रीति) व्यक्ति के पास तब तक नही आती जब तक कि वह जीता रहता है, अत स्वर्ग का उपभोग दूसरे जीवन मे ही होता है।[९]

(९) मोक्ष पू० मी० सू०, शबर एव प्रभाकर ने मोक्ष के विपय मे नही लिखा है। कुमारिल एव प्रकरण-पञ्चिका ने इस पर विचार किया है। दोनो मे आया है कि मोक्ष की प्राप्ति हो जाने पर पुन शरीर धारण नही होता। श्लोकवार्तिक मे आया है—'जो मोक्ष प्राप्त करना चाहता है उसे निषिद्ध कर्म नही करना चाहिए और न काम्य (यथा सन्तान, धन आदि के लिए किया जाने वाला) कर्म ही करना चाहिए, उसे नित्य (यथा अग्निहोत्र) एव नैमित्तिक (स्नान, जप, दान जो विशेष पर्व, ग्रहण आदि मे किया जाता है) कर्म करने चाहिए जिससे उन पापो से छुटकारा हो जो इन कर्मों के न करने से एकत्र होते है, यदि व्यक्ति नित्य एव नैमित्तिक कर्मो के फलो की कामना नही करता तो वे उसे प्राप्त नही होगे, क्योकि ऐसे फल केवल उन्ही को प्राप्त होते हैं जो उन्हे चाहते हैं। पूर्व जीवन के कर्मों के फलो का निवारण उस जन्म मे भोगने से होता है जिसमे मोक्ष की खोज की जाती है। यह मत शकराचार्य (वे० सू० ४।३।१४) की धारणा से मेल नही खाता, क्योकि शकराचार्य ने ऐसा कहा है कि बिना आत्म-ज्ञान के मोक्ष की प्राप्ति नही होती (श्वेत० उप० ३।८)। उसी सूत्र के अपने भाष्य

९ पुत्रादीनि कामयमानस्योपायो विधीयते। उपाये च कृते नियतमुपेयेन भवितव्यम्। तदा पूर्वजन्मन्यशुभं कृतम्। तच्चानुभाव्य तस्मात्पूर्वजन्मकृतमनुभूयते। तत्र यदि जन्मान्तरकृतोऽधर्म प्रक्षीणस्तत इहैव जन्मनि फलम्। अथाक्षीणस्ततस्तेन बद्धसाधक फलमुत्कृष्यते। फल भवतीत्येतावति विधिशब्दोऽस्ति न त्वनन्तरत्वे तस्मादनियम। स्वर्गस्तु जन्मान्तर एव। स हि निरतिशया प्रीति कर्मानुरूपा चेति न शक्येह जन्मन्यनुभवितुम्। यतोऽस्मिँल्लोके क्षणे क्षणे सुखदुःखे अनुभवन्ति। न च प्रीतिमात्र ज्योतिप्टोमफलम्। प्राणिमात्रस्य च सा विद्यते न च प्राणिमात्र ज्योतिप्टोम करोति। तस्मात्स्वाभाविक्यसौ। देहान्तर तु निरतिशयप्रीत्यनुभवनायान्यथानुपपत्त्या कल्प्यते। तच्चामृतस्य न भवतीत्यतो जन्मान्तरे स्वर्ग । टुप्टीका (४।३।२८)। यह द्रप्टव्य है कि यहाँ पर प्रीति (सुख-क्षण) एव निरतिशयप्रीति मे अन्तर दर्शाया गया है। टुप्टीका (६।१।१) मे आया है कि सिद्धान्त मत के अनुसार स्वर्ग का अर्थ है 'प्रीति' किन्तु पूर्वपक्ष मे आया है कि स्वर्ग उन वस्तुओं के साधनों का द्योतन करता है जिनसे प्रीति (या सुख) उत्पन्न होती है, किन्तु दोनों ऐसा नहीं कहते कि स्वर्ग कोई स्थान है, 'एकस्य प्रीति स्वर्गशब्दवाच्या अपरस्य प्रीतिमद् द्रव्यम्। विशिष्टो देश उभयोरप्यवाच्य' टुप्टीका (पू० मी० सू०, ६।१।१)।

मे उन्होने, ऐसा प्रतीत होता है, कुमारिल के मत की आलोचना की है। कुमारिल के अनुसार आत्म-ज्ञान के विषय मे उपनिषदो की उक्तियाँ केवल अर्थवाद हैं, क्योकि वे कर्ता को यह ज्ञान देती है कि वह आत्मवान् है और आत्मा की कुछ विशेषताएँ हैं। किन्तु शकर का कथन है (वे० सू० १।१।१) कि पूर्व मीमासा एव ब्रह्म-मीमासा मे फल, जिज्ञासा का विषय एव वैदिक प्रवोधनवाक्य (चोदना) भिन्न हैं। कुछ स्मृतियो ने इस वात की खिल्ली उडायी है कि केवल आत्मज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी। उदाहरणार्थ, वृहद्योगियाज्ञवल्क्य (९।२९ एव ३४) मे आया है कि 'ज्ञान एव कर्म दोनो से मोक्ष की प्राप्ति होती है'। ऐसा कहना कि केवल ज्ञान मोक्ष की ओर ले जायगा, प्रमाद का प्रतीक हे तथा शरीरश्रम के भय से अवोध लोग कर्म करना नही चाहते।[१०]

पूर्वमीमासा के आरम्भिक एव प्रमुख लेखको के सिद्धान्त विचित्र एव चकित करने वाले हैं। वेद की अमरता (नित्यता) एव स्वयभूता के विषय मे उनके तर्क भ्रमजनक हैं और अन्य प्राचीन भारतीय सिद्धान्तो द्वारा भी अगीकृत नही हो सके है। प्रभाकर एव कुमारिल दोनो ने अपने सिद्धान्त के अन्तर्गत ईश्वर को फलदाता या प्रार्थना से प्रसन्न होकर मनुष्य की नियति का शासन करने वाले के रूप मे कोई स्थान नही प्राप्त है। वे स्पष्ट रूप से ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार तो नही करते, किन्तु वे वैदिक उक्तियो मे वर्णित देवताओ एव ईश्वर को गौण स्थान देते हैं या व्यावहारिक रूप से उन्हे न-कुछ समझते है। वे यज्ञ को ईश्वर की स्थिति तक उठा देते है और उनके यज्ञ-सम्बन्धी सिद्धान्त एक प्रकार से व्यावसायिक-से[११] हैं, यथा—व्यक्ति को इतने कर्म करने चाहिए, पुरोहितो को दान देना चाहिए, हवि देना चाहिए, कुछ सदाचार के नियमो का पालन करना चाहिए, (यथा, मास न खाना, केवल दूध पी कर जीना) क्योकि ऐसा करने से बिना ईश्वर की मध्यस्थता के फल की प्राप्ति हो जाती है[१२]। धार्मिक सवेगो (भक्ति आदि) के प्रति कोई प्रेरणा नही है, किसी सर्वज्ञ की चर्चा नही है, न तो कोई स्रष्टा है और न लोक की सृष्टि। पूर्वमीमासा ने निस्सन्देह जीवन मे मनुष्य के कर्तव्यो (एव अधिकारो) पर वल दिया है। अन्य दर्शनो ने विशेष रूप से इस ससार से मुक्त हो जाने तथा मृत्यूपरान्त मनुष्य की नियति से अपने को अधिक सम्बन्धित रखा हे। पू० मी० सू०, शबर एव कुमारिल ने वैदिक वचनो के विवरण या व्याकरण के प्रति महत्त्वपूर्ण योगदान किये हैं। शबर के भाष्य मे लगभग ७ सहस्र उद्धरण हैं, जिनमे कई सौ की पहचान अभी तक नही हो सकी हे। इनमे से कम-से-कम एक सहस्र तै० स० एव तै० ब्रा० से लिये गये हैं। लगभग १२ अधिकरणो का सम्बन्ध अध्रिगुप्रैष से है। कुछ अधिकरण तो प्रैष मे प्रयुक्त कुछ शब्दो की व्याख्या

१० ज्ञान प्रधान न तु कर्महीन कर्म प्रधान न तु बुद्धिहीनम्। तस्माद् द्वयोरेव भवेत सिद्धिर्नह्येकपक्षो विहग प्रयाति ॥ परिज्ञानाद्भवेन्मुक्तिरेतदालस्यलक्षणम्। कायक्लेशभयाच्चैव कर्मनेच्छन्त्यपण्डिता ॥ वृहद्योगिया० (९।२९, ३४ कृत्यकल्प द्वारा उद्धृत, पृ० १४६)।

११ ईश्वर से व्यावसायिक व्यवहार के लिए देखिए मन्त्र 'देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारमिन्नि मे हरा निहार नि हरामि ते। तै० स० (१।८।४।१-२), वा० स० ३।५०), मिलाइए अथर्ववेद (३।१५।६)।

१२ देखिए तै० स० (२।५।५।६) जहाँ दर्शपूर्णमास मे सलग्न व्यक्ति के विषय में उल्लेख है तस्यैतद्व्रत-नानृत वदेन्न मासमश्नीयान्न स्त्रियमुपेयान्नास्य पल्पूलनेन वास पल्पूलयेयु' एव तै० स० (६।२।५।२-३) जहाँ पय, यवागू एव आमिक्षा का प्रयोग क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य के लिए उचित भोजन कहा गया है। जैमिनि (४।३।८-९) मे घोषित किया है कि यह क्रतवर्थ (आवश्यक) है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ११३९-११४० जहाँ अग्निष्टोम यज्ञ के लिए दीक्षित व्यक्ति के लिए नियमों का उल्लेख है।

जन्म मे दुष्कृत्य किये हो तो उसे उन पापो के प्रभावो से निपटना पड़ेगा और जब तक वह पापप्रभावो मे रहता है तब तक यज्ञो से उत्पन्न फल स्थगित रहते हैं। किन्तु जब पापो के प्रभाव बहुत कम रह जाते है तो व्यक्ति इसी जीवन मे काम्य कृत्यो के फल प्राप्त करने लगता है। वेद-वचन केवल इतना कहते हैं कि कृत्य-सम्पादन का फल अवश्य मिलता है, किन्तु वे यह नही कहते कि फल (कृत्य-सम्पादन के उपरान्त) तुरत मिल जाते हैं। अत (फल प्राप्ति के काल के विषय मे) कोई निश्चितता नही है। किन्तु स्वर्ग का उपभोग (इसी जीवन मे सम्पादित कृत्यो के फल के रूप मे) परलोक मे ही होता है। स्वर्ग निरतिशय प्रीति (अर्थात् आनन्द) है और कर्म के अनुरूप ही उसकी प्राप्ति होती है, किन्तु इसका उपभोग इस जन्म मे नही हो सकता, क्योकि मनुष्य इस लोक मे प्रत्येक क्षण मे सुख एव दुख का अनुभव करता रहता है। प्रत्येक सुख ज्योतिष्टोम से ही नही प्राप्त होता और प्रत्येक व्यक्ति ज्योतिष्टोम करता भी नही। किन्तु कुछ सुख मनुष्य को प्राप्त होता ही है। अत यह स्वाभाविक है। निरतिशय सुख के अनुभव के लिए दूसरे शरीर की कल्पना करनी ही है, क्योकि कोई अन्य तर्कसगत व्याख्या नही मिल पाती। वह निरतिशय सुख (प्रीति) व्यक्ति के पास तब तक नही आती जब तक कि वह जीता रहता है, अत स्वर्ग का उपभोग दूसरे जीवन मे ही होता है।[९]

(६) **मोक्ष** पू० मी० सू०, शबर एव प्रभाकर ने मोक्ष के विषय मे नही लिखा है। कुमारिल एव प्रकरण-पञ्चिका ने इस पर विचार किया है। दोनो मे आया है कि मोक्ष की प्राप्ति हो जाने पर पुन शरीर धारण नही होता। श्लोकवार्तिक मे आया है—'जो मोक्ष प्राप्त करना चाहता है उसे निषिद्ध कर्म नही करना चाहिए और न काम्य (यथा सन्तान, धन आदि के लिए किया जाने वाला) कर्म ही करना चाहिए, उसे नित्य (यथा अग्निहोत्र) एव नैमित्तिक (स्नान, जप, दान जो विशेष पर्व, ग्रहण आदि मे किया जाता है) कर्म करने चाहिए जिससे उन पापो से छुटकारा हो जो इन कर्मों के न करने से एकत्र होते है, यदि व्यक्ति नित्य एव नैमित्तिक कर्मो के फलो की कामना नही करता तो वे उसे प्राप्त नही होगे, क्योकि ऐसे फल केवल उन्ही को प्राप्त होते है जो उन्हे चाहते हैं। पूर्व जीवन के कर्मों के फलो का निवारण उस जन्म मे भोगने से होता है जिसमे मोक्ष की खोज की जाती है। यह मत शकराचार्य (वे० सू० ४।३।१४) की धारणा से मेल नही खाता, क्योकि शकराचार्य ने ऐसा कहा है कि बिना आत्म-ज्ञान के मोक्ष की प्राप्ति नही होती (श्वेत० उप० ३।८)। उसी सूत्र के अपने भाष्य

९ पुत्रादीनि कामयमानस्योपायो विधीयते। उपाये च कृते नियतमुपेयेन भवितव्यम्। तदा पूर्वजन्मन्यशुभं कृतम्। तच्चानुभाव्य तस्मात्पूर्वजन्मकृतमनुभूयते। तत्र यदि जन्मान्तरकृतोऽधर्म प्रक्षीणस्तत इहैव जन्मनि फलम्। अथाक्षीणस्ततस्तेन बद्धसाधक फलमुत्कृष्यते। फल भवतीत्येतावति विधिशब्दोऽस्ति न त्वनन्तरत्वे तस्मादनियम। स्वर्गस्तु जन्मान्तर एव। स हि निरतिशया प्रीति कर्मानुरूपा चेति न शक्येह जन्मन्यनुभवितुम्। यतोऽस्मिँल्लोके क्षणे क्षणे सुखदु खे अनुभवन्ति। न च प्रीतिमात्र ज्योतिष्टोमफलम्। प्राणिमात्रस्य च सा विद्यते न च प्राणिमात्र ज्योतिष्टोम करोति। तस्मात्स्वाभाविक्यसौ। देहान्तर तु निरतिशयप्रीत्यनुभवनायान्यथानुपपत्त्या कल्प्यते। तच्चामृतस्य न भवतीत्यतो जन्मान्तरे स्वर्ग। टुप्टीका (४।३।२८)। यह द्रष्टव्य है कि यहाँ पर प्रीति (सुख-क्षण) एव निरतिशयप्रीति मे अन्तर दर्शाया गया है। टुप्टीका (६।१।१) मे आया है कि सिद्धान्त मत के अनुसार स्वर्ग का अर्थ है 'प्रीति' किन्तु पूर्वपक्ष मे आया है कि स्वर्ग उन वस्तुओं के साधनों का द्योतन करता है जिनसे प्रीति (या सुख) उत्पन्न होती है, किन्तु दोनों ऐसा नहीं कहते कि स्वर्ग कोई स्थान है, 'एकस्य प्रीति स्वर्गशब्दवाच्या अपरस्य प्रीतिमद् द्रव्यम्। विशिष्टो देश उभयोरप्यवाच्य' टुप्टीका (पू० मी० सू०, ६।१।१)।

मे उन्होने, ऐसा प्रतीत होता है, कुमारिल के मत की आलोचना की है। कुमारिल के अनुसार आत्म-ज्ञान के विषय मे उपनिषदो की उक्तियाँ केवल अर्थवाद हैं, क्योकि वे कर्ता को यह ज्ञान देती है कि वह आत्मवान् है और आत्मा की कुछ विशेषताएँ है। किन्तु शकर का कथन है (वे० सू० १।१।१) कि पूर्व मीमासा एव ब्रह्म-मीमासा मे फल, जिज्ञासा का विषय एव वैदिक प्रबोधनवाक्य (चोदना) भिन्न हैं। कुछ स्मृतियो ने इस बात की खिल्ली उडायी है कि केवल आत्मज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी। उदाहरणार्थ, वृहद्योगियाज्ञवल्क्य (९।२९ एव ३४) मे आया है कि 'ज्ञान एव कर्म दोनो से मोक्ष की प्राप्ति होती हैं'। ऐसा कहना कि केवल ज्ञान मोक्ष की ओर ले जायगा, प्रमाद का प्रतीक हे तथा शरीरश्रम के भय से अबोध लोग कर्म करना नही चाहते।[१०]

पूर्वमीमासा के आरम्भिक एव प्रमुख लेखको के सिद्धान्त विचित्र एव चकित करने वाले है। वेद की अमरता (नित्यता) एव स्वयभूता के विषय मे उनके तर्क भ्रमजनक हैं और अन्य प्राचीन भारतीय सिद्धान्तो द्वारा भी अगीकृत नही हो सके ह। प्रभाकर एव कुमारिल दोनो ने अपने सिद्धान्त के अन्तर्गत ईश्वर को फलदाता या प्रार्थना से प्रसन्न होकर मनुष्य की नियति का शासन करने वाले के रूप मे कोई स्थान नही प्राप्त है। वे स्पष्ट रूप से ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार तो नही करते, किन्तु वे वैदिक उक्तियो मे वर्णित देवताओ एव ईश्वर को गौण स्थान देते हैं या व्यावहारिक रूप से उन्हे न-कुछ समझते हैं। वे यज्ञ को ईश्वर की स्थिति तक उठा देते हैं और उनके यज्ञ-सम्बन्धी सिद्धान्त एक प्रकार से व्यावसायिक-से[११] हैं, यथा—व्यक्ति को इतने कर्म करने चाहिए, पुरोहितो को दान देना चाहिए, हवि देना चाहिए, कुछ सदाचार के नियमो का पालन करना चाहिए, (यथा, मास न खाना, केवल दूध पी कर जीना) क्योकि ऐसा करने से बिना ईश्वर की मध्यस्थता के फल की प्राप्ति हो जाती है[१२]। धार्मिक सवेगो (भक्ति आदि) के प्रति कोई प्रेरणा नही है, किसी सर्वज्ञ की चर्चा नही है, न तो कोई स्रष्टा है और न लोक की सृष्टि। पूर्वमीमासा ने निस्सन्देह जीवन मे मनुष्य के कर्तव्यो (एव अधिकारो) पर बल दिया है। अन्य दर्शनो ने विशेष रूप से इस ससार से मुक्त हो जाने तथा मृत्यूपरान्त मनुष्य की नियति से अपने को अधिक सम्बन्धित रखा हे। पू० मी० सू०, शबर एव कुमारिल ने वैदिक वचनो के विवरण या व्याकरण के प्रति महत्त्वपूर्ण योगदान किये हैं। शबर के भाष्य में लगभग ७ सहस्र उद्धरण हैं, जिनमे कई सौ की पहचान अभी तक नही हो सकी है। इनमे से कम-से-कम एक सहस्र तै० स० एव तै० ब्रा० से लिये गये हैं। लगभग १२ अधिकरणो का सम्बन्ध अध्रिगुप्रैष से है। कुछ अधिकरण तो प्रैष मे प्रयुक्त कुछ शब्दो की व्याख्या

१० ज्ञान प्रधान न तु कर्महीन कर्म प्रधान न तु बुद्धिहीनम्। तस्माद् द्वयोरेव भवेत सिद्धिर्नह्येकपक्षो विहग प्रयाति॥ परिज्ञानाद्भवे‍न्मुक्तिरेतदालस्यलक्षणम्। कायक्लेशभयाच्चैव कर्म नेच्छन्त्यपण्डिता॥ बृहद्योगिया० (९।२९, ३४ कृत्यकल्प द्वारा उद्धृत, पृ० १४६)।

११ ईश्वर से व्यावसायिक व्यवहार के लिए देखिए मन्त्र 'देहि मे ददामिते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारमिन्नि मे हरा निहार नि हरामि ते। तै० स० (१।८।४।१-२), वा० स० ३।५०), मिलाइए अथर्ववेद (३।१५।६)।

१२ देखिए तै० स० (२।५।५।६) जहाँ दर्शपूर्णमास मे सलग्न व्यक्ति के विषय में उल्लेख है तस्यैतद्व्रत-मानन वदेन्न मासमश्नीयान्न स्त्रियमुपेयान्नास्य पल्पूल्नेन वास पल्पूलयेयु' एव तै० स० (६।२।५।२-३) जहाँ पय, यवागू एव आमिक्षा का प्रयोग क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य के लिए उचित भोजन कहा गया है। जैमिनि (४।३।८-९) मे घोषित किया है कि यह क्रतवर्थ (आवश्यक) है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ११३९-११४० जहाँ अग्निष्टोम यज्ञ के लिए दीक्षित व्यक्ति के लिए नियमों का उल्लेख है।

से सम्बन्धित हैं (देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ११२१ एव पाद-टिप्पणी २५०४)। शबर एव कुमारिल ने आत्मा के विषय मे जो धारणाएँ व्यक्त की है उनसे पूवमीमासा को दार्शनिक महत्त्व प्राप्त हो सका है। वैदिक एव वैदिकोत्तर विवरण अथवा व्याकरण के निमित्त शवर की देनो के विषय मे विशद् अध्ययन के लिए देखिए डा० एस्० वी० गर्ग का ग्रन्थ 'साइटेशस इन शबर-माष्य (पृ० १४०-२१३, पूना, १९५२)।

इस सिद्धान्त से कि वेद नित्य है और सर्वोच्च प्रमाण वाला है, कतिपय अवाञ्छित प्रवृत्तियाँ उठ खडी हुई हैं। नये सिद्धान्तो के प्रवर्त्तक बडी कठिनाई से यह सिद्ध करने का प्रयास कर बैठते हैं कि उनके सिद्धान्तो के पीछे वैदिक प्रमाण है। उदाहरणार्थ, वे० सू के १।१।५-१८ सूत्र यह बताते है कि उपनिषदे प्रधान को विश्व का कारण नही मानती, जैसा कि साख्य लोग कल्पना करते है। शकराचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि साख्यो ने वेदान्त वचनो को अपने सिद्धान्तो के अनुरूप व्याख्यायित कर डाला है और इसी से उनके तर्क का खण्डन उन्हें वे० सू० (१।१।५-१८) मे करना पडा। हमने यह बहुत पहले देख लिया है कि किस प्रकार शाक्त पूजा के अनुयायियो ने ऋ० (५।४७।४ चत्वार इ विभ्रति आदि-आदि) की व्याख्या अपने शाक्त सिद्धान्तो की पुष्टि मे कर डाली है और उपनिषद् नाम से उद्घोषित करके अपने गन्थो को मान्यता देने का प्रयास किया है, यथा—भावनोपनिषद्। शबर ने अपने पू० मी० सू० के भाष्य मे यह कहा है कि विज्ञानवादी बौद्धो ने अपने समर्थन मे बृहदारण्यकोपनिषद् (४।५।१३ विज्ञानघन इवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सज्ञास्ति) की बाते रख दी हैं। अत्यन्त चकित करने वाले उदाहरणो मे एक है आनन्दतीर्थ (जो मध्वाचार्य भी कहलाते हैं) द्वारा उपस्थापित ऋ० (१।१४१।१-३) की व्याख्या। आनन्दतीर्थ ने 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' मे अपने को वायु का तीसरा अवतार माना है, (दो अन्य अवतार हैं, हनूमान एव भीमसेन) और यह कहने का प्रयत्न किया है कि ऋ० (१।१४१।१-३) इन तीन अवतारो की ओर सकेत करता है। 'मध्व' एव 'मातरिश्वा' शब्द (जिनका अर्थ है वायु देव) ऋ० (१।१४१।३) मे प्रयुक्त हैं। इतना ही इस बात को कहने के लिए पर्याप्त था कि द्वैत सिद्धान्त के प्रवर्तक मध्व ऋग्वेद मे उल्लिखित हैं। यदि वेद मे भीमसेन (जो परम्परा से दी हुई महाभारत की तिथि के अनुसार लगभग ५००० वर्ष पूर्व हुए) का सकेत है और मध्व का (जो लगभग ७०० वर्ष पूर्व हुए थे) उल्लेख है तो वेद नित्य कैसे कहा जायगा और स्वय मध्वाचार्य वेद की अनित्यता के प्रत्युत्तर मे क्या कहेंगे ? स्पष्ट है, वेद इन तिथियो के उपरान्त प्रणीत हुआ होगा ! यह तर्क कि यह सकेत किसी पूर्व कल्प का है, नही ठहर सकता, क्योकि वह कल्प, मन्वन्तर एव महायुग जिनमे भीम एव मध्वाचार्य हुए तथा अर्वाचीन काल अभी एक ही है। द्वापर (जिसमे भीमसेन थे) के अन्त मे कोई प्रलय नही हुआ, प्रत्युत उसी समय कलियुग आरम्भ हो गया। महाभारत का युद्ध द्वापर एव कलि (आदि पर्व २।१३) के बीच मे हुआ तथा युद्ध के समय कलियुग का आरम्भ होने वाला था (वनपर्व—एतत् कलियुगे नामाचिराद्यद् प्रवर्तते, एव शल्य० ६०।२५ प्राप्त कलियुग विद्धि)। इसी प्रकार के स्वत्वप्रतिपादन के कारण अप्पय दीक्षित ऐसे प्रसिद्ध लेखको ने उनकी भर्त्सना की है। अप्पय दीक्षित ने अभियोग लगाया है कि मध्वाचार्य ने अपने सिद्धान्त के समर्थन मे कपट-रचना द्वारा वैदिक एव अन्य वचनो का उद्धरण दिया है। देखिए इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द ६२, पृ० १८९) जहाँ पर श्री वेकटसुब्बियाह ने ३० से अधिक ऐसे ग्रन्थो के नाम दिये हैं, जिन्हें मध्व ने उल्लिखित किया है, किन्तु वे ग्रन्थ वास्तव मे कही नही पाये जाते। म० म० चिन्नस्वामी ने, जिन्होने अप्पय के ग्रन्थ को ६० श्लोको मे सम्पादित किया है, जिसमे 'मध्वमतविध्वसन' नामक अप्पय की टीका भी है और स्वय उनकी टिप्पणी भी है, पृ० ४ पर ३६ अज्ञात ग्रन्थो तथा सूत्रो का उल्लेख किया है जहाँ पर वे अप्पय द्वारा उदाहृत हुए हैं। यह द्रष्टव्य है कि शकर एव रामानुज ऐसे महान् आचार्यों ने अपने ग्रन्थो मे यह कही भी नही लिखा कि वे किसी देवता के अवतार थे। यदि किन्ही ने कुछ कहा तो वे उनके शिष्य लोग थे।

यह स्थापित करने के उपरान्त कि वेद नित्य और स्वयम्भू है, मीमासको ने अपने वैदग्ध्य, तर्क-शक्ति एव युक्ति का खुल कर प्रयोग किया है। उनका अपना एक विशेष तर्क है जिसके द्वारा वे न केवल वेद-वचनो की व्याख्या करते हैं प्रत्युत वे स्मृतियो एव धर्मशास्त्र-सम्बन्धी मध्यकालीन ग्रन्थो (जिनमे व्यवहार अथवा कानन, विधि आदि सम्मिलित है) का निरूपण उपस्थित करते हैं। जैसा कि कोलब्रुक ने, जो कि अत्यन्त सम्यक् एव उचित विचार रखने वाले पाश्चात्य सस्कृत विद्वानो मे परिगणित होते हैं, आज से १४० वर्ष पूर्व कहा है कि मीमासा पर जो विमर्श हुए हैं वे व्यावहारिक (कानूनी) प्रश्नो से सादृश्य रखते हैं, और वास्तव मे हिन्दू कानून (व्यवहार) लोगो के धर्म से सना हुआ है, उसी प्रकार का तर्क सब बातो मे प्रयुक्त होता है। मीमासा का तर्क कानून (व्यवहार) का तर्क है, वह लौकिक एव धार्मिक अनुशासनो (अध्यादेशो) की व्याख्या का नियम है। प्रत्येक विषय की जाँच होती है और वह निश्चित की जाती है और इस प्रकार के निर्णीत विषयो से ही सिद्धान्त एकत्र किये जाते हैं। उन सबका सुव्यवस्थित ढग व्यवहार (कानून) का दर्शन है, और इसी का सचमुच, मीमासा मे प्रयास किया गया है (फुटकर निबन्ध, जिल्द १, पृ० ३१६-३१७, मद्रास, १८३७ ई०)।

वैदिक सामग्री का प्रथम विभाजन मन्त्र एव ब्राह्मण रूप मे है। हमने यह पहले ही देख लिया है कि वे ही मन्त्र कहे जाते हैं जो उस रूप मे विद्वानो द्वारा स्वीकृत हैं। पू० मी० सू० (२।१।३१-३२) मे व्यवस्था है कि मन्त्र वह है जो केवल दृढता पूर्वक कहता है (उत्साह देने वाला नही है) या (वही बात दूसरे ढग से) 'वे मन्त्र हैं जो उस नाम से इसलिए पुकारे जाते हैं क्योकि वे कुछ दृढ़तापूर्वक कहते हैं'। शबर (पू० मी० सू० १।४।१) ने कहा है कि मन्त्र वह है जो यज्ञ की विधि के समय यजमान को व्यवस्थित बात का स्मरण दिलाता है या उसे स्पष्ट करता है, यथा—'मैं कुश घास (को अग्र भाग) काटता हूँ जहाँ देवता का निवास है'। यह मन्त्र का एक सामान्य वर्णन हुआ, न कि उसकी सम्यक् परिभाषा। केवल यज्ञो मे उच्चारण से ही मन्त्र उपयोगी नही होते, प्रत्युत वास्तव मे वे अभिधायक होते हैं (अर्थात् क्या किया जाना चाहिए या क्या किया जा रहा है उसको स्मरण दिलाने वाले)। शबर की टिप्पणी है कि केवल लक्षण से ही मन्त्रो की अभिज्ञता होती है न कि मन्त्रो की कुछ विशेषताओ के वर्णन से, जैसा कि वृत्तिकार ने किया है, यथा—कुछ लोग 'असि' (तू है) से अन्त करते है या 'त्वा' से जैसा कि तै० स० (१।१।१) के 'इषे त्वा' मे है, प्रार्थना या आकाक्षा से (यथा तै० स० १।६।६।१ मे 'आयुर्दा असि') या प्रशसा से (अग्निर्मूर्धा दिव, तै० स० ४।४।४)। शबर ने दर्शाया है कि 'असि' एव 'त्वा' मन्त्रो के मध्य मे भी पाये जाते हैं, अन्य विशेषताएँ, यथा—आशीर्वचन एव प्रशसा ब्राह्मणो मे भी पायी जाती हैं। मीमासा-बाल-प्रकाश मे आया है कि मन्त्रो के एक सौ प्रकार हैं और यदि हम चौदह वैदिक छन्दो एव उनके उप-विभाजनो को भी सम्मिलित करें, केवल ऋक् मन्त्रो (ऋचाओ) की २७३ विभिन्न कोटियाँ प्राप्त हो जायेगी (पृ० ६६-६७)। कुछ ऐसे वचन हैं जो मन्त्र कहे जाते हैं (यथा—'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते', वाज० स० २४।२०) जो न केवल दृढतापूर्वक कहे गये हैं प्रत्युत याग की विधि से सम्बन्वित हैं (यथा अश्वमेध से, वाज० स० २४।२०)।

मन्त्रो को तीन शीर्षको मे बाँटा गया है, यथा—ऋक्, साम एव यजु। इनकी परिभाषा पू० मी० सू० (२।१।३५-३७) मे की हुई है। 'ऋक्' नाम उन मन्त्रो के लिए प्रयुक्त है जो मात्रायुक्त पादों मे (बहुधा) अर्थ के आधार पर विभाजित हैं।[13] 'साम' उन वैदिक मन्त्रो का नाम है जो गाये जाते हैं।

१३ तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः। पू० मी० सू० (२।१।३५-३७)। 'अग्निमीळे पुरोहित' (ऋ० १।१।१) मे प्रथम पाद मे पूर्णभाव है, किन्तु 'अग्नि पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो

पू० मी० सू० (७।२।१-२१ एव ९।२।१-२) में ऐसा स्थापित है कि मन्त्र-वचन[१४] 'साम' नही कहे जाते, किन्तु केवल गीति वाले इस नाम से पुकारे जाते हैं, वह गीति क्रिया है जो गायक द्वारा भीतरी प्रयत्न से विभिन्न स्वरो के रूप मे अभिव्यक्त होती है और सगीतमय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए गायक को ऋचा के अक्षरो को परिष्कृत करना पडता है, उनमे कुछ भागो को इधर-उधर करना होता है, छोड देना होता है, वार-बार दुहराना होता है या कही-कही उनमे रोक लगानी पडती है और स्तोम[१५] देना होता है। ७।२।१-२१ मे पू० मी० सू० ने यह स्थापित किया है कि 'रथन्तर साम' एव 'बृहत्साम' शब्द केवल गीति की ओर निर्देश करते हैं, वे ऋचा या उस मूल वचन की ओर जो सगीतमय बना दिया गया है कोई सकेत नही करते। 'यजु' वे मन्त्र हैं जो न तो 'ऋक्' हैं और न 'साम'। एक अन्य शब्द है 'निगद' जो कुछ ऐसे मन्त्रो के लिए प्रयुक्त होता है जो निर्देश रूप में अन्य लोगो को सम्बोधित हैं, यथा—अग्नीदग्नीन् विहर', 'प्रोक्षणीरासादय', 'इध्माबर्हिरूपसादय', और जो उच्च स्वर से कहे जाते हैं। ये 'यजु (अर्थात् गद्य मे) हैं, केवल एक अन्तर यह हे कि वे उच्च स्वर से कहे जाते हैं (अत जिनसे कहा जा रहा है वे सुन सके)। किन्तु अन्य सामान्य 'यजु' धीरे कहे जाते हैं। देखिए पू० मी० सू० (२।१।३८-४५) जहाँ निगदो पर विवेचन है और मैत्रायणीसहिता (३।६।५) जहाँ 'उच्चैर्ऋचा क्रियत उच्चै सामोपाशु यजुषा' आया है।

मन्त्र एव ब्राह्मण मिल कर वेद कहे जाते हैं। पू० मी० सू० (२।१।३३) मे आया है कि वेद के वे अश जो मन्त्र नही हैं और न मन्त्र कहे जा सकते हैं, ब्राह्मण हैं[१६]। शबर ने टिप्पणी की है कि वृत्तिकार

नूतनैरुत (ऋ० १।१।२) मे भाव (अर्थ) प्रथम पाद मे पूर्ण नहीं हो सका है। अत परिभाषा केवल 'पादव्यवस्था' है तथा 'अर्थवशेन' केवल दार्ष्टान्तिक हैं, जैसा कि शबर ने कहा है 'यतो नार्थवशेनेति वृत्तादिवशव्यावृत्त्यर्थं, किं नर्हि अनुवाद एष प्रदर्शनार्थ। तस्माद्यत्र पादकृता व्यवस्था सा ऋगिति।'

१४ तस्माद्गीतय सामानि न प्रगीतानि मन्त्रवाक्यानि। शबर (पू० मी० सू० ९।२।२), सामवेदे सहस्र गीत्युपाया। गीतिर्नाम क्रिया। सा आभ्यान्तरप्रयत्नजनितस्वरविशेषाणामभिव्यञ्जिका। सा सामशब्दाभिलप्या। सा नियतपरिमाणा। ऋचि च गीयते। शबर (पू० मी० सू० ९।२।२९)। 'सर्वे देशान्तरे' वार्तिक पर प्रथम आह्निक मे महाभाष्य का कथन है चत्वारो वेदा साङ्गा सरहस्या बहुधा विभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखा सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्य नवधाथर्वणो वेद। यहाँ पर सामवेद के लिए 'शाखा' नहीं प्रयुक्त हुआ है प्रत्युत 'वर्त्मन्' (ढग) शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसा कि शबर ने स्पष्ट कहा है कि सामवेद मे एक सहस्र गीत्युपाय हैं, अत सहस्रवर्त्मा का अर्थ है 'सहस्रगीत्युपायवान्' और 'सहस्रवर्त्मा' को 'सहस्रशाख' कहना ठीक नहीं है, जैसा कि बहुत-से विद्वानों ने किया है। विष्णुपुराण (३।६) ने सामवेद के पाठान्तरो का भ्रामक विवरण उपस्थित किया है, श्लोक ३ एव ६ में क्रम से १००० सहिताओं (सुकर्मा द्वारा उद्भावित) एव २४ सहिताओं (हिरण्यनाभ के शिष्य द्वारा उद्भावित) का उल्लेख है।

१५ गानो मे जो ऊपर से जोडा जाता है उसे स्तोभ कहते हैं, यथा हाउ, हाइ, ई, ऊ, हुम् आदि। देखिए छान्दोग्योपनिषद् (१।१३।१-३) जहाँ 'हुम्' को १३ वाँ स्तोभ कहा गया है (उसे परम ब्रह्म भी कह दिया गया है) और अन्य १२ स्तोभो का उल्लेख किया गया है, यथा—हाउ, हाइ, ई, ऊ० आदि। देखिए जै० (९।२।३९, अधिकं च विवर्णं च जैमिने स्तोभशब्दवात्)।

१६ शेषे ब्राह्मणशब्द। पू० मी० सू० (२।१।३३), 'मन्त्राश्च ब्राह्मण च वेद। तत्र मन्त्रलक्षण उक्ते परिशेषसिद्धत्वात् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयं मन्त्रलक्षणवचनेनैव सिद्धम्। शबर।

ने छात्रों को ब्राह्मण-भाग की जानकारी प्रदान करने के लिए कुछ ऐसी विशेषताएँ प्रदर्शित की है जो ब्राह्मण-भाग में पायी जाती हैं, यथा वे अंश जिनमे 'इति' या 'इत्याह' कथा-वार्ता, किसी आदेश के कारण, व्युत्पत्ति, भर्त्सना, प्रशंसा, आशंका, आदेश, उदाहरण (जहाँ किसी अन्य ने वही कार्य किया है), पूर्व युगो मे हुई घटनाएँ, मूल को देखकर (उस पर विचार करने के उपरान्त) अर्थ में परिवर्तन करना आदि आये रहते हैं[१७]। शबर ने दो ऐसे श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें ब्राह्मण-वचनों की विशेषताओ को दस शीर्षकों में रखा गया है और उन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि यह सब केवल दृष्टान्त-सम्बन्धी हैं और वृत्तिकार द्वारा उल्लिखित विशेषताएँ मन्त्रो मे भी पायी जाती हैं, यथा 'इति' (ऋ० १०।११९।१), 'इत्याह' (ऋ० ७।४१।२), 'आख्यायिका' (ऋ० १।११६।३), 'हेतु' अर्थात् कारण (ऋ० १।२।४)। केवल ऋग्वेद मे १० सहस्र से अधिक मन्त्र पाये जाते हैं। सभी वैदिक कृत्यो मे इन मन्त्रो के एक-तिहाई से अधिक प्रयोग मे नही लाये जाते। शेष का प्रयोग जप में होता है। इसके अतिरिक्त अन्य वेदो के भी सहस्रो मन्त्र हैं। अत मन्त्र की कोई औपचारिक परिभाषा नही की जाती है और केवल इतना ही कहना पर्याप्त माना जाता है कि मन्त्र वे हैं जो उस रूप मे विद्वानो द्वारा मान्य ठहराये गये हैं[१८]।

प्रत्येक वेद के साथ ब्राह्मणो का संयोजन हुआ है, यथा—ऐतरेय एवं कौषीतकि ब्राह्मण ऋग्वेद के हैं, तैत्तिरीय कृष्ण यजुर्वेद का है, शतपथ शुक्ल यजुर्वेद का है, ताण्ड्य सामवेद का तथा गोपथ यजुर्वेद का है। ब्राह्मणो में भारोपीय भाषाओ के सबसे प्राचीन ज्ञात गद्य के रूप मे पाये जाते हैं, यद्यपि गद्य के सूत्र (नियम), जो सम्भवत ब्राह्मणो के गद्यो से प्राचीन हैं, कृष्ण एवं शुक्ल यजुर्वेद संहिताओ मे पाये जाते हैं। यज्ञो, धार्मिक कृत्यो एवं पुरोहितो के विषय मे जानकारी देने मे वे प्रमुख उपकरण माने जाते हैं। उनमे धार्मिक कृत्यों एवं यज्ञो को बताने के लिए बहुत-सी कथा-वार्ताएँ, किंवदन्तियाँ आदि पायी जाती हैं। उनमे देवो एवं असुरो के युद्धो का उल्लेख है और उनमें शब्द-व्युत्पत्तियाँ पायी जाती हैं। उनके विषयो को हम दो कोटियों में विभाजित कर सकते हैं, यथा—विधियाँ (ऐसे वचन जो आदेशयुक्त एवं उपदेशात्मक हैं) एवं अर्थवाद (व्याख्यात्मक वचन)। अर्थवादो के विषय-क्षेत्र एवं उद्देश्य के विषय मे आगे लिखा जायगा। किन्तु एक बात द्रष्टव्य है कि मीमांसक लोग यह कभी भी स्वीकार नही करते कि वेद का कोई भी अंश, यहाँ तक कि अल्प से अल्प अंश भी, व्यर्थ या निरर्थक है।

अब हमे यह देखना है कि मीमांसक लोग किस प्रकार वेद की बातो पर विचार करते हैं। आज का विद्यमान वैदिक साहित्य अति विशाल एवं विभिन्न प्रकार का है। जब एक बार यह मान्य हो जाता है कि

१७ हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधि। परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना। उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु। एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्॥ शबर द्वारा २।१।३३ पर उद्धृत। तन्त्रवार्तिक ने व्याख्या की है कि यहां पर विधिलक्षण मे 'विधि' शब्द का अर्थ है ब्राह्मण। 'व्यवधारणकल्पना' के विषय मे इसका कथन है, 'यत्रान्यथार्थं प्रतिभातं पौर्वापर्यालोचनेन व्यवधार्य अन्यथा कल्प्यते सा व्यवधारणकल्पना तद्यथा प्रतिगृह्णीयादिति श्रुतं प्रतिग्राह्येदिति कल्पयिष्यते।' 'परकृति' एवं पुराकल्प के विषय मे कथन यो है 'एकपुरुषकर्तृकमुपाख्यानं परकृति बहुकर्तृकं पुराकल्प'। ब्रह्माण्डपुराण (२।३४।६३-६४)ने व्याख्या की है 'अन्यस्यान्यस्य चोक्तिर्या बुधैः सोक्ता पुराकृतिः। यो ह्यत्यन्तपरोक्षार्थः स पुराकल्प उच्यते॥'

१८ स्वाध्याये पठ्यमानेषु येषु मन्त्रपदं स्मृतम्। ते मन्त्रा नाभिधानं हि मन्त्राणां लक्षणं स्थितम्॥ तन्त्रवार्तिक (पू० मी० सू०, २।१।३४)।

वेद स्वयम्भू है और इसका प्रणयन किसी मानव या दिव्य शक्ति द्वारा नहीं हुआ है, इसका कोई भी भाग स्पष्ट रूप से अमोघ हो जाता है अर्थात् प्रामाणिकता मे अस्खलनशील हो जाता है। वेद धर्म की जानकारी का एक मात्र साधन है, अत मीमासको को यह मान्य हो गया कि जो कुछ वेद कहता है वह प्रामाणिक है[19]। किन्तु बहुत-से वैदिक वचन एक-दूसरे के विरोध मे पड जाते हैं और सामान्य अनुभव के विपरीत पड जाते हैं। इन कठिनाइयो को स्पष्ट करने के लिए कुछ विस्मयावह उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। तै० स० (५।२।७) एव मैत्रायणी स० मे आया है कि खाली पृथिवी, आकाश एव अन्तरिक्ष मे अग्नि-वेदिका नही बनानी चाहिए[20]। आकाश या अन्तरिक्ष मे कोई भी वेदिका नही बना सकता, जो असम्भव है उसे वेद अमान्य ठहराता है, अत यह निषेध प्रथम दृष्टि मे अर्थहीन-सा लगता है। तै० ब्रा० (३।८।१०।५) मे आया है कि पूर्णाहुति देने से यजमान सभी वाञ्छित वस्तुएँ प्राप्त करता है। यदि पूर्णाहुति सभी वस्तुएँ प्रदान कर देती है तो अग्निहोत्र आदि की क्रियाएँ करने से क्या लाभ ? क्या वेद ऐसा समझता है ? वेद मे व्यक्तियो के विषय मे आख्यान एव अनुश्रुतियाँ पायी जाती है, यथा—तै० स० ने बबर प्रावाहणि का उल्लेख किया है, जो एक प्रभावशाली वक्ता बनना चाहता था और उसकी इच्छा की पूर्ति के लिए उसने पञ्चरात्र नामक यज्ञ किया और अपनी वाञ्छित बात प्राप्त भी की। अत इस बबर के उपरान्त वेद की रचना मानी जायगी और इस प्रकार वेद का नित्यत्व समाप्त हो जायगा। अत शबर का कहना है कि वह कथा जो कभी घटित नही हुई थी, केवल स्तुति या प्रशसा के लिए कह दी गयी है। इस प्रकार का कथन इस बात का द्योतक है कि यह मात्र एक बहाना है, वास्तव मे इस प्रकार की व्याख्या वेद के पक्ष मे नही जाती। यहाँ पर एक ऐसी गाथा कही गयी है जो कभी घटी नही और वह भी वेद के किसी आदेश को बढ़ावा देने के लिए। यदि लोग यह जान ले कि यह गाथा असत्य है (जैसा कि शबर ने व्याख्या की है) तो वे उस कृत्य को सम्पादित न करना चाहेगे। इस विषय में एक सच्ची कथा अधिक उपयुक्त होती। तन्त्रवार्तिक ने शबर की व्याख्या से उत्पन्न कठिनाई को दूर करने का प्रयास किया है।

१९ शब्दप्रमाणका वय यच्छब्द आह तदस्माक प्रमाणम्। शबर (पू० मी० सू० ३।२।३६)। वार्तिक ६ (प्रथम आह्निक) पर महाभाष्य मे भी ये ही शब्द आये हैं।

२० न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि—इत्याहु। अमृत वै हिरण्यममृते वा एतदग्निश्चीयते। मै० स० (३।२।६)। देखिए पू० मी० सू० (१।२।५ एव १८) एव व्यवहारमयूख (पृ० २०२, जो कहता है कि यह 'निषेधानुवादमात्रम्' है)। इसका जो तात्पर्य है वह यह है कि जिस प्रकार वायु या आकाश मे अग्निचयन कभी नहीं देखा गया है उसी प्रकार खाली पृथिवी पर भी वह अज्ञात है और इसका सम्पादन पृथिवी पर सोने का एक खण्ड रख कर होना चाहिए। यह सोने की स्तुति (प्रशसा) मात्र है। कात्यायनश्रौतसूत्र (४।१०।५) की टीका द्वारा पूर्णाहुति की व्याख्या है 'पूर्णया स्रुचा आहुति'। बबर प्रावाहणिरकामयत वाच प्रवदिता स्यामिति स एत पञ्चरात्रमाहरत् तेनायजत ततो वै स वाच प्रवदिताऽभवत्। य एव विद्वान् पञ्चरात्रेणयजतेप्रवदितैव वाचो भवत्यथो एन वाचस्पतिरित्याहु। तै० स० (७।१।१०।२-३)। प्रावाहणि का अर्थ है 'प्रवाहण का पुत्र'। देखिए पू० मी० सू० (१।२।६ एव १८)। शबर ने टीका की है 'असद्वृत्तान्तान्वाख्यान स्तुत्यर्थेन प्रशसाया गम्यमानत्वात्' (१।२।१०), जिसपर तन्त्रवार्तिक की टिप्पणी है एव वेदेपिविधिना तावत्फलमवगमितमर्थवादास्त्वसत्येननामप्ररोचयन्तु न तद्गते, सत्यासत्यत्वे किंचित् दूषयत प्रवर्तनमात्रोपकारित्वात्। तस्मादुपाख्यानासत्यत्वमतन्त्रम्।' तन्त्रवा० (१।२।१०)।

कभी-कभी वेद को तीन भागो मे बाँटा जाता है, यथा—विधि, अर्थवाद एव मन्त्र, उद्भिद एव विश्व-जित् के समान यागो के नाम विधि के अन्तर्गत रखे गये हैं। श्लोकवार्तिक ने अपने अन्तिम श्लोक मे इस त्रिधा विभाजन की ओर सकेत किया है[२१]। धर्म क्या है, अर्थात् क्या करना चाहिए तथा क्या नही करना चाहिए, इसके विषय मे यद्यपि वेद ही उचित ज्ञान का साधन माना गया है, किन्तु वेद के विभिन्न भाग धर्म के उचित ज्ञान से सीधे ढग से नही सम्बन्धित हैं। वेद का अधिकाश मुख्य भाग से मध्यस्थ भाव से ही सम्बन्धित है[२२]। एक स्थान पर शबर ने बडे सक्षिप्त किन्तु स्पष्ट ढग से वैदिक वचनो की तीन कोटियो की परिभाषा की है और दृष्टान्त दे कर समझाया है। वेद को पाँच भागो मे भी बाँटा गया है, यथा—**विधि, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय एव प्रतिषेध**। इन पाँचो के विषय मे ऊपर उल्लेख हो चुका है। यहाँ पर इनके विषय मे कुछ विस्तार से कहा जायगा। **विधि** एक ऐसा आदेश है जो अर्थवान् है, क्योकि इसके साथ एक विषय सयुज्य रहता है जिसका (उपयोगी) उद्देश्य होता है और विधि ऐसी वस्तु की व्यवस्था करती है जो किसी अन्य प्रमाण से स्थापित नही होती। स्वय शबर ने विधि के अर्थ के विषय मे कई स्थलो पर वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, 'स्वर्ग की इच्छा रखने वाले को अग्निहोत्र करना चाहिए' नामक आदेश मे होम करने की व्यवस्था है जो किसी अन्य आदेश (शासन) द्वारा व्यवस्थित नही है और उसका लाभकर उद्देश्य है। इसका अर्थ है कि अग्निहोत्र द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति करनी चाहिए। किन्तु जहाँ कोई कृत्य दूसरे प्रकार से स्थापित होता है, वैसी स्थिति मे उसके साथ कोई सहायक आदेश लगा दिया जाता है। इस प्रकार 'दही के साथ आहुति दी जानी चाहिए' नामक वाक्य मे होम की व्यवस्था 'स्वर्ग की इच्छा करने वाले को अग्निहोत्र करना चाहिए' नामक शब्दो मे पहले से हो चुकी रहती है तो वैसी स्थिति मे केवल उसके सदर्भ मे दही की आहुति देने

२१ इति प्रमाणत्वमिद प्रसिद्ध युक्त्येह धर्म प्रति चोदनाया। अत पर तु प्रविभज्य वेद त्रेधा ततो वक्ष्यति यस्य योर्थ । मीमासा बालप्रकाश (शकरभट्ट कृत) द्वारा उद्धृत (पृ० ७), इस पर न्यायरत्नाकर मे आया है, 'तेन सिद्धेपि चोदनाप्रामाण्ये तत पर विध्यर्थवादमन्त्रात्मना वेद त्रेधा विभज्यतत्स्तुत्यादिप्रयोजनप्रतिपादनेन कृत्स्नस्य वेदस्य तन्मूलयोश्च स्मृत्याचारयोर्धर्मम् प्रति प्रामाण्यमुपरितने पादत्रये प्रतिपादयिष्यत इति समस्तोध्याय प्रमाणलक्षण, नैवेह समाप्तमिति।' पूर्वपक्षसूत्र 'उक्त् समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात् सर्वं तदर्थ स्यात्'(पू० मी० सू० १।४।१) पर शबर का कथन है . 'कश्चिदस्य (वेदस्य) भागोविधिर्योऽविदितमर्थ वेदयति, यथा सोमेन यजेतेति। कश्चिदर्थवादो य प्ररोचयन् विधि स्तौति यथा वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता इति। कश्चिन्मन्त्रो यो विहितमर्थं प्रयोगकाले प्रकाशयति यथा बर्हिदेवसदन दामि-इत्येवमादि। अय अर्थ यस्य स इदमर्थ तस्य भाव ऐदमर्थ्यम्। समाम्नाय का अर्थ है वेद। 'उक्त' पू० मी० सू० (१।२।१) की ओर सकेत करता है (अम्नायस्य क्रियार्थत्वात्)।

२२ शास्त्रदीपिका ने पू० मी० सू० (१।४।१)पर कहा है 'तत्र चोदनैव साक्षात्प्रमाणम्। अर्थवाद-मन्त्रस्मृतिनामधेयानि तच्छेषत्वेन तन्मूलत्वेन च प्रमाण भवन्तीति धर्मप्रमितेरिति कर्तव्यतास्थाने नियतनिपतन्ति।' (पृ० ५४)। यह बात कि विधि का अर्थ है 'वह जो पहले से या किसी अन्य स्रोत से न ज्ञात हो' पूर्वपक्ष-सूत्र (१।२।२६) से प्रकट होती है। 'अविदितवेदन च विधिरित्युच्यते', 'अज्ञातस्य हि ज्ञापन विधि । शबर (१०।३।२०), १।४।८ पर यो कहा गया है 'यद्यज्ञातस्ततो विधि यदि ज्ञातस्ततोनुवाद । न ह्याख्यातमन्तरेण कृत्य या नामशब्दार्थ व्यापरो विधीयते।'

का आदेश है, जहाँ अर्थ यह है कि 'दही द्वारा आहुति दी जानी चाहिए ।' देखिए टुप्टीका (पू० मी० सू० ६।३।१७) एव एम० एन० पी० पृ० १७, भण्डारकर ओरिएण्टल रीसर्च इस्टीट्यूट सस्करण २३।

विधि-विचार

वैदिक वचनो में विधियो का सचयन वेद का सार है और वह कई विशिष्ट कृत्यो की ओर निर्देश करता है। विधि मे केन्द्रीय तत्त्व है क्रिया या क्रियात्मक रूप, जिसकी व्याख्या हम आगे करेगे। प्रश्न यह है—कोई किसी विधि को पहचाने कैसे ? शबर ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसे वे लोग जो शब्दो एव वाक्यो के अर्थों को जानते हैं, परम्परापूर्वक उद्घोषित करते हैं, यथा—सभी वेदो मे विधि के स्थिर एव निश्चित चिह्न होते है कुछ शब्द, यथा—'इसे व्यक्ति अवश्य करेगा', 'इसे करना चाहिए', 'इसे अवश्य करना चाहिए,' 'ऐसा होना चाहिए'। 'इसे ऐसा होना चाहिए'[२४]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विधि सामान्यत विधि लिङ् द्वारा प्रकट की जाती है, तथा वर्तमान काल मे कोई क्रिया सामान्य रूप से विधि नही प्रदर्शित करती। किन्तु कभी-कभी किसी वचन से वर्तमानकाल मे भी विधि की झलक मिल जाती है। उदाहरणार्थ, महापितृपक्ष मे एक वैदिक वचन आया है—'पितृयज्ञ मे चमस के दण्ड (डाँडी) के नीचे समिधा रखकर अनुसरण करना चाहिए, देवो के लिए कृत्य करने वाला दण्ड के ऊपर समिधा रखता है[२५]। इसे विधि के रूप मे

२३ यत्र तु कर्म प्रकारान्तरेण प्राप्त तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रविधानम्। यथा 'दध्ना जुहुयात्' इत्यत्र होमस्य 'अग्निहोत्र जुहुयात्'। इत्यनेन प्राप्तत्वात् होमोद्देशेन दधिमात्रविधानम्, दध्ना होम भावयेत् इति। मी० न्या० प्र० (पृ० १७)।

२४ एवहि पदवाक्यार्थन्यायविद श्लोकमामनन्ति। कुर्यात् क्रियेत ˚ भवेत्स्यादिति पञ्चमम्। एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियत विधिलक्षणम्॥ शबर (पू० मी० सू० ४।३।३)।

२५ दिष्टगताग्निहोत्रे महापितृयज्ञे वा श्रूयते। अधस्तात्समिध धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्योधारयति। पू० मी० सू० (३।४।६) पर तन्त्रवार्तिक द्वारा उद्धृत (शबर गत पाँच सूत्रों के साथ इसे भी छोड दिया है), तदुपरान्त आगे आया है, 'मित्र्ये होमेऽधस्तात् स्रुग्दण्डस्य समिद्धारयितव्या।' दैवे च पुनरुपरिष्टादिति। विधित्वे चैवमादीनामुक्त कल्पनाप्रकार। तस्माद्विधिरिति॥' प० ८६६। यह है कि स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० ७२-७३) ने इस वैदिक वचन का उल्लेख किया है, उसने मामा की पुत्री से विवाह के या अपने की पुत्री से विवाह के औचित्य के विषय मे अपने विवेचन मे शतपथ (१।८।३।६) को उद्धृत करते हुए भी इसे उद्धृत किया है। का वचन यों है 'तत्सात्समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायेते इव हि चतुर्थ पुरुषे तृतीये सगच्छामहे इति विरेव दीव्यमाना आसते' (जहाँ क्रियाएँ वर्तमान काल मे हों और विधि लिंग मे न हो, तब भी स्मृतिचन्द्रिका का कथन है कि यह केवल नहीं है, किन्तु इससे विधि का निर्माण हो जाता है)। और देखिए परा० माघ० (१।२, पृ० ६६-६७) जहाँ ऐसा ही दिया गया है। ऐसा नियम-सा था कि 'हि' (जो कारण की ओर सकेत करता है) या 'वै' (उसकी ओर सकेत करता है जो भलीभाँति ज्ञात है) ऐसे शब्दों का प्रयोग सामान्यत किसी विधि में नहीं होते। देखिए शबर (पू० मी० सू० ६।१।४१) 'न च विधीयमाने वैशब्दो भवति प्रसिद्धवचनो ह्येष दृष्ट., न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति—इति यथा।' न वै आदि ऋ० (१०।९५।१५) में भी आया है।

लिया गया है न कि केवल अर्थवाद के रूप में। एक अन्य दृष्टान्त रात्रिसत्रों (सोमयज्ञ, जो सम्पादन मे १२ दिनो से अधिक समय लेते हैं) से सम्बन्धित है। रात्रिसत्रो के सदर्भ मे एक वचन यो है—'जो लोग रात्रि-सत्र करते हैं वे स्थैर्य (प्रसिद्धि, नाम) प्राप्त करते हैं, उन्हें ब्रह्म-तेज प्राप्त होता है और वे भोजन प्राप्त करते हैं।' यह रात्रिसत्रो के सम्पादन की केवल प्रशसा या स्तुति (अर्थवाद) की भाँति लगता है, किन्तु वास्तव मे यह विधि है जो उपर्युक्त वचन मे वर्णित रात्रिसत्र के फल से सम्बन्धित है और नियम के अपवाद को व्यक्त करती है कि यदि वैदिक वचनों का कोई फल उल्लिखित न हो तो किसी कृत्य का फल स्वर्ग होता है। यही बात मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२२६) मे प्रयुक्त हुई है जहाँ ऐसा आया है कि अज्ञान मे किया गया पाप प्रायश्चित्तो से दूर हो जाता है। सामान्यत पापमय कर्म का नाश ईश्वर द्वारा दिये गये दण्ड द्वारा ही होता है, किन्तु याज्ञवल्क्य ने एक विशिष्ट नियम दे दिया है। मेधातिथि ने मनु० (५।४०, जहाँ यह आया है कि पशु-पक्षी एव औषधियाँ जो यज्ञो में अर्पित होती हैं, उच्च गति पर पहुँच जाती हैं) की बात कहकर यह घोषित किया है कि यह मात्र अर्थवाद है और रात्रिसत्र के दृष्टान्त द्वारा इससे कोई विधि नही कल्पित की जा सकती। देखिए परा० माघ० (१।१, पृ० १४६) जहाँ ऐसा आया है कि स्थिरता (प्रसिद्धि) की इच्छा रखने वाले के लिए रात्रिसत्र के विषय मे दिये हुए वचन से अधिकारविधि की बात कल्पित कर ली गयी है। एकादशीतत्त्व मे रघुनन्दन ने पू० मी० सू० (४।३।१७-१६) की व्याख्या की है और इस न्याय का दृष्टान्त दिया है।

वेदो का अनुसरण करके स्मृतियों ने भी कतिपय विधियो की व्यवस्था की है और क्रियाओ को विधि लिंग मे या 'यत्', तव्यत्' आदि के साथ रख कर विधि-रूप प्रदर्शित किये हैं। उदाहरणार्थ, मनु (४। २५, 'अग्निहोत्र च जुहुयात' एव ११।५३ 'चरितव्यमतो) ने दो ढग के दृष्टान्त दिये हैं। कई दृष्टिकोणो से विधि कई प्रकार से विभाजित की गयी है। एक विभाजन में चार कोटियाँ हैं, यथा—उत्पत्तिविधि (मौलिक नियम या आदेश या विधि) विनियोगविधि (प्रयोग में लायी जाने वाली), प्रयोगविधि (सम्पादन) एव अधिकार-विधि (नियोज्यता)। उत्पत्तिविधि वह है जो सामान्य तथा कृत्य के रूप को दर्शाती है, यथा—'अग्निहोत्र जुहोति' (वह अग्निहोत्र आहुति देता है) मे विनियोगविधि वह है जो किसी गौण अथवा सहकारी विषय को मुख्य कृत्य से सम्बद्ध कर देती है, यथा—'दध्नाजुहोति' (वह दही के साथ आहुति देता है) मे और इसका वर्णन पू० मी० सू० के तीसरे अध्याय मे हुआ है। प्रयोगविधि वह है जो किसी कृत्य के विभिन्न अशो के क्रम को निर्धारित करती है और शीघ्रता हो तथा देरी न हो, इसका निर्देश करती है, यद्यपि बहुधा यह स्पष्ट रूप से कही नहीं जाती प्रत्युत उपलक्षित मात्र होती है। इसका वर्णन पू० मी० सू० के चौथे एव पाँचवें अध्याय में हुआ है। अधिकारविधि (अर्हता या योग्यता) वह है जो किसी कर्म के फल के स्वामित्व की ओर सकेत करती है, यथा—'स्वर्गकामो यजेत' (जो स्वर्ग की इच्छा रखता है उसे याग करना चाहिए) और वह पू० मी० सू० के छठे अध्याय का विषय है[२६]।

२६ मी० न्या० प्र० मे अधोलिखित परिभाषाएँ दी हुई हैं· 'तत्सिद्ध विधि प्रयोजनवन्तमप्राप्तार्थं विधत्ते। तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधि., यथा—अग्निहोत्र जुहोतीति। अगप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनि-योगविधि, यथा—दध्ना जुहोतीति। प्रयोगप्राशुभावबोधको विधि प्रयोगविधि। स चाङ्गवाक्यैकतामापन्न· प्रधानविधिरेव। फलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधि.। फलस्वाम्य च कर्मजन्यफलभोक्तृत्वम्। स च यजेत

एक अन्य विधि-विभाजन है, यथा—**अपूर्वविधि** (सर्वथा नया आदेश जो पहले से 'स्वर्गकामो यजेत' ऐसा व्यवस्थित न हो), **नियमविधि** (नियामक आदेश), यथा—'व्रीहीन् अवहन्ति' 'वह चावल को कूटता है या निकालता है', एव **परिसख्याविधि** (जब दो विकल्प होते है तो उनमे एक का निवारण होता है, अत दो विकल्पो मे एक के निवारण की विधि)। तन्त्रवार्तिक ने इन तीनो की परिभाषा एक श्लोक मे की है। यज्ञ के लिए ऐसी भूमि की आवश्यकता होती है, जो सपाट या उबड-खाबड (ऊँची-नीची) हो सकती है। यहाँ पर दो विकल्प है, जो एक ही समय कार्यान्वित नही हो सकते (अर्थात् एक व्यक्ति समतल तथा ऊँची-नीची भूमि पर एक ही समय यज्ञ नही कर सकता)। अत 'समे देशे यजेत' (अर्थात् सम भूमि पर यज्ञ करना चाहिए) एक **नियम** हुआ (अर्थात् यज्ञ-सम्पादन समतल भूमि पर ही होगा, ऐसा नियन्त्रण लग गया और नियम बन गया) जिसके द्वारा विषम भूमि पर यज्ञ-सम्पादन अमान्य ठहरा दिया गया। 'पाँच पचनख वाले पशु भक्ष्य हैं', यह परिसख्या है। यह वाक्य कोई विधि नही है, क्योकि मास खाना मनुष्य की भूख द्वारा पहले से ही स्थापित है। यह नियम भी नही है, क्योकि कोई व्यक्ति एक समय मे पाँच नख वाले पशुओ एव अन्य पशुओ को भी खा सकता है। यह परिसख्या है, क्योकि पाँच नख वाले पाँच पशुओ के अतिरिक्त अन्य पशुओ के भक्षण को मना किया गया है। रूप मे यह वाक्य एक विधि है (क्योकि इसने 'भक्ष्या' शब्द का प्रयोग किया है, जो विधिप्रत्यय मे है, किन्तु अर्थ के रूप मे यह एक नियन्त्रण है, 'अर्थात् पच नख वाले पाँच पशुओ' के अतिरिक्त अन्य पशुओ के मास भक्षण पर नियन्त्रण है। 'परिसख्या' शब्द पू० मी० सू० (१०।७। ४ एव ७) मे आया है और शबर ने इसमे तीन दोष देखे हैं।

धर्मशास्त्र के लेखको ने **नियम** एव **परिसख्या** के सिद्धान्त का बहुधा प्रयोग किया है। मेधातिथि (मनु० ३।४५, ऋतुकालाभिगामी स्यात्) ने नियम एव परिसख्या पर एक लम्बी टिप्पणी की है, तन्त्रवार्तिक के एक श्लोक को उद्धृत किया है और पचनख वाले पाँच पशुओ की व्याख्या की है। मिताक्षरा (याज्ञ० १। ७९, तस्मिन युग्मासु सविशेत) अर्थात् रजस्वला होने से चौथी रात्रि के उपरान्त १६वी तक प्रत्येक सम रात्रि मे पति को पत्नी के पास जाना चाहिए) ने इस विषय पर लम्बा विवेचन उपस्थित किया है कि यह विधि है या नियम है या परिसख्या है, पुन याज्ञ० (१।८९) में भी वही बात आयी है। मिताक्षरा ने तीनो की व्याख्या गद्य मे की है, उदाहरण दिये है और कहा है कि कुछ लोगो के विचार से यहाँ केवल परिसख्या होती है, किन्तु भारुचि, विश्वरूप आदि (मिताक्षरा भी सम्मिलित है) ने मत प्रकाशित किया है कि याज्ञ० १।७९ एव १।८१ मे केवल नियमविधि है। आप० ध० सू० (१।१।१७) ने भी याज्ञ० (१।७९ एव ८१) के विषय का उल्लेख किया है और हरदत्त का कथन है कि यह नियम है, किन्तु अन्य इसे परिसख्या कहते हैं, किन्तु यह किसी प्रकार एक शुद्ध विधि नही है। गौतम (५।२) पर हरदत्त की टिप्पणी है कि आचार्य (अर्थात् हरदत्त) के मत से केवल परिसख्या है (सूत्र यह है—सर्वत्र वा प्रतिसिद्धवर्जम्)। मिलाइए याज्ञ० (१।८१ यथाकामी भवेद्वापि), जिस पर मिताक्षरा ने बलपूर्वक कहा है कि गौतम एव याज्ञ० दोनो मे एक

स्वर्गकाम इत्येव रूप।' आश्व० गृ० (१।२।१) मे व्यवस्था है 'साय प्रात सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्।' यहाँ पर 'जुहुयात्' उत्पत्तिविधि है 'सिद्धस्य हविष्यस्य' विनियोगविधि होगी। ह ने प्रयोगविधि की एक अन्य परिभाषा दी है, यथा—'अगाना क्रमबोधको विधि प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्' (पृ० ११), अर्थात् प्रयोगविधि वह है जो प्रमुख कर्म मे विभिन्न अगो के क्रम का बोध कराती है।

व्यावर्तक नियम है। गौतम ने व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण को तीन उच्च वर्गों के यहाँ भोजन करना चाहिए और उनसे दान ग्रहण करना चाहिए। हरदत्त ने इन दो नियमो को परिसंख्याविधि कहा है। आप० ध० सू० (२) ने विवाह के उपरान्त पति एव पत्नी के लिए अचार-नियम बनाये हैं, प्रथम यह है—'दो बार (प्रात एव साय) भोजन करना चाहिए। हरदत्त ने इसे परिसख्या कहा है और अर्थ लगाया है कि तीसरी बार भोजन करना मना है (किन्तु वे दिन मे दो बार खा सकते हैं और नही भी खा सकते हैं), किन्तु अन्य लोगो ने इसे नियम माना है, अर्थात् 'उन्हे दिन मे दो बार अवश्य खाना चाहिए।'

नियमविधियाँ तीन प्रकार की होती हैं, यथा—वे जो प्रतिनिधियो से सम्बन्धित हैं, वे जो **प्रतिपत्ति** (अन्तिम कर्म या यज्ञो मे प्रयुक्त कुछ वस्तुओ की अन्तिम परिणति) से सम्बन्वित है तथा वे जो इन दोनो के अतिरिक्त अन्य विषयो से सम्बन्धित हैं। ताण्ड्यब्राह्मण मे आया है कि 'यदि सोम के पौधे न प्राप्त हो तो पूतीको से रस निकाला जा सकता है' (जैमिनि (३।६।४० एव ६।३।१३-१७) ने इस विषय पर विचार किया है और जैमिनि एव शबर ने व्यवस्था दी है कि यदि सोम उपलब्ध न हो तो यजमान उसके स्थान पर पूतीका का उपयोग कर सकता है, अन्य किसी का नही, भले ही वह सोम से अधिक ही क्यो न मिलता-जुलता हो[२७]। **प्रतिपत्ति** शब्द जैमिनि द्वारा कई सूत्रो मे प्रयुक्त हुआ हे (देखिए ४।२।११, १५, १६, २२)। ज्योतिष्टोम मे अन्तिम स्नान (अवभृथ) के समय जल मे सोम से सलग्न सभी पात्रो (सोम निकालने के उपरान्त बचा हुआ अश अर्थात् छूंछ, पत्थर, लकडी के दो तख्ते तथा सदो के बीच मे उदुम्बर का स्तम्भ) को फेक देना **प्रतिपत्तिकर्म** कहा जाता है (पू० मी० सू० ४।२।२२)। यह परिभाषा धर्मशास्त्र ग्रन्थो मे प्रयुक्त होती है। मनु० (३।२६२-२६३) मे कहा है कि पके हुए चावल के तीन पिण्डो मे से, जो तीन पूर्व पुरुषो को दिये जाते हैं, यजमान की पुत्रेच्छुक पत्नी को बीच वाला (जो पितामह के लिए होता है) खा लेना चाहिए और देवल ने व्यवस्था दी है कि पिण्ड या तो ब्राह्मण को दे दिये जाने चाहिए या बकरी या गाय को खिला देना चाहिए या अग्नि अथवा जल मे डाल देना चाहिए। अपरार्क० (याज्ञ० १।२५६) एव स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ४८६) के अनुसार पिण्डो को यही प्रतिपत्ति है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ४, पृ० ४८०-४८१। प्रतिपत्ति शब्द अर्थकर्म का विरोधी है। उदाहरणार्थ तै० स० मे हम पढते है 'सोम पौधे को लाने के उपरान्त वह दण्ड को मैत्रावरुण पुरोहित के हाथ में देता है'। यहाँ पर दीक्षा के समय दण्ड सर्वप्रथम यजमान को दिया गया था जो अब मैत्रावरुण को दिया जा रहा है जिसे वह कई प्रकार से उपयोग मे लायेगा, यथ—वह अँधेरे मे उसकी सहायता से चल सकता है, जल मे प्रवेश कर सकता है, गायो को रोक सकता है, साँपो को पास आने से रोक सकता है और वह स्वय उस पर अपना भार दे सकता है या उसके सहारे चल-फिर या कूद-फाँद सकता है। अत यह प्रतिपत्ति से भिन्न है जिसमे वस्तु अन्तिम रूप से फेक दी जाती है और पुन उसका कोई उपयोग नही होता। इसका उल्लेख पू० मी० सू० (४।२।१६—१८) मे हुआ है। यह (दण्ड का दिया जाना) अर्थकर्म है और प्रतिपत्ति कर्म के विरोध मे पड़ जाता है। इसका उल्लेख तै० स० (६।१।४।२) मे हुआ है (क्रीते सेमि मैत्रावरुणाय दण्ड

२७ यदि सोमं न विन्देयु पूतीकानभिषुणुयुर्यदि न पूतीकानर्जुनानि च। ताण्डय (६।५।३)। नियमार्था-गुणश्रुति। पू० मी० सू० ३।६।४०, नियमार्थ क्वचिद्विधि। पू० मी० सू० (६।३।१६), जिस पर शबर की टिप्पणी यो है 'सोमाभावे बहुषु सदृशेषु प्राप्तेषु नियम क्रियते। पूतिका अभिषोतव्या इति। तस्मात्प्रतिनिधि-मुपादाय प्रयोग कर्त्तव्य इति।'

प्रयच्छति)। प्रतिपत्ति का दूसरा उदाहरण है चात्वाल पर कृष्ण हरिण के सींग को फेंकना (तै० सं० ६।१।३।८ एव पू० मी० सू० ४।२।१९)। पू० मी० सू० (११।२।६६–६८) ने अर्थकर्म का एक दृष्टान्त दिया है। मर जाने पर यजमान को उसकी यज्ञिय सामग्रियो एव पात्रो के साथ जलाना उपकरणो या पात्रो का प्रतिपत्ति कर्म कहा जाता है (तै० स० १।६।८।२–३ एव पू० मी० सू० ११।३।३४)। मनु० (५।१६७) ने व्यवस्था दी है कि यदि किसी आहिताग्नि की पत्नी उसके पूर्व ही मर जाती है तो वह पति द्वारा स्थापित पवित्र अग्नि से ही यज्ञिय उपकरणो के साथ जलायी जाती है। नियम के तीसरे प्रकार के उदाहरण के लिए देखिए आप० ध० सू० (१।११।३१।१) जहाँ आया है—'पूर्व मुख करके भोजन करना चाहिए (यह नियम प्रतिनिधि एव प्रतिपत्ति से सम्बन्धित नही है)। व्यक्ति किसी दिशा मे भोजन कर सकता है किन्तु यह नियम केवल पूर्व मे ही खाने को कहता है। यहाँ प्रतिनिधि या प्रतिपत्ति का प्रश्न नही उठता है।

विधियाँ क्रत्वर्थ (कृत्य के लिए) एव पुरुषार्थ (पुरुष के लिए) रूपो मे भी विभाजित हैं'। ये 'प्रयुक्ति' से सम्बन्धित हैं। 'प्रयुक्ति' को प्रेरणात्मक शक्ति कहते हैं, जो पू० मी० सू० के चौथे अध्याय का विषय है। पू० मी० सू० (४।१।२) मे पुरुषार्थ की परिभाषा है और शबर ने उस सूत्र की तीन व्याख्याएँ उपस्थित की है, जिनमे एक है—'पुरुषार्थ वह विषय है जिसके करने पर मनुष्य को सुख प्राप्त होता है, क्योकि सुख को प्राप्त करने की इच्छा से इसे जाना जाता है और पुरुषार्थ (मनुष्य का उद्देश्य) सुख से भिन्न नही है'। इस अस्पष्ट एव असुन्दर परिभाषा से यह प्रतीत होता है कि पुरुषार्थ (मनुष्य का उद्देश्य) सुख से भिन्न नही है'। इस अस्पष्ट एव असुन्दर परिभाषा से यह प्रतीत होता है कि पुरुषार्थ वही है जिसे सुख के फल की प्राप्ति के लिए साधारणत व्यक्ति अपनाता है, किन्तु क्रत्वर्थ वह है जो पुरुषार्थ की पूर्ति मे सहायक होता है और स्वय सीधे तौर से कर्ता को कोई फल नही देता। दर्शपूर्णमास ऐसे सभी प्रमुख यज्ञ पुरुषार्थ के अन्तर्गत सम्मिलित हैं, किन्तु क्रत्वर्थ के अन्तर्गत वे सभी सहायक कृत्य रखे जाते हैं जो प्रमुख कृत्य को पूर्ण करने के उपयोग मे आते हैं, यथा—पाँच प्रयाज जो दर्शपूर्णमास के लिए सहायक है क्रत्वर्थ हैं और स्वय दर्शपूर्णमास पुरुषार्थ है[२८]। इस अन्तर की महत्ता इसमे है कि जो क्रत्वर्थ है यदि उसका अनुसरण न किया जाय तो स्वय कृत्य दोषपूर्ण रह जाता है, किन्तु जो पुरुषार्थ है यदि उसका अनुसरण न किया जाय तो स्वय व्यक्ति अपराधी या पातकी हो जाता है किन्तु अनुष्ठान या कृत्य दोषपूर्ण नही होता।

पू० मी० सू० (४।१।२) की तीन व्याख्याओ का एक वर्ग शबर द्वारा यो उपस्थित किया गया है—ब्राह्मण को दान-ग्रहण से धन कमाना चाहिए, क्षत्रिय को विजय द्वारा तथा वैश्य को कृषि आदि से (देखिए, गौतम, १०। ४०–४२, मनु १०।७६–७९)। ये नियमो के समान लगते हैं। यदि धन प्राप्ति क्रत्वर्थ हो, और यदि कोई शास्त्र विहित साधनो के अतिरिक्त अन्य साधनो से धन प्राप्त करता है और उस धन से यज्ञ करता है तो स्वय यज्ञ दोषपूर्ण हो जायगा और वाञ्छित फल नही देगा। किन्तु यदि धन की प्राप्ति पुरुषार्थ से हुई हो तो चाहे जिस साधन से उसकी प्राप्ति हुई हो उससे किया गया यज्ञ दोषपूर्ण नही कहा जायेगा। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४) ने गुरु प्रभाकर की एक उक्ति उद्धृत की है जो दायभाग (याज्ञ० २।६७) द्वारा भी उद्धृत है, किन्तु नाम नही

२८ तै० स० (३।६।१।१) ने दर्शपूर्णमास के हविष्यो के पूर्वभास के रूप मे पाँच प्रयाजों का उल्लेख किया है, यथा—'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकार यजति'। ये कृत्यों के या देवताओ के नाम हैं, इस विषय में मतैक्य नहीं है।

दिया हुआ है। किन्तु स्मृतिच० (२, पृ० २५७-५८), मदनरत्न (व्यवहार, पृ० ३२४-३२५) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ४२०) ने न्यायविवेक से ऐसा ही वचन उद्धृत किया है। विश्वरूप (याज्ञ० २।१४४) ने भी कहा है कि धन की प्राप्ति के विषय के नियम पुरुषार्थ है। धन एकत्र करना स्वाभाविक है। धन प्राप्ति शास्त्र पर नहीं निर्भर है। इसके अतिरिक्त, यह सभी को ज्ञात है कि धन जब कमाया जाता है तो वह प्राप्तकर्ता को सुख देता है। अतः धन पुरुषार्थ है और यज्ञ, जो धन द्वारा सम्पादित होते हैं वे भी पुरुषार्थ हैं। सामान्य नियम यह है कि सभी अंग (सहायक कृत्य) क्रत्वर्थ है और सभी प्रमुख कृत्य (यथा दर्शपूर्णमास, सोमयाग) पुरुषार्थ है, और वे सभी वचन, जो कृत्यों के फलों की व्यवस्था करते हैं, पुरुषार्थ है। कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं। शांखायनब्राह्मण (६।६) में ऐसा कहकर कि यजमान को कुछ व्रत करने चाहिए, ऐसी व्यवस्था की गयी है कि यजमान को सूर्योदय एवं सूर्यास्त नहीं देखना चाहिए। शबर ने इन व्रतों को 'प्रजापतिव्रतानि' कहा है और इन्हें पुरुषार्थ घोषित किया है, जिसका अर्थ यह है कि यजमान को सूर्योदय एवं सूर्यास्त न देखने का प्रण करना चाहिए।

क्रत्वर्थ एवं पुरुषार्थ के अन्तर को धर्मशास्त्रीय रंग मिल चुका है। उदाहरणार्थ, याज्ञ० (१।५३) ने व्यवस्था दी है कि उस लड़की से विवाह करना चाहिए जो रोगरहित हो, भाई वाली हो और दूसरे गोत्र या प्रवर वाली हो। मिताक्षरा (याज्ञ० १।५३) ने व्याख्या की है कि यदि लड़की सपिण्ड हो या एक ही गोत्र या प्रवर वाली हो तो पत्नी होने की उसकी स्थिति की बात ही नहीं उठती [२९] (स्वयं विवाह ही अवैध होता है), किन्तु वह कन्या जो रोगग्रस्त होती है, विवाह हो जाने पर पत्नी हो जाती है, केवल एक ही फल यह होता है कि वह बीमार रहती है (जो दुःख एवं चिन्ता का कारण है)। कुल्लूक (मनु० ३।७) ने शबर के इस सिद्धान्त की ओर संकेत किया है और कहा है कि उस कुटुम्ब की कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए, जिसमें राजरोग (तपेदिक) अपस्मार (मिर्गी), चरक एवं कुष्ठ के समान रोग हो। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२।८०) ने एक उद्धरण दिया है—'विज्ञ व्यक्ति को उस लड़की से विवाह नहीं करना चाहिए, जिसको भाई, पिता न हो, क्योंकि वह पुत्रिका (वह कन्या जो पुत्र रूप में नियुक्त होती है) हो सकती है'। यहाँ पर निषेध वैसा ही है जो किसी विकलांग लड़की के साथ विवाह करने के विषय में होता है अर्थात् यह एक ज्ञात (प्रत्यक्ष) उद्देश्य है। अतः विवाह वैध होगा अर्थात् निषेध पुरुषार्थ है। मनु (९।१६८) में आया है—'वह दत्तक पुत्र है जिसे माता या पिता विपत्ति आदि की स्थितियों में जल के साथ देता है'। मिताक्षरा ने याज्ञ० (२।१३०) की व्याख्या में इस श्लोक को उद्धृत कर कहा है कि यहाँ पर 'आपद्' (विपत्ति) शब्द विशिष्ट रूप से उल्लिखित है, जब 'आपद्' न हो तो किसी अन्य व्यक्ति को अपना पुत्र गोद के रूप में नहीं देना चाहिए, यह निषेध केवल देने वाले को प्रभावित करता है (न कि गोद लेने वाली क्रिया को), अर्थात् यह निषेध पुरुषार्थ है, क्रत्वर्थ नहीं[३०]। यह द्रष्टव्य है कि व्यवहारमयूख ने इसे

२९ सपिण्डा-समानगोत्रा-समानप्रवरासु-भार्यात्वमेव नोत्पद्यते रोगिण्यादिषु तु भार्यात्वे उत्पन्नेऽपि दृष्टविरोध एव। मिता० (याज्ञ० १।५३), इसका आशय यह है कि सपिण्ड, सगोत्र या सप्रवर लड़की के विवाह के विरोध में जो व्यवस्था है वह क्रत्वर्थ है, किन्तु रोगग्रस्त लड़की के साथ विवाह करने की व्यवस्था केवल पुरुषार्थ है।

३० आपद्ग्रहणादनापदि न देयः। दातुरयं प्रतिषेधः मिता० (याज्ञ० २।१३०), व्यवहारमयूख (पृ० १०७) ने विरोध किया है 'अयं निषेधो दातुरेव पुरुषार्थं, न क्रत्वर्थ इति विज्ञानेश्वरः। तन्न। अस्य वाक्याददृष्टार्थतया क्रत्वर्थावगमात्।'

प्रयच्छति)। प्रतिपत्ति का दूसरा उदाहरण है चात्वाल पर कृष्ण हरिण के सींग को फेंकना (तै० सं० ६।१।३।८ एव पू० मी० सू० ४।२।१६)। पू० मी० सू० (११।२।६६–६८) ने अर्थकर्म का एक दृष्टान्त दिया है। मर जाने पर यजमान को उसकी यज्ञिय सामग्रियो एव पात्रो के साथ जलाना उपकरणो या पात्रो का प्रतिपत्ति कर्म कहा जाता है (तै० स० ११६।८।२–३ एव पू० मी० सू० ११।३।३४)। मनु० (५।१६७) ने व्यवस्था दी है कि यदि किसी आहिताग्नि की पत्नी उसके पूर्व ही मर जाती है तो वह पति द्वारा स्थापित पवित्र अग्नि से ही यज्ञिय उपकरणो के साथ जलायी जाती है। नियम के तीसरे प्रकार के उदाहरण के लिए देखिए आप० ध० सू० (१।११।३१।१) जहाँ आया है—'पूर्व मुख करके भोजन करना चाहिए (यह नियम प्रतिनिधि एव प्रतिपत्ति से सम्बन्धित नही है)। व्यक्ति किसी दिशा मे भोजन कर सकता है किन्तु यह नियम केवल पूर्व मे ही खाने को कहता है। यहाँ प्रतिनिधि या प्रतिपत्ति का प्रश्न नही उठता है।

विधियाँ क्रत्वर्थ (कृत्य के लिए) एव पुरुषार्थ (पुरुष के लिए) रूपो मे भी विभाजित हैं'। ये 'प्रयुक्ति' से सम्बन्धित हैं। 'प्रयुक्ति' को प्रेरणात्मक शक्ति कहते हैं, जो पू० मी० सू० के चौथे अध्याय का विषय है। पू० मी० सू० (४।१।२) मे पुरुषार्थ की परिभाषा है और शबर ने उस सूत्र की तीन व्याख्याएँ उपस्थित की है, जिनमे एक है–'पुरुषार्थ वह विषय है जिसके करने पर मनुष्य को सुख प्राप्त होता है, क्योकि सुख को प्राप्त करने की इच्छा से इसे जाना जाता है और पुरुषार्थ (मनुष्य का उद्देश्य) सुख से भिन्न नही है'। इस अस्पष्ट एव असुन्दर परिभाषा से यह प्रतीत होता है कि पुरुषार्थ (मनुष्य का उद्देश्य) सुख से भिन्न नही है'। इस अस्पष्ट एव असुन्दर परिभाषा से यह प्रतीत होता है कि पुरुषार्थ वही है जिसे सुख के फल की प्राप्ति के लिए साधारणत व्यक्ति अपनाता है, किन्तु क्रत्वर्थ वह है जो पुरुषार्थ की पूर्ति मे सहायक होता है और स्वय सीधे तौर से कर्ता को कोई फल नही देता। दर्शपूर्णमास ऐसे सभी प्रमुख यज्ञ पुरुषार्थ के अन्तर्गत सम्मिलित हैं, किन्तु क्रत्वर्थ के अन्तर्गत वे सभी सहायक कृत्य रखे जाते हैं जो प्रमुख कृत्य को पूर्ण करने के उपयोग मे आते हैं, यथा—पाँच प्रयाज जो दर्शपूर्णमास के लिए सहायक है क्रत्वर्थ हैं और स्वय दर्शपूर्णमास पुरुषार्थ है[२८]। इस अन्तर की महत्ता इसमे है कि जो क्रत्वर्थ है यदि उसका अनुसरण न किया जाय तो स्वय कृत्य दोषपूर्ण रह जाता है, किन्तु जो पुरुषार्थ है यदि उसका अनुसरण न किया जाय तो स्वय व्यक्ति अपराधी या पातकी हो जाता है किन्तु अनुष्ठान या कृत्य दोषपूर्ण नही होता।

पू० मी० सू० (४।१।२) की तीन व्याख्याओ का एक वर्ग शबर द्वारा यो उपस्थित किया गया है—ब्राह्मण को दान-ग्रहण से धन कमाना चाहिए, क्षत्रिय को विजय द्वारा तथा वैश्य को कृषि आदि से (देखिए, गौतम, १०। ४०–४२, मनु १०।७६–७६)। ये नियमो के समान लगते हैं। यदि धन प्राप्ति क्रत्वर्थ हो, और यदि कोई शास्त्र विहित साधनो के अतिरिक्त अन्य साधनो से धन प्राप्त करता है और उस धन से यज्ञ करता है तो स्वय यज्ञ दोषपूर्ण हो जायगा और वाञ्छित फल नही देगा। किन्तु यदि धन की प्राप्ति पुरुषार्थ से हुई हो तो चाहे जिस साधन से उसकी प्राप्ति हुई हो उससे किया गया यज्ञ दोषपूर्ण नही कहा जायेगा। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४) ने गुरु प्रभाकर की एक उक्ति उद्धृत की है जो दायभाग (याज्ञ० २।६७) द्वारा भी उद्धृत है, किन्तु नाम नही

२८ तै० स० (३।६।१।१) ने दर्शपूर्णमास के प्रमुख हविष्यो के पूर्वभास के रूप मे पाँच प्रयाजों का उल्लेख किया है, यथा—'समिधो यजति, 'यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकार यजति'। ये कृत्यों के या देवताओ के नाम हैं, इस विषय में मतैक्य नहीं है।

दिया हुआ है। किन्तु स्मृतिच० (२, पृ० २५७–५८), मदनरत्न (व्यवहार, पृ० ३२४–३२५) एव व्यवहारप्रकाश (पृ० ४२०) ने न्यायविवेक से ऐसा ही वचन उद्धृत किया है। विश्वरूप (याज्ञ० २।१४४) ने भी कहा है कि धन का प्राप्ति के विषय के नियम पुरुषार्थ है। धन एकत्र करना स्वाभाविक है। धन प्राप्ति शास्त्र पर नही निर्भर है। इसके अतिरिक्त, यह सभी को ज्ञात है कि धन जब कमाया जाता है तो वह प्राप्तकर्ता को सुख देता है। अत धन पुरुषार्थ है और यज्ञ, जो धन द्वारा सम्पादित होते हैं वे भी पुरुषार्थ है। सामान्य नियम यह है कि सभी अग (सहायक कृत्य) क्रत्वर्थ है और सभी प्रमुख कृत्य (यथा दर्शपूर्णमास, सोमयाग) पुरुषार्थ है, और वे सभी वचन, जो कृत्यो के फलो की व्यवस्था करते हैं, पुरुषार्थ है। कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं। शाखायनब्राह्मण (६।६) मे ऐसा कहकर कि यजमान को कुछ व्रत करने चाहिए, ऐसी व्यवस्था की गयी है कि यजमान को सूर्योदय एव सूर्यास्त नही देखना चाहिए। शबर ने इन व्रतो को 'प्रजापतिव्रतानि' कहा है और इन्हे पुरुषार्थ घोषित किया है, जिसका अर्थ यह है कि यजमान को सूर्योदय एव सूर्यास्त न देखने का प्रण करना चाहिए।

क्रत्वर्थ एव पुरुषार्थ के अन्तर को धर्मशास्त्रीय रग मिल चुका है। उदाहरणार्थ, याज्ञ० (१।५३) ने व्यवस्था दी है कि उस लडकी से विवाह करना चाहिए जो रोगरहित हो, भाई वाली हो और दूसरे गोत्र या प्रवर वाली हो। मिताक्षरा (याज्ञ० १।५३) ने व्याख्या की है कि यदि लडकी सपिण्ड हो या एक ही गोत्र या प्रवर वाली हो तो पत्नी होने की उसकी स्थिति की बात ही नही उठती[२९] (स्वय विवाह ही अवैध होता है), किन्तु वह कन्या जो रोगग्रस्त होती है, विवाह हो जाने पर पत्नी हो जाती है, केवल एक ही फल यह होता है कि वह बीमार रहती हे (जो दुख एव चिन्ता का कारण है)। कुल्लूक (मनु० ३।७) ने शबर के इस सिद्धान्त की ओर सकेत किया है और कहा है कि उस कुटुम्ब की कन्या से विवाह नही करना चाहिए, जिसमे राजरोग (तपेदिक), अपस्मार (मिर्गी), चरक एव कुष्ठ के समान रोग हो। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२।८०) ने एक उद्धरण दिया है—'विज्ञ व्यक्ति को उस लडकी से विवाह नही करना चाहिए, जिसको भाई, पिता न हो, क्योकि वह पुत्रिका (वह कन्या जो पुत्र रूप मे नियुक्त होती है) हो सकती है'। यहाँ पर निषेध वैसा ही है जो किसी विकलाग लडकी के साथ विवाह करने के विषय मे होता है अर्थात् यह एक ज्ञात (प्रत्यक्ष) उद्देश्य है। अत विवाह वैध होगा अर्थात् निषेध पुरुषार्थ है। मनु (९।१६८) मे आया है—'वह दत्तक पुत्र है जिसे माता या पिता विपत्ति आदि की स्थितियो मे जल के साथ देता है'। मिताक्षरा ने याज्ञ० (२।१३०) की व्याख्या मे इस श्लोक को उद्धृत कर कहा है कि यहाँ पर 'आपद्' (विपत्ति) शब्द विशिष्ट रूप से उल्लिखित है, जब 'आपद्' न हो तो किसी अन्य व्यक्ति को अपना पुत्र गोद के रूप मे नही देना चाहिए, यह निषेध केवल देने वाले को प्रभावित करता है (न कि गोद लेने वाली क्रिया को), अर्थात् यह निषेध पुरुषार्थ है, क्रत्वर्थ नहीं[३०]। यह द्रष्टव्य है कि व्यवहारमयूख ने इसे

२९ सपिण्डा-समानगोत्रा-समानप्रवरासु-भार्यात्वमेव नोत्पद्यते रोगिण्यादिषु तु भार्यात्वे उत्पन्नेऽपि दृष्ट-विरोध एव। मिता० (याज्ञ० १।५३), इसका आशय यह है कि सपिण्ड, सगोत्र या सप्रवर लडकी के विवाह के विरोध मे जो व्यवस्था है वह क्रत्वर्थ है, किन्तु रोगग्रस्त लड़की के साथ विवाह करने की व्यवस्था केवल पुरुषार्थ है।

३० आपद्ग्रहणादनापदि न देय। दातुरय प्रतिषेध मिता० (याज्ञ० २।१३०), व्यवहारमयूख (पृ० १०७) ने विरोध किया है 'अय निषेधो दातुरेव पुरुषार्थ, न क्रत्वर्थ इति विज्ञानेश्वर.। तन्न। अस्य वाक्याद-दृष्टार्थतया क्रत्वर्थावगमात्।'

प्रयच्छति)। प्रतिपत्ति का दूसरा उदाहरण है घास्वाल पर कृष्ण हरिण के सींग को फेंकना (तै० सं० ६।१।३।८ एवं पू० मी० सू० ४।२।१६)। पू० मी० सू० (११।२।६६–६८) ने अर्थकर्म का एक दृष्टान्त दिया है। मर जाने पर यजमान को उसकी यज्ञिय सामग्रियो एव पात्रो के साथ जलाना उपकरणो या पात्रो का प्रतिपत्ति कर्म कहा जाता है (तै० स० ११६।८।२–३ एव पू० मी० सू० ११।३।३४)। मनु० (५।१६७) ने व्यवस्था दी है कि यदि किसी आहिताग्नि की पत्नी उसके पूर्व ही मर जाती है तो वह पति द्वारा स्थापित पवित्र अग्नि से ही यज्ञिय उपकरणो के साथ जलायी जाती है । नियम के तीसरे प्रकार के उदाहरण के लिए देखिए आप० ध० सू० (१।११।३१।१) जहाँ आया है—'पूर्व मुख करके भोजन करना चाहिए (यह नियम प्रतिनिधि एव प्रतिपत्ति से सम्बन्धित नही है)। व्यक्ति किसी दिशा मे भोजन कर सकता है किन्तु यह नियम केवल पूर्व मे ही खाने को कहता है। यहाँ प्रतिनिधि या प्रतिपत्ति का प्रश्न नही उटता है।

विधियाँ क्रत्वर्थ (कृत्य के लिए) एव पुरुषार्थ (पुरुप के लिए) रूपो मे भी विभाजित हैं'। ये 'प्रयुक्ति' से सम्बन्धित हैं। 'प्रयुक्ति' को प्रेरणात्मक शक्ति कहते हैं, जो पू० मी० सू० के चौथे अध्याय का विषय है। पू० मी० सू० (४।१।२) मे पुरुपार्थ की परिभाषा है और शबर ने उस सूत्र की तीन व्याख्याएँ उपस्थित की है, जिनमे एक है–'पुरुषार्थ वह विषय है जिसके करने पर मनुष्य को सुख प्राप्त होता है, क्योकि सुख को प्राप्त करने की इच्छा से इसे जाना जाता है और पुरुषार्थ (मनुष्य का उद्देश्य) सुख से भिन्न नही है'। इस अस्पष्ट एव असुन्दर परिभाषा से यह प्रतीत होता है कि पुरुषार्थ (मनुष्य का उद्देश्य) सुख से भिन्न नही है'। इस अस्पष्ट एव असुन्दर परिभाषा से यह प्रतीत होता है कि पुरुषार्थ वही है जिसे सुख के फल की प्राप्ति के लिए साधारणत व्यक्ति अपनाता है, किन्तु क्रत्वर्थ वह है जो पुरुषार्थ की पूर्ति मे सहायक होता है और स्वय सीधे तौर से कर्ता को कोई फल नही देता। दर्शपूर्णमास ऐसे सभी प्रमुख यज्ञ पुरुपार्थ के अन्तर्गत सम्मिलित है, किन्तु क्रत्वर्थ के अन्तर्गत वे सभी सहायक कृत्य रखे जाते हैं जो प्रमुख कृत्य को पूर्ण करने के उपयोग मे आते हैं, यथा—पाँच प्रयाज जो दर्शपूर्णमास के लिए सहायक है क्रत्वर्थ हैं और स्वय दर्शपूर्णमास पुरुषार्थ है[२८]। इस अन्तर की महत्ता इसमे है कि जो क्रत्वर्थ है यदि उसका अनुसरण न किया जाय तो स्वय कृत्य दोषपूर्ण रह जाता है, किन्तु जो पुरुषार्थ है यदि उसका अनुसरण न किया जाय तो स्वय व्यक्ति अपराधी या पातकी हो जाता है किन्तु अनुष्ठान या कृत्य दोपपूर्ण नही होना।

पू० मी० सू० (४।१।२) की तीन व्याख्याओ का एक वर्ग शबर द्वारा यो उपस्थित किया गया है–ब्राह्मण को दान-ग्रहण से धन कमाना चाहिए, क्षत्रिय को विजय द्वारा तथा वैश्य को कृषि आदि से (देखिए, गौतम, १०। ४०–४२, मनु १०।७६–७९)। ये नियमो के समान लगते हैं। यदि धन प्राप्ति क्रत्वर्थ हो, और यदि कोई शास्त्र विहित साधनो के अतिरिक्त अन्य साधनो से धन प्राप्त करता है और उस धन से यज्ञ करता है तो स्वय यज्ञ दोपपूर्ण हो जायगा और वाञ्छित फल नही देगा। किन्तु यदि धन की प्राप्ति पुरुपार्थ से हुई हो तो चाहे जिस साधन से उसकी प्राप्ति हुई हो उससे किया गया यज्ञ दोपपूर्ण नही कहा जायेगा। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४) ने गुरु प्रभाकर की एक उक्ति उद्धृत की है जो दायभाग (याज्ञ० २।६७) द्वारा भी उद्धृत है, किन्तु नाम नही

२८ तै० स० (३।६।१।१) ने दर्शपूर्णमास के प्रमुख हविष्यो के पूर्वभास के रूप मे पाँच प्रयाजो का उल्लेख किया है, यथा—'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति'। ये कृत्यों के या देवताओं के नाम हैं, इस विषय में मतैक्य नहीं है।

दिया हुआ है। किन्तु स्मृतिच० (२, पृ० २५७-५८), मदनरत्न (व्यवहार, पृ० ३२४-३२५) एव व्यवहारप्रकाश (पृ० ४२०) ने न्यायविवेक से ऐसा ही वचन उद्धृत किया है। विश्वरूप (याज्ञ० २।१४४) ने भी कहा है कि धन का प्राप्ति के विषय के नियम पुरुषार्थ है। धन एकत्र करना स्वाभाविक है। धन प्राप्ति शास्त्र पर नही निर्भर है। इसके अतिरिक्त, यह सभी को ज्ञात है कि धन जब कमाया जाता है तो वह प्राप्तकर्ता को सुख देता है। अत धन पुरुषार्थ है और यज्ञ , जो धन द्वारा सम्पादित होते हैं वे भी पुरुषार्थ हैं। सामान्य नियम यह हे कि सभी अग (सहायक कृत्य) क्रत्वर्थ है और सभी प्रमुख कृत्य (यथा दर्शपूर्णमास, सोमयाग) पुरुपार्थ हे, और वे सभी वचन, जो कृत्यो के फलो की व्यवस्था करते हैं, पुरुपार्थ है। कुछ उदाहरण दिये जा सकते है। शाखायनब्राह्मण (६।६) मे ऐसा कहकर कि यजमान को कुछ व्रत करने चाहिए, ऐसी व्यवस्था की गयी है कि यजमान को सूर्योदय एव सूर्यास्त नही देखना चाहिए। शबर ने इन व्रतो को 'प्रजापतिव्रतानि' कहा है और इन्हे पुरुपार्थ घोपित किया है, जिसका अर्थ यह है कि यजमान को सूर्योदय एव सूर्यास्त न देखने का प्रण करना चाहिए।

क्रत्वर्थ एव पुरुषार्थ के अन्तर को धर्मशास्त्रीय रग मिल चुका है। उदाहरणार्थ, याज्ञ० (१।५३) ने व्यवस्था दी है कि उस लडकी से विवाह करना चाहिए जो रोगरहित हो, भाई वाली हो और दूसरे गोत्र या प्रवर वाली हो। मिताक्षरा (याज्ञ० १।५३) ने व्याख्या की है कि यदि लडकी सपिण्ड हो या एक ही गोत्र या प्रवर वाली हो तो पत्नी होने की उसकी स्थिति की बात ही नही उठती [२९] (स्वय विवाह ही अवैध होता है), किन्तु वह कन्या जो रोगग्रस्त होती है, विवाह हो जाने पर पत्नी हो जाती है, केवल एक ही फल यह होता है कि वह बीमार रहती है (जो दुख एव चिन्ता का कारण है)। कुल्लूक (मनु० ३।७) ने शबर के इस सिद्धान्त की ओर सकेत किया है और कहा है कि उस कुटुम्ब की कन्या से विवाह नही करना चाहिए, जिसमे राजरोग (तपेदिक), अपस्मार (मिर्गी), चरक एव कुष्ठ के समान रोग हो। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२।८०) ने एक उद्धरण दिया है—'विज्ञ व्यक्ति को उस लडकी से विवाह नही करना चाहिए, जिसको भाई, पिता न हो, क्योकि वह पुत्रिका (वह कन्या जो पुत्र रूप मे नियुक्त होती है) हो सकती है'। यहाँ पर निषेध वैसा ही है जो किसी विकलाग लडकी के साथ विवाह करने के विषय मे होता है अर्थात् यह एक ज्ञात (प्रत्यक्ष) उद्देश्य है। अत विवाह वैध होगा अर्थात् निषेध पुरुषार्थ है। मनु (९।१६८) मे आया है—'वह दत्तक पुत्र है जिसे माता या पिता विपत्ति आदि की स्थितियों मे जल के साथ देता है'। मिताक्षरा ने याज्ञ० (२।१३०) की व्याख्या मे इस श्लोक को उद्धृत कर कहा है कि यहाँ पर 'आपद्' (विपत्ति) शब्द विशिष्ट रूप से उल्लिखित है, जब 'आपद्' न हो तो किसी अन्य व्यक्ति को अपना पुत्र गोद के रूप मे नही देना चाहिए, यह निषेध केवल देने वाले को प्रभावित करता है (न कि गोद लेने वाली क्रिया को), अर्थात् यह निषेध पुरुषार्थ है, क्रत्वर्थ नहीं[३०]। यह द्रष्टव्य है कि व्यवहारमयूख ने इसे

२९ सपिण्डा-समानगोत्रा-समानप्रवरासु-भार्यात्वमेव नोत्पद्यते रोगिण्यादिषु तु भार्यात्वे उत्पन्नेऽपि दृष्ट-विरोध एव। मिता० (याज्ञ० १।५३), इसका आशय यह है कि सपिण्ड, सगोत्र या सप्रवर लडकी के विवाह के विरोध मे जो व्यवस्था है वह क्रत्वर्थ हे, किन्तु रोगग्रस्त लडकी के साथ विवाह करने की व्यवस्था केवल पुरुषार्थ है।

३० आपद्ग्रहणादनापदि न देय। दातुरय प्रतिषेध मिता० (याज्ञ० २।१३०), व्यवहारमयूख (पृ० १०७) ने विरोध किया है 'अय निषेधो दातुरेव पुरुषार्थ, न क्रत्वर्थ इति विज्ञानेश्वर.। तन्न। अस्य वाक्याद-दृष्टार्थतया क्रत्वर्थावगमात्।'

नही माना है और कहा है कि निषेव ही क्रत्वर्थ है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि वे व्यवस्थाएँ, जो अदृष्ट, आध्यात्मिक या परलोक सम्बन्धी फल वाली हैं, क्रत्वर्थ होती हैं, किन्तु वे (व्यवस्थाएँ) जो साक्षात फलदायिनी होती हैं, पुरुषार्थ कहलाती है।

आगे कुछ और कहने के पूर्व हमे 'यजेत' शब्द का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है। यह शब्द वैदिक वाक्यो मे प्रयुक्त है, यथा–'स्वर्गकामो यजेत' (जो स्वर्ग की कामना करे उसे यज्ञ करना चाहिए)। 'यजेत' शब्द मे दो अश हैं, यथा–'यज' धातु तथा प्रत्यय। प्रत्यय के भी दो अश हैं, यथा–आख्यातत्व (सामान्य क्रिया रूप) एव लिङत्व (आज्ञा या आदेश रूप)। आख्यातत्व को दसो लकारो मे पाया जाता है किन्तु लिङत्व केवल आज्ञा मे ही पाया जाता है। दोनो केवल भावना को व्यक्त करते है। भावना का शाब्दिक अर्थ है किसी भावक की क्रिया (व्यापार-विशेष) जो फल की अनुकूलता का कारण है। यह भावना दो प्रकार की होती है, यथा–शाब्दी भावना एव आर्थी भावना (मीमासा न्यायप्रकाश पृ० ४–६)।

यह हमने बहुत पहले ही देख लिया है कि विधियाँ वेद के मर्म की परिचायक हैं। भावना का सिद्धान्त विधियो का हृदय है अत यह मीमासा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो मे परिगणित है।

सामान्य जीवन मे जब कोई किसी से कहता है—'यह तुम्हारे द्वारा किया जाना चाहिए, तो कुछ करने के लिए प्रोत्साहन या प्रेरणा (उत्तेजन) किसी व्यक्ति से प्राप्त होता है। किन्तु मीमासा के मत से वेद का न तो कोई मानव और न कोई दिव्य प्रणेता है। अत वैदिक विधि मे शब्द के इच्छार्थक या आज्ञात्मक रूप से ही प्रोत्साहन (उत्तेजन या प्रेरणा) का उदय होता है, उस आज्ञा के पीछे न तो कोई मानव है और न कोई दिव्य शक्ति या व्यक्ति है, अत इसी से भावना को 'शाब्दी' (अर्थात् स्वय शब्द पर आधृत, न कि किसी व्यक्ति की इच्छा या आज्ञा या निर्देश पर आधृत) कहा गया है। अत शाब्दी भावना का अर्थ है किसी कर्त्ता (यहाँ पर वेद का शब्द) की कोई विशिष्ट क्रिया जो किसी व्यक्ति द्वारा उत्पादित होती है, और यह उस अश या तत्त्व से अभिव्यक्त होती है, जिसे हम इच्छार्थक कहते हैं। यह शाब्दी इसलिए कही जाती है, क्योकि यह 'शब्दनिष्ठ' (वेद के शब्द मे केन्द्रित) है न कि 'पुरुषनिष्ठ' (किसी व्यक्ति मे केन्द्रित)। शाब्दी भावना मे तीन तत्त्व पाये जाते हैं, यथा–(१) क्रिया के लिए कर्ता का प्रोत्साहन होता है, (२) आज्ञा या शासन ही कारण होता है तथा (३) अर्थवाद वचनो से उद्घोषित औचित्य द्वारा विधि या रीति की प्राप्ति होती है। शाब्दी भावना से आर्थी भावना का उदय होता है। आर्थी भावना (जो अर्थ या फल की खोज करती है) मे भी तीन तत्त्व पाये जाते हैं, यथा–(१) स्वर्ग ही फल है, जिसकी प्राप्ति करनी होती है, (२) कारण या साधन या निमित्त है 'याग', (३) याग की भी एक विधि या ढग (इतिकर्त्तव्यता) होता है। यह सभी पू० मी० सू० (२।१।१), शबर के भाष्य एव तन्त्रवार्तिक के कतिपय श्लोको पर आधृत है। यह पूरा विवेचन हमे अपूर्व के अर्थ की ओर ले जाता है। याग अल्प समय का होता है, किन्तु स्वर्ग व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होता है, जो याग (यज्ञ) के सम्पादन के वर्षो उपरान्त हो सकता है। तो ऐसी स्थिति मे याग एव स्वर्ग (कारण एव फल) मे कौन-सी जोडने वाली कडी है ? यह कडी याग द्वारा उत्पन्न की हुई शक्ति है जो स्वर्ग की उत्पत्ति करती है।

सक्षेप मे अभिप्राय यह है—दोनो अर्थात् धातु एव प्रत्यय मिलकर प्रत्यय (आगम) का अर्थ प्रकट करते हैं, और इसमे भावना प्रमुख तत्त्व है, अत यह प्रत्यय का ही अर्थ द्योतित करती है। भावशब्द बहुत हैं[३१]।

३१ भावार्था कर्मशब्दास्तेभ्य क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते। पू० मी० सू० (२।१।१), शास्त्रदीपिका पर लिखी गयी मयूखमालिका मे इसको यों है—भावार्था भावनाप्रयोजनका ये कर्मशब्दा धातवस्ते-

यथा—यजति, जुहोति, ददाति, दोग्धि, पिनष्टि। ये सभी दो प्रकार वाले है, यथा—प्रधान एव गुणभूत। वे भाव, शब्द, जिनसे किसी धार्मिक कृत्य के लिए कोई द्रव्य नही उत्पन्न होता या उपयुक्त बनाया जाता, प्रधान कर्म के द्योतक होते है (यथा-प्रयाज), किन्तु वे भावशब्द, जिनसे द्रव्य उत्पन्न होता है या द्रव्य उपयुक्त बनाया जाता है, गुणभूत कहलाते है (यथा—चावल को कूटना, याज्ञिय स्तम्भ बनाने के लिए लकडी छीलना या स्रुव को स्वच्छ करना)। क्रियापदो के दो रूप हैं— (१) वे, जिनका रूप केवल यह बताता है कि कर्ता का अस्तित्व है, यथा— 'अस्ति, भवति, विद्यते', (२) वे रूप, जो न केवल कर्ता के अस्तित्व को बताते ह, प्रत्युत उनसे यह भी प्रकट होता है कि कृत्य के साथ फल भी है, यथा—'यजति' (याग करोति), 'ददाति' (दान करोति), 'पचति' (पाक करोति), 'गच्छति' (गमन करोति)। इन विषयो मे 'करोति' का भाव छिपा रहता है। जैमिनि (पू० मी० सू० २।१।४) ने शब्दो को दो कोटियो मे बाँटा है —नामानि (सज्ञाएँ) एव कर्मशब्दा (क्रियाएँ) प्रथम के अन्तर्गत शबर ने सर्वनामो एव विशेषणो को परिगणित किया है। दूसरी कोटि को 'आख्यात' कहा गया है। शबर (२।१।३) ने 'नामानि' का अन्वय 'द्रव्य-गुणशब्दा' के अर्थ मे किया है और टिप्पणी की है कि सूत्र (२।१।३) मे 'नामानि' शब्द 'द्रव्यगुणशब्दा' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। शबर का कथन है कि धात्वर्थ मे धर्मो के लिए कोई आकाक्षा नही होती। किन्तु प्रत्ययार्थ मे विधि के लिए (इतिकर्त्तव्यता) की आकाक्षा होती है

अर्थवाद

अब हम वैदिक वचनो (उक्तियो) के दूसरे बडे विभाजन अर्थात् अर्थवादो का विवेचन उपस्थित करेंगे। इनका निरूपण पू० मी० सू० के प्रथम अध्याय के दूसरे पाद मे हुआ है। बहुत-से वैदिक वचन है, यथा—'वह गरज उठा (उसने रोदन किया) अत वह रुद्र कहलाया' (तै० स० १।५।१।१), 'प्रजापति ने स्वय अपना मास काटा' (तै० स० २।१।१।४), 'यज्ञिय भूमि मे पहुँच जाने के उपरान्त भी देवो को दिशाओ का ज्ञान नही हुआ' (तै० स० ६।१।५।१), 'कोई यह नही जानता कि कोई परलोक मे रहता है कि नही' (तै० स० ६।१।१।१), 'पृथिवी पर या अन्तरिक्ष मे या स्वर्ग मे अग्निवेदिका का चयन नही होना चाहिए (तै० स० ५।२।७।१)। विरोध

भ्योऽपूर्वं प्रतीयते एष हि धात्वर्थ पदश्रुत्या भावनाकरणत्वेन विधीयते। 'कर्मशब्दा' का अर्थ है कर्मप्रतिपादका। क पुनर्भाव केते पुनर्भावशब्दा इति। यजति ददाति जुहोत्येवमादाय। यजेतेत्येवमादय साकाङक्षा यजेत किं केन कथमिति स्वर्गकाम इत्येतेन प्रयोजनेन निराकाङक्षा। शबर। अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिंगादय। अर्थात्म-भावना त्वन्या सर्वाख्यतेषु गम्यते। तन्त्रवार्तिक (पृ० ३७८), शास्त्रे तु सर्वत्र प्रत्ययार्थो भावनेति व्यवहार। तत्रायभिप्राय। प्रत्यार्थं सह ब्रूत प्रकृतिप्रत्ययौ सदा। प्राधान्याद्भावना तेन प्रत्ययार्थोऽवधार्यते। तन्त्रवा० (पृ० ३८०)। पाणिनि (३।१।६७) के वार्तिक (२) पर महाभाष्य मे एक नीतिवाक्य (कहावत) है 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सहब्रूत' और शबर ने इसे आचार्योपदेश कहा है (३।४।१३, पृ० ६२२)। पाणिनि ने कालो एव क्रियापद की अवस्था बताने वाले पदो के लिए विशिष्ट पारिभाषिक नाम दिये है और अर्थ को व्यक्त करनेवाले शब्दो का प्रयोग नहीं किया है, यथा वर्तमानकाल, अतीतकाल या भविष्यत्काल। वे 'ल' से आरम्भ होते हैं अत लकार कहे जाते है। वे इस प्रकार हैं—लट् (वर्तमान), लेट (वैदिक क्रिया का सशयार्थक रूप), लिट् (परोक्षे लिट्), लुङ, लङ (अनद्यतनभूत), लिङ, लोट, लुट्, लृट्, लङ। भावार्था कर्मब्दा की प्रतिध्वनि निरुक्त (१।१) भावप्रधानमाख्यातम् मे है।

कर्ता कहता है—'तुमने स्वय घोषित किया है कि धार्मिक कृत्यो का सम्पादन वेद का उद्देश्य है' (पू० मी० सू० १।१।२)। उपर्युक्त एव अन्य समान वचन धार्मिक कर्मों के विषय मे किसी उद्देश्य की पूर्ति नही करते, अत वे निरर्थक है और अनित्य हैं (किसी नित्य विषय की ओर सकेत नही करते)। इसका उत्तर यह है कि ये वचन वेद के उद्बोधन युक्त वचनो (विधिवाक्यो) के साथ एकरूपता के भाव से सम्बन्धित है और उद्बोधन-कारी वचनो की महत्ता प्रकट करने का उपयोग सिद्ध करते है। शबर ने (१।२।७) एक वचन उद्धृत किया है, 'जो समृद्धि का इच्छुक है उसे वायु के सम्मान मे श्वेत पशु की बलि देनी चाहिए, वायु तेज चलने वाला देवता है, वह वायु के अनुरूप भाग के साथ उसके पास दौडता है, वह (वायु) यजमान को समृद्धि के पास ले जाता है'[३२]। ये सभी शब्द एक पूर्ण वचन बनाते हैं, प्रथम अश 'व्यायव्य भूतिकाम' स्पष्टत एक विधि है, जैसा कि 'आलभेत' शब्द से प्रकट होता है। बाद वाला अश केवल महत्ता के गान के लिए एक अर्थवाद मात्र है। लोग जानते हे कि वायु क्षिप्र गति से चलता है। अत 'वायुर्वे आदि' केवल वही दुहराता है जो लोगो को पहले से ज्ञात है (अर्थात् यह एक अनुवाद है)। १।२ के सूत्र १९—२५ मे पू० मी० सू० ने कुछ ऐसे वचनो पर विचार किया है जो विधियो-से लगते हैं किन्तु वे अर्थवाद के रूप मे घोषित है। उदाहरणार्थ, (तै० स० २।१।१।६) 'यज्ञिय स्तम्भ उदुम्बर की लकडी का होना चाहिए, उदुम्बर काष्ठ वास्तव मे शक्ति (भोजन या सार) है, पशु शक्ति हैं, इस शक्तिशाली (रसयुक्त) स्तम्भ के द्वारा वह (यजमान) 'शक्ति की प्राप्ति के लिए' पशुप्राप्ति करता है। विरोध करने वाला कहता है कि यह एक फलविधि (फल के विषय मे एक आज्ञा-वचन) है, क्योकि 'ऊर्जोऽवरुद्धयै' शब्दो मे उद्देश्य (प्रयोजन) है और श्लाघा (या प्रशसा या स्तुति) के लिए कोई शब्द नही हैं। इसका उत्तर यह है कि केवल श्लाघा (प्रशसा या स्तुति) ही है।

वेद मे कुछ ऐसे वचन है जहाँ 'हि' के समान शब्दो का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है 'क्योकि'। यथा—'अग्नि मे आहुति सूप से देनी चाहिए, क्योकि इसी से अन्न तैयार किया जाता है' (तै० ब्रा० १।६।५)[३३]।

३२ आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थाना तस्माद्नित्यमुच्यते (पूर्वपक्ष)। विधिना त्वेकवाक्य-त्वात्स्तुत्यर्थेन विधीना स्यु। पू० मी० सू० (१।२।१ एव ७)। १।२।७ की व्याख्या मे निम्नोक्त वचन उद्धृत है 'वायव्य श्वेतमालभेत भूतिकाम। वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति। स एवैन भूति गमयति'। यह अर्थवाद (वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता) 'वायव्य लभेत' आदि की विधि का शेष है, यह तै० स० (२।१।१।१) मे आया है। (१।२।१०) पर भाष्य (गुणवादस्तु) उन वचनो की ओर सकेत करता है जिनके वे तीन वचन, जो १।२।१ मे उदाहृत है, अर्थवाद है। उदाहरणार्थ, सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' नामक वचन बर्हिषि रजत न देय (तै० स० १।५।१।१-२) का एक अर्थवाद हैं। यह अर्थवाद (सोऽरोदीत् आदि) 'बर्हिषि रजत न देयम्' के प्रतिषेध का शेष है। सूत्र मे 'अनित्य' शब्द जानबूझ कर प्रयुक्त किया गया है। वेद नित्य हे, अत वह प्रमाण हे। अत वे वचन जो किसी धार्मिक कृत्य की ओर निर्देश नहीं करते उस अश से पथक हैं जो कृत्यो से सम्बन्धित हे और अनित्य अर्थात् अप्रमाण है।

३३ हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम्। स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य। पू० मी० सू० १।२। २६-२७, अथ ते हेतुवन्निगदा शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्न क्रियत इत्येवमादय। तेषु सन्देह। किं स्तुतिस्तेषा कार्यमुत हेतुरिति। अस्मत्पक्षे पुन शूर्प स्तूपयें। तेन ह्यन्न क्रियत इति वृत्तान्तान्वाख्यान न च वृत्तान्तज्ञाप-नाय किं तर्हिप्ररोचनायैव। तस्माद्धेतुवन्निगदस्यापि स्तुतिरेव कार्यमिति। शबर (१।२।३०)। (जो

ह उठता है कि यह तथा वे वचन, जिनमे हेतु या कारण दिया हुआ है, अर्थवाद के रूप मे ग्रहण किये
ाल आज्ञा के लिए हेतु बताने वाले के रूप में ग्रहण किये जायँ। व्यवस्थित निष्कर्ष तो यह है कि वे स्तुति-
यदि दूसरा मत स्वीकार किया जाय (यथा—श्रुति विधि के लिए कारण देती है) तो स्रुव तथा अन्य
हुति के लिए मान्य ठहराये जायँ (न केवल सूप ही), क्योकि वे भी भोजन बनाने मे प्रयुक्त होते हैं।
मलमासतत्त्व (पृ० ७६०) मे इस उक्ति का आधार लिया है और लघु-हारीत की ओर सकेत करते
व्याख्या की है 'चक्रवत् परिवर्तेत सूर्य कालवशाद् यत'। ऐसा नही समझना चाहिए कि सभी अर्थ-
ेश्य स्तुति ही है। 'वह लेपयुक्त ढेले रखता है, घृत सचमुच दीप्तिमान है' (तै० ब्रा० ३।२।५।१२)
के प्रति एक सन्देह यह उत्पन्न है जिससे ढेले लेपित होते है। वह सन्देह वचन के शेषाश से दूर होता है,
दार्थ घृत है जिससे ढेले लेपित होते है।
वाद के तीन प्रकार है, यथा—गुणवाद, अनुवाद एव भूतार्थवाद। जब कोई अर्थवाद किसी सामान्य अनु-
ीत पडता है तो वह लाक्षणिक होता है, जब कोई बात ज्ञान के किसी अन्य साधन से स्पष्ट रूप से
ी है और किसी मूल ग्रन्थ या वचन का विषय हो जाती है तो वह 'अनुवाद' कहलाती है और जब
य प्रमाणो के विरोध मे नही पडता या निश्चित रूप से निरूपित नही हो पाता तो वह 'भूतार्थवाद'
ति तथ्य या अतीत घटना का कथन) कहलाता है[३४]। प्रथम प्रकार का उदाहरण यह है—'दिन मे

त है) मे करम्भपात्रो (ऐसे पात्र जिनमे भूसी से रहित यव थोडा भून कर रखे गये हो और साथ में
।) का होम देने के लिए सूप (शर्प) का प्रयोग जुहु के स्थान पर होता है। पू० मी० सू० की
मान्यता यह है कि वेद जो कुछ घोषित करता है वह प्रामाणिक है, वेद की उक्तियो के लिए
रण देने की आवश्यकता नहीं होती। अपनी घोषणा के लिए यह कारण की बात चला सकता
नकी कोई आवश्यकता नहीं होती। भाट्टचिन्तामणि मे आया है "अनेन वेदविहितेऽर्थे हेत्वपेक्षा
नारथिप्रतिपादितानपेक्षत्व हेतुवादस्येति सूचितम। उक्त च 'न हि वेदेनोच्यमान हेतुमपेक्षते' इति॥'
दाधिकरण की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३ (पृ० ६७६-७७),
१२७७)। वहाँ वसिष्ठ (१५।३-४) के नियम (न त्वेक पुत्र दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद्वा स हि सन्तानाय
व्याख्या है। यहाँ पर पहला एक विधि है, क्योकि 'दद्यात्' एव 'प्रतिगृह्णीयात्' दोनो इच्छार्थक
हैं, और बाद वाला हेत्वार्थक होने के कारण अर्थवाद है (क्योकि पुत्र की महत्ता गायी गयी है)।
निरुक्त (१।१६) ने उदितानुवाद के विषय मे कहा है, स भवति। विरोधे गुणवाद स्यादनुवादो-
तार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मत। मी० बा० प्र० (पृ० ४) द्वारा उद्धृत। अनुवादोऽवधारित
ा तु नृसिंहाश्रमैरुक्तम्। अग्निर्हिमस्य भेषजमिति। तन्स्वाध्यायाध्ययनवैधुर्याद् वैचित्र्याद्वा। मी० बा०
-)। यह द्रष्टव्य है कि मधुसूदन सरस्वती ने प्रस्थानभेद, अर्थसग्रह (पृ० २५ थिबौट) मे तथा
(पूर्वमीमासा इन इट्स सोर्सेज, पृ० २०१) ने इसी वचन को अनुवाद के रूप मे उद्धृत किया
की एक अनुल्लघ्य परिभाषा यह है 'स नामानुवादो भवति योऽत्यन्तसमानार्थत्वेनावधार्यते।'
पृ० ६११, २।४।१३ की व्याख्या मे)। मेधातिथि (मनु० २।२२७—मत्स्य० २११।२२) ने यह
कोई व्यक्ति सौ वर्षों मे भी बच्चे के जन्म एव पालन-पोषण मे माता-पिता जो कष्ट सहन
प्रतिदान नहीं दे सकता, ऐसा मत लिया है कि यह भूतार्थानुवाद है। मधुसूदन सरस्वती ने प्रस्थान-

कर्ता कहता है–'तुमने स्वय घोषित किया है कि धार्मिक कृत्यो का सम्पादन वेद का उद्देश्य है' (पू० मी० सू० १।१।२)। उपर्युक्त एव अन्य समान वचन धार्मिक कर्मो के विषय मे किसी उद्देश्य की पूर्ति नही करते, अत वे निरर्थक हैं और अनित्य हैं (किसी नित्य विषय की ओर सकेत नही करते)। इसका उत्तर यह है कि ये वचन वेद के उद्बोधन युक्त वचनो (विधिवाक्यो) के साथ एकरूपता के भाव से सम्बन्धित है और उद्बोधन-कारी वचनो की महत्ता प्रकट करने का उपयोग सिद्ध करते है। शबर ने (१।२।७) एक वचन उद्धृत किया है, 'जो समृद्धि का इच्छुक है उसे वायु के सम्मान मे श्वेत पशु की बलि देनी चाहिए, वायु तेज चलने वाला देवता है, वह वायु के अनुरूप भाग के साथ उसके पास दौडता है, वह (वायु) यजमान को समृद्धि के पास ले जाता है'[३२]। ये सभी शब्द एक पूर्ण वचन बनाते है, प्रथम अश 'व्यायव्य भूतिकाम' स्पष्टत एक विधि है, जैसा कि 'आलमेत' शब्द से प्रकट होता है। बाद वाला अश केवल महत्ता के गान के लिए एक अर्थवाद मात्र है। लोग जानते हैं कि वायु क्षिप्र गति से चलता है। अत 'वायुर्वै आदि' केवल वही दुहराता है जो लोगो को पहले से ज्ञात है (अर्थात् यह एक अनुवाद है)। १।२ के सूत्र १९–२५ मे पू० मी० सू० ने कुछ ऐसे वचनो पर विचार किया है जो विधियो-से लगते हैं किन्तु वे अर्थवाद के रूप मे घोषित है। उदाहरणार्थ, (तै० स० २।१।१।६) 'यज्ञिय स्तम्भ उदुम्बर की लकडी का होना चाहिए, उदुम्बर काष्ठ वास्तव मे शक्ति (भोजन या सार) है, पशु शक्ति हैं, इस शक्तिशाली (रसयुक्त) स्तम्भ के द्वारा वह (यजमान) 'शक्ति की प्राप्ति के लिए' पशुप्राप्ति करता है। विरोध करने वाला कहता है कि यह एक फलविधि (फल के विषय मे एक आज्ञा-वचन) है, क्योकि 'ऊर्जोऽवरुद्ध्यै' शब्दो मे उद्देश्य (प्रयोजन) है और श्लाघा (या प्रशसा या स्तुति) के लिए कोई शब्द नही है। इसका उत्तर यह है कि केवल श्लाघा (प्रशसा या स्तुति) ही है।

वेद मे कुछ ऐसे वचन है जहाँ 'हि' के समान शब्दो का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है 'क्योकि'। यथा–'अग्नि मे आहुति सूप से देनी चाहिए, क्योकि इसी से अन्न तैयार किया जाता है' (तै० ब्रा० १।६।५)[३३]।

३२ आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थाना तस्मादनित्यमुच्यते (पूर्वपक्ष)। विधिना त्वेकवाक्य-त्वात्स्तुत्यर्थेन विधीना स्यु। पू० मी० सू० (१।२।१ एव ७)। १।२।७ की व्याख्या मे निम्नोक्त वचन उद्धृत है 'वायव्य श्वेतमालभेत भूतिकाम। वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति। स एवैन भूति गमयति'। यह अर्थवाद (वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता) 'वायव्य लभेत' आदि की विधि का शेष है, यह तै० स० (२।१।१।१) मे आया है। (१।२।१०) पर भाष्य (गुणवादस्तु) उन वचनो की ओर सकेत करता है जिनके वे तीन वचन, जो १।२।१ मे उदाहृत है, अर्थवाद हैं। उदाहरणार्थ, सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' नामक वचन बर्हिषि रजत न देय (तै० स० १।५।१।१-२) का एक अर्थवाद है। यह अर्थवाद (सोऽरोदीत् आदि) 'बर्हिषि रजत न देयम्' के प्रतिषेध का शेष है। सूत्र मे 'अनित्य' शब्द जानबूझ कर प्रयुक्त किया गया है। वेद नित्य है, अत वह प्रमाण है। अत वे वचन जो किसी धार्मिक कृत्य की ओर निर्देश नहीं करते उस अश से पृथक हैं जो कृत्यो से सम्बन्धित है और अनित्य अर्थात् अप्रमाण है।

३३ हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम्। स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य। पू० मी० सू० १।२। २६-२७, अय ते हेतुवन्निगदा शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्न क्रियत इत्येवमादय। तेषु सन्देह। किं स्तुतिस्तेषा कार्यमुत हेतुरिति। अस्मत्पक्षे पुन शूर्पं स्तूयते। तेन ह्यन्न क्रियत इति वृत्तान्तान्वाख्यान न च वृत्तान्तज्ञाप-नाय किं तर्हि प्ररोचनायैव। तस्माद्धेतुवन्निगदस्यापि स्तुतिरेव कार्यमिति। शबर (१।२।३०)। वरुणप्रघास (जो

अब प्रश्न यह उठता है कि यह तथा वे वचन, जिनमे हेतु या कारण दिया हुआ है, अर्थवाद के रूप मे ग्रहण किये जायँ या केवल आज्ञा के लिए हेतु बताने वाले के रूप मे ग्रहण किये जायँ। व्यवस्थित निष्कर्ष तो यह है कि वे स्तुति-मूलक हैं। यदि दूसरा मत स्वीकार किया जाय (यथा—श्रुति विधि के लिए कारण देती है) तो स्रुव तथा अन्य पात्र भी आहुति के लिए मान्य ठहराये जायँ (न केवल सूप ही), क्योकि वे भी भोजन बनाने मे प्रयुक्त होते हैं। रघुनन्दन ने मलमासतत्त्व (पृ० ७६०) मे इस उक्ति का आधार लिया है और लघु-हारीत की ओर सकेत करते हुए इसकी व्याख्या की है 'चक्रवत् परिवर्तेत सूर्य कालवशाद् यत'। ऐसा नही समझना चाहिए कि सभी अर्थ-वादो का उद्देश्य स्तुति ही है। 'वह लेपयुक्त ढेले रखता है, घृत सचमुच दीप्तिमान है' (तै० ब्रा० ३।२।५।१२) मे उस वस्तु के प्रति एक सन्देह यह उत्पन्न है जिससे ढेले लेपित होते है। वह सन्देह वचन के शेषाश से दूर होता है, अर्थात् वह पदार्थ घृत है जिससे ढेले लेपित होते हैं।

अर्थवाद के तीन प्रकार है, यथा—गुणवाद, अनुवाद एव भूतार्थवाद। जब कोई अर्थवाद किसी सामान्य अनु-भव के विपरीत पडता है तो वह लाक्षणिक होता है, जब कोई बात ज्ञान के किसी अन्य साधन से स्पष्ट रूप से निश्चित होती है और किसी मूल ग्रन्थ या वचन का विषय हो जाती है तो वह 'अनुवाद' कहलाती है और जब कोई मूल अन्य प्रमाणो के विरोध मे नही पडता या निश्चित रूप से निरूपित नही हो पाता तो वह 'भूतार्थवाद' (किसी निर्णीत तथ्य या अतीत घटना का कथन) कहलाता है[३४]। प्रथम प्रकार का उदाहरण यह है—'दिन मे

कर्ता कहता है—'तुमने स्वय घोषित किया है कि धार्मिक कृत्यो का सम्पादन वेद का उद्देश्य है' (पू० मी० सू० १।१।२)। उपर्युक्त एव अन्य समान वचन धार्मिक कर्मों के विषय मे किसी उद्देश्य की पूर्ति नही करते, अत वे निरर्थक हैं और अनित्य हैं (किसी नित्य विषय की ओर सकेत नही करते)। इसका उत्तर यह है कि ये वचन वेद के उद्बोधन युक्त वचनो (विधिवाक्यो) के साथ एकरूपता के भाव से सम्बन्धित है और उद्बोधन-कारी वचनो की महत्ता प्रकट करने का उपयोग सिद्ध करते हैं। शबर ने (१।२।७) एक वचन उद्धृत किया है, 'जो समृद्धि का इच्छुक है उसे वायु के सम्मान मे श्वेत पशु की बलि देनी चाहिए, वायु तेज चलने वाला देवता है, वह वायु के अनुरूप भाग के साथ उसके पास दौडता है, वह (वायु) यजमान को समृद्धि के पास ले जाता है'[३२]। ये सभी शब्द एक पूर्ण वचन बनाते हे, प्रथम अश 'व्यायव्य भूतिकाम' स्पष्टत एक विधि है, जैसा कि 'आलभेत' शब्द से प्रकट होता है। बाद वाला अश केवल महत्ता के गान के लिए एक अर्थवाद मात्र है। लोग जानते हैं कि वायु क्षिप्र गति से चलता है। अत 'वायुर्वै आदि' केवल वही दुहराता है जो लोगो को पहले से ज्ञात है (अर्थात् यह एक अनुवाद हे)। १।२ के सूत्र १६—२५ मे पू० मी० सू० ने कुछ ऐसे वचनो पर विचार किया है जो विधियो-से लगते हैं किन्तु वे अर्थवाद के रूप मे घोषित है। उदाहरणार्थ, (तै० स० २।१।१।६) 'यज्ञिय स्तम्भ उदुम्बर की लकडी का होना चाहिए, उदुम्बर काष्ठ वास्तव मे शक्ति (भोजन या सार) है, पशु शक्ति है, इस शक्तिशाली (रसयुक्त) स्तम्भ के द्वारा वह (यजमान) 'शक्ति की प्राप्ति के लिए' पशुप्राप्ति करता है। विरोध करने वाला कहता है कि यह एक फलविधि (फल के विषय मे एक आज्ञा-वचन) है, क्योकि 'ऊर्जोऽवरुद्धयै' शब्दो मे उद्देश्य (प्रयोजन) है और श्लाघा (या प्रशसा या स्तुति) के लिए कोई शब्द नही है। इसका उत्तर यह है कि केवल श्लाघा (प्रशसा या स्तुति) ही है।

वेद मे कुछ ऐसे वचन है जहाँ 'हि' के समान शब्दो का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है 'क्योकि'। यथा—'अग्नि मे आहुति सूप से देनी चाहिए, क्योकि इसी से अन्न तैयार किया जाता है' (तै० ब्रा० १।६।५)[३३]।

३२ आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थाना तस्मादनित्यमुच्यते (पूर्वपक्ष)। विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीना स्यु। पू० मी० सू० (१।२।१ एव ७)। १।२।७ की व्याख्या मे निम्नोक्त वचन उद्धृत है 'वायव्य श्वेतमालभेत भूतिकाम। वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति। स एवैन भूति गमयति'। यह अर्थवाद (वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता) 'वायव्य लभेत' आदि की विधि का शेष है, यह तै० स० (२।१।१।१) मे आया है। (१।२।१०) पर भाष्य (गुणवादस्तु) उन वचनो की ओर सकेत करता है जिनके वे तीन वचन, जो १।२।१ मे उदाहृत है, अर्थवाद हैं। उदाहरणार्थ, सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' नामक वचन बर्हिषि रजत न देय (तै० स० १।५।१।१-२) का एक अर्थवाद हे। यह अर्थवाद (सोऽरोदीत् आदि) 'बर्हिषि रजत न देयम्' के प्रतिषेध का शेष है। सूत्र मे 'अनित्य' शब्द जानबूझ कर प्रयुक्त किया गया है। वेद नित्य है, अत वह प्रमाण है। अत वे वचन जो किसी धार्मिक कृत्य की ओर निर्देश नहीं करते उस अश से पृथक हैं जो कृत्यो से सम्बन्धित है और अनित्य अर्थात् अप्रमाण है।

३३ हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम्। स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य। पू० मी० सू० १।२।२६-२७, अथ ते हेतुवन्निगदा शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्न क्रियत इत्येवमादय। तेषु सन्देह। किं स्तुतिस्तेषा कार्या उत हेतुरिति। अस्मत्पक्षे पुन शूर्पं स्तूयते। तेन ह्यन्न क्रियत इति वृत्तान्तान्वाख्यान न च वृत्तान्तज्ञापनाय किं तर्हि प्ररोचनायैव। तस्माद्धेतुवन्निगदस्यापि स्तुतिरेव कार्यमिति। शबर (१।२।३०)। द्वारा (जो

अब प्रश्न यह उठता है कि यह तथा वे वचन, जिनमे हेतु या कारण दिया हुआ है, अर्थवाद के रूप मे ग्रहण किये जायँ या केवल आज्ञा के लिए हेतु बताने वाले के रूप मे ग्रहण किये जायँ। व्यवस्थित निष्कर्ष तो यह है कि वे स्तुतिमूलक हैं। यदि दूसरा मत स्वीकार किया जाय (यथा—श्रुति विधि के लिए कारण देती है) तो स्रुव तथा अन्य पात्र भी आहुति के लिए मान्य ठहराये जायँ (न केवल सूप ही), क्योकि वे भी भोजन बनाने मे प्रयुक्त होते हैं। रघुनन्दन ने मलमासतत्त्व (पृ० ७६०) मे इस उक्ति का आधार लिया है और लघु-हारीत की ओर सकेत करते हुए इसकी व्याख्या की है 'चक्रवत् परिवर्तेत सूर्य कालवशाद् यत'। ऐसा नही समझना चाहिए कि सभी अर्थवादो का उद्देश्य स्तुति ही है। 'वह लेपयुक्त ढेले रखता है, घृत सचमुच दीप्तिमान है' (तै० ब्रा० ३।२।५।१२) मे उस वस्तु के प्रति एक सन्देह यह उत्पन्न है जिससे ढेले लेपित होते है। वह सन्देह वचन के शेषाश से दूर होता है, अर्थात् वह पदार्थ घृत है जिससे ढेले लेपित होते हैं।

अर्थवाद के तीन प्रकार हैं, यथा—गुणवाद, अनुवाद एव भूतार्थवाद। जब कोई अर्थवाद किसी सामान्य अनुभव के विपरीत पडता है तो वह लाक्षणिक होता है, जब कोई बात ज्ञान के किसी अन्य साधन से स्पष्ट रूप से निश्चित होती है और किसी मूल ग्रन्थ या वचन का विषय हो जाती है तो वह 'अनुवाद' कहलाती है और जब कोई मूल अन्य प्रमाणो के विरोध मे नही पडता या निश्चित रूप से निरूपित नही हो पाता तो वह 'भूतार्थवाद' (किसी निर्णीत तथ्य या अतीत घटना का कथन) कहलाता है[३४]। प्रथम प्रकार का उदाहरण यह है—'दिन मे

एक चातुर्मास्य है) मे करम्भपात्रो (ऐसे पात्र जिनमे भूसी से रहित यव थोडा भून कर रखे गये हो और साथ मे दही आदि हो) का होम देने के लिए सूप (शर्प) का प्रयोग जुहु के स्थान पर होता है। पू० मी० सू० की स्थिति एव मान्यता यह है कि वेद जो कुछ घोषित करता है वह प्रामाणिक है, वेद की उक्तियो के लिए तर्क एव कारण देने की आवश्यकता नहीं होती। अपनी घोषणा के लिए यह कारण की बात चला सकता है। किन्तु इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। भाट्टचिन्तामणि मे आया है "अनेन वेदविहितेऽर्थे हेत्वपेक्षा नास्तीति पार्थसारथिप्रतिपादितानपेक्षत्व हेतुवादस्येति सूचितम। उक्त च 'न हि वेदेनोच्यमान हेतुमपेक्षते' इति।।' इस हेतुवन्निगदाधिकरण की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३ (पृ० ६७६-७७), पाद-टिप्पणी १२७७)। वहाँ वसिष्ठ (१५।३-४) के नियम (न त्वेक पुत्र दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद्वा स हि सन्तानाय पूर्वेषाम) की व्याख्या है। यहाँ पर पहला एक विधि है, क्योकि 'दद्यात्' एव 'प्रतिगृह्णीयात्' दोनो इच्छार्थक काल-वृत्ति मे हैं, और बाद वाला हेत्वार्थक होने के कारण अर्थवाद है (क्योकि पुत्र की महत्ता गायी गयी है)।

३४ निरुक्त (१।१६) ने उदितानुवाद के विषय मे कहा है, स भवति। विरोधे गुणवाद स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मत। मी० बा० प्र० (पृ० ४) द्वारा उद्धृत। अनुवादोऽवधारित इत्यस्योदाहरण तु नृसिंहाश्रमैरुक्तम्। अग्निर्हिमस्य भेषजम् इति। तन्स्वाध्यायाध्ययनवैधुर्याद् वैचित्र्याद्वा। मी० बा० प्र० (पृ० ४८)। यह द्रष्टव्य है कि मधुसूदन सरस्वती ने प्रस्थानभेद, अर्थसग्रह (पृ० २५ थिबौट) मे तथा म० म० झा (पूर्वमीमासा इन इट्स सोर्सेज, पृ० २०१) ने इसी वचन को अनुवाद के रूप मे उद्धृत किया है। अनुवाद की एक अनुल्लघ्य परिभाषा यह है 'स नामानुवादो भवति योऽत्यन्तसमानार्थत्वेनावधार्यते।' (तन्त्रवार्तिक, पृ० ६११, २।४।१३ की व्याख्या मे)। मेधातिथि (मनु० २।२२७—मत्स्य० २११।२२) ने यह कहते हुए कि कोई व्यक्ति सौ वर्षो मे भी बच्चे के जन्म एवं पालन-पोषण मे माता-पिता जो कष्ट सहन करते हैं उनका प्रतिदान नहीं दे सकता, ऐसा मत दिया है कि यह भूतार्थानुवाद है। मधुसूदन सरस्वती ने प्रस्थान-

केवल अग्नि-धूम्र दिखाई पडता है, ज्वाला नही (तै० स० २।१।२।१०)। अग्नि एव धूम्र दोनो दिन एव रात्रि मे देखे जाते हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि दिन मे अग्नि का प्रकाश उतना नही होता जितना कि रात्रि मे (दिन मे दूर से उतना नही दिखाई पडता जितना रात्रि मे)।

'अग्नि हिम (जाडा) का भेषज (औषध) है।' (वाज० स० २३।१० एव तै० स० ७।४।१८।२) 'यह कुछ लोगो द्वारा अनुवाद का उदाहरण माना जाता है' मी० बा० प्र० (पृ० ४८) ने इसमे इस बात पर दोष दिखाया है कि यह एक प्रसिद्ध मन्त्र है और वाक्य रचना के विचार से किसी विधि का कोई अश नही है और नृसिहाश्रम द्वारा यह वेदाध्ययन के अभाव या अनवधानता के उदाहरण के रूप मे ग्रहण किया गया है। एक उचित दृष्टान्त यह है 'वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है' (वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, तै० स० २।१।१।१)। 'प्रजापति ने स्वय अपना मास काट लिया' को कुछ लोगो ने भूतार्थवाद का दृष्टान्त माना है, किन्तु मी० बा० प्र० ने इसे अमान्य ठहराया है और 'यन्न दु खेन सम्भिन्नम्' को उदाहृत किया है।

कृष्णयज्वश की 'मीमासा परिभाषा' ने अर्थवाद के चार प्रकार बताये हैं, यथा—निन्दा, स्तुति, परकृति (किसी अन्य महान् व्यक्ति द्वारा किया गया हुआ कर्म) तथा पुराकल्प (जो अतीत युगो मे घटित हुआ हो[३५]। देवल का कथन है कि ऋषियो ने पहली बार की त्रुटि के लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है,

भेद एव अर्थ सग्रह (प० २८) में 'इन्द्रो वत्राय वज्रमुदयच्छत्' को भूतार्थवाद के दृष्टान्त के रूप मे ग्रहण किया है और अर्थसग्रह ने इसे (प्रमाणान्तरविरोध-तत्प्राप्तिरहितार्थबोधको वादो भूतार्थवाद' के रूप मे परिभाषित किया है। जब तै० स० (१।७।४।४ या २।६।५।३) मे 'यजमान प्रस्तर' या 'यजमान यूप' आया है तो इसका शाब्दिक अर्थ हमारे प्रत्यक्ष के विरोध मे पडता है, अत वाक्य का अर्थ लाक्षणिक रूप मे लेना होगा (यथा जब कि एक लडका 'अग्नि' कहा जाता है), अत यह गुणवाद है, अर्थात् 'यजमान यूप' का अर्थ है 'वह यूप या स्तम्भ के समान (सीधा) खडा होता है और चमकता दीखता है। जब कोई कथन (विधि के रूप मे नहीं) न तो अनुवाद होता है और न गुणवाद तो वह विद्यमानवाद या भूतार्थवाद कहलता है। यह शबर द्वारा पू० मी० सू० (१।४।२३) एव शकराचार्य (वे० सू० १।३।३३) द्वारा सुन्दर ढग से व्याख्यायित हुआ है। इन वचनो की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए कि प्रत्यक्ष अनुभव एव अन्य प्रमाणो मे विरोध न हो और वह किसी विधि की (जो पहले से व्यक्त हो) स्तुति के रूप मे हो। देखिए भामती' 'न च आदित्यो वै यूप इति वाक्यमादित्यस्य यूपत्वप्रतिपादनपरम्, अपि तु यूपस्तुतिपरम्'। जिस गुण पर बल दिया गया है, वह है तेजस्विता (चमक), क्योकि यूप पर घृत लगाया हुआ रहता है।

३५ स (अर्थवाद) च चतुर्विध निन्दा-प्रशसा-परकृति-पुराकल्पभेदात्। परेणमहता पुरुषेणेद कर्म कृतमिति प्रतिपादकोर्यवाद परकृति —यथा अग्निर्वा प्रकामयत—इत्यादि। परम्परागतकार्यादिप्रतिपादक पुराकल्प"—यथा तमशपद्धिया धिया त्वा वध्यासु—इत्यादि। मी० परि० (पृ० २७-२८)। मेधातिथि ने मनु० (२।१५१, जहाँ आङ्गिरस ने अपने पितरो को पढाया और उन्हें 'पुत्रका' कहा) की व्याख्या मे टिप्पणी दी है—'पूर्वस्य पितृवद्वृत्तिविधेरर्थवादोय परकृतिनामा'। वायुपुराण (५९।१३४-१३७) ने विधि, स्तुति, निन्दा, परकृति एव पुराकल्प की परिभाषाएँ दी हैं। न्यायसूत्र (२।१।६५) मे इन्हीं को अर्थवाद के चार तत्त्वों के नाम से उल्लिखित किया गया है। परकृतिपुराकल्प च मनुष्यधर्म स्यादर्थाय ह्यनुकीर्तनम्। अर्थवादो वा विधिशेषत्वात्तस्मान्नित्यानुवाद स्यात्। पू० मी० सू० (६।७।२६ एव ३०)। उस शुन शेप की कहानी, जिसे

दूसरी वार के लिए दूने प्रायश्चित्त की, तीसरी बार के लिए तिगुने प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है, किन्तु चौथी वार की त्रुटि के लिए कोई व्यवस्था नही दी है। भवदेव के प्रायश्चित्त ग्रन्थ मे आया है कि इस कथन को ज्यो का त्यो नही ग्रहण करना चाहिए, यह केवल निन्दार्थवाद है। स्वय पू० मी० सू० (६।७।२६ एव ३०) मे कहा गया है कि परकृति एव पुराकल्प अर्थवाद हैं।

व्यवहारमयूख (पृ० ६०) ने देवल का एक श्लोक उद्धृत किया है-'पिता की मृत्यु के उपरान्त पुत्रो को पैतृक धन बाँट लेना चाहिए, क्योकि जब तक पिता निर्दोष रूप से जीवित है, उन्हे स्वामित्व नही प्राप्त होता।' यहाँ पर श्लोक के पूर्वार्ध ने विभाजन का काल बताया है (यह विधि है)। उसका उत्तरार्ध अर्थवाद मात्र है जो विधि की प्रशसा है और उसका तात्पर्य यह है कि जब तक पिता जीवित रहता है, पुत्र स्वतन्त्र नही रहते। ऐसा नही है कि उन्हे पैतृक सम्पत्ति मे अधिकार या स्वामित्व नही रहता।

स्मृतियो मे भी अर्थवाद पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, मेधातिथि ने मनु (५।५६ न मास भक्षणे दोष) पर टीका करते हुए लिखा है कि ५।२८ से ५।५६ के दो या तीन श्लोको को छोड कर अन्य सभी अर्थवाद हैं। मेधातिथि ने मनुस्मृति मे कतिपय अन्य स्थानो पर कुछ विधियो एव बहुत से अर्थवादो की ओर सकेत किया है। उदाहरणार्थ, मनु० (२।११७) मे अभिवादन के विषय मे एक विधि है किन्तु २।११८-१२१ के श्लोको मे इसके विषय मे अर्थवाद है। मनु० (२।१६५) मे तीन उच्च वर्णो के लिए वेदाध्ययन के लिए एक विधि की व्यवस्था है, किन्तु जब मनु० (१०।१) ने पुन यह कहा है कि तीन वर्णों को वेदाध्ययन करना चाहिए तो यह अनुवाद मात्र है। मेधातिथि ने मनु० (६।१३५) मे टिप्पणी की है कि मनु के बहुत से श्लोको मे अर्थवाद है।

वसिष्ठधर्मसूत्र एव विष्णुधर्मोत्तर मे ऐसी व्यवस्था दी हुई है कि पचगव्य एव कुशोदक (वह जल जिसमे कुश डाला हुआ हो) तथा अहोरात्र के उपवास से श्वपाक भी शुद्ध हो जाता है[३६]। श्वपाक को अस्पृश्यो मे अत्यन्त हीन माना जाता था और वह चाण्डाल की वृत्तियाँ करता और उसके लिए उसी प्रकार के नियम थे (मनु० १०।५१-५६) किन्तु वसिष्ठ-विष्णु० के उक्त श्लोक को ज्यो-का-त्यो नही मानना चाहिए। क्योकि चाण्डाल को कोई वस्तु स्पृश्य नही बना सकती। अत ऐसा कथन पञ्चगव्य एव उपवास के शुद्धि प्रभावो की स्तुति मे कहा गया अर्थवाद मात्र ही है।

इसका परिज्ञान हो गया होगा कि प्रत्येक वैदिक वचन विधि के स्वरूप वाला (आज्ञात्मक या उपदेशात्मक) नही है। बहुत-से ऐसे वचन हैं जो विधि के प्रशसासूचक हैं, किसी निषिद्ध कर्म के भर्त्सनासूचक हैं, अतीत मे सम्पादित विधि के उदाहरण के रूप मे हैं या किसी व्यवस्थित विशिष्ट कर्म के लिए सरलतापूर्वक समझाये जाने वाले तर्क के द्योतक हैं। ये प्रशसात्मक, भर्त्सनात्मक एव उदाहरणात्मक वचन अनावश्यक एव अनुपयोगी नही समझे जान चाहिए, प्रत्युत विधिसचक वचनो के साथ उनके पूरक के रूप मे मान्य होने चाहिए। इस अर्थवाद सम्बन्धी सिद्धान्त के कारण वैदिक वचनो के बहुत से अश व्यर्थ एव अमान्य होने से बच गये हैं।

उसके पिता ने हरिश्चन्द्र के पुत्र के हाथ बेच दिया और वरुण को बलि देने के लिए उसे मार डालने को भी तैयार थे, वास्तव मे, अर्थवाद के परकृति प्रकार का उदाहरण है, देखिए मनु० (१०।१०५) जहाँ यह गाथा वर्णित है।

३६ गोमूत्र गोमय क्षीर दधि, सर्पि कुशोदकम्। एकरात्रोपवासश्च श्वपाकमपि शोधयेत्। वसिष्ठ० (२७। ३) एव विष्णुधर्मोत्तर० (२।४२।३१-३२)।

गरुडपुराण मे ऐसा आया है--'गान्धारी को, जिसने दशमीयुक्त एकादशी के दिन उपवास किया था, अपने सौ पुत्रो से हाथ धोना पडा, अत दशमीयुक्त एकादशी का परित्याग करना चाहिए।' यहाँ पर पूर्वार्ध मात्र निन्दानुवाद है (अर्थात् 'त परिकर्जयेत्' के भावात्मक नियम का सीधा समर्थन करता है), क्योकि ऐसी मान्यता है कि 'वचन मे निन्दा मर्त्सना मात्र के लिए नही है, प्रत्युत जो भर्त्सना योग्य है उसके विरोध की व्यवस्था के लिए है। इस व्याख्या के लिए देखिए कृत्यरत्नाकर (पृ० ६३५)। मी० बा० प्र० (पृ० ५०-५८) ने अर्थवादो के ३८ प्रकारो पर प्रकाश डाला हे। स्थानाभाव से उन पर विचार नही किया जायेगा।

वेद का अधिकाश अर्थवादो से परिपूर्ण है, विशेषत ब्राह्मण-ग्रन्थ। अर्थवाद के विषय मे तन्त्रवार्तिक ने एक सामान्य उल्लेख किया है कि वे अर्थवाद वचन जो विधि वचनो के उपरान्त आते है, निर्वल ठहरते है, किन्तु जो विधियो के पूर्व आते हैं वे वलवान् होते हैं[३७]।

वैदिक वचनो की तृतीय श्रेणी मे वर्ग या कोटि मे मन्त्रो की परिगणना होती है। हमने इनके विषय मे पहले ही पढ लिया है। कुछ मन्त्रो मे आदेश भी हैं, यथा ऋ० (१०।११७।५ 'पृणीयादिनाधमानायतव्यान् अर्थात् बलिष्ठ लोगो को चाहिए कि जो भिक्षा माँगता है, वे उसको अवश्य धन दे) एव वाज० स० (२४।२०, 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते')। किन्तु सामान्यत मन्त्र केवल व्यक्तकारक या प्रतिपादनकारक होते हैं और ऐसी बातो की ओर ध्यान ले जाते हैं जो विधि-वाक्यो से व्यवस्थित कर्मो के साथ सम्वन्वित होती हैं। तन्त्रवार्तिक[३८] ने टिप्पणी की है कि यह निश्चित रूप से समझा जा चुका है कि वे धार्मिक कृत्य, जो ऐसे मन्त्रो के साथ किये जाते है, जो ऐसी बातो का ध्यान दिलाते हैं, समृद्धि की ओर ले जाते है (या स्वर्ग की प्राप्ति कराते है) पाठकगण को यह विदित हो जायेगा कि किसप्रकार पूर्वमीमासा के सिद्धान्त ने मन्त्रो को गौण रूप दे रखा है और यज्ञ सम्वन्धी बातो मे उनसे निष्क्रिय सहयोग लिया है, ऋग्वेद मे उत्कृष्ट स्तुतियाँ (प्रार्थनाएँ) पायी जाती हैं, किन्तु मीमासा-सिद्धान्त मे सबसे उतम स्थान ब्राह्मण मूल-वचनो को प्राप्त है और इन्ही ब्राह्मण-वचनो मे अधिकाश विधियाँ सगृहीत हैं। यह हमने बहुत पहले देख लिया है कि ऋग्वेदीय मन्त्र ईश्वर-भक्ति से परिपूर्ण हैं और उनमे पाप-स्वीकृति एव पश्चात्ताप के उपरान्त ईश्वर को सम्बोधित प्रार्थनाएँ पायी जाती हैं (देखिए ऋ० ७।८६।४-६)। ऋ० सूक्त (३।३९) मे नि श्रेयस की भावना का बाहुल्य है और इस सूक्त के दूसरे मन्त्र मे आया है--'यह प्राथना (धी) प्राचीनकाल मे स्वर्ग मे उत्पन्न हुई, उत्कटता के साथ पवित्र गोष्ठी मे गायी गयी, शुद्ध एव मगलमय वस्त्र से आवेष्टित हुई है, यह हमारी है, प्राचीन हे और पूर्व-पुरुषो से वशानुगत रूप मे प्राप्त हुई है।

वैदिक वचनो का चौथा वर्ग (श्रेणी या कोटि), जो धर्म से सम्वन्वित है, 'नामधेय' (यज्ञो के व्यक्तिवाचक नाम) कहलाता है। उदाहरणार्थ इस प्रकार के वचन हैं, 'उद्भिद् के साथ यज्ञ करना चाहिए' (ताण्ड्य ब्राह्मण १९।७।२-३), 'पशु के इच्छुक को चित्रा के साथ यज्ञ करना चाहिए' (तै० स० २।४।६)। अब प्रश्न यह है कि क्या इन वचनो मे जो कुछ व्यवस्थित हुआ है वह किसी कृत्य मे आहुति दिया जाने वाला पदार्थ या द्रव्य है (यथा--

३७ ये हि विध्युद्देशात्परस्तादर्थवादा श्रूयन्ते तेषामस्ति दौर्बल्यम्। ये पुरस्ताच्छ्रूयन्ते ते मुख्यत्वाद बलीयासो भवन्ति। तन्त्रवार्तिक (३।३।२)।

३८ शबर ने पू० मी० सू० (१।२।३२) पर टीका करते हुए लिखा है 'अर्थप्रत्यायनार्थमेव यज्ञे मन्त्रोच्चारणम्। यज्ञाङ्ग प्रकाशनमेव प्रयोजनम्। मन्त्रैरेव स्मृत्वा कृत कर्माम्युदयकारि भवतीत्यवधार्यते। तन्त्रवा० (२।१।३१, पृ० ४३३)।

दध्ना जुहोति) या वह यज्ञ का नाम है। कोई भी पदार्थ 'उद्भिद्' के सदृश प्रसिद्ध नही है (यथा दधि एक विख्यात पदार्थ है)। चित्रा स्त्रीलिंग का बोधक वह पशु है जो चितकबरा होता है । यदि यह गुण विधि है 'चित्र या यजेत्' तो यहाँ वाक्यभेद नामक दोष होगा (दो विधियो को बताने लिए एक वाक्य को तोडना) अर्थात् आदेश यह होगा कि एक मादा-पशु की (न कि नर-पशु की) बलि होगी और दूसरी व्यवस्था यह होगी कि उसका रग चितकबरा होगा। अत उद्भिद, चित्रा, बलभिद्, अभिजित्, विश्वजित् (कौषीतकिब्रा० २५।१४) एव अग्नि-होत्र (पू० मी० सू० १।४।४), वाजपेय (पू० मी० सू० १।४।६-८), वैश्वदेव (पू० मी० सू० १।४।१३-१६) कृत्यो के नाम है न कि पदार्थ है। इसी प्रकार 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' (शत्रु की मृत्यु के लिए कोई व्यक्ति अभिचार करता हुआ 'श्येन' नामक याग कर सकता है) मे वही बात है। यहाँ पर 'श्येन' एक याग का नाम है, क्योकि याग शत्रु पर उसी प्रकार टूट पडता है और उसे धर दबोचता है जिस प्रकार श्येन (बाज) पक्षी अपने आखेट (मृगया) पर टूटता है और उसे पकड लेता है। (षड्विंश ब्रा० ३।८।१।२)। बात यह है कि इन नामो का उपयोग, जो कुछ व्यवस्थित किया गया है उसके अर्थ के विशिष्टीकरण के लिए किया गया है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' नामक वैदिक वचन उस वेदाध्ययन की व्यवस्था देता है जिसमे यज्ञो के नामधेयो के साथ सभी अग पाये जाते है और हम प्रत्यक्ष देखते है कि इस प्रकार की वैदिक विधियो मे, यथा 'चित्रया यजेत पशुकाम' मे चित्रा यह नाम विधि का एक भाग या अग है। अत नामधेय पुरुषार्थ भी है और वेद के अन्य भागो के समान ही प्रामाणिक है (देखिए, जैमिनि १।४।१ पर शास्त्रदीपिका)। ऊपर वर्णित वाक्य मे 'याग' की व्यवस्था उद्देश्य के रूप मे फल के साथ की गयी है, क्योकि यह दूसरे रूप से व्यवस्थित नही है। यज्ञ के लिए एक सामान्य आज्ञा या आदेश की व्यवस्था नही की गयी है, अत यज्ञ के एक विशिष्ट प्रकार की व्यवस्था कर दी गयी है। यदि कोई 'उद्भिद्' शब्द से किसी व्यवस्थित विशिष्ट प्रकार को जानना चाहता है, तो यह ज्ञात है कि यह उद्भिद् नायक यज्ञ है। धर्मशास्त्र लेखक 'उद्भिद् न्याय' नामक उक्ति का प्रयोग 'उपनयन' के लिए भी करते है, जिसका अर्थ है '(लडके को) आचार्य (वेद के अध्यापक) के पास ले जाना'। सस्कारप्रकाश ने ऐसा ही कहा है[३९]।

नञर्थ-विचार

वैदिक वचनो का पाँचवाँ भाग या वर्ग (या कोटि या श्रेणी) 'प्रतिषेध' (निषेध) है। प्रतिषेधो[४०] से मनुष्य के उन उद्देश्यो की पूर्ति होती है जिनसे वह अवाञ्छित फल उत्पन्न करने वाले कर्मों से बचता है अथवा अपनी रक्षा

३९ तत्रोपनयनशब्द कर्मनामधेयम्। तच्च यौगिकमुद्भिद्न्यायात्। योगश्च भावव्युत्पत्त्या करणव्युत्पत्त्या वेत्याह भारुचि । स यथा । उप समीपे आचार्यादीना बटोर्नयन प्रापणमुपनयनम्। समीपे प्राचार्यादीना नीयते बटुर्येन तदुपनयनमिति वा । सस्कारप्रकाश (पृ० ३३४) ।

४० अनर्थहेतुकर्मण सकाशात्पुरुषस्य निवृत्तिकरत्वेन निषेधाना पुरुषार्थानुबन्धित्वम्। तथा हि। यथा विधय प्रवर्तनामभिदधत स्वप्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थं विधेयस्य यागादे श्रेय साधनत्वमाक्षिपन्त पुरुष तत्र प्रवर्तयन्ति, एव न कलञ्ज भक्षयेदित्यादयो निषेधा अपि निवर्तनामभिदधत स्वनिवर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेधस्य कलञ्जभक्षणादेरनर्थ-हेतुत्वमाक्षिपन्त पुरुष ततो निवर्तयन्ति। मी० न्या० प्र० (पृ० २४८-२४९)। कुछ लोग प्रवर्तनाम् के स्थान पर 'प्रेरणा' पढ़ते हैं । दोनो का अर्थ एक ही है । आप० ध० सू० (१।५।१७।२६) ने कलञ्ज, पलाण्डु एव परारीक का निषेध किया है। हरदत्त ने 'कलञ्ज' को रक्तलशुनम् कहा है। किन्तु कल्पतरु (नियत , पृ० २८०) ने इसे लशुनविशेष माना है ।

गरुडपुराण मे ऐसा आया है---'गान्धारी को, जिसने दशमीयुक्त एकादशी के दिन उपवास किया था, अपने सौ पुत्रो से हाथ धोना पडा, अत दशमीयुक्त एकादशी का परित्याग करना चाहिए।' यहाँ पर पूर्वार्ध मात्र निन्दानुवाद है (अर्थात् 'त परिवर्जयेत्' के भावात्मक नियम का सीधा समर्थन करता है), क्योकि ऐसी मान्यता है कि 'वचन मे निन्दा भर्त्सना मात्र के लिए नही है, प्रत्युत जो भर्त्सना योग्य है उसके विरोध की व्यवस्था के लिए है। इस व्याख्या के लिए देखिए कृत्यरत्नाकर (पृ० ६३५)। मी० वा० प्र० (पृ० ५०-५८) ने अर्थवादो के ३८ प्रकारो पर प्रकाश डाला है। स्थानाभाव से उन पर विचार नही किया जायेगा।

वेद का अधिकाश अर्थवादो से परिपूर्ण है, विशेषत ब्राह्मण-ग्रन्थ। अर्थवाद के विषय मे तन्त्रवार्तिक ने एक सामान्य उल्लेख किया है कि वे अर्थवाद वचन जो विधि वचनो के उपरान्त आते हैं, निर्बल ठहरते है, किन्तु जो विधियो के पूर्व आते है वे बलवान् होते है[37]।

वैदिक वचनो की तृतीय श्रेणी मे वर्ग या कोटि मे मन्त्रो की परिगणना होती है। हमने इनके विषय मे पहले ही पढ लिया है। कुछ मन्त्रो मे आदेश भी हैं, यथा ऋ० (१०।११७।५ 'पृणीयादिनाधमानायतव्यान् अर्थात् बलिष्ठ लोगो को चाहिए कि जो भिक्षा माँगता है, वे उसको अवश्य धन दे) एव वाज० स० (२४।२०, 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते')। किन्तु सामान्यत मन्त्र केवल व्यक्तकारक या प्रतिपादनकारक होते हैं और ऐसी बातो की ओर ध्यान ले जाते हैं जो विधि-वाक्यो से व्यवस्थित कर्मो के साथ सम्बन्धित होती हैं। तन्त्रवार्तिक[38] ने टिप्पणी की है कि यह निश्चित रूप से समझा जा चुका है कि वे धार्मिक कृत्य, जो ऐसे मन्त्रो के साथ किये जाते है, जो ऐसी बातो का ध्यान दिलाते हैं, समृद्धि की ओर ले जाते है (या स्वर्ग की प्राप्ति कराते हैं) पाठकगण को यह विदित हो जायेगा कि किसप्रकार पूर्वमीमासा के सिद्धान्त ने मन्त्रो को गौण रूप दे रखा है और यज्ञ सम्बन्धी बातो मे उनसे निष्क्रिय सहयोग लिया है, ऋग्वेद मे उत्कृष्ट स्तुतियाँ (प्रार्थनाएँ) पायी जाती हैं, किन्तु मीमासा-सिद्धान्त मे सबसे उत्तम स्थान ब्राह्मण मूल-वचनो को प्राप्त है और इन्ही ब्राह्मण-वचनो मे अधिकाश विधियाँ सगृहीत हैं। यह हमने बहुत पहले देख लिया है कि ऋग्वेदीय मन्त्र ईश्वर-भक्ति से परिपूर्ण हैं और उनमे पाप-स्वीकृति एव पश्चात्ताप के उपरान्त ईश्वर को सम्बोधित प्रार्थनाएँ पायी जाती हैं (देखिए ऋ० ७।८६।४-६)। ऋ० सूक्त (३।३९) मे नि श्रेयस की भावना का बाहुल्य है और इस सूक्त के दूसरे मन्त्र मे आया है---'यह प्रार्थना (धी) प्राचीनकाल मे स्वर्ग मे उत्पन्न हुई, उत्कटता के साथ पवित्र गोष्ठी मे गायी गयी, शुद्ध एव मगलमय वस्त्र से आवेष्टित हुई है, यह हमारी है, प्राचीन है और पूर्व-पुरुषो से वशानुगत रूप मे प्राप्त हुई है।

वैदिक वचनो का चौथा वर्ग (श्रेणी या कोटि), जो धर्म से सम्बन्धित है, 'नामधेय' (यज्ञो के व्यक्तिवाचक नाम) कहलाता है। उदाहरणार्थ इस प्रकार के वचन हैं, 'उद्भिद् के साथ यज्ञ करना चाहिए' (ताण्ड्य ब्राह्मण १९।७।२-३), 'पशु के इच्छुक को चित्रा के साथ यज्ञ करना चाहिए' (तै० स० २।४।६)। अब प्रश्न यह है कि क्या इन वचनो मे जो कुछ व्यवस्थित हुआ है वह किसी कृत्य मे आहुति दिया जाने वाला पदार्थ या द्रव्य है (यथा--

३७ ये हि विध्युद्देशात्परस्तादर्थवादा श्रूयन्ते तेषामस्ति दौर्बल्यम्। ये पुरस्ताच्छ्रूयन्ते ते मुख्यत्वाद बलीयासो भवन्ति। तन्त्रवार्तिक (३।३।२)।

३८ शबर ने पू० मी० सू० (१।२।३२) पर टीका करते हुए लिखा है 'अर्थप्रत्यायनार्थमेव यज्ञे मन्त्रोच्चारणम्। यज्ञाङ्ग प्रकाशनमेव प्रयोजनम्। मन्त्रैरेव स्मृत्वा कृत कर्माभ्युदयकारि भवतीत्यवधार्यते। तन्त्रवा० (२।१।३१, पृ० ४३३)।

दध्ना जुहोति) या वह यज्ञ का नाम है। कोई भी पदार्थ 'उद्भिद्' के सदृश प्रसिद्ध नही है (यथा दधि एक विख्यात पदार्थ है)। चित्रा स्त्रीलिंग का बोधक वह पशु है जो चितकबरा होता है। यदि यह गुण विधि है 'चित्र या यजेत्' तो यहाँ वाक्यभेद नामक दोष होगा (दो विधियो को बताने लिए एक वाक्य को तोडना) अर्थात् आदेश यह होगा कि एक मादा-पशु की (न कि नर-पशु की) बलि होगी और दूसरी व्यवस्था यह होगी कि उनका रग चितकबरा होगा। अत उद्भिद, चित्रा, बलभिद्, अभिजित्, विश्वजित् (कौषीतकिब्रा० २५।१४) एव अग्निहोत्र (पू० मी० सू० १।४।४), वाजपेय (पू० मी० सू० १।४।६-८), वैश्वदेव (पू० मी० सू० १।४।१३-१६) कृत्यो के नाम है न कि पदार्थ है। इसी प्रकार 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' (शत्रु की मृत्यु के लिए कोई व्यक्ति अभिचार करता हुआ 'श्येन' नामक याग कर सकता है) मे वही बात है। यहाँ पर 'श्येन' एक याग का नाम है, क्योकि याग शत्रु पर उसी प्रकार टूट पडता है और उसे धर दबोचता है जिस प्रकार श्येन (बाज) पक्षी अपने आखेट (मृगया) पर टूटता है और उसे पकड लेता है। (षड्विंश ब्रा० ३।८।१।३)। बात यह है कि इन नामो का उपयोग, जो कुछ व्यवस्थित किया गया है उसके अर्थ के विशिष्टीकरण के लिए किया गया है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' नामक वैदिक वचन उस वेदाध्ययन की व्यवस्था देता है जिसमे यज्ञो के नामधेयो के साथ सभी अग पाये जाते है और हम प्रत्यक्ष देखते है कि इस प्रकार की वैदिक विधियो मे, यथा 'चित्रया यजेत पशुकाम' मे चित्रा यह नाम विधि का एक भाग या अग है। अत नामधेय पुरुषार्थ भी है और वेद के अन्य भागो के समान ही प्रामाणिक है (देखिए, जैमिनि १।४।१ पर शास्त्रदीपिका)। ऊपर वर्णित वाक्य मे 'याग' की व्यवस्था उद्देश्य के रूप मे फल के साथ की गयी है, क्योकि यह दूसरे रूप से व्यवस्थित नही है। यज्ञ के लिए एक सामान्य आज्ञा या आदेश की व्यवस्था नही की गयी है, अत यज्ञ के एक विशिष्ट प्रकार की व्यवस्था कर दी गयी है। यदि कोई 'उद्भिद्' शब्द से किसी व्यवस्थित विशिष्ट प्रकार को जानना चाहता है, तो यह ज्ञात है कि यह उद्भिद् नायक यज्ञ है। धर्मशास्त्र लेखक 'उद्भिद् न्याय' नामक उक्ति का प्रयोग 'उपनयन' के लिए भी करते है, जिसका अर्थ है '(लडके को) आचार्य (वेद के अध्यापक) के पास ले जाना'। सस्कारप्रकाश ने ऐसा ही कहा है[३९]।

नञर्थ-विचार

वैदिक वचनो का पाँचवाँ भाग या वर्ग (या कोटि या श्रेणी) 'प्रतिषेध' (निषेध) है। प्रतिषेधो[४०] से मनुष्य के उन उद्देश्यो की पूर्ति होती है जिनसे वह अवाञ्छित फल उत्पन्न करने वाले कर्मों से बचता है अथवा अपनी रक्षा

३९ तत्रोपनयनशब्द कर्मनामधेयम्। तच्च यौगिकमुद्भिद्न्यायात्। योगश्च भावव्युत्पत्या करणव्युत्पत्या वेत्याह भारुचि। स यथा। उप समीपे आचार्यादीना वटोर्नयन प्रापणमुपनयनम्। समीपे प्राचार्यादीना नीयते वटुर्येन तदुपनयनमिति वा। सस्कारप्रकाश (पृ० ३३४)।

४० अनर्थहेतुकर्मण सकाशात्पुरुषस्य निवृत्तिकरत्वेन निषेधाना पुरुषार्थानुबन्धित्वम्। तथा हि। यथा विधय प्रवर्तनामभिदधत स्वप्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थं विधेयस्य यागादे श्रेय साधनत्वमाक्षिपन्त पुरुष तत्र प्रवर्तयन्ति, एव न कलञ्ज भक्षयेदित्यादयो निषेधा अपि निवर्तनामभिदधत स्वनिवर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेधस्य कलञ्जभक्षणादेरनर्थहेतुत्वमाक्षिपन्त पुरुष ततो निवर्तयन्ति। मी० न्या० प्र० (पृ० २४८-२४९)। कुछ लोग प्रवर्तनाम् के स्थान पर 'प्रेरणा' पढ़ते हैं। दोनो का अर्थ एक ही है। आप० ध० सू० (१।५।१७।२६) ने कलञ्ज, पलाण्डु एव परारीक का भक्षण निषेध किया है। हरदत्त ने 'कलञ्ज' को रक्तलशुनम्' कहा है। किन्तु कल्पतरु (नियत काल, पृ० २८०) ने इसे लशुनविशेष माना है।

करता है। जिस प्रकार विधियाँ, जो हमे प्रेरित करती हैं या कुछ करने के लिए उद्वेजित करती हैं, अपने प्रेरणात्मक गुण को प्रकट करने के हेतु ऐसा निर्देश करती हैं कि वह विषय, जो व्यवस्थित होता है, यथा कोई यज्ञ, किसी वाछित फल की प्राप्ति का साधन है और इसलिए वे व्यक्ति को उसके सम्पादन के लिए प्रेरित करती है। उसी प्रकार ऐसे प्रतिषेध, यथा—'कलञ्ज नही खाना चाहिए' या 'झूठ नही बोलना चाहिए' (तै० स० २।५।६), उस प्रतिकारक की ओर सकेत करते है और अपने निषेधात्मक गुण के प्रभाव को प्रकट करने के लिए निर्देश करते हैं कि निषेध की जाने वाली बात से, यथा—'कलञ्ज खाना' या 'झूठ बोलना' अवाछित फल की प्राप्ति होगी अत मनुष्य को उससे दूर रहना चाहिए।

'न' किसी क्रिया, सज्ञा या विशेषण के पूर्व लग सकता है और कुछ उदाहरणो मे 'न' 'अ' हो जाता है (यथा 'अब्राह्मण', अधर्म) या 'अन' हो जाता है जब वह किसी स्वरादि शब्द के पूर्व लगता है। (यथा-'अनर्थ', 'अनृण')। पाणिनि ने 'न' पर कई सूत्र लिखे है और स्पष्ट रूप से 'प्रतिषेध' को 'न' के अर्थो मे सम्मिलित किया है (देखिए पाणिनि २।२।६, ६।२।१५५ आदि)। 'न' छह प्रकार के अर्थों मे प्रयुक्त होता है[४१]।

'न' का प्रथम अर्थ है 'अभाव'। किन्तु यह अर्थ सभी विषयो के अनुकूल नही पडेगा। जब कोई कहता है—'अब्राह्मण को लाओ' तो इसका अर्थ 'अभाव' नही है, क्योकि यदि वही अर्थ होता तो कोई अभाव वाला ब्राह्मण नही ला सकता और किसी को भी नही ला सकता या मिट्टी का ढेला ला देगा, जो इन शब्दो को कहने वाले का आशय नही सिद्ध कर सकता। अत ऐसा सुनने पर एक व्यक्ति जो ब्राह्मण नही है, किन्तु ब्राह्मण के समान है (यथा क्षत्रिय) लाया जायेगा। अत इस उदाहरण मे 'अब्राह्मण' का अर्थ (सादृश्य) वह व्यक्ति है जो ब्राह्मण के अतिरिक्त कोई अन्य है। 'न' जिसके साथ लगा रहता है उसका विरोधी अर्थ भी देता है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि वाक्य मे क्रिया मुख्य भाग है और क्रिया रूप मे अन्त मे जो शब्द लगा होता है, वही प्रमुख भाग होता है। अत 'कलञ्ज नही खाना चाहिए' (कलञ्ज न भक्षयेत्) मे 'न' भक्षयेत् के साथ सम्बन्धित समझा जाना चाहिए। विधि मे (या विधि को सुनने पर) इसका प्रत्यक्ष होता है कि वाक्य मानो सुनने वाले को सक्रिय होने के लिए प्रेरित करता है। जब 'न' इच्छार्थक रूप मे लगा रहता है तो यह प्रेरणा का उलटा तात्पर्य देता है (अर्थात् निर्वतन=किसी वस्तु से दूर रहना)। एक विधि मे से जिस फल को कोई समझता है तो वह स्वर्ग है ('यजेत स्वर्गकाम'), किन्तु निषेध मे फल अनर्थ—निवृत्ति पाया जाता है। एक विधि मे वही अधिकार्य है जो स्वर्ग की कामना करता है, निषेध मे वही अधिकारी है जो अनर्थ से डरता है और अवाछित से दूर हटता है। अत इन विवेचनो से प्रकट है कि आज्ञा एव निषेध अर्थ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।

किन्तु जब क्रिया के साथ 'न' बैठाने मे कोई कठिनाई होती है तो वह धातु के अर्थ के साथ बैठा दिया जाता है। इस प्रकार कठिनाइयाँ दो प्रकार की होती हैं। प्रथम कठिनाई या बाधा तब होती है जब सम्पूर्ण वाक्य 'उसके

४१ तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्व तदल्पता। अप्राशस्त्य विरोधश्च नञर्था षट् प्रकीर्तिता ॥ मी० न्या० प्र० भाट्टालकार नामक टीका (पृ० ४३०) मे उद्धत। अब्राह्मण का अर्थ है ब्राह्मणादन्य (अर्थात् नञ का यहाँ अर्थ है तदन्यत्व) एव अधर्म का अर्थ है धर्मविरोधि, जैसा कि श्लोकवार्तिक (अपोहवाद, श्लोक २३) मे आया है 'नामधात्वर्थयोगी च नैवनञ् प्रतिषेधक। वदतोऽब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ।' पाणिनि (३।१।१२) के वार्तिक ४ पर महाभाष्य मे आया है 'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगति' और व्याख्या है अब्राह्मणमानयेत्युक्तो (क्ते?) ब्राह्मणसदृश आनीयते नासौ लोष्टमानीय कृती भवति'।

व्रत हैं' से आरम्भ किया जाता है, या जहाँ निषेध का अर्थ लगा रहता है तो कोई विकल्प उठ खड़ा होता है। वाक्यों में इन दो बाधकों के विषय में, जहाँ 'न' आता है, हम 'पर्युदास' (अपवाद या व्यावृति या निषेध) की सहायता लेते हैं[४२]। प्रजापतिव्रतों (जो पुरुषार्थ हैं, जैसा कि पू० मी० सू० ४।१।३ ने निश्चित किया है) के विषय में वाक्य का आरम्भ 'उसके व्रत हैं' से होता है और पुनः वाक्य आता है, 'उसे सूर्योदय या सूर्यास्त नहीं देखना चाहिए' (कौषीतकि ब्रा० ६।६)[४३]। व्रत का अर्थ है कोई मानसिक कर्म, किसी विशिष्ट कर्म को न करने का संकल्प, जिसका अर्थ है 'उसे इस प्रकार कर्म करने के लिए संकल्प लेना चाहिए जिससे वह सूर्योदय या सूर्यास्त न देख सके और उस पर आरूढ़ रहे'। वास्तव में यह नियम (नियन्त्रण) है। इस वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि उसे सूर्य की ओर कभी नहीं देखना चाहिए (सूर्य को देखने पर कोई निषेध नहीं है) प्रत्युत यह केवल सूर्योदय एवं सूर्यास्त को देखने को मना करता है अतः यह केवल अपवाद या निषेध है और वह व्यक्ति जो इस नियम (नियन्त्रण) को मानता है, फल पाता है, किन्तु कलञ्ज के भक्षण के विषय में पूर्णरूपेण निषेध है।

४२ अतो लिङत्वांशेन नञ् सम्बध्यते। तस्य सर्वापेक्षया प्राधान्यात्। नञश्चैव स्वभावो यत्स्वसम्बन्धिप्रतिपक्षबोधकत्वम्। तदिह लिङर्थस्ताव प्रवर्तना। अतस्तेन सम्बध्यमानो नञ् प्रवर्तनाप्रतिपक्षं निवर्तनां गमयति। अतश्च सर्वत्र निषेधेषु निवर्तनैव वाक्यार्थः। एवं च विधिनिषेधयोर्भिन्नार्थत्वं सिद्धं भवति। यथाहुः। अन्तरं यादृशं लोके ब्रह्महत्याश्वमेधयोः। दृश्यते तादृगेवेदं विधानप्रतिषेधयोः॥ इति। तथा सर्वथापि तु नञ् प्राधान्यात्प्रत्ययार्थेनान्वयः। यदा तु तदन्वये किञ्चिद्बाधकं तदागत्या धात्वर्थेनान्वयः। तच्च बाधकं द्विविधम्। तस्य व्रतमित्युपक्रमो विकल्पप्रसक्तिश्च। तेन च बाधकद्वयेन नञ्युक्तेषु वाक्येषु पर्युदासाश्रयणं भवति। तदभावे निषेध एव। पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्। प्रतिषेधः स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ्॥ इति च तयोर्लक्षणम्। तत्र नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्—इत्यादौ पर्युदासाश्रयणम्, तस्य व्रतमित्युपक्रमात्। तथाहि व्रतशब्देन कर्तव्योऽर्थ उच्यते। मी० न्या० प्र० (पृ० २५०-२५३)। तन्त्रवार्तिक पर न्यायसुधा (या राणक) ने पृ० २०१ पर 'अन्तर ... षेधयोः' को उद्धृत किया है और उसे कुमारिल की बृहट्टीका का माना है और फल आदि पाँच बातों की, जिनमें विधि एवं निषेध एक-दूसरे से विभिन्न हैं, व्याख्या की है। उत्तरपद एक मीमांसा-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द है और वह क्रिया रूप में आने वाली अन्तिम निवृत्ति है तथा पूर्वपद में पद तो रहता है किन्तु अन्तिम निवृत्ति या समाप्ति नहीं होती। विधिः प्रवर्तमानो हि श्रेयःसिद्ध्यै प्रवर्तते। प्रतिषेधः पुनः पापान्निवर्तयति भेदतः। तन्त्रवा० (पू० मी० सू० ३।४।१३, पृ० ६११)।

४३ युक्तं यत्प्रजापतिव्रतेषु शास्त्राणामर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते। तत्र नियमः कर्तव्यतयोपदिश्यते। तस्य व्रतमिति प्रकृत्य प्रजापतिव्रतानि समाम्नातानि। व्रतमिति च मानसं कर्मोच्यते। इदं न करिष्यामीति यः संकल्पः। कतमत्तद्व्रतम्। नोद्यन्तमादित्यमीक्षेतेति। यथा तदीक्षणं न भवति तथा मानसो व्यापारः कर्तव्यः। तस्य च पालनम्। तत्र तस्मात्पुरुषार्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम्। न हि कलञ्जं भक्षयन् प्रतिषेधं विधिं नातिक्रामति। इह पुनरादित्यं पश्यन्नातिक्रामति विधिम्। न हि तस्य दर्शनं प्रतिषिद्धम्। नियमस्तत्रोपदिष्टः। यस्तं नियमं करोति स फलेन सम्बध्यते। इह तु प्रतिषिध्यते कलञ्जातिः। शबर (पू० मी० सू० ६।२।२०)। कौषीतकि ब्रा० (६।६) या शा० ब्रा० में हम ऐसा पाते हैं 'तस्य व्रतं मुद्यन्तमेवैनं, नेक्षेतास्तं यन्तं चेति'। मनु० (४।३७) में भी ऐसी ही व्यवस्था है 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन'। देखिए अनुशासनपर्व (१०४।१८), वसिष्ठ (१२।१०, जहाँ स्नातक व्रतों का उल्लेख भी है), विष्णुधर्मसूत्र (७१।१७-१८)।

'पर्युदास' (अपवाद) वही है जहाँ दूसरे शब्द के साथ (अर्थात् किसी क्रिया की धातु के साथ या किसी भिन्न शब्द, यथा—सज्ञा के साथ) अभावात्मक रूप आता है। 'निषेध' वहाँ होता है जहाँ पर क्रिया के साथ अभावात्मक रूप पाया जाता है।

धर्मशास्त्र-ग्रन्थो मे 'न' की वहुधा ऐसी व्याख्या की गयी है कि यह पर्युदास (अपवाद या मना करने की एक व्यवस्था) है। याज्ञ० (१।१२९-१६६) मे स्नातक के कर्तव्यो वाले परिच्छेद मे 'न' का बहुधा उल्लेख हुआ है। मिताक्षरा ने याज्ञ० (१।१२९) की व्याख्या मे लिखा है कि जहाँ कही 'न' आया है वह पर्युदास का द्योतक है (सर्वत्रापि अस्मिन् स्नातकप्रकरणे नञ्-शब्द प्रत्येक पर्युदासार्थ इव)। हम एक उदाहरण ले, याज्ञ० (१।३२) मे आया है कि जो बात दुखदायक हो उसे अनावश्यक या अकारण किसी (पुरुष या नारी) से नही कहना चाहिए। इससे यह नही प्रकट होता कि जो बात दु खदायक हो उसे नही कहना चाहिए, केवल उस स्थिति मे उसे नही कहना चाहिए जब कि उसके लिए कोई कारण या अवसर न हो। त्रुटि करने वाले अपने पुत्र या मित्र या सम्बन्धी से दुखदायक बात कही जा सकती है। 'पुत्रवान् व्यक्ति को कुछ तिथियो पर उपवास नही करना चाहिए' इस प्रकार की बात की व्याख्या मे अपरार्क (पृ० २०६-२०७) ने दो प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किये हैं जिनसे 'पर्युदास' एव 'प्रतिषेध' का अन्तर स्पष्ट होता है। उन श्लोको के पूर्वार्ध इस प्रकार हैं—'प्रधानत्व विधौ यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता (पर्युदास नञ्)।। अप्राधान्य विधौ यत्र प्रतिषेधे प्रधानता। प्रसज्यप्रति नञ्'।।

जब 'न' का प्रयोग किसी वाक्य मे होता है तो वह या तो प्रतिषेध होता है या पर्युदास या अर्थवाद होता है। इन तीनो का अन्तर स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। दर्शपूर्णमास मे दो आज्यभाग अग है (पू० मी० सू० ४।४।३०) तथा कहा गया है कि दो आज्यभाग दर्शपूर्णमास यज्ञ की आँखे है[४४]। इस सम्बन्ध मे वेद का कथन है कि किसी पशुयज्ञ मे या सोमयज्ञ मे इन दोनो का सम्पादन नही होता।' प्रश्न यह है—'क्या यह प्रतिषेध है या पर्युदास है या अर्थवाद है?' प्रतिषेध तभी होता है जब जो आगे होने वाला होता है उसके प्रतिषेध की सम्भावना होती है। दर्शपूर्णमास मे आज्यभागो की व्यवस्था रहती है अत सोमयज्ञ मे इन दोनो की आवश्यकता की सम्भावना नही है और कोई वास्तविक प्रतिषेध भी नही है, और न पर्युदास ही है, क्योकि यदि यह पर्युदास होता तो कोई उचित सम्बन्ध न होगा, क्योकि पर्युदास मे यह कहना पडेगा 'दर्शपूर्णमास मे आज्यभाग होते है, सोमयज्ञ मे नही', जो कि अनर्गल है। अत 'न तौ पशौ करोति न सोमे' नामक शब्दो मे अर्थवाद है। शुद्ध प्रतिषेध तभी होता है जबकि पहले व्यवस्था हो और बाद को वर्जन हो। इस विषय मे एक प्रसिद्ध उदाहरण षोडशी (षोडशिन्) पात्र का है[४५]। समान रूप से प्रामाणिक दो वैदिक वाक्य है—"वह अतिरात्र मे 'षोडशी' पात्र ग्रहण

४४ चक्षुषी वा एते यज्ञस्य यदाज्यभागौ यजति चक्षुषी एव तद्यज्ञस्य प्रतिदधाति। तै० स० (२।६।२।१)।

४५ शिष्ट्वा तु प्रतिषेध स्यात्। पू० मी० सू० (१०।८।६)। शबर ने व्याख्या की है 'यथा नातिरात्रे गृह्णाति षोडशिनमिति। न तत्र शक्य वक्तु पर्युदास इति। सम्बन्ध एव हि न स्यात्। अतिरात्रवर्जितातिरात्रे गृह्णाति षोडशिनमिति। नापिकस्य चिदर्थवादत्वेन सम्भवति। यत्र पुनरन्या वचनव्यक्तिरस्ति वाक्यस्य तत्र न विकल्पो भवति। एवमेषोऽष्टदोषोऽपि यद्व्रीहियववाक्ययो। विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विद्यते। व्रीहिशास्त्रप्रवृत्तौ हि यवशास्त्रेण बाध्यते। श्रोता तत्र प्रवृत्तोपि व्रीहिशास्त्रेण बाध्यते। तन्त्रवार्तिक (१।३।३ पर, पृ० १७५))। और देखिए प्राप्तिपूर्वो हि प्रतिषेधो भवति। शबर (पू० मी० सू० ७-३।२० एव ७।३।२३ पर)।

करता है" एव "वह अतिरात्र मे 'षोडशी' पात्र नही ग्रहण करता है"। इस परस्पर विरोधी बात मे विकल्प की अनुमति है। इसी प्रकार एक वैदिक वाक्य है—'व्रीहिभियजेत यवैर्वा' (वह धानो से या जौ से यज्ञ करे)। अत, उपर्युक्त दोनो उदाहरणो मे जहाँ दो उक्तियाँ परस्पर विरुद्ध हैं, वहाँ विकल्प के सहारे के अतिरिक्त कोई अन्य गति नही है। किन्तु विकल्प मे आठ दोष पाये जाते हैं। इसी कारण विकल्प का परिहार (त्याग) करना चाहिए, और यथासम्भव पर्युदास या अर्थवाद को ग्रहण करना चाहिए, क्योकि विकल्प का आश्रय लेने से किसी एक उक्ति को अप्रामाणिक मानना होगा। शबर एव तन्त्रवार्तिक ने ऐसी व्यवस्था दी है कि वही विकल्प का आश्रय लेना चाहिए जहाँ कोई अन्य मार्ग न हो। पू० मी० सू० ने व्यवस्था दी है कि वही विकल्प ग्रहण करना चाहिए जहाँ एक ही विषय मे एक ही अर्थ वाले अनेक प्रामाणिक वचन कहे गये हो।

एक अन्य शब्द है नित्यानुवाद जिसकी व्याख्या हो जानी चाहिए[४६]। यह शब्द, आप० ध० सू० (२।६।१४।१३) मे आया है। यह जैमिनि (२।४।२६, ४।१।५, ६।७।३०, ७।४।५, ८।१।६, ९।४।३६, १०।२।३८ मे) बहुधा आया है और शबर ने उससे भी अधिक बार इसका प्रयोग किया है। शबर ने व्याख्या की है कि जब वैदिक वचन स्पष्ट रूप से किसी ऐसी बात का प्रतिषेध करते है जिसके घटने की कोई सम्भावना नही होती तो ऐसी स्थिति मे नित्यानुवाद होता है (यथा—अग्निचयन खाली भूमि या आकाश या स्वर्ग मे नही होना चाहिए)। इसी बात को टुप्टीका ने दूसरे ढग से कहा है—'जब प्रतिषेध अर्थवाद हो जाता है तो वह नित्यानुवाद कहलाता है।

विकल्पो को तीन कोटियो मे बाँटा गया है, यथा—(१) ऐसे विकल्प जिनके पीछे तर्क उपस्थित किया जाय, (२) जो व्यक्त (स्पष्ट) शब्दो के कारण प्रकट हो तथा (३) जो कर्ता की इच्छा पर आश्रित हो। प्रथम का उदाहरण 'यवैर्व्रीहिभिर्वा यजेत' (चावल के अन्नो या जौ के अन्नो से यज्ञ करना चाहिए) मे पाया जाता है। दूसरे प्रकार के विकल्पो के लिए देखिए मनु (३।२६७) जहाँ यह आया है कि जब तिल या चावल या यव या माष की दाल या जल या फल एव मूल से तर्पण किया जाता है तो पितर लोग सन्तुष्ट होते है।

व्यक्ति की इच्छा पर आश्रित विकल्प का उदाहरण जाबालोपनिषद्[४७] मे पाया जाता है—'ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थ होना चाहिए, गृहस्थ होने के उपरान्त (वानप्रस्थ आश्रम मे जाना) चाहिए और वनी होने के उपरान्त सन्यासी (या परिव्राट्) होना चाहिए, या दूसरी विधि के अनुसार ब्रह्मचर्य की समाप्ति, या गृहस्थ होने, या वनी होने के उपरान्त कोई सन्यासी हो सकता है'। इस कथन का अन्तिम भाग आश्रमो के विषय मे विकल्प उपस्थित करता है। गौतम (३।१) मे आया है—'कुछ ऋषियो ने उसके (ब्रह्मचारी के) लिए आश्रमो के विषय मे विकल्प रख दिया है। जब याज्ञ० (१।१४) ने व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण लडके का उपनयन गर्भाधान या जन्म के उपरान्त आठवे वर्ष मे हो सकता है, तो यहाँ पिता की इच्छा पर विकल्प निर्भर होता है।

४६ असति प्रसङ्गे प्रतिषेधो नित्यानुवाद। शबर (१।२।१८ पर); यथार्थवादत्वेन प्रतिषेधस्तत्र नित्यानुवादो भवति। टुप्टीका (७।३।२१), ९।४।३६ (परो नित्यानुवाद स्यात्) पर शबर ने व्याख्या दी है. 'नित्यमेतमर्थं सन्तमनुवदति'।

४७ ब्रह्मचर्य परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा। जाबालोप० ४। इसे शकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र (३।४।२०) के भाष्य मे निम्नलिखित टिप्पणी के साथ उद्धृत किया है 'अनपेक्ष्यैव जाबाल श्रुतिमाश्रमान्तर विधायिनीमयमाचार्येण विचार प्रवर्तित'।

मनु (४।७) ने व्यवस्था दी है कि द्विज को उतना अन्न एकत्र करना चाहिए कि एक कडाल (कोठिला) भर जाय (अर्थात् जो एक वर्ष तक चले), या एक कुम्भी (६ मासो के लिए) या उतना इकट्ठा करना चाहिए कि तीन दिनो तक चले, या कल की भी चिन्ता नही करनी चाहिए। ये चार विकल्प है और तब मनु (४।८) ने व्यवस्था दी है कि गहस्थ द्विज को इन चारो मे एक विकल्प ग्रहण कहना चाहिए, किन्तु प्रत्येक आगे वाला अपने पीछे वाले से फल तथा परलोक सम्बन्धी पुण्य के विषय मे उत्तम है।

विकल्प या तो व्यवस्थित (किसी एक प्रकार की अवस्थाओ तक सीमित या नियन्त्रित रहने वाला) हो या अव्यवस्थित (अनियन्त्रित)। आप० ध० सू० (२।२।३।१६) मे आया है'[८] 'व्यक्ति को औपासन अग्नि या रसोई की अग्नि मे प्रथम ६ मन्त्रो के साथ अपने हाथ से बलि देनी चाहिए'। हरदत्त ने टीका की है कि 'यह एक व्यवस्थित (सीमित) विकल्प है', अर्थात् जिन्होंने औपासन अग्नि (गृहाग्नि) रख छोडी हो उन्हे प्रतिदिन बलि देनी चाहिए किन्तु साधारण रसोई की अग्नि मे केवल वे ही लोग बलि छोडे जिनकी पत्नी मर गयी हो। मनु० (३।८२) मे आया है कि व्यक्ति को प्रतिदिन अन्न, जल, दुग्ध आदि से श्राद्ध करना चाहिए। यहाँ पर व्यवस्थित विकल्प है। क्योकि सर्वप्रथम अन्न की व्यवस्था है और तब उसके अभाव मे दूध, फलो एव मूलो की और पुन इनके अभाव मे जल की व्यवस्था है। जब मनु (४।९५) ऐसा कहते हैं कि 'श्रावण की पूर्णिमा को या भाद्रपद की पूर्णिमा को उपाकर्म कृत्य करके ब्राह्मण को साढे चार मासो तक परिश्रमपूर्वक वेद का अध्ययन करना चाहिए' तो मेधातिथि ने इसे व्यवस्थित विकल्प माना है, अर्थात् सामवेदियो को भाद्रपद की पूर्णिमा को तथा ऋग्वेदियो एव यजुर्वेदियो को श्रावण की पूर्णिमा को उपाकर्म करना चाहिए। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० १।२५४) जहाँ माता के सपिण्डन के विषय मे चर्चा है और परस्पर विरोधी उक्तियो को क्रम से रखा गया है। जब गौतम (३।२१) ने कहा है कि सन्यासी को अपना सिर पूर्णरूपेण मुंडा लेना चाहिए या केवल शिखा रख लेनी चाहिए, तो यहां पर व्यक्ति की इच्छा पर आधारित विकल्प है। गौतम (२।५१-५३), आप० ध० सू० (१।२।११), मनु (३।१) ने वेदाध्ययन के ब्रह्मचर्य की ४८, ३६, २४,१२, ३ वर्षो की अवधि दी है। यहाँ विद्यार्थी की इच्छा एव समर्थता पर विकल्प निर्भर है। यह द्रष्टव्य है कि व्यवस्थित विकल्प मे आठ प्रकार के दोष नही पाये जाते और न वे वहीं पाये जाते हे जहाँ विकल्प किसी व्यक्ति की इच्छा पर निभर होता है या जहाँ विकल्प स्पष्ट वचनो द्वारा व्यक्त किया जाता है। आठ प्रकार के दोष केवल तर्क द्वारा उपस्थित विकल्प मे ही पाये जाते हैं।

मीमासा बालप्रकाश (पृ० १५३-१६५) ने विकल्पो के विभाजनो एव उपविभाजनो की एक लम्बी सूची दी है।

पतजलि के मतानुसार शास्त्र का मन्तव्य ही है निश्चित व्यवस्था उपस्थित करना[४८] और इसीलिए सभी शास्त्रीय ग्रन्थ विकल्पो को न्यूनातिन्यून सख्या तक लाने का प्रयास करते हैं और स्पष्ट परस्पर विरोधी उक्तियो के लिए पृथक् एव निश्चित विषय व्यवस्था करते हैं। कभी-कभी विकल्प इतने अधिक हो जाते हैं कि टीकाकार लोग उनके लिए पृथक् क्षेत्र-व्यवस्था देना छोड देते है, यथा—मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२२) ने क्षत्रियो,

४८ न ह्यव्यवस्थाकारिणा शास्त्रेण भवितव्यम्। शास्त्रतो हि नाम व्यवस्था। महाभाष्य, वार्तिक ४ (तथा चानवस्था) पाणिनि (६।१।१३५) पर, एवमनेकोच्चावचाशौचकल्पा दर्शिता। तेषा लोके समाचाराभावान्नातीव व्यवस्था प्रदर्शनमुपयोगीति नात्र व्यवस्था प्रदर्श्यते। मिता० (याज्ञ० ३।२२)।

वैश्यो एव शूद्रो के लिए पराशर, शातातप, वसिष्ठ एव अत्रि से जन्म एव मरण के आशौच के विषय मे परस्पर विरोधी वचन उद्धृत करने के उपरान्त उन्हे एक क्रम मे रखने का प्रयास ही छोड दिया है, क्योकि यह सब व्यर्थ है और लोग इन वचनो को व्यवहार मे नही लाते ।

दो अन्य शब्दो की व्याख्या की आवश्यकता है। वे है, 'आरादुपकारक' एव 'सन्निपत्योपकारक'। पू० मी० सू० के तीसरे अध्याय मे लेखक ने शेष एव उसकी परिभाषा का उल्लेख किया है और उसकी व्याख्या की है कि कौन-सी बाते शेष होती है और कौन-सी शेषी (शेषिन्)। कुमारिल ने शेष शब्द की पाच परिभाषाएँ दी है। उनमे चार का त्याग किया है और एक को स्वीकार किया है, यथा—'शेष वह है जो दूसरे का उद्देश्य पूरा करता है।' शबर का कथन है कि जो दूसरे की सहायता करता है वह शेष कहलाता है और दूसरा शेषी कहलाता है। बादरि के अनुसार शेष की तीन कोटियाँ है, यथा—द्रव्य (वैसे पदार्थ जो यज्ञ के लिए है यथा धान), गुण (यथा, लाल रंग की गाय, जो क्रय किये जाने वाले सोम का मूल्य है), सस्कार (ऐसे कर्म जिनमे शुद्ध करने की क्रिया की जाती है, यथा मूसल एव ओखली से अन्नो को कूटना, जिससे पुरोडाश बनाया जा सके)। जैमिनि का कथन है कि याग एव याग के फल के समान कर्ता के सन्दर्भ मे कर्म (कृत्य) शेष है और याग के सदर्भ मे कर्ता शेष है। बादरि के मत मे द्रव्य, गुण एव सस्कार सदैव शेष हैं, किन्तु स्थिरीकृत निष्कर्ष के अनुसार याग, फल एव पुरुष (कर्ता) विभिन्न अवस्थाओ मे या तो शेष होगे या शेषी। एक लम्बे विवेचन के उपरान्त तन्त्रवार्तिक ने निष्कर्ष निकाला है कि द्रव्य, गुण एव सस्कार याग के सदर्भ मे सदैव शेष होते है, यद्यपि स्वय अपने तत्वो के सदर्भ मे वे शेषी हो सकते है, किन्तु जहाँ तक फल, याग एव कर्ता (पुरुष) का प्रश्न है, वे एक दूसरे के सदर्भ मे शेष एव शेषी दोनो है। उदाहरणार्थ, दर्शपूर्णमास याग मे 'बहुत से विषय है, यथा—(यज्ञ के लिए) धान को मुट्ठियो से निकालना, उन पर जल छिडकना, उन्हे चूर्ण करना, इसके उपरान्त आज्य (घृत) के सदर्भ मे कुछ विशिष्ट कृत्य किये जाते है, यथा—दो कुशो से उसे शुद्ध करना, उसे गलाना, पल्लव लाना, गायो को चरागाह मे प्रस्थान कराना आदि। ये सहायक कृत्य दो प्रकार के होते है, (१) जो पहले से हो चुके रहते है, (२) जो कर्मों के रूप वाले होते है। प्रथम मे द्रव्य, सख्या आदि का बोध होता है, वे जो कर्मों के रूप के है, वे दो प्रकार के होते है, यथा—सन्निपत्योपकारक एव आरादुपकारक। पौर्णमास कृत्य मे प्रयाजो, आघारो एव आज्यभागो के समान सहायक कृत्य पाये जाते है और ये आरादुपकारक कहे जाते है। सन्निपत्योपकारको को सामवायिक या आश्रयिकर्माणि भी कहा जाता है और वे है अन्न को चूर्ण करना, प्रोक्षण आदि'। आरादुपकारक ऐसे व्यवस्थित कृत्य है जो द्रव्यो के विषय मे कुछ नही करते और वे सीधे तौर से प्रमुख कृत्य के अग माने जाते है। इनसे यज्ञ मे दिये जाने वाले द्रव्य के सस्कार (अलकरण या योग्य बनाना या शुद्ध करना) से कोई सम्बन्ध नही है। ये उस परमापूर्व को उत्पन्न करते है जो सम्पूर्ण कृत्य के फल को देने वाला होता है। वे स्वय अपने लिए एक गौण अपूर्व की उत्पत्ति करते है। वे प्रमुख कृत्य के प्रत्यक्ष अग होते है और सन्निपत्योपकारको से भिन्न है, क्योकि सन्निप्रत्योपकारक सस्कारक (शुद्धता या योग्यता लाने वाले) होते है। सन्निपत्योपकारक आरादुपकारको से अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होते है और इसीलिए तन्त्रवार्तिक ने प्रस्तावित किया है कि जहाँ किसी कृत्य मे कोई कार्य सन्निपत्योपकारक या सामवायिक होता है, वहाँ उसे आरादुपकारक कहना उचित नही है। यह जानने योग्य है कि प्रो० कीथ ने 'कर्ममीमासा' नामक अपने ग्रन्थ मे (पृ० ८८) इन दोनो का अर्थ उलट दिया है। महामहोपाध्याय झा के 'प्रभाकर स्कूल' नामक ग्रन्थ मे (पृ० १८१) सन्निपत्योपकारक की व्याख्या अस्पष्ट है। एकादशीतत्त्व (पृ० ६७) ने एकादशी मे घृत, दुग्ध, मधु के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले प्रतिनिधियो (यथा दुग्धचूर्ण, दही एव गुड) का विवेचन करते हुए व्याख्या की है कि 'प्रयाजो' (जिनसे

अदृश्य एव आध्यात्मिक फल की प्राप्ति होती है) के समान व्यवस्थित क्रिया के स्थान पर कोई प्रतिनिधि नही होता, क्योकि जो अदृश्य फल उत्पन्न करने वाला होता है वह आरादुपकारक कहलाता है, किन्तु चावल के धानो (जिनसे पुरोडाश बनाया जाता है) के स्थान पर किसी प्रतिनिधि का प्रयोग हो सकता है, क्योकि चावल के अन्न (धान) सन्निपत्योपकारक होते ह और दृश्य उद्देश्य लेकर चलने वाले होते है, यथा पुरोडाश बनाना। वेदान्त-सूत्र (४।१।१६) के भाष्य मे शकराचार्य ने कहा है कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति द्वारा आवश्यक वैदिक कृत्यो (यथा, अग्निहोत्र) का सम्पादन, आरादुपकारक के रूप मे सहायक होता हे।

पूर्वमीमासा ने व्याख्या के लिए वेद एव स्मृतियो के अतिरिक्त लोक या लोकवत् (सामान्य लोगो की उक्तियो) का भी आश्रय लिया हे। उदाहरणार्थ, १।२।२०, १।२।२६, २।१।१२ (लोकवत्), ४।१।६ ('तथा च लोक भूतेपु' अर्थात् 'लोकेपि'), ६।२।१६ (लोके कर्माणि वेदवत्ततोऽधिपुरुपज्ञानम्), ६।५।३४ (न भक्तित्वादेशा हि लोके), ६।८।२६ (याञ्चक्रयणमविद्यमाने लोकवत्), ७।४।११ (लिगहेतुत्वादलिगे लौकिक स्यात्), ८।२।२२ (पयोवातत्प्रधानत्वाल्लोकवद्दध्नस्तदर्थत्वात्) यह दृष्टान्त देता हे कि दूध जमाने के लिए थोडा दही पर्याप्त है, ८।८।६ (न लौकिकानाम् आदि, यहाँ लौकिक का अर्थ हे 'लोकानाम्'), १०।३।४४ (शब्दार्थश्चापि लोकवत्), १०।३।५१, १०।६।८, १०।७।६६ (लोकवत्, शवर ने कहा है 'यथा मत्स्यान् न पयसा समश्नीयात्), ११।१।२३, २६, ६२। स्वय शवर ने अपने भाष्य (पू० मी० सू० ३।४।१३, एव 'वर्ण्यमाने लौकिकन्यायानुगत सूत्रार्थो वर्णितु, भविष्यति', पृ० ६२६) मे 'लौकिकन्याय' का प्रयोग किया हे।

जैमिनि ने प्रथम अध्याय के प्रथम पाद मे धर्म के विपय मे वेद के नित्यस्वयभू एव नितान्त प्रामाणिक स्वरूप का निरूपण किया हे और ज्ञान के साधनो तथा शब्दो एव अर्थो के पारस्परिक नित्य स्वरूप पर भी विवेचन उपस्थित किया है। प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद मे उन्होने उद्घोपणा की है कि वे अर्थवाद, जो वेद के अधिकाश भाग के रूप मे हें, उन विधियो की प्रशसा के निमित्त उपस्थित किये गये है, जिनके साथ वे सम्बन्वित ह ओर उन्हे व्यर्थ नही समझना चाहिए। उन्होने इसकी उद्घोपणा भी की है कि मन्त्रो (जो वेद के अग है) का एक उद्देश्य हे, और वह है सम्पादित कृत्यो के अर्थ का मन मे पुन प्रत्यावाहन। उन्होने यह भी कहा है कि 'चत्वारि शृगा' [४९] (ऋ० ४।५८।३) ऐसे मन्त्र रूपक के रूप मे याग की स्तुति मे है, 'जर्भरी तुर्फरीत्'

४९ 'चत्वारि शृगा' के विषय मे विरोध एव उद्धरण पू० मी० सू० (१।२।३१) मे उठाये गये हे और उनका उत्तर १।२।३२–३५ मे दिया गया हे। पू० मी० सू० (१।२।३८) मे 'चत्वारि शृगा' के श्लोक का निरूपण हे। इस श्लोक की व्याख्या निरुक्त (१३।७), पतञ्जलि के महाभाष्य, शवर, कुमारिल (तन्त्रवार्तिक, पृ० १५५–१५६), दुर्गा एव सायण द्वारा की गयी हे। इन व्याख्याओ मे वडा विभेद हे, '(कुमारिल भी शवर से इस विपय मे वहुत भिन्नता रखते ह)। जर्भरी तुर्फरीत् आश्विनो की उपाधियाँ हें और उनकी व्याख्या निरुक्त (१३।५) मे हुई हे। काणुका (निरुक्त ५।१०), कीकट तथा अन्य शब्द निरुक्त (६।३२) मे व्याख्यायित हुए हैं। यास्क का कथन हे 'कीकट वह देश हे, जहाँ अनार्य रहते हैं'। किन्तु तन्त्रवार्तिक (पृ० १५८) ने सर्वप्रथम इसे एक देश के अर्थ मे माना और निश्चित किया कि एक देश नित्य है। इसके उपरान्त कुमारिल ने प्रस्तावित किया है कि 'कीकट' का अर्थ है 'मुष्टि-बन्ध', प्रमगण्ड का अर्थ है, 'अधिक व्याज खाने वाला' तथा 'नैचा-शाखम्' का अर्थ है 'नपुनक व्यक्ति'। शवर ने पू० मी० सू० (१।२।४१, पृ० १५६–१५७) पर लिखा है 'विद्यमानोऽप्यर्थ प्रमादालस्यादिभिर्नोपलभ्यते। निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थ कल्प-

(ऋ० १०।१०६।६) या 'इन्द्र सोमस्य काणुका' (ऋ० ८।८७।४) ऐसे मन्त्रो मे कुछ शब्दो का अर्थ (जिसके विषय मे ऐसा तर्क किया जाता है कि उनका कोई अर्थ नही है) निरुक्त एव व्याकरण की सहायता से, वास्तव मे, जाना जा सकता है, 'कीकट', 'नैचाशाख' एव प्रमगण्ड ऐसे कुछ शब्द, जिनमे क्रम मे एक देश, एक नगर एव एक राजा की ओर सकेत मिलता है ओर इसीलिए वे मन्त्र (ऋ० ३।५३।१४) को अनित्य सूचित करते है, एक अन्य प्रकार से व्याख्यायित हो सकते है। इस प्रकार वेद का कोई अश अनर्थक या अनित्य नही है। मीमासक लोग वेद के शब्दो एव वाक्यो के अनार्थक्य को दूर करने मे बडे सचेष्ट रहते है।

प्रथम अध्याय के तृतीय पाद मे जैमिनि ने स्मृतियो, शिष्ट लोगो के व्यवहारो, सदाचारो, वेदागो आदि की प्रामाणिकता के विषय मे विवेचन किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैमिनि द्वारा सूत्रो के प्रणयन के पूर्व स्मृतियाँ महत्त्व को प्राप्त कर चुकी थी, तथा धर्म के स्रोत के रूप मे शिष्टो के आचार स्वीकृत हो चुके थे। गौतम, आपस्तम्ब, तथा अन्य लोगो के धर्मसूत्रो ने ऐसी घोषणा कर दी थी कि वेद, स्मृतियाँ, वेदज्ञो के व्यवहार धर्म के मूल है[५०]। अत शान्तिपर्व (१३७।२३, १३५।२२ चित्रा सस्करण) ने धर्मशास्त्रो का उल्लेख किया है और अनुशासन पर्व (४५। १७) ने यम के धर्मशास्त्र से गाथाएँ उद्धृत की है। अत जैमिनि को इस बात पर विचार करना पडा कि स्मृतियाँ एव शिष्टाचार धर्म के विषय मे प्रमाण है कि नही, और यदि है तो किस सीमा तक। यदि स्मृतियाँ अप्रामाणिक मान ली जाती तो वेद की प्रामाणिकता पर कोई प्रभाव नही पडता, किन्तु पू० मी० सू० के प्रथम सूत्र ने स्वीकार किया कि वह ग्रन्थ (पू० मी० सू०) धर्म की विशेषताओ के प्रश्न पर विचार करेगा, इसीलिए स्मृतियो का, जो धर्मशास्त्र के नाम से विख्यात थी, (मनु २।१०), सम्बन्ध धर्म के निरूपण के साथ लगाया गया। इसके अतिरिक्त पू० मी० सू० के ६।७।६ से प्रकट होता है कि जैमिनि को धर्मशास्त्रो के विषय मे जानकारी थी, क्योकि उन्होने ऐसी व्यवस्था दी है कि विश्वजित् यज्ञ मे कर्ता किसी शूद्र को इस बात पर दान का विषय नही बना सकता कि वह (अर्थात् शूद्र) धर्मशास्त्र के आदेशो के आधार पर उच्च जाति के किसी व्यक्ति की सेवा करता है[५१]। उपनिषदो मे भी (यथा तै० उप० १।११), गुरु शिष्य के

यितव्य। यथा सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू इत्येवमादीन्यश्विनोरभिधानानि द्विवचनान्तानि लक्ष्यन्ते।' 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू ऋ० (१०।१०६।६) मे आया है। 'निगम कल्पयितव्य' शबर भाष्य (पू० मी० सू० १।३।१०) मे भी आया है। तन्त्रवार्तिक (पृ० २५९, १।३।२४ पर) मे ऐसा आया है 'कार्त्स्न्येऽपि व्याकरणस्य निरुक्ते हीनलक्षणा प्रयोगा बहवो यद्वद् ब्राह्मणो ब्रवणादिति'। निरुक्त (१।१५) मे 'तदिद विद्यास्थान व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्' नामक शब्द आये है। देखिए तन्त्रवार्तिक (पृ० २६८-२६९) जहाँ निरुक्त की ओर सकेत किये गये है। पू० मी० सू० (११।१।२४) मे शबर ने भावप्रधानमाख्यात (निरुक्त १।१) को उद्धृत किया है।

५० वेदो धर्ममूल तद्विदा च स्मृतिशीले। गौतम (१।२), धर्मज्ञसमय. प्रमाण वेदाश्च। आप० ध० सू० (१।१।१।२-३)। तस्य च व्यवहारो वेदो धर्म शास्त्राण्यङ्गान्युपवेदा पुराणम्। गौतम (११।१९), जिसके विषय मे हरदत्त ने व्याख्या की है 'तस्य राज्ञ व्यवहारो लोकमर्यादा स्थापनम्। देखिए मनु० (२।६) एव याज्ञ० (१।७)।

५१ शूद्रस्य धर्मशास्त्रत्वात्। पू० मी० सू० (६।७।६) विश्वजित्येव सन्दिह्यते। कि परिचारक शूद्रो देयो नेति। . एव प्राप्ते ब्रूम। शूद्रश्च न देय इत्यन्वादेश। कुत धर्मशास्त्रत्वात् धर्म शासनोपनतत्वात्तस्य। देखिए मनु० (१०।१२३) एव गौतम (११।५७-५९)।

वेदाध्ययन के उपरान्त उससे कहता है कि जब कभी उसे व्यवस्थित कृत्यो के विपय मे सन्देह हो या उचित आचार के विपय मे सन्देह हो तो वह अपने देश के ऐसे ब्राह्मणो के आचारो का अनुगमन करे, जो सुविचारणा के उपरान्त कार्य करते हे, जो कर्त्तव्यशील ह, जो दूसरो से प्रभावित होकर कोई अन्य कार्य नही करते, जो चरित्र मे कठोर नही ह और अपने कर्त्तव्यपालन मे सचेष्ट रहते हे। इसका तात्पर्य यह है कि सदाचार धर्म का एक स्रोत हे। जैमिनि ने 'स्मृति' शब्द का प्रयोग कई सूत्रो मे ग्रन्थो के अर्थ मे किया है, ६।८।२३ मे आप० गृ० सू० के शब्द पाये जाते ह। शबर ने 'स्मृति' शब्द का प्रयोग किया हे ओर 'स्मरति' एव 'स्मरन्ति' को एक दजन से अधिक वार प्रयुक्त किया हे।

निम्नलिखित वचन द्रष्टव्य ह। पू० मी० सू० (१।३।२) पर शबर का कथन हे—'प्रमाण स्मृति'[५२], पू० मी० सू० (१।३।३) पर उन्होने तीन स्मृति-नियम दिये हे, जिनमे दो विद्यामान स्मृतियो मे पाये जाते हे। पू० मी० सू० (६।१।५), मे जहाँ पगु आदि हीन प्राणियो की चर्चा हे ओर ऐसा प्रश्न उठाया गया हे कि ऐसे पशुओ को वैदिक कृत्यो के लिए अधिकार हे कि नही, तो शबर ने इस प्रकार के अधिकार को नही माना हे, क्योकि वे वेदाध्ययन नही करते ओर न स्मृति शास्त्र ही जानते (जैसा कि मनुष्य लोग जानते) ह। पू० मी० सू० (६।२।२१-२२) पर (जहाँ यह प्रश्न उठाया गया हे कि क्या वे स्मार्त नियम, यथा—गुरु का अनुगमन करना चाहिए, आज्ञापालन करना चाहिए, उन्हे प्रणाम करना चाहिए, वृद्ध व्यक्ति का सम्मान उठकर करना चाहिए, उन वच्चो के लिए भी प्रयुक्त होते हे, जिनका उपनयन न हुआ हो) शबर का कथन हे कि स्मृति वेद के समान है (वेदतुल्या हि स्मृति, वैदिका इव पदार्था स्मर्यन्त इत्युक्तम्)। ६।८।२३ पर शबर ने एक श्लोक को स्मृति कहकर उद्धृत किया हे, (स्मरन्ति-तेपु कालेपु द्वैवानि-इति)। ६।७।३१ पर उनका कथन है कि स्मृति ने गन्धर्वो को एक सहस्र वर्षो तक जीवित रहते लिखा हे। ६।१।२० पर शबर का कथन हे कि स्मृति के अनुसार स्त्री के पास सम्पत्ति नही होती, किन्तु श्रुति के अनुसार सम्पत्ति पर उसका स्वत्व रहता हे। ८।२।२ पर शबर ने कहा है—'नैपा स्मृति प्रमाणम दृष्टमूला ह्येपा', १०।१।३६ पर शबर का वचन है कि शिष्ट लोगो के व्यवहार से स्मृति का अनुमान किया जाता हे ओर स्मृति से श्रुति वचन का अनुमान किया जाता हे। १०।१।४२ पर शबर का कथन हे कि स्मृति व्यवहार से अधिक शक्तिशाली है। १०।३।४७ पर शबर की उक्ति है—'एक स्मृति

५२ अप्टाचत्वारिंशद्वर्पाणि वेद ब्रह्मचर्यचरण जातपुत्र कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत इत्यनेन विरुद्धम्। क्रीत-राजकोऽभोज्यान्न इति 'तस्मादग्नीपोमीये सस्थिते यजमानस्य गृहेऽशितव्यमित्यनेन विरुद्धम्। शबर १।३।२ पर। बौ० ध० सू० (१।२।१) मे आया हे 'अप्टाचत्वारिंशद्वर्पाणि वेदब्रह्मचर्यम्'। आप० ध० सू० (१।६।१८।१६ एव २३) मे 'सघान्नमभोज्यम्'। दीक्षितोऽक्रीतराजक। मनु० (१०।८९) ने घोडो एव ऐसे पशुओ के विक्रय को मना किया ह जो एकशफ होते ह, किन्तु तै० स० (२।३।१२।१) ने यह कह कर कि वरुण उसको पकड लेता है जो अश्व के दान को ग्रहण करता हे, व्यावहारिक रूप से उसकी वर्जना कर दी हे। ऋग्वेद ने अश्वो के दाताओ की वडी प्रशसा की है, यथा—१०।१०७।२ 'उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदा सहते सूर्येण'। 'पूर्व मीमासा इन इट्स सोर्स' के पृ० २२६ पर गगानाथ झा ने ऐसा अनुवाद दिया हे 'सिहो, घोडो आदि को दान मे देना, स्वीकार करना एव क्रय करना या विक्रय करना '। केसरिन (केसरी) का अर्थ हे सिह, और विशेपण के रूप मे इसका अर्थ है, 'अयाल वाला' और सिह की विशेपता प्रकट करता है। डा० झा का यह अनुवाद अशुद्ध है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ८५०, पाद-टिप्पणी १६४७।

हैं कि 'घोडा नही बेचना चाहिए'। एक स्थान पर शबर ने 'प्रमाणे स्मृतौ' के स्थान पर 'प्रमाणाया स्मृतौ' शब्दो का प्रयोग किया है ओर तन्त्रवार्तिक ने बडा कष्ट करके यह प्रदर्शित करना चाहा है कि शबर की यह त्रुटि किसी प्रकार १।३।३ पर ठीक हे। बौधायन धर्मसूत्र (१।१।१६-२६) ने दक्षिण भारत मे व्यवहृत पाच आचरणो तथा उत्तर भारत के पाँच आचरणो का उल्लेख किया हे और कहा हे कि यदि दक्षिण या उत्तर वाले अपने से विपरीत आचरणो का व्यवहार करेगे तो वे पापी कहे जायेगे। विरोधी कहता है[५३] कि स्मृतियो का परित्याग कर देना चाहिए, क्योकि वे मनुष्यो द्वारा प्रणीत ह (अर्थात् वे पौरुषेय है, अपौरुषेय नही, जैसा कि वेद है) और मनुष्य लोग वहुधा भ्रमित एव विस्मरणशील होते ह। विरोधी का यही प्रमुख आधार हे। इसका उत्तर यो है कि स्मृति की व्यवस्थाओ के लिए वेद मे ऐसे वचन पाये जाते ह जो स्मृति के कुछ नियमो की ओर निर्देश देते है, यथा—अष्टका श्राद्ध स्मृतियो के बहुत पहले से प्रचलित था और वह वैदिक मन्त्र 'या जना प्रतिनन्दन्ति' मे साकेतिक रूप से उपस्थित ह। गुरु की आज्ञा के पालन एव यात्रियो के लिए जलाशय की व्यवस्था करने के व्यवहारो मे जाना हुआ उद्देश्य (अर्थात् अन्य लोगो के लिये उपकार) ह। वेद मे भी 'प्रपा' (ऋ० ६।४।१) शब्द आया हे, 'धन्वन्नीव प्रपा असि' अर्थात् 'हे अग्नि, तुम मरुस्थल मे प्रपा के समान हो'। इस बात पर तथा आगे आने वाले सूत्रो के विपय मे तन्त्रवार्तिक ने विशद रूप से लिखा ह और भाष्यकार से कई स्थानो पर भिन्न मत प्रकट किया हे, उनके दोष को बताया हे और विवेचन के लिए अन्य विपय उपस्थित किये हे। स्मृति-व्यवस्थाओ के लिए दो सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ हे, जिनके लिए वैदिक सकेतो का पता चलाना असम्भव-सा हे। तन्त्रवार्तिक (१।३।१ पर, पृ० १६४) ने प्रथमत कहा हे कि 'स्मृति, की व्यवस्थाएँ (अथवा नियम या आदेश) विस्मृत वैदिक शाखाओ पर आधृत हो सकती ह, या (द्वितीयत) वे आज के प्रस्तुत (विद्यमान), वैदिक अशो पर आधृत हो सकती ह।' यदि कोई यह पूछे, 'वे क्यो नही पायी जाती'?' तो कुमारिल ने उत्तर दिया है—'वेद की बहुत-सी शाखाएँ (बहुत-से देशो मे) बिखरी पडी हे, मनुष्य लोग प्रमादी ह, वचन वेद के विभिन्न प्रकरणो मे पडे हुए ह, इन्ही कारणो से उन वचनो को बताया नही जा सकता जिन पर स्मृतियाँ आधारित हे[५४]।

५३ धर्मस्यमूलत्वादशब्दमनपेक्ष स्यात्। अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमान स्यात् ।१।३।१-२। 'कर्तृसामान्यात्' की व्याख्या भाष्यकार ने यो की है 'कर्तृसामान्यास्तस्मृति-वैदिकपदार्थयो, 'अर्थात् वे लोग जो वैदिक कृत्य करते हे और साथ ही साथ स्मृति की व्यवस्थाओ का पालन करते है, एक-से है, वे वैसा कभी न करते यदि उनमे ऐसा विश्वास न होता कि स्मृति-व्यवस्थाएँ वैदिक प्रमाण पर आधारित हे, यद्यपि प्रत्येक विषय मे वैदिक वचनो को स्पष्ट रूप से या उपलक्षित रूप बता देना सम्भव नहीं है। मेधातिथि ने मनु० (२।६) पर इसे स्पष्ट रूप से लिखा हे और अपने ग्रन्थ स्मृतिविवेक से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है. 'प्रामाण्यकारण मुख्यं वेदविद्भि परिग्रह। तदुक्त कर्तृसामान्यादनुमान श्रुती प्रति।। रेखाकित शब्द पू० मी० सू० (१।३।२) से लिये गये है। मनुस्मृति (२।७) मे आया हे 'य कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तित । स सर्वोभिहितो वेदेसर्वज्ञानमयो हि स ।।' मेधातिथि, गोविन्दराज एव अन्य टीकाकारो ने 'स' को वेद के लिए माना है, किन्तु कुल्लूक ने इसे मनु के लिए प्रयुक्त समझा है। देखिए इस महाग्रथ का खण्ड ३, पृ० ८२८, पाद-टिप्पणी १६१२ जहाँ इन शब्दो का अन्य अर्थ उपस्थित किया गया है।

५४ तेन चर प्रलीनश्रुत्यनुमानमेव । यद्वा विद्यमानशाखागतश्रुतिमूलत्वमेवास्तु। कथमनुपलब्धिरिति चेदुच्यते--शाखाना विप्रकीर्णत्वात्पुरुषाणा प्रमादत । नाना प्रकरणस्थत्वात् स्मृतेर्मूल न दृश्यते ।। तन्त्रवार्तिक

वेदाध्ययन के उपरान्त उससे कहता है कि जब कभी उसे व्यवस्थित कृत्यो के विषय मे सन्देह हो या उचित आचार के विषय मे सन्देह हो तो वह अपने देश के ऐसे ब्राह्मणो के आचारो का अनुगमन करे, जो सुविचारणा के उपरान्त कार्य करते है, जो कर्त्तव्यशील ह, जो दूसरो से प्रभावित होकर कोई अन्य कार्य नही करते, जो चरित्र मे कठोर नही ह और अपने कर्त्तव्यपालन मे सचेष्ट रहते ह। इसका तात्पर्य यह है कि सदाचार धर्म का एक स्रोत है। जैमिनि ने 'स्मृति' शब्द का प्रयोग कई सूत्रो मे ग्रन्थो के अर्थ मे किया है, ६।८।२३ मे आप० गृ० सू० के शब्द पाये जाते है। शबर ने 'स्मृति' शब्द का प्रयोग किया है और 'स्मरति' एव 'स्मरन्ति' को एक दर्जन से अधिक बार प्रयुक्त किया है।

निम्नलिखित वचन द्रष्टव्य ह। पू० मी० सू० (१।३।२) पर शबर का कथन है—'प्रमाण स्मृति'[५२], पू० मी० सू० (१।३।३) पर उन्होने तीन स्मृति-नियम दिये है, जिनमे दो विद्यामान स्मृतियो मे पाये जाते ह। पू० मी० स० (६।१।५), मे जहाँ पशु आदि हीन प्राणियो की चर्चा ह और ऐसा प्रश्न उठाया गया है कि ऐसे पशुओ को वैदिक कृत्यो के लिए अधिकार है कि नही, तो शबर ने इस प्रकार के अधिकार को नही माना है, क्योंकि वे वेदाध्ययन नही करते और न स्मृति शास्त्र ही जानते (जैसा कि मनुष्य लोग जानते) है। पू० मी० सू० (६।२।२१–२२) पर (जहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या वे स्मार्त नियम, यथा—गुरु का अनुगमन करना चाहिए, आज्ञापालन करना चाहिए, उन्हे प्रणाम करना चाहिए, वृद्ध व्यक्ति का सम्मान उठकर करना चाहिए, उन बच्चो के लिए भी प्रयुक्त होते है, जिनका उपनयन न हुआ हो) शबर का कथन है कि स्मृति वेद के समान है (वेदतुल्या हि स्मृति, वैदिका इव पदार्था स्मर्यन्त इत्युक्तम्)। ६।८।२३ पर शबर ने एक श्लोक को स्मृति कहकर उद्धृत किया है, (स्मरन्ति-तेषु कालेषु द्ववानि-इति)। ६।७।३१ पर उनका कथन है कि स्मृति ने गन्धर्वो को एक सहस्र वर्षो तक जीवित रहते लिखा ह। ६।१।२० पर शबर का कथन है कि स्मृति के अनुसार स्त्री के पास सम्पत्ति नही होती, किन्तु श्रुति के अनुसार सम्पत्ति पर उसका स्वत्व रहता है। ६।२।२ पर शबर ने कहा है—'नैषा स्मृति प्रमाणम दृष्टमूला ह्येषा', १०।१।३६ पर शबर का वचन है कि शिष्ट लोगो के व्यवहार से स्मृति का अनुमान किया जाता है और स्मृति से श्रुति वचन का अनुमान किया जाता है। १०।१।४२ पर शबर का कथन है कि स्मृति व्यवहार से अधिक शक्तिशाली है। १०।३।४७ पर शबर की उक्ति है—'एक स्मृति

५२ अष्टाचत्वारिशद्वर्षाणि वेद ब्रह्मचर्यचरण जातपुत्र कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत इत्यनेन विरुद्धम्। क्रीत-राजकोऽभोज्यान्न इति 'तस्मादग्नीषोमीये सस्थिते यजमानस्य गृहेऽशितव्यमित्यनेन विरुद्धम्। शबर १।३।२ पर। बौ० ध० सू० (१।२।१) मे आया है 'अष्टाचत्वारिशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यम्'। आप० ध० सू० (१।६।१८।१६ एव २३) मे 'सघान्नमभोज्यम्'। दीक्षितोऽक्रीतराजक। मनु० (१०।८९) ने घोडो एव ऐसे पशुओ के विक्रय को मना किया है जो एकशफ होते हैं, किन्तु तै० स० (२।३।१२।१) ने यह कह कर कि वरुण उसको पकड लेता है जो अश्व के दान को ग्रहण करता है, व्यावहारिक रूप से उसकी वर्जना कर दी है। ऋग्वेद ने अश्वो के दाताओ की बडी प्रशसा की है, यथा—१०।१०७।२ 'उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदा सहते सूर्येण'। 'पूर्व मीमासा इन इट्स सोर्स' के पृ० २२६ पर गगानाथ झा ने ऐसा अनुवाद दिया है 'सिहो, घोडो आदि को दान मे देना, स्वीकार करना एव क्रय करना या विक्रय करना '। केसरिन (केसरी) का अर्थ है सिह, और विशेषण के रूप मे इसका अर्थ है, 'अयाल वाला' और सिह की विशेषता प्रकट करता है। डा० झा का यह अनुवाद अशुद्ध है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, प० ८५०, पाद-टिप्पणी १६४७।

है कि 'घोडा नही बेचना चाहिए'। एक स्थान पर शबर ने 'प्रमाणे स्मृतौ' के स्थान पर 'प्रमाणाया स्मृतौ' शब्दो का प्रयोग किया है और तन्त्रवार्तिक ने बडा कष्ट करके यह प्रदर्शित करना चाहा है कि शबर की यह त्रुटि किसी प्रकार १।३।३ पर ठीक है। बौधायन धर्मसूत्र (१।१।१६-२६) ने दक्षिण भारत मे व्यवहृत पाच आचरणो तथा उत्तर भारत के पाँच आचरणो का उल्लेख किया है और कहा है कि यदि दक्षिण या उत्तर वाले अपने से विपरीत आचरणो का व्यवहार करेगे तो वे पापी कहे जायेगे। विरोधी कहता है[५३] कि स्मृतियो का परित्याग कर देना चाहिए, क्योकि वे मनुष्यो द्वारा प्रणीत है (अर्थात् वे पौरुषेय है, अपौरुषेय नही, जैसा कि वेद है) और मनुष्य लोग बहुधा भ्रमित एव विस्मरणशील होते है। विरोधी का यही प्रमुख आधार है। इसका उत्तर यो है कि स्मृति की व्यवस्थाओ के लिए वेद मे ऐसे वचन पाये जाते है जो स्मृति के कुछ नियमो की ओर निर्देश देते है, यथा-अष्टका श्राद्ध स्मृतियो के बहुत पहले से प्रचलित था और वह वैदिक मन्त्र 'या जना प्रतिनन्दन्ति' मे साकेतिक रूप से उपस्थित है। गुरु की आज्ञा के पालन एव यात्रियो के लिए जलाशय की व्यवस्था करने के व्यवहारो मे जाना हुआ उद्देश्य (अर्थात् अन्य लोगो के लिये उपकार) है। वेद मे भी 'प्रपा' (ऋ० ६।४।१) शब्द आया है, 'धन्वन्नीव प्रपा असि' अर्थात् 'हे अग्नि, तुम मरुस्थल मे प्रपा के समान हो'। इस बात पर तथा आगे आने वाले सूत्रो के विषय मे तन्त्रवार्तिक ने विशद रूप से लिखा है और भाष्यकार से कई स्थानो पर भिन्न मत प्रकट किया है, उनके दोष को बताया है और विवेचन के लिए अन्य विषय उपस्थित किये है। स्मृति-व्यवस्थाओ के लिए दो सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ है, जिनके लिए वैदिक सकेतो का पता चलाना असम्भव-सा है। तन्त्रवार्तिक (१।३।१ पर, पृ० १६४) ने प्रथमत कहा है कि 'स्मृति, की व्यवस्थाएँ (अथवा नियम या आदेश) विस्मृत वैदिक शाखाओ पर आधृत हो सकती है, या (द्वितीयत) वे आज के प्रस्तुत (विद्यमान), वैदिक अशो पर आधृत हो सकती है।' यदि कोई यह पूछे, 'वे क्यो नही पायी जाती'?' तो कुमारिल ने उत्तर दिया है-'वेद की बहुत-सी शाखाएँ (बहुत-से देशो मे) बिखरी पडी है, मनुष्य लोग प्रमादी है, वचन वेद के विभिन्न प्रकरणो मे पडे हुए है, इन्ही कारणो से उन वचनो को बताया नही जा सकता जिन पर स्मृतियाँ आधारित है[५४]।

५३ धर्मस्यमूलत्वादशब्दमनपेक्ष स्यात्। अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमान स्यात् ।१।३।१-२। 'कर्तृसामान्यात्' की व्याख्या भाष्यकार ने यो की है 'कर्तृसामान्यास्तस्मृति-वैदिकपदार्थयो', 'अर्थात् वे लोग जो वैदिक कृत्य करते है और साथ ही साथ स्मृति की व्यवस्थाओ का पालन करते है, एक-से है, वे वैसा कभी न करते यदि उनमे ऐसा विश्वास न होता कि स्मृति-व्यवस्थाएँ वैदिक प्रमाण पर आधारित है, यद्यपि प्रत्येक विषय मे वैदिक वचनो को स्पष्ट रूप से या उपलक्षित रूप बता देना सम्भव नही है। मेधातिथि ने मनु० (२।६) पर इसे स्पष्ट रूप से लिखा है और अपने ग्रन्थ स्मृतिविवेक से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है. 'प्रामाण्यकारण मुख्य वेदविद्भि परिग्रह। तदुक्त कर्तृसामान्यादनुमान श्रुती प्रति।। रेखाकित शब्द पू० मी० सू० (१।३।२) से लिये गये है। मनुस्मृति (२।७) मे आया है 'य कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तित । स सर्वोभिहितो वेदेसर्वज्ञानमयो हि स ।।' मेधातिथि, गोविन्दराज एव अन्य टीकाकारो ने 'स' को वेद के लिए माना है, किन्तु कल्लूक ने इसे मनु के लिए प्रयुक्त समझा है। देखिए इस महाग्रथ का खण्ड ३, पृ० ८२८, पाद-टिप्पणी १६१२ जहाँ इन शब्दो का अन्य अर्थ उपस्थित किया गया है।

५४ तेन वर प्रलीनश्रुत्यनुमानमेव । यद्वा विद्यमानशाखागतश्रुतिमूलत्वमेवास्तु। कथमनुपलब्धिरिति चेदुच्यते--शाखाना विप्रकीर्णत्वात्पुरुषाणा प्रमादत । नाना प्रकरणस्थत्वात् स्मृतेर्मूल न दृश्यते।। तन्त्रवार्तिक

आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।४।१२।१०) से पता चलता है कि उसके बहुत पहले से ऐसी धारणा घर कर गयी थी कि बहुत से वैदिक वचन नष्ट हो चुके है या अब उपलब्ध नही है। ऐसा आया है-- 'कृत्यो की उद्घोषणा ब्राह्मण ग्रन्थो मे हुई है, किन्तु वास्तविक शब्द (ब्राह्मण वचनो के शब्द) विलीन हो गये है और कृत्यो के सम्पादन से (प्रयोग से) ही उनका अनुमान लगाया जाता है[५५] ।

इस सिद्धान्त पर निर्भर रहना कि स्मृतियाँ उन वैदिक वचनो पर आधृत है जो नष्ट हो चुके है (या अब नही मिलते) आपत्तिग्रस्त है, क्योकि इसी तर्क पर बौद्धो के समान अन्य पाषण्डी अपने सिद्धान्तो के लिए प्रमाण उपस्थित कर सकते है[५६]। इसी से कुमारिल ने एक अन्य सिद्धान्त रखा है जो यो है--'स्मृतियो का आधार ऐसे वचन है जो आज के वैदिक वचनो मे नही पाये जाते, क्योकि वैदिक शाखाएँ चतुर्दिक् बिखरी पडी है'।

हमने स्मृतियो के विषय मे वे सारी बाते जो मीमासको के मतो पर आधृत है, इस महाग्रन्थ के तृतीय खण्ड (जिल्द) मे निरूपित कर दी है। अत केवल थोडे से उदाहरण एव निष्कर्ष यहाँ उल्लिखित किये जा रहे है। स्वय शबर ने प्रस्तावित किया है कि पू० मी० सू० १।३।४ को एक पृथक अधिकरण होना चाहिए, और एक महत्वपूर्ण उक्ति उन्होने कही है--'जहाँ पर किसी कार्य के लिए कोई दृष्ट अर्थ पाया जा सके तो किसी को वहाँ अदृष्ट अर्थ या वैदिक वचन का अनुमान नही लगाना चाहिए। शबर द्वारा पू० मी० सू० (१।३।३-४) के निरूपण को शास्त्र दीपिका ने बडे स्पष्ट एव परिष्कृत ढग से यो रखा है--वे स्मृति नियम जो श्रुति-नियम के विरोध मे आते है और ऐसी स्मृति-व्यवस्थाए जिनमे स्पष्ट रूप से लौकिक अर्थ प्रदर्शित हो, न तो प्रामाणिक होते है और न आवश्यक, किन्तु स्मृति के शेष वचन प्रामाणिक होते है। यह सिद्धान्त आप० ध० सू० (१।४।१०।१२) के उस सिद्धान्त से पुराना है, जो यो है--'जहाँ व्यक्ति प्रीति (आनन्द) के लोभ से (अर्थात् वैसा करने पर आनन्द का अनुभव करने से) कार्य करते है वहाँ शास्त्र नही पाया जाता'। कुमारिल शबर से इस विषय मे मेल नही खाते। उनका कथन है कि दृष्ट एव अदृष्ट या आध्यात्मिक अर्थ बहुधा एक-दूसरे से दुस्तर रूप से मिश्रित होते है। धान (चावल) पर से भूसी निकालना एक दृष्ट उद्देश्य या अर्थ रखता है, क्योकि वैसा करने से चावल भली भाँति उबल जायेगा और पका हुआ चावल यज्ञ मे आहुति का काम करेगा। इस कार्य मे एक दृष्ट अर्थ है और तब भी यह कार्य वेद द्वारा व्यवस्थित है। बहुत ही आकर्षक एव तीखे शब्दो से युक्त तथा अनुकूल वचन द्वारा, सर्वप्रिय दृष्टिकोण से परिपूर्ण तथा ऐसे ढग से कथित कि दुष्ट को भी उसका प्रिय मिले, कुमारिल ने सस्कृत के सभी ग्रन्थो की जाँच की है और वेद से उनके सम्बन्ध एव सामान्य भौतिक अनुभव से तुलना करके उनकी उपयोगिता की परीक्षा की है। यहाँ पर केवल थोडे-से वाक्य दिये जायेगे। अत उन्होने व्यवस्था दी है कि सभी स्मृतियाँ अपनी उपयोगिता की दृष्टि से प्रामाणिक

(१।३१, पृ० १६४)। इसे विश्वरूप ने याज्ञ० (१।७, पृ० १४) की टीका मे बिना नाम दिये उद्धृत किया है।

५५ ब्राह्मणोक्ता विधयस्तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्ते। यत्र प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिर्न तत्र शास्त्रमस्ति। आप० ध० सू० (१।४।१२।१०-११)।

५६ यदि तु प्रलीनशाखामूलता कल्प्येत। ततस्तासां बुद्धादिस्मृतीनामपि तद्द्वारा प्रामाण्यं प्रसज्यते। तन्त्रवार्तिक (१।३।१, पृ० १६३)।

हैं। स्मृतियो के वे अश जो **धर्म** एव **मोक्ष** से सम्बन्वित है उनका मूल वेद मे है अर्थात् वे वेदमूलक हैं, किन्तु वे अश जो **अर्थ** एव **काम** से सम्बन्धित है वे केवल लौकिक व्यवहारो पर आवृत है। यही नियम इतिहास (महाभारत) एव पुराणो के स्तुतिमूलक वचनो के लिए भी प्रयुक्त होता है, इतिहास एव पुराण स्मृति के नाम से ही विख्यात हैं। इन दोनो मे जो घटनाएँ एव गाथाएँ ह उन्हे अर्थवाद समझना चाहिए। इसके उपरान्त कुमारिल ने पृथिवी के विभागो एव राज-वशो (ये दोनो पुराणो के विषय ह) के विवरणो की ओर सकेत किया है और उनके अभिप्रायो पर प्रकाश डाला है। ६ वेदाग (व्याकरण, छन्द, शब्द, ज्योतिष आदि) धर्मार्थ एव पुरुषार्थ के रूप मे उपयोगी है, तथा मीमासा एव न्याय की स्थापना प्रत्यक्ष एव अनुमान के साधनो से उत्पन्न लौकिक अनुभव से हुई है, तथा मीमासाशास्त्र मे तर्को का जो विशद सग्रह पाया जाता हे वह एक व्यक्ति के बूते की बात नही हे। वेद की व्याख्या मे न्याय की आवश्यकता के लिए वे मनु० (१२।१०५-१०६) पर निर्भर रहते हैं। कुमारिल यह स्वीकार करने को सन्नद्ध हे कि उन दार्शनिक सिद्धान्तो को, जिनमे **प्रधान** एव **पुरुष** (साख्य मे) को या परम तत्त्व या परमाणुओ (वैशेषिक मे) को माना गया हे, ऐसा समझ लेना चाहिए कि वे विश्व की सर्जना एव विनाश की गुत्थी को सुलझाने मे समर्थ है तथा उन्हे ऐसा जान लेना चाहिए कि मन्त्रो एव अर्थवादो मे उत्पन्न ज्ञान के कारण जो कुछ स्थूल या सूक्ष्म दर्शित हे वह कारणो एव कार्यो मे विभाजित हे। इनका मन्तव्य हे फल एव कारण के रूप मे स्वर्ग एव योग के अन्तर को विख्यात कर देना। सृष्टि एव विनाश के निरूपण का मन्तव्य है भाग्य एव मानवीय प्रयत्न के बीच स्थित अन्तर को स्पष्ट कर देना। कुमारिल और आगे बढते है और यहाँ तक मानने को सन्नद्ध है कि बौद्धो के वैधर्मिक सिद्धान्त, यथा—'केवल **विज्ञान** का अस्तित्व हे और प्रत्येक वस्तु नित्य प्रवाह मे है और कोई (नित्य अथवा अमर) आत्मा नही है', जो उपनिषदो के अर्थवाद वचनो से उद्भूत हुए है, लोगो को ऐन्द्रियक आनन्द की अत्यधिक अनुरक्ति से दूर रहने की प्रेरणा देते है और अपने ढग से उपयोगी एव प्रामाणिक हे।

कुमारिल अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह निष्कर्ष उपस्थित करते हे कि वे स्मृतियाँ (या उनके वे अश), जिनमे ऐसा व्यक्त है कि फल की प्राप्ति इस जीवन मे सम्भवत नही होगी, तथा वे अश जहाँ यह व्यक्त है कि फल मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होगा, वेद पर आवृत ह, ऐसा अनुमान निकाला जा सकता है। किन्तु वृश्चिक विद्या (मन्त्र से बिच्छू के विष को दूर करने की विद्या) के समान वे ग्रन्थ, जो दृष्ट विषयो का निरूपण करते है उसी प्रकार प्रामाणिक है, क्योकि फल का प्रत्यक्ष अनुभव उसी प्रकार डक मारे गये अन्य व्यक्तियो से प्राप्त किया जा सकता है[५७]।

मध्यकाल के धर्मशास्त्र-ग्रन्थ वेद पर आधृत स्मृतियो तथा प्रत्यक्षानुभवो एव उद्देश्यो (मन्तव्यो) के अन्तर के इस विवेचन की चर्चा करते है। उदाहरणार्थ, कल्पतरु (ब्रह्मचारि काण्ड, पृ० ३०) एव अपरार्क (पृ० ६२६-६२७) ने भविष्यपुराण (ब्राह्मपर्व, अध्याय १८१, २२-३१) से श्लोक उद्धृत किये है जो स्मृतियो के विषयो को पाँच श्रेणियो मे बाँटते हे और उस विभाजन को उदाहरणो से स्पष्ट करते हे। स्मृति च० (२, पृ० २४) ने इनमे से दो को उद्धृत किया है और मित्रमिश्र के परिभाषाप्रकाश (पृ० १९) ने सभी को उद्धृत किया है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८४०, पाद-टिप्पणी १६३४, जहाँ ये सभी श्लोक दिये गये है।

५७ विज्ञानमात्र-क्षणभङ्ग-नैरात्म्यादिवादानामप्युपनिषदर्थवादप्रभवत्व विषयेष्वात्यन्तिक राग निवर्तयितु मित्युपपन्न सर्वेषा प्रामाण्यम्। सर्वत्र च यत्र कालान्तरफलार्थत्वादिदानीमनुभवासम्भवस्तत्र श्रुतिमूलता। सान्दृष्टिकफले तु वृश्चिकविद्यादौ पुरुषान्तरे व्यवहारदर्शनादेव प्रामाण्यमिति विवेक सिद्धि। तन्त्रवा० (पृ० १६८, १।३।२ पर)।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।४।१२।१०) से पता चलता है कि उसके बहुत पहले से ऐसी धारणा घर कर गयी थी कि बहुत से वैदिक वचन नष्ट हो चुके हैं या अब उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा आया है– 'कृत्यों की उद्घोषणा ब्राह्मण ग्रन्थों में हुई है, किन्तु वास्तविक शब्द (ब्राह्मण वचनों के शब्द) विलीन हो गये हैं और कृत्यों के सम्पादन से (प्रयोग से) ही उनका अनुमान लगाया जाता है'[५५]।

इस सिद्धान्त पर निर्भर रहना कि स्मृतियाँ उन वैदिक वचनों पर आधृत हैं जो नष्ट हो चुके हैं (या अब नहीं मिलते) आपत्तिग्रस्त है, क्योंकि इसी तर्क पर बौद्धों के समान अन्य पाषण्डी अपने सिद्धान्तों के लिए प्रमाण उपस्थित कर सकते हैं[५६]। इसी से कुमारिल ने एक अन्य सिद्धान्त रखा है जो यों है— 'स्मृतियों का आधार ऐसे वचन हैं जो आज के वैदिक वचनों में नहीं पाये जाते, क्योंकि वैदिक शाखाएँ चतुर्दिक् बिखरी पड़ी हैं'।

हमने स्मृतियों के विषय में वे सारी बातें जो मीमांसकों के मतों पर आधृत हैं, इस महाग्रन्थ के तृतीय खण्ड (जिल्द) में निरूपित कर दी हैं। अतः केवल थोड़े से उदाहरण एवं निष्कर्ष यहाँ उल्लिखित किये जा रहे हैं। स्वयं शबर ने प्रस्तावित किया है कि पू० मी० सू० १।३।४ को एक पृथक् अधिकरण होना चाहिए, और एक महत्वपूर्ण उक्ति उन्होंने कही है–'जहाँ पर किसी कार्य के लिए कोई दृष्ट अर्थ पाया जा सके तो किसी को वहाँ अदृष्ट अर्थ या वैदिक वचन का अनुमान नहीं लगाना चाहिए'। शबर द्वारा पू० मी० सू० (१।३।३–४) के निरूपण को शास्त्र दीपिका ने बड़े स्पष्ट एवं परिष्कृत ढंग से यों रखा है—'वे स्मृति नियम जो श्रुति-नियम के विरोध में आते हैं और ऐसी स्मृति-व्यवस्थाएं जिनमें स्पष्ट रूप में लौकिक अर्थ प्रदर्शित हों, न तो प्रामाणिक होते हैं और न आवश्यक, किन्तु स्मृति के शेष वचन प्रामाणिक होते हैं। यह सिद्धान्त आप० ध० सू० (१।४।१०।१२) के उस सिद्धान्त से पुराना है, जो यों है—'जहाँ व्यक्ति प्रीति (आनन्द) के लोभ से (अर्थात् वैसा करने पर आनन्द का अनुभव करने से) कार्य करते हैं वहाँ शास्त्र नहीं पाया जाता'। कुमारिल शबर से इस विषय में मेल नहीं खाते। उनका कथन है कि दृष्ट एवं अदृष्ट या आध्यात्मिक अर्थ बहुधा एक-दूसरे से दुस्तर रूप से मिश्रित होते हैं। धान (चावल) पर से भूसी निकालना एक दृष्ट उद्देश्य या अर्थ रखता है, क्योंकि वैसा करने से चावल भली भाँति उबल जायेगा और पका हुआ चावल यज्ञ में आहुति का काम करेगा। इस कार्य में एक दृष्ट अर्थ है और तब भी यह कार्य वेद द्वारा व्यवस्थित है। बहुत ही आकर्षक एवं तीखे शब्दों से युक्त तथा अनुकूल वचन द्वारा, सर्वप्रिय दृष्टिकोण से परिपूर्ण तथा ऐसे ढंग से कथित कि दुष्ट को भी उसका प्रिय मिले, कुमारिल ने संस्कृत के सभी ग्रन्थों की जाँच की है और वेद से उनके सम्बन्ध एवं सामान्य भौतिक अनुभव से तुलना करके उनकी उपयोगिता की परीक्षा की है। यहाँ पर केवल थोड़े-से वाक्य दिये जायेंगे। अतः उन्होंने व्यवस्था दी है कि सभी स्मृतियाँ अपनी उपयोगिता की दृष्टि से प्रामाणिक

(१।३१, पृ० १६४)। इसे विश्वरूप ने याज्ञ० (१।७, पृ० १४) की टीका में बिना नाम दिये उद्धृत किया है।

५५ ब्राह्मणोक्ता विधयस्तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्ते। यत्र प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिर्न तत्र शास्त्रमस्ति। आप० ध० सू० (१।४।१२।१०–११)।

५६ यदि तु प्रलीनशाखामूलता कल्प्येत। बुद्धादिस्मृतीनामपि तद्द्वारा प्रामाण्यं प्रसज्यते। तन्त्रवार्तिक (१।३।१, पृ० १६३)।

हैं। स्मृतियो के वे अश जो **धर्म** एव **मोक्ष** से सम्बन्वित है उनका मूल वेद मे है अर्थात् वे वेदमूलक हैं, किन्तु वे अश जो **अर्थ** एव **काम** मे सम्बन्वित है वे केवल लौकिक व्यवहारो पर आवृत हैं। यही नियम इतिहास (महाभारत) एव पुराणो के स्तुतिमूलक वचनो के लिए भी प्रयुक्त होता है, इतिहास एव पुराण स्मृति के नाम से ही विख्यात है। इन दोनो मे जो घटनाएँ एव गाथाएँ है उन्हे अर्थवाद समझना चाहिए। इसके उपरान्त कुमारिल ने पृथिवी के विभागो एव राज-वशो (ये दोनो पुराणो के विपय है) के विवरणो की ओर सकेत किया है और उनके अभिप्रायो पर प्रकाश डाला है। ६ वेदाग (व्याकरण, छन्द, शब्द, ज्योतिप आदि) अर्थ एव पुरुषार्थ के रूप मे उपयोगी हैं, तथा मीमासा एव न्याय की स्थापना प्रत्यक्ष एव अनुमान के साधनो से उत्पन्न लौकिक अनुभव मे हुई है, तथा मीमासाशास्त्र मे तर्को का जो विशद सग्रह पाया जाता है वह एक व्यक्ति के बूते की बात नही है। वेद की व्याख्या मे न्याय की आवश्यकता के लिए वे मनु० (१२।१०५-१०६) पर निर्भर रहते है। कुमारिल यह स्वीकार करने को सन्नद्ध है कि उन दार्शनिक सिद्धान्तो को, जिनमे **प्रधान** एव **पुरुष** (साख्य मे) को या परम तत्त्व या परमाणुओ (वैशेषिक मे) को माना गया है, ऐसा समझ लेना चाहिए कि वे विश्व की सर्जना एव विनाश की गुत्थी को सुलझाने मे समर्थ है तथा उन्हे ऐसा जान लेना चाहिए कि मन्त्रो एव अर्थवादो से उत्पन्न ज्ञान के कारण जो कुछ स्थूल या सूक्ष्म दर्शित है वह कारणो एव कार्यो मे विभाजित है। इनका मन्तव्य है फल एव कारण के रूप मे स्वर्ग एव योग के अन्तर को विख्यात कर देना। सृष्टि एव विनाश के निरूपण का मन्तव्य है भाग्य एव मानवीय प्रयत्न के बीच स्थित अन्तर को स्पष्ट कर देना। कुमारिल और आगे बढते है और यहाँ तक मानने को सन्नद्ध है कि बौद्धो के वैधर्मिक सिद्धान्त, यथा—'केवल **विज्ञान** का अस्तित्व है और प्रत्येक वस्तु नित्य प्रवाह मे है और कोई (नित्य अथवा अमर) आत्मा नही है', जो उपनिपदो के अर्थवाद वचनो से उद्भूत हुए है, लोगो को ऐन्द्रियक आनन्द की अत्यधिक अनुरक्ति से दूर रहने की प्रेरणा देते है और अपने ढग से उपयोगी एव प्रामाणिक है।

कुमारिल अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह निष्कर्ष उपस्थित करते है कि वे स्मृतियाँ (या उनके वे अश), जिनमे ऐसा व्यक्त है कि फल की प्राप्ति इस जीवन मे सम्भवत नही होगी, तथा वे अश जहाँ यह व्यक्त है कि फल मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होगा, वेद पर आवृत है, ऐसा अनुमान निकाला जा सकता है। किन्तु वृश्चिक विद्या (मन्त्र से विच्छू के विप को दूर करने की विद्या) के समान वे ग्रन्थ, जो दृष्ट विषयो का निरूपण करते है उसी प्रकार प्रामाणिक है, क्योकि फल का प्रत्यक्ष अनुभव उसी प्रकार डक मारे गये अन्य व्यक्तियों से प्राप्त किया जा सकता है[५७]।

मध्यकाल के धर्मशास्त्र-ग्रन्थ वेद पर आधृत स्मृतियो तथा प्रत्यक्षानुभवो एव उद्देश्यो (मन्तव्यो) के अन्तर के इस विवेचन की चर्चा करते है। उदाहरणार्थ, कल्पतरु (ब्रह्मचारि काण्ड, पृ० ३०) एव अपरार्क (पृ० ६२६-६२७) ने भविष्यपुराण (ब्राह्मपर्व, अध्याय १८१, २२-३१) से श्लोक उद्धृत किये है जो स्मृतियो के विषयो को पाँच श्रेणियो मे बाँटते है और उस विभाजन को उदाहरणो से स्पष्ट करते है। स्मृति च० (२, पृ० २४) ने इनमे से दो को उद्धृत किया है और मित्रमिश्र के परिभाषाप्रकाश (पृ० १६) ने सभी को उद्धृत किया है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८४०, पाद-टिप्पणी १६३४, जहाँ ये सभी श्लोक दिये गये है।

५७ विज्ञानमात्र-क्षणभङ्ग-नैरात्म्यादिवादानामप्युनिषदर्थवादप्रभवत्व विषयेष्वात्यन्तिक राग निवर्तयितु मित्युपपन्न सर्वेषा प्रामाण्यम्। सर्वत्र च यत्र कालान्तरफलार्थत्वादिदानीमनुभवासम्भवस्तत्र श्रुतिमूलता। सान्दृष्टिकफले तु वृश्चिकविद्यादौ पुरुषान्तरे व्यवहारदर्शनादेव प्रामाण्यमिति विवेक सिद्धि। तन्त्रवा० (पृ० १६८, १।३।२ पर)।

कुमारिल (तन्त्रवार्तिक, पृ० १६४-१६६) का कथन है कि शवर द्वारा १।३।३ पर उद्धृत वचन वेद के विरोध मे नही पडते और १।३।३-४ के अन्तर्गत जो विषय विवेचित हुआ हे वह साख्य, योग, पाशुपत, पाञ्चरात्र एव शाक्यो के सम्प्रदायो के धर्म के विषयो की प्रामाणिकता प्रकट करता है, कुमारिल के अनुसार ये सभी तीन वेदो के बाहर की बाते हे और उन्हे अप्रामाणिक मान कर छोड देना चाहिए, यद्यपि उनमे कुछ ऐसे विषय पाये जाते ह, यथा—अहिसा, सत्यता, आत्म-सयम, दान एव करुणा, जो श्रुति एव स्मृति के अनुकल ह।। उपर्युक्त बातो से यह प्रकट होता हे कि कुमारिल बौद्धो द्वारा उपस्थापित एव अपरिहार्य सद्गुणो से परिचित थे, किन्तु वे उनमे कई बातो मे अन्तर रखते थे। वे यह मानने को सन्नद्ध थे कि बौद्ध ग्रन्थो का कुछ मूल्य हे ओर उन्होने इसकी शिक्षा नही दी कि वे ग्रन्थ जला दिये या नष्ट कर दिये या जायँ। अत यह प्रकट होता हे कि वे बोद्ध ग्रन्थो से घृणा नही करते थे ओर न बौद्धो को सताने के पक्षपाती थे, जैसा कि तारानाथ ने लिखा हे।

शवर ने पू० मी० १।३ के सूत्र ५-७ की व्याख्या मे कहा हे कि ये सूत्र कुछ विशिष्ट धार्मिक कर्मो मे सम्बन्धित ह, यथा—आचमन (जब कोई किसी कृत्य के मध्य मे छीक देता हे), सभी कर्मों मे जनेऊ (यज्ञोपवीत) धारण करना तथा दक्षिण हस्त का प्रयोग। विरोधी का कथन है कि किसी धार्मिक कृत्य मे गोण बातो के शीघ्रसम्पादन तथा क्रम मे इन कर्मो से अवरोध उपस्थित हो जाता हे। शवर ने स्थापना की हे कि इस प्रकार के विरोध मे कोई तथ्य या बल नही हे। कुमारिल का कथन है कि इन तीन उदाहरणो मे शवर की उक्ति ठीक नही है। उन्होने तीनो सूत्रो को दो अधिकरणो मे रखा है। सूत्र ५ एव ६ मे कुमारिल अवैदिक के अनुसार ऐसी बाते पायी जाती है जो बुद्ध तथा अन्य सम्प्रदायो के प्रवर्तको के सिद्धान्तो से सम्बन्धित ह, यथा—मठो एव उद्यानो का निर्माण, वैराग्य पर बल देना, ध्यान का लगातार अभ्यास, अहिसा, सत्यवचन, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दया—जो ऐसी बाते है जो वेद द्वारा भी व्यवस्थित की गयी हे, शिष्टो के विचारो के विरोध मे नही पडती ह ओर न वेदज्ञो मे किसी विद्वेष-भावना की उत्पत्ति करती ओर इसी कारण अवैदिक सिद्धान्तो के वे अश प्रामाणिक माने जाने चाहिए। कुमारिल द्वारा इस धारणा का इस टिप्पणी के साथ प्रतिकार किया गया हे कि केवल १४ (चार वेद, ६ वेदाग, पुराण, न्याय, मीमासा एव धर्मशास्त्र) या १८ (चोदह मे चार उपवेदो को जोड कर) विद्याएँ वैदिक शिष्टो द्वारा धर्म के मामलो मे प्रामाणिक मानी गयी है तथा बौद्धो एव अन्य सम्प्रदायो के ग्रन्थ उनमे सम्मिलित नही हे[५८]। कुमारिल ने एक उदाहरण दिया हे, यथा—दूध, यद्यपि स्वय पवित्र एव उपयोगी होता है, किन्तु जब वह कुत्ते के चर्म मे भर दिया जाता है तो अनुपयोगी एव अपवित्र हो उठता है।

कुमारिल के मत से पू० मी० १।३ का सूत्र ७ स्वय एक अधिकरण है और वह **सदाचार** (शिष्टो के आचारा एव व्यवहारो) की प्रामाणिकता से सम्बन्धित हे। तन्त्रवार्तिक मे उन्होने अपनी धारणा व्यक्त की है कि केवल वे प्रयोग या व्यवहार प्रामाणिक हे जो स्पष्ट वैदिक वचनो के विरोध मे नही पडते, जो शिष्टो द्वारा इस विश्वास से व्यवहृत होते है कि वे सद्धर्म (या सदाचरण) हे और उनके लिए कोई दृष्ट अर्थ (*यथा—इच्छाओं* की तृप्ति या आनन्द या सम्पत्ति की उपलब्धि) की बात नही कही जाती। वे ही व्यक्ति शिष्ट कहे जाते हे जो स्पष्ट रूप से वेदविहित धार्मिक कृत्यो एव कर्तव्यो का सम्पादन करते ह। वे आचरण (प्रयोग या व्यवहार), जो परम्परा से चले आ रहे है और शिष्टो द्वारा इस धारणा के साथ व्यवहृत होते रहे है कि वे धर्म के अग हे, धर्म

के समान कहे जाते हैं और स्वर्ग की उपलब्धि कराने वाले हैं। तन्त्रवार्तिक ने टिप्पणी की है कि आचरण केवल प्रामाणिक नही हो जाते कि उनके लिए कोई दृष्ट अर्थ की धारणा नही है, प्रत्युत वे वैसे इसलिए हैं कि उन्हें शिष्ट लोग धर्म के भाग के रूप मे व्यवहृत करते है। बहुत-से कर्म, यथा—कृषि, नौकरी या व्यापार, जो सम्पत्ति-प्राप्ति के साधन हैं तथा आनन्द दायक कर्म, यथा—स्वादिष्ट भोजन करना, मद्यपान करना, कोमल विस्तर पर सोना, सुन्दर मकान या उद्यान की उपलब्धि, जिनमे सभी आर्यों एव म्लेच्छो मे पाये जाते ह, लोगो द्वारा धर्म का भाग नही कहे जाते और ऐसा नही कहा जा सकता कि कुछ कर्म, शिष्टो द्वारा धर्म कहे जाते हैं अत उनके सभी कर्म धर्म कहे जायेगे। कुमारिल ने इस परामर्श को उद्धृत किया है कि व्यक्ति को उस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिससे उसके पिता, पितामह एव अन्य पूर्वपुरुष गये थे और यदि वह मार्ग अच्छा हो और जिस पर चलने से उसकी कोई हानि न हो।[५९]

श्रुति (वेद), स्मृति एव सदाचार (शिष्टो द्वारा व्यवहृत आचार जैसा कि मनु० १२।१०९ मे उसकी व्याख्या उपस्थित की गयी है) के तुलनात्मक बल के विषय मे गूढ प्रश्न उठ खडे होते है। मिताक्षरा ने याज्ञ० (१।७, जहाँ धर्म के पाँच स्रोतो का उल्लेख हैं, यथा—श्रुति, स्मृति, सदाचार एव दो अन्य) की व्याख्या मे एक सामान्य नियम यह दिया है कि विरोध की स्थिति मे पहले वाला अपने से आगे वाले से अपेक्षाकृत अधिक बलशाली होता है। मनु० (१।१२) मे आया है कि जो लोग धर्म जानना चाहते हैं उनके लिए श्रुति सर्वोत्तम प्रमाण है। अत श्रुति एव स्मृति के विरोध मे पहले वाला अर्थात् श्रुति वाला प्रमाण मान्य होता है। इस स्पष्ट नियम के विषय मे भी कुछ अपवाद होते हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा। किन्तु जहाँ दो स्मृतियो की बातो मे विरोध होता है वहाँ षोडशी-न्याय एव गौतम (१।५ 'तुल्य-बल विरोधे विकल्प') के शब्दो के अनुसार सामान्य नियम विकल्प को मान लेना है। धर्मशास्त्र के बहुत-से ग्रन्थ ई० पू० ५०० के बहुत पहले प्रणीत हो चुके थे, क्योकि गौतम (२१।७) ने मनु एव 'आचार्या' (३।३५ एव ४।१८ मे) का उल्लेख किया है और आप० ध० सू० (१।६।१९।२-१२) ने इस विषय मे कि किसका भोजन ग्रहण किया जाय, कम से कम ९ लेखको की सम्मतियो का उल्लेख किया है। मनु० (३।१६) ने उस ब्राह्मण की स्थिति के विषय मे, जो शूद्र नारी से विवाह करता है, या जिसे उस स्त्री से पुत्र या बच्चा उत्पन्न होता है, चार ऋषियो द्वारा प्रदर्शित तीन मत दिये हैं। स्मृतियो के विरोध के विषय मे एक प्रसिद्ध उदाहरण है, मनु० (३।१३), बौ० ध० सू० (१।८।२), विष्णुधर्मसूत्र (२४।१-४) वसिष्ठ (१।२५), पार० गृह्यसूत्र (१।४) का नियम, जो अनुलोम विवाह की अनुमति देता है और ब्राह्मण को शूद्र नारी से विवाह करने की अनुमति प्रदान करता है। याज्ञ० (१।५६-५७) उन लोगो की इस बात को नही मानते जो यह कहते हैं कि तीन उच्च वर्णों के लोग शूद्र नारी से विवाह कर सकते हैं। पश्चात्कालीन स्मृतिकारो एव निबन्धकारो को यह कहना चाहिए था कि इस सिद्धान्त विरोध मे विकल्प का सहारा लेना चाहिए। किन्तु वे ऐसा नही कहते। इस प्रकार की स्पष्ट विरोधी स्थितियो से हटने के लिए वे भाँति-भाँति के उपाय ढूँढ लेते हैं। प्रथम उपाय बृहस्पति (लगभग ५०० ई०) ने यह निकाला कि ऐसी स्थितियो मे मनुस्मृति का स्थान सर्वोच्च है, क्योकि यह वेदो का

५९ येनास्य पितरो याता येन याता पितामहा। तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ मनु० (४।१७८), तन्त्रवार्तिक (पृ० २११) द्वारा उद्धृत, जहाँ कुमारिल ने यो जोडा है 'येषां तु पित्रादिभिरेवार्यो नाचरित स्मृत्यन्तरप्रतिषिद्धश्च ते तं परिहरन्त्येव। अपरिहरन्तो वा स्वजन दिभि हरिह्नीयन्ते। देखिए इस पर मेधातिथि एव मिता० की टीकाएँ।

कुमारिल (तन्त्रवार्तिक, पृ० १६४-१६६) का कथन है कि शबर द्वारा १।३।३ पर उद्धृत वचन वेद के विरोध में नहीं पडते और १।३।३-४ के अन्तर्गत जो विषय विवेचित हुआ है वह साख्य, योग, पाशुपत, पाञ्चरात्र एव शाक्यो के सम्प्रदायो के धर्म के विषयो की प्रामाणिकता प्रकट करता है, कुमारिल के अनुसार ये सभी तीन वेदो के बाहर की बाते है और उन्हे अप्रामाणिक मान कर छोड देना चाहिए, यद्यपि उनमे कुछ ऐसे विषय पाये जाते है, यथा—अहिसा, सत्यता, आत्म-सयम, दान एव करुणा, जो श्रुति एव स्मृति के अनुकूल है,। उपर्युक्त बातो से यह प्रकट होता है कि कुमारिल बौद्धो द्वारा उपस्थापित एव अपरिहार्य सद्गुणो से परिचित थे, किन्तु वे उनसे कई बातो मे अन्तर रखते थे। वे यह मानने को सन्नद्ध थे कि बौद्ध ग्रन्थो का कुछ मूल्य है और उन्होने इसकी शिक्षा नही दी कि वे ग्रन्थ जला दिये या नष्ट कर दिये या जायँ। अत यह प्रकट होता है कि वे बौद्ध ग्रन्थो से घृणा नहीं करते थे और न बौद्धो को सताने के पक्षपाती थे, जैसा कि तारानाथ ने लिखा है।

शबर ने पू० मी० १।३ के सूत्र ५-७ की व्याख्या मे कहा है कि ये सूत्र कुछ विशिष्ट धार्मिक कर्मो से सम्बन्धित है, यथा—आचमन (जब कोई किसी कृत्य के मध्य मे छीक देता है), तभी सभी कर्मो मे जनेऊ (यज्ञोपवीत) धारण करना तथा दक्षिण हस्त का प्रयोग। विरोधी का कथन है कि किसी धार्मिक कृत्य मे गौण बातो के शीघ्रसम्पादन तथा क्रम मे इन कर्मो से अवरोध उपस्थित हो जाता है। शबर ने स्थापना की है कि इस प्रकार के विरोध मे कोई तथ्य या बल नही है। कुमारिल का कथन है कि इन तीन उदाहरणो मे शबर की उक्ति ठीक नही है। उन्होंने तीनो सूत्रो को दो अधिकरणो मे रखा है। सूत्र ५ एव ६ मे कुमारिल अवैदिक के अनुसार ऐसी बाते पायी जाती है जो बुद्ध तथा अन्य सम्प्रदायो के प्रवर्तको के सिद्धान्तो से सम्बन्धित है, यथा—मठो एव उद्यानो का निर्माण, वैराग्य पर बल देना, ध्यान का लगातार अभ्यास, अहिसा, सत्यवचन, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दया—जो ऐसी बाते है जो वेद द्वारा भी व्यवस्थित की गयी है, शिष्टो के विचारो के विरोध मे नही पडती है और न वेदज्ञो मे किसी विद्वेष-भावना की उत्पत्ति करती और इसी कारण अवैदिक सिद्धान्तो के वे अश प्रामाणिक माने जाने चाहिए। कुमारिल द्वारा इस धारणा का इस टिप्पणी के साथ प्रतिकार किया गया है कि केवल १४ (चार वेद, ६ वेदाग, पुराण, न्याय, मीमासा एव धर्मशास्त्र) या १८ (चौदह मे चार उपवेदो को जोड कर) विद्याएँ वैदिक शिष्टो द्वारा धर्म के मामलो मे प्रामाणिक मानी गयी है तथा बौद्धो एव अन्य सम्प्रदायो के ग्रन्थ उनमे सम्मिलित नही है[५८]। कुमारिल ने एक उदाहरण दिया है, यथा—दूध, यद्यपि स्वय पवित्र एव उपयोगी होता है, किन्तु जब वह कुत्ते के चर्म मे भर दिया जाता है तो अनुपयोगी एव अपवित्र हो उठता है।

कुमारिल के मत से पू० मी० १।३ का सूत्र ७ स्वय एक अधिकरण है और वह **सदाचार** (शिष्टो के आचारो एव व्यवहारो) की प्रामाणिकता से सम्बन्धित है। तन्त्रवार्तिक मे उन्होने अपनी धारणा व्यक्त की है कि केवल वे प्रयोग या व्यवहार प्रामाणिक है जो स्पष्ट वैदिक वचनो के विरोध मे नही पडते, जो शिष्टो द्वारा इस विश्वास से व्यवहृत होते है कि वे सद्धर्म (या सदाचरण) है और उनके लिए कोई दृष्ट अर्थ (यथा—इच्छाओ की तृप्ति या आनन्द या सम्पत्ति की उपलब्धि) की बात नही कही जाती। वे ही व्यक्ति शिष्ट कहे जाते है जो स्पष्ट रूप से वेदविहित धार्मिक कृत्यो एव कर्तव्यो का सम्पादन करते है। वे आचरण (प्रयोग या व्यवहार), जो परम्परा से चले आ रहे है और शिष्टो द्वारा इस धारणा के साथ व्यवहृत होते रहे है कि वे धर्म के अग है, धर्म

५८ देखिए याज्ञ० (१।३) जहाँ १४ विद्याओ का उल्लेख है। चार उपवेद है—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एव अर्थशास्त्र।

के समान कहे जाते हैं और स्वर्ग की उपलब्धि कराने वाले हैं। तन्त्रवार्तिक ने टिप्पणी की है कि आचरण केवल प्रामाणिक नहीं हो जाते कि उनके लिए कोई दृष्ट अर्थ की धारणा नहीं है, प्रत्युत वे वैसे इसलिए हैं कि उन्हें शिष्ट लोग धर्म के भाग के रूप में व्यवहृत करते हैं। बहुत-से कर्म, यथा—कृषि, नौकरी या व्यापार, जो सम्पत्ति-प्राप्ति के साधन हैं तथा आनन्द दायक कर्म, यथा—स्वादिष्ट भोजन करना, मद्यपान करना, कोमल बिस्तर पर सोना, सुन्दर मकान या उद्यान की उपलब्धि, जिनमें सभी आर्यों एवं म्लेच्छों में पाये जाते हैं, लोगों द्वारा धर्म का भाग नहीं कहे जाते और ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कुछ कर्म, शिष्टों द्वारा धर्म कहे जाते हैं अतः उनके सभी कर्म धर्म कहे जायेंगे। कुमारिल ने इस परामर्श को उद्धृत किया है कि व्यक्ति को उस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिससे उसके पिता, पितामह एवं अन्य पूर्वपुरुष गये थे और यदि वह मार्ग अच्छा हो और जिस पर चलने से उसकी कोई हानि न हो।[५९]

श्रुति (वेद), स्मृति एवं सदाचार (शिष्टों द्वारा व्यवहृत आचार जैसा कि मनु० १२।१०९ में उसकी व्याख्या उपस्थित की गयी है) के तुलनात्मक बल के विषय में गूढ़ प्रश्न उठ खड़े होते हैं। मिताक्षरा ने याज्ञ० (१।७, जहाँ धर्म के पाँच स्रोतों का उल्लेख है, यथा—श्रुति, स्मृति, सदाचार एवं दो अन्य) की व्याख्या में एक सामान्य नियम यह दिया है कि विरोध की स्थिति में पहले वाला अपने से आगे वाले से अपेक्षाकृत अधिक बलशाली होता है। मनु० (२।१३) में आया है कि जो लोग धर्म जानना चाहते हैं उनके लिए श्रुति सर्वोत्तम प्रमाण है। अतः श्रुति एवं स्मृति के विरोध में पहले वाला अर्थात् श्रुति वाला प्रमाण मान्य होता है। इस स्पष्ट नियम के विषय में भी कुछ अपवाद होते हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा। किन्तु जहाँ दो स्मृतियों की बातों में विरोध होता है वहाँ षोडशी-न्याय एवं गौतम (१।५ 'तुल्य-बल विरोधे विकल्पः') के शब्दों के अनुसार सामान्य नियम विकल्प को मान लेना है। धर्मशास्त्र के बहुत-से ग्रन्थ ई० पू० ५०० के बहुत पहले प्रणीत हो चुके थे, क्योंकि गौतम (२१।७) ने मनु एवं 'आचार्यों' (३।३५ एवं ४।१८ में) का उल्लेख किया है और आप० ध० सू० (१।६।१९।२-१२) ने इस विषय में कि किसका भोजन ग्रहण किया जाय, कम से कम ९ लेखकों की सम्मतियों का उल्लेख किया है। मनु० (३।१६) ने उस ब्राह्मण की स्थिति के विषय में, जो शूद्र नारी से विवाह करता है, या जिसे उस स्त्री से पुत्र या बच्चा उत्पन्न होता है, चार ऋषियों द्वारा प्रदर्शित तीन मत दिये हैं। स्मृतियों के विरोध के विषय में एक प्रसिद्ध उदाहरण है, मनु० (३।१३), बौ० ध० सू० (१।८।२), विष्णुधर्मसूत्र (२४।१-४) वसिष्ठ (१।२५), पार० गृह्यसूत्र (१।४) का नियम, जो अनुलोम विवाह की अनुमति देता है और ब्राह्मण को शूद्र नारी से विवाह करने की अनुमति प्रदान करता है। याज्ञ० (१।५६-५७) उन लोगों की इस बात को नहीं मानते जो यह कहते हैं कि तीन उच्च वर्णों के लोग शूद्र नारी से विवाह कर सकते हैं। पश्चात्कालीन स्मृतिकारों एवं निबन्धकारों को यह कहना चाहिए था कि इस सिद्धान्त विरोध में विकल्प का सहारा लेना चाहिए। किन्तु वे ऐसा नहीं कहते। इस प्रकार की स्पष्ट विरोधी स्थितियों से हटने के लिए वे भाँति-भाँति के उपाय ढूँढ लेते हैं। प्रथम उपाय बृहस्पति (लगभग ५०० ई०) ने यह निकाला कि ऐसी स्थितियों में मनुस्मृति का स्थान सर्वोच्च है, क्योंकि यह वेदों का

५९ येनास्य पितरो याता येन याता पितामहाः। तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ मनु० (४।१७८), तन्त्रवार्तिक (पृ० २११) द्वारा उद्धृत, जहाँ कुमारिल ने यों जोड़ा है : 'येषां तु पित्रादिभिरेवार्यो नाचरितः स्मृत्यन्तरप्रतिषिद्धश्च ते तं परिहरन्त्येव। अपरिहरन्तो वा स्वजनं दिविं हरिष्यन्ते।' देखिए इस पर मेधातिथि एवं मिता० की टीकाएँ।

वास्तविक मत प्रकाशित करती है और वह स्मृति जो मनु के कथन की विरोधी है, प्रशसा का पात्र नही होती।[६०] किन्तु यह समाधान सन्तोपप्रद नही था अत अन्य उपायो का आश्रय लिया गया। एक उपाय था स्वय मनुस्मृति एव अन्य ग्रन्थो मे जो पहले ही नियम रूप मे घोपित था, उसका विरोध करते हुए वचनो को रख देना। दो उदाहरण दिये जा सकते है। मनु (३।१३७), जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है) के विरोध मे विद्यमान मनु (३।१४-१६) के श्लोक पाये जाते है जो उन तीन उच्च वर्णो के लोगो की भर्त्सना करते हैं, जो शूद्र नारी से विवाह करते है। मनु ने नियोग की प्रथा की अनुमति दे दी थी (६।५६-६२ मे), किन्तु आज की मनुस्मृति (६।६४-६८) ने इसकी घोर निन्दा की है। ये विरोधी उक्तियाँ बृहस्पति को ज्ञात थी, क्योकि उन्होने स्पष्ट कहा है कि मनु ने नियोग की अनुमति दी है और स्वय वे उसे अमान्य ठहराते है और कारण बताते है, यथा—प्राचीन युगो (कृत एव त्रेता) मे लोग तप करते थे और ज्ञानवान थे। किन्तु द्वापर एव कलि युगो मे मनुष्य अतीत युगो के लोगो द्वारा प्राप्त शक्ति खो चुके है और इसी कारण नियोग वर्जित है। स्वय याज्ञवल्क्य ने प्रस्तावित किया है (२।२१) कि जब दो स्मृतियो मे विरोध हो तो गुरुजनो (अवस्था मे बड़े लोगो) के व्यवहारो पर आधृत तर्क अपेक्षाकृत अधिक बलशाली होता है। नारद मे ऐसा ही नियम दिया हुआ है।[६१] एक अन्य उपाय था यह उद्घोपित करना कि धर्म का स्वरूप चार युगो मे अलग-अलग था तथा कृत, त्रेता, द्वापर एव कलि युगो मे धर्मो का प्रवर्तन क्रम से मनु, गौतम शंख-लिखित एव पराशर द्वारा हुआ।[६२] इससे भी सभी कठिनाइयो का समाधान नही प्राप्त हो सका, क्योकि मध्यकालीन टीकाकारो एव निबन्धकारो को पता चला कि पराशर द्वारा जो आज्ञापित था (ब्राह्मण को अपने दास, गोपाल, नाई, कुलमित्र एव अधिपरा अर्थात् जो खेत को जोतता-बोतता है और आधा भाग देता है, ऐसे शूद्रो के यहाँ भोजन करने की अनुमति थी तथा कुछ परिस्थितियो मे स्त्रियो को पुनर्विवाह की अनुमति है)।

६० वेदार्थोपनिबन्धृत्वात प्रामाण्य तु मनुस्मृतौ। मन्वर्थ विपरीता या स्मृति सा न प्रशस्यते। बृहस्पति, याज्ञ० (२।२१) की व्याख्या मे अपरार्क (पृ० ६२८) द्वारा तथा मनु० (१।१) की व्याख्या मे कुल्लूक द्वारा उद्धृत। मनु० (२।७) ने यह अधिकार व्यक्त किया है कि उन्होने धर्म पर जो कुछ कहा है वह वेद मे घोषित है। मनुस्मति मे बहुधा वेद के वही शब्द आये हैं। यथा १।३१ एव ऋ० (१०।९०।१२), २।२ एव वाज० स० (४०।२), ९।८ (जाया के विषय मे) एव ऐत० ब्रा० (३३।१, ७वीं गाथा), ९।३२ एव ऐत० ब्रा० (३३–१३, चौथी गाथा)।

६१, उक्तो नियोगो . निषिद्ध स्वयमेव तु। युगक्रमादशक्योय कर्तुमन्यैर्विधानत ॥ बृहस्पति कुल्लूक द्वारा मनु० (९।६८) पर उद्धृत। और देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८६६–८६७ पाद-टिप्पणी, १६८२–८३, जहाँ पर याज्ञ २।२१ के कई पाठान्तर एव व्याख्याएँ दी हुई हैं। मिलाइए 'धर्मशास्त्र विरोधे तु युक्तियुक्तो विधि स्मृत।' नारदस्मृति (१।४०)।

६२ अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे। अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपत ॥ मनु० (१। ८५)। यही श्लोक शान्तिपर्व (२३२।२७, चित्राओ सस्करण , २२४।२६) एव पराशरस्मृति (१।२२७, जहाँ युगरूपानुसारत आया है) मे भी आया है, कृते तु मानवो ' ेतायां गौतम स्मृत द्वापरे शख लिखित कलौ पाराशर स्मृत ।। पराशरस्मृति (१।२४ (स्मृति च० द्वारा उद्धृत , १, पृ० ११)।

वह लोगो द्वारा अमान्य हो गया है।[६३] स्मृतियो के विरोध की स्थितियो मे एक अन्य उपाय गोभिल द्वारा उपस्थित किया गया है, यथा—जहाँ पर स्मृति-वाक्यो मे विरोध हो वहाँ बहुमत की बात मानी जानी चाहिए।[६४]

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, स्मृतियो का प्रणयन ई० पू० ५०० के पूर्व हो चुका था और उनका सकलन लगभग ६०० या १००० ई० तक होता रहा, अर्थात् उनका प्रणयन-काल लगभग १५०० वर्षों का है, याज्ञ० (१।४-५) ने अपने को जोडकर १६ स्मृतियो का उल्लेख किया है। देखिए इस महाग्रन्थ का प्रथम खण्ड, जहाँ विभिन्न ग्रन्थो द्वारा वर्णित विभिन्न स्मृतियो की सख्या का उल्लेख हुआ है। यदि अधिक नही तो कम-से-कम सौ स्मृतियो के नाम बताये जा सकते हैं। १५०० वर्षों की इस लम्बी अवधि मे भारतीय जनता की धार्मिक एव सामाजिक भावनाओ, उनके आचारो एव व्यवहारो मे महान् परिवर्तन हुए होगे। बौद्धधर्म उठा, बढा और भारत से विलुप्त हो गया, जाति-प्रथा भोज्याभोज्य, विवाह एव सामाजिक व्यवहार मे कठोर एव दृढ हो गयी, वैदिक कृत्य, पूजित देवगण एव भाषा महान् परिवर्तनो के चक्कर मे पड गयी, पशु-यज्ञ, जो कभी-कभी किये जाते थे, अब उतने उपयोगी एव फलदायक नही माने जाते। अत धार्मिक साहित्य का नये आदर्शों के अनुरूप परिष्कार होना आवश्यक था, यही नही, नयी पूजा एव नये पूजको के लिए धार्मिक साहित्य को स्वय ढलना पडा। समय-समय पर भावनाओ, विश्वासो, पूजा एव व्यवहारो मे जो परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए उन्हें स्मृतियाँ अपने मे बाँधती रही और इसी से बहुत-से विरोधो की सृष्टि हो गयी। इसी से, ऐसा प्रतीत होता है कि १०वी एव आगे की शतियो के विद्वान् लोगो ने कुछ आचारो एव व्यवहारो को, जो पहले आज्ञापित थे कलियुग मे हानिकारक बताया। एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि बडे-बडे ऋषियो ने कलियुग के आरम्भ के समय एकत्र होकर ऐसी घोषणा की कि कुछ कृत्य, आचार एव व्यवहार, जो पहले आज्ञापित थे, कलियुग मे वर्जित होने चाहिए। कलियुग मे निषिद्ध एव वर्जित कर्मों (जो लगभग ५५ की सख्या मे हैं) को 'कलिवर्ज्य' कहा जाता है। इस विषय मे हमने इस महाग्रन्थ के खण्ड तीन मे विस्तार के साथ पढ लिया है। मेधातिथि के भाष्य (मनु० ६।११२) से यह प्रकट है कि उनके काल (६ वी शती) के बहुत पहले से बहुत-से लेखको ने (मधुपर्क आदि मे) गोवध, नियोग, सबसे बडे पुत्र को अधिक रिक्थ देने की प्रथा की भर्त्सना कर दी थी और यह मत प्रकाशित कर दिया था कि ये व्यवहार एव आचार केवल अतीत काल मे ही कार्यरूप मे परिणत होते थे।

कलिवर्ज्य के विषय पर कुछ गम्भीर विवेचना आवश्यक है। तीन कलिवर्ज्य ये हैं—नियोग, ज्योतिष्टोम मे अवभृथ के उपरान्त अनुबन्ध्या गौ की आहुति एव ज्येष्ठ पुत्र को पैतृक सम्पत्ति का अधिकाश देने पर निषेध। ये तीनो वेद द्वारा व्यवस्थित थे या आज्ञापित थे। ऋ० (१०।४०।२) से प्रकट होता है कि पति के आध्यात्मिक

६३ दास-नापित-गोपाल-कुलमित्रार्धसीरिण। एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मान निवेदयेत्॥ पराशरस्मृति (११।२१)। मिलाइए याज्ञ० (१।१६६) जहाँ लगभग ऐसे ही शब्द हैं एव 'स्वदासो नापितो गोप कुम्भकार कृषीबल ब्राह्मणैरपि भोज्यान्ना पञ्चैते शूद्रयोनय ॥ देवल, अपरार्क (पृ० २४५, याज्ञ० १।१६८ पर) द्वारा उद्धृत। नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणा पतिरन्यो विधीयते॥ पराशर स्मृति ४।३०, जिस पर पराशरमाधवीय (२।१, पृ० ५३) ने टिप्पणी दी है 'अय च पुनरुद्वाहो युगान्तर-विषय'।

६४ विरोधे यत्र वाक्यानां प्रामाण्य तत्र भूयसाम्। गोभिलस्मृति, मलमासतत्त्व (पृ० ७६७) द्वारा उद्धृत।

उत्पान पुत्र कल्याण के लिए विधवा देवर से संभोग करके पुत्र उत्पन्न करती थी।[६५] तै० सं०, (३।१।९।४) मे दो विरोधी वचन हैं—'मनु ने अपनी सम्पत्ति को अपने पुत्रो मे बाँट दिया' (बिना किसी अन्तर के) तथा 'अत वे ज्येष्ठ पुत्र को पैतृक सम्पत्ति देते हैं' (तै० स० २।५।२।७)। इस अन्तिम वचन मे यह तर्क दिया जा सकता है कि जब दो वैदिक वचनो मे विरोध है तो विकल्प का आश्रय लिया जा सकता है। किन्तु बहुत प्राचीनकाल से सम्पूर्ण सम्पत्ति या अधिकाश बडे पुत्र को देने पर प्रतिबन्ध था। आपस्तम्ब ने दोनो वैदिक वचनो को उद्धृत किया है और मत प्रकाशित किया है कि पुत्रो मे बराबर विभाजन उचित नियम है और टिप्पणी की है कि ज्येष्ठ पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति या अधिकाश देना शास्त्रो के विरुद्ध है। उन कर्मों मे जो कलि मे वर्जित है किन्तु वेद के काल मे व्यवहृत थे (तीन का उल्लेख ऊपर हो चुका है) कुछ निम्नलिखित है—(१) सत्रो के लिए दीक्षा लेना (सत्र ऐसे यज्ञ थे जो १२ दिनो या १२ वर्षों या और अधिक वर्षों तक चलते थे और केवल ब्राह्मणो द्वारा किये जाते थे), जैमिनि ने ६।६।१६-३२ मे तथा अन्य स्थानो पर इसका उल्लेख एव वर्णन किया है। यह द्रष्टव्य है कि शबर एव कुमारिल ने सत्रो को कलिवर्ज्य के रूप मे नही उल्लिखित किया है। इसी से कम-से-कम ८वी शती तक यह सामान्यत वर्णित कलिवर्ज्यो मे परिगणित नही था। (२) गाय या बैल की हत्या। वैदिक युग मे कतिपय अवसरो पर ऐसी हत्या होती थी। ज्यो-ज्यो मास-भक्षण बुरा समझा जाने लगा गाय की बलि को लोग अति भर्त्सना की दृष्टि से देखने लगे और मध्य-काल के कलिवर्ज्य-सम्बन्धी ग्रन्थो ने इसको केवल वर्ज्यो की सूची मे रख दिया है, वास्तव मे, यह उनसे कई शतियो पहले से कलिवर्ज्य था।(३) सौत्रामणी यज्ञ मे सुरा के प्यालो का आनन्द। जैमिनि, शबर एव कुमारिल की टुप्टीका ने इसका वर्णन किया है और शबर एव कुमारिल दोनो ने इसमे सुरापूर्ण प्यालो की आहुतियो की चर्चा की है। अत यह कृत्य कुमारिल के काल के उपरान्त कलिवर्ज्य माना गया होगा। (४) वर (दूल्हे), अतिथि एव पितरो के सम्मान मे वैदिक मन्त्रो के साथ पशु-बलि। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ५४२-५४६ जहाँ मधुपर्क का उल्लेख है, जिसमे (ऐत० ब्रा० के अनुसार) बैल या गाय की बलि होती थी। मनु० (५।४१-४४) ने मधुपर्क, यज्ञो एव पितरो के पिण्ड-दान या श्राद्ध के कृत्यो तथा देवो के लिए यज्ञो मे पशुओ की बलि की अनुमति दी है और इस बात पर बल देकर घोषणा की है कि वेद की व्यवस्था के अनुसार पशु-बलि हिंसा नही है, प्रत्युत वह अहिंसा है। याज्ञ० (१।२५८-२६०) ने पितरो की सन्तुष्टि के लिए यज्ञिय भोजन (चावल या तिल), भाँति-भाँति की मछलियो एव कतिपय पशुओ के मास की आहुतियो के काल की अवधियो की व्यवस्था की है। मिताक्षरा को यह कहना पडा है कि यद्यपि याज्ञवल्क्य से स्पष्ट है कि श्राद्ध मे यज्ञिय भोजन (चावल आदि), मास एव मधु की आहुतियाँ सभी वर्णों के लिए व्यव-

६५ को वा शयुत्रा विधवेव देवर मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ।। ऋ० (१०।४०।२)। प्राचीन काल की नियोग-प्रथा के विवरण के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ५९९–६०७। कुछ लोग इस श्लोक मे पुनर्विवाह की गध पाते हैं न कि नियोग की, किन्तु वास्तव मे बात ऐसी नहीं है। मनु०(९।६५) का कथन है कि मन्त्रों मे विवाह के सम्बन्ध में नियोग का उल्लेख नहीं है और न पुनर्विवाह की ही चर्चा विवाह विधि मे हुई है। किन्तु गौतम तथा कुछ अन्य सूत्रकार और यहाँ तक कि याज्ञ०(१।६८–६९) भी नियोग की विधि आदि के विषय मे व्यवस्थाएं देते हैं। सभी लेखक विधवा के पुनर्विवाह की विधि के विषय मे पूर्णरूपेण मौन हैं। अत यह कहा जाना चाहिए कि ऋ० (१०।४०।२) को प्राचीन ऋषियो ने नियोग की प्रथा के रूप मे जो की है, वह ठीक है।

स्थित की गयी हैं, तथापि (उसके काल में) पुलस्त्य द्वारा स्थापित नियम का पालन होना चाहिए, यथा— ब्राह्मणों द्वारा मुनि के योग्य भोजन (अर्थात् चावल), क्षत्रियों एवं वैश्यों द्वारा मांस तथा शूद्रों द्वारा मधु (याज्ञ० १।२६०-२६१ पर मिताक्षरा की टीका)।

पूर्वमीमांसा के अनुसार वेद नित्य है, स्वयम्भू है और है परमोच्च प्रमाणवाला। यह नहीं समझ में आता कि ऋषियों को कलियुग के प्रारम्भ में, किस प्रकार अधिकार प्राप्त हो सका कि उन्होंने वेदविहित अथवा वेद द्वारा व्यवस्थित कृत्यों को वर्जित कर दिया। लगता है, यह एक मानस सृष्टि मात्र है जिसके द्वारा लोगों के विचारों एवं व्यवहारों के परिवर्तनों को धर्म का रूप दिया जा सका। उचित तो यह था, और इसी में ईमानदारी थी कि धर्मशास्त्रकार निर्भीक होकर यह कहते कि परिवर्तित दशाओं एवं परिवेश के कारण वेद एवं प्राचीन स्मृतियों की बातों एवं शब्दों को अब वह मान्यता नहीं मिलनी चाहिए और उनका अनुसरण नहीं करना चाहिए। ऐसा कहने में न तो कोई नवीनता प्रदर्शित करनी थी और न कोई क्रान्तिकारी कदम ही उठाना था, क्योंकि स्वयं मनु[६६] एवं याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी है कि व्यक्ति को वह नहीं करना चाहिए या उसका परित्याग कर देना चाहिए जो पहले धर्म होने के कारण करणीय था किन्तु अब लोगों के लिए घृणास्पद हो गया है, दुःखदायक है तथा स्वर्ग की प्राप्ति की ओर नहीं ले जाता।

६६. परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥ मनु० (४।१७६) विष्णुपुराण (३।२।७) में 'धर्मपीडाकरौ नृप' एवं विद्विष्ट०' आया है, कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद् धर्मं समाचरेत्। अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु॥ याज्ञ० (१।१५६), देखिए, विष्णुधर्मसूत्र (७१।१७–२१). (परिहरेत) धर्मविरुद्धौ चार्थकामौ लोकविद्विष्टं च धार्म्यमपि।, बृहन्नारदीयपु० (१।२४।१२) में आया है: "कर्मणा मनसा चरेन्न तु, सर्वलोकविरुद्धं च धर्ममप्याचरेन्न तु। कूर्म० (१।२।५४), मिता० (याज्ञ० २।११७) में आया है 'विषमोविभाग शास्त्रदृष्टस्तथापि लोकेविद्विष्टत्वान्नानुष्ठेय' पुनः मिता० (याज्ञ० १।१५६) में आया है 'धर्म्यं विहितमपि लोकविद्विष्टं लोकाभिशस्तिजननं मधुपर्के गोवधादिकं नाचरेत् यस्मादस्वर्ग्यमग्नीषोमीयवत् स्वर्गसाधनं न भवति'। और देखिए मिता० (याज्ञ० ३।८) जहाँ चौथी, पाँचवीं, छठी, या सातवीं पीढ़ी के सपिण्डों के आशौच के विभिन्न दिनों के बारे में चर्चा है और एक स्मृति द्वारा स्थापित ऐसी व्यवस्था की ओर संकेत है जिसे छोड़ देना चाहिए 'तद्विगीतत्वान्नादरणीयम्। यद्यप्यविगीतं तथापि मधुपर्काङ्गपश्वालम्भनवल्लोकविद्विष्टत्वान्नानुष्ठेयम्।', स्मृतिच० (१, पृ० ७१) का कथन है, 'नब्रूमः शास्त्रतो न परिणेयेति किन्तु लोकविरुद्धत्वात्। यच्च धर्म्यमपि लोकविरुद्धं तन्नानुष्ठेयम्। यदुक्तं मनुना—अस्वर्ग्यं०, वराहमिहिरोपि लोकाचारस्तावदादौ विचिन्त्यो देशे देशे या स्थितिः सैव कार्या'॥ शतपथब्राह्मण (३।४।१–२) में आया है 'तस्मै (सोमाय') एतद्यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं महाजं वा पचेत्तदह मानुषं हविर्देवानामेवमस्मा एतदातिथ्यं करोति।' शतपथ० के समान ही वसिष्ठ धर्मसूत्र (४।८) एवं याज्ञ० (१।१०९) में व्यवस्था है। मध्यकालीन लेखक इस व्यवहार का समर्थन नहीं कर सके। विश्वरूप का कथन है कि बैल या बकरी तभी काटी जाती है जबकि अतिथि इस प्रकार की इच्छा प्रकट करता है। कल्पतरु (नियतकाल, पृ० १९०) वसिष्ठ एवं याज्ञ० को उद्धृत कर टिप्पणी देता है 'अत्र गृहागतश्रोत्रियतृप्त्यर्थं गोवधः कर्तव्य इति प्रतीयते तथापि कलियुगे नायं धर्मः किन्तु युगान्तरे,' किन्तु मिता० में व्याख्या दी है "उपकल्पयेत्, भवदर्थमयमस्माभिः परिकल्पित इति तत्प्रीत्यर्थं न तु दानाय व्यापादनाय वा, 'अस्वर्ग्यं... न तु' इति निषेधाच्च।"

यहाँ तक स्वय मिताक्षरा ने इन दोनो स्मृतियो की बात मान ली है और स्पष्ट रूप से कहा है कि यद्यपि शास्त्रो मे सम्पत्ति का विभाजन असमान था, किन्तु उस नियम का अनुसरण नही करना चाहिए, क्योकि अब लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। यह द्रष्टव्य है कि याज्ञ० एव अन्य लोगो द्वारा प्रयुक्त शब्द है 'लोकविद्विष्ट' या 'लोकविक्रुष्ट' (लोगो द्वारा गर्हित या निन्दित) न कि 'शिष्ट-विद्विष्ट', धारणा यह है कि चाहे कट्टर विद्वान् लोग (पण्डित) इस बात पर बल दे कि लोगो को वेद एव स्मृतियो द्वारा घोषित धर्म का अनुसरण करना चाहिए, कन्तु जन-साधारण को चाहिए कि वे उन आचारो का परित्याग कर दे जिन्हे वे गर्हित एव कुत्सित समझते है। यह धारणा उन ऐतिहासिक तथ्यो की ओर सकेत करती है कि आचरणो एव व्यवहारो का कालान्तर मे परिवर्तन होता है और जन-साधारण वेदविहित बातो को भी छोड देता है। स्मृतियो की तो बात ही निराली होती है। इस प्रश्न का उत्तर कि लोग जब मामा की पुत्री से विवाह कर लेते हैं तो अपनी माता की बहन या माता की बहन की पुत्री से विवाह क्यो नही करते, स्मृतिचन्द्रिका ने इस प्रकार दिया है—'हम ऐसा नही कहते कि शास्त्र के मत से उस लडकी का वैसा विवाह नही हो सकता, प्रत्युत हम यह कहते हैं कि लोग इस प्रकार के विवाह को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और इस विषय मे इसने याज्ञ० (१।१५६) का उद्धरण दिया है (भ्रमवश यह उद्धरण मनु का कह दिया गया है)।

आधुनिक काल मे जब धार्मिक या सामाजिक व्यवहारो मे किसी परिवर्तन का निर्देश किया जाता है तो वे पण्डित, जो अपने को सनातनी कहते हैं, ऐसा घोषित करते है कि निर्देशित परिवर्तन शास्त्रो के विरुद्ध है, मतमतान्तर का निपटारा मीमासा के नियमो के अनुसार होना चाहिए, सभी स्मृतियो की बातो एव अन्य सद्धान्तो को इस प्रकार रखना चाहिए कि समन्वय स्थापित हो सके तथा ऐतिहासिक आधार हमे उचित निर्णय नही देते, इसीलिए हमे उन पर आधृत नही होना चाहिए। इन सभी विद्वानो का विवेचन यहाँ पर सक्षेप मे किया गया है। यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि वैदिक काल से लेकर अब तक किस प्रकार धार्मिक विचारो, पूजा एव आचरणो-व्यवहारो मे महान् परिवर्तन हो चुके है, किस प्रकार गौतम, आपस्तम्ब, मनु० से लेकर आगे की स्मृतियो मे इतने पारस्परिक मतभेद पाये गये हैं कि बहुत पहले ही, अर्थात् महाभारत के काल मे ही व्यास को ऐसा कहना पडा[६७] कि 'तर्क अस्थिर है, वेद एक-दूसरे के विरोध मे मत रखते है। कोई ऐसा मुनि नही है जिसका मत (सभी द्वारा) प्रामाणिक समझा जाय। धर्म के विषय मे जो सत्य वा तत्त्व है वह गुहा मे छिपा हुआ है (अर्थात् उसे भली प्रकार नही जाना जा सकता) और तभी वही मार्ग अनुसरण करने योग्य है जो अधिक से अधिक लोगो द्वारा अनुसरित होता है'।

मीमासा भी बहुधा हमे निश्चित निष्कर्षों की ओर नही ले जाती, जैसा कि हम देख चुके हैं, शबर, कुमारिल, प्रभाकर ऐसे मीमासक कतिपय विषयो पर परस्पर विरोधी मत रखते हैं और यह भी आगे प्रदर्शित

६७ तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मत प्र . । धर्मस्य तत्त्व निहित गुहायां महाजनो येन गत स पन्था। वनपर्व (३१३।११७, यक्षप्रश्न)। किन्तु यह श्लोक चित्राओ सस्करण के वनपर्व (अध्याय २९७) मे नहीं पाया जाता, यद्यपि वहां अन्य कतिपय प्रश्न एव उत्तर मिलते हैं। 'महा पन्था' का अर्थ यह भी हो सकता है कि अनुसरण करने योग्य मार्ग वह है जिसके अनुसार महान् व्यक्ति चलता है (या चलते हैं)। जनता या लोगो के समूह के अर्थ मे 'महाजन' शब्द का प्रयोग शकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (४।२।७) मे किया है, यथा—'एवमियमप्युत्क्रान्तिर्महाजनगतैवानुकीर्त्यते'

किया जायगा कि स्वयं महान् मीमांसकों ने स्मृतियों के सरल वचनों की व्याख्या में विरोधी निष्कर्ष स्थापित कर दिये हैं। हमारे धार्मिक एवं सामाजिक विचारों के लम्बे इतिहास में परिवर्तन एक परम सत्य रहा है और वे लोग, जो ऐतिहासिक तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, यही कहना चाहते हैं कि स्मृतियाँ मानव लेखकों द्वारा लगभग १५०० से २००० वर्षों की अवधि में लिखी गयी और उन पर तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक परिवेश का प्रभाव अवश्य पड़ा, उनके बहुत-से सिद्धान्त इस प्रकार नियोजित नहीं हो सकते कि उनसे कोई एक अविरुद्ध या स्थिर आचार-संहिता बन सके, वे सिद्धान्त सभी हिन्दुओं द्वारा सदा के लिए सामान्य नहीं हो सकते, बीसवीं शती में हमारी जनता वैसे परिवर्तनों को प्रतिष्ठित करने के लिए स्वतन्त्र है, जो आज के परिवर्तित वातावरण में या तो आवश्यक हैं या समाहित हो चुके हैं और यह विधि मनु, याज्ञवल्क्य तथा मिताक्षरा एवं कल्पतरु ऐसे मध्य कालीन धर्मशास्त्रकारों द्वारा आज्ञापित भी रही है। किन्तु यह बात स्पष्ट कर देनी है कि केवल परिवर्तन के नाम पर ही आचारों एवं सिद्धान्तों में परिवर्तन नहीं कर देना चाहिए, प्रत्युत परिवर्तन के पीछे सामान्य लोगों के भाव एवं आवश्यकताओं का होना नितान्त आवश्यक है और साथ ही साथ उन स्तम्भों को अक्षुण्ण रखना चाहिए जिन पर सहस्रों वर्ष से समाज आधृत रहा है।

यह भी जान लेना आवश्यक है कि मीमांसा के नियमों का सम्बन्ध यज्ञ सम्बन्धी कृत्यों एवं उनसे सम्बन्धित अन्य विषयों पर वैदिक वचनों की व्याख्या से है, यज्ञ सम्बन्धी एवं धार्मिक कृत्यों के व्यवहारों से उनका बहुत कम सम्बन्ध रहा है।[६८] मीमांसासूत्र ने ऐसा कहीं नहीं कहा है कि स्मृतियों की व्याख्या के लिए एक ही प्रकार के नियमों का प्रयोग होना चाहिए। प्रत्युत, दूसरी ओर स्वयं पू० मी० सू० (१।३। ३-४ एवं ७) स्मृतियों एवं आचार-व्यवहारों के विषय में गुणदोष विवेचक हैं। वेद एवं स्मृतियों में मौलिक या तात्त्विक अन्तर पाया जाता है। वेद स्वयम्भू, नित्य एवं परम प्रमाण हैं, किन्तु स्मृतियाँ पौरुषेय (मानव-कृत) एवं उपलक्षित अथवा उद्भूत प्रमाण वाली हैं। (वे उन वैदिक वचनों पर आधृत हैं, जिनका अधिकांश आज उपलब्ध नहीं है), उनकी संख्या बहुत बड़ी है, वे आपस में इतनी विरोधी हैं कि मिताक्षरा के समान प्रसिद्ध ग्रन्थों एवं लेखकों ने विभिन्न मतों के समन्वय के प्रयास को छोड़ दिया है और यहाँ तक कह दिया है कि कुछ स्मृतियाँ पूर्व कल्प या युग की हैं (ऐसे समाज के लिए लिखित है जो सहस्रों, लाखों वर्ष पुराना है। (पू० मी० सू० का एक प्रसिद्ध कथन है 'सर्वशाखाप्रत्ययन्याय'[६९] या 'शाखान्तराधिकरणन्याय' (२।४।

६८ देखिए निर्णयसिन्धु (पृ० १२६) एवं हेमाद्रि (काल, पृ० १४४), जहाँ धर्मशास्त्र ने व्रतों एवं उत्सवों के विषय में मीमांसा के नियमों के प्रयोग को अमान्य ठहराया है। और देखिए स्मृतिचन्द्रिका (१।२४) एवं पराशरमाधवीय (१।२, पृ० ८३) जहाँ हारीत की बात की ओर संकेत है जो स्त्रियों के उपनयन की बात उठाते हैं, वहीं कुछ असुविधाजनक स्मृति-वचनों के सिलसिले में प्राचीन कल्पों एवं युगों की ओर भी संकेत किया गया है। पराशरमाधवीय (१, भाग २, पृ० ६७) ने मनु० (३।१३) की ओर निर्देश किया है जहाँ एक ब्राह्मण को शूद्रा स्त्री से विवाह करने की छूट दी गयी है, किन्तु मनु० (३।१४) ने पुनः इसका निषेध किया है। और देखिए 'युगादि तिथियों के विषय में मतमतान्तर, कृत्यरत्नाकर (पृ० ५४१-४२)।

६९ एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्। पू० मी० सू० (२।४।९), शबर का कथन है 'सर्वशाखा-प्रत्ययं सर्वब्राह्मणप्रत्ययं चैकं कर्म' (जैमिनि २।४।९) पृ० ६३५-६३६), तन्त्रवार्तिक में आया है, 'एकस्या-

८-३३)। वेद के विभिन्न पाठान्तरो एव उनसे सम्बद्ध ब्राह्मणो मे एक ही कृत्य वर्णित है और यह कुछ और विस्तारो के साथ सर्वांवित है जो कुछ पाठान्तरो मे पाये जाते हैं और कुछ मे नही। जैमिनि एव शबर की स्थापना है कि वेद एव ब्राह्मणो की सभी शाखाएँ एक ही दल से सम्बन्धित हैं तथा अग्निहोत्र एव ज्योतिष्टोम ऐसे कुछ कृत्य सभी वैदिक पाठान्तरो मे एक ही समान हैं, यद्यपि यत्र-तत्र विस्तार मे कुछ अन्तर अवश्य है और यही उचित निष्कर्ष है। क्योकि सभी पाठान्तरो मे वही नाम (ज्योतिष्टोम आदि) पाया जाता है, अत कृत्य का फल एक ही है, यज्ञ की सामग्रियाँ एव देवता समान हैं और विधि वाक्य भी एक से ही हैं। यही बात अति प्राचीन काल से स्मृतियो मे पायी जाती रही। विश्वरूप, मेधातिथि, मिताक्षरा[७०] अपरार्क तथा अन्य टीकाकारो ने इसे स्मृतियो के विषय मे भी कहा है और व्यवस्था दी है कि जहाँ स्मृतियो मे विरोध हो वहाँ विकल्प का आश्रय लेना चाहिए किन्तु अन्य बातो मे अन्य विस्तार बढा दिये जाने चाहिए। किन्तु विकल्प मे आठ दोष पाये जाते हैं अत किसी विषय पर सभी स्मृतियो के वचन इस प्रकार व्याख्यायित किये जाते हैं कि कोई विरोध खडा ही न हो य। भाँति-भाँति के उपयो से किसी विकल्प का सहारा लेने की स्थिति ही न उत्पन्न होने पाती थी, यथा 'विषय-व्यवस्था', 'दूसरे कल्प या युग की ओर सकेत कर देना' आदि। उदाहरणार्थ, विकल्प सम्बन्धी प्रसिद्ध उदाहरण (अतिरात्र मे षोडशी पात्र को ग्रहण करना या न करना) के विषय मे मिताक्षरो मे आया है कि यह मान लेना उचित है कि यदि यह करना सम्भव है तो उसे ग्रहण करना चाहिए, या यह मान लेना चाहिए कि षोडशी पात्र (प्याले) को अतिरात्र मे ग्रहण करने से स्वर्ग प्राप्ति मे शीघ्रता होती है।[७१] सभी स्मृतियो को एक शास्त्र मान लेने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से सरल कृत्य अति विस्तारो के कारण कर्ता के लिए जटिल, कष्टकारक एव बोझिल हो गये। किन्तु कभी-कभी इस सिद्धान्त का प्रयोग आवश्यक भी है। उदाहरणार्थ, याज्ञ० (१।१३५) मे आया है कि स्नातक को सूर्य की ओर (नेक्षेतार्कम्) नही देखना चाहिए, इसका अर्थ होगा सूर्य की ओर ताकना सभी कालो मे निषिद्ध है, किन्तु याज्ञ० का आदेश मनु० (४।३७) के आदेश के साथ पढा जाना चाहिए, जो व्यक्ति को सर्योदय या सूर्यास्त के समय या ग्रहण के समय या जल की छाया मे या जब मध्याह्न हो सूर्य का दर्शन नही करना चाहिए। अत नियम मनु द्वारा कहा हुआ समझा जायेगा।

मपि ब्राह्मणानेकत्वेपि तदेव कर्मेत्यभिप्राय। तद्यथोद्गातृणा पचविंश-षड्विंश-ब्राह्मणयोर्ज्योतिष्टोम-द्वादशाही ॥' मिलाइए सर्ववेदान्तप्रत्यय चोदनाद्यविशेषात्। वे० सू० (३।३।१)।

७० देखिए वि (याज्ञ० १।४-५) 'न तावदाम्नायो धर्मशास्त्रभेदप्रतिपादक, न च तत्प्रभवो न्याय। अपितु श्रौतान। कृत्स्नोपसहारात् तत्पूर्वकत्वाच्चतथैवात्रापि प्राप्नोति।', देखिए मेधातिथि (मनु० २।२६), एव-मन्येष्वपि विकल्प आश्रयणीय, अविरोधिषु समुच्चय। शाखान्तराधिकरणन्यायेन सर्वस्मृतिप्रत्ययत्वात्कर्मण।' मिताक्षरा (याज्ञ० ३।३२५), देखिए अपरार्क (पृ० १०५३), स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० ५), मदनपारिजात (पृ० ११, ६१), शुद्धितत्त्व (पृ० ३७८-३८०), जलाशयोत्सर्गतत्त्व (पृ० ५२३)। मिताक्षरा (याज्ञ० १।४-५) ने दी है —'एतेषा (धर्मशास्त्राणा) प्रामाण्येपि साकांक्षाणामाकांक्षापरिपूरणमन्यत क्रियते विरोधे विकल्प'।

७१. न च षोडशिग्रहणाग्रहणवत् ...दपि विकल्पोपपत्तिरिति वाच्य, यतस्तत्रापि सति ...ग्रहणमेवेति युक्तं कल्पयितुम्। यद्वा षोडशिग्रहणानुगृहीतेनातिरात्रेण क्षिप्र स्वर्गादिसिद्धिरतिशायितस्य वा स्वर्गस्येति कल्पनीयम्। मिता० (याज्ञ० ३।२४३)।

स्मृतियो की प्रामाणिकता के विषय मे चर्चा करते हुए जैमिनि, विशेषत कुमारिल के वेदाग सम्बन्धी कथन पर ध्यान देना उपयोगी होगा । **शिक्षा** (स्वर या ध्वनिविद्या) के विषय मे कुमारिल का कथन है कि उस ग्रन्थ मे स्वरोच्चारण मे प्रयुक्त अगो के तथा वैदिक उच्चारणो के नियमो के विषय मे जो वृत्तान्त है वह मन्त्रो के सम्यक् पाठ के लिए उपयोगी है । कल्पसूत्रो के विषय मे जैमिनि ने एक पृथक् अधिकरण (१।३।११-१४) रख दिया है ।[७२] शबर ने माशक, हास्तिक एव कौण्डिन्यक कल्पसूत्रो के नाम लिये है और तन्त्रवार्तिक ने कल्प (श्रौत यज्ञो की विधि-क्रिया) एव कल्पसूत्रो मे अन्तर प्रकट किया है और नाम लेकर आठ की सख्या बतायी है ।

कुमारिल ने पू० मी० सू० के इन (१।३।११-१४) सूत्रो की व्याख्या कई प्रकार से की है, प्रथमत कल्पसूत्रो की प्रामाणिकता की ओर सकेत करके (जैसा कि शबर ने किया है), द्वितीयत सभी वेदागो के सदर्भ मे, तथा तृतीयत बुद्ध तथा अन्य लोगो की स्मृतियो की ओर सकेत करके । बौद्ध ग्रन्थो ने अपने को स्मृति कहा है, जैसा कि मनुस्मृति (१२।६५) से प्रकट है[७३] 'वे स्मृतियाँ जो वेद के बाहर है, तथा जो अन्य भ्रामक सिद्धान्त हैं, वे सभी निष्फल हैं, क्योकि वे तम से आवृत (तमोमूल) हैं, अर्थात् अज्ञान से परिपूर्ण है।' अब हम यहाँ कुमारिल के मतानुसार वेदागो के विषय मे कुछ बाते कहेगे। शबर एव कुमारिल के अनुसार व्याकरण का निरूपण जैमिनि के १।३।२४-२६ सूत्रो मे हुआ है । तन्त्रवार्तिक मे कुमारिल ने स्वय पाणिनि, कात्यायन (वार्तिक के लेखक) एव पतञ्जलि (महाभाष्य के लेखक) के विरुद्ध बहुत-सी बाते कही है, जिनमे कुछ अति मनोरजक है, किन्तु हम यहाँ पर स्थानाभाव के कारण उनका उल्लेख नही कर सकेगे । कुमारिल का कथन है कि व्याकरण का सम्यक् विषय है यह निश्चित करना कि कौन-से शब्द शुद्ध है और कौन से अशुद्ध । यह मनोरजक ढग से द्रष्टव्य है कि व्याकरण के विरोध मे पूर्वमीमासासूत्र के दो सूत्र अति कटु है (८।१।१८ एव ६।३।१८) ।

यास्क का निरुक्त, जो वेद के ६ अगो मे एक है, एक विशाल ग्रन्थ है और उसमे शब्दो की व्युत्पत्ति, भाषा-उत्पत्ति-शास्त्र तथा वेदो के सैकडो मन्त्रो की व्याख्याएँ पायी जाती हैं। जैमिनि को निरुक्त के कतिपय निष्कर्ष मान्य है । निरुक्त का कथन है कि बिना इसकी सहायता के वेद का अर्थ नही जाना जा सकता । इसका अपना एक विशिष्ट उद्देश्य है, यह व्याकरण का पूरक है । निरुक्त ने विस्तार के साथ कौत्स के इस मत का खण्डन किया है कि वैदिक मन्त्रो का कोई अर्थ (या उद्देश्य) नही है और बल देकर कहा है कि वेद के मन्त्रो का अर्थ या उद्देश्य है, क्योकि उनके शब्द वही हे जो बातचीत मे प्रयुक्त होते है और ब्राह्मण-वचन

७२ के पुन कल्पा कानि सूत्राणि उच्यन्ते। सिद्धरूप प्रयोगो य कर्मणामनुगम्यते । ते कल्पा लक्षणार्थानि सूत्राणीति प्रचक्षते ।। कल्पनाद्धि प्रयोगाणा कल्पोऽनुष्ठानसाधनम् । सूत्र तु सूचनात्तेषा स्वय कल्प्यप्रयोगकम् ।। कल्पा पठितसिद्धा हि प्रयोगाणा प्रतिक्रतु। तन्त्रवार्तिक (१।३।११ पर, प्रयोगशास्त्रमिति चेत्), पृ० २२६ । प्रमुख अन्तर यह है कि प्रत्येक वैदिक यज्ञ के लिए कल्प केवल विधि की व्यवस्था बताते या रखते हे जो ज्यो-की-त्यो मौखिक रूप से चली जाती हे, किन्तु कल्पसूत्रो मे, यथा आश्वलायन, बैजवापि, द्राह्यायण, लाट्यायन एव कात्यायन मे सज्ञाएँ, परिभाषाएँ, सामान्य नियम, अपवाद, व्याख्याएँ आदि पायी जाती हे ।

७३ या वेदबाह्या स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टय । सर्वास्ता निष्फला ज्ञेयास्तमोमूला हि ता स्मृता ।। मनुस्मृति (१२।६५) ।

२२

के अनुसार जब ऋक्-पद्य या यजुस्-विधि सम्पादित होते हुए कृत्य की ओर सकेत करती है तो यज्ञ को पूर्ण रूप प्राप्त होता हे। जैमिनि (१।२।४ एव १।३।३०) का कथन हे कि मन्त्र अर्थयुक्त हें ओर वैदिक शब्द तथा सस्कृत के प्रचलित शब्द वही हे और उनके द्वारा निर्देशित शब्द भी एक-से है (उन उदाहरणो को छोडकर जिनमे वैदिक अक्षरो पर स्वर-भेद या दवाव डालने से अन्तर पड गया हे)। शबर के भाष्य का प्रथम वाक्य भी यही कहता हे। जैमिनि ने क्रियाओ एव सज्ञाओ के सकेतो के विषय मे निरुक्त की बात मान ली है। शबर ने बहुधा निरुक्त के शब्दो को उद्धृत किया हे या स्पष्ट रूप से उनकी ओर सकेत किया है। यज्ञो मे देवताओ के स्वभाव एव कार्यो के विषय मे जैमिनि ने निरुक्त की बात को मान्यता दी है।

कुमारिल ने एक सामान्य टिप्पणी की है कि सभी वेदाग एव धर्मशास्त्र स्मृति के अन्तर्गत आ जाते है।[७४]

ऐसा प्रतीत होता हे कि जैमिनि ने स्मृतियो को कोई विशेष महत्ता नही प्रदान की है, क्योकि ६१५ (या १०००) अधिकरणो मे केवल लगभग एक दर्जन बार स्मृतियो की ओर सकेत मिलता है, यथा १।३।१-२, १।३।३-४, १।३।११-१४, १।३।२४-२६, ६।२।२१-२२, ६।२।३०, ६।८।२३-२४, ७।१।१०, ६।२।१-२, १२।४।४३। किन्तु शबर ने इससे अधिक बार स्मृतियो की ओर सकेत किया है, यथा—६।१।५ एव १३, ६। १।६-६।

हमारा सम्बन्ध यहाँ पर जैमिनि एव शबर तथा कुमारिल जैसे आरम्भिक टीकाकारो के स्मृति विषयक सकेतो से है। जैमिनि की स्थापित धारणा यह है कि वेद एव स्मृति के विरोध मे स्मृति को छोड देना चाहिए और यदि कोई विरोध न हो तो ऐसा समझा जाना चाहिए कि स्मृति वैदिक वचन पर आधृत है। इससे यह कहा जा सकता हे कि यदि स्मृतियो की व्यवस्थाएँ वेद के विरोध मे नही पडती तो वे वेद पर आधारित है। स्मृतियो ने अष्टका श्राद्धो, जलाशयो के उत्खनन, गुरु की आज्ञाओ के पालन के लिए व्यवस्थाएँ दी है। ये बाते प्रामाणिक हे, क्योकि ये किसी वैदिक वचन के विरोध मे नही पडती। स्वय स्मृतियो ने ऐसा कहा है कि वे वेद पर आधारित है। देखिए गौतम (११।१९) और मनु (२।७) मे आया है—'मनु द्वारा किसी व्यक्ति के लिए जो धर्म उद्घोषित हुआ है, वह वेद मे (बहुत पहले) ही कहा जा चुका है, क्योकि वेद मे सभी ज्ञान है।'

स्मृतियो एव व्यवहारो के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है, यथा—यदि स्मृतियो एव शिष्टो के आचारो एव व्यवहारो मे विरोध हो तो किसे प्रमाण माना जाय ? कुमारिल का कथन है कि यदि शिष्टो के व्यवहार वेद एव स्मृति मे आज्ञापित बात के विरोध मे न पडे तो उन्हे प्रामाणिक मानना चाहिए, किन्तु यदि वेद, स्मृति एव शिष्टाचार मे विरोध हो तो उनकी प्रामाणिकता समाप्त हो जायेगी।[७५] कुमारिल ने आगे कहा है कि स्मृति शिष्टाचार से अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक है क्योकि वह सीधे ढग से वेद पर आधारित हे, किन्तु व्यवहारो के विषय मे ऐसा अनुमान लगाना पडेगा कि शिष्टो ने अपने आचार को किसी स्मृति

७४ स्मृतित्व त्वङ्गाना धर्मसूत्राणा चाविशिष्टम्। तन्त्रवार्तिक (पृ० २८५, १।३।२७ पर)।

७५ शिष्टं यावच्छ्रुतिस्मृत्योस्तेन यन्न विरुध्यते। तच्छिष्टाचरण धर्मे प्रमाणत्वेन गम्यते॥ यदि शिष्टस्य कोप स्याद्विरुध्येत प्रमाणता। तदकोपात्तु नाचारप्रमाणत्व विरुध्यते॥ तन्त्रवार्तिक (१।३।८ पर, पृ० २१६), पुन पृ० २२० पर ऐसा आया हे 'उभयो श्रुतिमूलत्व न स्मृत्याचारयो समम्। सप्रत्ययप्रणीता हि स्मृति सोपनिबन्धना॥ तथा श्रुत्यनुमान हि निर्विघ्नमुपजायते। आचारात्तु स्मृति ज्ञात्वा श्रुतिर्विज्ञायते तत। तेन द्व्यन्तरित तस्य प्रामाण्य विप्रकृष्यते॥' 'प्रत्यय' का अर्थ है 'ज्ञान विश्वासो वा' (यथा, मनु आदि ऋषि हैं)।

पर आधृत रखा होगा, जो (स्मृति) स्वय किसी वेद-वचन पर अवश्य आधृत रही होगी, अर्थात् व्यवहार स्मृतियो की अपेक्षा वेद से एक सीढी पीछे है। इतना ही नही, यह विदित है कि स्मृतिया ऐसे लोगो द्वारा प्रणीत हुई हैं जो वेदज्ञ थे। किन्तु व्यवहारो एव आचारो के मूल सदिग्ध एव अनिश्चित है।

यद्यपि यह एक सैद्धान्तिक नियम है, जो वसिष्ठ (१।५), मिताक्षरा (याज्ञ० १।७ एव २।११७), कुल्लूक (मनु २।१०) जैसे धर्मशास्त्र ग्रन्थो तथा ग्रन्थकारो द्वारा मान्य रहा है, तथापि अति प्राचीन काल मे ही स्मृतियो के विरोध मे आचार (व्यवहार) प्रचलित रहे है (यथा—मामा की पुत्री से विवाह-कर्म मनु एव अन्य प्रामाणिक स्मृतियो द्वारा तिरस्कृत था)। व्यवहारमयूख (पृ० ९८) का ऐसा कथन है कि पुराणो मे कुछ ऐसे आचार आते है जो स्मृति विरोधी है। कचहरियो ने ऐसा निर्णय किया है कि परम्परा से चला आया हुआ आचार सर्वोत्तम कानून (व्यवहार) है (आचार परमो धर्म, मनु १।१०८, जैसा कि सर विलियम जोस ने अनूदित किया है)। मनु (२।१०) का कथन है कि वेद एव स्मृति को सभी बातो के लिए तर्क पर नही कसना चाहिए, क्योकि धर्म दोनो से निकल कर प्रकाशित हुआ है। मनु ने पुन कहा है कि उन विषयो मे जहाँ विशिष्ट व्यवस्थाएँ नही है, वे ब्राह्मण, जिन्होने वेदागो, मीमासा, पुराणो आदि सहायक शास्त्रो के साथ वेद का अध्ययन किया है, जो कुछ कहते है वही धर्म है।

प्रिवी कौसिल द्वारा ऐसी घोषणा की गयी है कि 'हिन्दू कानून के अन्तर्गत व्यवहार या आचार द्वारा स्थापित साक्ष्य लिखित कानून से बढकर है। अति प्राचीन काल से लोक-रीतियाँ (प्रयोग या प्रचलित व्यवहार) एव आचार प्रामाणिक माने गये है। यथा गौतम (११।२०) मे आया है—'देशो, जातियो एव कुलो के व्यवहार प्रमाण है, जब कि वे वैदिक वचनो के विरोध मे नही पडते है।' मनु (१।११८) का कथन है कि उन्होने अपने शास्त्र मे देशो, जातियो, कुलो, पाषण्डो एव सघो की परम्परागत रीतियो एव आचारो का समावेश किया है। कुछ विषयो मे आधुनिक विधायिका सस्था लोकरीतियो एव परम्परानुगत व्यवहारो को सर्वोच्च प्रामाणिकता प्रदान करती है।

कुछ कलिवर्ज्यो की समीक्षा मे ऊपर हमने देख लिया है कि किस प्रकार बहुत से कृत्य, जो कलिवर्ज्य-सम्बन्धी ग्रन्थो मे वर्जित हैं, वैदिक कालो मे प्रयुक्त होते थे या वैदिक वचनो द्वारा व्यवस्थित थे।

कुमारिल ने स्पष्ट किया है कि अहिच्छत्र एव मथुरा की ब्राह्मण-नारियाँ भी, उनके समय मे, सुरापान करती है,[७६] उत्तर भारत के ब्राह्मण अयाल वाले घोडो (नील गाय), खच्चरो, ऊँटो, दो पाँतो मे दाँत वाले पशुओ के विक्रय एव दान मे सलग्न रहते है और अपनी पत्नियो, बच्चो एव मित्रो के साथ एक ही पात्र मे खाते है, दक्षिणी ब्राह्मण मामा की पुत्री से विवाह करते है और वैदल (सींक या खमाची से बनी मचिया या मोढा) पर बैठकर भोजन करते है, दोनो (उत्तरी एव दक्षिणी ब्राह्मण) मित्रो या सम्बन्धियो द्वारा खा लेने पर (पात्रो मे रखा) या उनसे (खाते समय) छुआ हुआ पका भोजन खा लेते है, वे तमोली (पान वाले) की दूकान पर पान के पत्ते,

७६ तन्त्रवार्तिक के इस कथन के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८४८ (पाद-टिप्पणी १६४५), मामा की पुत्री के विवाह के विषय मे विभिन्न मतो के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ४५८-४६३, एक ही पात्र मे पत्नी एव बच्चो के साथ भोजन करने के विषय मे देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ७६५। घोडो एव ऐसे पशुओ के दान के विषय मे, जिनके दाँत दो पक्तियो मे होते हैं, देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० १८१ एव जैमिनि (३।४।२८-३१)।

सुपारी, कत्था को एक मे मोडकर खा लेते है, पान खाने के अन्त मे आचमन नही करते है, धोबियो द्वारा धोये गये एव गदहो पर लाये गये कपडो को पहनते है, महापातकियो के सस्पर्श का परित्याग नही करते, व्यक्ति, जाति, कुल के लिए व्यवस्थित धर्म की सूक्ष्म आज्ञाओ के स्पष्ट विरोध मे जाने वाले बहुत-से प्रमाण मिलते है जो श्रुति एव स्मृति के सर्वथा प्रतिकूल है और उनके पीछे दृष्ट अर्थ है तथा इस प्रकार की अशुद्ध (मिश्रित) रीतियो एव व्यवहारो को सदाचार द्वारा व्यवस्थित धर्म कहना सम्भव नही है। पूर्वमीमासा-सम्प्रदाय के मतानुसार वैधानिक आचारो के लिए निम्नलिखित बाते अत्यावश्यक है, यथा—उन्हे प्राचीन अवश्य होना चाहिए, उन्हे श्रुति या स्मृति के स्पष्ट वचनो के विरोध मे नही होना चाहिए, उनके पीछे शिष्टो की मान्यता होनी चाहिए, उनका पालन अन्त करण से होना चाहिए, उनके पीछे कोई दृष्टार्थ नही होना चाहिए और न उन्हे अनैतिक होना चाहिए। देखिए इस विषय के विस्तृत निरूपण के लिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८५३–८५५।

आचारो एव व्यवहारो अथवा लोक-रीतियो की मान्यता के विषय मे धर्मशास्त्र के ग्रन्थो ने जो सामान्य नियम बनाये है वे पूर्वमीमासा के नियमो की पद्धति पर ही है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८७१–८८४। किन्तु वैदिक वचनो एव स्मृतियो से क्रमश विचलन होता रहा, जैसा कि हमने ऊपर देख लिया है।

कुमारिल के मतानुसार महान् पुरुषो द्वारा किये गये सभी कर्म सदाचार नही कहे जा सकते, विशेषत वे कर्म जो लोभवश किये गये हो या किसी क्षुद्र वृत्ति के वशीभूत होकर किये गये हो, ऐसे कर्मो को धर्म की सज्ञा नही दी जानी चाहिए। गौतम,[७७] आप० ध० सू० एव भागवत-पुराण का कथन है कि महान् व्यक्ति भी साहस एव धर्मव्यतिक्रम करते पाये गये है। किन्तु वे महान् तपो से युक्त होने के कारण पाप के भागी नही हो सके (वे व्यतिक्रमो के प्रभावो से मुक्त हो गये), किन्तु पश्चात्कालीन लोग उन उदाहरणो का पालन करते हुए और उसी मार्ग पर चलते हुए पाप के भागी हो जाते है। कुमारिल ने इस प्रकार के बारह दोषो का उल्लेख किया है, उनकी व्याख्या की है और कहा है कि इनके मूल मे क्रोध या अन्य वासनाएँ है, उन दोषपूर्ण कर्मो के कर्ता उन्हे धर्म की सज्ञा नही देते और न आधुनिक काल के लोग ऐसे कर्मो को सदाचार ही मानते। ये बारह उदाहरण इस प्रकार है—**प्रजापति** जिन्होने स्वय अपनी पुत्री (उषा, जैसा कि कुमारिल ने व्याख्या की है) को कामुक दृष्टि से देखा, **इन्द्र** जो अहल्या के जार (उपपति, प्रेमी) के रूप मे उल्लिखित है (कुमारिल की व्याख्या के अनुसार अहल्या 'रात्रि' का द्योतक है), **वसिष्ठ** ने राक्षस द्वारा अपने सौ पुत्रो की हत्या के उपरान्त आत्महत्या करनी चाही, **विश्वामित्र** ने उस त्रिशकु का पौरोहित्य किया, जो शाप से चाण्डाल हो गया था, **नहुष**, जिसने इन्द्र की स्थिति प्राप्त करने पर, इन्द्र की पत्नी शची को प्राप्त करना चाहा और अजगर बना डाला गया, **पुरूरवा**, जो उर्वशी से बिछुड जाने पर मर जाना चाहता था (फाँसी लगाकर या लटक कर), **कृष्ण-द्वैपायन**, जिन्होने ब्रह्मचारी रहकर भी अपने सहोदर भाई विचित्रवीर्य की विधवाओ से पुत्र उत्पन्न किये, **भीष्म**, जिन्होने अविवाहित रहने पर भी अश्वमेध यज्ञ किये, **धृतराष्ट्र**, जिन्होने जन्मान्ध होने पर भी ऐसे यज्ञ किये,

७७ दृष्टो धर्मव्यतिक्रम साहस च महताम्। अवरदौर्बल्यात्। गौतम (१।३-४), दृष्टो धर्मव्यतिक्रम साहस च पूर्वेषाम्। तेषा तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते। तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जान सीदत्यवर। आप० ध० सू० (२।६।१३।७-९), देखिए भागवत (१०, पूर्वार्ध ३३।३०) धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणा च साहसम्। तेजीयसा न दोषाय वह्ने सर्वभुजो यथा। मनु० (६।७१) का कथन है कि प्राणायाम एव अन्य प्रयोगो से इन्द्रियो एव मन की अशुद्धता दूर हो जाती है॥

जिन्हे अन्धे लोग नियमानुकूल नही कर सकते (जैमिनि, ६।१।४२), पाँचो पाण्डवो ने एक ही नारी (द्रौपदी) से विवाह किया, युधिष्ठिर ने वाक्यछल से अपने गुरु द्रोण की मृत्यु करायी, कृष्ण एव अर्जुन महाभारत मे मद्य पिये हुए वर्णित है (उभौ मध्वासवक्षीवौ दृष्टौ मे केशवार्जुनौ, उद्योगपर्व ५९।५) और उन्होंने अपने मामा की पुत्रियो से विवाह किया था, राम ने सीता की स्वर्ण-प्रतिमा बनाकर अश्वमेध यज्ञ किया था ।

कुमारिल ने इन कतिपय दोषो के मार्जन के सिलसिले मे जो तर्क दिये है वे उनकी महान् विदग्धता को प्रदर्शित करते है, कही तो उन्होने तपो की चर्चा की है (यथा, विश्वामित्र के उदाहरण मे) और कही पर उदाहरण को ही भ्रामक ठहराया है (यथा, सुभद्रा के विषय मे जो कृष्ण की बहिन कही गयी है) ।[७८] देखिए विस्तार के लिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८४५–८४८ ।

एक मनोरजक अधिकरण है होलाकाधिकरण (जैमिनि १।३।१५–२३) । ऐसा कहा गया है कि होलाका का प्रयोग पूर्वदेशीय लोगो द्वारा, आह्नीनैबुक का दाक्षिणात्यो तथा उद्वृषभयज्ञ का प्रयोग उत्तर वालो द्वारा होना चाहिए। स्थापित निष्कर्ष तो यह है कि इस प्रकार के अनुष्ठान या कृत्य सभी के लिए है (केवल पूर्व या दक्षिण या उत्तर वालो के ही लिए नही) , यदि वे पूर्व वालो या दक्षिण वालो के लिए उपयुक्त है तो कोई तर्क नही है कि वे उत्तर वालो के लिए उपयुक्त नही है। वैदिक विधियो के विषय मे सामान्य नियम यह है कि वे सभी आर्यों द्वारा प्रयुक्त हो सकती है, इसके लिए कि उपर्युक्त अनुष्ठानो के लिए कोई नियन्त्रित वैदिक वचन है , कोई समीचीन तर्क नही दिखाई पडता। इस बात पर पूर्व विवेचन के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८५१–८५३। दायभाग (याज्ञ० २।४० एव ६।२२-२३) ने इस दृष्टान्त की ओर सकेत किया है।

धर्मशास्त्र के लेखको द्वारा होलाकाधिकरण-न्याय का बहुधा उल्लेख हुआ है। विश्वरूप (याज्ञ० १।५३) ने सिद्धान्तसूत्र को उद्धृत किया है—'अपि वासर्वधर्म तन्न्यायत्वाद् विधानस्य' (जैमिनि १।३।१६) और यह जोडा है कि यदि कोई बात कुछ लोगो के लिए उपयुक्त मानी जाती है तो वह सभी लोगो के लिए उपयुक्त है। इस अधिकरण के वास्तविक अर्थ के विषय मे मध्यकालीन लेखको मे मतैक्य नही है । दायभाग (याज्ञ० २।४२) मे आया है कि पूर्वदेश के लोगो द्वारा होलाका के प्रयोग से जिस श्रुति की ओर सकेत मिलता है वह मात्र 'सामान्य श्रुति' है कि होलिका कृत्य किये जाने चाहिए। दूसरी ओर शूलपाणि के प्रायश्चित्त विवेक की टीका मे गोविन्दानन्द ने कहा है कि होलाकाधिकरण से इतना ही पता चलता है कि इस व्यवहार (प्रयोग) से यह श्रुति प्रकट होती है कि 'प्राच्य लोगो को होलाका का प्रयोग करना चाहिए', किन्तु यह सामान्य रूप मे यो है—'किसी देश का आचार उस देश के लोगो द्वारा पालित होना चाहिए' ।[७९]

७८ आदिपर्व (२१९।१८, चित्राव सस्करण २१९।१८) ने सुभद्रा के विषय मे स्पष्ट कहा है—'दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा ।' खण्डदेव के मीमासाकौस्तुभ मे आया है 'एवमर्जुनस्य मातुलकन्यकाया सुभद्राया परिणयेऽपि सुभद्राया वसुदेवकन्यात्वस्य साक्षात् क्वचिदप्यश्रवणात् ।' (पृ० ४८, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, १९२४) । यह एक ऐसा उदाहरण है जो इस बात का द्योतक है कि कभी-कभी कट्टर सस्कृत-लेखक अपने सिद्धान्तो की रक्षा मे कुछ विचित्र बातो का आश्रय ले बैठते है ।

७९ तस्माद्यस्मादेवाचारात् स्मृतिवाक्याद्वा या श्रुतिरवश्य कल्पनीया तयैव तद्गतस्याचारांशस्य स्मृतिपदस्य चोपपत्तेर्न तत्राधिककल्पनेति होलाकाधिकरणस्यार्थ । दायभाग (२।४२), प्राच्यैर्होलाका कर्तव्येति विशेषश्रुतिर्न कल्प्यते किं तु देशधर्म कर्तव्य इति सामान्यत एव, अन्यथा देशान्तरे आचारान्तरात् श्रुत्यन्तरकल्पनागौरव स्यादिति होलाकाधिकरणन्याय । तत्त्वार्थकौमुदी (प्रायश्चित्तविवेक, पृ० १४२)।

अध्याय ३०

धर्मशास्त्र से सम्बन्धित मीमासासिद्धान्त एवं व्याख्या के नियम

वैदिक वाक्यो (वचनो, वक्तव्यो अथवा मूलपक्तियो) की व्याख्या के लिए पूर्वमीमासा ने अपनी एक विशिष्ट पद्धति एव सिद्धान्तो का उद्भव किया है। अब हम उन सिद्धान्तो एव नियमो का उल्लेख करेंगे, उनकी व्याख्या उपस्थित करेंगे और यह देखेंगे कि धर्मशास्त्र के लेखको ने अपनी समस्याओ के समाधान के लिए किस प्रकार उनका प्रयोग किया है।

मीमासा-सिद्धान्त और व्याख्या के नियम कई दलो मे विभाजित है। कुछ ऐसे नियम हे जो केवल वैदिक यज्ञो एव उनके पारस्परिक सम्बन्धो के विस्तारो से सम्बन्धित है। इस क्षेत्र मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि केवल **विधियाँ** ही प्रामाणिक होती है और उन्ही को मान्यता की शक्ति प्राप्त है, **अर्थवाद** वही तक प्रमाण है जहाँ वे विधियो के साथ एक पूर्ण वाक्य-रचना प्रदान करते है तथा विधियो की प्रशसा मे प्रयुक्त होते है (पू० मी० सू० १।२।७)। विधियाँ एव अर्थवाद क्रमानुगत विवेचित नही है, प्रत्युत वे पू० मी० सू० के कतिपय अध्यायो मे विकीर्ण है। उदाहरणार्थ, अर्थवादो का वर्णन प्रथमत १।२।१-१८ (अर्थवादाधिकरण) मे हुआ है, किन्तु बहुत-से अन्य स्थानो मे उनके विषय मे विवेचन हुआ हे, यथा—३।४।१-६, ३।४।१०, ३।४।११, ४।३।१-३, ६।७।२६-२७, १०।८।५, १०।८।७ एव ८ मे।

यह बात नही भूलनी चाहिए कि मीमासा का सम्बन्ध किसी राजा या किसी सार्वभौम लोकनीतिक सभा द्वारा स्थापित विधान से नही है। यह धर्म (अर्थात् धार्मिक कृत्य एव उनसे सम्बन्धित विषय) का सम्यक् ज्ञान देने की बात करती है और ज्ञान की प्राप्ति का साधन स्वय वेद है तथा मीमासा का प्रमुख उद्देश्य है वैदिक यज्ञो की प्रक्रिया (इतिकर्तव्यता) तथा उसके कतिपय सहायक एव मुख्य विषयो को व्यवस्थित करना।[1]

नियम-व्यवस्था की व्याख्या एव व्याख्या के मीमासा-नियमो के बीच बहुत बडा अन्तर पाया जाता है। प्रथम बात यह है कि नियम तो मनुष्य-कृत होते हे, वे नियामक या व्यवस्थापक की इच्छा को प्रकट करते हे, उनके उद्देश्य अधिकाश मे सासारिक अथवा व्यावहारिक होते है, उनका सुधार हो सकता है या वे विलुप्त किये जा सकते है और अपने कर्ता के आशय के अनुसार व्याख्यायित हो सकते है। किन्तु मीमासा का सम्बन्ध वेद

१ धर्मे प्रमीयमाणे तु वेदेन कारणात्मना। इतिकर्त्तव्यताभाग मीमासा पूरयिष्यति ॥ शास्त्रदीपिका पर युक्तिस्नेहप्रपूरणी (पृ० ३६, देवनाथ की अधिकरणकौमुदी (पृ० ३) एव तन्त्ररहस्य द्वारा उद्धृत। स्वय पू० मी० सू० (३।३।११) मे 'इतिकर्त्तव्यता' शब्द आया है (असयुक्त प्रकरणादितिकर्त्तव्यतार्थित्वात्)। इसके पूर्ववर्ती सूत्र (भूयस्त्वेनोभयश्रुति) पर शबर ने टिप्पणी की है—'ये च भूया सो गुणा सेतिकर्तव्यता)' तथा पू० मी० स० (११।२।८, अङ्गानि तु विधानत्वात्प्रधानेनोपदिश्येरस्तस्मात्स्यादेकदेशत्वम्) पर शबर ने व्याख्या की हे 'विधान कल्प इतिकर्त्तव्यतेत्यर्थ।'

से हे जो नित्य है, स्वयम्भू हे, जो धार्मिक विषयो की विवेचना करता हे, जिसका सुधार नही हो सकता और न जो विलुप्त हो सकता है और जो वैदिक शब्दो के आशय के अनुसार ही व्याख्यायित होता है। अत यद्यपि पूर्व-मीमासा द्वारा विकसित वैदिक वचनो की व्याख्या के कुछ नियम मैक्सवेल के 'इण्टर प्रेटेशन आव स्टैच्यूट्स' जैसे ग्रन्थो मे विकसित नियम-व्यवस्थाओ की व्याख्या के नियमो से मिलते-जुलते ह। तथापि प्रस्तुत लेखक विस्तार के साथ इस विवेचन मे नही पडेगा और न मीमासा-नियमो तथा मैक्सवेल के नियमो की समानता के प्रदर्शन मे लगेगा। आज से लगभग ५५ वर्ष पूर्व सन् १६०६ मे 'टैगोर लॉ लेक्चर्स' मे श्री किशोरी लाल सरकार ने इस प्रकार का कार्य किया था। उन दिनो आधुनिक विद्वानो द्वारा मीमासा का अध्ययन अपनी आरम्भिक अवस्था मे था, अत अपने पूर्ववर्ती लेखक की मान्यताओ के विरोध मे कुछ कहना उचित नही होगा। किन्तु इतना कहे विना रहा नही जाता कि उस विद्वान् ने भरसक यही कहने का प्रयत्न किया कि जैमिनि के व्याख्या-सम्बन्धी नियम किसी भी प्रकार मैक्सवेल द्वारा स्थापित नियमो से हेय नही ह और दोनो मे बहुत साम्य हे। ऐसा करने के लिए श्री सरकार बहुत खीचातानी करते हे और जटिल व्याख्याएँ उपस्थित करते ह। कही-कही तो ऐसा प्रकट होता हे कि उन्होने जैमिनि एव शबर को ठीक से समझा भी नही है।[2]

इस ग्रन्थ मे हमारा सम्बन्ध केवल पूर्वमीमासा के उन सिद्धान्तो एव व्याख्या-सम्बन्धी उन नियमो से है जो धर्मशास्त्र को प्रभावित करते है। हमने यह बहुत पहले देख लिया हे कि मीमासा के कितने सिद्धान्त एव कितनी पारिभाषिक अभिव्यक्तियाँ धर्मशास्त्र को प्रभावित करती है। अब हम व्याख्या के नियमो का विवेचन उपस्थित करेंगे।

प्रथम नियम यह है कि वेद का कोई भी भाग (यहाँ तक कि एक शब्द भी) **अनर्थक** (अर्थहीन या उद्देश्य-हीन) नही है। इसी से वेद का अधिकाश विधियो की प्रशसा मे अर्थवाद के रूप मे विवेचित हुआ है। यह बात ऊपर कही जा चुकी है (गत अध्याय)। पू० मी० सू० मे विधियो को अति समान दिये जाने के फलस्वरूप तथा अर्थवादो (जो केवल प्रशसा के निमित्त आते है) और मन्त्रो (केवल अभिधायक के रूप मे) को गौण रूप देने के कारण ब्राह्मणग्रन्थो का थोडा-सा अश परमोच्च प्रमाण वाला को गया हे, जब कि ब्राह्मणो एव सहिताओ का बहुलाश, जिसमे मन्त्र सगृहीत है, गौण महत्ता वाला रह गया है या कुछ भी महत्तापूर्ण नही रह पाया है।

विभिन्न दृष्टिकोणो से व्याख्या-सम्बन्धी मीमासा-नियम कई श्रेणियो मे विभाजित हो जाते है। कुछ तो सामान्य है और कुछ विशिष्ट। जब बहुत-से मूल वचन एक ही विषय से सम्बन्धित बातो की व्यवस्था करते हुए एक-दूसरे के विरोध मे पड जाते है और श्रुति, लिग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एव समाख्या (३।३।१४) के प्रयोग को साधन मान लेते है तो कुछ नियमो को विशिष्ट विधि से सलग्न हो जाना पडता हे, तथा कुछ नियम ऐसे ह जिनका सम्बन्ध अधिकार, अतिदेश, ऊह, बाध, तन्त्र एव प्रसग से रहता हे।

सामान्य नियमो के कुछ उदाहरण दिये जा रहे ह। केवल विधियाँ ही विशिष्ट आवश्यक प्रमाण वाली होती ह तथा अर्थवाद तभी प्रामाणिक होते हे जब विधियो के साथ वाक्य-रचना की पूर्णता घोषित करते है। यह एक सामान्य नियम है। विधियो, नियम-विधियो एव परिसख्या-विधि के अन्तर को प्रदर्शित करने वाले नियम सामान्य होते ह।

२ इस विषय मे देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८४१-८४२।

मीमासा-नियम ऐसा है कि जव किसी वचन के किसी अश के अर्थ के विपय मे कोई सन्देह हो तो उस वचन के शेष भागो पर निर्भर रहकर उसका निराकरण किया जाता है।[3] देखिए तै० ब्रा० (३।२।५।१२) वाला उदाहरण, यथा—'अक्ता शर्करा उपदधाति, तेजो वै घृतम्।' 'वह लेपित ककड रखता हे, वास्तव मे घी दीप्तिमान् है।' किस वस्तु से ककड पर लेप लगाया जाता है? इस सन्देह का निराकरण वाक्य के शेप अग से हो जाता हे, वह घी हे, जिससे ककड पर लेप लगाया जाता है (पू० मी० सू० १।४।२४)। मीमासा वैदिक वचनो मे मतभेद (या विरोध) उठाने का घोर विरोध करती है, इसी से जब कोई और चारा नही रह जाता तभी वह विकल्प की अनुमति प्रदान करती है। देखिए गत अध्याय मे विकल्प-सम्वन्धी विवेचन। एक दूसरा सामान्य नियम यह है कि एकवचन मे वहुवचन सन्निहित रहता है। मीमासा मे इसे 'ग्रहैकत्वन्याय' (पू० मी० सू० ३।१।१३-१५) कहा जाता है। ज्योतिष्टोम यज्ञ मे देवताओ को सोम से पूर्ण कतिपय ग्रह (पात्र या कटोरे या प्याले) दिये जाते हैं और तीन सवनो (प्रात, मध्याह्न, साय सोम से रस निकालने) पर पिये जाते है। श्रुति मे आया है—'दशापवित्रेण ग्रह सम्मार्ष्टि' अर्थात् सफेद ऊन से वने झाडन से या शोधनी से वह ग्रह को पोछता है (स्वच्छ करता है)।' दर्श-पूर्णमास मे ऐसा कहा गया है—'वह पुरोडाश (परोठा या रोट या रोटी) के चतुर्दिक् एक अग्निकाष्ठ या अगार या मशाल (उल्का) ले जाता है।' अव प्रश्न यह है कि क्या एक ही ग्रह (क्योकि 'ग्रह' शव्द आया है) स्वच्छ करना है तथा क्या एक ही पुरोडाश के चारो ओर मशाल ले जाना है या कई ग्रहो तथा पुरोडाशो से मतलब है? स्थापित निष्कर्ष तो यह है कि सभी पात्रो (प्यालो) को स्वच्छ करना है तथा सभी पुरोडाशो के चतुर्दिक् अगार घुमाना है। यहाँ एकवचन पर ही नही आरूढ रहना है।[4] इसी से कुमारिल तथा अन्य लोगो द्वारा एक सामान्य नियम निकाला गया है कि **अनुवाद्य या उद्दिश्यमान** के विशेषण की ओर, जिसके विषय मे पहले से ही कुछ (विधेय) कहा जाता है, सकेत नही किया जाता और न उस पर आरूढ रहा जाता है।[5] धर्मशास्त्र ग्रन्थो मे इस वात पर निर्भर रहा जाता है। याज्ञ० (२।१२१) मे आया है कि पितामह द्वारा प्राप्त भूमि, सम्पत्ति (चाँदी, सोना आदि) आदि पर पिता एव पुत्र का बराबर भाग होता है। यहाँ 'पितामह' शव्द पर ही नही आरूढ रहना है, वही नियम प्रपितामह द्वारा प्राप्त भूमि एव सम्पत्ति पर भी लागू होता है, जैसा कि व्यवहारमयूख मे आया है।[6] इसी प्रकार नारद-स्मृति (१६।३७) मे आया है—'अपृथक् भाइयो की धार्मिक पूजा (क्रिया-कर्म) समान

३ सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्। पू० मी० सू० (१।४।२४)। विपयवाक्य यह है—'अक्ता शर्करा उपदधाति तेजो वै घृतम्' (तै० ब्रा० ३।२।५।१२)। मिलाइए मैक्सवेल (पृ० २९), 'प्रत्येक वाक्य के शब्दो की व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिए कि वे अन्य व्यवस्थाओ की सगति मे बैठ जायें।'

४ देखिए मैक्सवेल (१९५३ का १०वाँ सस्करण), पृ० ३४९ जहाँ पुल्लिग शव्दो मे स्त्रीलिग तथा एक-वचन मे वहुवचन तथा इनके विपरीत रूप की ओर निर्देश है।

५ ३।४।२२ पर टुप्टीका की टिप्पणी इस प्रकार है—'उद्दिश्यमानस्य विशेषणमविवक्षितमिति स्थितमेव' एव १०।३।३९ पर टिप्पणी यो है—'उद्दिश्यमानस्य च सख्या न विवक्ष्यते ग्रहस्येव।'

६ व्यवहारमयूख मे आया है—'वस्तुतस्तु पितामहपदमविवक्षितम्। अन्यथा प्रपितामहाद्युपात्ते सदृशस्वाम्यभावप्रसक्ते। अनुवाद्यविशेषणत्वाच्च' (पृ० २९)। 'अनुवाद्य' का अर्थ वही है जो उद्दिश्यमान या उद्देश्य (विषय या कर्ता जिसके बारे मे कुछ अर्थात् विधेय कहा जाता है) का है। 'अत्र अविभक्ताना मित्येवोद्देश्यसमपर्कम्। भ्रातृणामिति तु तद्विशेषणत्वादविवक्षितम्' (व्य० म०, पृ० १३२)। मेधातिथि (मनु २।२९) ने कहा है—'न च

होती है, किन्तु पृथक् (विभाजित) हो जाने पर धार्मिक पूजा भी पृथक्-पृथक् होने लगती है।' यहा पर 'अपृथक् व्यक्तियो' मुख्य विषय है, एव 'भाइयो' शब्द विशेषण या उपाधि रूप मे है, जिस पर आरूढ होने की आवश्यकता नही है, अत यही नियम अलग न हुए पितामह, पिता, पुत्रो, चाचाओ एव भतीजो के विषय मे भी लागू होता है। मेधातिथि (मनु २।२९) ने इस न्याय का उल्लेख किया है। यही नियम कुछ मामलो मे (अर्थात् कहीं-कहीं) लिंग के लिए भी प्रयुक्त होता है, अर्थात् पुरुषो का द्योतक शब्द स्त्रियो को भी अपने मे सम्मिलित करता है। उदाहरणार्थ, याज्ञ० (२।१८२) एव नारद (८।४०) ने दास के विषय मे कुछ नियमो की व्यवस्था की है। व्यवहारमयूख का कथन है कि इन वचनो मे पुल्लिग (पुस्त्व) पर ही सीमित नही रहना है, नियम स्त्रिया (दासियो) के लिए भी है।[७] इन नियमो के अपवाद भी है। 'ग्रहो' (प्यालो) के विषय का नियम 'चमसो' (चमचो) के लिए प्रयुक्त नही होता है (पू० मी० सू० ३।१।१६-१७)। यह नियम कि किसी विधि मे, किसी विषय का विशेषण शाब्दिक अर्थ मे नही लिया जाना चाहिए और न उस पर बल ही दिया जाना चाहिए, अन्य बातो के लिए भी प्रयुक्त होता है। कुछ गम्भीर अभियोगो मे 'दिव्य'—सम्पादन के विषय मे कल्पतरु (व्यवहार पर, पृ० २१०-२११) एव व्यवहारमयूख (पृ० ४५-४६) ने कालिकापुराण से तीन श्लोक उद्धृत किये है और इस उक्ति (वचन या न्याय का कथन) का प्रयोग व्यवहारमयूख द्वारा इन शब्दो मे हुआ है—'परदाररूप विशेषणमविवक्षितमभिशापरयानुवाद्यत्वात्' (देखिए व्य० म०, पृ० ८३-८४)। किन्तु 'पशुमालभते' मे, जहाँ 'याग' के विषय की विधि है, ऐसा अवश्य समझा जाना चाहिए कि जो व्यवस्थित हुआ है, वह याग है जिसमे पुस (नर) पशु की बलि की व्यवस्था है, इसीलिए एक ही पशु (और वह भी नर पशु) की बलि दी जाती है।

यद्यपि वेद ने 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की इच्छा करने वाले को यज्ञ करना चाहिए) मे पुल्लिग का प्रयोग किया है, किन्तु जैमिनि (६।१।६-१६) ने व्यवस्था दी है कि यहाँ स्त्रियाँ भी सम्मिलित है और उन्हे भी याग करने का अधिकार है।[८] जैमिनि ने आगे व्यवस्था दी है कि पति एव पत्नी को एक साथ धार्मिक कर्तव्य करना चाहिए (६।१।१७-२१), किन्तु उन्होने ऐसा कह दिया है कि जहाँ श्रुति ने कुछ विषयो को केवल यजमान (पुरुषकर्ता) द्वारा किये जाने की व्यवस्था दी है, वहाँ केवल पुरुष ही वैसा करेगा, क्योकि मन्त्रो के ज्ञान मे पत्नी पति के समान नही होती और वह अज्ञानी भी होती है, इसीलिए उसको उन्ही कर्मो को करने की छूट है, जहाँ स्पष्ट रूप से व्यवस्था है, यथा—घृत की ओर देखना, ब्रह्मचर्य-पालन आदि (६।१।२४) 'तस्या यावदुक्तमाशी-

प्रधाने लिङगसख्यादि विशेषण विवक्ष्यते, ग्रह समार्ष्टीति सत्यप्येकवचने सर्वे ग्रहा समृज्यन्ते।' श्लोकवार्तिक ने उद्देश्य को यो परिभाषित किया है—'यद्वृत्तयोग प्राथम्यमित्याद्युद्देश्यलक्षणम्। तद्वृत्तमेवकारश्च स्यादुपादेयलक्षणम्॥ वदत्यर्थं स्वशक्त्या च शब्दो वक्त्रनपेक्षया॥ अनुमानपरि०, श्लोक १०९-११०।

७ अस्मिन् प्रकरणे दासपदगत पुस्त्वस्याविवक्षितत्वाद् दास्यामप्येष सर्वो विधिर्ज्ञेय। व्य० म० (पृ० २१०)। देखिए व्यवहारमयूख (वीरमित्रोदय का भाग, पृ० ३२२)। ६।१।९ पर शबर ने ('पशुमालभेत') के विषय मे टिप्पणी की है—'इद तु पशुत्व यागस्य विशेषणत्वेन श्रूयते। तत्र पशुत्वस्य यागस्य च सम्बन्धो न द्रव्ययागयो।' यथा पशुत्व याग सम्बद्धमेव पुस्त्वमेकत्व च। सोयमनेकविशेषणविशिष्टो याग श्रूयते। स यथाश्रुत्येव कर्तव्य। उपादेयत्वेन चोदितत्वात्।' पृ० १३५९।

८ तस्मात्फलार्थिनी सती स्मृतिमप्रमाणीकृत्य द्रव्य परिगृह्णीयाद्य जेत चेति। शबर (पू० मी० सू० ६।१।१३ पर)।

ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात्')।[9] पत्नी स्नान करती है और ऐसे कर्म करती है, यथा—अञ्जन लगाना, आचमन करना और जब तक प्रातःकालीन या सायंकालीन अग्निहोत्र चलता रहता है, मौन धारण करना। दर्शपूर्णमास तथा अन्य यज्ञों में उसे योक्त्र (मूँज के त्रिसूत्र) से अपनी कटि को मेखला के रूप में बाँधे रहना पड़ता है। उसे मन्त्र के साथ पात्र में घृत को देखना पड़ता है और वह मन्त्र है 'महीनां पयोऽस्योषधीनां रसोऽसि अदब्धेन त्वा चक्षुषाऽवेक्षे सुप्रजास्त्वाय' अर्थात् 'आप गौओं के दूध हैं, औषधियों के रस हैं, अच्छी सन्तान की प्राप्ति के लिए मैं निर्निमेष दृष्टि से देख रही हूँ' (तै० सं० २।१०।३)। इसके पूर्व कि पति पवित्र अग्नियों को स्थापित करे, पत्नी को अपने पिता या पति से यज्ञों में कहे जाने वाले मन्त्रों को सीख लेना चाहिए (देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० १०४१, पाद-टिप्पणी)। क्रमशः वैदिक यज्ञों में पत्नी की महत्ता समाप्त हो गयी और वह मात्र दर्शक रह गयी, वह यजमान (अपने पति) एवं पुरोहित द्वारा किये जाने वाले सभी कृत्यों को केवल घण्टों देखती रहती है।[10]

वैदिक यज्ञों के विषय में स्त्रियों के अधिकारों पर उपर्युक्त प्रतिबन्धों के रहते हुए भी स्मृतियों ने स्त्रियों के लिए कुछ नियम बना दिये हैं, किन्तु वहाँ वचन पुल्लिंग में रखा गया है। उदाहरणार्थ, मनु० (११।९३) ने व्यवस्था दी है कि किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को सुरापान नहीं करना चाहिए। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२५६) के मतानुसार यह निषेध तीन उच्च वर्णों के सदस्यों की पत्नियों के लिए भी है।

पू० मी० सू० में आया है कि विधिवाक्य में किसी शब्द के लिंग एवं वचन पर कुछ विषयों में ध्यान देना चाहिए और उस पर आरूढ़ भी होना चाहिए। उदाहरणार्थ, पू० मी० सू० (४।१।११-१६) में ऐसा स्थापित है कि ज्योतिष्टोम में बलि दिया जाने वाला अग्निषोमीय पशु एक ही है, जैसा कि 'यो दीक्षितो यद् अग्निषोमीयं पशुमालभते' (जो व्यक्ति दीक्षा ले चुका है और अग्नि एवं सोम को पशु की बलि देता है) नामक वचन से स्पष्ट है। अश्वमेध के प्रसंग में जो ये शब्द आये हैं—'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान्' (वह वसन्त ऋतु के लिए कपिञ्जलों की बलि देता है) वहाँ बलि दिये जाने वाले कपिञ्जल पक्षी केवल तीन हैं (एक या दो नहीं और न तीन से अधिक)।[11] इसी प्रकार इस उक्ति

९ तस्मात्सर्वं यजमानेन कर्तव्यम्। आहृत्य विहितं पत्न्या च। टुप्टीका (६।१।२४ पर, पृ० १३७६)।

१० कात्यायनश्रौतसूत्र (४।१३) की टीका में पद्धति की टिप्पणी यों है 'उपवेशन-व्यतिरिक्तं पत्नी किमपि न करोतीति सम्प्रदायः। तच्च साधुतरम्। विद्वत्तया पुमानेव कुर्यादविदुषीतरा। वेदाध्ययनशून्यत्वात्। प्रतिषिद्धं हि तत्स्त्रियः॥' शास्त्रदीपिका (६।१।२४)

११ 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान्' आदि, यह वाज० सं० (२४।२०) एवं मैत्रा० सं० (३।१४।१) में आया है। इसे पू० मी० सू० (११।१।३१-४६) में कपिञ्जलन्याय कहा जाता है। 'कपिञ्जलान' में बहुवचन है और कम-से-कम तीन कपिञ्जलों की व्यवस्था है। सहस्रों कपिञ्जलों की बलि से अधिक फल नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि केवल एक ही व्यवस्था दी हुई है न कि कतिपय अन्य संख्याओं की व्यवस्था। शास्त्रदीपिका में आया है 'यो हि त्रीनालभते यश्च सहस्रं तयोरुभयोरपि बहुत्वसम्पादनमविशिष्टम्। निवृत्तव्यापारे च विधौ, न हिंस्यादिति निषेधः शास्त्रं प्रवर्तते इत्यधिकानालम्भः।' इसकी ओर पराशरमाधवीय (१।२।२८१) में संकेत है, यथा 'प्राणायामैरिति बहुवचनस्य कपिञ्जलन्यायेन त्रित्वे पर्यवसानात् त्रिभिः प्राणायामैः शुध्यतीत्यर्थः।' मिलाइए पू० मी० सू० (४।१।११), 'तथा च लिंगम्' पू० मी० सू० (४।१।१७)। तै० सं० (२।१।२।५) में यह वचन है 'वसन्ते प्रातराग्नेयीं कृष्णग्रीवीं ... ग्रीष्मे मध्यन्दिने संहितामैन्द्रीं शरद्य-

मे--'वह वसन्त मे अग्नि को प्रातःकाल काली गर्दन वाला पक्षी, ग्रीष्म मे मध्याह्न (दोपहर) काल मे पाँ रगो वाला पक्षी, शरद मे बृहस्पति को श्वेत रग का पक्षी देता है, मादा पक्षी की ओर सकेत है, क्योंकि उसके उपरान्त 'वे गर्भवती हो जाती हैं' (गर्भिणायो भवन्ति) शब्द आ जाते है। धर्मशास्त्र ग्रन्थ बहुधा कहते है कि बहुत-से वचनो मे प्रयुक्त पुल्लिग शब्दो मे स्त्रियाँ सम्मिलित नही है। उदाहरणार्थ, अग्निपुराण (१७५। ५६-६१) ने सामान्य रूप से सभी व्रतो मे मान्य नियमो की चर्चा करते हुए व्यवस्था दी है कि व्रत करने वाले व्यक्ति को स्नान करना चाहिए, व्रतमूर्तियो (व्रतो वाले देवताओ की मूर्तियो) की पूजा करनी चाहिए, व्रत के उपरान्त जप एव होम करना चाहिए, और सामर्थ्य के अनुसार दान करना चाहिए तथा २४, १२, ५ या केवल ३ विप्रो को भोजन देना चाहिए। निर्णयसिन्धु (पृ० २८) ने इसे पृथ्वीचन्द्र से उद्धृत किया है और कहा है कि यहाँ केवल पुल्लिग शब्द 'विप्रा' आया है, अत केवल ब्राह्मणो को ही भोजन देना चाहिए न कि स्त्रियो को भी।[12]

इस नियम के विरोध मे हेमाद्रि[13] ने पद्म० को उद्धृत करते हुए लिखा है--'यदि कोई नारी गर्भवती हो, अभी-अभी जननक्रिया हुई हो (सौरी मे हो), या बीमार हो या अशुद्ध हो गयी हो, तो उसे किसी अन्य व्यक्ति द्वारा व्रत करा लेना चाहिए, और जब वह शुद्ध हो जाय तो उस व्रत को स्वय भी कर सकती है।' इस पर निर्णयसिन्धु का कथन है कि यह नियम पुरुषो के लिए भी लागू होता है, जब कि वे अशुद्ध हो जाते है, क्योकि यहाँ पर लिग पर आरूढ रहना आवश्यक नही है।

शब्दो एव वाक्यो की व्याख्या के लिए मीमासा ने नियमो का निर्देश किया है। सर्वप्रथम शब्द-सम्बन्धी कुछ नियमो के दृष्टान्त दिये जा रहे है--(१) शबर ने अपने भाष्य के प्रथम वाक्य मे ही यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि जैमिनि के सूत्रो एव वेद के शब्दो को यथासम्भव उसी अर्थ मे लेना चाहिए जिसमे वे सामान्यत प्रचलित आचार या प्रयोग मे समझे जाते है, न कि उन्हे गौण या पारिभाषिक अर्थ के रूप मे समझना चाहिए। यही नियम जैमिनि द्वारा (३।२।१-२) 'देवो के निवास-स्थान के लिए मै 'बर्हिस्' को काटता हूँ' नामक मन्त्र मे प्रयुक्त 'बर्हिस्' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध मे प्रतिपादित हुआ है। यहाँ पर निष्कर्ष यह है कि 'बर्हिस्' शब्द को हमे प्रमुख अर्थ मे, अर्थात् 'एक मुट्ठी कुश के अर्थ मे लेना चाहिए, न कि इस गौण अर्थ के रूप मे कि यह कुश है या कोई अन्य प्रकार की घास है। शबर ने निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित किया है--किसी शब्द के मुख्य एव गौण अर्थो मे प्रस्तुत कार्य के सिलसिले मे मुख्य अर्थ को ही ग्रहण करना उचित

परान्हे श्वेता बार्हस्पत्याम्' एव तै० स० (२।१।२।६) मे ऐसा आया है--'गर्भिणयो भवन्ति, इन्द्रियं वै गर्भ इन्द्रियमेवास्मिन् दधति।'

१२ पृथ्वीचन्द्रोदयेऽग्निपुराणे--स्नात्वाव्रतवता सर्वव्रतेषु व्रतमूर्तय। पूज्या सुवर्णमय्याद्या व्रतान्ते दानमेव च। चतुर्विश पञ्च वा त्रय एव च। विप्रा भोज्या यथाशक्ति तेभ्यो दद्याच्च दक्षिणाम्। अत्र विप्रा इति पुल्लिगनिर्देशात् पुमास एव भोज्या, न तु स्त्रिय। एव सहस्रभोज्नादावपि। विरूपशेषस्य प्रमाणान्तर विनाऽयुक्तत्वात्। नि० सि० (पृ० २४)। इसने शबर के भाष्य (पू० मी० सू० ३।३।१७ एव १६) पर भी निर्भर किया है।

१३ तथा हेमाद्रौ पाद्मे। गर्भिणी सूतिकादिश्च कुमारी वाथ रोगिणी। यदा शुद्धा तदान्येन कारयत् प्रयता स्वयम्। इति पुसोप्येष विधि, लिङ्गस्याविवक्षितत्वात्। नि० सि० (पृ० २८)।

है।' शबर ने पुन कहा है (१।३।३०) कि वेद एव प्रचलित प्रयोग मे शब्द एक-से है और उनके अर्थ भी एक-से ही ह।[१४]

वैदिक अग्नियो की स्थापना के विषय मे तै० ब्रा० (१।१।४) एव आप० श्रौ० सू० (५।३।१८) ने तीनो वर्णों के लोगो के लिए विभिन्न ऋतुओ की व्यवस्था की ह ओर ऊपर से जोड दिया हे कि रथकार को वर्षा ऋतु मे वैदिक अग्नियाँ रखनी चाहिए। अब प्रश्न यह उठता ह कि क्या इन वचनो मे प्रयुक्त शब्द 'रथकार' उस जाति के किसी सदस्य का द्योतक हे (अर्थात् क्या उसे लौकिक अर्थ मे लिया जाय) या यह उस व्यक्ति का द्योतक हे जो किसी भी वर्ण का हो किन्तु वह रथो का निर्माण करता ह (पारिभाषिक अर्थ मे) स्थापित निष्कर्ष यह हे कि लोकिक अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए, व्युत्पत्ति मूलक अथवा पारिभाषिक अर्थ नही (पू० मी० सू० ६।१।४४-५०)। रथकार के विषय मे आधार (वदिक अग्नियो की स्थापना) का मन्त्र हे 'ऋभूणा त्वा' (तै० ब्रा० १।१।४।८)। यद्यपि रथकार तीन उच्च वणा का व्यक्ति नही था, किन्तु वह उस मन्त्र का उच्चारण कर सकता था, क्योकि श्रुति ने स्पष्ट रूप से उसके लिए व्यवस्था की है किन्तु वह उपनयन सस्कार नही कर सकता था। पू० मी० सू० (६।१।५०) ने तै० ब्रा० एव आप० श्रौतसूत्र मे उल्लिखित 'रथकार' को जाति का द्योतक माना हे जिसे सौधन्वन कहा जाता हे जो न तो शूद्र है और न तीन उच्च वर्णों मे परिगणित हे, प्रत्युत वह उनसे थोडा हेय हे। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ४५-४६। सस्कारकौस्तुभ (पृ० १६८) ने तर्क उपस्थित किया है कि यदि एक बार हिन्दू-विधवा को गोद लेने का अधिकार दे दिया गया तो केवल यह तथ्य कि वह सामान्य रूप से वैदिक मन्त्रो के उच्चारण की अधिकारी नही है, उसे उस अधिकार से वचित नही कर सकता और ऐसी धारणा रखना सम्भव है, जैसा रथकार के विषय मे कहा गया है। अर्थात् वह किसी बच्चे को गोद लेते समय किसी विशिष्ट वेद मन्त्र का उच्चारण कर सकती है। तै० स० (४।५।४।२) ने कतिपय शिल्पियो अथवा कर्मकारो का उल्लेख किया हे, यथा—तक्ष, रथकार, कुलाल, कर्मार आदि। अथर्ववेद (३।५।६) एव वाज० स० (३०।६ 'मेधायै रथकार वैर्याय तक्षाणम्') से प्रकट होता है कि उन दिनो समाज मे रथकार की स्थिति अच्छी थी।

शब्द को उसके उस अर्थ की छाया (या सदर्भ) मे समझना चाहिए जो उपस्थित या प्रस्तुत क्रिया के समीचीन हो। उदाहरणार्थ, श्रुति का कथन है—'वह स्रुव से काटता हे, वह चाकू से काटता हे, वह हाथ से काटता हे' (सभी स्थानो मे क्रिया 'अवद्यति' ही है। प्रश्न यह हे—क्या सभी प्रकार के हविपदाथ चाहे वे तरल हो या अद्रव (कठोर या कडे), या वे मास के रूप मे है या अन्य द्रव्यो के रूप मे, क्या स्रुव से ही काटे जायँ? या व्यक्ति को उस हवि (द्रव्य) के अनुरूप ही किसी यन्त्र का उपयोग करना चाहिए? यथा—घृत पात्र से स्रुव द्वारा निकाला और दिया जाता हे, मास चाकू से काटा जता ह और तब अग्नि मे डाला जाता हे तथा कठिन या मोटी वस्तुएँ (यथा—समिधा) हाथ द्वारा अग्नि मे डाली जाती ह। निष्कर्ष यह ह कि हवि के प्रकार के अनुरूप ही उसका प्रदान किया जाता हे। इसे ही 'सामर्थ्याधिकरण' (पू० मी० सू० १।४।२५) कहा जाता है।[१५] व्यवहारमयूख ने पितामह द्वारा व्यवस्थित दिव्यो की

१४ य एव लौकिका शब्दास्त एव वैदिकास्त एवैषामर्था इति। शबर (१।३।३०)

१५ अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्। पू० मी० सू० (१।४।२५), शबर ने उद्धृत किया है 'स्रुवेणावद्यति, स्वधितिनावद्यति हस्तेनावद्यति, इति श्रूयते। किं स्रुवेणावदातव्य सर्वस्य द्रवस्य सहतस्य मासस्य च। तथा स्वधितिना

चर्चा करते हुए उपर्युक्त वचन का सहारा लिया है और कहा है--'घृत, पके चावल एवं समिधा आदि के साथ चारों दिशाओं में होम करना चाहिए' और घोषित किया है कि 'घृत का होम स्रुवा से, हवि (पके चावल आदि का) का होम स्रुची (एक चम्मच) से तथा समिधा का (दाहिने) हाथ से होम करना चाहिए, क्योंकि ये साधन उनके (घृत, हवि एवं समिधा के) लिए उपयुक्त हैं। व्यवहारमयूख ने ऐसा कहते हुए रघुनन्दन की आलोचना की है, क्योंकि रघुनन्दन ने दायतत्त्व में ऐसी व्यवस्था दी है कि इन तीनों का होम एक साथ होना चाहिए, पृथक्-पृथक् नहीं। तै० सं० (१।६।८।२) में वर्णित दस यज्ञिय उपकरणों के लिए भी यही नियम प्रयुक्त होता है, यथा--स्फ्य (लकड़ी की तलवार), घटशकल (तवा) आदि। यहाँ पर पूर्वपक्ष यह है कि यज्ञ में किसी उद्देश्य के लिए इनमें से कोई भी पात्र प्रयुक्त हो सकता है, स्थापित निष्कर्ष यह है (पू० मी० सू० ३।१।११ एवं ४।१।७-१०) कि दस उपकरणों का उल्लेख केवल अनुवाद है और यह वर्णन पूर्वपक्ष के कथन के अनुसार नहीं समझा जाना चाहिए, प्रत्युत इनमें से प्रत्येक का उपयोग उसी उद्देश्य में होना चाहिए जिसके लिए वैदिक वचनों में व्यवस्था है (यथा--घटशकल पर पुरोडाश पकाया जाता है), आखली में मूसल से चावल कूटा जाता है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ६८५ पाद-टिप्पणी २०३३, जहाँ दस उपकरणों (यज्ञपात्रों या यज्ञायुधों) आदि का उल्लेख है।[१६]

एक ही वाक्य में एक ही शब्द का प्रयोग दो अर्थों में नहीं होना चाहिए, अर्थात् मुख्य एवं गौण दोनों अर्थों में प्रयोग नहीं होना चाहिए।[१७] दायभाग (३।२९-३०, पृ० ६७) ने इस उक्ति का सहारा लिया है। जब भाई (एक ही माँ के पुत्र) बँटवारा करते हैं तो याज्ञ० (२।१२३) ऐसी स्मृतियों ने व्यवस्था दी है कि माँ को भी पुत्र के बराबर ही भाग मिलता है। इस पर दायभाग ने टिप्पणी की है कि 'माता' शब्द (याज्ञ० २।१२३)आदि में का मुख्य रूप से अर्थ है--जननी (जन्म देने वाली), इस स्मृति-नियम का सम्बन्ध विमाता से नहीं है, क्योंकि एक ही वाक्य में एक ही शब्द मुख्य एवं गौण अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। किन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि सभी धर्मशास्त्र ग्रन्थ इस नियम को नहीं मानते। अपरार्क (पृ० ७३०) ने याज्ञ०

हस्तेन च उत सर्वेषमार्थतो व्यवस्था।' पूर्वपक्ष यह है ('अविशेषाभिधानादव्यवस्थेति।' निष्कर्ष यह है 'अर्थाद्वा कल्पना, सामर्थ्यत्कल्पनेति स्रुवेणावद्येद्यथा शक्नुयात् तथा यस्य शक्नुयात् तस्य चेति। आख्यातशब्दानामर्थं ब्रुवता शक्ति सहकारिणी। एवं चेद्यथाशक्ति व्यवस्था भवितुमर्हति। तथा अञ्जलिना सक्तून प्रदाव्ये जुहोति इति।' यह अन्तिम तै० सं० (३।३।८) से उद्धृत है। देखिए व्य० म० (पृ० ५४) जहाँ प्रस्तुत लेखक ने इस उक्ति की व्याख्या प्रस्तुत की है। उपर्युक्त वचन पर शास्त्रदीपिका ने यह टिप्पणी दी है 'तस्माच्छक्तिसहायो विधिरेव यथा सामर्थ्यं विधेय व्यवस्थापयति।'

१६ तै० सं० (१।६।८।२-३) में आया है यो वै दशयज्ञायुधानि वेद मुखतोस्य यज्ञ कल्पते स्फ्यश्च कपालानि चाग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिन च शम्या चोलूखल च मुसल च दृषच्चोपला चैतानि वै दशयज्ञायुधानि।' शेष बातें देखिए इस महाग्रन्थ का संक्षिप्त अनुवाद भाग १, पृ० ५१३, पाद्-टिप्पणी।

१७ अन्यायश्चानेकार्थत्वम्। शबर (३।२।१ एवं ७।३।३), न ह्येकस्य शब्दस्यानेकार्थता सत्या गतौ न्याय्या। शबर (८।३।२२)। देखिए शबर (६।४।१८) पर भी। शंकराचार्य ने अपने भाष्य (ब्रह्मसूत्र २।४।३) में इस नियम को अति स्पष्ट ढंग से रखा है 'न ह्येकस्मिन्प्रकरणे एकस्मिश्च वाक्ये ,एक शब्द सकृदुच्चरितो बहुभि सम्बध्यमान क्वचिन्मुख्य क्वचिद् गौण तत्यध्यवसातु शक्यम्। वैरूप्यप्रसगात्।

(२।१२३, पितुरूर्ध्व विभजता माताप्यंश सम हरेत) की टीका मे लिखते हुए व्यास की उक्ति के आधार पर 'माता' शब्द के अन्तर्गत 'विमाता' को भी रखा है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३५) ने रिक्थ की प्रतिबन्धनीयता की चर्चा करते हुए पत्नी, पुत्रियो, माता-पिता, भाइयो, उनके पुत्रो के क्रम को उपस्थित किया है और व्यवस्था दी है कि सर्वप्रथम सहोदर भाई दाय पाते है, उनके अभाव मे सौतेले भाई लोग, उनके अभाव मे भाई के पुत्र । व्यवहारमयूख (पृ० १४२) इससे मतैक्य नही रखता और कहता है कि 'भ्राता' शब्द का मुख्य अर्थ है सौतेला भाई, इसका गौण अर्थ ही भाई' है , एक ही वाक्य मे एक ही शब्द को दो अर्थों मे प्रयुक्त नही करना चाहिए, अत सहोदर भाई के अभाव मे उसका पुत्र ही दाय पाता है (न कि सौतेला भाई, जैसा कि मिताक्षरा मे आया है) । शब्द का मुख्य अर्थ 'अभिधा' से प्राप्त होता है, गौण अर्थ 'लक्षणा' से और कभी-कभी तीसरा अर्थ व्यञ्जना से प्राप्त होता है ।[१८] ये ही एक शब्द की तीन वृत्तियाँ (क्रियाए अथवा कर्म) कही जाती है ।

शब्दो की व्याख्या के लिए निर्णीत नियमो मे एक पू० मी० सू० (१।३।८-९) मे पाया जाता है। शबर ने शब्दो के तीन दृष्टान्त दिये है, यथा—यवो से बना चरु, सूअर (वराह) के चर्म से बनी पादुकाएँ तथा वेतस से बनी चटाई। यव, वराह एव वेतस शब्द कुछ लोगो द्वारा क्रम से 'प्रियङ्गु' (पिप्पली), कौआ एव जम्बू (काली बैर) के अर्थ मे लिये जाते है। प्रथम दृष्टि मे लगता है कि इन शब्दो को दोनो मे से किसी भी अर्थ मे प्रयुक्त किया जा सकता है। सिद्धान्त यह है कि इन शब्दो को उसी अर्थ मे प्रयोग करना चाहिए जिस अर्थ मे वेद (या शास्त्र) या शिष्ट लोग उन्हे प्रयुक्त करते है, अर्थात् जहाँ शब्दो के कई अर्थ हो वहाँ विद्वान् आर्य लोगो के प्रयोग का अनुसरण करना चाहिए ।[१९] कुमारिल ने बहुत-से दृष्टान्तो के

१८ तन्त्रवार्तिक (पृ० ३५४, १।४।१२ पर) के अनुसार लक्षणा एव गौणी मे थोडा-सा अन्तर देखिए 'अभिधेयाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणेष्यते। लक्ष्यमाण गुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता। वनित्वलक्षितादर्थाद्यत्पै-ङ्गल्यादिगम्यते। तेन माणवके बुद्धि सादृश्यादुपजायते।। 'गगाया घोष' लक्षणा है (गगातीरे घोष), है (अग्निर्मा-णवक (लडका अग्नि है) गौणीवृत्ति का उदाहरण है (उभयनिष्ठ गुण की प्राप्ति, अर्थात् दोनो मे किसी एक गुण का अस्तित्व) गौणी लक्षण का एक प्रकार मात्र है। लक्षणा का बहुधा प्रयोग होता रहता है। लडके मे अग्नि के कुछ गुण विद्यमान रहते है, यथा अति पिगल रग, आदि, अत यहा पर 'अग्नि' लाक्षणिक ढग से लडके लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

१९ तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्ति स्यात् । पू० मी० सू० (१।३।८), यवमयश्चरु वाराही उपानहौ, वैतसे कटे प्राजापत्यान् सञ्चिनोति इति यववराहवेतसशब्दान समामनन्ति । तत्र केचिद्दीर्घशूकेषु यव-शब्द प्रयुञ्जते केचित्प्रियङ्गुषु। वराह शब्द-केचित्सूकरे केचित्कृष्ण शकुनौ । वेतसशब्द केचिद्वञ्जुलके केचि-ज्जम्ब्वाम्। शबर। सिद्धान्तसूत्र यो है 'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात। पू० मी० सू० (१।३।९), शबर ने व्याख्या की है 'य शास्त्रस्थाना स शब्दार्थ के शास्त्रस्था, शिष्टा तेषामविच्छिन्ना स्मृति शब्देषु वेदेषु च। भामती (वे० सू० ३।३।५२) ने इस पर निर्भर किया है और कहा है कि भारत मे आर्यों के मध्य जो अर्थ दिया जाता है वही आन्ध्रो के मध्य भी (शब्द के लिए) रहता है (यथा 'राजन् शब्द एव उसका अर्थ)। 'पीलु' शब्द के विषय मे गौतम (१।२२) ने व्यवस्था दी है कि क्षत्रिय या वैश्य ब्रह्मचारी को अश्वत्थ (पीपल) या पीलु वृक्ष का दण्ड ग्रहण करना चाहिए (अश्वत्थपैलवो शेषे), किन्तु मनु० (२।४५) ने वैश्य ब्रह्मचारी के लिए पीलु या या उदुम्बर वृक्ष के दण्ड की व्यवस्था की है। अमरकोश मे आया है कि पीलु का अर्थ वृक्ष एव हाथी दोनो है।

समान शबर के इस सिद्धान्त को भी अमान्य ठहराया है और दो अन्य व्याख्याएं उपस्थित की हैं, यथा—सूत्रों से व्यक्त है कि 'पीलु' शब्द का अर्थ है वृक्ष, और म्लेच्छ लोग इसका प्रयोग हाथी के अर्थ में करते हैं। स्मृतियों में इस शब्द का अर्थ है 'वृक्ष' और वही मान्य होना चाहिए। यहाँ पर 'शास्त्रस्था' का अर्थ है 'शास्त्र अर्थात् स्मृति में शब्द का माना गया अर्थ।' कुमारिल ने इन सूत्रों में जो अन्य अर्थ देखा है वह है स्मृति एवं आचार की तुलनात्मक शक्ति अथवा सामर्थ्य। 'श्राद्ध' शब्द के मुख्य अर्थ के प्रश्न पर विश्वरूप ने याज्ञ० (१।२२५) की व्याख्या में इस अधिकरण का आश्रय लिया है और कहा है कि श्राद्ध 'पिण्डदान' (पितरों को भात के पिण्ड देना) है न कि ब्राह्मणों को भोजन देना। पराशरमाधवीय ने 'आढक' या 'द्रोण' की तोल वाले चावल के पके भोजन के विषय में पराशरस्मृति की ओर संकेत किया है और इस बात की चर्चा की है कि वह किस प्रकार कौओं द्वारा चोंच मारे जाने, कुत्तों द्वारा स्पर्श कर लिये जाने तथा गदहों द्वारा सूंघ लिये जाने पर अपवित्र हो जाता है और व्यवस्था दी है कि आढक एवं द्रोण की तोल शास्त्रों में वर्णित बातों के आधार पर ली जानी चाहिए, न कि म्लेच्छों में प्रचलित तोल के आधार पर।

शब्दों के विषय में एक अन्य नियम (पू० मी० सू० १।३।१०) यह है कि उन शब्दों को जो मूलत: विदेशी हैं, किन्तु संस्कृत में प्रचलित हो गये हैं, उसी अर्थ में समझा जाना चाहिए जिसका प्रचलन विदेशी भाषा में पाया जाता है, उनकी व्युत्पत्ति के लिए हमें निरुक्त एवं व्याकरण का आश्रय नहीं लेना चाहिए। शबर ने ऐसे चार शब्दों के उदाहरण दिये हैं, यथा—**पिक** (कोकिल), **नेम** (आधा), **तामरस** (कमल) एवं **सत** (वृत्ताकार काष्ठपात्र)।

शब्दों के विषय में एक अन्य नियम यह है कि जहाँ कतिपय विशेषताओं से सम्बन्धित कोई एक द्रव्य किसी सम्पादित होने वाले कर्म से सम्बन्धित होता है, तो वहाँ उन सभी विशेषताओं को उसी द्रव्य से सम्बन्धित समझा जाना चाहिए (पू० मी० सू० ३।१।१२)। तै० सं० (६।१।१।६-७) में व्यवस्था दी हुई है—'वह लाल रंग वाली तथा पीली आँख वाली एक वर्षीया बछिया (वत्सतरी या वत्सा) के द्वारा सोम का क्रय करता है। यहाँ पर 'पिंगाक्षी' एवं 'एकहायनी' दो शब्दों से व्युत्पत्तिमूलक अर्थ टपकता है, दोनों एक प्रकार के कारक में हैं और एक ही पदार्थ (द्रव्य) की ओर (यहाँ एक वर्ष वाली बछिया) निर्देश करते हैं।[२०] किन्तु 'अरुणया' (लाल रंग वाली) शब्द एक सन्देह उत्पन्न करता है जो यह है—क्या इसे वाक्य

२० अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात्। पू० मी० सू० (३।१।१२), ज्योतिष्टोमे क्रयं प्रकृत्य श्रूयते। अरुणया पिङगाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति। इति। तत्र सन्देहः। किमरुणिमा कृत्स्ने प्रकरणे निविशेतोत क्रये एवैकहायन्यामिति'। शबर। 'अरुणया क्रीणाति' नामक वाक्य तै० सं० (६।१।१।६-७) का है। शबर ने इस पर एक लम्बा विवाद किया है। तन्त्रवार्तिक (पू० मी० सू० २।२।६) में आया है 'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः। अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोप्येकयत्नतः॥ पृ० ४८५ (मी० न्या० प्र० द्वारा उद्धृत, पृ० ३६, अभ्यंकर संस्करण)। उदाहरणार्थ, श्राद्ध की व्यवस्था एक विधि के रूप में है, किन्तु यदि कोई श्राद्ध के विषय में कुछ बातें व्यवस्थित करना चाहता है तो प्रत्येक बात के लिए पृथक्-पृथक् विधियों की आवश्यकता पड़ेगी, यथा—'गयायां श्राद्धं दद्यात्' कुतपे श्राद्धं दद्यात्। किन्तु जहाँ पहले से ही किसी गुण (गौण या सहायक बात) की व्यवस्था के लिए कोई विधि नहीं है, वहाँ पर एक मुख्य विधि होगी जिसमें कतिपय गुणों का समावेश होगा जैसा कि पू० मी० सू० (१।४।६) में लिखित है।

मे प्रयुक्त अन्य दो शब्दो से पृथक रखा जाय और किसी लाल पदार्थ, यथा—एक वस्त्र-खण्ड के अर्थ मे लिया जाय, या इसे क्रिया (क्रय करता हे) से सम्बन्धित किया जाय और इम प्रकार यह क्रम से गौण हो जाय और एक वर्षीया बछिया की ओर सकेत करे। यह अन्तिम पक्ष ही स्थापित निष्कर्ष हे। सोम का क्रय किस प्रकार किया जाय, इसका पता किसी अन्य उक्ति से नही चल पाता। अत इस प्रकार के मामले मे एक ही व्यवस्था मे कई सहकारियो की बात चलायी जा सकती है। यदि 'अरुणया' शब्द से यह झलकता है कि वह किसी लाल पदार्थ की ओर सकेत करता हे तो यह वाक्य दो विधियो मे विभाजित किया जायगा —(१) 'लाल वस्त्र-खण्ड के साथ खरीदना चाहिए' एव 'एक वर्ष वाली पिगाक्षी (एकहायनी) के द्वारा खरीदना चाहिए।' किन्तु यह 'वाक्यभेद' नामक दोप कहा जायगा। यह न्याय मदनपारिजात (पृ० ८८-८९) द्वारा व्याख्यापित हो चुका हे ओर अपरार्क ने (पृ० १०३०) मे वृहदारण्यकोपनिपद् (४।४।२१ 'तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिष्टन्ति') के शब्दो के सम्यक् अर्थ की व्याख्या मे इसका उपयोग किया हे और कहा हे कि जव सर्वोत्तम उद्देश्य एक हो किन्तु सहायक (गौण) तत्त्व विभिन्न हो तो विभिन्न तत्त्वो को एक मे मिला देना चाहिए।

शब्दो के विपय मे एक अन्य नियम हे जिसे **निषादस्थपतिन्याय** (पू० मी० सू० ६।१।५१-५२) कहा जाता हे। ऐसा आया हे कि वह इष्टि, जिसमे भात का हवन रुद्र के लिए होता हे, निपादस्थपति के द्वारा सम्पादित होता है। 'निपाद' उस व्यक्ति को कहते ह जिसका पिता ब्राह्मण हो, किन्तु माता शूद्र (मनु० १०।८)। वह तीन उच्च वर्णो मे परिगणित नही होता। 'स्थपति' का अर्थ हे 'मुखिया या नेता'। अब प्रश्न उठता हे, क्या इम सामासिक शब्द का अर्थ हे 'ऐसा निपाद जो मुख्य (मुखिया) हे' (यह कर्मधारय समास हे), या इमका अर्थ हे 'निपादो का शासक' जो स्वय निपाद नही भी हो सकता हे, प्रत्युत क्षत्रिय भी हो सकता है (अर्थात् पष्ठी तत्पुरुप समास हो सकता हे, यथा—निपादाना स्थपति)। निष्कर्ष यह हे कि कर्मधारय तत्पुरुप की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली ठहरता हे, क्योकि प्रथम स्थिति मे दोनो शब्द क्रिया से सीधे ढग से सम्बन्धित है (निपादश्चासौ स्थपतिश्च, त याजयेत्)। व्यवहारमयूख ने इस उक्ति का उपयोग किया हे। शौनक स्मृति ने शूद्र को गोद लेने का अधिकार दिया हे, किन्तु शुद्धिविवेक के लेखक रुद्रधर ऐसे लोगो ने कहा हे कि गोद लेने मे मन्त्रो के साथ होम करना होता है और शूद्र वैदिक मन्त्रो का पाठ नही कर सकता, अत वह गोद नही ले सकता। इस पर व्यवहारमयूख ने उत्तर दिया हे कि शौनकस्मृति द्वारा गोद लेने के अधिकार की स्थापना के उपरान्त केवल इतना ही शेप रह जाता हे कि वह किसी ब्राह्मण द्वारा होम करा ले। वेदान्तसूत्र (१।३।१५) के शाकरभाष्य की टीका भामती ने छान्दोग्योपनिपद् (८।३।२) मे प्रयुक्त 'ब्रह्मलोक' के अर्थ के विपय मे कहा हे कि यहाँ निपाद स्थपति-न्याय प्रयुक्त है, अत 'ब्रह्मलोक' का अर्थ है 'लक्ष्य के रूप मे ब्रह्म' न कि 'ब्रह्म का लोक'। मनु० (११।५४) ने पाँच महापातको मे 'गुर्वङ्गनागम' (गुरु-पत्नी के साथ मैथुन) को भी गिना है। टीकाकारो ने इस शब्द के अर्थ के विपय मे विभिन्न मत दिये ह। प्रायश्चित्तप्रकरण मे भवदेव ने निपादस्थपतिन्याय के आधार पर इस शब्द मे कर्मधारय समास (गुरु या गुर्वी चासो अगना च) माना हे, जिसका अर्थ हुआ अपनी माता, किन्तु अन्य लोगो ने इसमे तत्पुरुप समास पढा हे यथा—'गुरो या गुरूणाम् अगना' (जिसमे विमाता, वडे भाई की पत्नी, गुरु की पत्नी आदि सम्मिलित ह)। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० २३-२५, जहाँ इस पर विवेचन उपस्थित किया गया हे।

प्रभाकर का कथन हे कि कोई शब्द पृथक् रूप से अर्थान्वित नही होता, किन्तु जब वे किसी वाक्य मे एक-दूसरे के साथ समन्वित होते है तो, अर्थान्वित अथवा अर्थयुक्त हो उठते है। इसी से वे और उनके अनुयायी

'अन्विताभिधानवादी' कहे गये ह । किन्तु कुमारिल एव उनके अनुयायीगण यह कहते ह कि शब्दो के अपने-अपने पृथक् अर्थ होते ह ओर जब वे किसी वाक्य मे सयुक्त होते ह तो पहले मे भिन्न अर्थ वाले हो जाते है। कुमारिल तथा उनके अनुयायियो को 'अभिहितान्वयवादी' कहा जाता ह । प्रस्तुत लेखक ने साहित्यदर्पण (१, २, १०) की टिप्पणी (पृ० ८६-८८) मे इन दो सज्ञाओ की व्याख्या उपस्थित की ह (देखिए सन् १९५६ वाला सस्करण)।

अब हम वाक्य की व्याख्या करेगे। ऋग्वेद एव सामवेद छन्दोबद्ध ह, अत सामान्य ढग मे उनमे वाक्य के रूप मे क्या है, यह जानना कठिन नही है। किन्तु कृष्ण यजुर्वेद का अधिकाश गद्य मे ह। अत पू० मी० सू० (२।१।४६) ने वाक्य की परिभाषा की ह कि जब कई शब्द किसी एक प्रयोजन (उद्देश्य) की पूर्ति करते है, किन्तु यदि उन शब्दो मे एक या कुछ शब्द शेष शब्दो से पृथक् कर दिये जाये, तो आगे के शब्द (अर्थात् शेष शब्द) अपूर्ण रह जाते ह और प्रयोजन (उद्देश्य) की पूर्ति नही कर पाते और पृथक् किये गये शब्दो की आवश्यकता का अनुभव करते ह, अत वे सभी शब्द एक वाक्य बनाते ह। इसका उदाहरण एक मन्त्र ह—'देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्या पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्ट निर्वपामि' (तै० स० १।१।४।२ मै तुम्हे, जो अग्नि को प्रिय हे, देव सविता की आज्ञा से, अश्विनो की बाहुओ से, पूषा के हाथो से निर्वाप देता हू अर्थात् अर्पण करता हूँ)।[21] यह एक वाक्य हे, जिसका प्रयोजन ह निर्वाप। वाक्य की अन्य परिभाषाओ के लिए देखिए साहित्यदर्पण (२।१) पर प्रस्तुत लेखक की टिप्पणियाँ (पृ० ३४)। अर्थ के बोध के साथ एक वाक्य मे शब्दो को रखने के लिए 'आकाक्षा', 'योग्यता' एव 'सन्निधि' की, विशेषत आकाक्षा की आवश्यकता होती ह। उदाहरणार्थ, 'शकराचार्य (वे० सू० १।४।३) का कथन हे कि आकाक्षा के बिना इसका बोध या प्रत्यक्ष नही हो पाता कि शब्द वाक्य बनाते ह। 'एकवाक्यता' शब्द वेदान्तसूत्र (३।४।२४) मे आया हे और बताता हे कि आकाक्षा दो रूपो वाली होती हे, यथा—व्याकरण वाली एव मानस (अर्थात् व्याकरणजन्य एव मनोवैज्ञानिक)। किसी शब्द को सुनकर या पढ कर सुनने वाला या पढने वाला किसी पूर्ण अभिप्राय (बोध) की प्राप्ति के लिए किसी अन्य विचार या शब्द को जानने की इच्छा रखता हे। जब कई एक वाक्य, जिनमे प्रत्येक अपने भाव को व्यक्त करता है, एक-साथ आ

२१ अर्थैकत्वादेक वाक्य साकाक्ष चेद्विभागे स्यात्। पू० मी० सू० (२।१।४६), अत्र प्रश्लिष्टपठितेषु यजुःषु कथमवगम्येत, इयदेक यजुरिति। यावता पदसमूहेनेज्यते तावान्पदसमूह एक यजु । कियता चेज्यते। यावता क्रियाया उपकार प्रकाश्यते तावत। वक्तव्याद् वाक्यमित्युच्यते। तस्मादेकार्थ पदसमूहो वाक्य यदि च विभज्यमान साकाङक्ष पद भवति। किमुदाहरण देवस्य त्वा सवितु प्रसव इति। शबर। मन्त्र यह हे 'देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्या पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्ट निर्वपामि (तै० स० १।१।४।२, काठक० १।४) और 'देवस्य निर्वपामि' तक एक वाक्य हे। और देखिए शबर (१।२।२५ पर, यथा—तद्भूताना क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात)। दोनो सूत्रो मे 'अर्थ' शब्द का अर्थ है प्रयोजन। न्यायसुधा ने 'अर्थ' शब्द को 'अभिधेय' (अभिप्राय, भाव आदि) के रूप मे लिया ह, जिससे कि सूत्र को और व्यापकता प्राप्त हो, किन्तु शबर ने इसे यजुर्वेद के वचनो तक ही सीमित रखा हे और प्रतिपादित किया हे कि 'अर्थ' प्रयोजन का द्योतक है। और देखिए 'यावन्ति पदान्येक प्रयोजनमभिनिर्वर्तयन्ति तावन्त्येक वाक्यम्। शबर (पू० मी० सू० २। २।२७, पृ० ५६०)। कात्यायन श्रौतसूत्र (१।३।२) मे ऐसा ही सूत्र आया हे, यथा—'तेषा वाक्य निराकाङक्षम्'। टीका ने 'तेषा' को 'यजुषाम्' के रूप मे लिया हे।

उपस्थित होते हे और ऐसा समझते ह कि उनमे से कोई एक मुख्य है तथा अन्य गोण, तो वे वाक्य रचना करते ह। इससे प्रकट होता है कि वाक्य के दो प्रकार होते ह, वाक्य तथा महावाक्य, जसा कि साहित्यदपण ने कहा ह।

वाक्य की परिभाषा एव उसके भाष्य से प्रकट होता हे कि वाक्य के निर्माण के लिए तीन दशाओ की अपेक्षा होती है—(१) बहुत-से उच्चरित या लिखित शब्द होने चाहिए (पदसमूह), (२) शब्दो को परस्पर आकाक्षा रखनी चाहिए (अर्थात् जब पदसमूह से एक पद या शब्द हटा लिया जाय तो पूर्ण बोध नही हो पाता), (३) सभी शब्दो का एक ही प्रयोजन होना चाहिए, अथवा यो कहा जा सकता हे कि सभी को एक-साथ एक ही बोध देना चाहिए (अर्थेकत्व, जेसा एक अन्य मत के अनुसार कहा गया हे)। वाक्य बनाने के लिए शब्दो को एक सन्निधि मे आना परमावश्यक नही ह। यहा तक कि यदि कुछ शब्द मध्यस्थ रूप मे आ जाये तो भी वाक्य बन सकता हे। किन्तु यह तभी सम्भव हे जब शब्दो के बीच आकाक्षा हो। देखिए शबर (पू० मी० सू० ४।३।११)।

किसी मन्त्र के विभिन्न भागो को, जिनसे विभिन्न प्रयोजन सिद्ध होते ह, विभिन्न वाक्यो के अर्थ मे ग्रहण किया जा सकता हे। उदाहरणार्थ, त० ब्रा० (३।७।५) मे आया ह—'(हे पुरोडाश) मे, तुम्हारे लिए रम्य आसन (सदन) बनाता हूँ, मै इसे घृत की धारा मे बहुत सुन्दर बनाता हूँ, प्रसन्न होकर उस पर बेठे, अमृत मे स्थापित हो जाओ, हे चावल के यज्ञिय तत्त्व।' यहाँ दो वाक्य ह, जिनमे प्रथम का सम्बन्ध हे आसन के निर्माण से और दूसरे का पुरोडाश को आसन पर रखने से। इसी प्रकार इस वाक्य मे 'मै तुम्हे (हे पलाश की शाखा) भोजन के लिए (काटता हूँ), मै तुम्हे शक्ति के लिए (धोता या रगडता) हूँ, दो भिन्न वाक्य ह, जो एक-दूसरे से स्वतन्त्र हे। और देखिए शतपथ ब्राह्मण (१।७।१।२)।

मीमासा एव धर्मशास्त्र मे **वाक्यभेद** के सिद्धान्त का अत्यधिक महत्त्व हे। वाक्यभेद का शाब्दिक अर्थ है 'वाक्यो का पृथक्-पृथक् हो जाना'। जब वाक्य समान रूप से स्वतन्त्र होते है और जब कोई वाक्य अपने को पूर्ण करने के लिए किसी अन्य वाक्य के शब्दो की आकाक्षा नही रखता तो उन वाक्यो को पृथक्-पृथक् माना जाता हे। यह 'वाक्यभेद' का एक अभिप्राय (अर्थ या भाव) हे। वाक्यभेद का दूसरा और बहुत अधिक प्रयुक्त अर्थ इस प्रकार हे—वाक्यभेद का अन्तर्हित सिद्धान्त यह हे कि एक ही वचन मे दो विभिन्न (पृथक्-पृथक्) विधिया की व्यवस्था नही हो सकती, या जब कोई बात व्यवस्थित हो गयी रहती हे और उसके उपरान्त कतिपय गौण बाते व्यवस्थित होती हे, तो सभी गौण बातो को एक ही वाक्य मे व्यवस्थित करना दोषपूर्ण कहा जाता हे और उसी को वाक्यभेद (वाक्यरचना के विचार मे वाक्य का भेद) कहते ह। तै० स० मे एक वचन हे—'यज्ञिय यूप उदुम्बर वृक्ष का होना चाहिए, उदुम्बर ऊर्ज हे, पशु ऊर्ज हे, वह उसके (यजमान के) लिए ऊर्ज (उदुम्बर-यूप) के द्वारा ऊर्ज की प्राप्ति के लिए ऊर्ज (पशु) प्राप्त करता हे।' यह एक वाक्य-रचना-प्रकार हे। यदि यह कहा जाय कि किसी यज्ञ मे उदुम्बर-यूप के प्रयोग के लिए कोई विधि हे और फल के लिए भी कोई विधि हे, यथा ऊर्ज (अर्थात् पशु) की प्राप्ति, तो इसमे वाक्यभेद की उत्पत्ति होगी। अत वाक्य मे दो विधियाँ नही होती, प्रत्युत एक विधि एव एक अर्थवाद (स्तुति) होता हे (शबर, पू० मी० सू० १।२।२५)। शकराचार्य ने वेदान्त सूत्र (३।३।५७) की व्याख्या मे कहा हे—'एक हीद वाक्य वैश्वानरविद्याविषय पौर्वापर्यालोचनात् प्रतीयते एकवाक्यतावगतौ सत्या वाक्यभेद—कल्पनस्यान्याय्यत्वात्'। वाक्यभेद की धारणा के प्रथम स्वरूप के सदर्भ मे यह कहा गया ह।

वाक्यभेद के दूसरे अभिप्राय मे अन्तर्हित भावना यह हे—यदि कोई कार्य या द्रव्य या गौण बात किसी विधि का विषय हो और यदि उस कार्य (या द्रव्य आदि) के सम्बन्ध मे कुछ अन्य बाते (कर्म, द्रव्य आदि) एक ही वाक्य मे व्यवस्थित हो तो वहाँ वाक्यभेद होगा (अर्थात् किसी विधि का जो विषय रहा हे उसके सम्बन्ध मे अन्य

बातो के लिए पृथक विधि की व्यवस्था करनी होगी)। दूसरी ओर, यदि एक ही वाक्य मे कतिपय गौण विषयों के साथ कोई कर्म, द्रव्य या गुण व्यवस्थित हो तो वहाँ कोई वाक्यभेद का दोष न होगा, अर्थात् एक ही वाक्य मे, चाहे वह कितना भी लम्बा क्यो न हो या उसमे बहुत-से विषय हो, यदि वहाँ एक ही विधि है तो कोई दोष नही होता। 'भूतिकाम (भूति अर्थात् समृद्धि के इच्छुक) को चाहिए कि वह वायु के लिए श्वेत पशु की बलि दे' नामक वाक्य मे यदि यह माना जाय कि पहले फल के रूप मे भूति (ऐश्वर्य या समृद्धि) के लिए कोई विधि होनी चाहिए, तो दो विधियाँ उत्पन्न हो जायेगी और वाक्यभेद उठ खडा होगा, किन्तु यदि यह माना जाय कि विधि का सम्बन्ध केवल श्वेत पशु के अर्पण से है और उसके उपरान्त जो आता है, यथा 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा भूतिं गमयति' वह केवल अर्थवाद (पहले कही गयी विधि की स्तुति) है तो वहाँ वाक्यभेद नही होगा। वाक्यभेद तभी उठ खडा होता है जब एक ही वाक्य मे एक से अधिक विधियाँ मान ली जाती है।[२२]

वाक्यभेद के सिद्धान्त के प्रकाशनार्थ कुछ दृष्टान्त दिये जा रहे है। एक सरल दृष्टान्त यह है—'ग्रह सम्मार्ष्टि'। यदि इसका एक अर्थ यह लगाया जाय कि 'उसे प्याले को स्वच्छ करना है' और साथ-ही-साथ यह भी अर्थ लगाया जाय कि केवल एक ही प्याला स्वच्छ करना है, तो यहाँ वाक्यभेद हो जायगा। इसीलिए यह तय किया गया कि 'ग्रह' मे जो एक वचन है उस पर ध्यान न दिया जाय, प्रत्युत सभी ग्रहो (प्यालो) के स्वच्छ करने की बात पर आरूढ रहना चाहिए, नही तो दो विधियां उठ खडी होगी, यथा—'ग्रह सम्मृज्यात्' एवं 'एकमेव सम्मृज्यात्'। शबर ने पू० मी० सू० (१।३।३) पर एक श्रुति उद्धृत की है—'पुत्रवान् एवं काले केश वाले को वैदिक अग्नियाँ प्रज्वलित करनी चाहिए'। श्रुतिवचनो द्वारा **अग्न्याधान** की व्यवस्था की गयी है, यथा तै० ब्रा० (१।१।२।६), शतपथ ब्राह्मण (२।१।२)। अतः उपर्युक्त वचन ने केवल कुछ सहायक विषयो की व्यवस्था इसके लिए की है। एक व्यक्ति काले केशो के साथ पुत्रहीन भी हो सकता है या पुत्रवान् व्यक्ति श्वेत केशो वाला हो सकता है। अतः यदि वह वाक्य दोनो गुणो की व्यवस्था करने वाला समझा जाय (अर्थात् पुत्रवान् होना तथा काले केश वाला होना) तो एक ही वाक्य में दो विधियाँ स्पष्ट लक्षित हो उठेगी, अर्थात् वहाँ वाक्यभेद उठ खडा होगा, जिसका परित्याग आवश्यक है। अतः इस वाक्य को किसी निश्चित अवस्था को बताने वाला समझा जाना चाहिए, अर्थात् उसे (व्यक्ति को) अग्न्याधान के समय बालक नही होना चाहिए, प्रत्युत ऐसी अवस्था का होना चाहिए कि उसे पुत्र उत्पन्न हो सके, और न उसे बहुत बूढा (जब केश श्वेत हो जाते है) होना चाहिए। अर्थात् उसे अग्न्याधान के काल मे न तो अति बालक और न अति बूढा होना चाहिए। 'जातपुत्र' एवं 'कृष्णकेश' मे लक्षणा भी मानी जाती है, और लक्षणा शब्द-दोषो मे गिनी जाती है किन्तु वाक्यभेद वाक्यदोषो मे गिना जाता है। अतः लक्षणा तथा वाक्यभेद की तुलना मे लक्षणा को ग्रहण करना चाहिए। व्यवहारमयूख (पृ० ११५) ने मनु (९।१४२) को उद्धृत किया है—'जो पुत्र गोद रूप मे दे दिया जाता है उसे कुल का नाम (गोत्र) नही प्राप्त होगा और न वह अपने वास्तविक पिता का रिक्थ ही प्राप्त कर सकेगा, पिण्ड (जो मृत पुरुषो को दिया जाता है) कुलनाम एवं रिक्थ का अनुसरण करता है। जो अपने पुत्र को गोद के लिए दे देता है उसकी स्वधा (जहाँ तक उस पुत्र का सम्बन्ध है) समाप्त हो जाती है।' उपर्युक्त वचन (पुत्रवान् कृष्णकेश व्यक्ति) तथा वेदिका के सदर्भ मे यज्ञिय यूप के स्थान के सम्बन्ध मे एक अन्य उक्ति (देखिए पू० मी० सू० ३।७।१३-१४) को

२२ बहवोऽपि ह्यर्था युगपदेकेन सम्बन्ध्यन्ते। न च तावता वाक्यं भिद्यते। अनेकविधित्वे हि वाक्यभेद उक्तः। तन्त्रवार्तिक (पृ० ५५१, पू० मी० सू० २।२।२६ पर)।

उद्धृत करके व्यवहारमयूख ने मत प्रकाशित किया है कि मनु द्वारा प्रयुक्त **गोत्र, रिक्थ, पिण्ड एवं स्वधा** शब्दों पर ही बल नहीं देना चाहिए और न उन्हें शाब्दिक अर्थ में ही लेना चाहिए, प्रत्युत ऐसा समझना चाहिए कि मनु के श्लोक में लक्षणा है, उसमें उन सभी परिणामों की ओर संकेत है जो वास्तविक पिता के विषय में पिण्ड से सम्बन्धित है, तथा मनु ने उस सम्पत्ति के विषय में कुछ भी नहीं कहा है जिसे पुत्र दूसरे कुल में गोद लिये जाने के पूर्व ग्रहण किये रहता है।

वाक्यभेद के विषय में एक अन्य उदाहरण पुनर्मिलन-सम्बन्धी व्यवहार (कानून) से लिया जा सकता है। मिता०, दायभाग एवं स्मृतिच० (व्यवहार० पृ० ३०२) ने बृहस्पति की उक्ति[२३] उद्धृत की है—'वह व्यक्ति, जो एक बार अपने पिता, भाई या चाचा से पृथक् हो जाने के उपरान्त पुनः स्नेह के कारण उनके (या उनमें किसी के साथ) साथ रहने लगता है, वह उनके (या उसके) साथ संसृष्ट (फिर से मिला हुआ) कहा जाता है।' मिताक्षरा के मत से संसृष्टता केवल पिता, भाई एवं चाचा के साथ ही सम्भव है, अन्य से नहीं, क्योंकि बृहस्पति की उक्ति में कोई अन्य नहीं उल्लिखित है। किन्तु व्यवहारमयूख ने इस सीमा को स्वीकार नहीं किया है और कहा है कि संसृष्टता अथवा पुनर्मिलन उन सभी के या उनमें किसी के भी साथ सम्भव है जिन्होंने विभाजन में भाग लिया है और पिता, भाई एवं चाचा, ये तीनों केवल उदाहरण के लिए उल्लिखित हैं (अर्थात् यहाँ लक्षणा है) एक व्यक्ति केवल इन्हीं तीन व्यक्तियों (पिता, भाई एवं चाचा) से अलग नहीं हो सकता, प्रत्युत वह अपने पितामह, पितामह के पौत्र, अपने चाचा के पुत्र तथा कतिपय अन्य लोगों से भी अलग हो सकता है। अतः मिताक्षरा ने बृहस्पति की उक्ति को जिस रूप में निर्मित माना है वह वाक्यभेद के दोष से पूर्ण है, क्योंकि उस व्याख्या से दो पृथक् उपपत्तियाँ (प्रमेय) उठ खड़े होते हैं, यथा—(१) उस व्यक्ति को संसृष्ट (पुनर्मिलन को प्राप्त हुआ) कहा जाता है जो विभक्त हो जाने (अलग हो जाने) के उपरान्त पुनः उसके साथ संस्थित रहता है जिससे वह पहले अलग हो गया था, (२) केवल पिता, भाई या चाचा से ही पुनः मिला जा सकता है। अतः इस प्रकार एक वाक्य में दो पृथक् एवं स्पष्ट प्रमेय आ उपस्थित होते हैं। अतः लक्षणा का आश्रय लेना चाहिए, यथा—तीन उल्लिखित व्यक्ति उस व्यक्ति-वर्ग के हैं जिनमें एक व्यक्ति अलग हो सका था किन्तु वह एक समय उनके साथ रहता था। वीरमित्रोदय (व्यवहार) आदि ने व्यवहारमयूख के मत का समर्थन किया है।

स्मृतिचन्द्रिका की व्यवस्था है कि एक व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त जब उसके पुत्र बँटवारा करते हैं तो माता को भी, यदि सम्पत्ति (सम्पदा, रिक्थ, दाय, विभव या भूमि) बहुत लम्बी-चौड़ी या अधिक न हो, तो प्रत्येक पुत्र के समान अंश प्राप्त होता है, किन्तु यदि सम्पदा बहुत अधिक हो तो उसे उतना मिलना चाहिए जो उसकी जीविका के लिए आवश्यक है। किन्तु (याज्ञ० २।१२३ एवं अन्य स्मृतियों ने 'समं अंशम्' ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है।) मदनरत्न ने (व्यवहार पर) उस मत की आलोचना की है और उसे दोषयुक्त व्यवस्था की संज्ञा दी है, क्योंकि विभक्त होने वाली सम्पदा के अधिक या कम होने वाली स्थिति के अनुसार 'समं अंशम्' (बराबर अंश या भाग) से सम्बन्धित अर्थ के बारे में दो विभिन्न विधियाँ उठ खड़ी हो जायेंगी।

२३. विभक्तं धनं पुनर्मिश्रीकृतं संसृष्टं तदस्यास्तीति संसृष्टी। संसृष्टत्वं च न येन केनापि किन्तु पित्रा भ्रात्रा पितृव्येण वा। यथाह बृहस्पतिः। विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा वैकत्र संस्थितः। पितृव्येणाथ वा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यते॥ मिता० (याज्ञ० २।१३८)। दायभाग (१२ वाँ अध्याय) ने बृहस्पति को उद्धृत कर टिप्पणी दी है 'परिगणितव्यतिरिक्तेषु संसर्गकृतो विशेषो नादरणीयः परिगणनानर्थक्यात्।'

वाक्यो के विषय मे एक अन्य सिद्धान्त ह जिसे 'अनुषग' कहा जाता है। अनुषग मे शब्द, शब्द-समूह या वाक्य की एक वाक्य से दूसरे वाक्य तक या अन्य वाक्यो तक अनुवृत्ति (बटाव) पायी जाती है, जब वे वाक्य एक ही कोटि या प्रकार के हो। यह अनुषग की एक कोटि है। दूसरी कोटि वहा लक्षित होती है जहाँ पर दो या अधिक वाक्यो मे प्रत्येक अपने मे स्वत पूर्ण लगता है, किन्तु अन्तिम वाक्य मे कुछ ऐसे शब्द पाये जाते हे जिन्हे पूववर्ती वाक्यो मे भी प्रयुक्त मान लेना पडता है। इसका 'अनुषप' भी कहा जाता हे। ज्योतिष्टोम के तीन उपसदो मे प्रथम उपसद् अग्नि के सम्मान मे है, जिसमे मन्त्र इस प्रकार है—'या ते अग्ने अयाशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठोग्र वचोऽपावधी त्वेष वचोऽपावधी स्वाहा', अन्य दो उपसदो मे दो मन्त्र यो हे—'या ते अग्ने राजाशया' एव 'या ते अग्ने हराशया' जो अपूर्ण हैं, और वाक्यो को पूर्ण करने के लिए पूरक शब्दो की अपेक्षा रखते है।[२४] निष्कर्ष यह हे कि 'वर्षिष्ठा स्वाहा' नामक शब्दो का प्रथम वाक्य से इसमे मिलाना पडेगा, न कि प्रचलित भाषा के कोई अन्य शब्द मनचाहे ढग से ग्रहण किये जायेगे। तै० स० (१।२।१।२) का एक अन्य वचन यो हे—'चित्पतिस्त्वा पुनातु, वाक्पतिस्त्वा पुनातु, देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसो सूर्यस्य रश्मिभि ।' यहाँ पर प्रथम दो पद-समूह (वाक्य) प्रथम दृष्टि मे पूर्ण-से लगते ह, किन्तु जब हम अन्तिम वाक्य पर दृष्टिपात करते ह, जहाँ पर 'पुनातु' शब्द अन्य शब्दो द्वारा विशेष रूप से गठित हे, तो हम हठात् अनुभव करते है कि प्रथम दो वाक्य भी 'अच्छिद्रेण रश्मिभि' से सम्बन्धित किये जाने चाहिए, और तभी वे पूर्ण हो सकेगे।

मिताक्षरा एव मदनरत्न ने फिर से मिले हुए (ससृष्ट) की मृत्यु के उपरान्त उसके धन के उत्तराधिकार के विषय मे जो अनुषग सिद्धान्त प्रयुक्त किया है, उस पर व्यवहारमयूख ने एक लम्बा विवेचन उपस्थित किया है। याज्ञ० (२।१३५-१३६) ने पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त उसके धन के भागियो का कर्म निर्धारित किया है। याज्ञ० (२।१३७) मे वानप्रस्थ, सन्यासी एव नैष्ठिक ब्रह्मचारी की सम्पति के बँटवारे की चर्चा हे। मिता० का कथन है कि याज्ञ० (२।१३८) मे जो 'ससृष्टिनस्तु ससृष्टि' श्लोक आया हे वह याज्ञ० (२।१३५-१३६) का अपवाद हे और उसका पुन कथन हे कि जो पुत्रहीन मरता है' (पौत्र या प्रपौत्र) मे पढे हुए शब्द याज्ञ० (२।१३६) से लेकर याज्ञ० (२।१३८) के पूर्व भी आने चाहिए (अर्थात् 'स्वर्यातस्यापुत्रस्य' नामक शब्दो का अनुषग होना चाहिए)। किन्तु व्यवहारमयूख इसे नही मानता और कहता हे कि अनुषग के सिद्धान्त के प्रयोग के लिए कोई तर्क नही है और इसीलिए ससृष्ट द्वारा छोडे गये धन के उत्तराधिकार के बारे मे व्यवहारमयूख ने जो क्रम प्रतिपादित किया हे वह मिताक्षरा के सिद्धान्त से भिन्न ह। जो लोग इस विषय मे विस्तार से पढना चाहते ह वे देखे, व्यवहारमयूख (पूना, १९२६) पर टिप्पणियाँ (पृ० २६५-२७५)

२४ अनुषङगणे वाक्य समाप्ति सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् । पू० मी० सू० (२।१।४८), या ते अग्ने अयाशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठोग्र वचोऽपावधी त्वेष वचोऽपावधी स्वाहा, या ते अग्ने रजाशया, या ते अग्ने हराशया इति। अत्र सन्देह । तनुर्वर्षिष्ठेति कि सर्वेष्वनुषक्तव्यामाहोस्विल्लौकिको वाक्यशेष कर्त्तव्य इति। मन्त्रो के लिए देखिए तै० स० (१।२।११।२) एव वाज० स० (५।८)। देखिए इस महाग्रन्थ का मूलखण्ड २, पृ० ११५१, पाद-टिप्पणी २५६२। वाज स० एव शतपथब्राह्मण (३।४।४।२३–२५) ने 'अय शया', 'रज शया, एव 'हरिशया' पाठान्तर दिया हे।

जब कतिपय वाक्यो के बीच विभिन्न प्रकार (कोटि) के शब्द आ जाते है तो अनुषग का सिद्धान्त लागू नही होता। उदाहरणार्थ, जब अर्पित किया जाने वाला पशु मारा जाता है तो एक लम्बी उक्ति कही जाती है जिसमे ये शब्द आते है—'स ते प्राणो वायुना गच्छन्त स यजत्रैरङ्गानि, स यज्ञपतिराशिषा' आदि (तुम्हारे अग पूजनीय देवताओ से जुड जाये, और यजमान आशिष से सयुक्त हो जाये) । यहाँ पर पहला वाक्य तीसरे वाक्य मे उस वाक्य द्वारा पृथक किया गया है जिसमे दो शब्द बहुवचन मे है और पहले एव तीसरे वाक्य के दो शब्द एकवचन मे है, अत प्रथम वाक्य के शब्दो का दूसरे वाक्य मे कोई अनुषग नही है और तीसरे वाक्य के अर्थ को पूर्ण करने के लिए प्रचलित भाषा के किसी सामान्य शब्द का उपयोग किया जा सकता है (किन्तु प्रथम वाक्य के शब्दो का नही) ।

वेद ने बहुत से कर्मो की व्यवस्था की है, यथा—याग का सम्पादन, अग्नि मे हवि डालना, दान देना, गाय दुहना, घृत पिघलाना आदि। किन्तु ये सभी कर्म एक ही कोटि के नही है, कुछ तो **प्रधान** है और कुछ **गुणभूत** (या सहकारी)।[२५] वैसे कर्म, जो 'प्रयाज' ऐसे शब्दो से दर्शित होते है, जिनसे कोई द्रव्य अलकृत नहीं किया जाता या योग्य नही बनाया जाता या उत्पन्न नही किया जाता, वे प्रधान कहे जाते है, किन्तु जो कर्म कोई द्रव्य उत्पन्न करते है, उसे योग्य बनाते है (यथा धान कूटकर चावल निकालना) वे गुणभूत कहे जाते है। कर्मो को पुन कई कोटियो मे बाँटा गया है, यथा—**नित्य, नैमित्तिक, काम्य,** अथवा **क्रत्वर्थ** एव **पुरुषार्थ**। इस पर हमने गत अध्याय मे ही विचार कर लिया है। कर्मो की भिन्नता एव अभिन्नता की जाँच के ६ साधन है—यथा (१) **शब्दान्तर** (भिन्न शब्द, जैसे—यजति, जुहोति, ददाति, अर्थात् याग, होम एव दान भिन्न कर्म है), (२) **अभ्यास** (दुहराना),[२६] जैसा कि 'समिधो यजति तनूनपात यजति' आदि (तै० स० २।६।१।१-२) मे, जहाँ पर 'यजति' शब्द पाँच बार दुहराया गया है और इसीलिए पाँच प्रकार के कर्म व्यवस्थित किये गये है, (३) **सख्या** जैसा कि 'वह प्रजापति के लिए १७ पशुओ की बलि देता है (तै० ब्रा० १।३।४।३)' जो स्पष्टत १७ कर्म है, (४) **गुण** (सहकारी विस्तार, यथा 'जब तप्त दुग्ध मे दही डाला जाता है तो वह 'आमिक्षा' हो जाता है जो वैश्वदेवो को अर्पित किया जाता है और वह द्रव पदार्थ जो वाजियो को दिया जाता है, वाजिन कहा जाता है' नामक वचन मे देवता या द्रव्य, आमिक्षा एव

२५ तानि द्वैध गुण प्रधानभूतानि। यैर्द्रव्य न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्। यैस्तु द्रव्य चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत तस्य द्रव्यप्रधानत्वात्। पू० मी० सू० (२।१।६-८)।

२६ तदिह षड्विध कर्मभेदो वक्ष्यते—शब्दान्तर, अभ्यास, सख्या, गुण, प्रक्रिया, नामधेयमिति। तदेतन्नानाकर्मलक्षमित्यध्यायमाचक्षते । शबर (पू० मी० सू० २।१।१ 'भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्य क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते।') । ये सभी पू० मी० सू० मे वर्णित है, यथा—२।२।१७, २।२।२ (अभ्यास), २।२।२१ (सख्या), २।२।२३ (गुण), २।२।२२ (नामधेय या सज्ञा), तथा २।३।२४ (प्रकरण या प्रक्रिया) । शबर ने इनको एक क्रम मे उल्लिखित किया है, किन्तु पू० मी० सू० ने थोडी भिन्नता के साथ इनका उल्लेख किया है। पराशर (१।३८,) ने कहा है कि व्यक्ति को ६ कर्मो पर ध्यान देना चाहिए, यथा—स्नान, सन्ध्या आदि पर और उन्होने शब्दान्तर पर निर्भर करके यह स्थापित किया है कि ६ विभिन्न कर्म होते है कि सभी एक मे समाहित।

वाजिन, ये दोनों दो स्पष्ट अर्पण हैं)[२७], (५) प्रकरण (सदर्भ)। 'अग्निहोत्र करना चाहिए' (तै० स० १।५।६।१) में अग्निहोत्र के आह्निक सम्पादन की विधि पायी जाती है। कुण्डपायिनामयन में ऐसा आया है—'वह एक मास तक अग्निहोत्र करता है।' यह वचन दूसरे सदर्भ में आता है (जब कि पहला दर्शपूर्णमास के सन्दर्भ में आता है) अत यह वाक्य (अर्थात् कुण्डपायिनामयन वाला) आह्निक अग्निहोत्र से भिन्न कर्म है। (६) सज्ञा (अर्थात् नाम) भी कर्मों का अन्तर बताती है, क्योंकि वे (कर्म) उत्पत्तिवाक्य (मौलिक व्यवस्था) में प्रकट होते हैं। कर्मों की भिन्नता प्रकट करने का यह ढग हेमाद्रि, कालनिर्णय एवं निर्णयसिन्धु द्वारा प्रयुक्त हुआ है, इसी ढग द्वारा उन्होंने इस विषय में निर्णय किया है कि जन्माष्टमी व्रत एवं जयन्तीव्रत एक ही व्रत है या भिन्न व्रत हैं।

हमने यह देख लिया है कि विधियों के चार प्रकार हैं, जिनमें एक है विनियोग विधि, जो किसी प्रमुख धार्मिक कर्म एवं उसके अगो के सम्बन्ध पर प्रकाश डालती है। प्रमुख कर्म को शेषी या अगी कहा जाता है। यह बात पू० मी० सू० के तीसरे अध्याय में उल्लिखित है। पू० मी० सू० ने सर्वप्रथम 'शेष' की परिभाषा की है और बताया है कि यह ऐसा क्यों कहा जाता है और इसे धार्मिक कर्मों में क्यों प्रयुक्त किया जाता है, इतना ही नहीं, वहाँ यह भी बताया गया है कि शेष और शेषी के सम्बन्ध को निश्चित करने के साधन क्या होते हैं और उन साधनों की तुलनात्मक शक्ति को कैसे जाना जा सकता है।

अब हम अग एवं अगी के कुछ दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' (चावलों पर जल छिड़कता है) में प्रोक्षण (छिडकना) चावलों का अग है (अर्थात् वह चावल के सम्बन्ध में गौण सम्बन्ध रखता है), जैसा कि कर्मकारक (व्रीहीन्) से प्रकट है। प्रोक्षण से अपूर्व फल की प्राप्ति में सहायता मिलती है, क्योंकि चावलों पर बिना जल छिडकने से यदि याग किया जाय तो अपूर्व की प्राप्ति नहीं होगी। दूसरा दृष्टान्त है—"वह 'ऋत की लगाम पकड ली' नामक मन्त्र के साथ घोड़े की रशना (लगाम) पकडता है"।[२८] यहाँ पर 'रशनाम्' में कर्मकारक द्वारा प्रदर्शित है कि मन्त्र का स्थान गौण है, वह अश्व की रशना का अग है, क्योंकि लगाम पकडते समय उसका उच्चारण (मन्त्र का उच्चारण) लगाम में एक सस्कार का प्रभाव छोड जाता है तथा (लगाम का) पकडना घोडे की लगाम का एक अग है। (जो कर्मकारक में है)। यह उसी प्रकार है जैसा कि प्रोक्षण चावल के अन्नों का अग है।

२७ तप्ते पयसि दध्यानयति सा, वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्। , शबर ने (४।१।२३ पर) इसे उद्धृत किया है और कहा है 'आमिक्षायां दधिपयसी विद्येते न वाजिने। वाजिने तिक्तकटुको रस।' वैश्वदेवी एक तद्धित है और उसका अर्थ है विश्वदेवा, देवता, अस्या, जो पाणिनि के सूत्र ४।२।२४ (सास्यदेवता) के अनुसार बना है। वाजिनामिक्षारूपगुणभेदाद्वाजिनद्रव्यककर्मान्तरम्। आमिक्षाद्रव्यक च कर्मान्तरमिति चिन्तितम्। वाजिन नामामिक्षोत्पत्तिशिष्टमुदकम्। आमिक्षा नाम पयोदधि मिश्रण जनित दृढाकार द्रव्यम्। सर्वदर्शनकौमुदी (पृ० १००, त्रिवन्दरम् सस्कृत सीरीज)। शकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (३।३।१) में इसे उल्लिखित किया है। तै० ब्रा० (१।६।२।५) में आया है 'वैश्वदेव्यामिक्षा भवति। वैश्वदेव्यो वै प्रजा। वाजिनमानयति।' आमिक्षा तप्त दूध में दही डालने का प्रयोजक है, किन्तु वाजिन प्रयोजक नहीं है, क्योंकि आमिक्षा की उत्पत्ति में वह स्वय प्रकट हो जाता है।

२८ 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य इत्यश्वाभिधानीमादत्ते'—यह तै० स० (५।१।२।१) में आया है। 'इमामगृभ्णन रशनामृतस्य' नामक शब्द तै० स० (४।१।२।१) के मन्त्र का एक-चौथाई है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'शेष' का अर्थ है 'जो दूसरे के प्रयोजन को सिद्ध करता है और यह उस दूसरे का शेष है (पू० मी० सू० ३।१।२ 'शेष परार्थत्वात्') तथा बादरि (३।१।३) के अनुसार 'उन द्रव्यों, गुणों (यथा किसी गाय का लाल रंग एवं संस्कारो[२९] (जो किसी व्यक्ति या वस्तु को याग या किसी अन्य उद्देश्य के लिए योग्य बनाते हैं) के लिए 'शेष' शब्द सदैव प्रयुक्त होता है, किन्तु जैमिनि (३।१।४-६) के मत से धार्मिक कृत्य फल या परिणाम के लिए शेष है, फल धार्मिक कृत्य करने वाले के लिए शेष है तथा कर्ता कुछ कर्मों के लिए शेष है। धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में 'शेष' शब्द बहुधा आया है। उदाहरणार्थ, मिता० ने याज्ञ० (२।११८-११९) की टीका करते हुए कहा है कि ११८वें श्लोक का पूर्वार्ध पूरे प्रकरण का शेष (अंग)[३०] है (अर्थात् वह श्लोक के शेष अर्थात् बचे अंश के प्रयोजन को सिद्ध करता है)। इसका परिणाम (यदि मिताक्षरा की बात मान ली जाय) यह है कि यदि किसी दायाद या रिक्थोधिकारी को किसी अनुगृहीत मित्र से, जिसे कुल सम्पदा के व्यय से आभारी किया गया था, भेंट प्राप्त हो, यदि किसी सदस्य के श्वसुर से, जिसे उस सदस्य की वधू के लिए कुल-सम्पत्ति का कुछ भाग दिया गया था, कोई दान प्राप्त हो, या कोई दबी हुई सम्पत्ति किसी सदस्य द्वारा अन्य पैतृक सम्पत्ति से प्राप्त की गयी या यदि किसी सदस्य ने कुल-सम्पत्ति द्वारा विद्याध्ययन करने के उपरान्त विद्याज्ञान द्वारा कुछ लाभ पाया, तो इस प्रकार की सम्पदाएँ सभी सदस्यों में अवश्य विभाजित होनी चाहिए। किन्तु मिताक्षरा के इस दृष्टिकोण को दायभाग (६।१।८) एवं विश्वरूप ऐसे ग्रन्थों एवं लेखकों ने अमान्य ठहराया है। देखिए इस महाग्रन्थ के खण्ड–३ के पृ० ५७९–५८०।

विनियोग–विधियों के सम्बन्ध में प्रायः यह निर्णय नहीं हो पाता कि उनमें कौन प्रमुख है, कौन गुणभूत अथवा सहकारी है। इसी प्रकार कभी-कभी विरोध उपस्थित हो जाता है या सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इन सब बातों को निश्चित करने के लिए पूर्व मीमांसा सूत्र ने ६ प्रकार के साधनों का उल्लेख किया है, यथा—**श्रुति** (सीधे ढंग के वैदिक वक्तव्य या वचन), **लिंग** (अप्रत्यक्ष संकेत), **वाक्य** (वाक्य रचना – सम्बन्धी सम्बन्ध) **प्रकरण** (संदर्भ), **स्थान** (स्थान या अनुक्रम) एवं **समाख्या** (संज्ञा या नाम)। जब इनमें से कई एक साथ हो जाते हैं और एक ही विषय की ओर निर्देश करते हैं तो प्रत्येक आने वाला अपने पूर्व वाले से दुर्बल होता है, क्योंकि प्रत्येक आगे आने वाला अपने से पीछे वाले से अपेक्षाकृत अर्थ के संबंध से अधिक दूर होता है। पू०मी० सू० (३।३।१४) को 'बलाबलाधिकरण' कहा जाता है।[३१]

२९ संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य। तेनापि क्रियाया कर्त्तव्याया प्रयोजनमिति सोपि परार्थः। शबर (पू० मी० सू० ३।१।३), तथा संस्कारोप्येव इत्यादि र्यागसाधनपुरोडाशादि निर्वृत्तये चोदिता व्रीह्यादीनां स्वरूपेणायोग्यत्वादवहतानां योग्यत्वमापादयन्नुत्पत्त्यैवाङ्गं भवतीति। तन्त्रवा० (पृ० ६६०)।

३० अत्र च पितृद्रव्याविरोधेन यत्किंचित्स्वयमर्जिततमिति सर्वशेषः। तथा पितृद्रव्याविरोधेनेत्यस्य सर्वशेषत्वादेव पितृद्रव्याविरोधेन प्रतिग्रह लब्धमपि विभजनीयम्। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११८–११९)।

३१ श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्। पू० मी० सू० (३।३।१४) में समवाय का अर्थ है एकार्थोपनिपात। तन्त्रवार्तिक में आया है 'समानविषयत्वं हि समवायोऽभिधीयते' और उसमें जोड़ा गया है 'न ह्येकत्र सम्भवमात्रं समवायः किं तर्हि विषयैकत्वम्' (पृ० ८२२) एवं तस्माद्विरोधविषयमेव समवायग्रहणम् (पृ० ८२३), दुर्बलस्य भावः दौर्बल्यम् अरस्य दौर्बल्यं परदौर्बल्यं तदेव पारदौर्बल्यम्, विप्रकर्ष का तात्पर्य है विलम्ब, शास्त्रदीपिका ने इस सूत्र पर टिप्पणी दी है 'इदानीं श्रुत्यादीनामेकविषय समवायेन विरोधे सति बलाबलं विचार्यते।'

जहाँ श्रुति एव लिंग दोनो मे विरोध हो जाता है, उसका उदाहरण इस वचन मे पाया जाता है—'ऐन्द्री ऋचा के साथ (वह पद्य जो इन्द्र को सम्बोधित है) उमे गार्हपत्य अग्नि की स्तुति करनी चाहिए।' ऐन्द्री पद्य यह है—'निवेशन सगमनो वसूमा इन्द्रोन तम्थौ समरे पथीनाम्' (तै स० ४।२।५।४)। यहा पर सन्देह इस बात को लेकर उठता है कि इन्द्र को सम्बोधित पद्य के साथ इन्द्र की स्तुति की जाय (जैसा कि 'ऐन्द्रचा' शब्द से प्रकट होता है) या गार्हपत्य अग्नि की (जैसा कि उक्ति मे प्रत्यक्ष रूप से आया हे) या इच्छानुसार इन्द्र या गार्हपत्य मे किसी की स्तुति की जाय।[32] निष्कर्ष यह हे कि श्रुति (प्रत्यक्ष श्रूयमाण कथन या वचन) लिंग की अपेक्षा अधिक बलशाली होता हे। 'गार्हपत्यम् उपतिष्ठते' शब्दो को सुनने पर लगता है, हमको गार्हपत्य की पूजा के लिए वेद द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्देश मिल रहा हे। 'ऐन्द्रचा' शब्द करण कारक मे है, (यथा 'दध्ना जुहोति' अर्थात् दही से होम करता हे) अत वह केवल गुण बताता हे कि जो मन्त्र कहा जायेगा वह इन्द्र को सम्बोधित हे और यहाँ कोई अन्य शब्द ऐसा नही हे जो यह स्पष्ट रूप से बतलाये कि इन्द्र की स्तुति करनी है। शबर (पू० मी० सू० ३।२।४) ने व्याख्या की हे कि गार्हपत्य मे इन्द्र की कुछ विशेषताएँ (गुण) पायी जाती है, अत रूपक के रूप मे उसे इन्द्र कहा जा सकता हे (जेसे कि हम वीर पुरुष को सिंह कह देते है), क्योकि गार्हपत्य इन्द्र की भाँति यज्ञ करने का एक साधन हे या गार्हपत्य 'इन्द्' धातु के अर्थवश इन्द्र कहा जा सकता है और उसका अर्थ ईश्वर या स्वामी हो सकता हे।[33]

इन छह साधनो मे प्रत्येक अपने अनुसारी साधनो के विरोध मे पड सकता है। अत श्रुति के लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान या समाख्या से विरोध के पाँच प्रकार हो सकते ह। लिंग-सम्बन्धी विरोध की चर्चा ऊपर हो चुकी है। लिंग एव वाक्य मे विरोध के चार प्रकार होगे, या तीन साधनो मे प्रत्येक के साथ विरोध

३२ निवेशन सगमनो वसूनामित्यैन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते। मैत्रा० स० (३।२।४)। यह मन्त्र चयन मे आया है। कुछ लोगो के मत से (यथा—भामती, वेदान्तसूत्र, ३।३।२५) ऐन्द्री मन्त्र यह हे 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे। (ऋ० ८।५१।७ एव वाज० स० ८।२)। इसका प्रयोग अग्निहोत्र (महोपस्थान) मे होता हे। पू० मी० सू० (३।३।१४) मे 'श्रुति' एव 'लिंग' शब्द का पारिभाषिक अर्थ किया गया है। सामान्यत श्रुति का अर्थ होता है वेद या वेद-वचन (मूल)। किन्तु यहाँ पर श्रुति एव लिंग का अर्थ क्रम से 'निरपेक्षो रव श्रुति' एव 'शब्दसामर्थ्यं लिंगम्', अर्थात् वैदिक शब्द या उक्ति (वचन) जो स्वतन्त्र (निरपेक्ष) होती हे (अर्थात् जिसके लिए किसी मध्यवर्ती पद की आवश्यकता नही पडती) एव लिंग का तात्पर्य है शब्दो की अभिव्यजना-शक्ति। ये दोनो परिभाषाएँ अर्थसग्रह मे दी हुई हैं—'यत्तावच्छब्दस्यार्थमभिधातु, सामर्थ्यं तल्लिगम् यदर्थस्याभिधान शब्दस्य श्रवणमात्रादेवागम्यते स श्रुत्यावगम्यते। श्रवण श्रुति।' शबर (३।३।१३, पृ० ८२५), मिलाइए पाणिनि 'कर्तुरीप्सिततम कर्म' (१।४।४९), 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (२।३।१८)। 'ऐन्द्रचा' शब्द तृतीया (करण कारक) मे हे अत वह 'करण' का अर्थ या भाव प्रकट करता है, किन्तु गार्हपत्य कर्म कारक मे हे अत यह हठात् प्रकट करता हे कि यह उपस्थान मे प्रधान है।

३३ गुणाद्वाप्यभिधान स्यात्सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात्। (पू० मी० सू० ३।२।४), शबर, 'भवति हि गुणादप्यभिधानम्। यथा सिहो देवदत्त इति। एवमिहाप्यनिन्द्रे गार्हपत्य इन्द्रशब्दो भविष्यति। अस्ति चास्येन्द्र-सादृश्यम्। यथैवेन्द्रो यज्ञसाधनमेव गार्हपत्योपि। अथवेन्दतेरैश्वर्य-कर्मण इन्द्रो भवति। भवति च गार्हपत्यस्यापि स्वस्मिन् कार्य ईश्वरत्वम्।', देखिए भामती (वे० सू० ३।३।२५ पर)।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'शेष' का अर्थ है 'जो दूसरे के प्रयोजन को सिद्ध करता है और यह उस दूसरे का शेष है (पू० मी० सू० ३।१।२ 'शेष परार्थत्वात्') तथा बादरि (३।१।३) के अनुसार 'उन द्रव्यों, गुणों (यथा किसी गाय का लाल रंग एवं सम्कारों[29] (जो किसी व्यक्ति या वस्तु को याग या किसी अन्य उद्देश्य के लिए योग्य बनाते हैं) के लिए 'शेष' शब्द सदैव प्रयुक्त होता है, किन्तु जैमिनि (३।१।४-६) के मत में धार्मिक कृत्य फल या परिणाम के लिए शेष है, फल धार्मिक कृत्य करने वाले के लिए शेष है तथा कर्ता कुछ कर्मों के लिए शेष है। धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में 'शेष' शब्द बहुधा आया है। उदाहरणार्थ, मिता० ने याज्ञ० (२।११८-११९) की टीका करते हुए कहा है कि ११८वें श्लोक का पूर्वार्ध पूरे प्रकरण का शेष (अंग)[30] है (अर्थात् वह श्लोक के शेष अर्थात् बचे अंश के प्रयोजन को सिद्ध करता है)। इसका परिणाम (यदि मिताक्षरा की बात मान ली जाय) यह है कि यदि किसी दायाद या रिक्थाधिकारी को किसी अनुगृहीत मित्र से, जिसे कुल सम्पदा के व्यय से आभारी किया गया था, भेंट प्राप्त हो, यदि किसी सदस्य के श्वसुर से, जिसे उस सदस्य की वधू के लिए कुल-सम्पत्ति का कुछ भाग दिया गया था, कोई दान प्राप्त हो, या कोई दबी हुई सम्पत्ति किसी सदस्य द्वारा अन्य पैतृक सम्पत्ति से प्राप्त की गयी या यदि किसी सदस्य ने कुल-सम्पत्ति द्वारा विद्याध्ययन करने के उपरान्त विद्याज्ञान द्वारा कुछ लाभ पाया, तो इस प्रकार की सम्पदाएँ सभी सदस्यों में अवश्य विभाजित होनी चाहिए। किन्तु मिताक्षरा के इस दृष्टिकोण को दायभाग (६।१।८) एवं विश्वरूप ऐसे ग्रन्थों एवं लेखकों ने अमान्य ठहराया है। देखिए इस महाग्रन्थ के खण्ड—३ के पृ० ५७९—५८०।

विनियोग—विधियों के सम्बन्ध में प्रायः यह निर्णय नहीं हो पाता कि उनमें कौन प्रमुख है, कौन गुणभूत अथवा सहकारी है। इसी प्रकार कभी-कभी विरोध उपस्थित हो जाता है या सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इन सब बातों को निश्चित करने के लिए पूर्व मीमांसा सूत्र ने ६ प्रकार के साधनों का उल्लेख किया है, यथा—**श्रुति** (सीधे ढंग के वैदिक वक्तव्य या वचन), **लिंग** (अप्रत्यक्ष संकेत), **वाक्य** (वाक्य रचना – सम्बन्धी सम्बन्ध) **प्रकरण** (संदर्भ), **स्थान** (स्थान या अनुक्रम) एवं **समाख्या** (संज्ञा या नाम)। जब इनमें से कई एक साथ हो जाते हैं और एक ही विषय की ओर निर्देश करते हैं तो प्रत्येक आने वाला अपने पूर्व वाले से दुर्बल होता है, क्योंकि प्रत्येक आगे आने वाला अपने से पीछे वाले से अपेक्षाकृत अर्थ के संबंध से अधिक दूर होता है। पू०मी० सू० (३।३।१४) को 'बलाबलाधिकरण' कहा जाता है।[31]

२९ संस्कारो नाम सभवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य। तेनापि क्रियाया कर्तव्याया प्रयोजनमिति सोपि परार्थः। शबर (पू० मी० सू० ३।१।३), तथा संस्कारोप्यव इत्यादि र्यागसाधन पुरोडाशादि निर्वृत्तये चोदिता व्रीह्यादीना स्वरूपेणायोग्यत्वादवहताना योग्यत्वमायादयन्नुत्पत्त्यैवाङ्ग भवतीति। तन्त्रवा० (पृ० ६६०)।

३० अत्र च पितृद्रव्याविरोधेन यत्किंचित्स्वयमर्जिततमिति सर्वशेषः। तथा पितृद्रव्याविरोधेनेत्यस्य सर्वशेषत्वादेव पितृद्रव्याविरोधेन प्रतिग्रह लब्धमपि विभजनीयम। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११८–११९)।

३१ श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याना समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्। पू० मी० सू० (३।३।१४) में समवाय का अर्थ है एकार्थोपनिपात। तन्त्रवार्तिक में आया है 'समानविषयत्व हि समवायोऽभिधीयते' और उसमें जोड़ा गया है 'न ह्येकत्र सम्भवमात्र समवायः किं तर्हि विषयैकत्वम्' (पृ० ८२२) एवं तस्माद्विरोधविषयमेव समवायग्रहणम् (पृ० ८२३), दुर्बलस्य भावः दौर्बल्यम् अरस्य दौर्बल्य परदौर्बल्य तदेव पारदौर्बल्यम्, विप्रकर्ष का तात्पर्य है विलम्ब, शास्त्रदीपिका ने इस सूत्र पर टिप्पणी दी है 'इदानी श्रुत्यादीनामेक विषय समवायेन विरोधे सति बलाबल विचार्यते।'

होगा। इसी प्रकार वाक्य का प्रकरण तथा अन्य दो साधनों में विरोध हो सकता है, प्रकरण का स्थान या समाख्या से तथा स्थान का समाख्या से विरोध हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि छह साधनों के अपने में १५ प्रकार के विरोध हो सकते हैं। इन छह साधनों में प्रत्येक के अपने पूर्ववर्ती साधनों के विरोध पर हम ध्यान नहीं देना चाहिए, क्योंकि ऐसा कहना कि लिंग श्रुति के विरोध में पड़ता है, वैसा ही है जैसा कि यह कहना कि श्रुति लिंग के विरोध में पड़ती है। स्थानाभाव से इस प्रकरण को हम यहीं छोड़ते हैं, क्योंकि इन सभी प्रकार के १५ विरोध-दृष्टान्तों को वेद एवं धर्मशास्त्र ग्रन्थों से उदाहरण देकर समझाने में एक लम्बा आख्यान उपस्थित हो जायगा।

धर्मशास्त्र ग्रन्थ **बलाबल** नामक अधिकरण (पू० मी० सू० ३।३।१४) का बहुधा प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ, पराशरमाधवीय (१।१, पृ० २९८-२९९) ने एक श्रुति-वचन उद्धृत किया है कि प्रत्येक व्यक्ति को सायंकालीन आह्निक सन्ध्या वरुण को सम्बोधित मन्त्रों के साथ आदित्य-पूजा के रूप में करनी चाहिए तथा टिप्पणी की है कि 'वारुणीभिः' (ऐन्द्रया के समान) केवल लिंग है किन्तु 'आदित्यमुपस्थाय' श्रुति (प्रत्यक्ष वचन) है, इसलिए सायंकाल में वरुण को सम्बोधित मन्त्रों के साथ सूर्य (आदित्य) की पूजा की जानी चाहिए, और अपने कथन की पुष्टि के लिए 'ऐन्द्रया गार्हपत्यम् उपतिष्ठते' के दृष्टान्त की ओर संकेत किया है।[३४]

पू० मी० सू० के चौथे अध्याय में मुख्यतः **प्रयोज्य** एवं **प्रयोजक** तथा **क्रत्वर्थ** एवं **पुरुषार्थ** के विषय का विवेचन पाया जाता है। क्रत्वर्थ एवं पुरुषार्थ के विषय में हमने पहले ही, गत अध्याय में पढ़ लिया है। प्रथम दो के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। प्रयाजों को क्रत्वर्थ घोषित किया गया है। अतः क्रतु (यज्ञ) प्रयाजों का प्रयोजक (प्रेरणात्मक शक्ति) है। फल (यथा स्वर्ग आदि) को याग (अर्थात् पुरुषार्थ क्रिया) का प्रयोजक कहा जाता है। वही प्रयोजक होता है जिसके लिए व्यक्ति वैदिक स्तुतिवचन द्वारा कुछ सम्पादित करता है। वाक्य यों है--'स्वर्ग की प्राप्ति के लिए दर्शपूर्णमास यज्ञ करना चाहिए,' अतः फल (स्वर्ग आदि) को दर्शपूर्णमास-याग का प्रयोजक कहा जायगा।[३५] दूध में दही मिलाने की व्यवस्था से व्यक्ति को **आमिक्षा** उत्पन्न करने की प्रेरणा मिलती है न कि वाजिन बनाने की। क्योंकि वाजिन तो आमिक्षा की उत्पत्ति पर स्वतः उत्पन्न होता है। अतः आमिक्षा, जो वैश्वदेवयाग में हवि होती है, वैश्वदेवयाग का प्रयोजक है किन्तु वाजिन-याग को दूध में दही डालने का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता (पू० मी० सू० ४।१।२२-२४)। परिणाम यह होता है, यदि संयोग से आमिक्षा नष्ट हो जाय तो हवि (आमिक्षा) की प्राप्ति के लिए दही को

३४ वारुणीभिरस्तथादित्यमुपस्थाय प्रदक्षिणम्। यद्यपि वारुणीभिर्वरुणस्योपस्थानं लिंगबलात् प्राप्तं तथापि श्रुतेः प्राबल्यात् तथा लिंगं बाधित्वा आदित्योपस्थाने एव विनियुज्यते। परा० मा० (१।१, पृ० २९८-२९९)। पराशर० ने 'इमं मे वरुण' (ऋ० १।२५।१९-२०) को वारुणी मन्त्रों के रूप में लिया है।

३५ मिलाइए शबर (पू० मी० सू० ४।१।१ अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा) 'यापि प्रयोजकाप्रयोजकफलविध्यर्थवादांलिंगप्रधानचिन्ता सापि क्रत्वर्थपुरुषार्थजिज्ञासैव। कथम्। अंगं क्रत्वर्थः प्रधानं पुरुषार्थः। फलविधिः पुरुषार्थः, अर्थवादः क्रत्वर्थः। प्रयोजकः कश्चित्पुरुषार्थोऽप्रयोजकः क्रत्वर्थः। तस्मात्क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासेति सूचितम्... क्रतवे यः स क्रत्वर्थः, पुरुषाय यः स पुरुषार्थः।

पुन तप्त दूध मे डालना होगा, किन्तु यदि वाजिन (जो प्रयोजक नहीं है) नष्ट हो जाय तो दही को पुन तप्त दूध मे डालने की आवश्यकता नही है।[३६]

'पुरुषार्थ' कर्मों के उदाहरण गत अध्याय (२६) मे दिये जा चुके है, यथा—प्रजापतिव्रत। पूर्व-मीमांसा-सूत्र के चौथे अध्याय मे (दूसरे पाद मे) प्रतिपत्तिकर्म एव अर्थकर्म के विषय दृष्टान्त उपस्थित किये गये है। बहुत से ऐसे द्रव्य, प्रसाधन (संस्कार) एव सहकारी कर्म होते है जिनके साथ फल सम्बन्धित रहता है। उदाहरणार्थ, ऐसा कहा गया है (तै० स० ३।५।७।२ मे) 'जिसकी जुहू पर्ण (पलाश) की लकडी की बनी होती है, वह अपने विषय मे कोई बुरा अथवा हानिप्रद शब्द नही सुनता', 'यह कि वह (अपनी आँखों मे) अञ्जन लगाता है, वह अपने शत्रु की आँख को हानि पहुँचाता है' (तै० स० ६।१।१।५), 'यह कि वह प्रयाजो एव अनुयाजो का सम्पादन करता है, वह, सचमुच यज्ञ का कवच है।' पू० मी० सू० ने घोषित किया है कि द्रव्यो, प्रसाधनो (संस्कारो) एव सहायक कर्मो से सम्बन्धित फल विषयक वचन, वास्तव मे फलो की विधियाँ नही है, प्रत्युत वे केवल अर्थवाद है, क्योंकि वे सभी प्रधान क्रतु के उद्देश्य की पूर्ति करते है।[३७]

यह चौथा अध्याय (तीसरा पाद) यह निश्चित करता है कि यद्यपि विश्वजित् यज्ञ के सम्पादन के लिए श्रुति (वेद) द्वारा कोई फल स्पष्ट रूप से घोषित नहीं है, तथापि विश्वजित् यज्ञ मे (जैसा उन यज्ञो मे होता है, जहाँ फल स्पष्ट रूप से उल्लिखित नही है) फल स्वर्ग की प्राप्ति है।[३८]

विश्वजित् वह विलक्षण यज्ञ है जिसमे यजमान अपना सब कुछ दान कर देता है ('विश्वजिति सर्वस्व ददाति')। जैमिनि ने इसके विषय मे चौदह अधिकरण बनाये है, कुछ मनोरजक प्रमेय ये है—यजमान अपने सम्बन्धियो (यथा पिता या माता) का दान नही कर सकता, वह केवल उसी का दान कर सकता है जिसका वह स्वामी होता है, यहाँ तक कि सम्राट अपने सम्पूर्ण साम्राज्य का दान नहीं कर सकता, क्योंकि अन्य व्यक्ति भूमि पर अधिकार रखते है ओर राजा लोगों की रक्षा करता है और केवल भूमि की उपज के किसी अश का अधिकारी होता है। यजमान अश्वो का दान नही कर सकता, क्योंकि श्रुति ने स्पष्ट रूप से विश्वजित् मे घोडो के दान को अमान्य ठहराया है। यजमान केवल उसी सम्पत्ति का दान कर सकता है जो यज्ञ मे दक्षिणा देने के समय उसकी अपनी हो, न कि उस सम्पत्ति का जो भविष्य मे उसकी होने वाली हो। वह शूद्र भी जो यजमान की सेवा करता है (मनु के मतानुसार सेवा करना उसका धर्म है) दान मे नही दिया जा सकता। केवल उसी को विश्वजित् यज्ञ करने का अधिकार है जिसके पास १२० या इससे अधिक गायें हो।

३६ तस्माद्दाभिक्षा प्रयोक्त्री वाजिनमप्रयोजकमिति। शबर (३।१।२३)। यद्युभय प्रयोजक वाजिने नष्टे पुनस्तप्ते पयसि दध्यानेतव्यम्। अथ वाजिनमप्रयोजक नष्टे वाजिने लोपो दध्यानयनस्य। शबर (४।१।२४)।

३७ द्रव्यसस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवाद स्यात्। पू० मी० सू० (४।३।१०), शबर ने तीन वचन उद्धृत किये है—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पाप श्लोक शृणोति (द्रव्य), यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते (सस्कार), यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते (कर्म)।

३८ स स्वर्ग स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्। पू० मी० सू० (४।३।१५)। सर्वान् का अर्थ है सर्वपुरुषान्। शबर ने व्याख्या की है—'सर्वे हि पुरुषा स्वर्गकामा। कुत एतत्। प्रीतिर्हि स्वर्ग। सर्वश्च प्रीति प्रार्थयते।', मेधातिथि (मनु २।२) ने इसकी ओर सकेत किया है। देखिए परा० मा० (१।१, पृ० १४८)। विष्णुपुराण (२।६।४६) मे आया है—'मन प्रीतिकरो स्वर्गो नरकस्तद्विपर्यय। नरकस्वर्गसज्ञे वै पुण्यपापे द्विजोत्तम॥

होगा। इसी प्रकार वाक्य का प्रकरण तथा अन्य दो साधनों से विरोध हो सकता है, प्रकरण का स्थान या समाख्या से तथा स्थान का समाख्या में विरोध हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि छह साधनों के अपने में १५ प्रकार के विरोध हो सकते हैं। इन छह साधनों में प्रत्येक के अपने पूर्ववर्ती साधना के विरोध पर हम ध्यान नहीं देना चाहिए, क्योंकि ऐसा कहना कि लिंग श्रुति के विरोध में पड़ता है, वैसा ही है जैसा कि यह कहना कि श्रुति लिंग के विरोध में पड़ती है। स्थानाभाव से इस प्रकरण को हम यहीं छोड़ते हैं, क्योंकि इन सभी प्रकार के १५ विरोध-दृष्टान्तों को वेद एवं धर्मशास्त्र ग्रन्थों में उदाहरण देकर समझाने में एक लम्बा आख्यान उपस्थित हो जायगा।

धर्मशास्त्र ग्रन्थ **बलाबल** नामक अधिकरण (पू० मी० सू० ३।३।१४) का बहुधा प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ, पराशरमाधवीय (१।१, पृ० २६८--२६९) ने एक श्रुति-वचन उद्धृत किया है कि प्रत्येक व्यक्ति को सायंकालीन आह्निक सन्ध्या वरुण को सम्बोधित मन्त्रों के साथ आदित्य-पूजा के रूप में करनी चाहिए तथा टिप्पणी की है कि 'वारुणीभिः' (ऐन्द्रया के समान) केवल लिंग है किन्तु 'आदित्यमुपस्थाय' श्रुति (प्रत्यक्ष वचन) है, इसलिए सायंकाल में वरुण को सम्बोधित मन्त्रों के साथ सूर्य (आदित्य) की पूजा की जानी चाहिए, और अपने कथन की पुष्टि के लिए 'ऐन्द्रया गार्हपत्यम् उपतिष्ठते' के दृष्टान्त की ओर संकेत किया है।[३४]

पू० मी० सू० के चौथे अध्याय में मुख्यतः **प्रयोज्य** एवं **प्रयोजक** तथा **क्रत्वर्थ** एवं **पुरुषार्थ** के विषय का विवेचन पाया जाता है। क्रत्वर्थ एवं पुरुषार्थ के विषय में हमने पहले ही, गत अध्याय में पढ़ लिया है। प्रथम दो के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। प्रयाजों को क्रत्वर्थ घोषित किया गया है। अतः क्रतु (यज्ञ) प्रयाजों का प्रयोजक (प्रेरणात्मक शक्ति) है। फल (यथा स्वर्ग आदि) को याग (अर्थात् पुरुषार्थ क्रिया) का प्रयोजक कहा जाता है। वही प्रयोजक होता है जिसके लिए व्यक्ति वैदिक स्तुतिवचन द्वारा कुछ सम्पादित करता है। वाक्य यों है--'स्वर्ग की प्राप्ति के लिए दर्शपूर्णमास यज्ञ करना चाहिए,' अतः फल (स्वर्ग आदि) को दर्शपूर्णमास--याग का प्रयोजक कहा जायगा।[३५] दूध में दही मिलाने की व्यवस्था से व्यक्ति को **आमिक्षा** उत्पन्न करने की प्रेरणा मिलती है न कि वाजिन बनाने की। क्योंकि वाजिन तो आमिक्षा की उत्पत्ति पर स्वतः उत्पन्न होता है। अतः आमिक्षा, जो वैश्वदेवयाग में हवि होती है, वैश्वदेवयाग का प्रयोजक है किन्तु वाजिन-याग को दूध में दही डालने का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता (पू० मी० सू० ४।१।२२--२४)। परिणाम यह होता है, यदि संयोग से आमिक्षा नष्ट हो जाय तो हवि (आमिक्षा) की प्राप्ति के लिए दही को

३४ वारुणीभिस्तथादित्यमुपस्थाय प्रदक्षिणम्। यद्यपि वारुणीभिर्वरुणस्योपस्थानं लिंगबलात् प्राप्तं तथापि श्रुतेः प्राबल्यात् तया लिंगं बाधित्वा आदित्योपस्थाने एव विनियुज्यते। परा० मा० (१।१, पृ० २६८-२६९)। पराशर० ने 'इमं मे वरुण' (ऋ० १।२५।१९-२०) को वारुणी मन्त्रों के रूप में लिया है।

३५ मिलाइए शबर (पू० मी० सू० ४।१।१ अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा) 'यापि प्रयोजकाप्रयोजकफलविध्यर्थवादालिंगप्रधानचिन्ता सापि क्रत्वर्थपुरुषार्थजिज्ञासैव। कथम्। अंगं क्रत्वर्थः प्रधानं पुरुषार्थः। फलविधिः पुरुषार्थः, अर्थवादः क्रत्वर्थः। प्रयोजकः कश्चित्पुरुषार्थोऽप्रयोजकः क्रत्वर्थः। तस्मात्क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासेति सूचितम्'। क्रतवे यः स क्रत्वर्थः, पुरुषाय यः स पुरुषार्थः।

पुन तप्त दूध में डालना होगा, किन्तु यदि वाजिन (जो प्रयोजक नहीं है) नष्ट हो जाय तो दही को पुन तप्त दूध में डालने की आवश्यकता नहीं है।[३६]

'पुरुषार्थ' कर्मों के उदाहरण गत अध्याय (२९) में दिये जा चुके हैं, यथा—प्रजापतिव्रत। पूर्व-मीमांसा-सूत्र के चौथे अध्याय में (दूसरे पाद में) प्रतिपत्तिकर्म एव अर्थकर्म के कतिपय दृष्टान्त उपस्थित किये गये हैं। बहुत से ऐसे द्रव्य, प्रसाधन (संस्कार) एवं सहकारी कर्म होते हैं जिनके साथ फल सम्बन्धित रहता है। उदाहरणार्थ, ऐसा कहा गया है (तै० सं० ३।५।७।२ में) 'जिसकी जुहू पर्ण (पलाश) की लकड़ी की बनी होती है, वह अपने विषय में कोई बुरा अथवा हानिप्रद शब्द नहीं सुनता', 'यह कि वह (अपनी आँखों में) अञ्जन लगाता है, वह अपने शत्रु की आँख को हानि पहुँचाता है' (तै० सं० ६।१।१।५), 'यह कि वह प्रयाजों एवं अनुयाजों का सम्पादन करता है, वह, सचमुच यज्ञ का कवच है।' पू० मी० सू० ने घोषित किया है कि द्रव्यों, प्रसाधनों (संस्कारों) एवं सहायक कर्मों से सम्बन्धित फल विषयक वचन, वास्तव में फलों की विधियाँ नहीं हैं, प्रत्युत वे केवल अर्थवाद हैं, क्योंकि वे सभी प्रधान क्रतु के उद्देश्य की पूर्ति करते हैं।[३७]

यह चौथा अध्याय (तीसरा पाद) यह निश्चित करता है कि यद्यपि विश्वजित् यज्ञ के सम्पादन के लिए श्रुति (वेद) द्वारा कोई फल स्पष्ट रूप से घोषित नहीं है, तथापि विश्वजित् यज्ञ में (जैसा उन यज्ञों में होता है, जहाँ फल स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं है) फल स्वर्ग की प्राप्ति है।[३८]

विश्वजित् वह विलक्षण यज्ञ है जिसमें यजमान अपना सब कुछ दान कर देता है ('विश्वजिति सर्वस्वं ददाति')। जैमिनि ने इसके विषय में चौदह अधिकरण बनाये हैं, कुछ मनोरंजक प्रमेय ये हैं—यजमान अपने सम्बन्धियों (यथा पिता या माता) का दान नहीं कर सकता, वह केवल उसी का दान कर सकता है जिसका वह स्वामी होता है, यहाँ तक कि सम्राट अपने सम्पूर्ण साम्राज्य का दान नहीं कर सकता, क्योंकि अन्य व्यक्ति भूमि पर अधिकार रखते हैं और राजा लोगों की रक्षा करता है और केवल भूमि की उपज के किसी अंश का अधिकारी होता है। यजमान अश्वों का दान नहीं कर सकता, क्योंकि श्रुति ने स्पष्ट रूप से विश्वजित् में घोड़ों के दान को अमान्य ठहराया है। यजमान केवल उसी सम्पत्ति का दान कर सकता है जो यज्ञ में दक्षिणा देने के समय उसकी अपनी हो, न कि उस सम्पत्ति का जो भविष्य में उसकी होने वाली हो। वह शूद्र भी जो यजमान की सेवा करता है (मनु के मतानुसार सेवा करना उसका धर्म है) दान में नहीं दिया जा सकता। केवल उसी को विश्वजित् यज्ञ करने का अधिकार है जिसके पास १२० या इससे अधिक गायें हों।

३६ तस्मादामिक्षा प्रयोक्त्री वाजिनमप्रयोजकमिति। शबर (३।१।२३)। यद्युभयं प्रयोजकं वाजिने नष्टे पुनस्तप्ते पयसि दध्यानेतव्यम्। अथ वाजिनमप्रयोजकं नष्टे वाजिने लोपो दध्यानयनस्य। शबर (४।१।२४)।

३७ द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्। पू० मी० सू० (४।३।१०), शबर ने तीन वचन उद्धृत किये हैं—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति (द्रव्य), यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते (संस्कार), यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते (कर्म)।

३८ स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्। पू० मी० सू० (४।३।१५)। सर्वान् का अर्थ है सर्वपुरुषान्। शबर ने व्याख्या की है—'सर्वे हि पुरुषाः स्वर्गकामाः। कुत एतत्। प्रीतिर्हि स्वर्गः। सर्वश्च प्रीतिं प्रार्थयते।', मेधातिथि (मनु २।२) ने इसकी ओर संकेत किया है। देखिए परा० मा० (१।१, पृ० १४८)। विष्णुपुराण (२।६।४६) में आया है—'मनःप्रीतिकरः स्वर्गो नरकस्तद्विपर्ययः। नरकस्वर्गसंज्ञे वै पुण्यपापे द्विजोत्तम॥

पू० मी० सू० के पाँचवे अध्याय मे क्रम का विवेचन है। क्रम वह है जिसके अनुसार किसी यज्ञ के विभिन्न भाग या कृत्य क्रमानुसार आते है। विधियाँ किसी यज्ञ मे कई कर्मो के सम्पादन के विषय मे बताती है, वे सदा यह नही बताती कि वे कर्म (प्रधान या गुणभूत) किस क्रम मे किये जायेंगे। उनका क्रम यजमान की इच्छा पर निर्भर नही रहता। किसी यज्ञ के कृत्यो के क्रम को निश्चित करने के लिए छह साधनो पर निर्भर होना पडता है, यथा—श्रुति, अर्थ (उद्देश्य, योग्यता), पाठ (शाब्दिक वचन), प्रवृत्ति (आरम्भ), काण्ड (वचन अथवा मूल वचन का स्थान), मुख्य।

किसी सूत्र मे दीक्षा सबधी वैदिक वचन के अनुसार अध्वर्यु गृहपति (यजमान) का दीक्षा-सम्पादन करने के पश्चात् ब्रह्मा पुरोहित की दीक्षा करता है और फिर उद्गाता आदि की दीक्षा करता है। यहाँ पर वैदिक वचन ने प्रत्यक्ष रूप से क्रम की व्यवस्था की है, यथा—यजमान (यज्ञ करने वाले) की दीक्षा के उपरान्त ब्रह्मा, तब उद्गाता आदि की दीक्षा होती है। 'समिधो यजति तनूनपात यजति' आदि मे वाक्यो का क्रम ही विभिन्न यागो के सम्पादन के क्रम को निश्चित करता है (पू० मी० सू० ५।१।४)। वेद सर्वप्रथम अग्निहोत्र की बात करता है और तब यवागू (लपसी) पकाने की बात उठाता है। यहाँ पर अग्निहोत्र को क्रम मे प्रथम स्थान प्राप्त है और उसके उपरान्त यवागू पकाने को स्थान दिया गया है। किन्तु जब तक अर्पित किया जाने वाला पदार्थ बन न जाय अग्निहोत्र नही किया जा सकता। अत यहाँ पर पाठक्रम को छोड देना पडेगा और अर्थक्रम (उद्देश्य तथा यथायोग्यता द्वारा घोषित क्रम) का अनुसरण करना होगा, अर्थात् सर्वप्रथम यवागू बनानी होगी और तब अग्निहोत्र किया जायगा।[३९] यह एक ऐसा उदाहरण है जो यह प्रदर्शित करता है कि अर्थक्रम पाठक्रम से अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होता है (पू० मी० सू० (५।४।१)। पराशरस्मृति मे ऐसी व्यवस्था दी हुई है कि प्रतिदिन सन्ध्या (प्रात कालीन उपासना), स्नान, जप (पवित्र वचनो का मन ही मन पाठ), होम, वेदाध्ययन, देवता-पूजन, वैश्वदेव तथा आतिथ्य करने चाहिए। पराशरमाधवीय का कथन है[४०] कि पाठ के क्रम स्थान पर यथायोग्यता (क्या उचित है) का अनुसरण करना चाहिए, अत प्रथम स्नान होना चाहिए और तब सन्ध्या। स्मृतिचन्द्रिका ने वृद्धमनु को उद्धृत कर कहा है कि पुत्रहीन पवित्र विधवा को मृत पति के लिए पिण्ड देना चाहिए और उसकी सम्पदा ग्रहण करनी चाहिए। यहाँ पर ऐसा मानना उचित है कि वह पहले उसकी (पति की) सम्पदा ग्रहण कर ले और तब उसके श्राद्धो को करे। वाजपेय मे ऐसा वचन आया है कि यज-

३९ अग्निहोत्र जुहोतीति पूर्वमाम्नातम्, ओदन पचतीति पश्चात्। असम्भवात् पूर्वमोदन पक्तव्य। शबर (५।१।३)। और देखिए शबर (५।४।१ पर)।

४० सन्ध्या स्नान जपो होमो देवतातिथिपूजनम्। आतिथ्य वैश्वदेव च षट् कर्माणि दिने दिने॥ पराशरस्मृति (१।३९)। देखिए परा० मा० (१।२।१८), जहाँ आया है—"सन्ध्यास्नानमित्यत्र यवागूपाकन्यायेन स्नानस्य प्राथम्य व्याख्येयम्। 'यवाग्वाग्निहोत्र जुहोति यवागु च पचति' इति श्रूयते। यवाग्वा इति तृतीयया श्रुत्या होमसाधनत्वावगमादसति च द्रव्ये होमनिष्पत्तेरर्थाद् यवागूपाक पूर्वभावीति सिद्धान्त। एवमत्रापि स्नानस्य शुद्धिहेतुत्वाच्छुद्धस्यैव सन्ध्यावन्दनाधिकारित्वात्स्नान पूर्वभावीति द्रष्टव्यम्। वृद्ध-मनु—अपुत्रा शयन भर्तु पालयन्ती व्रते स्थिता। पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्ड कृत्स्नमश लभेत च॥ और टिप्पणी भी की गयी है—'उत्तरार्धे त्वर्थक्रमेण पाठक्रमबाधो द्रष्टव्य। ततश्चायमर्थ। उक्तलक्षणा पत्न्येव भर्त्रंश कृत्स्न लभेत पश्चात्पिण्ड दद्यात्। न पुनस्तस्या सत्या भ्रात्रादिरिति। स्मृतिच० (२, पृ० २९१)।

मान को प्रजापति के लिए यूप (यज्ञिय खूँटा, जिसमें बाँधकर बलि दी जाती है) में १७ पशु बाँधने चाहिए (तै० ब्रा० १।३।४। २-३)। इसकी भी व्यवस्था है कि १७ पशुओं में प्रत्येक के साथ कई संस्कार किये जाने चाहिए, यथा—प्रोक्षण (पवित्र जल छिड़कना), उपाकरण (पास लाना)। इन १७ पशुओं में किसी से भी कार्यारम्भ हो सकता है, अर्थात् किसी के साथ प्रथम संस्कार किया जा सकता है, किन्तु किसी पशु के साथ आरम्भ कर दिये जाने पर अन्य संस्कार भी उसी के साथ हो जाने चाहिए, अर्थात् संस्कारों का क्रम किसी पशु पर आरम्भ किये जाने से निश्चित किया जाता है। काण्ड या स्थान का दृष्टान्त निम्नलिखित है। ज्योतिष्टोम एक आदर्श यज्ञ (प्रकृति) है, जिसका साद्यस्क एक विकृति है। साद्यस्क के विषय में वेद द्वारा यह व्यवस्था दी हुई है कि सभी पशुओं की बलि सवनीय स्तर पर एक साथ होनी चाहिए। ज्योतिष्टोम में तीन पशुओं की बलि दी जाती है, यथा—प्रातःकाल 'अग्निषोमीय', मध्याह्न में 'सवनीय' एवं सायंकाल 'अनुबन्ध्य'। साद्यस्क एक विकृति है, ये सभी बलि इसमें सम्पादित होती हैं, किन्तु इस विषय के विशिष्ट वचन ने व्यवस्था दी है कि तीनों की बलि एक साथ सवनीय स्तर पर होनी चाहिए। किन्तु यह (तीनों का साथ किया जाना) असम्भव है इसीलिए यही किया जा सकता है कि इन तीनों का सम्पादन एक के उपरान्त एक के रूप में ही किया जा सकता है (न कि दिन के विभिन्न कालों में)। प्रथम दृष्टि में ऐसा लगेगा कि अग्नीषोमीय पशु का स्थान सर्वप्रथम होगा, किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि साद्यस्क याग में सवनीय स्तर पर एक के उपरान्त एक बलि के क्रम में सर्वप्रथम सवनीय पशु की बलि होगी (अग्नीषोमीय की नहीं) और उसके उपरान्त अग्नीषोमीय की और उसके तुरन्त उपरान्त अनुबन्ध्य की या अन्तिम दो की बलि किसी भी क्रम में हो सकती है।

मुख्य (प्रथम या प्रधान) द्वारा निश्चित अनुक्रम का एक उदाहरण यों है—'दो सारस्वत हवियाँ दी जाने वाली हैं, वास्तव में यह दिव्य मिथुन (जोड़ा) है'।[४१] यह एक श्रुतिवचन है। सरस्वती एवं सारस्वत की आहुतियों के विषय में सविस्तार वर्णन मिलता है। सन्देह यों उपस्थित होता है—क्या नारी देवता को दी जाने वाली आहुतियाँ पहले होती हैं या वे सर्वप्रथम पुरुष देवता को दी जाने वाली आहुतियाँ हैं? प्रथम दृष्टि में तो ऐसा लगता है कि पहले किसके लिए प्रथमता दी जाय, इस विषय में शास्त्र मूक है, अतः जो जैसा चाहे करे।

४१ सारस्वतौ भवत एतद्वै दैव्यं मिथुनं दैव्यमेवास्मै मिथुनं मध्यतो दधाति पुष्ट्यै प्रजननाय। तै० सं० (२।४।६।१-२)। यह चित्रायाग के सम्बन्ध में उल्लिखित है, जिसमें सात गौण आहुतियाँ व्यवस्थित हैं, जिनमें दो सारस्वत कहलाती हैं। 'सारस्वतौ' का अर्थ है 'सरस्वतीदेवताकः सरस्वद्देवताकश्चेत्युभौ सारस्वतौ।' पू० मी० सू० में आया है—मुख्यक्रमेण वागानां तदर्थत्वात्' (५।१।१४)। याज्ञवल्क्य (२।१३५) ने पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त उसकी पत्नी, पुत्री एवं माता-पिता (पितरौ) को उसका उत्तराधिकारी माना है। मान लीजिए कोई व्यक्ति अपने पिता एवं माता के जीते ही मर जाता है तो ऐसी स्थिति में किसको उत्तराधिकार मिलेगा? क्या माता को पिता से वरीयता मिलेगी या पिता को माता से, या दोनों को सम्पत्ति का बराबर भाग मिलेगा? मिताक्षरा ने माता को वरीयता दी है, स्मृतिचन्द्रिका ने 'सारस्वतौ भवतः' के उदाहरण की ओर निर्देश किया है और दोनों में किसको प्रमुखता दी जाय, इसके विषय में सम्मति दी है कि बृहद्विष्णु जैसी स्मृतियों के अनुसार सर्वप्रथम पिता को अधिकार प्राप्त होता है। दायभाग ने माता की अपेक्षा पिता को वरीयता प्रदान की है और व्यवहारप्रकाश (पृ० ५२४), मदनरत्न (पृ० ३६४) जैसे कतिपय ग्रन्थों ने भी ऐसा ही कहा है। देखिए स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २९७)।

निश्चित निष्कर्ष यह है कि विस्तार के विषय का क्रम याज्यानुवाक्या मन्त्रों से तय किया जाय। ये 'प्र णो देवी सरस्वती' (तै० सं० १।८।२२।१, ऋ०, ६।६१।४) नामक शब्दों में नारी देवता के बारे में सर्वप्रथम उल्लिखित है। अतः निष्कर्ष यह है कि विस्तार में भी नारी देवता वाली आहुतियाँ पहले होनी चाहिए।

पू० मी० सू० (५।१।१६) में यह निर्णीत हुआ है कि मन्त्रों द्वारा उपस्थित क्रम को ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित क्रम की अपेक्षा वरीयता प्रदान की जानी चाहिए। दर्शपूर्णमास यज्ञ में आग्नेय, उपांशु एवं अग्नीषोमीय अन्य यज्ञ समाहित हैं। तै० सं० (२।५।२।३) में अग्नीषोमीय यज्ञ का उल्लेख पहले हुआ है और तै० सं० (२।६।३।३) में आग्नेय का उल्लेख हुआ है। किन्तु ये ब्राह्मण-ग्रन्थ कहे जाते हैं, यद्यपि अब वे संहिता-वचनों में उल्लिखित हैं, क्योंकि उन्होंने विधि की व्यवस्था दी है। किन्तु मन्त्रपाठ में आग्नेय मन्त्र 'अग्निर्मूर्धा' (तै० ब्रा० ३।५।७।१) सर्वप्रथम आया है और उसके उपरान्त 'अग्नीषोमा सवेदसा' (तै० ब्रा० ३।५।७।२) आया है। अतः आग्नेय का सम्पादन पहले होना चाहिए और उसके उपरान्त अग्नीषोमीय का।

यदि कतिपय कर्मों या वस्तुओं द्वारा बहुत से देवताओं का आतिथ्य करना हो, या यदि बहुत से यूप (यज्ञिय स्तम्भ या खूटे) हों, यथा—ऐकादशिनी पशुबलि में, जिन पर अंजन से लेकर परिव्याण (मेखला या करधनी से घेरना) तक के संस्कार किये जाते हैं, तो क्या अंजन से लेकर परिव्याण तक के सारे संस्कार प्रथम यूप पर और उसके उपरान्त उन्हीं संस्कारों को दूसरे यूप पर करके उसी क्रम से अन्य सभी यूपों के साथ ऐसा करना चाहिए, या सभी यूपों पर एक-एक करके अंजन लगा देना चाहिए और अन्य संस्कार सभी यूपों पर एक-के उपरान्त एक करके कर देने चाहिए और इस प्रकार अन्तिम संस्कार परिव्याण का सम्पादन सभी यूपों पर एक के उपरान्त एक करके करना चाहिए। प्रथम ढंग को 'काण्डानुसमय' एवं दूसरे को 'पदार्थानुसमय' कहा जाता है।[४२] जैमिनि ने (५।२।७-९) एवं (५।२।१-३) में क्रम से प्रथम एवं द्वितीय ढंग का उल्लेख किया है। इस विषय में देखिए इस महाग्रन्थ का मूलखण्ड २, पृ० ७३६-७४०, पृ० ११३२, पाद-टिप्पणी २५२८ तथा खण्ड ४, पृ० ४४१-४२, पाद-टिप्पणी ९८७। याज्ञ० (१।२३२ 'अपसव्यं ततः कृत्वा') पर मिताक्षरा की टिप्पणी है कि श्राद्धकर्ता वैश्वदेव ब्राह्मणों के लिए काण्डानुसमय ढंग अपनाता है, अर्थात् पहले पैर धोने के लिए जल देता है, तब आचमन के लिए जल देता है, तब आसन, चन्दन, पुष्प आदि देता है, तब वह अपने दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करता है और पित्र्य ब्राह्मणों को उपचारों का अर्पण करता है।

पूर्वमीमांसा सूत्र का छठा अध्याय अति मनोरंजक है। इसमें यज्ञकर्ता की अर्हताओं एवं उसके अधिकार के प्रश्न के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन है। यह लम्बा अध्याय है जिसमें तीसरे एवं दसवें अध्याय के समान आठ पाद हैं। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों पर इस अध्याय के कतिपय सिद्धान्तों का बड़ा प्रभाव पड़ा है, यथा वैदिक यज्ञों में सम्मिलित होने में स्त्रियों का अधिकार, उसी विषय में शूद्रों का अधिकार, रथकार-न्याय, निषाद-

४२ जैमिनि (५।२।१-३) पर पार्थसारथि का कथन है—'प्रथमं सर्वेषां कृत्वा ततो द्वितीयं कर्तव्यं। एवं दर्शपूर्णमासादिष्वनेकप्रधानसमवाये पदार्थानुसमय एव न्याय्यो न काण्डानुसमय इति स्थितम्।' शास्त्रदीपिका-(पृ० ४२१), गार्ग्यनारायण ने (आश्वलायनगृह्य सूत्र १।२४।७ पर) व्याख्या की है—तत्र पदार्थानुसमयो नाम सर्वेषां वरणक्रमेण विष्टरं दत्त्वा ततः पाद्यं ततोऽर्घ्यमिति। काण्डानुसमयो नाम एकस्यैव विष्टरादिगोनिवेदनान्तं समाप्य ततोऽन्यस्य सर्वं ततोऽन्यस्येति। व्य० म० (पृ० ६६) ने 'तुला' नामक दिव्य में देवताओं की पूजा में पदार्थानुसमय की चर्चा की है।

निश्चित निष्कर्ष यह है कि विस्तार के विषय का क्रम याज्यानुवाक्या मन्त्रों से तय किया जाय। ये 'प्र णो देवी सरस्वती' (तै० सं० १।८।२२।१, ऋ०, ६।६१।४) नामक शब्दों में नारी देवता के बारे में सर्वप्रथम उल्लिखित है। अतः निष्कर्ष यह है कि विस्तार में भी नारी देवता वाली आहुतियाँ पहले होनी चाहिए।

पू० मी० सू० (५।१।१६) में यह निर्णीत हुआ है कि मन्त्रों द्वारा उपस्थित क्रम को ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित क्रम की अपेक्षा वरीयता प्रदान की जानी चाहिए। दर्शपूर्णमास यज्ञ में आग्नेय, उपांशु एवं अग्नीषोमीय अन्य यज्ञ समाहित हैं। तै० सं० (२।५।२।३) में अग्नीषोमीय यज्ञ का उल्लेख पहले हुआ है और तै० सं० (२।६।३।३) में आग्नेय का उल्लेख हुआ है। किन्तु ये ब्राह्मण-ग्रन्थ कहे जाते हैं, यद्यपि अब वे संहिता-वचनों में उल्लिखित हैं, क्योंकि उन्होंने विधि की व्यवस्था दी है। किन्तु मन्त्रपाठ में आग्नेय मन्त्र 'अग्निर्मूर्धा' (तै० ब्रा० ३।५।७।१) सर्वप्रथम आया है और उसके उपरान्त 'अग्नीषोमा सवेदसा' (तै० ब्रा० ३।५।७।२) आया है। अतः आग्नेय का सम्पादन पहले होना चाहिए और उसके उपरान्त अग्नीषोमीय का।

यदि कतिपय कर्मों या वस्तुओं द्वारा बहुत से देवताओं का आतिथ्य करना हो, या यदि बहुत से यूप (यज्ञिय स्तम्भ या खूँटे) हों, यथा—ऐकादशिनी पशुबलि में, जिन पर अंजन से लेकर परिव्याण (मेखला या करधनी से घेरना) तक के संस्कार किये जाते हैं, तो क्या अंजन से लेकर परिव्याण तक के सारे संस्कार प्रथम यूप पर और उसके उपरान्त उन्हीं संस्कारों को दूसरे यूप पर करके उसी क्रम से अन्य सभी यूपों के साथ ऐसा करना चाहिए, या सभी यूपों पर एक-एक करके अंजन लगा देना चाहिए और अन्य संस्कार सभी यूपों पर एक-के उपरान्त एक करके कर देने चाहिए और इस प्रकार अन्तिम संस्कार परिव्याण का सम्पादन सभी यूपों पर एक के उपरान्त एक करके करना चाहिए। प्रथम ढंग को 'काण्डानुसमय' एवं दूसरे को 'पदार्थानुसमय' कहा जाता है।[४२] जैमिनि ने (५।२।७–९) एवं (५।२।१–३) में क्रम से प्रथम एवं द्वितीय ढंग का उल्लेख किया है। इस विषय में देखिए इस महाग्रन्थ का मूलखण्ड २, पृ० ७३९–७४०, पृ० ११३२, पाद-टिप्पणी २५२८ तथा खण्ड ४, पृ० ४४१–४२, पाद-टिप्पणी ९८७। याज्ञ० (१।२३२ 'अपसव्यं ततः कृत्वा') पर मिताक्षरा की टिप्पणी है कि श्राद्धकर्ता वैश्वदेव ब्राह्मणों के लिए काण्डानुसमय ढंग अपनाता है, अर्थात् पहले पैर धोने के लिए जल देता है, तब आचमन के लिए जल देता है, तब आसन, चन्दन, पुष्प आदि देता है, तब वह अपने दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करता है और पित्र्य ब्राह्मणों को उपचारों का अर्पण करता है।

पूर्वमीमांसा सूत्र का छठा अध्याय अति मनोरंजक है। इसमें यज्ञकर्ता की अर्हताओं एवं उसके अधिकार के प्रश्न के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन है। यह लम्बा अध्याय है जिसमें तीसरे एवं दसवें अध्याय के समान आठ पाद हैं। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों पर इस अध्याय के कतिपय सिद्धान्तों का बड़ा प्रभाव पड़ा है, यथा वैदिक यज्ञों में सम्मिलित होने में स्त्रियों का अधिकार, उसी विषय में शूद्रों का अधिकार, रथकार-न्याय, निषाद-

४२ जैमिनि (५।२।१-३) पर पार्थसारथि का कथन है—'प्रथमं सर्वेषां कृत्वा ततो द्वितीयं कर्तव्यम्। एवं दर्शपूर्णमासादिष्वनेकप्रधानसमवाये पदार्थानुसमय एव न्याय्यो न काण्डानुसमय इति स्थितम्।' शास्त्रदीपिका (पृ० ४२१), गार्ग्यनारायण ने (आश्वलायनगृह्य सूत्र १।२४।७ पर) व्याख्या की है—'तत्र पदार्थानुसमयो नाम सर्वेषां वरणक्रमेण विष्टरं दत्त्वा ततः पाद्यं ततोऽर्घ्यमिति। काण्डानुसमयो नाम एकस्यैव विष्टरादिगोनिवेदनान्तं समाप्य ततोऽन्यस्य सर्वं ततोऽन्यस्येति। व्य० म० (पृ० ६६) ने 'तुला' नामक दिव्य में देवताओं की पूजा में पदार्थानुसमय की चर्चा की है।

रोग से पीडित रहने वाला व्यक्ति (रिक्थ का) भाग नही पाता, वह केवल जीविका का अधिकारी है। देखिए इस महाग्रन्थ का मूलखण्ड ३, पृ० ६१०-६१२। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१४०) मे आया है कि अयोग्यता की बाते पुरुषो एव नारियो पर समान रूप से लागू होती है। किन्तु अभी कुछ वर्ष पूर्व (सन् १९५६ मे) हिन्दू उत्तराधिकार व्यवहार (कानून, स० ३२) द्वारा अयोग्यता की सभी धाराएँ समाप्त कर दी गयी, अब कोई भी व्यक्ति रोग, दोष या शरीर-विकलता के आधार पर रिक्थाधिकार से वचित नही किया जा सकता, केवल उन्ही बातो पर प्रतिबन्ध है जो इस व्यवहार (कानून) के अन्तर्गत (२८ वॉ प्रकरण) है।

छठ अध्याय के बहुत-से सूत्र 'प्रतिनिधि' के विषय मे विवेचन उपस्थित करते है। इन सूत्रो का विवेचन इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड २ पृ० ६८४, ११११०, १२०३, खण्ड ३, पृ० ४७१, ६३७, ६५३, ६५४ (जहाँ सत्याषाढ श्रौतसूत्र ३ का उल्लेख समान नियमो के कारण किया गया है) मे हो चुका है। कुछ उदाहरण यहाँ उल्लिखित हो रहे है। प्रथम नियम यह है कि यदि आहुति के लिए वेद द्वारा घोषित पदार्थ नष्ट हो जाय और वह आहुति नित्य (आवश्यक) हो या उस काम्य कृत्य के लिए हो जिसका आरम्भ हो चुका हो तो दूसरे पदार्थ द्वारा प्रतिनिधित्व कराया जा सकता है। यथा-व्रीहि (चावल) या यव के स्थान पर नीवार का प्रतिनिधित्व हो सकता है (६।३।१३-१७)। कुछ बातो मे वैदिक वचनो ने प्रयोग मे लायी जाने वाली वस्तु के स्थान पर प्रतिनिधि की छूट दे दी है, यथा—'यदि यजमान को सोम का पौधा न मिले तो वह पूतीका-डण्टल को प्रयोग मे ला सकता है और उसके रस से कर्म-सम्पादन कर सकता है।' विरोधी तर्क उपस्थित करता है कि वेद ने स्पष्ट रूप से सोम के प्रतिनिधित्व के लिए पूतीका की व्यवस्था कर दी है, अत जहाँ वेद सर्वथा मौन है वहाँ ऐसा समझना चाहिए कि वेद ने वहाँ प्रतिनिधि की व्यवस्था नही की है। सिद्धान्त यह है कि प्रतिनिधि के रूप मे पूतीका की व्यवस्था एक प्रतिषेधात्मक नियम है, अर्थात् यद्यपि सोम से मिलते-जुलते बहुत-से पौधे प्राप्त हो सकते है, किन्तु प्रतिषेध या नियन्त्रण यह है कि केवल पूतीका से ही प्रतिनिधित्व करना चाहिए। ऐसी व्यवस्था दी गयी है (३।६।३७, ३९) कि जहाँ नीवार जैसे प्रतिनिधियो का प्रयोग होता है, वहाँ जल छिडकना, ऊखल एव मूसल से चूर्ण बनाना (चावल या यव को कूट कर चूर्ण बनाना) आदि सहायक कर्म भी उन पर किये जाते है। चावल के प्रयोग मे मन्त्र स्पष्ट रूप से कहता है कि केवल अन्न की (भूसी से रहित चावल की) आहुति होती है। 'नीवाराणा मेध' (पू० मी० स० ९।३।१-२) के रूप मे ऊह (अनुकूलन) किया जाता है।[४४] किन्तु कुछ बातो मे प्रतिनिधि की बात नही उठती। उस देवता का, जिसके लिए हवि की व्यवस्था रहती है, प्रतिनिधित्व किसी अन्य द्वारा नही होता, यथा 'आग्नेयोष्टाकपाल' का परिवर्तन 'ऐन्द्रोष्टाकपाल' के रूप मे नही हो सकता, क्योकि वैसी स्थिति मे कृत्य का उद्देश्य ही समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार जब ऐसा वचन आया है कि 'वह आहवनीय अग्नि मे आहुति डालता है' तो वहाँ गार्हपत्य अग्नि द्वारा प्रतिनिधित्व नही किया जा सकता, एक व्यवस्थित मन्त्र के स्थान पर अन्य मन्त्र नही रखा जा सकता और न 'समिधो यजति' आदि प्रयाजो के लिए अन्य कृत्यो की व्यवस्था हो सकती है।[४५]

वेद ने वरक, कोद्रव एव माष का प्रयोग यज्ञो के लिए वर्जित ठहराया है। यदि कोई व्यक्ति त्रुटिवश माष अन्न को मुद्ग अन्न समझ कर किसी ऐसे यज्ञ मे प्रयोग करता है जिसमे उबले मुद्ग की आहुति देने की व्यवस्था

४४. अस्ति तु प्रकृतौ व्रीहिलिगो मन्त्र—स्योन ते सदन • प्रतितिष्ठ व्रीहीणा मेध सुमनस्यमान इति। शबर (९।३।१)। यह तै० ब्रा० (७।७।५।२-३) मे पाया जाता है। मेध का अर्थ है सारभूत।

४५ न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थसयोगात्। पू० मी० सू० (६।३।१८)।

है, तो वैसी स्थिति मे वह मनोवाछित कृत्य सम्पादित करता हुआ नही समझा जायेगा, क्योकि जो अयोग्य रूप मे वर्जित है वह प्रतिनिधि नही हो सकता।[४६]

उपर्युक्त न्याय पर मिताक्षरा ने याज्ञ० (२।१२६, जहाँ ऐसा आया है कि यदि सयुक्त कौटुम्बिक धन को कुछ सदस्य दबा लेते है या छिपा लेते है और इस प्रकार अपने लिए उसको रख लेते हैं, तो वह प्राप्त किये जाने पर, विभाजन के उपरान्त भी, बराबर भागो मे बाँट दिया जाना चाहिए) की टीका करते हुए आधार रखा है और मत प्रकाशित किया है कि इस श्लोक से सयुक्त धन को छिपा रखने के पाप मे यह कह कर छुटकारा नही प्राप्त हो सकता कि वह (छिपाने वाला) भी एक स्वामी था। मिताक्षरा ने व्याख्या की है कि जिस प्रकार कोई यजमान त्रुटिवश माष को मुद्ग समझ कर आहुति देने से यज्ञ के फल से वञ्चित हो जाता है, उसी प्रकार सयुक्त परिवार के धन को छिपा लेने वाला व्यक्ति अपराधी हो जाता है। व्यवहारप्रकाश (पृ० ५५५) एव अपरार्क (पृ० ७३२) ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया है, किन्तु दायभाग (१२।११-१३) एव व्यवहाररत्नाकर (पृ० ५२६) ने इस मत का विरोध किया है (देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ३, पृ० ६३६)। प्रायश्चित्ततत्त्व (पृ० ४८२) ने इस न्याय पर एक विस्तृत टिप्पणी की है।

एक दूसरा नियम यह है कि यज्ञकर्ता का कोई प्रतिनिधि नही हो सकता (६।३।२१), क्योकि ऐसी व्यवस्था (जै० ३।७।१८-२०) है कि कृत्य का फल स्वामी को प्राप्त होता है, भले ही वह प्रारम्भ करने के उपरान्त सभी कुछ अपने पुरोहित (जो कृत्य करने के लिए नियुक्त रहता है) पर छोड दे, इस विषय मे एक अपवाद है जो सत्रो (जै० ६।३।२२) से सम्बन्धित है, जिनमे बहुत-से व्यक्ति एक साथ कर्ता एव पुरोहित के रूप मे सलग्न रहते है।

एक महत्त्वपूर्ण अधिकरण है ६।७।३१-४०। 'विश्वसृजामयनम्' नामक एक सत्र होता है जो १००० सवत्सरो तक चलने वाला होता है। तै० ब्रा० (१।३।७।७ एव १।३।६।२ 'शतायु पुरुष'), कार्ष्णाजिनि एव लावुकायन के मतो की ओर सकेत करने के उपरान्त जैमिनि ने बडे बल के साथ इस निष्कर्ष की स्थापना की है कि सवत्सर का यहाँ अर्थ है दिवस। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० १२४६, पाद-टिप्पणी, जहाँ महाभाष्य के कथन की ओर निर्देश किया गया है कि याज्ञिक लोग इस प्रकार के सत्रो की चर्चा करते हुए प्राचीन ऋषियो द्वारा चलायी हुई परम्पराओ का ही अनुसरण करते है। मेधातिथि (मनु० १।८४ 'वेदोक्तमायुर्मर्त्यानाम्') ने एक लम्बी टिप्पणी मे जैमिनि के दृष्टिकोण की चर्चा की है और 'शतायुर्वै पुरुष' एव 'शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा' (ऋ० १।८९।९) का उद्धरण दिया है तथा अन्य व्याख्याताओ के मत दिये है। कात्यायनश्रौतसूत्र (१।६।१७-२७) ने इस विषय का विवेचन विस्तार के साथ किया है, भारद्वाज, कार्ष्णाजिनि एव लौगाक्षि की व्याख्याओ की विभिन्नता की ओर सकेत किया है तथा अन्त मे यह मत प्रकाशित किया है कि सवत्सर का अर्थ है 'दिवस'।

---

४६ प्रतिषिद्ध चाविशेषेण हि तच्छ्रुति। ६।३।२०, प्रतिषिद्ध च न प्रतिनिहितव्यमिति। अविशेषेण ह्येतदुच्यते—न यज्ञार्हा माषा वरका कोद्रवाश्चेति। शबर। सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है 'प्रतिषिद्ध माषादिक न प्रतिनिधेय यस्मात् अविशेषेण यज्ञसम्बन्धमात्रे निषेधश्रुति'। तै० स० (५।१।८।१) मे 'अमेध्या वै माषा' आया है। और देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ३, पृ० ६३७ एव पाद-टिप्पणी १२०९ जहाँ जैमिनि का सूत्र एव मिताक्षरा का उद्धरण दिया हुआ है।

पूर्वमीमासासूत्र के प्रथम ६ अध्यायो मे दर्शपूर्णमास जैसे कृत्यो की विधि का, जिसके विस्तार का स्पष्टीकरण वेद द्वारा हुआ है, विवेचन किया गया है। सातवे अध्याय मे इसका विवेचन है कि क्या विकृतियो (वे यज्ञ जो आदर्श यज्ञो के परिष्कृत या सहायक रूप है) मे प्रकृति या प्रधान यज्ञ जोडे जायेगे और यदि ऐसा हो तो कौन-से और कितने जोडे जायेगे।

सातवे अध्याय मे ऐन्द्राग्न एव अन्य यज्ञो मे विस्तार और उनके सामान्य स्थानान्तरण (अर्थात् सामान्य रूप मे अतिदेश) का विवेचन पाया जाता है। **अतिदेश** वह विधि या प्रणाली है जिसके द्वारा किसी कृत्य के सम्बन्ध मे व्यवस्थित विस्तारो को उस कृत्य के आगे ले जाया जाता है और दूसरे मे लगाया जाता है (स्थानान्तरण किया जाता है)। शवर ने किसी प्राचीन लेखक का एक श्लोक उद्धृत कर अतिदेश की परिभाषा की है। वह यज्ञ, जिसके विस्तारो को स्थानान्तरित किया जाता है, **प्रकृति** (आदर्श, नमूना या मूल रूप) कहलाता है तथा वह यज्ञ जिसमे वैसा स्थानान्तरण किया जाता है, **विकृति** कहलाता है। अतिदेश की व्यवस्था **वचन** (वैदिक वाक्य) या नाम से की जा सकती है। (प्रथम के दो प्रकार होते है, यथा—प्रत्यक्ष वक्तव्य द्वारा या अनुमानित विधि मे) उदाहरणार्थ, 'इपु' नामक इन्द्रजाल-सम्बन्धी यज्ञ के विषय मे कुछ विस्तारो का उल्लेख करने के उपरान्त वचन कहता है कि शेषाश वैसा ही है जैसा कि श्येन मे है।[४७] अनुमानिक वचन का एक उदाहरण है दर्शपूर्णमास मे आग्नेय के विस्तारो का सौर्य यज्ञ तक अतिदेश, क्योकि दोनो एक-दूसरे से भली-भाँति सम्बन्धित हैं और क्योकि 'सौर्ययाग' (पू० मी० सू० ७।४।१) के बारे मे वचन द्वारा कोई विस्तार व्यवस्थित नही है। **नाम** के भी दो प्रकार हैं—कृत्य का नाम एव सस्कार का नाम। कुण्डपायिनामयन मे व्यवस्थित मासाग्निहोत्र (देखिए पू० मी० सू० २।३।२४) नित्य अग्निहोत्र से भिन्न है (यथा 'यावज्जीवमग्निहोत्र जुहुयात्' मे), किन्तु 'अग्निहोत्र' नाम दोनो मे पाया जाता है, अत सामान्य अग्निहोत्र के विस्तार (यथा—गौ दुहना, दही या दूध का अर्पण, खदिर-समिधा आदि) मासाग्निहोत्र (जै० ७।३।१-४) मे अतिदेशित हो सकते है। सस्कार नाम के अतिदेश का उदाहरण जैमिनि (७।३।१२-१५) मे है। वरुणप्रघास (जो चातुर्मास्यो मे एक है) मे अवभृथ (स्नान) की व्यवस्था है, किन्तु उसमे विस्तार नही जोडे गये है अत आवश्यक विस्तार सोमयाग के अवभृथ के बारे मे दिये गये नियमो से ग्रहण किये जा सकते है।

स्मृतियो एव निबन्धो ने बहुधा **अतिदेश** का आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ, याज्ञ० (१।२३६ एव २४२) ने अग्नौकरण एव पार्वणश्राद्ध मे पिण्डदान के विषय मे पिण्डपितृयज्ञ की विधि को विस्तृत कर दिया है। पराशर-स्मृति (७।१८-१९) ने रजस्वला नारी को प्रथम दिन मे चाण्डाली, दूसरे दिन मे ब्रह्मघातिनी एव तीसरे दिन मे रजकी (धोबिन) कहा है। पराशरमाधवीय ने इस पर टिप्पणी की है कि इन नामो से पुकारे जाने का तात्पर्य यह है कि इन दिनो मे उस नारी से सभोग करने पर वही पाप लगता है जो किसी उच्च वर्ण के पुरुष द्वारा चाण्डाली आदि से सभोग करने से लगता है।

आठवे अध्याय मे अतिदेश के विशिष्ट उदाहरण दिये गये है। दर्शपूर्णमास सभी इष्टियो[४८] की प्रकृति है तथा 'दर्शपूर्णमासाभ्या यजेत' को **विध्यादि** कहा जाता है और **विध्यन्त** दर्शपूर्णमास की समस्त पूरी विधि है

४७ अस्तीषुर्नाम एकाह । अपर श्येन । तौ द्वावप्याभिचारिकौ तत्रेषौ काश्चिद्धर्मान्विधायाह समानमितर-च्छ्येनेनेति। शवर (७।१।१३)। 'समा नेव' आप० श्रौ० सू० (२२।७।१८) का है।

४८ सुविधा के लिए वैदिक यज्ञो को तीन कोटियो मे बहुधा विभाजित किया जाता है, यथा—इष्टि (जिनमे दूध, घृत, चावल, जौ तथा अन्य अन्नो की आहुति दी जाती है), पशु एव सोम। सोम को पुन एकाह

(केवल दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत के अतिरिक्त), जैसा कि पुरोडाश (रोटी) आदि की आहुति के विषय में ब्राह्मणों मे उल्लेख पाया जाता है। सौर्य नामक विकृतियाग मे "जो वैदिक ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करना चाहता है उसे सूर्य को भात देना चाहिए" यह वाक्य विध्यादि है, किन्तु यहाँ कुछ भी विस्तार नही उपस्थित किया गया है। किसी विधि की अपेक्षा-सी लगती है, यद्यपि यज्ञो के विषय मे कतिपय विध्यन्त पाये जाते है, तथापि 'निवपति' नामक विशिष्ट शब्द दर्शपूर्णमास (जिसमे निर्वाप पाया जाता है) की विधि का द्योतक है, और इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आग्नेय (दर्शपूर्णमास मे प्रथमकृत्य) के समान ही सौर्य चरु की आहुति होती है। सभी अन्य इष्टियो मे प्रकृति की सभी बाते तथैव की जाती है।

एकाह एवं द्वादशाह नामक सोमयज्ञो मे ज्योतिष्टोम प्रकृति है और इसकी सभी बातें सोमयज्ञो के सभी परिष्कृत रूपो (विकृतियो) मे सम्पादित की जाती है, यथा अतिरात्र मे। उन सभी यज्ञो मे जिनमे पशुबलि होती है, अग्निषोमीय प्रकृति है, जिसकी बाते पशुयागो की सभी विकृतियो मे सम्पादित की जाती है। द्वादशाह के दो प्रकार है, **अहीन** एवं **सत्र** और वह द्विरात्र, त्रिरात्र से लेकर शतरात्र तक के सभी अहीन यज्ञो की प्रकृति है, और सत्र की कोटि वाला द्वादशाह सभी सत्रो का एक नमूना (आदर्श) है। आदित्यानामयन के समान सभी यागो की प्रकृति गवामयन है। दर्वीहोम न तो यज्ञो की प्रकृतियाँ है और न विकृतियाँ। आठवे अध्याय मे यही सब वर्णित है।

नवे अध्याय मे **ऊह** का विवेचन है। अतिदेश के सिद्धान्त के प्रयोग के सिलसिले मे मन्त्रो, सामगानो एवं सस्कारो के विषय मे कुछ परिवर्तनो एवं ऊहो की आवश्यकता पडती है। साधारणत ऊह शब्द का अर्थ होता है **तर्क** या **विचारणा**, किन्तु पू० मी० सू० मे इसका विशिष्ट अर्थ होता है।

आग्नेय प्रकृति है जिसमे निर्वाप (आहुति) "मै अग्नि को वही अर्पित करता हूँ जो उन्हे प्रिय है" इन शब्दो के साथ किया जाता है। सौर्ययाग मे, जो आग्नेय की विकृति है, निर्वाप (आहुति) "जो सूर्य को प्रिय है वही मै उन्हे अर्पित करता हूँ" शब्दो के साथ किया जाता है। वाजपेय मे हम पढते है—"वह सत्रह पात्रो मे निर्वाप अन्नो को पका कर बृहस्पति को अर्पित करता है।" वाजपेय दर्शपूर्णमास का एक परिष्कृत रूप है जिसमे चावल के कण जल के साथ छिडके जाते है, अत छिडकना नीवार अन्नो पर भी किया जाता है (पू० मी० सू० ६।२।४०) ज्योतिष्टोम यज्ञ के दूसरे दिन सुब्रह्मण्य पुरोहित द्वारा इन्द्र को सम्बोधित सुब्रह्मण्या प्रार्थना का पाठ किया जाता है, जो यो है—'इन्द्र आगच्छ, हरिव आगच्छ, मेधातिथेमेष ।' अग्निष्टुत् यज्ञ मे भी अग्नि को सम्बोधित सुब्रह्मण्या-निगद है। पाठ करने मे 'इन्द्र' के स्थान पर 'अग्ने' शब्द रख लिया जाता है, किन्तु उसके आगे के शब्द, यथा—'हरिव आगच्छ' परिवर्तित नही किये जाते और उनका पाठ किया जाता है, क्योकि वे वैसी उपाधियाँ हैं जो अग्नि के लिए भी कही जाती है (पू० मी० सू० ६।१।४२-४४)। मीमासको ने जो सिद्धान्त निकाला है, वह

(जो केवल एक दिन तक चले, यथा—अग्निष्टोम), अहीन (जो एक से अधिक और अधिक से अधिक १२ दिनो तक चले) एवं सत्र (जो १२ दिनो से अधिक एक वर्ष या उससे भी अधिक काल तक चले) कोटियो मे बाँटा गया है। शबर (पू० मी० सू० ४।४।२०) ने चार महायज्ञो की चर्चा की है, यथा—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम, पिण्डपितृयज्ञ। गौतमधर्मसूत्र (८।१८) के अनुसार सात सोमयज्ञ होते हैं। इन श्रौत कृत्यो के अतिरिक्त गृह्यसूत्रो मे अन्य कृत्यो का उल्लेख है जो गृह्याग्नि मे किये जाते है। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, भाग २, पृ० १९३-१९४।

पूर्वमीमासासूत्र के प्रथम ६ अध्यायो मे दर्शपूर्णमास जैसे कृत्यो की विधि का, जिसके विस्तार का स्पष्टीकरण वेद द्वारा हुआ है, विवेचन किया गया है। सातवे अध्याय मे इसका विवेचन है कि क्या विकृतियो (वे यज्ञ जो आदर्श यज्ञो के परिष्कृत या सहायक रूप है) मे प्रकृति या प्रधान यज्ञ जोडे जायेगे और यदि ऐसा हो तो कौन-से और कितने जोडे जायेगे।

सातवे अध्याय मे ऐन्द्राग्न एव अन्य यज्ञो मे विस्तार और उनके सामान्य स्थानान्तरण (अर्थात् सामान्य रूप मे अतिदेश) का विवेचन पाया जाता है। **अतिदेश** वह विधि या प्रणाली है जिसके द्वारा किसी कृत्य के सम्बन्ध मे व्यवस्थित विस्तारो को उस कृत्य के आगे ले जाया जाता है और दूसरे मे लगाया जाता है (स्थानान्तरण किया जाता है)। शबर ने किसी प्राचीन लेखक का एक श्लोक उद्धृत कर अतिदेश की परिभाषा की है। वह यज्ञ, जिसके विस्तारो को स्थानान्तरित किया जाता है, **प्रकृति** (आदर्श, नमूना या मूल रूप) कहलाता है तथा वह यज्ञ जिसमे वैसा स्थानान्तरण किया जाता है, **विकृति** कहलाता है। अतिदेश की व्यवस्था **वचन** (वैदिक वाक्य) या नाम से की जा सकती है। (प्रथम के दो प्रकार होते है, यथा—प्रत्यक्ष वक्तव्य द्वारा या अनुमानित विधि से) उदाहरणार्थ, 'इषु' नामक इन्द्रजाल-सम्बन्धी यज्ञ के विषय मे कुछ विस्तारो का उल्लेख करने के उपरान्त वचन कहता है कि शेषाश वैसा ही है जैसा कि श्येन मे है।[47] अनुमानिक वचन का एक उदाहरण है दर्शपूर्णमास मे आग्नेय के विस्तारो का सौर्य यज्ञ तक अतिदेश, क्योकि दोनो एक-दूसरे से भली-भाँति सम्बन्धित हैं और क्योकि 'सौर्ययाग' (पू० मी० सू० ७।४।१) के बारे मे वचन द्वारा कोई विस्तार व्यवस्थित नही है। **नाम** के भी दो प्रकार हैं—कृत्य का नाम एव सस्कार का नाम। कुण्डपायिनामयन मे व्यवस्थित मासाग्निहोत्र (देखिए पू० मी० सू० २।३।२४) नित्य अग्निहोत्र से भिन्न है (यथा 'यावज्जीवमग्निहोत्र जुहुयात्' मे), किन्तु 'अग्निहोत्र' नाम दोनो मे पाया जाता है, अत सामान्य अग्निहोत्र के विस्तार (यथा—गौ दुहना, दही या दूध का अर्पण, खदिर-समिधा आदि) मासाग्निहोत्र (जै० ७।३।१-४) मे अतिदेशित हो सकते है। सस्कार नाम के अतिदेश का उदाहरण जैमिनि (७।३।१२-१५) मे है। वरुणप्रघास (जो चातुर्मास्यो मे एक है) मे अवभृथ (स्नान) की व्यवस्था है, किन्तु उसमे विस्तार नही जोडे गये है अत आवश्यक विस्तार सोमयाग के अवभृथ के बारे मे दिये गये नियमो से ग्रहण किये जा सकते हैं।

स्मृतियो एव निबन्धो ने बहुधा **अतिदेश** का आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ, याज्ञ० (१।२३६ एव २४२) ने अग्नौकरण एव पार्वणश्राद्ध मे पिण्डदान के विषय मे पिण्डपितृयज्ञ की विधि को विस्तृत कर दिया है। पराशर-स्मृति (७।१८-१९) ने रजस्वला नारी को प्रथम दिन मे चाण्डाली, दूसरे दिन मे ब्रह्मघातिनी एव तीसरे दिन मे रजकी (धोबिन) कहा है। पराशरमाधवीय ने इस पर टिप्पणी की है कि इन नामो से पुकारे जाने का तात्पर्य यह है कि इन दिनो मे उस नारी से सभोग करने पर वही पाप लगता है जो किसी उच्च वर्ण के पुरुष द्वारा चाण्डाली आदि से सभोग करने से लगता है।

आठवे अध्याय मे अतिदेश के विशिष्ट उदाहरण दिये गये है। दर्शपूर्णमास सभी इष्टियो[48] की प्रकृति है तथा 'दर्शपूर्णमासाभ्या यजेत' को **विध्यादि** कहा जाता है और विध्यन्त दर्शपूर्णमास की समस्त पूरी विधि है

४७ अस्तीषुर्नाम एकाह । अपर श्येन । तौ द्वावप्याभिचारिकौ तत्रैषौ काश्चिद्धर्मान्विधायाह समानमितरच्छ्येनेनेति। शबर (७।१।१३)। 'समा नेव' आप० श्रौ० सू० (२२।७।१८) का है।

४८ सुविधा के लिए वैदिक यज्ञो को तीन कोटियो मे बहुधा विभाजित किया जाता है, यथा—इष्टि (जिनमे दूध, घृत, , जौ तथा अन्य अन्नो की आहुति दी जाती है), पशु एव सोम । सोम को पुन एकाह

(केवल दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत के अतिरिक्त), जैसा कि पुरोडाश (रोटी) आदि की आहुति के विषय में ब्राह्मणों में उल्लेख पाया जाता है। सौर्य नामक विकृतियाग में "जो वैदिक ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करना चाहता है उसे सूर्य को भात देना चाहिए" यह वाक्य विध्यादि है, किन्तु यहाँ कुछ भी विस्तार नहीं उपस्थित किया गया है। किसी विधि की अपेक्षा-सी लगती है, यद्यपि यज्ञों के विषय में कतिपय विध्यन्त पाये जाते हैं, तथापि 'निर्वपति' नामक विशिष्ट शब्द दर्शपूर्णमास (जिसमें निर्वाप पाया जाता है) की विधि का द्योतक है, और इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आग्नेय (दर्शपूर्णमास में प्रथमकृत्य) के समान ही सौर्य चरु की आहुति होती है। सभी अन्य इष्टियों में प्रकृति की सभी बातें तथैव की जाती हैं।

एकाह एवं द्वादशाह नामक सोमयज्ञों में ज्योतिष्टोम प्रकृति है और इसकी सभी बातें सोमयज्ञों के सभी परिष्कृत रूपों (विकृतियों) में सम्पादित की जाती हैं, यथा अतिरात्र में। उन सभी यज्ञों में जिनमें पशुबलि होती है, अग्निषोमीय प्रकृति है, जिसकी बातें पशुयागों की सभी विकृतियों में सम्पादित की जाती हैं। द्वादशाह के दो प्रकार हैं, अहीन एवं सत्र और वह द्विरात्र, त्रिरात्र से लेकर शतरात्र तक के सभी अहीन यज्ञों की प्रकृति है, और सत्र की कोटि वाला द्वादशाह सभी सत्रों का एक नमूना (आदर्श) है। आदित्यानामयन के समान सभी यागों की प्रकृति गवामयन है। दर्वीहोम न तो यज्ञों की प्रकृतियाँ हैं और न विकृतियाँ। आठवें अध्याय में यही सब वर्णित है।

नवें अध्याय में ऊह का विवेचन है। अतिदेश के सिद्धान्त के प्रयोग के सिलसिले में मन्त्रों, सामगानों एवं संस्कारों के विषय में कुछ परिवर्तनों एवं ऊहों की आवश्यकता पड़ती है। साधारणतः ऊह शब्द का अर्थ होता है **तर्क या विचारणा**, किन्तु पू० मी० सू० में इसका विशिष्ट अर्थ होता है।

आग्नेय प्रकृति है जिसमें निर्वाप (आहुति) "मैं अग्नि को वही अर्पित करता हूँ जो उन्हें प्रिय है" इन शब्दों के साथ किया जाता है। सौर्ययाग में, जो आग्नेय की विकृति है, निर्वाप (आहुति) "जो सूर्य को प्रिय है वही मैं उन्हें अर्पित करता हूँ" शब्दों के साथ किया जाता है। वाजपेय में हम पढ़ते हैं—"वह सत्रह पात्रों में निर्वाप अन्नों को पका कर बृहस्पति को अर्पित करता है।" वाजपेय दर्शपूर्णमास का एक परिष्कृत रूप है जिसमें चावल के कण जल के साथ छिड़के जाते हैं, अतः छिड़कना नीवार अन्नों पर भी किया जाता है (पू० मी० सू० ९।२।४०) ज्योतिष्टोम यज्ञ के दूसरे दिन सुब्रह्मण्य पुरोहित द्वारा इन्द्र को सम्बोधित सुब्रह्मण्या प्रार्थना का पाठ किया जाता है, जो यों है—'इन्द्र आगच्छ, हरिव आगच्छ, मेधातिथेर्मेष ।' अग्निष्टुत् यज्ञ में भी अग्नि को सम्बोधित सुब्रह्मण्या-निगद है। पाठ करने में 'इन्द्र' के स्थान पर 'अग्ने' शब्द रख लिया जाता है, किन्तु उसके आगे के शब्द, यथा—'हरिव आगच्छ' परिवर्तित नहीं किये जाते और उनका पाठ किया जाता है, क्योंकि वे वैसी उपाधियाँ हैं जो अग्नि के लिए भी कही जाती हैं (पू० मी० सू० ९।१।४२-४४)। मीमांसकों ने जो सिद्धान्त निकाला है, वह

(जो केवल एक दिन तक चले, यथा—अग्निष्टोम), अहीन (जो एक से अधिक और अधिक से अधिक १२ दिनों तक चले) एवं सत्र (जो १२ दिनों से अधिक एक वर्ष या उससे भी अधिक काल तक चले) कोटियों में बाँटा गया है। शबर (पू० मी० सू० ४।४।२०) ने चार महायज्ञों की चर्चा की है, यथा—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम, पिण्डपितृयज्ञ। गौतमधर्मसूत्र (८।१८) के अनुसार सात सोमयज्ञ होते हैं। इन श्रौत कृत्यों के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में अन्य कृत्यों का उल्लेख है जो गृह्याग्नि में किये जाते हैं। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, भाग २, पृ० ९९३-९९४।

यह है कि जब मूल मन्त्र के शब्द परिष्कृत (विकृति) याग तक नही बढाये जाते तो ऊह का आश्रय लिया जाता है, अन्यथा नही। किन्तु शबर ने टिप्पणी की है कि याज्ञिक लोग ऊह का सम्पादन कर लेते है (उपयुक्त परिवर्तनो के साथ अपने अनुकूल बना लेते है), अर्थात् वे ऐसा पाठ करते हे—'अग्ने आगच्छ रोहिताश्व बृहद्भानो ।' यह ज्ञातव्य है कि पू० मी० सू० (२।१।३४) एव शबर के अनुसार ऊहित (अनुकूलित) मन्त्र मन्त्र नही होता, क्योकि केवल वे ही मन्त्र कहे जाते हैं जिन्हे विद्वान् लोग स्वीकार करते है। दर्शपूर्णमास मे जब पुरोहित चार मुट्ठी चावल निकालता है और उसे सूप मे रखता है तो वह तीन मुट्ठी चावल पर मन्त्र पढता है जिसका शाब्दिक अर्थ हे—'सविता के आदेश पर अश्विनो के बाहुओ से तथा पूषा के हाथो से मै तुम्हे अग्नि के लिए, जिसे तुम प्रिय हो, निकालता हूँ।' पू० मी० सू० (९।१।३६-३७) का कथन हे कि सविता, पूषा एव अश्विन् शब्दो को, दर्शपूर्णमास के परिष्कारो के लिए, जहाँ देव अर्थात् पूजा के देवता अग्नि न हो, ऊह द्वारा परिवर्तित नही किया जा सकता। शबर ने सविता, अश्विन् एव पूषा के लिए खीचातानी करके अर्थ किया है और कहा है कि ये शब्द निर्वाप प्रकाशन के लिए प्रयुक्त है। एक अन्य मनोरजक उदाहरण है, जहाँ ऊह नही पाया जाता। दर्शपूर्णमास मे एक प्रैष (निर्देश अथवा आदेश) हे—'छिडकने के लिए जल रखो, समिधा एव कुश रखो, स्रुची एव स्रुव को स्वच्छ करो, (यजमान की) पत्नी को मेखला पहना दो और घृत के साथ बाहर आ जाओ।' मान लीजिए यजमान की दो या तीन पत्नियाँ हो, तब भी एकवचन (पत्नीम्) का ही प्रयोग होता है न कि द्विवचन या बहुवचन का (पू० मी० सू० ९।३।२० एव ९।३।२१)। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों ने ऊह का प्रयोग किया है। विष्णुधर्मसूत्र (७५।८) ने व्यवस्था दी है कि मन्त्र के ऊह के द्वारा एक ही ढग से नाना एव उसके दो पूर्व पुरुषो का श्राद्ध करना चाहिए। पूर्व पुरुषो के लिए मन्त्र यो है—'शुन्धन्ता पितर' (आप० श्रौ० सू० १।७।१३) जिसका परिवर्तन 'शुन्धन्ता मातामहा' के रूप मे हो जाता हे। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० १।२५४)।

जब यज्ञ मे पका चावल दिया जाता हे तो मन्त्र यो होता हे—'स्योन व्रीहीणा मेध सुमनस्यमान' (तै० ब्रा० ३।७।५)। जब पका चावल नष्ट हो जाता हे या नही प्राप्त होता और नीवार अन्न का प्रयोग उसके स्थान पर होता है तो 'नीवाराणा मेध' ऐसा ऊह नही होता, प्रत्युत 'व्रीहीणा मेध' शब्द ज्यो-के-त्यो रखे जाते है (पू० मी० सू० ९।३।२३-२६), क्योकि, जैसा कि पू० मी० सू० (९।३।२७) मे कहा गया है (सामान्य तच्चिकीर्षा हि), नीवार का प्रयोग व्रीहि की समानता के कारण ही किया जाता है।

नवे अध्याय के तीसरे एव चौथे पादो मे पशुबन्ध मे होता द्वारा पढे जाने वाले अध्रिगु-प्रैष के विषय मे बारह अधिकरण है। देखिए, इस विषय मे इस महाग्रन्थ का मूलखण्ड, २, पृ० ११२१, पाद-टिप्पणी २५०४, जहाँ यह प्रैष दिया हुआ हे। वहाँ पर कुछ शब्दो के लिए ऊह की व्यवस्था है और पू० मी० सू० ने उस सदर्भ मे कुछ अपरिचित एव कठिन शब्दो की व्याख्या की है।

पू० मी० सू० का दसवाँ अध्याय सबसे बडा है। इसमे आठ पाद एव ५७७ सूत्र है (अर्थात् सम्पूर्ण सूत्रो का एक-पाँचवाँ भाग)। तीसरे अध्याय मे ३६३ सूत्र तथा छठे अध्याय मे कुल ३४९ सूत्र है और दोनो अध्यायो मे पृथक्-पृथक् ८ पाद है। दसवे अध्याय मे बाध एव अभ्युच्चय या समुच्चय (बाध का विपरीतार्थक) का विवेचन है। सामान्य नियम यह है कि प्रकृतियाग (आदर्श या नमूने के यज्ञ) की बाते विकृति मे ज्यो-की-त्यो ले ली जानी चाहिए। किन्तु कुछ उदाहरणो मे विकृति-याग का भिन्न नाम है, कुछ सस्कार (शुद्ध करने या सजाने आदि के कृत्य) एव कुछ द्रव्य जो प्रकृति मे प्रयुक्त होते है, विकृति मे प्रयुक्त नही हो सकते, क्योकि स्पष्ट शब्दो मे इसके लिए निषेध दिया हुआ है, या क्योकि इनसे कोई उपयोग नही सिद्ध होता और वे निरर्थक होते है। शबर का कहना है कि बाध तभी उपस्थित होता हे जब किसी विशिष्ट कारण से कोई विचार या ज्ञान, जो निश्चित-सा रहता है, मिथ्या मान लिया जाता है, और अभ्युच्चय (जोड या मिलाव) उस समय उपस्थित होता है जब यह

ज्ञात रहता है कि कुछ बाते विकृति मे जोडी जानी है किन्तु उसके साथ यह भी ज्ञात रहता है कि कुछ ऐसी बाते भी है जो विकृति के लिए अतिरिक्त रूप से जोडी जायेगी।

मैत्रायणीसहिता (२।२।२) ने व्यवस्था दी हे कि लम्बी आयु के इच्छुक व्यक्ति को चाहिए कि वह घृत मे गरम करके एक सौ कृष्णलो (चावल के दाने के रूप मे सोने के टुकडो) का दान करे। किन्तु यहाँ पर कोई **अवघात** (अन्न की भूसी छुडाना अथवा अलग करना) नही होता (अर्थात् मूसल से ओखली मे कूटने का कार्य नही किया जाता)। क्योकि यहाँ पर अन्न के दाने के रूप मे सोने के टुकडे है, जिन पर कोई छिलका या भूसी नही होती जिसे अलग करने के लिए कूटने का कर्म किया जाय (पू० मी० स० १०।१।१-३)। इसी प्रकार उपस्तरण (कुश बिछाना) एव **अभिघारण** (उसके पश्चात् ही घृत ढारना) के कृत्य भी नही किये जाते, क्योकि प्रकृतियज्ञ मे ये कृत्य आहुति को मधुर गन्ध देने के लिए किये जाते है (१०।२।३-११)। चावल के चरु को पकाया जाता है (अर्थात् अग्नि की उष्णता उसे दी जाती है), उसी प्रकार सोने के टुकडो को घृत मे उष्ण किया जाता है (१०।२।१-२)। सोने के टुकडो को गन्ने के टुकडो की भाँति चूसना होता है (१०।२।१३-१६), क्योकि वे खाये नही जा सकते, जब कि प्रकृतियज्ञ (आदर्श यज्ञ) मे **इडा** एव **प्राशित्र** को वास्तव मे खाया जाता है। श्येन जैसे इन्द्रजाल के कृत्य मे पृथिवी पर बेत (या बाँस की बनी चटाई) बिछाया जाता है, कुश नही (जैसा कि आदर्श यज्ञ मे किया जाता है)। यह **बाध** विशिष्ट वचन के कारण उपस्थित होता है। वैदिक यज्ञो मे सामान्य नियम यह है कि पुरोहितो का चुनाव होता है और अन्त मे उन्हे दक्षिणा दी जाती है, किन्तु सत्र अपवाद होते है, क्योकि सत्रो मे सभी पुरोहित एव यजमान होते है। यहाँ पर **वरण** (चुनाव) के बाध का कारण यह है कि अन्य यज्ञो मे यजमान एव पुरोहित पृथक्-पृथक् होते है ओर पुरोहितो को दक्षिणा के लिए नियुक्त किया जाता है। वहाँ पर पुरोहितो के वरण एव नियुक्ति के लिए स्पष्ट उद्देश्य है। किन्तु सत्र मे जहाँ सभी लोग यजमान एव पुरोहित होते है, पुरोहित-वरण (ऋत्विग्वरण) का कृत्य करने का कोई स्पष्ट उद्देश्य नही होता।

समुच्चय का एक उदाहरण दिया जा सकता है। वाजपेय (जो पू० मी० सू० ३।७।५०-५१ के अनुसार ज्योतिष्टोम का एक रूप है) मे सत्रह पशुओ की बलि होती है। आदर्श (प्रकृति) यज्ञ (अर्थात् ज्योतिष्टोम) मे भी कुछ विशिष्ट पशुओ की बलि होती है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यहाँ प्रकृति-याग मे व्यवस्थित पशुओ का कोई बाघ है या कोई समुच्चय। निष्कर्ष यह है कि यहाँ समुच्चय है (१०।४।६), क्योकि तै० ब्रा० मे एक ऐसा वचन आया हे—'ब्रह्मवादी पूछते है, "वाजपेय मे सभी यज्ञिय कृत्य क्यो किये जाते है?" उसे ऐसा उत्तर देना चाहिए—'पशुओ द्वारा, अर्थात् वह अग्नि को एक पशु की बलि देता है, इससे वह अग्निष्टोम धारण करता हे, वह उक्थ्य धारण करता है ।' इससे प्रकट होता है कि वह सत्रह पशुओ के अतिरिक्त अन्य पशुओ की भी बलि करता है। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२४३) एव तन्त्रवार्तिक (पू० मी० सू० ३।३।१४)

दसवे अध्याय मे **दक्षिणा** के विषय मे भी विवेचन है, जो महत्त्वपूर्ण है। १०।२।२२-२८ मे ऐसा निश्चित किया गया है कि दक्षिणा किसी अदृष्ट उद्देश्य के लिए नही दी जायगी, प्रत्युत वह यज्ञो मे व्यवस्थित कृत्यो के सम्पादन के लिए नियुक्त पुरोहितो को दी जायेगी। ३।८।१-२ मे ऐसा निश्चित किया गया है कि यजमान (स्वामी) यज्ञो के लिए पुरोहितो को रखे, केवल उसी कर्म के लिए ऐसा नही करे जिसके लिए स्पष्ट रूप से वैदिक वचन है (यथा—तै० स० ५।२।८।२ मे)। १०।३।३९ मे ताण्डच ब्रा० (१६।१।१०-११) से उद्धृत करके दक्षिणा के विषयो को उपस्थित किया गया है। ऐसा कहा गया है कि 'द्वादशशत दक्षिणा' का अर्थ है कि गायो की सख्या ११२ होनी चाहिए (१०।३।३९,४९), १०।३।५० मे ऐसी व्यवस्था है कि यजमान को स्वय दक्षिणा

देनी चाहिए और १०।३।५५ मे बाँटने की विधि का उल्लेख है। प्रमुख पुरोहित चार है, यथा—**होता, अध्वर्यु, उद्गाता एव ब्रह्मा** और इन सभी चारो के तीन-तीन सहायक होते है, जो नीचे पाद-टिप्पणी मे लिखित है।[४९] मान लीजिए १०० गाये बाँटनी है। चार दलो मे प्रत्येक को १।४ अर्थात् २५ गायें मिलेगी। होता को १२ तथा अन्य तीन सहायको को क्रम से ६, ४ एव ३ गाय मिलेगी अर्थात् वे क्रम से प्रमख का १।२, १।३ एव १।४ भाग पायेगे। यही ढग अन्य तीन दलो के लिए भी होगा। प्रथम दृष्टि मे यही बात झलकती है कि सब को समान मिलना चाहिए, क्योकि श्रुति का कथन है कि सबको समान मिलना चाहिए, किन्तु यहाँ ऐसी बात नही है, यहाँ ऐसी व्यवस्था की गयी है कि दक्षिणा कार्य की गुरुता के अनुसार दी जाये। निश्चित निष्कर्ष यह है कि दोनो दृष्टिकोण ग्राह्य नही हैं, वास्तव मे दक्षिणा विभाजन **अर्धिन, तृतीयिन एव पादिन** के अर्थ के अनुसार होना चाहिए, जैसा कि श्रुति मे प्रयुक्त है।

मनु० (८।२१०) ने उपर्युक्त विभाजन-प्रणाली का उल्लेख किया है और वैदिक यज्ञो मे प्रयुक्त विधि को गृह-निर्माण आदि जैसे कृत्य के लिए भी उपयुक्त ठहराया है।[५०] यद्यपि सूत्र (सम स्यादश्रुतित्वात्) केवल पूर्वपक्ष है और गायो के विभाजन मे मान्य नही हुआ है, किन्तु मध्यकालीन धर्मशास्त्र-लेखको ने इस सिद्धान्त को माना है। देखिए स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० १५२, २, २८५, २, ४०४), कुल्लूक (मनु० ३।१, जहाँ ३६ वर्षों को तीनो वेदशाखाओ के अध्ययन के लिए बराबर-बराबर बाँटा गया है), मदनरत्न (व्यवहार पृ० २०२), व्यवहारप्रकाश (पृ० ४४३ एव ५४८)।

ग्यारहवे अध्याय मे तन्त्र का विवेचन है। तन्त्र मे उन विषयो का समावेश होता है जहाँ एक कृत्य कई कृत्यो एव कर्मो के उद्देश्य की पूर्ति करता है।[५१] उदाहरणार्थ, तीन याग है, यथा—अग्नि के लिए आठ

४९ होता मैत्रावरुणोऽच्छावाको ग्रावस्तुत्, अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता नेष्टोन्नेता, ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छसी आग्नीध्र पोता, उद्गाता प्रस्तोता प्रतिहर्ता सुब्रह्मण्य—इति। प्रमुख चार पुरोहितो के नाम समूहो के आरम्भ मे है। प्रत्येक प्रमुख के उपरान्त तीन सहायको के नाम आये है। प्रमुख पुरोहितो के तुरत पश्चात् आने वाले सहायको को अर्धिन कहा जाता है (अर्थात् वे प्रमुख पुरोहितो का आधा पाते है, ये चारो है—मैत्रावरुण, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छसी एव प्रस्तोता)। प्रत्येक दल मे तीसरे स्थान वाले सहायक पुरोहित तृतीयिन कहे जाते हैं (अर्थात् वे प्रमुख के अश का तिहाई पाते हैं, और वे हैं, अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र एव प्रतिहर्ता)। प्रत्येक दल मे अन्तिम सहायक पादिन कहे जाते हैं और प्रमुख के अश का चौथाई पाते हैं, और वे हैं—ग्रावस्तुत्, उन्नेता, पोता एव सुब्रह्मण्य। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड, २, पृ० ११८८-११८९, एव खण्ड, ३, पृ० ४६९।

५० सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे। अनेन विधियोगेन कर्तव्याशप्रकल्पना॥ मनु० (८।२१०-२११), एतत्तत्तदशपरिकल्पनविधान तस्य द्वादशशत दक्षिणेति क्रतुसम्बन्धमात्रेण विहिताया न तु ऋत्विग्विशेषसम्बन्धित्वेन विहितायाम्। अश्व दद्याग्निविदा शस्त्रे इति तत्प्रतिपादकश्रुतिविरोधापत्ते। मदनरत्न (व्यवहार), पृ० २०२-२०३। मदनरत्न (पृ० २०४) ने और जोडा है 'पशुबन्धादौ विषम-विभागो नोक्त इति तत्र दक्षिणाविभाग।' यदि कुल ११२ गायें हो, तो चार वर्गो (होतृवर्ग, अध्वर्युवर्ग, उद्गातृवर्ग एव ब्रह्मवर्ग) मे प्रत्येक वर्ग को २८ गायें मिलेंगी, तब होतृवर्ग के अश को २५ मे विभाजित करना होगा और होता २५ भागो मे १२ पायेगा और उसके सहायक क्रम से ६, ४ एव ३ पायेंगे, अर्थात् इस वर्ग मे २८ गायो मे अश लगभग क्रम से १३, ६, ५, ४ होगे।

५१ यत्सकृत्कृत बहूनामुपकरोति तत् तन्त्रमित्युच्यते यथा बहूना ब्राह्मणाना मध्ये कृत प्रदीप। यस्त्वावृत्त्योपकरोति स ।यथा तेषामेव ब्राह्मणानामनुलेपनम्। श्लोकमप्युदाहरन्ति—साधारण भवेत्तन्त्र परार्थे स्व-

शकलो पर पकाया गया पुरोडाश, इन्द्र के लिए दही, तथा इन्द्र के लिए दूध, प्रयाजो का एक सम्पादन इन तीनो के सम्पादन का कार्य कर देता है (११।१।५-१६ एव ११।१।२६-३७)। आधान (अग्नियो की स्थापना) का कृत्य केवल एक बार होता है, यह प्रत्येक इष्टि, पशुयाग या सोमयाग मे बार-बार नही किया जाता (११।३।२), श्रौत कृत्यो के पात्रो का निर्माण केवल एक बार होता है और वे यजमान के मृत्युपर्यन्त काम आते है (११।३।३४-४२)।[५२] ये सभी बाते तन्त्र कही जाती है। सामान्य नियम यह है कि किसी एक कृत्य मे सभी प्रमुख बातो के विषय मे (यथा—दर्शपूर्णमास मे आग्नेय एव अन्य बातो के विषय मे) स्थान, काल एव कर्ता एक ही होता है (११।२।१) और वे सभी अगो के लिए समान होते है, किन्तु अगो के विषय मे स्थान, काल एव यजमान स्पष्ट वचनो (आदेशो) के कारण विभिन्न हो सकते हैं।

यदि सभी सहायक यज्ञो से समन्वित रूप मे फल की प्राप्ति होती है तो सहायक अगो का सम्पादन एक बार ही किया जाता है न कि अलग-अलग, यही तन्त्र है। किन्तु यदि फल की प्राप्ति सहायक यज्ञो से पृथक्-पृथक् होती है तो सभी सहायक अगो का सम्पादन पृथक्-पृथक् होना चाहिए। इसे **आवाप** (विकेन्द्रीकरण या विस्तरण या फैलाव या छितरा देना) कहते है। दर्शपूर्णमास मे वास्तव मे यज्ञो के दो दल होते है, एक का नाम है **दर्श** (अमावस्या पर) और दूसरा है **पूर्णमास**।[५३] इन सब के लिए जो सहायक कृत्य हैं, वे अधिकाश मे एक-समान ही हैं। तब भी दोनो दलो मे वे बार-बार किये जाते हैं, और इसका मुख्य कारण यह है कि दोनो का सम्पादन एक पक्ष से दूर दो तिथियो मे होता है, यद्यपि दोनो मिल कर एक यज्ञ के द्योतक होते हैं और उनसे एक ही फल की प्राप्ति होती है। देखिए पू० मी० सू० (११।२।१२-१८) जहाँ आवाप का उदाहरण है।

अवेष्टि एक ऐसा यज्ञ है जो राजसूय नामक यज्ञ का एक भाग है और राजसूय का सम्पादन केवल क्षत्रियो द्वारा होता है। यह एक स्वतन्त्र यज्ञ भी है जो तीन उच्च वर्णो मे किसी भी द्वारा सम्पादित हो सकता है। यह राजसूय का कोई भाग नही है और उससे भिन्न भी हे, यद्यपि यह सच है कि राजसूय

प्रयोजक। एवमेव प्रसग स्याद्विद्यमाने स्वके विधौ॥ शबर (पू० मी० सू० ११।१।१)। और देखिए पतञ्जलि का महाभाष्य (वार्तिक ४)।

५२ यज्ञायुधानि धार्येरन् प्रतिपत्तिविधानादृजीषवत्। पू० मी० सू० ११।३।३४। वैदिक वचन यो है 'आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च।' दस यज्ञायुधो का उल्लेख तै० स० (१।६।८।२-३, स्फ्यश्च कपालानि च आदि) मे हुआ है। इनके एव यज्ञो मे प्रयुक्त अन्य पात्रो के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ६८५, पाद-टिप्पणी २२३३। और देखिए पू० मी० सू० (११।३।४३-४५) जहाँ ऐसा उल्लेख है कि अग्न्याधेय के दिन से ही यज्ञपात्रो को रखना चाहिए और यजमान (याज्ञिक, आहिताग्नि) की मृत्यु के उपरान्त उन्हें उसके शव पर रख देना चाहिए, इस क्रिया को पात्रो एव पवित्र अग्नियो का प्रतिपत्तिकर्म कहा जाता है।

५३ ११।२।१५ पर शबर का कथन हे 'अपि वा न तन्त्रभङ्गानि स्यु। कुत कर्मपृथक्त्वात्। तेषा च तन्त्रविधानात्। कर्माणि तावदेतानि भिन्नानि अन्य पौर्णमास समुदायोन्य आमावास्य। एव सर्वत्र। तेषा च देशकालभेद। पौर्णमास्या पौर्णमास्या यजेतेत्येवमादि सगाना च तेषा तत्र तत्र देशकालविधि। तस्मात्पौर्णमास्यगाना पौर्णमासीकाल। अमावास्यागानाममावास्याकाल। तत्र गृह्यते विशेष। विशेषग्रहणाद् भेद।'

के वर्णन के बीच मे इसके विषय की उक्ति आ जाती है।[५४] आश्विन के शुक्ल पक्ष की प्रथमा से नवमी तक के नवरात्र के विषय मे निर्णयसिन्धु ने इसका आधार लिया है। कई मत है, यथा—देवीपूजा ९ दिनो तक या अष्टमी या नवमी तिथि को की जाती है। कालिकापुराण ने आश्विन के शुक्ल पक्ष की अष्टमी या नवमी पर की जाने वाली देवीपूजा के विषय मे एक श्लोक उद्धृत किया है, और निर्णयसिन्धु ने इसे अष्टमी या नवमी पर की जाने वाली एक पृथक् पूजा की भांति माना है और सम्पूर्ण नवरात्र से इसे पृथक् ठहराया है। इसी अधिकरण मे जहाँ पर पूर्वपक्ष में ऐसा प्रस्तावित है कि राजा किसी भी वर्ण का कोई भी हो सकता है जो किसी स्थान पर राज्य करता है तथा देश एव उसके नगरो की रक्षा करता है, वही पर सिद्धान्त (पू० मी० स० एव शबर) यह कहता है कि 'राजा' शब्द एक जाति अर्थात् क्षत्रिय का द्योतक है और इस ओर कई पश्चात्कालीन धमशास्त्र-ग्रन्थो ने सकेत किया है, यथा—राजधर्मकौस्तुभ (पृ० ५)। व्यवहारप्रकाश ने इस अधिकरण की ओर सकेत किया है और नारद के इस श्लोक की व्याख्या की है—'जो व्यक्ति सन्यासाश्रम से च्युत होता है वह राजा का दास हो जाता है' और इसे इस बात पर घटाया है कि क्षत्रिय के धर्म से च्युत व्यक्ति वैश्य-राजा का दास हो जाता है, यद्यपि 'राजा' शब्द अपने मुख्य अर्थ मे 'क्षत्रिय' का द्योतक होता है किन्तु गौण अर्थ अर्थात् लक्षणा मे इसका अर्थ है वह व्यक्ति जो प्रजा की रक्षा करता है। पराशरमाधवीय ने इस अधिकरण की चर्चा विस्तार से की है (१,१, पृ० ४४९-४५५)। यह द्रष्टव्य है कि आरम्भिक ग्रन्थो मे 'राजा' का जो अर्थ 'क्षत्रिय' था आगे चल कर किसी भी जाति के उस व्यक्ति का द्योतक हो गया जो अपने द्वारा शासित देश के लोगो की रक्षा करता है। यह परिवर्तन तन्त्रवार्तिक (३।५।२६) मे सक्षिप्त रूप से व्याख्यायित हुआ है।

बारहवे अध्याय मे **प्रसग, विकल्प** जैसे विषयो की चर्चा है। प्रसग तब होता है जब एक स्थान मे किया गया कर्म किसी दूसरे स्थान मे सहायक होता है, यथा जब किसी भवन मे दीपक जलाया जाता है तो वह जनमार्ग को भी प्रकाशित कर देता है।[५५] अग्निषोमीय पशुयज्ञ मे पशुपुरोडाश (बलि दिये हुए पशु के मास की रोटी) का अर्पण किया जाता है और इस प्रकार के शब्द कहे जाते है—'अग्नि एव सोम को पशु का मास अर्पित करने के उपरान्त वह ग्यारह कपालो पर पकाया गया पशुपुरोडाश अग्नि एव सोम को देता है।' यहाँ पर प्रश्न यह है कि क्या इसके लिए पशुपुरोडाश देते समय पुन प्रयाज आदि किये जायें या मास दिये जाने के कृत्य पर्याप्त है। निश्चित निष्कर्ष यह है कि पशु-मास दिये जाने के समय के कृत्य पशुपुरोडाश के लिए भी मान्य होते है। ऐसी परिस्थितियो मे देश (स्थान), काल एव यजमान एक ही प्रकार के माने जाते है। इस निष्कर्ष को प्रायश्चित्तविवेक ने भी ठीक माना है। पशुपुरोडाश की समानता के आधार पर उसने विभिन्न या अभिन्न गम्भीर पातको के लिए १२ वर्षो वाले प्रायश्चित्त को पर्याप्त माना

५४ अवेष्टौ यज्ञसयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते। पू० मी० सू० (२।३।३), अस्ति राजसूय, राजा राजसूयेन यजेतेति। त प्रकृत्यामनन्ति—अवेष्टि नामेष्टिम्। आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्य दक्षिणा इत्येवमादि। ता प्रकृत्य विधीयते। यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्य मध्ये निधायाहुतिमाहुति हुत्वाभिधारयेत। यदि राजन्य ऐन्द्रं यदि वैश्यो वैश्वदेवम्—इति। शबर, 'यदि ब्राह्मणो वैश्वदेवम्' के लिए देखिए आप० श्रौ० (१८।२१।११)। 'अवेष्टौ यज्ञसयोगात्' नामक सूत्र की व्याख्या मूल ग्रन्थ के इसी स्थल पर देखिए।

५५ अन्यत्र कृतस्यान्यत्रापि प्रसक्ति प्रसङ्ग। यथा प्रदीपस्य प्रासादे कृतस्य राजमार्गेऽप्यालोककरणम्। शबर (पू० मी० सू० १२।१।१)।

मीमासा के बडे-से-बडे विद्यार्थी भी विभिन्न निष्कर्षो पर पहुँचते है । कुछ विचित्र उदाहरण यहाँ दिये जा रहे है । वसिष्ठ के सूत्र (१५।५—न स्त्री पुत्र दद्यात् प्रतिगृह्लीयाद् वा अन्यत्रानुज्ञानाद्‌भर्तु) की व्याख्या को लिया जाय । 'कोई स्त्री बिना पति की आज्ञा के न तो गोद के लिए पुत्र दे सकती है और न ले सकती है।' इसकी व्याख्या चार प्रकार से की गयी है । हिन्दू विधवा द्वारा गोद लिये जाने के विषय मे ग्रन्थो एव लेखको ने विभिन्न व्याख्याएँ उपस्थित की है। दत्तकमीमासा का कथन है कि कोई विधवा गोद नही ले सकती, क्योकि पति की मृत्यु हो जाने से उसकी अनुमति प्राप्त नही की जा सकती। मैथिल ग्रन्थकार वाचस्पति ने यही बात दूसरे ढग से कही है। वसिष्ठ का कथन है कि गोद लेने वाले को गृह के मध्य मे व्याहृतियो के साथ होम करके उसी को गोद लेना चाहिए जो अदूरबान्धव हो, सनिकृष्ट हो और दूर न रहता हो, और क्योकि स्त्रियाँ वैदिक मन्त्रो के साथ होम नही कर सकती अतएव विधवा के सहित सभी स्त्रियो को गोद लेने का अधिकार नही हे।[५६] किन्तु बगाल मे ऐसा मान्य था कि गोद के समय पति की अनुमति की आवश्यकता नही है, वास्तविक गोद लेने के बहुत पहले ही अनुमति ली जा सकती है । मद्रास मे ऐसा मान्य था कि "केवल पति की अनुमति से ही" वाक्य केवल दार्ष्टान्तिक है और इसलिए श्वशुर के सम्बन्धी लोगो या पति के सम्बन्धी लोगो की अनुमति या आज्ञा विधवा को गोद लेने के योग्य बना देती है । व्यवहारमयूख, निर्णयसिन्धु एव सस्कारकौस्तुभ का कथन है कि पति की अनुमति उसी स्त्री के लिए आवश्यक है जिसका पति जीवित हो । यदि पति ने गोद लेने के लिए मना न किया हो तो स्त्री को गोद लेने का अधिकार है । इस विषय मे विशद विवेचन के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का मूलखण्ड ३, पृ० ६६८-६७४। अब तो सन् १९५६ के कानून ने इन सभी प्राचीन नियमो को समाप्त कर दिया है।

मिताक्षरा एव दायभाग दोनो मीमासा के सिद्धान्तो से ओत-प्रोत है, किन्तु दोनो कतिपय बातो मे एक-दूसरे से भिन्न मत उपस्थित करते है, जिनमे कुछ यो है—(१) मिताक्षरा का कथन है कि उत्तराधिकार या स्वामित्व जन्म से ही उत्पन्न होता है, किन्तु दायभाग इसे अमान्य ठहराता है और कहता है कि इसका आरम्भ पूर्व स्वामी की मृत्यु या विभाजन से होता है, (२) दायभाग के अनुसार उत्तराधिकार के लिए उत्तम अधिकार धार्मिक प्रभाव से उत्पन्न होता है, किन्तु मिताक्षरा के अनुसार रक्त-सम्बन्ध की सन्निकटता ही इसे निश्चित करती है, (३) दायभाग के अनुसार सयुक्त परिवार के सदस्य सम्पत्ति पर अलग-अलग अधिकार रखते हे और विभाजन के पूर्व उसे बेच सकते है, किन्तु मिताक्षरा इसके विरोध मे है। (४) दायभाग के अनुसार सयुक्त परिवार मे भी विधवा पति की मृत्यु के उपरान्त सन्तानरहित होने पर पति के भाग को पा जाती है। किन्तु मिताक्षरा ने इसे अमान्य ठहराया हे।

याज्ञ० (१।८१) के समान अन्य वचनो के विषय मे भी कई मत-मतान्तर पाये जाते है (विधि है या नियम हे या परिसख्या हे) । व्यवहारमयूख एव रघुनन्दन मे मतवैभिन्य पाया जाता है, जब कि दोनो घोर मीमासक ह । 'मातृ' शब्द की व्याख्या मे अपरार्क एव दायभाग मे प्रभूत अन्तर है। इसी प्रकार अन्य मत-मतान्तर भी हे ।

५६ अत एव वसिष्ठ । न स्त्री पुत्र भर्तु —इति। अनेन विधवाया भर्त्रनुज्ञानासम्भवादनधिकारो गम्यते। किं च व्याहृतिभिर्हुत्वा अदूरबान्धव सन्निकृष्टमेव प्रतिगृह्लीयात्—इति समानकर्तृकताबोधकक्त्वाप्रत्ययश्रवणात होमकर्तुरेव प्रतिग्रहसिद्धे स्त्रीणा होमानधिकारत्वात् परिग्रहानधिकार —इति वाचस्पति । दत्तकमीमासा (पृ० १९ एव २२-२३)।

अध्याय ३० का परिशिष्ट

यदि हम पूर्वमीमासासूत्र के बहु-प्रचलित न्यायो को एक स्थान पर सगृहीत कर दे तो पूर्वमीमासा-सूत्र एव धर्मशास्त्र के पाठको को सुविधा प्राप्त होगी। हम यहाँ पू० मी० सू०, शबर, कुमारिल, पार्थसारथि, पतञ्जलि के महाभाष्य, शकराचार्य के वेदान्त-सूत्रभाष्य, शकराचार्य पर भामती आदि द्वारा दिये गये सकेतो एव निर्देशो का सहारा लेगे। विशेषत कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक मे न्यायो का प्रभूत उपयोग किया है, यथा--पृ० ४१५ (जैमिनि २।१।८) पर उन्होने पाँच विभिन्न न्यायो का प्रयोग किया है। इस महाग्रन्थ के कतिपय खण्डो मे न्यायो की ओर सकेत किया गया है। यहाँ पर उल्लिखित न्यायो मे बहुत-से कर्नल जैकब द्वारा प्रकाशित 'लौकिकन्यायाञ्जलि' (तीन भागो मे) मे पाये जाते है। कही-कही जैकब की व्याख्याएँ शुद्ध एव सन्तोष-जनक नही है, किन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि उन्होने आज से लगभग आधी शताब्दी पूर्व यह सब लिखा था।

अग्निहोत्रन्याय—जै० (६।२।२३-२६), देखिए शकर, वे० स० (३।४।३२) पर।

अगगुणविरोधन्याय—जै० (१२।२।२५), देखिए शबर एव मी० न्या० प्र० (पृ० १६६)।

अगभूयस्त्वे फलभूयस्त्वम्—शबर (जै० १०।६।६२ एव ११।१।१५)।

अगाग्निन्याय—जै० (२।२।३-८)।

अगाना प्रधानोपकाररूपैककार्यार्थत्वम्—जै० (११।१।५-१०)।

अणुरपि विशेषोऽध्यवसायकर—देखिए व्य० प्र० (पृ० ५२५) एव व्य० म० (पृ० १४३)।

अधिकारन्याय—जै० (६।१।१-३ एव ४-५, शास्त्र केवल मानवो के लिए है)। और देखिए वे० सू० (१।३।२६-३३), जहाँ शकर (१।३।२६ पर) ने कहा है कि शबर के शब्दो का ब्रह्मविद्या मे कोई उपयोग नही है।

अनन्यलभ्य शब्दार्थ—मी० न्या० प्र० (पृ० ६२) 'अत्राहु। स एव शब्दस्यार्थो य प्रकारान्तरेण न लभ्यते। अनन्य र्थ इति न्यायात्।' देखिए भामती वे० सू० (१।३।१७) पर (प्रसिद्धेश्च)।

अनुषगन्याय—जै० (२।१।४८), देखिए स्मृतिच० (श्राद्ध, पृ० ३८१) एव व्य० म० (पृ० १४७)।

अन्तरगबहिरगयोरन्तरग बलीय—देखिए शबर (जै० १२।२।२७), महाभाष्य (पा० १।१।४, १।१।५) का कथन है--'असिद्ध बहिरगमन्तरगे।'

अन्धपरम्परान्याय—तन्त्रवार्तिक (जै० १।३।२७, पृ० २८२ एव ३।३।१४, पृ० ८५८), मेधातिथि (मनु १०।५), शकर (वे० सू० २।२।३०)।

अन्यायश्चानेकार्थत्वम्—शबर (जै० २।१।१२, पृ० ४१०, ५।४।१४, पृ० १३४०, ६।१।२२, पृ० १३६६, ७।३।३, पृ० १५५०), तन्त्रवा० (२।४।१०, पृ० ६३९), भामती (वे० सू० १।३।१७), देखिए मदन-पा० (पृ० ३६९)।

अपच्छेदन्याय—शबर (जै० ६।५।४९-५०) ने इसकी परिभाषा की है—'सयुक्तस्य हि पृथग्भावोऽपच्छेद' एव व्य० प्र० (पृ० ५३५)। यह शब्द जै० (६।५।५६) मे आया है।

अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्—यह जै० (६।२।१८) का अश है और इसका अर्थ है 'विधिना तावत्तदेव विधेय यत् प्रकारान्तरेणाप्राप्तम्।' मी० न्या० प्र० (पृ० २२२)।

अभिमर्शनन्याय—जै० (३।७।८-१०), व्यव० प्र० (पृ० ५३५)।

अभ्यासाधिकरण—जै० (२।२।२), जहाँ तै० स० (२।६।१।१-२) में पाये गये पाँच प्रयाजो की ओर सकेत है। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० १०५७।

अभ्युदितेष्टिन्याय—जै० (६।५।१-९), मिता० (याज्ञ० ३।२५३), व्यव० म० (पृ० १५१-१५२ एव उस पर टिप्पणी, पृ० २७७-२७९) तथा भामती (वे० सू० ३।३।७)।

अरुणान्याय या अरुणाधिकरण—जै० (३।१।१२), तै० स० (६।१।६।७—अरुणया पिगाक्ष्या क्रीणाति), देखिए अपरार्क (पृ० १०३०, याज्ञ० ३।२०५), मद० पा० (पृ० ८८-८९)।

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वत व्रजेत्—शबर (जै० १।२।४)ने उत्तरार्ध को इस प्रकार उद्धृत किया है—'इष्टस्यार्थस्य ससिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्।' उन्होंने अर्क को एक पौधा माना है, और देखिए तन्त्र-वार्तिक (पृ० १११), विश्वरूप (याज्ञ० ३।२४३, प्रथम अर्धाली), शकर (वे० सू० ३।४।३) ने पूर्वार्ध भाग को न्याय माना है।

अर्धकुक्कुटीपाक—यह 'अर्धजरतीय' ही है। देखिए तन्त्रवा० (पृ० ७२०, जै० ३।१।१३)। इसका अर्थ यो है—'यह पूर्ण विरोधाभास है कि कोई आधी मुर्गी को भोजन के लिए पकाये तथा आधी को अण्डा देने के लिए रख छोडे।'

अर्धजरतीय—देखिए महाभाष्य (वार्तिक ५, पाणिनि ४।१।७८,—अर्धं जरत्या कामयतेऽर्धं नेति), शाकर-भाष्य (वे० सू० १।२।८—यथाशास्त्र तर्हि शास्त्रीयोर्थ प्रतिपत्तव्यो न तत्रार्धजरतीय लभ्यम्), परा० मा० (२।१; पृ० ७०२)।

अर्थवैशस—अर्धजरतीयन्याय से मिलता-जुलता है। देखिए तन्त्रवा० (पृ० १७०, १७४, १८०, २६१), शाकरभाष्य (वे० सू० ३।३।१८), वैशस का अर्थ है 'नाश, टुकडो मे विभाजित कर देना, सघर्ष या विरोध।' कुमार-सम्भव (४।३१) मे इसका शाब्दिक अर्थ है।

अर्धमन्तर्वेदि मिनोत्यर्धं बहिर्वेदि—देखिए शबर (जै० ३।७।१४), तन्त्रवा० (पृ० १०८३–८४), व्य० म० द्वारा उद्धृत (पृ० ११५, १४६)।

अवयवप्रसिद्धे समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी—शबर(जै० ६।७।२२), जहाँ अश्वकर्ण (एक पेड का नाम) का उदाहरण दिया हुआ है, जिसकी पत्तियाँ घोडे के कानो की भाँति होती है, तन्त्रवा० (जै० १।४।११)।

अवेष्ट्यधिकरणन्याय—जै० (२।३।३ एव ११।४।१०)। शाकरभाष्य (वे० सू० ३।३।५०)।

अश्वाभिधानीन्याय—'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते'—तै० स० (५।१।२।१)एव तै० स० (४।१।२।१) का मन्त्र, मी० न्या० प्र० (पृ० ८०) मे व्याख्यायित, अर्थसग्रह (पृ० ५)।

अश्वकर्णन्याय—टुप्टीका (जै० ४।४।१, पृ० १२७०)। यह इसलिए कहा गया है कि राजसूय मे परम्परा-नुगत अर्थ ही लिया जाना चाहिए न कि शाब्दिक।

आकाशमुष्टिहननन्याय—तन्त्रवा० (जै० १।३।१२, पृ० २३६, 'यस्तन्तूननुपादाय तुरीमात्रपरिग्रहात्। पट कर्तुं समीहेत स हन्याद् व्योम मुष्टिभि ॥', शाकरभाष्य (वे० सू० २।१।१८)।

आख्यातानामर्थं ब्रुवता शक्ति सहकारिणी—शबर (जै० १।४।२५), अर्थसग्रह (पृ० १६, जहाँ यह न्याय कहा गया है), श्लोकवार्तिक (चोदनासूत्र, श्लोक ४७, पृ० ५६), तन्त्रवा० (जै० २।१।१, पृ० ३७८—शक्तय सर्वभावाना नानुयोज्या स्वभावत । तेन नाना वदन्त्यर्थान् प्रकृतिप्रत्ययादय ।।) ।

आगन्तूनामन्ते निवेश—शबर (जै० ५।३।४ एव १०।५।१), शाकरभाष्य (वे० सू० ४।३।३), तिथितत्त्व (पृ० ६३) एव व्य० म० (पृ० १४३) ।

आनन्तर्यमकारणम्—देखिए आगे, 'यस्य येनार्थसम्बन्ध ।' देखिए सूत्र 'आनन्तर्यमचोदना' (जै० ३।१।२४, एव १४।३।११ जिसका एक अश यह है—'अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्येप्यसम्बन्ध ।'

आर्त्यधिकरणन्याय—जै० (४।४।२२), तै० ब्रा० (३।७।१।७-८) मे आया है 'यस्योभय हविरार्तिमाच्छेंदैन्द्र पञ्चशरावमोदन निर्वपेत ।' यहाँ पर 'उभय' शब्द अविवक्षित है और विधि का कोई भाग नही है ।

उद्दिश्यमानस्य (या उद्देश्यगत) विशेषणम विवक्षितम्—टुप्टीका (जै० ६।४।२२, पृ० १४३८, ७।१।२, पृ० १५२६, ९।१।१, पृ० १६३६, १०।३।३९, पृ० १८८२, 'उद्दिश्यमानस्य च सख्या न विवक्ष्यते ग्रहस्येव', व्य० म० (पृ० ४५-४६, ९०, १३२, २१० एव विश्वरूप (याज्ञ० ३।२५०, 'न च लक्ष्यमाणस्य विशेषण विवक्षितमिति न्याय') ।

उद्भिदधिकरण—जै० (१।४।१-२), उद्भिद्, चित्रा, अग्निहोत्र यागो 'के नाम (गुणविधि नही) है और प्रमाण है। देखिए भामती (वे० सू० ३।३।१७) ।

उपसहारन्याय—जै० (३।१।२६-२७), उपसहारो नाम सामान्यत प्राप्तस्य विशेषे सकोचरूपो व्यापारविशेषो विधे । मी० न्या० प्र० (पृ० २६१), देखिए मिता० (याज्ञ० १।२५६), निर्णयसिन्धु (पृ० ३७ एव ७१), व्य० म० (पृ० १११), प्रस्तुत लेखक की टिप्पणी, व्य० म० (पृ० १७९) ।

ऋतुलिंगन्याय—यह आदिपर्व (१।३९), शान्तिपर्व (२१०।१७) के इस श्लोक की ओर सकेत करता है—'यथर्तावृतुलिगानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानि तान्येव यथा भावा युगादिषु ।।' देखिए तन्त्रवा० (जै० १।३।७, पृ० २०२) एव शाकरभाष्य (वे० सू० १।३।३०) जहाँ यह श्लोक उद्धृत है । यह वायुपुराण (९।६५), विष्णुपुराण (१।५।६१) एव मार्कण्डेय० (४५।४३-४४) है।

एकवाक्यतान्याय—जै० (२।१।४६)। और देखिए म० म० ग० झा कृत 'पूर्वमीमासासूत्र इन इट्स सोर्सेज' (पृ० १९२-१९३ । विश्वरूप (याज्ञ० ३।२४८) ने इस न्याय को उदाहृत किया है। 'एकवाक्यता' शब्द वे० सू० (३।४।२४) मे आया है।

एकहायनीन्याय—तन्त्रवा० (२।१।१२, पृ० ४१५) द्वारा उल्लिखित। यह 'अरुणान्याय' के समान ही है।

एकार्थास्तु विकल्पेरन्—यह जै० (१२।३।१०) का अश है। देखिए मिता० (याज्ञ० ३।२५७) जहाँ ऐसा कहा गया है—'एकार्थानामेव विकल्पो व्रीहियवयोरिव न च दण्डतपसोरेकार्थत्वम् ।'

ऐन्द्रीन्याय—देखिए मैत्रा० स० (३।२।४), भामती (वे० सू० ३।३।२५), पू० मी० सू० (३।३।१४), शबर (३।३।१३) ।

औदमेधिन्याय—यदि किसी व्यक्ति का नाम औदमेघि है तो अचानक ऐसा भान होता है कि वह ऐसे व्यक्ति का पुत्र है जिसका नाम उदमेघ है। देखिए शबर (जै० ३।५।२६, पृ० १००३ एव २।३।३, पृ० ५८०) एव तन्त्रवा० (पृ० ५८०) ।

औदुम्बराधिकरण—जै० (१।२।१९-२५) जहाँ तै० स० (२।१।१।६) का उद्धरण है, यथा—औदुम्बरो यूपो भवति, ऊर्ग् वा उदुम्बर ऊर्क् पशव', तन्त्रवा० (पृ० ३५२), मी० न्या० प्र० (पृ० १३४)) ।

कपालन्याय या **कपालाधिकरणन्याय**—जै० (१०।५।१), मलमासतत्त्व (पृ० ७७६) मे इसकी व्याख्या की गयी है।

कपिञ्जलन्याय—जै० (११।१।३८-४६), देखिए तन्त्रवा० (पृ० ४१५, जै० २।१।१२ पर, एव पृ० १००४, जै० ३।५।२६ पर, जहाँ ऐसा आया है—'कपिञ्जलवच्च त्रीण्येव वहुत्वश्रुतिरवस्थाप्यते'), परा० मा० (१।२, पृ० २८१)।

कम्बलनिर्णेजनन्याय—शबर (जै० २।२।२५, पृ० ५४५, निर्णेजन ह्युभय करोति कम्बलशुद्धि पादयोश्च निर्मलताम्)।

कर्मभूयस्त्वात्फलभू —देखिए स्मृतिच० (२, पृ० २६४) एव परा० मा० (१।१, पृ० २५, कर्माधिक्यात्फलाधिक्यमिति न्यायसमाश्रयात्)।

कलञ्जन्याय—शबर (जै० ६।२।१९-२० ने 'न कलज भक्षयितव्यम्' पर कहा है कि यह स्पष्ट रूप से प्रतिषेध है न कि पर्युदास। देखिए मी० न्या० प्र० (पृ० २४८-२४९) एव तिथितत्त्व (पृ० ६)।

कास्यभोजिन्याय—यह पू० मी० सू० (१२।२।३४) मे आया है (अधिकश्च गुण साधारणेऽविरोधात्कास्य-भोजिवदमुख्येऽपि), शबर ने यो व्याख्या की है—'शिष्यस्य कास्यपात्रभोजित्वनियम, उपाध्यायस्य न नियम। यदि तयोरेकस्मिन्पात्रे भोजनमापद्यते, अमुख्यस्यापि शिष्यस्य धर्मो नियम्येत मा भूद्धर्मलोप इति।'

काकदन्तपरीक्षान्याय—देखिए टुप्टीका (पृ० १३८८, जै० ६।२।१)। कुछ त्रियाएँ, यथा—गदहे के चर्म के वालो या कौए के दाँतो को गिनना निरर्थक एव अनुपयोगी है।

काकाक्षिगोलकन्याय—देखिए तन्त्रवा० (पृ० १६८, जै० १।३।७), मेधातिथि (मनु ८।१), व्य० प्र० (पृ० ५३४, व्य० म० (पृ० ९५)।

काण्डानुसमय—शबर (जै० ५।२।३, पृ० १३१०-११)। और देखिए आगे 'पदार्थानुसमय'।

कारणानुविधायिकार्यन्याय—तन्त्रवा० (पृ० २४५, जै० १।३।४६)। कारण के गुण कार्य मे पाये जाते है।

कुण्डपायिनामयनन्याय—जै० (७।३।१-४)। देखिए आप० श्रौ० (२३।१०।६)।

कुशकाशावलम्बनन्याय—तन्त्रवा० (पृ० २६८, जै० १।३।२४)। 'कुश' दर्भ है और काश घास वाला पौधा है जिसके फूल श्वेत होते है। ये इतने दुर्वल होते है कि किसी को उनका अवलम्बन या सहारा नही प्राप्त हो सकता। अत रूपक रूप मे इसका अर्थ है 'दुर्वल या व्यर्थ तर्कों का सहारा लेना।' देखिए व्यव० प्र० (पृ० ५२७)।

कृत्वाचिन्तान्याय—विचार करने के लिए केवल अनुमानजन्य बात का सहारा लेना। यह शवरभाष्य मे वहुधा आया है, यथा—जै० (६।८।४३, पृ० १५२२, कृत्वा चिन्ताया प्रयोजन वक्तव्यम्'), और देखिए वही, ११।३।१६, पृ० २१७५, १२।२।११, पृ० २२४२, देखिए तन्त्रवा० (पृ० २८७, जै० १।३।२७, एव पृ० ८९०, जै० ३।४।१—यस्तु भाष्यकारेणोपन्यास कृत स कृत्वाचिन्तान्यायेन)।

कैमुतिकन्याय—यह 'किमुत' से निष्पन्न हुआ है और प्रयुक्त हुआ है, यथा कादम्बरी मे 'गर्भेश्वरत्व शक्तित्व चेति महतीय खल्वनर्थपरम्परा, सर्वाविनयानामेवैकमप्येषामायतन किमुत समवाय।' देखिए व्य० म० (पृ० २४१) एव प्रस्तुत लेखक की टिप्पणी व्य० म० (पृ० ४१६)।

क्षामेष्टिन्याय—जै० (६।४।१७-२०)। यदि दर्शपूर्णमास मे अर्पित होने वाला पुरोडाश थोडा जल जाय तव न जले हुए अश से कृत्य का सम्पादन करना चाहिए, किन्तु जव सम्पूर्ण पुरोडाश जल जाय तो प्रायश्चित्त की आवश्यकता होती है। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२४३)।

खलेकपोतन्याय—आबालवृद्ध सभी प्रकार के कपोतो (कबूतरो) का एक साथ उतरना। देखिए शबर (जै० ११।१।१६, पृ० २१११), मी० न्या० प्र० (पृ० ६५)।

गार्हपत्यन्याय—यह 'ऐन्द्रीन्याय' के समान ही है। देखिए शबर (जै० ३।२।३) एव अर्थसग्रह (पृ० ६)।

गुणकामाधिकरण—जै० (२।२।२५–२६), यह 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' (तै० ब्रा० २।१।५।६) पर आधारित है और अर्थ है 'दधिकरणत्वेनेन्द्रिय भावयेत्।' देखिए मी० न्या० प्र० (पृ० ४२–४३ एव ३६–३६।

गुणमुख्यव्यतिक्रमन्याय—यह जै० (३।३।६) का एक अश है (गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसयोग)। देखिए तन्त्रवा० (पृ० ८१०), शाकरभाष्य (वे० सू० ३।३।३३)।

गुणलोपे च मु —यह है जै० (१०।२।६३)। यहाँ पर क्रिया 'स्यात् (या भवति)' का लोप है।

गोबलीवर्दन्याय—'गाव आनीयन्ताम् बलीवर्दाश्च' इस वाक्य मे 'बलीवर्दाश्च' का पृथक् उल्लेख इसलिए हुआ है कि गायो की अपेक्षा बैल अधिक दुर्दान्त होते है और उनका विशेष ध्यान दिया जाता है (वास्तव मे 'गाव' के अन्तर्गत 'बलीवर्दाश्च' आ जाते है)। यह न्याय धर्मशास्त्र ग्रन्थो मे बहुधा प्रयुक्त हुआ है। देखिए मिता० (याज्ञ० ३।३१२–३१३), स्मृतिच० (व्यवहार, पृ० ६६, ६७, १०२, १६६, २८०, ३००), कुल्लूक (मनु ८।२८), व्य० म० (पृ० २)।

गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसप्रत्यय—देखिए शबर (जै० ३।२।१)। इस न्याय को 'मुख्यगौणयो सप्रत्यय' भी कहा जाता है। शाकरभाष्य (वे० सू० ४।३।१२) ने इसका दृष्टान्त दिया है। मुख्य एव गौण को प्रथम अर्थ और द्वितीय अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है। देखिए महाभाष्य (वार्तिक १, पाणिनि १।१।१५ एव वार्तिक ४, पा० ६।३।४६)।

ग्रहैकत्वन्याय—जै० (३।१।१३–१५), यह तै० स० (३।२।२।३) के 'दशापवित्रेण ग्रह समार्ष्टि' पर आधारित है।

चतुर्धाकरणन्याय—जै० (३।१।२६–२७)। देखिए मी० न्या० प्र० (पृ० २६१), अर्थसग्रह (पृ० २४)।

छत्रिन्याय—देखिए शबर (जै० १।४।२३, यथा छत्रिणो गच्छन्तीत्येकेन छत्रिणा सर्वे लक्ष्यन्ते), तन्त्रवा० (१।४।१३, पृ० ३४७), टुप्टीका (जै० ४।४।१, पृ० १२७० एव ७।३।७, पृ० १५५२), शाकरभाष्य (वे० सू० ३।३।३४) ने इसे ऋत पिबन्तौ (कठोप० ३।१) की व्याख्या मे प्रयुक्त किया है।

जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्—यह विधि की भाँति प्रतीत होता है, किन्तु यह केवल पयोहोम की प्रशसा मे अर्थवाद मात्र है। वैदिक वचन तै० स० (५।४।३।२) मे है और जै० (१०।८।७) इस पर विचार करते है। भामती (वे० सू० ३।३।१८) ने इसका आश्रय लिया है।

जातेष्टिन्याय—जै० (४।३।३८–३६), तै० स० (२।२।५।३) 'वैश्वानर द्वादशकपाल निर्वपेत्, पुत्रे जाते।' यद्यपि कृत्य का सम्पादक पिता होता है, परन्तु फल उत्पन्न पुत्र को प्राप्त होता है। देखिए मिता० (याज्ञ० २।५६ एव ३।२२०), प्राय० वि० (पृ० १८), व्य० प्र० (पृ० २५३–५४) एव दत्त० मी० (पृ० १३५)।

जुहून्याय—जै० (४।३।१)। यह तै० स० (३।५।७।२) के 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पाप श्लोक शृणोति' के समान अन्य वचनो पर आधारित है। ये वचन फलविधि नही होते, प्रत्युत अर्थवाद होते है।

तक्रकौण्डिन्यन्याय या ब्राह्मणकौण्डिन्यन्याय—देखिए तन्त्रवा० (पृ० ८६०, दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयता तक्र कौण्डिन्याय), श्लोकवा० (वनवाद, श्लोक १५)। यदि केवल 'दधि दीयता', कहा जाय तो 'कौण्डिन्य ब्राह्मण है' इसलिए उसमे सम्मिलित माना जायगा, किन्तु यदि सम्पूर्ण वाक्य कहा जायगा तो वह प्रथम अश मे सम्मिलित

नही माना जायगा। महाभाष्य ने इसे बहुधा उदाहृत किया है, यथा—वार्तिक ४, पा० ६।१।२, वार्तिक १, पा० १।१।४७, वार्तिक २, पा० ६।२।१। और देखिए मिता० (याज्ञ० ३।२५७)।

तत्प्रख्यन्याय—जै० (१।४।४) 'तत्प्रख्य चान्यशास्त्रम्', जिसका अर्थ है 'तस्य गुणस्य प्रख्य प्रापक अन्यशास्त्र यत्र भवति।' तै० स० (१।५।६।१) मे हम पढते है 'अग्निहोत्र जुहोति स्वर्गकाम ।' यहाँ पर अग्निहोत्र नाम (नामधेय) है एक कृत्य का (अग्नये होत्र होमो यस्मिन्) न कि गुणविधि। देखिए मी० न्या० प्र० (पृ० ६४), धर्मद्वैतनिर्णय (पृ० ३), अर्थसग्रह (पृ० ४ एव २०)।

तद्व्यपदेशन्याय—जै० (१।४।५)। उदाहरण है 'श्येनेनाभिचरन् यजेत।' यहाँ पर 'श्येन' शब्द का प्रयोग 'श्येन' नामक कृत्य के लिए है, किन्तु यह कृत्य फुर्ती मे श्येन (बाज) से मिलता-जुलता है। देखिए मी० न्या० प्र० (पृ० २३८), तेन व्यपदेश उपमानम्। तदन्यथानुपपत्त्येति यावत्।

दण्डापूपन्याय या दण्डापूपिकनीति—धर्मशास्त्र ग्रन्थो मे इसका बहुधा प्रयोग होता है। देखिए विश्वरूप, (याज्ञ० १।१४७ एव ३।२५७), मिता० (याज्ञ० २।१२६), स्मृतिच० (व्यवहार, पृ० १४२, १४६, २४२, २४६, २८३, २६६, ३०१, ३१५, ३२६, दायभाग (१०।३०), दायतत्त्व (पृ० १७०)। व्य० म० (पृ० १३१)। दण्डापूपिकनीति के लिए देखिए अलकारसर्वस्व, अर्थापत्ति (पृ० १६६) एव उस पर की टीका जयरथ।

दर्विहोमन्याय—जै० (८।४।१), तन्त्रवा० (पृ० ११५, जै० १।२।७ पर), मी० न्या० प्र० (पृ० १४६)। सामासिक प्रयोग मे 'होम' मुख्य (प्रधान) शब्द है और 'दर्वि' अप्रधान (उपसर्जन) शब्द है। अत कृत्य का नाम दर्विहोम है।

दशहरान्याय—देखिए भवदेव का प्रायश्चित्तप्रकरण (पृ० १८), प्राय० वि० (पृ० ८१), शुद्धितत्त्व (पृ० २४०-२४१)। ज्येष्ठ के शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि को एक व्रत होता है, जिसका नाम दशहरा है। क्योकि यह दस पापो को दूर करता है। न्याय यह कहता है कि कुछ बातो मे एक के सम्पादन मात्र से कई फलो की प्राप्ति होती है।

दृष्ट प्रयोजनमुत्सृज्य न शक्यमदृष्ट कल्पयितुम्।
दृष्टे फले अदृष्टफलकल्पना अन्याय्या।
दृष्टे सति अदृष्टकल्पनाऽन्याय्या।
दृष्टे सभवत्यदृष्टस्यान्याय्यत्वम्।

देखिए शबर (जै० ६।३।३, पृ० १७४५, १०।२।२३, पृ० १८३५ एव १०।२।३४, पृ० १८३८), मी० न्या० प्र० (पृ० २०१, एकादशीतत्त्व (पृ० ८६), भामती (वे० सू० ३।३।१४)।

देहलीदीपन्याय—देहली पर रखा दीपक घर के भीतर एव बाहर दोनो ओर प्रकाश करता है। यह निम्न-लिखित 'प्रसाददीपन्याय' के समान ही है। 'प्रदीपवत्' जै० (११।१।६१) मे आया है, देखिए शबर (जै० ११।१।-६१), व्य० म० (पृ० १४६), जहाँ याज्ञ० (२।१३६) की व्याख्या मे इस न्याय की ओर सकेत है।

द्वयो प्रणयन्तिन्याय—जै० (७।३।१६-२५), मिता० (याज्ञ० २।१३५), दायभाग (११।५।१६, पृ० १६४) एव व्य० प्र० (पृ० ५००—५०२ एव ५३५)।

धेनुकिशोरन्याय—जै० (७।४।७, जहाँ 'यया धेनु किशोरेण' आया है), शबर ने इसकी स्पष्ट व्याख्या की है। 'धेनु' का सामान्य अर्थ होता है 'गाय', किन्तु 'किशोर' का अर्थ है बछेडा (घोडे का बच्चा, अश्वशावक), अत 'कृष्णकिशोरा धेनु' मे 'धेनु' का अर्थ है 'अश्वा' (घोडी)।

न तौ पशौ करोति न सोमे—जै० (१०।८।५ एव १२।१।७)। यहाँ 'तौ' 'आज्यभागौ' की ओर सकेत करता है, देखिए व्यवहारसार (पृ० २३१, नृसिहप्रसाद का अश), द० मी० (पृ० १८२)।

न विधौ पर शब्दार्थ—इसका अर्थ यह है कि ऐसा मानने की अनुमति नही है कि किसी विधिवाक्य मे प्रयुक्त कोई शब्द अपने सीधे अर्थ से कोई अन्य भिन्न अर्थ रखता है। भामती (वे० सू० १।१।१, पृ० १०) की व्याख्या मे कल्पतरु ने व्याख्या की है—'विधायके शब्दे परो लक्ष्य शब्दार्थो न भवति', देखिए शबर (जै० ४।४।१९, जहाँ ऐसा आया है—'अनुवादे च लक्षणा न्याय्या न विधौ) और देखिए शबर (जै० ४।१।१८, जहाँ १० यज्ञायुधो (पात्रो) को, जो तै० स० १।६।८।२-३ मे उल्लिखित है, अनुवाद कहा गया है विधि नही। देखिए परा० मा० (१।२, पृ० २९८) एव मद० पा० (पृ० ३७२) एव दत्त० मी० (पृ० १८०)।

नष्टाश्वदग्धरथन्याय—देखिए शबर (जै० २।१।१, पृ० ३७६), तन्त्रवा० (जै० १।२।७, ३।३।११, पृ० ८१८)। यह प्राचीन न्याय है। वार्तिक (१६, पाणिनि १।१।५०) यह है—'सप्रयोगो वा नष्टाश्वदग्धरथवत्।' महाभाष्य ने व्याख्या की है—'तवाश्वो नष्टो ममापि रथो दग्ध, उभौ सप्रयुज्यावहै इति।' मेधातिथि (मनु ५।५१) एव भामती (१।१।४, पृ० १०८) ने इसका उल्लेख किया है। इसमे 'इतरेतरोपकारकत्व' की भावना पायी जाती है।

न हि निन्दा निन्द्य निन्दितु प्रयुज्यते, अपि तु विधेय स्तोतुम्—देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ५८१ एव खण्ड ५, पृ० ९६ जहाँ शबर एव तन्त्रवा० के वचन उद्धृत हैं। मिता० (याज्ञ० ३।२२१)।

न ह्येकस्य शब्दस्यानेकार्थता सत्यां गतौ न्याय्या—देखिए शबर (जै० ८।३।२२ एव ९।४।१८) एव ऊपर वर्णित 'अन्यायश्चानेकार्थत्वम्' नामक न्याय।

नागृहीतविशेषणान्याय—इसे बहुधा 'नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरुत्पद्यते' (शबर, जै० ७।२।२३ मे) के रूप मे या 'न ह्यप्रतीते विशेषणे विशिष्ट केचन प्रत्येतुमर्हन्ति' (शबर, जै० १।३।३३) के रूप मे व्यक्त किया गया है। देखिए तन्त्रवा० (पृ० ३०४, ३२६, ९१६), एका० तत्त्व (पृ० १५), शुद्धितत्त्व (पृ० ३१३), व्य० म० (पृ० ८९)।

नास्ति वचनस्यातिभार—शबर एव धर्मशास्त्र-ग्रन्थो मे यह न्याय विभिन्न रूपो मे वर्णित है, किन्तु सभी स्थलो पर अर्थ एक ही है, यथा—'पवित्र वचन के लिए कुछ भी अति भारी (बोझ, अर्थात् व्यवस्था देने मे असम्भव) नही है।' देखिए शबर (जै० २।२।२७, किमिव हि वचन न कुर्यान्नास्ति भार) या जै० (३।२।३, १०।५।११) या जै० (६।१।४४, जहाँ ऐसा आया है—'न हि वचनस्य किंचिदलभ्य नाम'), शकराचार्य (वे० स० ३।३।४१ एव ३।४।३२)। विश्वरूप (याज्ञ० १।५८), मिता० (याज्ञ० ३।२९८), परा० मा० (२।१, पृ० २०२ एव २।२, पृ० ६४)।

निमित्तगत विशेषणमविवक्षितम्—यह 'आर्त्यधिकरणन्याय' के समान ही है। देखिए विश्वरूप (याज्ञ० ३।२१२)।

निमित्तावृत्तौ नैमित्तिकावृत्ति—जै० (६।२।२७-२८ एव २९)। 'भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति' ऐसे वचन वास्तव मे ऐसी व्यवस्था देते हैं कि जब कभी 'टूट जाना' ऐसा निमित्त आ उपस्थित होता है तो वैसी स्थिति मे नया होम किया जाता है। देखिए मेधा० (मनु ९।२२०, एतद्रुद्रास्तथा) एव मिता० (याज्ञ० १।८१)

निषादस्थपतिन्याय—जै० (६।१।५१-५२)। परा० मा० (१।१, पृ० ४९), प्राय० वि० (पृ० १३२) व्य० म० (पृ० ११२)।

न्यायसाम्य—नि० सि० (पृ० ६७) का कथन है कि सूर्यग्रहण पर श्राद्ध करने के नियम चन्द्रग्रहण वाले श्राद्ध के लिए प्रयुक्त होते हैं।

पकप्रक्षालनन्याय—यह निम्नलिखित श्लोकार्ध से व्यक्त है—'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शन वरम्' जो विश्वरूप (याज्ञ० १।२१०) द्वारा 'तथा च लौकिका' नामक शब्दो द्वारा प्रस्तावित किया गया है। यह श्लोकार्ध वनपर्व (१।४९) का है, जिसमे 'श्रेयो न स्पर्शन् नृणाम्' ऐसा पाठान्तर है और दूसरा अर्ध भाग यह है—'धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वर तस्य निरीहता।' शाकरभाष्य ने इसे उद्धृत किया है (वे० सू० ३।२।२२)।

पदार्थप्राबल्याधिकरण—जै० (१।३।५-७) एव शबर (जै० १।३।७)।

पदार्थानसमय—जै० (५।२।१-२) एव 'काण्डानसमय' (देखिए ऊपर)।

परमतमप्रतिषिद्धमनुमत भवति—'मौन से स्वीकृति प्रकट होती है' के समान यह है। देखिए दत्त० मी० (पृ० ८२) एव शाकरभाष्य (वे० सू० २।४।१२)।

पर्णमयीन्याय—जै० (३।६।१-८), 'यस्य पर्णमयी जहूर्भवति न स पाप श्लोक शृणोति' ऐसे वचन तै० स० (३।५।७।२) मे आये हैं, किन्तु किसी विषय की ओर कोई सकेत नही है। उनका प्रयोग केवल विकृतियो के लिए हुआ है। देखिए मी० न्या० प्र० (पृ० ११७) एव भामती (वे० सू०, १।१।४, पृ० १२३-१२४)।

पशुन्याय—जै० (४।१।११) एव टुपटीका (पृ० १२०३-५, वैदिक वचन—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीय पशुमालभते)। एकत्व एव पुंस्त्व दोनो पर बल देना चाहिए, ऐसा बलपूर्वक कहा गया है।

पशुपुरोडाशन्याय—जै० (१२।१।१-६), देखिए प्रायश्चित्तप्रकरण (भवदेवकृत, पृ० २०), प्राय० वि० (पृ० ८५) एव गोविन्दानन्द की तत्त्वार्थकौमुदी।

पिष्टपेषणन्याय—शबर (जै० ९।२।३, १२।२।१६), तन्त्रवा० (१।२।३१, पृ० १४७)। पिष्टपेषण का अर्थ है उसे पीसना जो पहले से ही पीसा जा चुका है, अत अनावश्यक रूप से तर्कों को दुहराना।

पृष्ठाकोटन्याय—'पीठ को घुमाकर बार-बार पृथिवी पर पड़े पदार्थों मे प्रत्येक को देखना।' देखिए शबर (जै० २।१।३२) एव तन्त्रवा० (पृ० ४३४), मिता० (याज्ञ० ३।२१६)।

प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत—देखिए शबर (जै० ३।४।१२, पृ० ९२२ एव ११।१।२२, पृ० २०१३), तन्त्रवा० (जै० २।१।१, पृ० ३८०, ३।१।१२, पृ० ६७४, ३।४।१२, पृ० ९०२, ३।७।१०, पृ० १०८०)। महाभाष्य (वार्तिक २, पा० ३।१।६७)।

प्रतिनिधिन्याय—जै० (६।३।१३-१७), स्मृतिच० (श्राद्ध, पृ० ४६०)। इसका अर्थ है 'श्रुतद्रव्यापचारे द्रव्यान्तर प्रतिनिधाय प्रयोग कर्तव्य।'

प्रतिनिमित्त नैमित्तिकशास्त्रमावर्तते—देखिए न्याय 'निमित्तावृत्तौ' आदि ऊपर, मिता० (याज्ञ० ३।२६३-२६४ एव २८८।

प्रतिपदाधिकरण—मी० न्या० प्र० (पृ० ४७)। जै० (२।१।१) के प्रथम भाग को शबर ऐसा कहते हैं और दूसरा भाग 'भावार्थाधिकरण' कहा जाता है।

प्रतिप्रधान गुणावृत्ति—शबर (जै० ३।३।१४, पृ० ८४४), परा० मा० (१।१, पृ० ३९१)।

प्रथमातिक्रमे कारणाभावात्—जै० (१०।५।१ एव ६), जिस पर शबर का कथन है—'ये क्रमवन्त आरब्ध-व्यास्त प्रथमादुपक्रमितव्या') तन्त्रवा० (जै० ३।२।२०, पृ० ७७२ एव ३।४।५१, पृ० ९८८), व्य० म० (पृ० १३४)।

प्रधानमल्लनिबर्हणन्याय—'प्रधान मल्ल को हरा देना', भावना यह है कि यदि प्रधान मल्ल हरा दिया गया तो उससे कम शक्ति वाले प्रतियोगी हारे हुए समझे जाने चाहिए। शाकरभाष्य (वे० सू० १।४।२८ एव २।१।१२)।

प्रधानस्य चोद्दिश्यमानस्य विशेषणमविवक्षितम्—देखिए टुप्टीका (जै० ७।१।२, पृ० १५२६)।

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते—देखिए श्लोकवा० (सम्बन्धाक्षेप०, श्लोक ५५, पृ० ६५३)।

प्रस्तरप्रहरणन्याय—जै० (३।२।११-१५), दर्शपूर्णमास मे निर्देश करते हुए 'सूक्तवाकेन प्रस्तर प्रहरति', अर्थात् पुरोहित सूक्तवाक मन्त्र के साथ, जो इस प्रकार एक अग हो जाता है, प्रस्तर (कुशो का एक गुच्छा) को अग्नि मे डालता है।

प्रासाददीपन्याय—'देहलीदीपन्याय' के समान। शबर (जै० १२।१।१ एव ३)।

प्रैयगवन्याय—देखिए तन्त्रवा० (जै० २।१।१२, पृ० ४१५)। यह शबर (जै० १।३।८) के 'तत्र केचिद् दीर्घशूकेषु यव-शब्द प्रयुञ्जते केचित्प्रियङ्गुषु' की ओर सकेत करता है।

फलवत्सनिधावफल तदगम्—जै० (४।४।३४, जो एक लम्बा सूत्र है) मे हमे ये शब्द मिलते है—'तत्पुनर्मुख्यलक्षण यत्फलवत्त्व तत्सनिधावसयुक्त तदग स्यात्।' देखिए शबर (जै० ४।४।१९), कुल्लूक (मनु २।१०१-१०२) ने इसका प्रयोग किया है, शाकरभाष्य (वे० सू० २।१।१४)।

बर्हिर्न्याय—जै० (३।२।१)। शबर ने 'बर्हिर्देवसदन दामि' (मैं देवता के निवास के लिए बर्हि काटता हूँ) का उद्धरण दिया है और कहा है कि मुख्य भाव लेना चाहिए न कि गौण (समानता के आधार पर अन्य अर्थ)।

ब्राह्मणकौण्डिन्यन्याय—देखिए 'तक्रकौण्डिन्यन्याय'। मिता० (याज्ञ० ३।२५७)।

ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय—शबर (जै० २।१।४३) ने लिखा है—'इतो ब्राह्मणा भोज्यन्तामित परिव्राजका इति।' भामती (वे० सू० ३।१।११) का कथन है कि यह न्याय 'गोबलीवर्दन्याय' सा ही है। शाकरभाष्य (वे० सू० १।४।१६, २।३।१५ एव ३।१।११)। सुबोधिनी (याज्ञ० २।९६)।

ब्राह्मणवसिष्ठन्याय—मेधा० (मनु ७।३५)। 'वसिष्ठ' का अर्थ ब्राह्मण भी है, किन्तु उनका वर्णन पृथक् से हो सकता है, क्योकि वे तप करने वालो मे विशिष्ट थे, अर्थात् उनके तप महान् थे।

भावार्थाधिकरण—जै० (२।१।१), मी० न्या० प्र० (पृ० १२८)।

भूतभव्यसमुच्चारणन्याय या भूतभव्यसमुच्चारणे भूत भव्यायोपदिश्यते—शबर ने इसका बहुधा प्रयोग किया है, यथा जै० (२।१।४, ३।४।४०, ४।१।१८, ६।१।१, ९।१।९। टुप्टीका (जै० ४।१।१८) ने व्याख्या की है—'भूत द्रव्य भव्या क्रिया निर्वर्तयतीति क्रियातोऽदृष्टम्।' व्य० म० (पृ० १११)।

भूयसान्याय या भूयसा स्यात्सधर्मत्वम्—जै० (१२।२।२२) के 'विप्रतिषिद्धधर्माणा समवाये भूयसा स्यात् सधर्मत्वम्' पर आधृत है। जब कई कृत्यो का मिला-जुला (मिश्रित) यज्ञ होता है और उसके कई विस्तारो मे विरोध उपस्थित हो जाता है तो वैसी स्थिति मे जो विधि अपनायी जाती है वह ऐसी होती है कि विस्तार अधिक-से-अधिक सख्या मे सभी मे पाये जायें। देखिए स्मृतिच० (श्राद्ध, पृ० ४९८), व्य० नि० (पृ २०२)।

माषमुद्गन्याय—जै० (६।३।२०)। नियम ऐसा है कि जब किसी यज्ञ के लिए व्यवस्थित पदार्थ न प्राप्त हो सके तो कोई अन्य समान पदार्थ काम मे लाया जा सकता है (सोम के लिए पूतीका, शबर, जै० ६।३।१४), किन्तु जो पदार्थ स्पष्ट रूप से निषिद्ध रहता है, उसको प्रतिनिधि के रूप मे नही ग्रहण किया जा सकता, भले ही वह व्यवस्थित पदार्थ के अनुरूप ही क्यों न हो। यदि मुद्ग न प्राप्त हो सके तो माष का प्रयोग नही हो सकता,

क्योकि तै० स० (५।१।८।१) द्वारा माष-अन्न यज्ञ के लिए निषिद्ध ठहराया गया है। देखिए मिता० (याज्ञ० २।-१२९), दायभाग (१३।१६), प्राय० तत्त्व (पृ० ४८२), व्यव० प्र० (पृ० ५५५)।

मिथ -सम्बन्धन्याय—यह 'वार्त्रघ्नीन्याय' के समान है (जै० ३।१।२३)।

मिथो-सम्बन्धन्याय—जै० (३।१।२२) एव शबर (उसी पर), मदनपारिजात (पृ० ८६)। एक गुण-वाक्य किसी अन्य गुणवाक्य का सहायक नही हो सकता, क्योकि दोनो प्रधान उद्देश्य के सहायक होते है और दोनो बराबर स्थिति के होते हैं। दो कृत्य हैं—अग्न्याधेय एव पवमान आहुतियाँ और ऐसा कहा गया है कि इनमे से एक दूसरे के अधीन है। दोनो एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हैं, अर्थात् दोनो दर्शपूर्णमास एव अन्य यज्ञो मे प्रयुक्त होते है। ऐसा वैदिक वचन है कि वरण एव वैककत लकडी के पात्र यज्ञो के योग्य होते हैं, किन्तु वरण का पात्र होम मे प्रयुक्त नही होता, किन्तु वैककत का पात्र प्रयुक्त होता है। दोनो प्रकार के पात्र यज्ञो के लिए सहायक होते है, किन्तु वैदिक वचन मे वरण का होम मे निषेध एक सामान्य बात है। अत दोनो मे एक, दूसरे के अधीन नही है। इसी से वैककत के पात्र उन यज्ञो मे प्रयुक्त होते हैं जिनमे होम आवश्यक है, किन्तु इन यज्ञो मे वरण के पात्र प्रयुक्त नही होते।

मुख्यगौणयोश्च मुख्ये सप्रत्यय—शबर (जै० ३।२।१)। देखिए ऊपर 'गौणमुख्ययोश्च '।

मुख्यापचारे (या मुख्यालाभे) प्रतिनिधि शास्त्रार्थ—जै० (६।३।१३-१७), तिथितत्त्व (पृ० १३), दत्त० मी० (पृ० २०६)

यथाशक्तिन्याय—जै० (६।३।१-७)। धर्मद्वैतनिणय (पृ० १०५), एका० तत्त्व (पृ० १८, २६)।

यववराहाधिकरण—जै० (१।३।६)।

यश्चोभयो पक्षयोर्दोषो न तमेकश्चोद्यो भवति या 'यश्चोभ नासावेक पक्ष निवर्तयति' या 'यश्चो नासावेकस्य वाच्य'—देखिए शबर (जै० ८।३।७ एव १४, १०।३।२५, पृ० १८१६)।

यस्य येनार्थसम्बन्ध इति न्यायात्—यह 'यस्य येनाभिसम्बन्धो दूरस्थेनापि तस्य स। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥' का एक अश है। न्यायसुधा (पृ० १०७६) ने इसे तन्त्रवार्तिक (३।१।२७) पर टीका करते हुए वृद्ध-श्लोक कहकर उद्धृत किया है, तन्त्रवा० (पृ० ७४४) मे आया है—'यस्य सम्बन्ध इति न्यायात्'। यह न्याय राजनीति-विषयक ग्रन्थो मे भी प्रयुक्त हुआ है। व्यक्तिविवेक-व्याख्या (पृ० ३६) अभिनव-भारती द्वारा नाट्यशास्त्र मे उद्धृत ('तथ पि यस्य येनार्थसम्बन्ध इत्यर्थक्रम आदर्तव्यो न शब्द इति')।

यावद्वचन वाचनिकम्—देखिए शबर (जै० ५।४।११, याव क न तत्र न्याय क्रमते, एव ५।३।१२ याव क न सदृशमुपसक्र म ति)। म दना यह है—'किसी अधिकारी वचन के विषय मे केवल उतना ही स्वीकार करना चाहिए जो प्रयुक्त शब्दो से व्यक्त हो और उसे समानता के आधार पर अन्य विषयो मे प्रयुक्त नही मानना चाहिए।' देखिए तन्त्रवा० (जै० ३।५।१६), भामती (वे० सू० ४।१।१ एव ४।३।४), मेधा० (मनु १०।१२७)।

युगपद्वृत्तिद्वयविरोधन्याय—किसी विधि मे एक ही शब्द एक ही काल मे मुख्य एव गौण दोनो अर्थो मे प्रयुक्त नही हो सकता। देखिए जै० ३।२।१ एव शबर, व्य० म० (पृ० ६२), दायभाग (३।३०, पृ० ६७)।

योगसिद्ध्यधिकरण—जै० (४।३।२७-२८)। ज्योतिष्टोम सभी फलो को एक-साथ ही नही प्रकट करता, प्रत्युत एक-के-पश्चात्-एक प्रकट करता है। यह शब्द सूत्र २८ मे आया है और 'योगसिद्धि' शब्द का अर्थ है 'पर्याय', जैसा कि शबर का कथन है। देखिए मेधा० (मनु ११।२२०), शुद्धितत्त्व (पृ० २३६), प्राय० वि० (पृ० ७८) एव भवदेवकृत प्राय० प्रकरण (पृ० १८)।

रथकाराधिकरणन्याय—जै० (६।१।४४-५०), मी० न्या० प्र० (पृ० ११३) एव परा० मा० (१।१, पृ० ४८)।

रात्रिसत्रन्याय—जै० (४।३।१७-१९), दत्त० मी० (पृ० २०७), भामती (शाकरभाष्य, वे० सू० १।१।४)।

रूढिर्योगमपहरति—इसका अर्थ यह है कि व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की अपेक्षा रूढिगत अर्थ को अधिक मान्यता देनी चाहिए, यथा 'रथकार' (जै० ६।१।४४) के विषय मे। देखिए परा० मा० (१।१, पृ० ३००)। इसके विरोध मे एक दूसरा न्याय ग्रहण किया जाता है, यथा—'योगसम्भवे परिभाषाया अयुक्तत्वात्', जो मिता० (याज्ञ० २।१४३) द्वारा स्त्रीधन के अर्थ के विषय मे प्रयुक्त किया गया है। मी० न्या० प्र० (पृ० ११२-११३)।

रेवत्यधिकरणन्याय—जै० (२।२।२७) एव मी० न्या० प्र० (पृ० ४०-४२)।

लक्षणा ह्यदृष्टकल्पनाया ज्यायसी—देखिए शबर (जै० १।१, पृ० ७ एव १।४।२, पृ० ३२४)।

वर्चोन्याय—जै० (३।८।२५-२७)। दर्शपूर्णमास मे अध्वर्यु पुरोहित पाठ करता है—'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु' (मै० स० १।४।५)। फल यजमान को मिलता है न कि अध्वर्यु को, क्योकि अध्वर्यु दक्षिणा पर कार्य करता है।

वाजपेयन्याय—जै० (१।४।६-८)। 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' नामक वाक्य मे 'वाजपेय' एक याग का नाम है, वह किसी यज्ञ के विषय मे कुछ और नही बताता। मिता० (याज्ञ० १।८१)।

वार्त्रघ्नीन्याय—जै० (३।१।२३)। तै० स० (२।५।२।५) मे ऐसा आया है कि वार्त्रघ्नी मन्त्रो का वाचन पूर्णमासी पर तथा वृधन्वती मन्त्रो का अमावास्या पर होना चाहिए। ये दोनो उन यज्ञो के लिए व्यवस्थित है जिनमे दो अनुवाक्याओ के वाचन की आवश्यक्ता होती है। दर्श या पौर्णमास कृत्य पर केवल एक अनुवाक्या होती है, अत ये दोनो दर्शपूर्णमास मे प्रयुक्त नही हो सकते। किन्तु दो अनुवाक्याओ का प्रयोग आज्यभागो मे (जो दर्शपूर्णमास की सहायक आहुतियाँ होते है), हुआ है, ऐसा प्रसिद्ध है। अत 'वार्त्रघ्नी' एव 'वृधन्वती' अनुवाक्याएँ केवल आज्यभागो से सम्बन्धित है न कि प्रमुख कृत्य से।

विधिवन्निगदाधिकरण—देखिए दायभाग (याज्ञ० २।३०, स्थावर द्विपद न विक्रय), जिसने टिप्पणी की है—'कर्तव्यपदमवश्यमत्राध्याहार्यम्'। यह एक विधि है, यद्यपि उत्साह व्यक्त करने के लिए कोई अन्य शब्द नही है।

विश्वजिन्न्याय—जै० (४।३।१५-१६)। जहाँ किसी यज्ञ के लिए कोई फल स्पष्ट रूप से व्यवस्थित न हो वहाँ 'स्वर्ग' को फल समझना चाहिए। यह विश्वजित् यज्ञ के लिए है, जिसमे यज्ञकर्ता यज्ञ के समय की अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का दान कर देता है। मेधा० (मनु० २।२), परा० मा० (१।१, पृ० १४८), एका० तत्त्व (पृ० २३)।

विधौ लक्षणा अन्याय्या—देखिए शबर (जै० १।२।२९ एव ४।४।१९)। देखिए ऊपर 'न विधौ पर शब्दार्थ ।' मलमासतत्त्व (पृ० ७६०)।

वैश्वदेवन्याय—जै० (१।४।१३-१६)। चातुर्मास्यो के चार पर्वो मे वैश्वदेव प्रथम पर्व है। यह नामधेय है न कि गुणविधि। दत्त० मी० (पृ० २३९) ने इसका प्रयोग किया है।

वैश्वानराधिकरणन्याय—देखिए 'जातेष्टिन्याय'।

शाखान्तरन्याय—जै० (२।४।८-३३)। यह आगे लिखित 'सर्वशाखाप्रत्ययन्याय' ही है।

श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा—शबर (जै० ४।१।२३, ४।१।४६ एव ४।२।३०)।

क्योकि तै० स० (५।१।८।१) द्वारा माष-अन्न यज्ञ के लिए निषिद्ध ठहराया गया है। देखिए मिता० (याज्ञ० २-१२६), दायभाग (१३।१६), प्राय० तत्त्व (पृ० ४८२), व्यव० प्र० (पृ० ५५५)।

मिथ-सम्वन्धन्याय—यह 'वार्त्रघ्नीन्याय' के समान है (जै० ३।१।२३)।

मिथो-सम्वन्धन्याय—जै० (३।१।२२) एव शबर (उसी पर), मदनपारिजात (पृ० ८९)। एक गुण-वाक्य किसी अन्य गुणवाक्य का सहायक नही हो सकता, क्योकि दोनो प्रधान उद्देश्य के सहायक होते है और दोनो वरावर स्थिति के होते हैं। दो कृत्य है—अग्न्याधेय एव पवमान आहुतियाँ और ऐसा कहा गया हे कि इनमें से एक दूसरे के अधीन है। दोनो एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हैं, अर्थात् दोनो दर्शपूर्णमास एव अन्य यज्ञो मे प्रयुक्त होते हैं। ऐसा वैदिक वचन है कि वरण एव वैककत लकडी के पात्र यज्ञो के योग्य होते हैं, किन्तु वरण का पात्र होम मे प्रयुक्त नही होता, किन्तु वैककत का पात्र प्रयुक्त होता है। दोनो प्रकार के पात्र यज्ञो के लिए सहायक होते है, किन्तु वैदिक वचन में वरण का होम मे निषेध एक सामान्य वात है। अत दोनो मे एक, दूसरे के अधीन नही है। इसी से वैककत के पात्र उन यज्ञो मे प्रयुक्त होते हैं जिनमे होम आवश्यक है, किन्तु इन यज्ञो में वरण के पात्र प्रयुक्त नही होते।

मुख्यगौणयोश्च मुख्ये सप्रत्यय—शबर (जै० ३।२।१)। देखिए ऊपर 'गौणमुख्ययोश्च '।

मुख्यापचारे (या मुख्यालाभे) प्रतिनिधि शास्त्रार्थ—जै० (६।३।१३-१७), तिथितत्त्व (पृ० १३), दत्त० मी० (पृ० २०६)

यथाशक्तिन्याय—जै० (६।३।१–७)। धर्मद्वैतनिणय (पृ० १०५), एका० तत्त्व (पृ० १८, २६)।

यववराहाधिकरण—जै० (१।३।९)।

यश्चोभयो पक्षयोर्दोषो न तमेकश्चोद्यो भवति या 'यस्चोभ नासावेक पक्ष निवर्तयति' या 'यश्चो नासावेकस्य वाच्य '—देखिए शबर (जै० ८।३।७ एव १४, १०।३।२५, पृ० १८१६)।

यस्य येनार्थसम्वन्ध इति न्यायात्—यह 'यस्य येनाभिसम्वन्धो दूरस्थेनापि तस्य स। अर्थतो ह्यसमर्थानामा-नन्तर्यमकारणम्॥' का एक अश है। न्यायसुधा (पृ० १०७६) ने इसे तन्त्रवार्तिक (३।१।२७) पर टीका करते हुए वृद्ध-श्लोक कहकर उद्धृत किया है, तन्त्रवा० (पृ० ७४४) मे आया है—'यस्य सम्वन्ध इति न्यायात्'। यह न्याय राजनीति-विषयक ग्रन्थो मे भी प्रयुक्त हुआ है। व्यक्तिविवेक-व्याख्या (पृ० ३९) अभिनव-भारती द्वारा नाट्यशास्त्र मे उद्धृत ('तथ पि यस्य येनार्थसम्वन्ध इत्यर्थक्रम आदर्तव्यो न शब्द इति')।

यावद्वचन वाचनिकम्—देखिए शबर (जै० ५।४।११, याव क न तत्र न्याय क्रमते, एव ५।३।१२ याव क न सदृशमुपसङ्क्रामति)। भ दना यह है—'किसी अधिकारी वचन के विषय मे केवल उतना ही स्वीकार करना चाहिए जो प्रयुक्त शब्दो से व्यक्त हो और उसे समानता के आधार पर अन्य विषयो मे प्रयुक्त नही मानना चाहिए।' देखिए तन्त्रवा० (जै० ३।५।१९), भामती (वे० सू० ४।१।१ एव ४।३।४), मेधा० (मनु १०।१२७)।

युगपद्वृत्तिद्वयविरोधन्याय—किसी विधि मे एक ही शब्द एक ही काल मे मुख्य एव गौण दोनो अर्थों मे प्रयुक्त नही हो सकता। देखिए जै० ३।२।१ एव शबर, व्य० म० (पृ० ९२), दायभाग (३।३०, पृ० ६७)।

योगसिद्ध्यधिकरण—जै० (४।३।२७-२८)। ज्योतिष्टोम सभी फलो को एक-साथ ही नही प्रकट करता, प्रत्युत एक-के-पश्चात्-एक प्रकट करता है। यह शब्द सूत्र २८ मे आया है और 'योगसिद्धि' शब्द का अर्थ है 'पर्याय', जैसा कि शवर का कथन है। देखिए मेधा० (मनु ११।२२०), शुद्धितत्त्व (पृ० २३९), प्राय० वि० (पृ० ७८) एव भवदेवकृत प्राय० प्रकरण (पृ० १८)।

रथकाराधिकरणन्याय—जैं० (६।१।४४-५०), मी० न्या० प्र० (पृ० ११३) एवं परा० मा० (१।१, पृ० ४८)।

रात्रिसत्रन्याय—जैं० (४।३।१७-१९), दत्त० मी० (पृ० २०७), भामती (शांकरभाष्य, वे० सू० १।१।४)।

रूढिर्योगमपहरति—इसका अर्थ यह है कि व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की अपेक्षा रूढिगत अर्थ को अधिक मान्यता देनी चाहिए, यथा 'रथकार' (जैं० ६।१।४४) के विषय में। देखिए परा० मा० (१।१, पृ० ३००)। इसके विरोध में एक दूसरा न्याय ग्रहण किया जाता है, यथा—'योगसम्भवे परिभाषाया अयुक्तत्वात्', जो मिता० (याज्ञ० २।१४३) द्वारा स्त्रीधन के अर्थ के विषय में प्रयुक्त किया गया है। मी० न्या० प्र० (पृ० ११२-११३)।

रेवत्यधिकरणन्याय—जैं० (२।२।२७) एवं मी० न्या० प्र० (पृ० ४०-४२)।

लक्षणा ह्यदृष्टकल्पनाया ज्यायसी—देखिए शबर (जैं० १।१, पृ० ७ एवं १।४।२, पृ० ३२४)।

वर्चोन्याय—जैं० (३।८।२५-२७)। दर्शपूर्णमास में अध्वर्यु पुरोहित पाठ करता है—'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु' (मै० सं० १।४।५)। फल यजमान को मिलता है न कि अध्वर्यु को, क्योंकि अध्वर्यु दक्षिणा पर कार्य करता है।

वाजपेयन्याय—जैं० (१।४।६-८)। 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' नामक वाक्य में 'वाजपेय' एक याग का नाम है, वह किसी यज्ञ के विषय में कुछ और नहीं बताता। मिता० (याज्ञ० १।८१)।

वार्त्रघ्नीन्याय—जैं० (३।१।२३)। तै० सं० (२।५।२।५) में ऐसा आया है कि वार्त्रघ्नी मन्त्रों का वाचन पूर्णमासी पर तथा वृधन्वती मन्त्रों का अमावास्या पर होना चाहिए। ये दोनों उन यज्ञों के लिए व्यवस्थित हैं जिनमें दो अनुवाक्याओं के वाचन की आवश्यकता होती है। दर्श या पौर्णमास कृत्य पर केवल एक अनुवाक्या होती है, अतः ये दोनों दर्शपूर्णमास में प्रयुक्त नहीं हो सकते। किन्तु दो अनुवाक्याओं का प्रयोग आज्यभागों में (जो दर्शपूर्णमास की सहायक आहुतियाँ होते हैं), हुआ है, ऐसा प्रसिद्ध है। अतः 'वार्त्रघ्नी' एवं 'वृधन्वती' अनुवाक्याएँ केवल आज्यभागों से सम्बन्धित हैं न कि प्रमुख कृत्य से।

विधिवन्निगदाधिकरण—देखिए दायभाग (याज्ञ० २।३०, स्थावरं द्विपदं न विक्रय), जिसने टिप्पणी की है—'कर्तव्यपदमवश्यमत्राध्याहार्यम्'। यह एक विधि है, यद्यपि उत्साह व्यक्त करने के लिए कोई अन्य शब्द नहीं है।

विश्वजिन्याय—जैं० (४।३।१५-१६)। जहाँ किसी यज्ञ के लिए कोई फल स्पष्ट रूप से व्यवस्थित न हो वहाँ 'स्वर्ग' को फल समझना चाहिए। यह विश्वजित् यज्ञ के लिए है, जिसमें यज्ञकर्ता यज्ञ के समय की अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का दान कर देता है। मेधा० (मनु० २।२), परा० मा०(१।१, पृ० १४८), एका० तत्त्व (पृ० २३)।

विधौ लक्षणा अन्याय्या—देखिए शबर (जैं० १।२।२९ एवं ४।४।१९)। देखिए ऊपर 'न विधौ परः शब्दार्थः।' मलमासतत्त्व (पृ० ७६०)।

वैश्वदेवन्याय—जैं० (१।४।१३-१६)। चातुर्मास्यों के चार पर्वों में वैश्वदेव प्रथम पर्व है। यह नामधेय है न कि गुणविधि। दत्त० मी० (पृ० २३९) ने इसका प्रयोग किया है।

वैश्वानराधिकरणन्याय—देखिए 'जातेष्टिन्याय'।

शाखान्तरन्याय—जैं० (२।४।८-३३)। यह आगे लिखित 'सर्वशाखाप्रत्ययन्याय' ही है।

श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा—शबर (जैं० ४।१।२३, ४।१।४६ एवं ४।२।३०)

षोडशिन्याय—जै० (१०।८।६) । 'अतिरात्रे षोडशिन गृह्णाति' तथा 'नातिरात्रे गृह्णाति', अर्थसग्रह (पृ० २४) ।

सयोगपृथक्त्वन्याय—जै० (४।३।५-७) । मेघा० (मनु० २।१०७), परा० मा० (१।१, पृ० ६०), प्राय० तत्त्व (पृ० ४७४), एका० तत्त्व (पृ० २६-३०), तिथितत्त्व (पृ० ४४), नि० सि० (पृ० ८४) ।

सकृत्कृते कृत शास्त्रार्थ—शबर (जै० ११।१।२८ एव १२।३।१०), एका० तत्त्व (पृ० ३२), उद्वाहतत्त्व (पृ० १३३), महाभाष्य (वार्तिक ४, पा० ४।१।८४) । इस न्याय का प्रयोग सीमित होता है और बहुधा 'निमित्तावृत्तौ 'नामक न्याय प्रयुक्त होता है ।

सकृच्छ्रुत शब्दस्तमेवार्थं गमयति—दायभाग (३।२६-३०, पृ० ६७), मद० पा० (पृ० ३६६) ।

सम स्यादश्रुतित्वात्—यह जै० (१०।३।५३-५५) का पूर्वपक्षसूत्र है । यह बहुधा प्रयोग मे लाया जाता है, किन्तु जब असमान विभाजन होता है तो विशिष्ट व्यवस्था कर दी जाती है । मिता० (याज्ञ० २।२६५), दायभाग (४।८, पृ० ८०, स्त्रीधनविभाग), स्मृतिच० (२, पृ० १५२ एव २८५), कुल्लूक (मनु ३।१, सम स्यादश्रुतित्वादिति न्यायेन प्रति द्वादशवर्षाणि व्रताचरणम्), परा० मा० (१।२, पृ० ३६२), मदनरत्न, (व्य०, पृ० २०४) ।

सप्तदशसामिधेनीन्याय—जै० (३।६।६) । 'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' ऐसे ऐतरेय ब्राह्मण (१।१) के समान वचन जो किसी विशिष्ट यज्ञ मे प्रयुक्त हुए विना आये है, केवल विकृतियो के लिए ही प्रयुक्त होते हैं, प्रकृति के लिए नही । मिता० (याज्ञ० १।२५६) ।

सर्वपरिदानाधिकरण—जै० (३।४।१७), जो तै० स० (२।६।१०।१-२) पर आधृत है । तै० स० की यह उक्ति ब्राह्मण को धमकाने या मार डालने को मना करती है । प्राय० तत्त्व (पृ० ४७६), प्राय० वि० (पृ० ६) ।

सर्वशक्त्यधिकरणन्याय—देखिए 'यथाशक्तिन्याय' एव एका० तत्त्व (पृ० १८, २६) ।

सर्वशाखाप्रत्ययन्याय—जै० (२।४।८-३३) । मिता० (याज्ञ० ३।३२५), अपरार्क (पृ० १०५३), स्मृतिच० (१, पृ० ५), मदनपारिजात (पृ० ११ एव ६१), शुद्धितत्त्व (पृ० ३७८, ३८०) ।

सामान्यविशेषन्याय—शबर (जै० ७।३।१६, बाध्यते च सामान्य विशेषेण) एव तन्त्रवा० (पृ० १०३०, जै० ३।६।६, 'तत्र नाम विशेषेण सामान्यस्य निराक्रिया । प्रत्यक्षो यत्र सम्बन्धो विशेषेण प्रतीयते ।। तुल्यप्रमाणको हि विशेषो बाधको भवति न दुर्बलप्रमाणक', एव पृ० ११२०), स्मृतिचन्द्रिका (व्यव०, पृ० १४२, २६६, ३८१) एव परा० मा० (१, पृ० २३३) ।

सामर्थ्याधिकरण—जै० (१।४।२५) ।

सारस्वतौ भवत—जै० (५।१।७४), देखिए स्मृतिच० (व्य०, पृ० २६७), सुबोधिनी (पितरौ, पृ० ७२), पृ० १८३) ।

सार्थक्यन्याय—जै० (१।२।१ एव ७), शबर (जै० २।२।६ एव ३।१।१८, आनर्थक्यात्तदगेषु) । अनर्थक का अर्थ है 'अर्थहीन' या 'उद्देश्यहीन' ।

सुवर्णधारणन्याय—जै० (३।४।२०-२४) । तै० ब्रा० (२।२।४।६) मे एक वचन है जो किसी विशिष्ट यज्ञ से सम्बन्वित नही है, यथा—'सुवर्ण हिरण्य धार्यम्' (चमकीला सोना पहनना चाहिए) । यह पुरुषधर्म है न कि सर्वप्रकरणधर्म । मिता० (याज्ञ० २।१३५-१३६) । यह 'सभी सम्पत्ति यज्ञ के लिए है' नामक मान्यता के विरोध में एक तर्क है ।

सूक्तवाक्यन्याय—देखिए जै० (३।२।१६-१६ और 'प्रस्तरप्रहरणन्याय', जहाँ सूक्तवाक एवं प्रस्तर का अर्थ दिया हुआ है। इन सूत्रों में यह स्थापित किया गया है कि सम्पूर्ण सूक्तवाक पौर्णमास-इष्टि एवं दर्श-इष्टि मे नहीं कहा जाना चाहिए, किन्तु केवल उतना ही जो इन दोनों इष्टियों के देवों से क्रम से सम्बन्धित है।

स्थालीपुलाकन्याय—'स्थालीपुलाक' शब्द जै० (७।४।१२) में आया है। शबर (जै० ८।१।११) एवं तन्त्रवा० (जै० ३।५।१६, पृ० ६६८)। महाभाष्य को यह ज्ञात था, (यथा वार्तिक १५, पा० ७।२।१)। शांकरभाष्य (वे० सू० २।१।३४ एवं ३।३।५३)।

स्वर्गकामाधिकरण—जै० (६।१।१-३)।

हेतुमन्निगदाधिकरण—जै० (१।२।२६-३०)। विश्वरूप (याज्ञ० ३।२६३), मलमासतत्त्व (पृ० ७६०)।

होलाकाधिकरण—जैमिनि (१।३।१५-२३)।

अध्याय ३१

धर्मशास्त्र एवं सांख्य

साख्य प्रसिद्ध छह दर्शनो मे एक दर्शन है।

शकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (२।२।१७) के शारीरक-भाष्य मे कहा है[1] कि वेदविद् मनु आदि ने कुछ सीमा तक अपने ग्रन्थो मे साख्य के सिद्धान्त को ग्रहण किया है। विशेषत यह सिद्धान्त के उस अश पर निर्भर है, जहाँ यह कहा गया है कि कार्य पहले से ही कारण मे उपस्थित रहता है। इसी प्रकार वे० सू० (१।४।२८) की व्याख्या मे उन्होने कहा है कि सूत्रकार एव स्वय उन्होने साख्य सिद्धान्तो के खण्डन मे बडा परिश्रम किया है (उन्होने परमाणुकारणवाद के सिद्धान्त का इस प्रकार खण्डन नही किया है), क्योकि साख्य सिद्धान्त वेदान्तवाद के पास आ जाता है और कारण एव कार्य के अनन्यभाव के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेता है, तथा देवल जैसे कुछ धर्मसूत्रकारो ने अपने ग्रन्थो मे इसका आश्रय लिया है। वे० स० (२।१।३) की व्याख्या मे शकर ने टिप्पणी की है कि यद्यपि बहुत-सी स्मृतियो ने आध्यात्मिक बातो का निरूपण किया है, किन्तु सबसे अधिक उद्योग साख्य एव योग के सिद्धान्तो के खण्डन मे ही लगाया गया है, क्योकि मनुष्य के परम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन के रूप मे दोनो सिद्धान्त विश्व मे प्रसिद्ध हैं, तथा उन्हे शिष्टो (आदरणीय एव विद्वान् लोगो) ने स्वीकार किया है और उनके पक्ष मे वैदिक सकेत मिलते हैं (यथा श्वेताश्वतरोपनिषद्—'तत्कारण साख्ययोगाभिपन्नम्' ६।१३)। यह आगे व्यक्त किया जायगा कि मनु एव देवल ने कुछ साख्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन भी किया है और उनका आधार भी लिया है।

साख्य सिद्धान्त के उद्गम एव विकास के विषय मे कुछ शब्द लिख देना अनावश्यक नही माना जायगा। साख्य के उद्गम की समस्या भारतीय दर्शन की कठिनतम समस्याओ मे एक है। साख्य सिद्धान्त पर बहुत-से ग्रन्थ एव निबन्ध लिखे गये हैं।[2] वह आरम्भिक साख्य शिक्षा क्या थी, जिसे ईश्वरकृष्ण ने 'साख्यकारिका'

१ प्रधानकारणवादो वेदविद्भिरपि कैश्चिन्मन्वादिभि सत्कार्यत्वाद्यशोपजीवनाभिप्रायेणोपनिबद्ध। अय तु परमाणुकारणवादो न कैश्चिदपि शिष्टै केनचिदप्यशेन परिगृहीत इत्यत्यन्तमेवानादरणीयो वेदवादिभि। शकर (वे० सू० २।२।१७—अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा), "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यारभ्य प्रधानकारणवाद सूत्रैरेव पुन पुनराशङ्क्य निराकृत, तस्य हि पक्षस्योपोद्बलकानि कानिचिल्लिङ्गाभासानि वेदान्तेष्वापातेन मन्दमतीन्प्रतिभान्तीति। स च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात्प्रत्यासन्नो वेदान्तवादस्य। देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारै स्वग्रन्थेष्वाश्रितस्तेन तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कृतो नाण्वादिकारणवादप्रतिषेधे। शाङ्करभाष्य (वे० सू० १।४।२८)।

२ जो लोग साख्य मे अभिरुचि रखते हैं वे निम्नलिखित ग्रन्थो एव निबन्धो को पढ सकते हैं। फिट्ज एडवर्ड हाल का 'इण्ट्रोडक्शन टु साख्य-प्रवचन-भाष्य' (बिब्लियोथिका इण्डिका सीरीज, १८५६), 'साख्य-कारिका' जिस पर जॉन डेवीज ने टिप्पणी की है, जिसका उन्होंने अनुवाद किया है तथा कपिल के सिद्धान्त को समझाया है (१८८१ मे सर्वप्रथम प्रकाशित, दूसरा सस्करण १९५७,), रिचर्ड गार्बे का 'डाई साख्य फिलॉसॉफी',

मे सुधारा ? इसके विषय मे सामान्य रूप से स्वीकृत कोई सम्मति नही दी जा सकती । सन् ५४६ ई० मे परमार्थ द्वारा, जो आरम्भ मे भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण थे और फिर उज्जयिनी मे श्रमण हो गये थे, साख्यकारिका का अनुवाद एव टीका चीनी भाषा मे करायी गयी (देखिए बी० ई० एफ० ई० ओ०, १९०४, पृ० ६०)। शकराचार्य ने वे० सू० (१।४।११) मे साख्यकारिका के तीसरे श्लोक का सम्पूर्ण अश तथा वे० सू० (१।४।८) मे इसका एक चौथाई अश उद्धृत किया है। किन्तु साख्य सिद्धान्त ने, ऐसा प्रतीत होता है, कई अवस्थाओ मे प्रवेश किया । चीनी स्रोतो से पता चलता है कि इसके अठारह सम्प्रदाय थे (देखिए जान्सन का 'अर्ली साख्य' जहाँ बी० ई० एफ० ई० ओ०, १९०४, पृ० ५८ मे उद्धरण लिया गया है) ।

कपिल द्वारा विरचित साख्यसूत्र या साख्यप्रवचनसूत्र भी प्रचलित है । इसकी दो टीकाएँ प्रकाशित हुई है, यथा—अनिरुद्ध कृत एव वेदान्ती महादेव की टीका के कुछ भाग (बिब्लियोथिका इण्डिका सीरीज, १८८१, मे गार्बे द्वारा सम्पादित) । यह सन् १४४० ई० मे प्रणीत हुआ, जैसा कि श्री गार्बे एव फिज-एडवर्ड हाल द्वारा कहा गया है । इसका एक अन्य सस्करण है जिसमे २३ सूत्र है और जिसे 'तत्त्वसमास' नाम दिया गया है। तत्त्वसमास की एक टीका 'क्रमदीपिका' है जो चौखम्बा सस्कृत सीरीज द्वारा प्रकाशित है। चौखम्बा सस्कृत सीरीज ने कुछ अन्य सक्षिप्त पश्चात्कालीन ग्रन्थ प्रकाशित किये है, जिन्हे यहाँ स्थानाभाव से हम नही दे पा रहे हैं। साख्यकारिका पर बहुत-सी टीकाएँ प्रकाशित हुई है । अत्यन्त आरम्भिक टीका सम्भवत परमार्थ कृत अनुवाद के रूप मे है जो सन् ५४६ ई० मे चीनी भाषा मे प्रकाशित हुई थी। इसका सस्कृत रूपान्तर विद्वान् प० ऐयस्वामी शास्त्री द्वारा किया गया है और वह श्री वेकटेश्वर ओरिएण्टल सीरीज द्वारा एक मूल्यवान् भूमिका के साथ सन् १९४४ ई० मे प्रकाशित हुआ है। साख्यकारिका की दूसरी टीका 'माठरवृत्ति' चौखम्बा सस्कृत सीरीज द्वारा सन् १९२२ ई० मे प्रकाशित हुई थी। डा० वेलवाल्कर (ए० बी० ओ० आर० आई०, खण्ड ५, पृ० १३३-१६१) ने माठरवृत्ति पर एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण लम्बा निबन्ध लिखा है और कहा है कि माठरवृत्ति ही वह मूल टीका है जिसका चीनी अनुवाद परमार्थ ने किया था, जिसमे कालान्तर मे बहुत-सी

१८९४, विज्ञानभिक्षु, के 'साख्य-प्रवचन-भाष्य' के सस्करण पर उनकी भूमिका (हारवर्ड ओरिएण्टल सीरीज), प्रो० मैक्समूलर कृत 'सिक्स सिस्टेम्स आव फिलॉसॉफी' (१९०३ का सस्करण, पृ० २१९—३३०), पालडूशेन कृत 'दी फिलॉसॉफी आव दी उपनिषद्स' (ए० एस्० गेडेन द्वारा अनूदित , १९०६, पृ० २३९—२५५), प्रो० ए० बी० कीथ कृत 'साख्य सिस्टेम' (१९२४), ई० एच्० जास्टन कृत 'अर्ली साख्य '(रॉयल एशियाटिक सोसाइटी आव ग्रेट ब्रिटेन, १९३७), दासगुप्त कृत 'इण्डियन फिलॉसॉफी', खण्ड १, पृ० २०८—२७३ (१९२२), डा० राधाकृष्णन् कृत 'इण्डियन फिलॉसॉफी' खण्ड—२, पृ० २४८—३३५ (१९२७) एव 'फिलॉसॉफी, ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न', खण्ड—१, पृ० २४२—२५७, प्रो० ए० बी० कीथ कृत 'रेलिजन एण्ड फिलॉसॉफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स', खण्ड—२, पृ० ५३५—५५१, डा० डब्लू० रूबेन कृत 'बिगनिंग आव एपिक साख्य' (ए० बी० ओ० आर० आई०, खण्ड ३७, १९५६, पृ० १७४—१८९), श्री जयदेव योगेन्द्र कृत 'साख्य इन दि मोक्षपर्व' (जर्नल आव बाम्बे यूनिवर्सिटी, १९५७, खण्ड—२६, न्यू सीरीज, आर्ट्स नम्बर, पृ० १२३—१४१, श्री वी० एम० बेदकर कृत 'स्टडीज इन साख्य, पञ्चशिख एण्ड चरक' (ए० बी० ओ० आर० आई०, खण्ड—३८, पृ० १४०—१४७) एव 'स्टडीज इन साख्य, दि टीचिंग आव पञ्चशिख इन दि महाभारत' (ए० बी० ओ० आर० आई०, खण्ड ३८, पृ० २३३—२४४)।

अन्य बातें भी समाविष्ट हो गयी थी। डा० बेलवाल्कर का यह भी कथन है कि गौडपाद की टीका माठरवृत्ति का ही संक्षिप्त रूपान्तर है (पृ० १४८)। माठरवृत्ति को सन् ४५० ई० के उपरान्त नहीं रखा जा सकता (पृ० १५५) और ईश्वरकृष्ण को हम सन् २५० ई० के पश्चात् का नहीं मान सकते (पृ० १६८)। प्रो० ए० बी० कीथ ने अपने ग्रन्थ 'साख्य सिस्टेम' (पृ० ५१) मे कहा है कि ईश्वरकृष्ण सन् ३२५ ई० के पश्चात् नहीं रखे जा सकते। एक अन्य आरम्भिक टीका है युक्तिदीपिका, जिसके लेखक का नाम अज्ञात है और वह श्री पुलिन-विहारी चक्रवर्ती द्वारा केवल एक हस्तलिपि प्रति से सम्पादित की गयी है (कलकत्ता सस्कृत सीरीज, सन् १९३८ ई०)। यह एक अति मूल्यवान् टीका है जो बडी बुद्धिमत्ता के साथ केवल एक प्रति के आधार पर ही सम्पादित की गयी है, यद्यपि इसमे यत्र-तत्र स्थल-भग भी पाया जाता है। इस टीका मे बहुत-से उद्धरण एव विवादात्मक विवेचन पाये जाते है, बहुत-से ऐसे आचार्यो के नाम आये है जिनके विचार एक-दूसरे से भिन्न हैं और यत्र-तत्र उनके विचार कतिपय विषयो पर दृष्टान्तस्वरूप उद्धृत किये गये हैं। उदाहरणार्थ, देखिए नीचे 'विन्ध्यवासी'। इसमे कुछ ऐसे आचार्यो के नाम आये हैं जो किसी अन्य साख्य ग्रन्थ मे उल्लिखित नहीं है। पञ्चाधिकरण नामक आचार्य का नाम बहुधा आया है (पृ० ६, १०८, ११४, १३२, १४४, १४७, १४८, जहाँ पर पञ्चाधिकरण की दो आर्याएँ उल्लिखित हैं)। एक अन्य आचार्य का नाम है पौरिक (पृ० १६९ एव १७५), जिन्होने एक आश्चर्यजनक दृष्टिकोण उपस्थित किया है कि प्रत्येक पुरुष के लिए एक पृथक् प्रधान होता है।[3] पतञ्जलि का उल्लेख बहुधा हुआ है, यथा पृ० ३२ (यहाँ अहकार के अस्तित्व को उन्होने अस्वीकार किया है), १०८, १३२ (१२ करण है न कि १३, जैसा कि साख्यकारिका ने ३२वे श्लोक मे कहा है), १४५, १४९, १७५। वार्षगणा (बहुवचन मे) का उल्लेख पृ० ३९, ६७, ९५, १०२, १४५, १७० पर हुआ है। वार्षगण का उल्लेख पृ० ६ एव १०८ पर, वार्षगणवीर का पृ० ७२, १०८, १७५ पर (इन्हे पृ० ७२ पर भगवान् कहा गया है) तथा वृषगणवीर का पृ० १०३ (सम्भवत इस शब्द का अर्थ है वृषगण का पुत्र) पर हुआ है, और ये सभी वार्षगणो के दृष्टिकोण की ओर निर्देश करते है। पञ्चशिख (पृ० ३१, बहुवचन मे, पृ० ६१, १७५) का उल्लेख है और एक वचन का, जो व्यासभाष्य (योगसूत्र १।४) द्वारा उद्धृत है और जिसे वाचस्पति ने पञ्चशिख द्वारा लिखित माना है, उद्धरण युक्तिदीपिका द्वारा दिया गया है और पृ० ४१ पर उसे शास्त्र कहा गया है। पृ० ११३ एव १२९ से प्रकट होता है कि टीका का लेखक वेदाती था। यह सम्भव है कि उनका काल ५०० एव ७०० ई० के बीच कही रहा हो, क्योकि उन्होने (पृ० ३९ पर) दिङनाग की प्रत्यक्ष-सम्बन्धी परिभाषा को उद्धृत किया है और वाचस्पति तथा साख्य के अन्य टीकाकारो ने उनका उल्लेख नही किया है।

गौडपाद ने साख्यकारिका पर एक टीका लिखी, किंतु केवल ६९ श्लोको पर ही, जैसा कि चौखम्बा सीरीज मे प्रकाशित हुआ है। प्रसिद्ध लेखक वाचस्पति मिश्र कृत साख्यतत्त्वकौमुदी, चौखम्बा स० सी० मे सन् १९१९ ई० मे प्रकाशित हुई। जयमगला नामक टीका (जो शकराचार्य द्वारा लिखित कही गयी है) कलकत्ता मे सन् १९३३ मे श्री एच० शर्मा द्वारा प्रकाशित हुई, जिसकी सक्षिप्त किन्तु मनोरजक भूमिका प्रिंसिपल गोपीनाथ कविराज ने लिखी है (देखिए इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द ५, पृ० ४१७-४३१)। इसमे श्री एच० शर्मा ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि साख्यकारिका की टीका जयमगला वाचस्पति

३ प्रतिपुरुषमन्यत् प्रधान शरीराद्यर्थं करोति। तेषा च माहात्म्यशरीरप्रधान यदा प्रवर्तते तदेतराण्यपि, तन्निवृत्तौ च तेषामपि निवृत्तिरिति पौरिक साख्याचार्यो मन्यते। युक्ति०, पृ० १६९।

मिश्र से पुरानी है। विज्ञानभिक्षु ने लगभग १५५० ई० मे साख्यप्रवचनसूत्र पर एक भाष्य लिखा। सूत्रकार एव विज्ञानभिक्षु ने यह असम्भव मान्यता स्थापित करने का प्रयास किया है कि साख्य सिद्धान्त की बाते ईश्वरवादी सिद्धान्त या अद्वैत वेदान्त के विरोध मे नही पडती है। माठरवृत्ति (साख्यकारिका ७१) ने कुछ ऐसे आचार्यो के नाम लिये हैं जो पञ्चशिख एव ईश्वरकृष्ण के बीच मे हुए थे, यथा—भार्गव, उलूक (कौशिक?), वाल्मीकि, हारीत, देवल आदि, किन्तु जयमगला ने पञ्चशिख के उपरान्त साख्य के आचार्यो मे गर्ग एव गौतम को उल्लिखित किया है (देखिए प० ऐयस्वामी के सस्करण की टिप्पणी १, पृ० ६६)। परमार्थ (प० ऐयस्वामी के सस्करण का पृ० ६८) के चीनी सस्करण से उद्धरित सस्कृत टीका का कथन है कि पञ्चशिख के उपरान्त आचार्यों एव शिष्यो की परम्परा इस प्रकार है—पञ्चशिख—गार्ग्य—उलूक—वार्षगण—ईश्वरकृष्ण। इससे स्पष्ट है कि कम-से-कम पाँच या छह आचार्य पचशिख एव ईश्वरकृष्ण के बीच मे हुए। युक्तिदीपिका के एक स्थल-भग से युक्त वचन[४] से प्रकट होता है कि कम-से-कम दस व्यक्ति पचशिख एव ईश्वरकृष्ण के बीच मे हुए थे। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय और यदि ईश्वरकृष्ण को २५० ई० प्रदान की जाय तो पचशिख को ई० पू० प्रथम शताब्दी के उपरान्त किसी भी दशा मे नही रखा जा सकता, प्रत्युत वे इससे भी प्राचीन हो सकते है। 'तेन च बहुधा कृत तन्त्रम्' (साख्यकारिका ७०) पर युक्तिदीपिका ने भगवान् पचशिख को 'दशम कुमार' (प्रजापति ? का दसवाँ पुत्र) कहा है और ऐसा उद्घोषित किया है कि उन्होने शास्त्र की व्याख्या बहुतो मे की, यथा जनक एव वसिष्ठ से, और इस प्रकार पञ्चशिख को शान्तिपर्व (३०८।२४-२६) मे उल्लिखित पचशिख के समान माना है।

वाचस्पति मिश्र ने योगसूत्रभाष्य (२।२३) की अपनी टीका मे साख्य लेखको के 'दर्शन' एव 'अदर्शन' सम्बन्धी प्रश्न पर आठ वैकल्पिक दृष्टिकोण उपस्थित किये है और टिप्पणी की है कि इन आठ विकल्पो मे चौथा साख्य शास्त्र का वास्तविक सिद्धान्त है। लगभग पाँचवी शताब्दी से साख्यकारिका साख्य सिद्धान्त पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ मानी जाती रही है। साख्यकारिका मे आया है कि यह पवित्र शास्त्र कपिल मुनि द्वारा आसुरि को निरूपित किया गया, जिन्होने इसे पञ्चशिख को दिया और पञ्चशिख ने इसे अन्य कई शिष्यो को दिया और यह आचार्यों एव शिष्यो की परम्परा मे ईश्वरकृष्ण के पास आया, जिन्होने इसे आर्या श्लोको मे सक्षिप्त किया।[५] यहाँ पर कपिल मुनि को साख्य सिद्धान्त का प्रथम उद्घोषक कहा गया है।

४ अस्य तु शास्त्रस्य भगवतोऽग्रे प्रवृत्तत्वात् न शास्त्रान्तरवत् वश शक्यो वर्षसहस्रैरप्याख्यातुम्। सक्षेपेण तु द्वाव (छूट गया है) हारीत-बाद्धलि—कैरात—पौरिक—ऋषभेश्वर—पञ्चाधिकरण—पतजलि—वार्षगण्य—कौण्डिन्य—मूकादिकशिष्यपरम्परयागत। युक्ति०, पृ० १७५।

५. एतत्पवित्रमग्र्य मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ। आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृत तन्त्रम्॥ शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभि। सक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्॥ सा० का० (७०-७१)। यह द्रष्टव्य है कि गौडपाद ने केवल ६९ श्लोको की टीका की है और इन दोनो तथा आगे के एक अन्य श्लोक को छोड दिया है, जो यो है—'सप्तत्या किल येऽर्थास्तेऽर्था कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य। आख्यायिकाविरहिता परवादविवर्जिताश्चापि॥' जिसका तात्पर्य यह है कि (पचशिख के) सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के सभी विषय (साख्यकारिका के) सत्तर श्लोको मे पाये जाते हैं, केवल उदाहरणस्वरूप दी गयी कहानियाँ एव अन्य मत-मतान्तर छोड दिये गये है। साख्यकारिका को साख्यसप्तति एव चीनी भाषा मे 'सुवर्णसप्तति' कहा गया है।

आगे कुछ और कहने के पूर्व साख्य की मौलिक धारणाओ पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है। अत्यन्त मौलिक धारणा यह है कि अनन्त काल से ही एक-दूसरे से भिन्न दो सत्ताएँ पायी जाती है, यथा—**प्रकृति**, जिसे **प्रधान** एव **अव्यक्त** भी कहा जाता है तथा **पुरुष** (आत्मा, ज्ञाता)। दूसरी मौलिक धारणा यह है कि पुरुष अनेक है। एक अन्य अत्यन्त विशिष्ट धारणा है तीन गुण (तत्त्व), यथा—**सत्त्व** (प्रकाश, बुद्धिमान्), **रज** (क्रियाशील, शक्तिशाली एव प्रभविष्णु) एव **तम** (अन्धकार, प्रमादी, भद्दा, ढँकने वाला)।[६] **प्रधान** या **प्रकृति** या **अव्यक्त** का निर्माण तीन गुणो से होता है, अत वह त्रिगुणात्मक कहा जाता है (सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था, अर्थात् जब सत्त्व, रज एव तम समरस होते ह तव वह त्रिगुणात्मक होता है)। साख्य ने सभी भौतिक (स्थूल) एव मानस सूक्ष्म तत्त्वो का विश्लेषण किया है। अत्यन्त निम्नकोटि का तत्त्व है भारी अभेद्य पदार्थ तथा स्थल एव जट वृत्तियाँ, जो **तमस्** कही जाती हे (गुरु, भारी, वरणक एव ढँकने वाली)। पुन एक ऐसा तत्त्व हे जो स्थूल एव सूक्ष्य विश्व मे निरन्तर परिवर्तन का द्योतक है। इसे **रजस्** कहा जाता है (चल, परिवर्तनशील एव उपष्टम्भक, उत्तेजक)। तीसरा पदार्थ या तत्त्व हे चेतना से उद्भूत भिन्न-क्रिया-प्रकार जिससे ज्ञान एव अनुभूति उत्पन्न होती है, इसे **सत्त्व** कहा जाता है (लघु, प्रकाश, जो स्थूल एव केवल भौतिक पदार्थो के विरोध मे होता हे, प्रकाशक, प्रकाशमान जो तमस का विरोधी होता है)। ये तीनो तत्त्व विभिन्न अनुपातो मे मिल कर इस विकसित विश्व का निर्माण करते हे। कई दृष्टिकोणो से इन्हे गुण की सज्ञा दी गयी है, ये विशेषताएँ हे, वे मानो रस्सियाँ है, जो पुरुष को ससार मे बाँधती है। इस विश्व का आधार गुणो मे निहित है। प्रधान गुणो से भिन्न नही हे। प्रत्युत वह विकास आरम्भ होने के पूर्व के बीज या मौल (आदि) पदार्थ का नाम है। प्रकृति को अनादि एव अनन्त कहा गया है, अत साख्य सिद्धान्त ने स्रष्टा के रूप मे ईश्वर की कल्पना नही की ओर ईश्वर को अनावश्यक या व्यर्थ माना हे। साख्य ने विश्व के विकास से सम्बन्धित जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया हे वह आधुनिक विकासवाद के सिद्धान्त के समान ही व्यावहारिक रूप से तर्कसगत लगता है। सम्भवत विश्व के उद्गम, मानव की प्रकृति एव स्थूल जगत से उसके सम्बन्ध तथा मानव की भावी नियति के प्रश्नो के उत्तर मे साख्य सिद्धान्त सबसे प्राचीन प्रयास है जो केवल तर्क पर ही आधृत हे। उन्नीसवी शती मे मन एव प्रकृति को भिन्न तत्त्व माना गया और परमाणुओ को अविभाज्य ठहराया गया। आधुनिक भौतिक शास्त्रियो ने तत्त्व को शक्ति के रूप मे परिवर्तित कर दिया हे, किन्तु इस अन्तिम शक्ति का स्वरूप

६ सत्त्व लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भक चल च रज। गुरुवरणकमेव तम प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति ॥ सा० का० (१३)। 'गुण' इसलिए कहे जाते हे कि वे कई गुना बढते जाते है (गुणयन्तीति) और वस्तुओ को विकसित करते हे। मिलाइए 'मोहात्मक तमस्तेषा रज एषा प्रवर्तकम्। प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्त्व ज्याय इहोच्यते ॥' वनपर्व (२१२।४) एव गीता (१४।५-१८), जहाँ पर तीन गुणो पर विवेचन हे, विशेषत यह—'सत्त्व रजस्तम इति गुणा प्रकृतिसम्भवा (५।५१), तत्र सत्त्व निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥' श्लोक ६, रजो रागात्मक विद्धि तृष्णासङगसमुद्भवम्। श्लोक ७। वे० सू० (२।२।१०) पर शकराचार्य का कथन है कि वेदान्तसूत्र के काल मे साख्य सिद्धान्त ने परस्पर विरोधी बातें कहीं—'परस्परविरुद्धश्चाय साख्यानामभ्युपगम। क्वचित्सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति क्वचिदेकादश। तथा क्वचिन्महतस्तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति क्वचिदहङ्कारात्। तथा क्वचित्त्रीण्यन्त करणानि वर्णयन्ति क्वचिदेकमिति।' सात इन्द्रियाँ ये है—चर्म, पाँच कर्मेन्द्रियाँ एव मन, तीन अन्त करण ये ह—बुद्धि, अहकार एव मन। एक अन्त करण है बुद्धि।

अभी अज्ञात एव रहस्यात्मक है। साख्य सिद्धान्त के अन्तर्गत **पुरुष** या **प्रकृति** या दोनो कोई धार्मिक उद्देश्य नही उपस्थित करते, अर्थात् उनके पीछे कोई धार्मिक पहलू नही है। पुरुष कैसे प्रकृति के चगुल मे फँस जाता है, इस विषय मे कोई निश्चित एव विश्वसनीय उत्तर नही मिल पाता। साख्य सिद्धान्त केवल इतना ही बताता है कि विवेकहीनता के कारण पुरुष किसी प्रकार चगुल मे फँस जाता है। वेदान्तसूत्र ने **प्रधान** को १।२।१९ में **स्मार्त** कहा है और १।४।१ मे उसे **आनुमानिक** कहा है। **प्रकृति** से **महान्** (बुद्धि, चेतना) की उत्पत्ति होती है, जिससे अहकार उत्पन्न हो जाता है, अहकार से एक ओर पॉच तन्मात्राओ (सक्ष्म तत्त्वो, यथा—शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस एव रूप) एव दूसरी ओर मन एव दस इन्द्रियो (ज्ञानेन्द्रियो) की उत्पत्ति होती हे। पॉच तन्मात्राओ से पॉच महान् तत्त्वो (पृथिवी, जल, तेजस्, वायु एव आकाश) की उत्पत्ति होती हे। ये ही २४ तत्त्व हे और **पुरुष** २५वॉ तत्त्व है।[७] **प्रधान पुरुष** से भिन्न हे, वह पुरुप के उद्देश्य की पूर्ति करता है (पुरुष निष्क्रिय एव साक्षी होता है), पुरुष प्रकृति के मूल तत्त्वो से भिन्न है, वह **भोक्ता** है (कर्ता नही)। साख्य ईश्वर की अपेक्षा नही करता।[८] प्रकृति एव पुरुप इसीलिए एक साथ होते हे कि पुरुष उसकी क्रिया देखे, यह उसी प्रकार है जैसा कि हम एक अधे एव लँगडे को पाते है (अधा व्यक्ति लँगडे को अपने कधे पर ले जा सकता है, लँगडा व्यक्ति मार्ग दिखाता चलता है और इस प्रकार दोनो समन्वित प्रयत्न से अपने लक्ष्य तक पहुँच जाते हे)।[९] जब पुरुष अपने एव गुणो (जो प्रकृति मे निहित होते हैं) के बीच का अन्तर जान लेता हे तो उसे मुक्ति मिल जाती है।[१०] साख्य एव योग दोनो इस बाह्य ससार को वास्तविक मानते है। दोनो ने आत्मा की अनेकता (पुरषो) की कल्पना की है, दोनो के अनुसार ये आत्मा नित्य एव

७ वे० सू० (१।४।११) मे बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।१७) के 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना' को उद्धृत करने के उपरान्त पूर्वपक्ष को इस प्रकार रखा गया है—तथा पञ्चविंशतिसख्यया यावन्त सख्येया आकाक्ष्यन्ते तावन्त्येव च तत्त्वानि साख्यै सख्यायन्ते—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतय सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्नविकृति पुरुष ॥' यह अन्तिम श्लोक सा० का० ३ हे।

८ साख्य-प्रवचनसूत्र (१।९२-९३) मे आया है 'ईश्वरासिद्धे, मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धि।'

९ पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृत सर्ग। ॥ सा० का० (२१)। युक्तिदीपिका (पृ० २, श्लोक १०-१२) एव अपनी टीका साख्यतत्त्वकौमुदी मे उद्धृत राजवार्तिक के अनुसार षष्टितन्त्र मे जो ६० विषय विवेचित है वे ये हैं—प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता। पारार्थ्यं च तथाऽनैक्य वियोगो योग एव च॥ शेषवृत्तिरकर्तृत्व मौलिकार्था स्मृता दश। विपर्यय पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टय ॥ कारणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम्। इति षष्टि पदार्थानामष्टभि सह सिद्धिभि ॥ साख्यतत्त्व-कौमुदी (गगानाथ झा द्वारा सम्पादित, बम्बई, १८९६)। देखिए सा० का० (४७) जहाँ 'प्रधानास्ति० ' आदि मे वर्णित १० के अतिरिक्त ५० विषयो का उल्लेख है। अहिर्बुध्न्यसहिता (१२।२०-२९) ने साख्य-तन्त्र के ६० विषयो का उल्लेख किया हे, किन्तु उनमे एव वाचस्पति द्वारा उद्धृत राजवार्तिक मे उल्लिखित विषयो मे अन्तर हे।

१० धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण। ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्ध ॥ सा० का० (४४), मिलाइए गीता (१४।१८) 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति ', शकराचार्य (वे० सू० १।४।४) ने कहा हे—'ज्ञेयत्वेन च साख्यं प्रधान स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति वदद्भि।'

अपरिवर्तनशील है । यह अन्तिम मत साख्य एव अद्वैत वेदान्त के विशिष्ट अन्तरो मे एक है । हम यहाँ पर इन सब बातो के विशद विवेचन मे नही पडेगे। साख्य का एक अन्य सिद्धान्त है सत्कार्यवाद, अर्थात् कार्य पहले से ही कारण मे विद्यमान रहता है, यह अभाव से नही उत्पन्न होता (सा० का० ९)। मिलाइए छान्दोग्योपनिषद् (६।२।२ कथमसत सज्जायेत) एव गीता (२।१६, नासतो विद्यते भाव) ।

साख्यकारिका की तिथि निश्चित करना एक कठिन समस्या है। परमार्थ ने कारिका एव उसकी टीका को चीनी भाषा मे लगभग ५४६ ई० मे अनूदित किया था, अत कारिका को हम २५०-३०० ई० के पश्चात् नही रख सकते । यह इससे कई शतियो पूर्व की हो सकती है । कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक की टीका मे उम्वेक ने माधव नामक लेखक का उल्लेख 'साख्यनायक' के रूप मे किया है तथा युवाँ च्वाँग ने भी माधव नामक एक साख्य-आचार्य का उल्लेख किया है । डा० राघवन ने अपनी 'सरूप भारती' (पृ० १६२-१६४) मे दर्शाया है कि माधव साख्य का एक विध्वसक आलोचक था, वास्तव मे शुद्ध पाठ है—'साख्यनाशक-माधव' न कि 'साख्यनायक-माधव' तथा वे सम्भवत दिङनाग एव धर्मकीर्ति के पूर्व हुए थे (अर्थात् ५०० ई० के पूर्व) ।

शकराचार्य (देखिए इस अध्याय की पाद-टिप्पणी १) का कथन है कि कुछ उपनिषद्-वचनो से ऐसा प्रकट होता है कि मानो वे साख्य सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से मानते है । हम यहाँ कुछ ऐसे उपनिषद्-वचनो को, जो या तो साख्य सिद्धान्तो को ढँक लेते है या साख्य सिद्धान्त के अनुसार पारिभाषिक अर्थ वाले है, उद्धृत करते है ।[11] अथर्ववेद (१०।८।४३) का एक वचन अवलोकनीय है—'ब्रह्मविद् उस यक्ष को जानते है, जो आत्मा-युक्त है, जो नव द्वार वाले कमल (शरीर) मे तीन गुणो से ढँका हुआ निवास करता है।' इसे श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।१८) एव गीता (५।१३ नवद्वारे पुरे देही) से मिलाया जा सकता है। मुण्डकोपनिषद् (२।१।३) ने कहा है—'उससे प्राण, मन, सभी इन्द्रियो, पञ्च तत्त्वो एव आकाश, वायु, ज्योति (तेज) जल एव पृथिवी का जन्म हुआ है ।' कठोपनिषद् ने इन्द्रियो के पदार्थो, मन, बुद्धि, महान्, अव्यक्त, पुरुष का

११ पुण्डरीक नवद्वार त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् । तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदु ॥ अथर्ववेद (१०।८।४३)। यहाँ 'यक्ष' का क्या अर्थ है, कहना कठिन है। यह शब्द ऋग्वेद (४।३।१३, ५।१०।४, ७।६१।५) मे भी आया है, जहाँ सायण ने विभिन्न अर्थ किये है। एतस्माज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च । ख वायुर्ज्योतिराप पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ मुण्डकोपनिषद्, (२।१।३), इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मन । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्पर ॥ महत परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष पर । पुरुषान्न पर किंचित्सा काष्ठा सा परा गति ॥ कठोपनिषद् (३।१०–११) । कुछ हलके अन्तरो के साथ ये बातें बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति (९।१८४–१८६) मे भी पायी जाती हैं। वे० सू० (१।४।१) मे साख्य विरोधी इस कठ-वचन पर निर्भर रहता है, क्योकि इससे यह प्रकट होता है कि साख्य सिद्धान्त वेद पर आधृत है। मिलाइए भगवद्गीता (३।४२–४३)। शाकरभाष्य (वे० सू०, १।२।१२) ने उल्लेख किया है––'द्वा सुपर्णा सयुजा समान वृक्ष परिषस्वजाते । तयोरेक पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ मुण्डक० (३।१।१)' श्वेताश्वतरोप० (४।६) एव ऋ० (१।१६४।२०), फिर कहा है—'अपर आह। द्वा सुपर्णा–इति । नेयमृगस्याधिकरणस्य सिद्धान्त भजते पैङ्गिरहस्यब्राह्मणेनान्यया व्याख्यातत्वात् । तयोरेक पिप्पल स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्, अनश्नन्नन्यो अभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ ।' यह 'द्वा सुपर्णा' नामक मन्त्र वे० सू० (३।३।३४) का विषय है।

उल्लेख किया है, जो क्रमश उच्च कोटि की ओर बढते जाते है। यह सारय के समान ही है, किन्तु एक अपवाद है—यथा उपनिषद् ने अहकार का उल्लेख नही किया है और वुद्धि एव महान् को भिन्न माना है, किन्तु साख्य ने उन्हे अभिन्न रखा है। अत स्पष्ट है कि इन दोनो उपनिपदो मे विकास का वही सिद्धान्त है जो साख्य द्वारा भी प्रतिपादित है, अन्तर केवल यह है कि उपनिपदो ने एक परम स्रष्टा (जो अखिल ब्रह्माण्ड का विधाता हे) की कल्पना की है, जिसे साख्य ने छोड दिया है और केवल विकासशील कोटि की ओर ही सकेत कर मौन धारण कर लिया है। शकराचार्य ने वे० सू० (१।२।१२) मे 'द्वा सुपर्णा सयुजा' (जो मुण्डकोपनिपद ३।१।१ एव श्वेताश्वतरोपनिपद् ३।१ एव ऋ० १।१६४।२० मे पाया जाता है) का उद्धरण दिया है और इसकी व्याख्या इसे 'जीव' एव 'परमात्मा' कहकर की है। आचार्य ने इसके उपरान्त अपने किसी पूर्ववर्ती के तर्क का उल्लेख किया है, जो पैङ्गीरहस्य-ब्राह्मण पर निर्भर रहते हैं, जहाँ मन्त्र के उत्तरार्ध की व्याख्या इस प्रकार की गयी है मानो उसमे सत्त्व (वुद्धि) एव क्षेत्रज्ञ (आत्मा) की ओर सकेत हो। इससे कुछ लोग इस मन्त्र मे साख्य विचारो को पढते हैं। कठोपनिषद् (३।४) मे आया है कि आत्मा का भोक्ता के रूप मे वर्णन आत्मा के उस सयोग (सम्मिलन) का फल है जो इन्द्रियो एव मन के साथ होता है। श्वेताश्वतरोपनिपद् (६।१३) मे स्पष्ट रूप से साख्य एव योग की ओर सकेत आया है और उसका कथन है कि 'उस कारण के परिज्ञान पर जो साख्य एव योग के अध्ययन द्वारा प्राप्त किया जाता है, वह (व्यक्ति) सभी वन्धनो से छुटकारा पा लेता है।'[12] यह उपनिपद् उन शब्दो से भरी पडी है जो वहुधा साख्य सिद्धान्त द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, यथा—'अव्यक्त' (१।८), 'गुण' (५।७ 'स विश्वरूपस्त्रिगुण, एव ६।२, ४ एव १६), 'ज्ञ' (५।२, ६।१७), 'प्रकृति' (माया तु प्रकृति विद्यात् ४।१०), 'पुरुष' (१।२, ३।१२, १३, ४।७), 'प्रधान' (१।१०, ६।१० एव १६), 'लिग' (१।१३, ६।९)। श्वेताश्व० (६।११) ने एक ईश्वर को इस प्रकार कहा हे—'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।' साख्य ने ईश्वर को स्वीकार नही किया है और उसकी उपाधियाँ 'पुरुष' के लिए रख दी हैं। 'पुरुष' तो साख्य के अनुसार केवल निष्क्रिय साक्षी है, शुद्ध वुद्ध है और वह गुणो से अप्रभावित है। प्रश्नोपनिषद् (४।८) ने पाँच तत्त्वो एव उनकी मात्राओ (पृथिवी च पृथिवी-मात्रा च), दस इन्द्रियो एव उनके पदार्थों, मन, वुद्धि, अहकार आदि का उल्लेख किया है। प्रकृति एव तीन गुणो के सवध मे अपने सिद्धात के लिए साख्य लोग 'अजामेकाम्' (श्वेताश्व० ४।५)[13]

१२ नित्यो नित्याना चेतनश्चेतनानामेको बहूना यो विदधाति कामान्। तत्कारण साख्ययोगाधिगम्य ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै ॥ श्वेताश्व० (४।१३)। इसका प्रथम अर्धाश कठो० (५।१ ३०) मे आया है। शकराचार्य (वे० सू० २।१।३) ने टिप्पणी की है—'यत्तु दर्शनमुक्त तत्कारण साख्ययोगाभिपन्नम् इति, वैदिकमेव तत्त्वज्ञान ध्यान च साख्ययोगशब्दाभ्यामभिलप्यते प्रत्यासत्तेरित्यवगन्तव्यम्।' मिलाइए गीता (१३।१९ एव २१) प्रकृति पुरुष चैव जहाँ पुरुष, प्रकृति एव गुण के सम्बन्ध का उल्लेख है। 'साक्षी' शब्द की व्याख्या पाणिनि द्वारा इस प्रकार की गयी है—'साक्षाद्द्रष्टरि सज्ञायाम्' (५।२।९१)। 'कैवल्य' शब्द, जो साख्य का परमार्थ है, 'केवल' (जो श्वेताश्वतरोपनिपद् १।११ एव ६।११ मे आया है) से निष्पन्न हुआ हे और उसका अर्थ है 'केवलस्य भाव'।

१३ अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा बह्वी प्रजा सृजमाना सरूपा। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य ॥ श्वेताश्व० उप० (४।५)। यह मन्त्र आलकारिक ढग से प्रकृति, पुरुष एव गुणो

मन्त्र का आशय लेते हे (देखिए शाकरभाष्य, वे० स० १।४।८)। इस मन्त्र का अर्थ यह है—'एक अजा (अजन्मा) है जो लाल, श्वेत एव कृष्ण रग से परिपूर्ण है, किन्तु जो एक-दूसरे से मिलती-जुलती बहुत-सी सन्ताने उत्पन्न करती है। एक अज (बिना जन्म वाला) है, जो उसके आश्रय मे रहता है (अर्थात् उसे प्यार करता हे), उसके पार्श्व मे सोता है। एक अन्य भी है, जो उसे, आनन्द पाने के उपरान्त, छोड देता हे।' इसी प्रकार, साख्यवादियो का कथन है कि साख्य सिद्धान्त के प्रवर्तक कपिल श्वेताश्वतरोपनिषद् (५।२) मे उल्लिखित हे—'यह वही है, जो आरम्भ मे, कपिल मुनि का, जब वे उत्पन्न हुए, विचारो से लालन-पालन करता है, और जब वे उत्पन्न होते रहते हे, उन्हे देखता है।' यदि कोई श्वेताश्वतरोपनिषद् के बहुत-से वचनो पर ध्यान दे, यथा—३।४, ४।१२ एव ६।१८ पर, तो उसे यही मानना पडेगा कि ऋषि कपिल (अर्थात् लोहित मुनि), हिरण्यगर्भ (सोने के शिशु) ही हे, जिन्हे प्रथम सृष्टि (हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे, ऋ० १०।१२१।१) कहा जाता है।[१४] वे० सू० (२।१।१) पर शकराचार्य कहते है कि केवल 'कपिल' शब्द के आ जाने से ही यह नही समझ लेना चाहिए कि वे ही साख्य के प्रवर्तक थे, क्योकि एक अन्य कपिल भी थे जो वासुदेव कहे जाते थे, जिन्होने अपनी क्रुद्ध दृष्टि से सगर के पुत्रो को भस्म कर दिया था।[१५] शकराचार्य इतना मानने को सन्नद्ध हे कि साख्य एव योग दोनो उन बातो मे वैदिक सीमा के अन्तर्गत आ जाते है, जो वेद के विरोध मे नही पडती। पञ्च तत्वो (महाभूतानि) का उल्लेख ऐत० उप० (३।३), प्रश्न० (४।४) मे तथा इनकी पॉच विशेषताओ (गुणो) का उल्लेख कठोपनिषद् (३।१५) मे हुआ है।

के विषय मे (साख्य-विरोधी के मत के अनुसार) बताता है। 'अजा' एव 'अज' का साधारण अर्थ है 'बकरी' एव 'बकरा'। इन शब्दो का यह भी अर्थ हे जिसने जन्म नही ग्रहण किया है, अर्थात् 'अजन्मा' अत 'अजा' प्रकृति के लिए तथा 'अज' पुरुष के लिए हे, ये दोनो साख्य के अनुसार नित्य हे। 'लोहित' (लाल) 'रज' के लिए, 'शुक्ल' (श्वेत) 'सत्त्वगुण' (जो 'प्रकाशक' है) के लिए तथा 'कृष्ण' (काला) 'तम' के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्रकृति से बहुत से पदार्थ उद्भूत होते हैं। मन्त्र का दूसरा अर्धांश उस आत्मा की ओर सकेत करता है जो अधकार से ढँका हुआ है अत वह बन्धन मे रहता है, किन्तु वह व्यक्ति जो गुणो एव पुरुष के अन्तर को समझ लेता है प्रकृति को छोड देता हे, अर्थात् मोक्ष पा लेता है। इस श्लोक मे एक प्रकृति (यहाँ पर 'अजा' अर्थात् बकरी के रूप मे वर्णित) से बहुत से पुरुषो 'अजो' अर्थात् बकरो के सम्बन्धो का उल्लेख हे। ये तीनो रग वास्तव मे, क्रम से तीन तत्त्वो, अर्थात् तेज, जल एव अन्न (अर्थात् पृथिवी) के लिए प्रयुक्त है। देखिए छान्दोग्योपनिषद् (६।३।१)—'यदग्ने रोहित रूप तेजसस्तद्रूप यच्छुक्ल तदपा यत्कृष्ण तदन्नस्य'

१४ या तु श्रुति कपिलस्य ज्ञानातिशय प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिल मत श्रद्धातु शक्य कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणा प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्न स्मरणात्। भाष्य (वे० सू० २।१।१), येन त्वशेन न विरुध्येते तेनेष्टमेव साख्ययोगस्मृत्यो सावकाशत्वम्। शकराचार्य (वे० सू० (२।१।३)।

१५ विष्णुपुराण (४।४।१२) मे कपिल को भगवान् पुरुषोत्तम का एक अश कहा गया है। कपिल ने सगर के उन ६० सहस्र पुत्रो को, जिन्होने उनके पास चरते हुए अश्वमेध के घोडे को उनके द्वारा चुराया गया समझ लिया था, भस्म कर दिया था (४।४।१६-२३)। वासुदेव कपिल के लिए देखिए वनपर्व (१०७।३१-३३, चित्रशाला सस्करण) जहाँ आया हे—'तत क्रुद्धो महाराज कपिलो मुनिसत्तम। वासुदेवेति य प्राहु कपिल मुनिपुंगवम्॥ ददाह सुमहातेजा मन्दबुद्धीन् स सागरान्। यह कथा वनपर्व (४७।७-१८) मे भी आयी है।

'साख्य' शब्द का उल्लेख श्वेताश्व० उप० मे हुआ हे, कठ एव मुण्डक के कुछ सिद्धान्त सारय सिद्धान्त से मिलते ह तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् ने बहुत से ऐसे शब्द प्रयुक्त किये है जो साख्य-सम्बन्धी ग्र थो मे आये ह, अत प्रश्न उठ खडा होता है कि उपनिषदो से साख्य का क्या सम्बन्ध है? इस विपय मे तीन दृष्टिकोण है—(१) उपनिषद् एव साख्य के विचार समानान्तर रूप मे विकसित हुए, (२) साख्य ने उपनिपदो के विचारो को बीज रूप मे ग्रहण कर उन्हे विस्तृत किया, (३) कुछ उपनिपदो ने साख्य से उधार लिया। स्थानाभाव से इन प्रश्नो का विवेचन यहाँ नही किया जायगा। प्रस्तुत लेखक की धारणा है कि साख्य ने उपनिपदो के विचारो पर अपने को आधारित किया है। प्राचीन उपनिषदे, यथा बृहदारण्यकोपनिपद्, छान्दोग्योपनिपद् आदि साख्य-सिद्धान्तो एव प्रणाली के कुछ भी अश प्रदर्शित नही करती, किन्तु कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर, प्रश्न (जो छान्दोग्य, बृहदारण्यक से अपेक्षाकृत पश्चात्कालीन है) मे साख्य के सकेत मिल जाते है। शुद्ध रूप से केवल साख्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थ या लेखक ईसा से कुछ शतियो पूर्व भी नही पाये जाते, जब कि प्रमुख उपनिपदे (श्वेताश्वतर को लेकर लगभग बारह) ई० पू० ३०० के उपरान्त नही रखी जा सकती। वे० सू० (१।४।८ एव २।३।२२) ने श्वेताश्वतरोपनिषद् को भी 'श्रुति' के अन्तर्गत रखा है। इन सब बातो से स्पष्ट हे कि उपनिषदे साख्य से अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है। गार्वे ('डाई साख्य फिलॉसफी, पृ० ३) ने कहा हे कि अपने लम्बे इतिहास मे साख्य ने अपने मौलिक सिद्धान्तो मे कोई परिवर्तन या परिष्कार नही देखा। किन्तु जैकोबी इससे सहमत नही है, उनका कथन है कि साख्य का उद्भव समान सास्कृतिक एव दार्शनिक भाण्डार से हुआ। ओल्डेनबर्ग का कथन है कि साख्य का उद्गम कठोपनिपद् एव श्वेताश्वतरोपनिषद् मे पाया जाता है और उनकी यह भी धारणा है कि मौलिक साख्य एक स्वतन्त्र विकास है (डाई लेह्रे डर उपनिपदेन अण्ड डाई अफ़ाजे डेस बुद्धिज्मस', १९१५, पृ० २०६)। साख्य एव योग कौटिल्य को भी ज्ञात थे (साख्य योगो लोकायत चेत्यान्वीक्षिकी, अर्थशास्त्र, १।२, पृ०६)। अत हम कह सकते है कि दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप मे साख्य का आरम्भ कम-से-कम ईसा पूर्व चोथी शती के पूर्व हो चुका था।

साख्य सिद्धान्त के उद्गम के विषय मे ज्ञानकारी के लिए अब हम सस्कृत के ग्रन्थो का अवलोकन करेगे। सर्वप्रथम हम महाभारत को उठायेगे।

शान्तिपर्व[१६] के बहुत से वचनो मे साख्य के कुछ सिद्धान्त, पारिभापिक शब्द एव व्यक्ति दृष्टिगोचर होते हे। इस प्रकार के बहुत से स्थल ह, अत हम कुछ ही दृष्टान्त उपस्थित करेगे। २०३वे अध्याय मे एक चतुर शिष्य एव उसके आचार्य की बातचीत पायी जाती है। आरम्भ इस बात से होता है कि वासुदेव ही यह सब हे (वासुदेव सर्वमिदम्)। इसके उपरान्त बात बढती है—'जिस प्रकार एक दीपक से सहस्रो दीपक अग्रसरित हो सकते हे, उसी प्रकार प्रकृति असख्य वस्तुएँ उत्पन्न करती है, किन्तु ऐसा करने से वह (आकार मे) कम नही हो जाती, अव्यक्त (प्रकृति) की क्रिया से बुद्धि स्फुरित होती हे और (बुद्धि से) अहकार की उद्भूति होती हे, और अहकार से आकाश निकलता हे, जिससे वायु उटता हे और तब तेज, जल एव पृथिवी मे प्रत्येक की इसके पूर्ववर्ती से उत्पत्ति होती है। ये आठ मूल प्रकृतियाँ हे, ओर सम्पूर्ण विश्व इनमे केन्द्रित

१६ इस प्रकरण में शान्तिपर्व के वचन हम भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इस्टीच्यूट द्वारा प्रकाशित महाभारत से उद्धृत करेंगे। किन्तु अन्य पर्वों के वचन चित्रशाला प्रेस के सस्करण से लिये जायेंगे।

है' (२४-२६)।[१७] इसके उपरान्त ज्ञान के पाँच अगो अर्थात् पञ्च ज्ञानेन्द्रियो (कर्ण, चर्म, चक्षु, जिह्वा एव नासिका) एव पञ्च कर्मेन्द्रियो (हाथ, पैर आदि), ज्ञानेन्द्रियो के पञ्च विषयो (शब्द, स्पर्श आदि) एव १६वे मन (जो विभु है) का उल्लेख हुआ है (श्लोक २७-३१)। इसके पश्चात् अध्याय मे पुरुष (आत्मा) का उल्लेख है, जो नव द्वार वाले नगर का निवासी है और अमर एव अविनाशी है[१८], जो सभी जीवो मे दीपक के समान देदीप्यमान है, चाहे वह बडा हो या छोटा। २०४ वे अध्याय मे वही कथनोपकथन आगे चलता है और प्रथम श्लोक मे आया है कि सभी भूतो की उद्भूति अव्यक्त से होती है और वे पुन अव्यक्त मे ही समा जाते हैं। इसमे क्षेत्र (शरीर, देह) एव क्षेत्रज्ञ (श्लोक १४) की ओर सकेत है और अन्त मे निष्कर्ष रूप मे यह कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि-दग्ध बीज नही जमते, आत्मा उन क्लेशो से, जो सम्यक् ज्ञान की अग्नि से जल जाते है, पुन सम्बन्धित नही होता।[१९] अध्याय १०५ मे २२-२३ श्लोक तीन गुणो की विशेषता बताते है। अध्याय २०६ मे आया है कि जब जीव क्रोध, लोभ, भय, दर्प को सयमित कर लेता है तो वह परमात्मा, अर्थात् विष्णु मे, जो अव्यक्त रूप है, समाहित हो जाता है। अध्याय २०७ मे उन उपायो का उल्लेख है जिनके द्वारा परम लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है और ब्रह्मचर्य को प्रथम उपाय माना गया है। इन अध्यायो मे जो सिद्धान्त कहे गये है और जिनमे कुछ साख्यकारिका के अनुरूप है, वे वेदान्त के परब्रह्म की सगति मे बैठ जाते है, किन्तु मौलिक साख्य मे तो परब्रह्म की बात ही नही उठती।

शकराचार्य ने वे० सू० (२।२।३७) के भाष्य मे स्पष्ट रूप से कहा है कि कुछ ऐसे दार्शनिक थे जिन्होने साख्य एव योग के सिद्धान्तो को अपना लिया था, परमेश्वर की कल्पना कर ली थी और ऐसी धारणा रखते थे कि तीनो, अर्थात् **प्रधान**, **पुरुष** एव **ईश्वर** एक-दूसरे से भिन्न है। अत महाभारत मे जो साख्य की ओर सकेत मिलते है, सम्भवत वे उन दार्शनिक सिद्धान्तो से सम्बन्धित है जिनमे तीनो, अर्थात् **प्रकृति**, **पुरुष** एव **परमात्मा** को स्वीकार किया गया था, जिनसे उस पश्चात्कालीन साख्य सिद्धान्त की उद्भूति हुई जिसने विश्व के परम शासक की धारणा को त्याग दिया। शान्ति पर्व के नारायणीय प्रकरण मे साख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेदो एव पाशुपत को 'ज्ञानानि' एव 'नानामतानि' (विभिन्न दृष्टिकोण) की सज्ञा दी गयी है और कपिल

१७. मूलप्रकृतयोऽष्टौ ता जगदेतास्ववस्थितम्। ज्ञानेन्द्रियाण्यत पञ्च पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यपि। विषया पञ्च चैक च विकारे षोडश मन ॥ श्लोक २६-२७। मिलाइए साख्यकारिका (३)।

१८ नवद्वार पुर पुण्यमेतैर्भावै समन्वितम्। व्याप्य शेते महानात्मा तस्मात्पुरुष उच्यते ॥ शान्तिपर्व (२०३।३५)। मिलाइए भगवद्गीता 'नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्।' 'पुरुष' शब्द सामान्यत इस प्रकार व्युत्पन्न किया जाता है, 'पुरि शेते इति पुरुष', देखिए निरुक्त (१।१३) यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैतान्याचक्षीरन् पुरुष पुरिशय इत्याचक्षीरन्, किन्तु २।३ मे इसने इसकी तीन व्युत्पत्तियाँ दी है 'पुरुष पुरिषाद पुरिशय पूरयतेर्वा' (प्रथम है सद् अर्थात् बैठना धातु से उत्पन्न, पुरि+ष)। 'पुरि शेते' से व्युत्पन्न शब्द बृह० उप० (२।४।१८) मे आया है 'स वा अय पुरुष सर्वासु पूर्षु पुरिशय।' 'नवद्वारे पुरे देही' श्वेताश्व० (३।१८) मे आया है।

१९ योगसूत्र मे 'क्लेश' एक पारिभाषिक शब्द है जहाँ यह अधिकतर आया है, यथा—१।२४, २।२ एव ३, २।१२, ४।२८ एव ३०। योगसूत्र (२।३) मे पाँच क्लेशो को इस प्रकार बताया गया है—'अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशा क्लेशा।' वे लोगो को तग करते है, अत क्लेश कहे जाते है (क्लिश्यन्ति पुरुषम्)।

को, जो परमर्पि कहे गये हे, साख्य का प्रवर्तक माना गया हे। अध्याय २६४ (श्लोक २६–४६) मे साख्य के २५ तत्त्वो का उल्लेख हे, यथा प्रकृति या अव्यक्त, महत्, अहकार, अहकार से उत्पन्न पञ्चतत्त्व (इन आठो को प्रकृतियाँ कहा गया है) एव १६ विकार (श्लोक २६)। इन्हे क्षेत्र कहा जाता ह, आत्मा को २५वाँ तत्त्व कहा गया हे और उसे **क्षेत्रज्ञ** एव **पुरुष** की सज्ञा मिली हे (श्लोक ३७, 'अव्यक्ते पुरे शेते पुरुषश्चेति कथ्यते')। **ईश्वर** या **ब्रह्म** के विषय मे इस अध्याय मे कुछ नही आया हे।

शान्तिपर्व के अध्याय २११–२१२ (जिनमे कुल १०० श्लोक ह) मे मिथिला के राजा जनक (जो यहाँ 'जनदेव' कहे गये हे) द्वारा पञ्चशिख से ज्ञान ग्रहण करने का उल्लेख हे। पञ्चशिख सम्पूर्ण विश्व का भ्रमण करते हुए मिथिला पहुँचे थे। पञ्चशिख को आसुरि का प्रथम एव सर्वश्रेष्ठ शिष्य कहा गया हे और ऐसा उल्लेख हुआ हे कि उन्होने पञ्चस्रोतो पर[२०] एक सहस्र वर्षो तक सत्र का सम्पादन किया था। वे कपिला नाम्नी ब्राह्मणी से उत्पन्न हुए थे और इसी से उन्हे कापिलेय (श्लोक १३–१५) कहा गया हे। जनक के दरबार मे एक सहस्र आचार्य रहते थे जो विभिन्न सम्प्रदायो के दृष्टिकोणो को उपस्थित करते थे। श्लोक ६ मे आया है कि पञ्चशिख ने परमर्पि कपिल एव प्रजापति के समान प्रकट होकर लोगो को आश्चर्य मे डाल दिया और अपने तर्कों से सैकडो आचार्यों को भ्रमित कर दिया (श्लोक १७)। आगे चलकर जनक ने उन आचार्यों को छोड दिया और पचशिख का अनुसरण किया (श्लोक १८)। जाति या कृत्या एव सभी कुछ के विपय मे उन्होने जनक के मन मे वितृष्णा उत्पन्न कर दी और उनके समक्ष साख्य द्वारा उद्घोपित परममोक्ष की व्याख्या उपस्थित की। अध्याय २१२ मे पञ्चशिख ने पाँच तत्त्वो, पाँच ज्ञानेन्द्रियो, पाँच कर्मेन्द्रियो, मन (श्लोक ७–२२) तथा सात्त्विक, राजस एव तामस भावो के लिगो (श्लोक २५–२८) की उद्घोषणा की है तथा वर्णन किया हे कि किस प्रकार आत्मा को खोजने वाला व्यक्ति आनन्द एव क्लेश के बन्धनो से मुक्त होता हे और जरा तथा मृत्यु के भय के ऊपर उठकर अमरत्व को प्राप्त करता हे। ये दोनो अध्याय स्पष्ट रूप से तारतम्य के साथ सिद्धान्त उपस्थित नही करते और ऐसे शब्दो का प्रयोग करते ह जो २५ तत्त्वो की सगति मे बैठ नही पाते। अध्याय २१२ (श्लोक १२) मे 'एकाक्षर ब्रह्म को कतिपय रूपो का धारणकर्ता' कहा गया हे। उदाहरणार्थ, 'पुरुषावस्थमव्यक्तम्' का क्या अर्थ हे, कहना कठिन हे। इन शब्दो से यही अर्थ निकाला जा सकता है कि पञ्चशिख ने उस अव्यक्त (अर्थात् प्रधान) के बारे मे (जनक को) ज्ञान दिया, जो पुरुप पर निर्भर हे (अर्थात् जो पुरुप के सयोग से क्रियाशील होता हे) और वह पुरुप परम सत्य हे। इसमे पुन कहा गया हे कि पञ्चशिख इष्टियो एव सत्रो के सम्पादन से उत्पन्न ज्ञान मे पूर्ण हो गये, तपो द्वारा उन्होने ईश्वर का साक्षात्कार पाया, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के बीच के अन्तर का परिज्ञान किया तथा ओम् के प्रतीक के रूप मे ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त की।[२१] अत शान्तिपर्व के इन अध्यायो मे पञ्चशिख का जो सिद्धान्त प्रकट हुआ हे,

२० पञ्चस्रोत सम्भवत 'पञ्चनद' (पजाब की पाँच नदियाँ) हं। इस सस्करण मे शान्तिपर्व ने अध्याय २११ मे एक श्लोक छोड दिया हे—'पञ्चस्रोतसि निष्णात पञ्चरात्रविशारद। पञ्चज्ञ पञ्चकृत् पञ्चगुण पञ्चशिख स्मृत॥' यहाँ पञ्चशिख को पञ्चरात्र (वैष्णव) के सिद्धान्तो मे निष्णात माना गया हे, वे कापिलेय कहे गये है अत सम्भवत उनकी माता का नाम कपिला था।

२१ त समासीनमागम्य मण्डल कापिल महत्। पुरुषावस्थमव्यक्त परमार्थ न्यबोधयत्॥ इष्टिसत्रेण ससिद्धो भूयश्च तपसा मुनि। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्व्यक्ति बुबुधे देवदर्शन॥ यत्तदेकाक्षर ब्रह्म नानारूप प्रदृश्यते। शान्ति०

वह वास्तव मे अद्वैत है, जिस पर पश्चात्कालीन साख्य के कुछ समान सिद्धान्त बैठा दिये गये है, जिससे सृष्टि आदि की व्याख्या की जा सके।[२२] शान्तिपर्व (३०६।५६–६६, चित्रशाला प्रेस सस्करण–३१८।५८–६२) मे विश्वावसु याज्ञवल्क्य से कहते है कि उन्होने २५ तत्त्वो के बारे मे जैगीषव्य, असित-देवल, वार्षगण्य (पराशर गोत्र के), भृगु पञ्चशिख, कपिल, शुक, गोतम, आर्ष्टिपेण, गर्ग, नारद, आसुरि पुलस्त्य, सनत्कुमार, शुक्र एव कश्यप से सुना है। पुन ३३६।६५ (चित्रशाला स० ३१८।६७) मे आया है कि याज्ञवल्क्य ने साख्य एव योग दोनो पर पूर्ण रूप से अधिकार प्राप्त कर लिया था। शान्तिपर्व (३०६।४, चित्रशाला स०) मे आया है कि साख्य एव योग दोनो एक है।[२३]

महाभारत मे पञ्चशिख का बहुधा उल्लेख हुआ है। शान्तिपर्व (३०७ वॉ अध्याय, कुल १४ श्लोक) मे युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा है कि किस प्रकार कोई जरा या मृत्यु के ऊपर उठ सकता है, क्या तपो द्वारा या कृत्यो द्वारा या वैदिक अध्ययन द्वारा या रसायन प्रयोगो के द्वारा कोई इनके ऊपर उठ सकता है? भीष्म

(२११।११–१३)। 'पुरुषावस्थ' का विग्रह करना चाहिए (जिससे कि इसका कुछ अर्थ निकल सके), यथा 'पुरुषे अवस्था' (अवस्थान यस्य) या 'पुरुषे अवतिष्ठते इति'। ' कापिल महत्' का अर्थ सर्वथा स्पष्ट नहीं हो पाता, किन्तु अहिर्बुध्न्यसहिता (१२।१८–२६) के वचनो से ऐसा प्रकट होता है कि कपिल के साख्य-तन्त्र के सिद्धान्त दो मण्डलो मे विभाजित थे, यथा प्राकृत एव वैकृत और दोनो मे क्रम से ३२ एव २८ विषय थे। 'साख्यरूपेण सकल्पो वैष्णव कपिलादृषे। उदितो यादृश पूर्व तादृश शृणु मेऽखिलम्॥ षष्टिभेद स्मृत तन्त्र साख्य नाम महामुने। प्राकृत वैकृत चेति मण्डले द्वे समासत॥' टीकाकार अर्जुन मिश्र ने इसे यो समझा है—'कपिल का महान् सिद्धान्त उनके (पञ्चशिख के) पास प्रकाश के पुञ्ज के रूप मे आया और उनको परम सत्य का अर्थ बताया।' किन्तु यह बहुत खीचातानी वाला अर्थ है। 'न्यबोधयत्' के कर्ता के तथा 'समासीनम्' (किसकी ओर सकेत करता है?) के विषय मे शका है। प्रस्तुत लेखक को ऐसा जँचता है कि अर्थ यो होना चाहिए—'पचशिख उनके (जनक के) पास आये और उन्हे महान् कापिल मण्डल का ज्ञान दिया, जो सबसे बडा सत्य है, अव्यक्त है आदि।' सस्कृत वाक्य के नियम के अनुसार 'आगम्य' एव 'न्यबोधयत्' का कर्ता एक ही (अर्थात् पञ्चशिख) होना चाहिए। 'समासीन' जनक की ओर सकेत करता है। मिलाइए 'एकाक्षर पर ब्रह्म' (मनु २।८३) एव 'ओमित्येकाक्षर ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्' (गीता ८।१३)। अध्याय २११ का श्लोक १३ यह है—'आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम्।' (अव्यय एकाक्षर-ब्रह्म की ओर सकेत करता है)। अत मण्डल का अर्थ यो किया जाना चाहिए—'सिद्धातो का वह वृत्त या जो सर्वप्रथम कपिल द्वारा विवेचित हुआ।'

२२ पञ्चशिख ने जनक को जो ज्ञान दिया, उसकी स्थिति शान्तिपर्व मे इस प्रकार व्यक्त है (२१२।५०–५१)—'न खलु मम तुषोऽपि दह्यतेऽत्र स्वयमिदमाह किल स्म भूमिपाल। इदममृतपद विदेहराज स्वयमिह पञ्चशिखेन भाष्यमाण॥' मिलाइए शान्ति० (१७१।५६) अनन्त बत मे वित्त यस्य मे नास्ति किञ्चन। मिथिलाया प्रदीप्ताया न मे दह्यति किञ्चन॥ धम्मपद २००, उत्तराध्ययन सूत्र (९।१४) 'सुह वसामो जीवामो जेसि मोणत्थि किचण। मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किचण॥' इमा तु यो वेद विमोक्षबुद्धिमात्मानमन्विच्छति चाप्रमत्त। न लिप्यते कर्मफलैरनिष्टै पत्र बिसस्येव जलेन सि । ॥ शान्ति० (२१२।४४)।

२३ यदेव योगा पश्यन्ति तत्साख्यैरपि दृश्यते। एक साख्य च योग च य पश्यति स पश्यति॥

ने जनक एव भिक्षु पञ्चशिख के सवाद का उदाहरण दिया है। पञ्चशिख का उत्तर है कि इन दोनो से छुटकारा कोई नही पा सकता, यह मार्ग मे लोगो के मिलन सा है (अर्थात् क्षणिक है)। किसी ने स्वर्ग या नरक नही देखा है, अपना कर्त्तव्य है वेदो के आदेशो का उल्लघन न करना, दान एव यज्ञ करना। इस अध्याय मे साख्य सिद्धान्त की ओर कोई विशिष्ट सकेत नही है, यद्यपि पञ्चशिख के मत दिये गये है। अध्याय ३०८ (कुल १९१ श्लोक है, किन्तु केवल ३० श्लोको मे पञ्चशिख के सिद्धान्त का उल्लेख है) मे युधिष्ठिर ने प्रश्न किया है—'किस व्यक्ति ने बिना गृहस्थाश्रम छोडे मोक्ष प्राप्त किया है ?' इस पर भीष्म ने उत्तर दिया है जो जनक (धर्मध्वज) एव भिक्षुकी सुलभा के सवाद के रूप मे है। जनक वेदज्ञ थे, मोक्षशास्त्र एव राजधर्म मे पारगत थे, उन्होने अपनी इन्द्रियो पर सयम रखा था और वे पृथिवी के शासक थे। सुलभा ने सन्यासियो से राजा जनक के सदाचार की बाते सुन रखी थी, अत उसमे सत्य की जानकारी की प्यास थी। उसने योगबल से अपना भिक्षुकी रूप छोड दिया और एक अत्यन्त सुन्दर नारी का रूप धारण कर जनक से मिली। जनक ने उसे बताया कि वे पाराशर्य गोत्र के वृद्ध भिक्षु पञ्चशिख के शिष्य है, जो वर्षाऋतु मे उनके साथ चार मास रहे और उन्हे (जनक को) साख्य, योग एव नीति-शास्त्र इन मोक्ष के तीन स्वरूपो के बारे मे बताया, किन्तु शासक-पद छोडने के लिए कोई बात नही कही। जनक ने कहा—'सभी प्रकार की विषयासक्ति को त्याग कर तथा परमोत्तम पद पर स्थित (शासक) रहकर मै मोक्ष के तीन मार्गों का अनुसरण करता हूँ, इस मोक्ष का सर्वोच्च नियम है 'विषयासक्ति से मुक्ति, विषयासक्ति का अभाव सम्यक् ज्ञान से होता है, जिसके द्वारा व्यक्ति (ससार के) बन्धन से छुटकारा पाता है।' जनक ने आगे प्रकट किया है कि उस भिक्षु द्वारा, जो अपनी शिखा के कारण पञ्चशिख कहे जाते है, ज्ञान प्राप्त करने के कारण वे सभी विषयो से मुक्त है, यद्यपि वे अपने राज्य का शासन करते जा रहे है, वे इस प्रकार अन्य सन्यासियो से पृथक् है। इसके उपरान्त जनक ने (३०८।३८-४१) मोक्ष के तीन प्रकारो का एक अन्य अर्थ किया है जो पञ्चशिख द्वारा उन्हे प्राप्त हुआ था, यथा—(१) लोकोत्तर ज्ञान एव सर्वत्याग, (२) कर्मों के प्रति ज्ञाननिष्ठा एव (३) ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय, और ऐसा कहा गया है कि जो इस तीसरे मार्ग का अनुसरण करते है वे गृहस्थो से कई रूपो मे मिलते-जुलते है। जनक ने अपना दृष्टिकोण यो उपस्थित किया है—काषायधारण, सिर-मुण्डन, कमण्डलु का प्रयोग केवल बाहरी चिह्न है, ये मोक्ष की ओर नही ले जाते, मोक्ष केवल अकिञ्चनता से नही प्राप्त होता, धन-प्राप्ति से ही बन्धन नही होता, यह ज्ञान ही है जिसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, चाहे पास मे धन रहे या न रहे।[२४] श्लोक ४० से प्रकट होता है कि पञ्चशिख ने मोक्षनिष्ठा के तीसरे प्रकार (ज्ञान-कर्म-समुच्चय) पर बल दिया है और जनक ने इसे ही स्वीकार किया है। ३०८ वे अध्याय का शेषाश जनक द्वारा सुलभा पर लगाये गये अभियोग तथा जनक के विरोध मे दिये गये सुलभा के मर्मघाती वाक्य-बाणो से सम्बन्धित है।[२५] अन्त मे वह

२४ काषायधारण मौण्डय त्रिविष्टब्ध कमण्डलु। लिङ्गान्यत्यर्थमेतानि न मोक्षायेति मे मति ॥ आकिञ्चन्ये न मोक्षोऽस्ति कैञ्चन्ये नास्ति बन्धनम्। कैञ्चन्ये चेतरे चैव जन्तुर्ज्ञानेन मुच्यते ॥ शान्ति० (३०८। ४७ एव ५०)। 'अकिञ्चन' का अर्थ होता है वह जिसके पास कुछ भी न हो एव आकैञ्चन्य का अर्थ है 'अकिञ्चन होने की स्थिति।'

२५ कुछ प्रत्युत्तर नीचे दिये जाते है—'यद्यात्मनि परस्मिश्च समतामध्यवस्यसि। अथ मा कासि कस्येति किमर्थमनुपृच्छसि। सर्व स्वे स्वे गृहे राजा सर्व स्वे स्वे गृहे गृही । निग्रहानुग्रहौ कुर्वस्तुल्यो जनक

कहती है—'आपने अवश्य पञ्चशिख से मोक्ष के सम्पूर्ण सिद्धान्त को, उसकी प्राप्ति के साधनो के साथ, उन उपनिषदो के वाक्यो के साथ जो उसकी व्याख्या करते हे या (ध्यान के) सहायको के साथ ओर निश्चित निष्कर्षों के साथ सुन लिया है।'

उपर्युक्त अन्तिम वचन स्पष्ट रूप से मोक्ष के विषय मे उपनिषदो की ओर सकेत करता हे और पूर्ववर्ती बाते जनक के सम्बन्ध मे विषयासक्ति से छुटकारे की ओर सकेत करती हे (३०८।३७, मुक्तसग)। बृहदारण्यकोपनिषद् (३।१) मे विदेह के राजा जनक द्वारा सम्पादित यज्ञ का उल्लेख हे। राजा जनक ने उपस्थित ब्राह्मणो के मध्य यह घोषणा की थी कि मै उस ब्राह्मण को, जो अत्यन्त गम्भीर रूप से विद्वान् ओर ब्रह्मिष्ठ होगा, एक सहस्र गाये दूंगा। याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य को यह आज्ञा दी कि वह गायो को हॉक ले चले, इस पर एक विद्वत्तापूर्ण प्रश्नोत्तर-विमर्श उठ खडा हुआ, जिसमे क्रुद्ध ब्राह्मणो एव एक नारी ने भाग लिया ओर प्रश्नो की बोछार याज्ञवल्क्य को सहनी पडी। प्रश्नकर्ता थे—अश्वल (जनक के पुरोहित) जारत्कारव आर्तभाग, भुज्यु, लाह्यायनि, उषस्त चाक्रायण, कहोड कौषीतकेय, गार्गी वाचक्नवी, उद्दालक आरुणि, विदग्ध शाकल्य (३।१-९, जिसका अन्त 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' के साथ हुआ हे)। बृह० उप(४।२) मे ऐसा आया हे कि जनक याज्ञवल्क्य के पास गये, श्रद्धा से उनके समक्ष झुके और प्रार्थना की—मुझे सिखाइए। याज्ञवल्क्य ने उनसे कहा—'आपने वेदाध्ययन किया हे, आचार्यो ने आपके समक्ष उपनिषदो की व्याख्या की हे, किन्तु जब आप इस शरीर का त्याग करेगे, तो कहॉ जायेगे ?' जनक ने कहा कि वे इस प्रश्न का उत्तर नही जानते और ऋषि से प्रार्थना कि वे उन्हे इस विषय मे प्रकाश दे। इसके उपरान्त एक लम्बा विवेचन चल पडा हे (बृ० उ० ४।२) जिसमे प्रसिद्ध वचन 'स एष नेति नेत्यात्मा अगृह्यो न हि गृह्यते असङ्गणो न हि सज्जते अभय वै जनक प्राप्तोसि' (४।२।४) आया है। प्रस्तुत लेखक को ऐसा लगता हे कि किसी व्यक्ति ने साख्य सिद्धान्तो के प्रचार के लिए शान्तिपर्व मे उन साख्य-सम्बन्धी वचनो का समावेश कर दिया जिनमे जनक के गुरु के रूप मे याज्ञवल्क्य के स्थान पर पञ्चशिख को रख दिया गया हे।

उपर्युक्त विवेचनो से यह प्रकट हो जाता हे कि शान्तिपर्व के अध्यायो मे जो साख्य सम्बन्धी मत प्रकाशित हे, वे साख्य के मूल से मेल नही खाते, इतना ही नही, पञ्चशिख के मत जो अध्याय २११-२१२ मे प्रकाशित हे वे ३०८वे अध्याय के मतो से भिन्न हे। अध्याय ३०८ मे ज्ञान-कर्मसमुच्चय ही पञ्चशिख के मत के रूप मे प्रकाशित है, जब कि हम जानते हे कि साख्य मुक्ति के लिए केवल ज्ञान को प्रधानता देता हे। यह द्रष्टव्य हे कि इन अध्यायो मे पञ्चशिख के किसी ग्रन्थ की ओर सकेत नही है, वे केवल घूमने वाले सन्यासी के रूप मे वर्णित हे जिनके अपने कुछ विशिष्ट मत हे। प्रस्तुत लेखक को प्रतीत होता है कि शान्तिपर्व के लेखक महोदय के समक्ष कोई ग्रन्थ नही था, प्रत्युत उन्होने परम्परा से आयी हुई यह बात सुन रखी थी कि पञ्चशिख एक बडे साख्य प्रचारक थे। प्रो० कीथ का मत हे कि शान्तिपर्व का पञ्चशिख वह पञ्चशिख नही है जो षष्टितन्त्र का लेखक हे (साख्य सिस्टेम, पृष्ठ ४८)।

राजभि ॥ ३०८। १२६-२७, १४७। ननु नाम त्वया मोक्ष कृत्स्न पञ्चशिखाच्छ्रुत। सोपाय सोपनिषद सोपासङ्ग सनिश्चय ॥ ३०८। १६३। टीकाकार नीलकण्ठ ने व्याख्या की है—उपासङ्गो ध्यानाङ्गानि यमादीनि।

शान्तिपर्व मे कुछ अन्य अध्याय भी है जहाँ पर साख्य सिद्धान्तो एव तत्सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दो का उल्लेख हुआ है, किन्तु वे वासुदेव या परमात्मा की ओर सकेत करते है। उदाहरणार्थ, अध्याय ३४० (श्लोक २३, २४, २६-२७, ६४-६५) मे नारद से स्वय भगवान् ने साख्य के कुछ सिद्धान्तो का विवेचन किया है, यथा २४ तत्त्व एव पुरुष (२५वाँ तत्त्व), तीनो गुण, पुरुष (जो क्षेत्रज्ञ एव भोक्ता है), आचार्य (जो साख्य के विषय मे निश्चित निष्कर्षो तक पहुँच गये है) लोग उसे ईश्वर कहते है जो सूर्य के मण्डल मे कपिल के समान है, वह हिरण्यगर्भ, जो वेद मे प्रशसित है और योगशास्त्र का प्रणेता है, 'मै' ही हूँ।

न-केवल शान्तिपर्व मे प्रत्युत महाभारत के अन्य पर्वो मे भी साख्य सिद्धान्त का विवेचन हुआ है। उदाहरणार्थ, आश्वमेधिक (३५।४७-४८) ने सत्त्व, रज एव तम का आत्मगुणो के रूप मे उल्लेख किया है और उनके सन्तुलन की चर्चा की है। इसी अध्याय मे, अन्यत्र २४ तत्त्वो का उल्लेख है, यथा—अव्यक्त, महान्, अहकार आदि तथा तीनो गुणो की चर्चा है।

आसुरि का उल्लेख साख्यकारिका द्वारा कपिल के शिष्य के रूप मे हुआ है, योगसूत्र-भाष्य (१।२५) एव शान्तिपर्व (अध्याय ३०६) मे भी इनकी चर्चा उद्धरणो मे हुई है। किन्तु इनके द्वारा लिखित कोई ग्रन्थ नही है और किसी लेखक ने इनका कोई उद्धरण भी नही दिया है (केवल एक जैन लेखक हरिभद्र ने इनका एक श्लोक उद्धृत किया है)। कपिल किवदन्तीपूर्ण एव पुराणकथात्मक व्यक्ति है। ऋग्वेद (१०।२७।१६) मे कपिल दस अगिरसो मे परिगणित है। कपिल-सम्बन्धी भ्रामक गाथाओ के लिए देखिए साख्य-प्रवचन-भाष्य पर हाल की भूमिका (पृ० १४)। महाभारत-सम्बन्धी सकेतो को हमने पहले ही देख लिया है। वनपर्व (२२१।२६) मे कपिल को साख्य-योग का प्रवर्तक कहा गया है, परमर्षि की उपाधि दी गयी है और अग्नि का अवतार माना गया है। मत्स्यपुराण (१०२।१७-१८) मे आया है कि ब्रह्मा के सात पुत्रो, यथा—सनक, सनन्द, सनातन, कपिल, आसुरि, वोढु एव पञ्चशिख को जल-तर्पण करना चाहिए। वामन-पुराण (६०।७०) ने कपिल (साख्य के ज्ञाता के रूप मे), वोढु, आसुरि, पञ्चशिख (योगयुक्त के रूप मे) का उल्लेख किया है और कहा है कि सनत्कुमार ब्रह्मा के पास योग-विद्या सीखने के लिए गये।[२६]

कात्यायन के स्नानसूत्र (कण्डिका ३) मे, जो पारस्करगृह्यसूत्र से सम्बन्धित है, निर्दिष्ट केवल ये ही ऐसे सात व्यक्ति है जिन्हे ऋषियो के साथ तर्पण किया जाता है। भागवतपुराण (१।३।१०) मे कपिल को विष्णु का पाँचवाँ अवतार कहा गया है, उन्हे सिद्धेश की उपाधि दी गयी है तथा आसुरि का साख्य-शिक्षक कहा गया है (उस साख्य की शिक्षा देने वाला कहा गया है जो अब समय के फेर से पुराना पड गया)। गीता (१०।२६, सिद्धाना कपिलो मुनि) ने कपिल को एक मुनि तथा सिद्धो मे सर्वश्रेष्ठ माना है। साख्यकारिका ने उन्हे एक मुनि के रूप मे माना है। कूर्मपुराण (२।७।७) ने गीता की ही बात कही है।

२६ मनुष्यास्तर्पयेद् भक्त्या ब्रह्मपुत्रानृषींस्तथा। सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातन ॥ कपिलश्चासुरिश्चैव वोढु पञ्चशिखस्तथा। सर्वे ते तृप्तिमायान्तु मद्दत्तेनाम्बुना सदा ॥ मत्स्य० (१०२।१७–१८)। ब्रह्माण्ड पुराण (४।२।२७२–२७४) ने ब्रह्मा के इन सात पुत्रो का उल्लेख किया है किन्तु भिन्न क्रम से। वामनपुराण (६०।६६–७०) ने सातो पुत्रो को इस क्रम मे रखा है—सनत्कुमार, सनातन, सनक, सनन्दन, कपिल, वोढु एव आसुरि और अन्त मे पञ्चशिख को जोड दिया गया है। वृद्धयोगियाज्ञवल्क्यस्मृति (७।६६) मे ये सातो ब्रह्मा के मानव पुत्र कहे गये हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् (२।६।३ एव ६।५।२-३) मे, जिसमे आचार्यो एव शिष्यो की सूचियो मे अन्तर पाया जाता है, आसुरि को प्रथम सूची मे भरद्वाज का शिष्य तथा दूसरी सूची मे याज्ञवल्क्य का शिष्य कहा गया है। प्रत्येक सूची मे ब्रह्मा के उपरान्त कम-से-कम ६० आचार्यो के नाम आये है। पहली बात तो यह है कि इन सूचियो मे सचाई कितनी है यह कहना कठिन है, दूसरी बात यह है कि दोनो सूचियो मे उल्लिखित आसुरि को कपिल का ही शिष्य कहना कहाँ तक ठीक होगा।

साख्य सिद्धान्त मे पञ्चशिख का एक महत्त्वपूर्ण नाम है। उस सिद्धान्त के विषय मे उनका क्रमबद्ध ग्रन्थ है षष्टितन्त्र। साख्यकारिका (७० एव ७२) ने इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ मे ६० विषयो एव ६० सहस्र गाथाओ की चर्चा है।[२७] योगसूत्रभाष्य (४।१३) मे एक ऐसे श्लोक का उद्धरण है जो वाचस्पति द्वारा षष्टि-तन्त्र का कहा गया है। प्रस्तुत लेखक को प्रो० कीथ की यह मान्यता स्वीकार्य नही है कि साख्यकारिका (७२) मे षष्टितन्त्र की ओर जो सकेत है वह किसी ग्रन्थ की ओर नही है, प्रत्युत वह ६० विषयो वाले एक दर्शन की ओर है। आर्या ७२ की एक सस्कृत टीका थी, जो सन् ५४६ ई० मे चीनी भाषा मे अनूदित की गयी, जिसमे यह कहा गया कि ग्रन्थ मे ६० गाथाएँ थी[२८], किन्तु भामती (वाचस्पतिकृत वे० सू० २।१।३ की टीका) ने इसे वार्ष-गण्य का माना है। यह वाचस्पति की त्रुटि हो सकती है, या यह सम्भव है कि उन्होने पञ्चशिख एव वार्षगण्य को एक ही व्यक्ति समझा हो—पहला 'पुकारू' नाम तथा दूसरा गोत्र नाम हो। योगसूत्र (१।४।२५, ३६, २।५।-६, १३, १७, १८, २०, ३।१३ एव ४१, ४।१३—तथा च शास्त्रानुशासन 'गुणानाम्) मे गद्यात्मक वचन आये है जिन्हे वाचस्पति ने पञ्चशिख के माना है। साख्यकारिका (२) की टीका मे वाचस्पति ने पञ्चशिखाचार्य के मत उद्धृत किये है। योगसूत्रभाष्य (१।२५) की टीका मे एक सूत्र उद्धृत है जिसे वाचस्पति ने पञ्चशिख का माना है और उस सूत्र मे कपिल को 'आदिविद्वान्' (साख्य के प्रथम आचार्य) एव 'परमर्षि' कहा गया है और ऐसा आया है कि कपिल ने आसुरि को तन्त्र एव साख्य-सिद्धान्त का ज्ञान दिया।

शान्तिपर्व (अध्याय ३०६) मे विश्वावसु गन्धर्व तथा याज्ञवल्क्य का जो सवाद आया है उसमे उन मुनियो की सूची दी हुई है जिनसे विश्वावसु ने बहुत कुछ ज्ञान ग्रहण किया, किन्तु विश्वावसु ने याज्ञवल्क्य से साख्य एव योग की व्याख्या के लिए प्रार्थना की है। याज्ञवल्क्य बताते है कि प्रकृति को प्रधान भी कहते है, जिसे २५वे (अर्थात् पुरुष) का ज्ञान नही होता और २६वाँ (अर्थात् परमात्मा) भी होता है। उस सूची मे निम्नलिखित नाम आये है—जैगीषव्य, असित, देवल, पराशर गोत्र के वार्षगण्य, भिक्षु पञ्चशिख, कपिल, शुक, गौतम, आर्ष्टि-षेण, गार्ग्य, नारद, आसुरि, पुलस्त्य, सनत्कुमार, शुक्र, कश्यप के पिता। ये मुनि तिथि-क्रम से नही रखे गये है और कतिपय मुनि साख्य एव योग के विषय मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। यह हम पहले ही देख चुके है कि पञ्च-शिख पराशर गोत्र के थे और उपर्युक्त सूची मे वार्षगण्य महोदय भी उसी गोत्र के कहे गये है। वाचस्पति ने साख्य-

२७ अथ पञ्चशिख षष्टिसहस्रगाथात्मक विपुल तन्त्रमुक्तवान्। प० ऐयस्वामी का सस्करण, पृ० ६७; षष्टिपदार्था यस्मिन् शास्त्रे तन्त्र्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते तत्षष्टि तन्त्रम्। माठरवृत्ति।

२८ लगता है, यहाँ पर 'गाथा' का अर्थ है, '१२ अक्षरो का एक दल' या 'एक इकाई के रूप मे मात्राओ की एक निश्चित सख्या।' पचशिख के जो उद्धरण मिलते है, वे अधिकाश मे गद्य मे है, केवल योगसूत्रभाष्य (४।१३) वाला पद्य मे है और साँख्य-सूत्र वाले भावा-गणेश जैसे पश्चात्कालीन टीकाकार ही पचशिख के श्लोक उद्धृत करते हैं।

कारिका (४७) की टीका मे लिखा है कि वार्षगण्य के मतानुसार अविद्या के पाँच स्वरूप हैं।[२९] योगसूत्र-भाष्य ने ३।५३ पर वार्षगण्य के एक सूत्र को उद्धृत किया हे। यह ऊपर दिखाया जा चुका है कि चीनी भापा मे जो टीका फिर से सस्कृत मे लिखी गयी हे, उसमे वार्षगण्य को पञ्चशिख के उपरान्त तथा ईश्वरकृष्ण के पूर्व का आचार्य कहा गया है। अत पञ्चशिख एव वार्षगण्य को एक ही व्यक्ति मानना कठिन है।

न केवल शान्तिपर्व ने ही साख्यकारिका के सिद्धान्तो से सम्बन्धित सिद्धान्तो पर विचार-विमर्श उपस्थित किया है, प्रत्युत भगवद्गीता ने भी ऐसा किया हे। कुछ उद्धरण यहाँ दिये जा रहे हे। गीता (१३।५) मे आया है—'महाभूतान्यहकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैक च पञ्च चेन्द्रियगोचरा ॥' इसमे २४ तत्त्वो का वर्णन है, और पुरुप को छोड दिया गया है तथा पञ्च तन्मात्राओ के स्थान पर पञ्च तत्त्वो का उल्लेख हुआ हे। और देखिए (१३।१९-२०)—'प्रकृति पुरुष चैव विद्ध्यनादी उभावपि । विकारॉश्च गुणॉश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ कार्यकारणकर्तृत्वे हेतु प्रकृतिरुच्यते। पुरुष सुखदु खाना भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥' १४।५-९ 'सत्त्व रजस् तम इति गुणा प्रकृतिसम्भवा ', ७।४ 'भूमिरापोऽनलो वायु ख मनो बुद्धिरेव च। अहकार इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥, ७।१३, २।२८।' गीता (७।६ एव ८) ने बल देकर कहा है कि परमात्मा उस सम्पूर्ण विश्व का मूल है जो आगे चल कर उसमे समाहित हो जाता है। यहाँ गीता सांख्य से स्पष्ट रूप से अलग खडी हो जाती है। गीता ने स्पष्ट रूप से 'साख्य-कृतान्त' (सिद्धान्त) का उल्लेख किया है (१८।१३), जिसका अर्थ यह होता है कि तब तक साख्य ने एक सिद्धान्त का रूप धारण कर लिया था, किन्तु किसी ऐसे ग्रन्थ की ओर कोई स्पष्ट सकेत नही है, जैसा कि हम वेद या वेदान्त (१५।१५ मे) या ब्रह्मसूत्र (१३।४) के विषय मे पाते है।[३०]

तककुसु (बी० ई० एफ्० ई० ओ०, १९०४, पृ० ४८) एव कीथ (साख्य सिस्टेम, पृ० ७३-७९) ने विन्ध्य-वास या विन्ध्यवासी को ईश्वरकृष्ण के ही समान माना हे। मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त आतिवाहिक शरीर के नास्तित्व के विपय मे उनके विचार को कुमारिल ने व्यक्त किया है।[३१] डा० बी० भट्टाचार्य (जे० आई०

२९ पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् । सा० कारिका (४७), 'अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशा पञ्च विपर्ययविशेषा । पञ्चपर्वा अविद्येत्याह भगवान् वार्षगण्य । सा० तत्त्व-कौमुदी (वाचस्पतिकृत), अश्वघोष कृत बुद्धचरित (१२।३३) मे आया हे 'इत्यविद्या हि विद्वास. पञ्चपर्वा समीहते। तमो मोह महामोह तामिस्रद्वयमेव च ॥ श्वेताश्व० उप० (१।५) मे भी 'पञ्चाशद्भेदा पञ्चपर्वा-मधीम ' आया है। कर्मपुराण (२।२।१२९) मे ऐसा आया है कि कपिल ने जैगीषव्य एव पञ्चशिख दोनो को पढाया है। ऐसा कहना कठिन है कि इस पुराण के समक्ष कोई प्राचीन परम्परा इस विषय मे थी अथवा नही।

३० हमने पहले ही पॉच सिद्धान्तो (कृतान्त-पञ्चक) का उल्लेख कर दिया है, यथा—साख्य, योग, पञ्चरात्र, शैव एव पाशुपत।

३१ अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना। तदस्तित्वे प्रमाण हि न किंचिदवगम्यते ॥ श्लोकवार्तिक, आत्मवाद (६२, पृ० ७०४) जिस पर न्यायरत्नाकर नामक टीका यो है—'यदपि आतिवाहिक नाम शरीर पूर्वोत्तरदेहयोरन्तराले ज्ञानसन्तानसन्धारणार्थं कल्प्यते तदपि विन्ध्यवासिना निराकृतमित्यादि ।' कमलशील ने साख्य एव उसके सत्कार्यवाद की आलोचना करते हुए 'विन्ध्यवासी' (जिसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि वह व्यक्ति जो विन्ध्य पर्वत की जगली जाति का हो) शब्द की जो रुद्रिल के लिए प्रयुक्त है, खिल्ली उडायी है—'यदेव दधि तत् क्षीर यत्क्षीर तद्दधीति च। वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिता ॥'

एच्०, खण्ड ६, पृ० ३६-४६) ने विन्ध्यवास एव ईश्वर कृष्ण की समानरूपता के प्रश्न पर विचार किया है। प्रस्तुत लेखक उनके मत को मानता है, किन्तु यह बात नही स्वीकार करता कि विन्ध्यवास ईश्वरकृष्ण से पूर्व हुए थे। श्री भट्टाचार्य ने ईश्वरकृष्ण को ३३०-३६० ई० का माना है। किन्तु इसके लिए कोई शक्तिशाली साक्ष्य नही है। तककुसु ने विन्ध्यवास को वृषगण का शिष्य कहा है (जे० आर० ए० एस्, १६०५, पृ० ४७) और परमार्थ के मत से वृषगण एव विन्ध्यवास बुद्ध के निर्वाण के १० शतियो उपरान्त हुए थे। कमलशील (तत्त्व-सग्रह, पृ० २२) से प्रकट होता है कि विन्ध्यवास का एक नाम रुद्रिल भी था।

अभिनवगुप्त की अभिनवभारती ने दोनो मे भेद किया है[३२], अत यह सम्भव है कि विन्ध्यवास ने ईश्वरकृष्ण के उपरान्त साख्य सिद्धान्त को केवल सुधारा। राजमार्तण्ड मे भोजदेव (योगसूत्र ४।२२, दृष्टिदृश्योपरक्त चित्त सर्वार्थम्) ने विन्ध्यवासी का एक गद्यांश उद्धृत किया है। ईश्वरकृष्ण ने साख्यकारिका के अतिरिक्त कोई अन्य ग्रन्थ लिखा है, इसके विषय मे हमे कोई साक्ष्य नही प्राप्त होता, अत विन्ध्यवासी को ईश्वरकृष्ण से पृथक् व्यक्ति मानना चाहिए, जैसा कि भोजदेव का कथन है। युक्तिदीपिका ने विन्ध्यवासी के मतो का कई बार उल्लेख किया है, अत वे साख्यकारिका के लेखक ईश्वरकृष्ण से भिन्न व्यक्ति थे। देखिए पृ० ४, १०८, १४४ एव १४८। इस ग्रन्थ मे ऐसा आया हे कि आचार्य (साख्यकारिका के लेखक) ने 'जिज्ञासा' एव शास्त्र के अन्य तत्त्वो का उल्लेख नही किया, किन्तु विन्ध्यवास जैसे अन्य आचार्यों ने उनका उल्लेख अपने ग्रन्थो मे किया है। पृ० १४४-१४५ की टीका का कथन हे कि विन्ध्यवासी के अनुसार इन्द्रियाँ 'विभु' (चारो ओर विस्तृत अर्थात् फैली हुई) है, विन्ध्यवासी ने सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व नही माना, किन्तु ईश्वरकृष्ण ने इन्द्रियो को विभु नही माना है और कहा हे कि सूक्ष्म शरीर होता है। युक्तिदीपिका (पृ० १४४) का कथन है कि पतञ्जलि ने सूक्ष्म शरीर की कल्पना की हि।

अब हमे यह देखना है कि दर्शन के एक सिद्धान्त को 'साख्य' शब्द से क्यो द्योतित किया गया। 'साख्य' का अर्थ है 'सख्या', अत यह गणना है। साख्य सिद्धान्त ने २५ तत्त्वो की गणना की है तथा पञ्चशिख के षष्टितन्त्र ने ६० विषयो का विवेचन किया है, सम्भवत इसी से इस दर्शन को साख्य कहा गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।४) सख्याओ से परिपूर्ण है।[३३] श्वेता० उप० का १।५ मन्त्र 'पञ्च' शब्द सात बार प्रयुक्त करता है और उसमे 'पञ्चाशद्भेदाम्' 'शतार्धारम्' के समान ही है। और देखिए (६।३)। इस अर्थ मे साख्य का तात्पर्य

३२ नाट्यशास्त्र (२२।८८-८९, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, खण्ड ३, पृ० १८४, मनसस्त्रिविधो भाव) मे अभिनवगुप्त ने इस प्रकार कहा है—'कापिलदृशि तु विन्ध्यवासिनो मनस एव ईश्वरकृष्णादिमते मन शब्देनात्र बुद्धि।' मेधा० (मनु १।५५) ने कहा है—'केश्चिदिष्यते अस्त्यन्यदन्तराभव शरीर यस्येयमुत्क्रान्ति। . साख्या अपि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासप्रभृतय।' देखिए सा० का० (३९-४१), जहाँ अन्तराभव शरीर का उल्लेख है।

३३ तमेकनेमिं त्रिवृत षोडशान्त शतार्धार विंशतिप्रत्यराभि। अष्टकै षड्भिर्विश्वरूपैकपाश त्रिमार्गभेद द्विनिमित्तैकमोहम्॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।४)। शतार्धार का अर्थ हे 'जिसमे ५० तीलियाँ हो।' सा० का० (४६-४७) ने बुद्धिसर्ग के ५० भेदो की ओर सकेत किया है। आठ मोलिक तत्त्व हे, यथा—प्रकृति, महत्, अहकार एव पाँच तन्मात्राएं। 'साख्य सख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते।' मत्स्य० (३।२९)। और देखिए शान्ति० (२९४।४१)।

है वह दार्शनिक पद्धति जिसमे २५ तत्त्वो (प्रकृति, पुरुष एव अन्य) की धारणा है। इसी अर्थ मे यह शब्द एक वार गीता (१८।१३ साख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि) मे भी प्रयुक्त हुआ है। मत्स्य० ने भी साख्य के इस स्वरूप पर वल दिया है।

अमरकोश के अनुसार 'सख्या' का एक अन्य अर्थ भी है (चर्चा सख्या विचारणा), यथा—बौद्धिक जांच या विचार करना, और 'साख्य' शब्द की व्युत्पत्ति इससे की जा सकती है 'बौद्धिक जाँच या विचारणा की पद्धति', इसका पुल्लिग मे दार्शनिक अर्थ है, 'तदधीते तद्वेद' (पा० ४।२।४६), जिसका अर्थ है, 'साख्य वेद' ('सख्या सम्यग् बुद्धि-र्वैदिकी तया वर्तन्ते इति साख्या' भामती, वे० सू० भाष्य, २।१।३)। भामती ने दूसरे अर्थ मे इसे प्रयुक्त किया है। सामान्य अर्थ मे साख्य का अर्थ है 'तत्त्वविज्ञान' (अन्तिम तत्त्व का ज्ञान, जिसमे वेदान्त भी सम्मिलित है) या 'वह व्यक्ति जो अन्तिम तत्त्व को जानता है।' 'साख्य' शब्द का प्रयोग भगवद्गीता मे बहुधा तत्त्वविज्ञान (२।३९, ५।५, १३।२४) एव तत्त्वज्ञानी (३।३, ५।५) के अर्थ मे हुआ है।

कुछ अति प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो मे कारिका के साख्यसिद्धान्तो के समान कुछ तत्त्वो का उल्लेख मिलता है। अश्वघोष के बुद्धचरित (अध्याय—१२।१७) मे अराड एव गौतम (भावी बुद्ध) की बातचीत मे प्रकृति, पाँच तत्त्वो, अहकार, बुद्धि, इन्द्रियो, ज्ञान के पदार्थो आदि का उल्लेख है। यद्यपि तत्त्वो का उल्लेख हुआ है किन्तु साख्य के सिद्धान्तो से अन्य बाते मेल नही खाती।

चरकसहिता (शारीरस्थान, अध्याय १, श्लोक १७, ३६, ६३-६६) मे कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जो साख्यकारिका की पद्धति से मेल खाते है और श्लोक १५१ ने योगियो एव साख्यो की ओर सकेत किया है, वहाँ मुक्त आत्मा को ब्रह्म मे विलीन होते बताया गया है। अत वह कठ एव श्वेताश्व० उपनिषदो के दर्शन के समान-सा है।

सुश्रुतसहिता (शारीरस्थान, अध्याय १, ३, ४-६, ८-९) ने साख्य पर प्रकाश डाला है और वह बुद्धचरित एव चरकसहिता की अपेक्षा साख्य सिद्धान्त के बहुत सन्निकट है।[३४]

हमने इस अध्याय के आरम्भ मे ही देख लिया है कि मनु आदि के ग्रन्थो मे प्रधान के सिद्धान्त की ओर सकेत मिल जाता है। मनु (१।१५) ने सृष्टि की चर्चा करते हुए महान्, तीन गुणो, पाँच इन्द्रियो एव उनके पदार्थों का उल्लेख किया है। मनु (१।२७) ने पाँच तत्त्वो की पाँच तन्मात्राओ का उल्लेख किया है। मनुस्मृति (१२।२४) मे सत्त्व, रज एव तम का उल्लेख है, और देखिए १२।२६, २९, ३०-३८, १२।४०, मनु मे आया है कि जो सत्त्वगुणी होते है वे देव हो जाते है, जो रजोगुणी होते है वे मानव हो जाते है तथा जो तमोगुणी होते हैं वे हीन पशु हो

३४ सर्वभूताना कारणमकारण सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगत सम्भवहेतुरव्यक्त नाम। तदेक वहूना क्षेत्रज्ञानामधिष्ठान समुद्र इवौदकाना भावानाम्। सुश्रुत० १।३, तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति। सुश्रुत १।४; तत्र बुद्धीन्द्रियाणि शब्दादयो विषया कर्मेन्द्रियाणा वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि। सुश्रुत १।५, अव्यक्त महान-हकार पञ्च तन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतय, शेषाश्च षोडश विकारा ॥६, तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्ग पुरुष पञ्च-विंशतितम कार्यकारणसयुक्तश्चेतयिता भवति। सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुष कैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति। १।८, मिलाइए सा० का० (५७) 'वत्सविवृद्धिनिमित्त क्षीरस्य यथा प्रवृत्ति-रज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्त तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य॥'

जाते है।[३५] मनु (१२।५०) ने महान् एव अव्यक्त का उल्लेख किया है। याज्ञ० (३।६१-६२) ने ज्ञानेन्द्रियो के पाँच पदार्थों, पाँच ज्ञानेन्द्रियो, पाँच कर्मेन्द्रियो एव मन (कुल १६) का उल्लेख किया है, इन १६ को अहकार, बुद्धि, पाँच तत्त्वो, क्षेत्रज्ञ एव ईश्वर के साथ याज्ञ० (३।१७७-१७८) मे उल्लिखित किया गया है तथा बुद्धि को अव्यक्त से, अहकार को बुद्धि से, तन्मात्राओ को अहकार से उत्पन्न माना गया है और इसी प्रकार पाँच तत्त्वो के पाँच गुणो (शब्द, स्पर्श आदि) की तथा तीन गुणो की चर्चा है।

इस अध्याय के आरम्भ मे हमने देख लिया है कि शकराचार्य के मतानुसार धर्म के सूत्रकार देवल ने साख्य पद्धति को स्वीकार किया है। इस पर हम यहाँ पर सक्षेप मे विवेचन उपस्थित करेगे। अपरार्क (याज्ञ० ३।१०९) ने देवल से एक लम्बा उद्धरण लिया है, जो यह कहने के उपरान्त कि मानव जीवन के दो लक्ष्य (पुरुषार्थ) है, यथा अभ्युदय एव नि श्रेयस तथा नि श्रेयस मे साख्य एव योग का समावेश है, साख्य की परिभाषा करता है कि साख्य मे २५ तत्त्व पाये जाते हे तथा योग मे मन को इन्द्रियो के पदार्थों से पृथक् खीचकर वाछित लक्ष्य पर स्थिर करना होता है। देवल ने पुन कहा है कि दोनो का फल अपवर्ग ही हे, जिसका तात्पर्य है जन्म एव मरण के दु खो से पूर्ण मुक्ति। उस उद्धरण मे पुन आगे आया है कि प्राचीन मुनियो द्वारा साख्य एव योग के विषय मे युक्तिसगत एव परम्परानुगत विशाल एव गम्भीर तन्त्र प्रणीत किये गये है। साख्यो मे ये तत्त्व पाये जाते है, यथा—मूल प्रकृति, सात कोटियाँ जो प्रकृतियाँ एव विकृतियाँ दोनो है, पाँच तन्मात्राएँ, १६ विकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेद्रियाँ, पाँच इन्द्रिय-पदार्थ, पाँच तत्त्व, १३ करण, जिनमे तीन तो अन्त करण है, पाँच प्रकार के विपर्यय, २८ प्रकार की अशक्ति, ९ प्रकार की तुष्टि, आठ प्रकारकी सिद्धियाँ, इस प्रकार कुल ५० प्रत्ययभेद है और दस मौलिक तत्त्व है, यथा—अस्तित्व आदि।

लक्ष्मीधर का निबन्ध कृत्यकल्पतरु भी, जो १२वी शती के प्रथम चरण मे प्रणीत हुआ है, देवल के धर्मसूत्र से उद्धरण देता है जो अपरार्क के उद्धरण से बहुत कुछ मिलता है।

अपरार्क एव कृत्यकल्पतरु (मोक्षकाण्ड) ने साख्य पद्धति पर यम के उद्धरण लिये है। यम ने २५ तत्त्वो के उल्लेख के उपरान्त पुरुषोत्तम को २६वाँ तत्त्व माना है।

पुराणो मे साख्य सिद्धान्तो पर लम्बे-लम्बे विवेचन पाये जाते हे। उदाहरणार्थ, विष्णुपुराण (१।२।१९-२३, २५-६२, ६।४।१३-१५, १७, ३२-४०) मे साख्य सिद्धान्तो का उल्लेख है जिसे कृत्यकल्पतरु (मोक्ष-काण्ड, पृ० १०२-१०८) ने उद्धृत किया है। किन्तु इस पुराण मे परमात्मा (यहाँ विष्णु) को सब तत्त्वो का आश्रय माना गया है। और देखिए विष्णुपुराण (१।२।२२-२३, २८-२९, ६।४।३९-४०)।

बहुत से पुराणो ने साख्य सिद्धान्तो की विशद व्याख्या उपस्थित की है। किन्तु स्थानाभाव से हम उनकी चर्चा यहाँ नही कर सकेगे। मत्स्य० (३।१४-२९) प्रकृति, गुणो एव २५ तत्त्वो से आरम्भ करता है और कहता है कि ब्रह्मा, विष्णु एव महेश्वर है तो एक किन्तु वे गुणो की क्रिया के कारण पृथक् प्रकट हुए। अन्त मे निष्कर्ष दिया गया है कि साख्य का उद्घोष कपिल आदि ने किया। और देखिए ब्रह्मपुराण (१-३३-३५, ३३।३-४, २४२, ६०-७०, ७९-७५), पद्मपुराण (पातालखण्ड ८५।११-१८, सृष्टिखण्ड, २।८८-

३५ बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात्ततोहङकारसम्भव । तन्मात्रादीन्यहकारादेकोत्तरगुणानि च ॥ याज्ञ० (३।७९), मिलाइए सत्त्व ज्ञान तमोऽज्ञान रागद्वेषौ रज स्मृतम्। मनु० (१२।२६) एव सा० का० (१३) तथा गीता (१४।६-८) एव याज्ञ० (३।१३७-१४०)।

१०३), कूर्मपुराण (१।४।१३-३५, २।७।२१-२६), मार्कण्डेयपुराण (४२।३२-६२), ब्रह्माण्डपुराण (४।३।३७-४६, २।३२।७१-७६), भागवतपुराण (प्रो० दासगुप्त की इण्डियन फिलॉसफी, खण्ड ४, पृ० २४-४८ एव श्री सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, जे० बी० आर० एस्, १९५०, पृ० ९-५०) के स्कन्ध ३ का अ० २६, वराह-पुराण (बिब्लियोथिका इण्डिका, १८९३) आदि। कवि कालिदास एव बाण ने भी साख्य सिद्धातो एव शब्दो का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, कुमारसम्भव (२।४, रघुवश (१०।३८, ८।२१), कादम्बरी (प्रथम श्लोक)।

तन्त्र भी साख्य सिद्धान्तो से प्रभावित है। देखिए शारदातिलक।

जब शान्तिपर्व (२९०।१०३-१०४=३०१।१०८-१०९, चित्रशाला प्रेस सस्करण) यह उद्घोष करता है कि वेदो, साख्य, योग, विभिन्न पुराणो, विशद इतिहासो, अर्थशास्त्र मे जो कुछ ज्ञान पाया जाता है तथा इस विश्व मे जो कुछ ज्ञान है वह साख्य से निष्पन्न है, तो यह केवल दर्पोक्ति मात्र नही है। साख्य सिद्धान्त के विकास एव इसके स्वरूपो के निष्पक्ष अध्ययन के लिए देखिए डा० वेहनन का ग्रन्थ 'योग' (अध्याय ४, पृ० ६३-९१)।

अध्याय ३२

योग एव धर्मशास्त्र

उपनिषदो, महाभारत, भगवद्गीता तथा पुराणो मे साख्य एव योग का उल्लेख एक साथ हुआ है, और उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी इन ग्रन्थो मे समान ही रहा है। श्वेताश्व० उप० (६।१३), वनपर्व (२।१५), शान्तिपर्व (२२८।२८, २८६।१, ३०६।६५, ३०८।२५, ३२६।१००, ३३६।६६[1], अनुशासनपर्व (१४। ३२३), भगवद्गीता (५।४-५), पद्मपुराण (पातालखण्ड, ८५।११) मे दोनो एक साथ उल्लिखित है।

यद्यपि साख्य ने विश्व-विकास के विभिन्न रूपो के सम्बन्ध मे विवेचन करने वाले सभी ग्रन्थो को प्रभावित किया है, किन्तु इसे भारत मे उतना सम्मान एव आदर न प्राप्त हो सका, जितना योग को मिला अथवा अब भी मिलता है। योग शब्द 'युज्' (जोडना या मिलाना, रुधादि वर्ग की धातु) से निष्पन्न हुआ है। योग के बीज ऋग्वेद मे भी पाये जाते है। ऋग्वेद (५।८१।१) मे आया—'विज्ञलोग, पुरोहित एव यजमान अपने मनो को केन्द्रित करते है और प्रार्थनाओ को विज्ञ, महान् (सविता) मे वे लगाते है, जो सभी प्रार्थनाओ को जानने वाला है।' एक अन्य वैदिक मन्त्र भी मन के लगाने की बात करता है। 'योग' शब्द कई अर्थो मे ऋग्वेद मे प्रयुक्त हुआ है। सायण ने कई वचनो मे 'योग' का अर्थ 'जो पहले से प्राप्त न हो उसे प्राप्त करना' के रूप मे (ऋ० १।५२) लिया है। ऋ० (१।१८।७) मे सदसस्पति (अग्नि) देव से यजमानो की प्रार्थनाओ (या विचारो) मे विराजमान रहने को कहा गया है। ऋ० (१।३४।६) मे इसका तात्पर्य है 'युग या जुआ मे लगाना' (कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञ नासत्योपयाथ)। 'योग' शब्द बहुधा 'क्षेम' के साथ (ऋ० ७।५४।३, ७।८६।८ मे पृथक् रूप से) आया है या सामासिक रूप मे (ऋ० १०।१६६।५, योगक्षेम व आदायाह भूयासमुत्तम)। प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद मे प्रयुक्त 'योग' शब्द के अर्थ तथा कुछ उपनिषदो एव उत्तम सस्कृत-ग्रन्थो मे प्रयुक्त 'योग' के अर्थ मे बहुत लम्बे काल की दूरी पड जाती है। ऋ० (१०।१३६।२-३) मे वातरशन के पुत्रो, मुनियो की चर्चा है, जो गन्दे एव पिंगल वस्त्र धारण करते थे और कहते थे कि 'हम अपने जीवन के ढग से अति आह्लादित है, उसी प्रकार प्रसन्न है जैसे कि मुनि लोग वायुओ का आश्रय लेते है, हे मरणशील लोगो, तुम केवल हमारे शरीर को देखते हो।' यह प्रकट करता है कि अति प्राचीन काल मे भी कुछ लोग तप करते थे, वे अपने वस्त्रो की चिन्ता नही करते थे और ऐसा सोचा करते थे कि उनका आत्मा वायु मे विलीन हो जायगा (अर्थात् आत्मा अरूप है और अदृश्य होता है)। ऋ० (८।१७।१४) मे इन्द्र को मुनियो का मित्र कहा गया है और मुनि को प्रत्येक देवता का मित्र कहा गया है (१०।१३६।४)। किन्तु 'यतियो' की स्थिति कुछ पृथक् थी। 'यति' शब्द ऋग्वेद मे कई बार आया है, किन्तु अधिकाश मे वह शब्द 'सन्यासी' से

१ पञ्चविंशतितत्त्वानि तुल्यान्युभयत सम्म्। योगे साख्येपि च तथा विशेषास्तत्र मे शृणु॥ शान्ति० (२२८।२८-२३६।२६, चित्रशाला)।

कोई सम्बन्ध नही रखता। ऋ० (८।३।९) मे ब्रह्मा पुरोहित का कथन है—'जिसके द्वारा यतियो से भृगु को धन दिया गया, और जिसके द्वारा तुमने प्रस्कण्व की सहायता (या रक्षा) की।' यहाँ पर इन्द्र यतियो के विरोध मे है। ऋ० (८।६।१८) मे ऋषि का कथन है—'हे वीर इन्द्र, यतियो एव भृगुओ मे, जिन्होने तुम्हारी प्रार्थना की है, केवल मेरी ही प्रार्थना सुनो।' यहाँ सायण ने व्याख्या की है—'यतय अगिरस ।' जो भी हो, यहाँ यति लोग इन्द्र के भक्त की भाँति प्रदर्शित हैं। किन्तु अन्य सहिताओ मे ऐसा कहा गया है कि इन्द्र ने यतियो को भेडियो या वृको के लिए फेक दिया। आगे चलकर 'यति' शब्द के अर्थ मे परिवर्तन हो गया। इन सहिता-वचनो मे 'यति' लोग वैदिक कृत्यो के विद्वेषी-से लगते हैं, किन्तु उन्होने क्या किया, जिसके कारण इन्द्र को उनकी हत्या करने वाला कहा गया, यह स्पष्ट नही हो पाता। अथर्ववेद (२।५।३) मे इन्द्र को वृत्र का वैसा ही घातक कहा गया है जैसा कि यतियो का। कुछ उपनिषदे ऐसा प्रकट करती हे कि 'यति' ऐसे व्यक्ति थे जिन्होने सासारिक कर्म छोड दिये थे, जो योगाभ्यास करते थे और आत्मज्ञान के लिए प्रयास करते थे तथा ब्रह्मज्ञानी होते थे। देखिए इस विषय मे मुण्डकोपनिषद् (३।१।५, य पश्यन्ति यतय क्षीणदोषा, एव ३।२।६, सन्यास योगाद्यतय शुद्धसत्त्वा)। हावर (डाई अन्फ़ैंजे डर योग-प्रैक्सिसे, १९२२, पृ० ११) के समान कुछ लोगो का कथन है कि अथर्ववेद (मण्डल १५) मे वर्णित व्रात्य लोग क्षत्रिय जाति के आनन्दी जीव थे और योगियो के पूर्वभावी थे।

कुछ उपनिषदो मे 'योग' शब्द उसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है जैसा वह योगसूत्र मे प्रयुक्त है। कठोपनिषद् (२।१२) मे ऐसा आया है[२] 'विज्ञ लोग योग द्वारा परमात्मा का ध्यान करके तथा मन को अन्तरात्मा मे स्थिर करके आनन्द एव चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं' (अध्यात्मयोगाधिगमेन)। वही उपनिषद् कहती हे कि ६।२ मे वर्णित स्थिति को ही योग कहते है, क्योकि उसमे इन्द्रियाँ (तथा मन एव बुद्धि) स्थिर एव सयमित रहती है। कठोपनिषद् (६।१८) मे आया है कि नचिकेता ने यम द्वारा प्रवर्तित योगविधि एव विद्या को जानकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। 'योग' शब्द तै० उप० (२।४) मे भी आया है, जहाँ विज्ञानमय आत्मा के विषय मे कहते हुए योग को इसका आत्मा कहा गया है (जिसका वास्तविक अर्थ सदिग्ध है)। और देखिए श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।२ एव ४।१३)। प्रश्नोपनिषद् (५।५-६) ने 'ओम्' की तीन मात्राओ (अ, उ, म्) का उल्लेख किया है। श्वेताश्व० उप० (१।३) मे 'ध्यानयोग' शब्द आया है। श्वेताश्व० उप० (२।८-१३) मे 'आसन' एव 'प्राणायाम' का उल्लेख हे तथा सफल योगाभ्यास के लक्षण प्रकट किये गये है। छान्दोग्योपनिषद् (८।१५) ने सम्भवत 'प्रत्याहार' (यद्यपि यह शब्द प्रयुक्त नही हुआ है) की ओर निर्देश किया है, यथा—'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि प्रतिष्ठाप्य' (सभी इन्द्रियो को आत्मा मे प्रतिष्ठापित करके)। प्रतीत होता है, बृ० उप०' (१।५।२३) ने प्राणायाम की ओर सकेत किया है—(तस्मादेकमेव व्रत चरेत् प्राण्याच्चैव अपा-

२ ता योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। कठोपनिषद् (६।२), मृत्युप्रोक्ता नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेता योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥ कठ० ६।१८। इस अन्तिम मे महत्त्वपूर्ण शब्द हैं 'कृत्स्न योगविधिम्', भावना यह हे कि कठोपनिषद् के काल तक योग का पूर्ण विकास हो चुका था, किन्तु उस उपनिषद ने इसे विस्तार से उल्लिखित नही किया। आगे यह भी द्रष्टव्य हे कि 'एता विद्या' 'ब्रह्मविद्या' की ओर निर्देश करता हे और 'योगविधि' पृथक् रूप से, सम्भवत ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के साधन के रूप मे वर्णित है।

न्याच्च) 'उसे एक व्रत करना चाहिए, यथा साँस लेना एव साँस छोडना।' वेदान्तसूत्र (२।१।३) मे आया हे कि साख्य सिद्धान्त को हराने के लिए प्रयुक्त तर्क द्वारा योग भी हरा दिया गया हे (एतेन योग प्रत्युक्त)। शकराचार्य द्वारा उपस्थापित सारय-योग सम्बन्धी धारणा पहले ही व्यक्त कर दी गयी हे (गत अध्याय मे)। उन्होने पूर्वपक्ष मे यह व्यक्त किया हे कि वेद ने सम्यक् ज्ञान के लिए योग को एक साधन माना हे (बृ० उप० २।४।५)। उन्होने पुन कहा हे कि श्वेताश्व० उप० मे योग की व्याख्या विस्तार से हुई हे, जिसमे सर्वप्रथम (योगाभ्यास के लिए) उचित आसन का उल्लेख हे, यथा—'शरीर को सीधा रखकर तीन स्थानो को ऊँचा रखना, यथा छाती, गले एव सिर को (२।८)। शकराचार्य के इन शब्दो से कि योगशास्त्र मे भी योग को सम्यक् ज्ञान का साधन बताया गया है, यह प्रकट होता हे कि उनके समक्ष योगशास्त्र का ग्रन्थ था, जिसमे 'अथ योग' शब्द आये ये, किन्तु उन्होने 'योगसूत्र' शब्द का उल्लेख नही किया है, अत सम्भवत उन्होने योगसूत्र की ओर सकेत नही किया है। यदि कल्पना करने की छूट दी जाय तो यह कहा जा सकता है कि सम्भवत शकराचार्य ने 'योगशास्त्र' शब्द से याज्ञवल्क्य द्वारा लिखे गये तथाकथित योगशास्त्र (याज्ञ० स्मृति ३।११०, योगशास्त्र च मत्प्रोक्त) की बात कही है। शकराचार्य (वे० सू० २।१।३) ने यह स्वीकार किया है कि योग का एक भाग उन्हे मान्य है, किन्तु अन्य भागो का वेद से विरोध है। मुण्डकोपनिषद् (२।२।६) ने शकराचार्य के मत से 'ओमिति ध्यायथ आत्मानम्' शब्दो मे 'समाधि' की व्यवस्था दी है। उपनिषदो मे 'मुनि' एव 'यति' शब्दो का एक ही अर्थ है, यथा—बृ० उप० (४।४।२२) मे आया हे—'इस आत्मा के ज्ञान के उपरान्त व्यक्ति मुनि हो जाता हैं', किन्तु मुण्डकोपनिषद् (३।१।५) मे आया है—'सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान तथा सभी समयो मे ब्रह्मचर्य व्रत से इस आत्मा की अनुभूति होती है, आत्मा इस शरीर के भीतर (अन्त मे) (प्रकाश के समान) निवास करता है, वह पवित्र हे, उसे केवल पवित्र मुनि ही जानते हे।[3] कठोपनिषद् (३।१३) मे आया है कि विज्ञ व्यक्ति को मन मे वाणी (वाणी एव मन, जैसा कि मूल मे आया है) को सयमित करना चाहिए, उसे महान् आत्मा के भीतर ज्ञान को रखना चाहिए, और जो शान्त है उस महान् को आत्मा के भीतर रखना चाहिए। इस प्रकार उपनिषदे 'योग' शब्द का न केवल प्रयोग

३ एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्त प्रव्राजन्ति। बृह० उप० (४।४।२२), देखिए कठ० (४।१५)—'यथोदक मुनेर्विजानत आत्मा भवति गोतम।' कौषीतकि-उप० (२।१५) मे 'परि वा व्रजेत्' आया है। अन्य उपनिषदो मे 'परिव्राजक' शब्द नहीं आया है। पाणिनि के काल मे यह शब्द सबको ज्ञात था, यथा—'मस्कर-मस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयो' (६।१।१५४), जिसमे ऐसा कहा गया हे कि 'मस्कर' का अर्थ हे बाँस का दण्ड (डण्डा) ओर 'मस्करिन्' का परिव्राजक। महाभाष्य ने टीका की है कि 'मस्करिन्' को वैसा इसलिए नही कहा जाता कि वह अपने हाथ मे बॉस क। दण्ड लेकर चलता हे, प्रत्युत इसलिए कि वह लोगो को उपदेश देता हे कि वे अपने वाछित पदार्थो की प्राप्ति के लिए क्रियाएँ न करें, लोगो के लिए निश्चलता अपेक्षाकृत अच्छी हे—'मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्व श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजक।' कामक्रोधवियुक्ताना यतीना यतचेतसाम्। अभितो ब्रह्मनिर्वाण वर्तते विदितात्मनाम्॥ गीता (५।२६), यच्छेद्वाङमनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ कठ० (३।१३)। शंकराचार्य (वे० सू० १।४।) ने व्याख्या की है—'वाच मनसि सयच्छेद् वागादिवाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणावतिष्ठेत्।' वे 'मनसी' को 'मनसि' के समान आर्षप्रयोग मानते हैं।

करती हैं, प्रत्युत योग के कुछ स्तरों एव उसकी पद्धति की भी व्यवस्था करती हैं, जिनके द्वारा परमात्मा की अनुभूति होती है। अड्यार से श्री ए० महादेव शास्त्री (१९२०) द्वारा लगभग २० योग-उपनिषदो का प्रकाशन हुआ है, किन्तु उनका तिथि-क्रम बहुत ही अनिश्चित है और उनमे अधिकाश महाभारत, मनु और सम्भवत योगसूत्र के पश्चात् प्रणीत हुई है, अत हम उन पर कुछ नही लिखेगे। उनकी ओर बहुत ही कम सकेत किया जायगा।[४]

पाणिनि ने 'यम' एव 'नियम' (जो योग के दो अग है) दो शब्दो, योग एव 'योगिन्' को 'युज्' धातु से 'घिनुण्' '(अर्थात् इन्) प्रत्यय के साथ निष्पन्न माना है।'[५]

आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।८।२३।३-६) ने एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसका अर्थ यो है—इस जीवन मे दोषो का सम्पूर्ण नाश योग से होता है, विज्ञ व्यक्ति उन दोषो का जो सभी प्राणियो को हानि पहुँचाते है, मूलोच्छेद करके शान्ति (मोक्ष) की प्राप्ति करते है। इस धर्मसूत्र ने १५ दोषो का उल्लेख किया है, यथा क्रोध, काम, लोभ, कपट आदि, जिनका नाश योग से होता है। उसमे इन दोषो के विरोधी गुणो का भी उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि ई० पू० चौथी या पाँचवी शताब्दी मे मन को अनुशासित करने के लिए योग नाम का अनुशासन पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका था।

वे०सू० (२।१।३) से झलकता है कि सूत्रकार के समक्ष योग-सिद्धान्तो का एक वर्ग उपस्थित था, जिनमे कुछ साख्य के अनुरूप थे। सूत्रकार को 'समाधि' का ज्ञान था (वे० सू० २।३।३९)। इतना ही नही, वे० सू० (४।२।२१) ने योगियो का उल्लेख किया है और साख्य एव योग को स्मार्त (श्रौत नही) रूप मे पृथक् माना है। शकराचार्य ने वे० सू० (१।३।३३) की टीका मे योगसूत्र (२।४४—स्वाध्यायादिष्ट-देवतासप्रयोग) को उद्धृत किया है और वे० सू० (२।४।१२) मे सम्भवत उन्होने स्वीकार किया है कि योगसूत्र वेदान्तसूत्र के पहले प्रणीत हुआ। उन्होने उस सूत्र की दूसरी व्याख्या मे योगसूत्र (१।६) को उद्धृत किया है।

४ योग-उपनिषदें पश्चात्कालीन कृतियाँ हैं, इस पर सक्षेप मे यहाँ कहा जा रहा है। गोरक्षशतक के श्लोक १०-१४ (जो आधार एव स्वाधिष्ठान चक्रो का वर्णन करते हैं) ध्यानबिन्दु० (श्लोक ४३-४७) एव योगचूडामणि (श्लोक ४-९) मे थोडे अन्तर के साथ पाये जाते हैं। प्राणायाम के वर्णन मे शाण्डिल्य उपनिषद् ने 'तदेते श्लोका भवन्ति' के साथ कुछ ऐसे श्लोक उद्धृत किये है, जिनमे कुछ गोरक्षशतक मे पाये जाते हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शाण्डिल्य ने गोरक्षशतक से उधार लिया है, किन्तु ऐसा सम्भव है। योग की विभिन्न शाखाओ पर सभी प्राचीन एव मध्यकालीन ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं और इसलिए इस बात की सम्भावना हो सकती है कि शाडिल्य एव अन्य योग उपनिषदो ने किसी ऐसे प्राचीन ग्रन्थ से उद्धरण लिये हो जो अभी तक प्रकाश मे नही आ सका है।

५ यम समुपनिविषु च पा० (३।३।६३), एषु अनुपसर्गे च यमेरप् वा। नियम नियाम। यम याम। सि० कौ०। 'याम' का अर्थ है प्रहर (पूरे दिन का १/८ भाग), जब कि 'यम' का अर्थ है 'नियन्त्रण' 'यम्यते चित्त अनेन।' पाणिनि (३।२।१४२) पर काशिका की टिप्पणी है—'युज् समाधौ दिवादि। युजिर योगे रुधादि। द्वयोरपि ग्रहणम्।'

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है--क्या वेदान्तसूत्र के लेखक ने योगसूत्र की ओर सकेत किया है ? प्रस्तुत लेखक का मत है कि ऐसी बात नही है। किन्तु वेदान्तसूत्र ने योग के सिद्धान्तो की ओर अवश्य सकेत किया है, जो कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर एव अन्य उपनिषदो के पूर्व विकसित हो चुके थे ।

शान्तिपर्व मे उल्लिखित है कि साख्य के वक्ता परमर्षि (सबसे बडे ऋषि) कपिल थे, हिरण्यगर्भ योग के प्राचीन ज्ञाता थे, कोई अन्य इसे जानने वाला नही था, अपान्तरतमा वेदाचार्य थे जिन्हे कुछ लोग प्राचीनगर्भ ऋषि कहते थे।[६] गत अध्याय मे कहा गया है कि साख्य, योग, वेदारण्यक एव पञ्चरात्र एक हैं और एक-दूसरे के अग हैं। शान्ति० (३२६।६५)मे हिरण्यगर्भ को योगशास्त्र से सम्बन्धित कहा गया है । अनुशासन० (१४।३२३, जहाँ उपमन्यु ने महादेव से कहा है) मे सनत्कुमार को योग का उसी प्रकार प्रवर्तक कहा गया है जिस प्रकार कपिल को साख्य का।[७] अहिर्बुध्न्यसहिता (१२।३२-३) मे आया है कि हिरण्यगर्भ ने सर्वप्रथम दो योग सहिताओ की व्याख्या की, जिनमे एक का नाम था 'निरोधयोग' तथा दूसरी का कर्मयोग, निरोधयोग को पुन १२ भागो मे बाँटा गया था। भामती ने वे० सू० (२।७।३) पर लिखा है कि इस सूत्र ने हिरण्यगर्भ एव पतञ्जलि के योगशास्त्र की प्रामाणिकता को पूर्णरूपेण समाप्त नही किया है। विष्णुपुराण ने सम्भवत हिरण्यगर्भ के दो श्लोक उद्धृत किये है। वाचस्पति ने अपनी टीका (योगसूत्र १।१) मे कहा है कि योगी-याज्ञवल्क्य ने हिरण्यगम को योग का उद्घोषक माना है। वाचस्पति ने पतञ्जलि के योगसूत्र को योग—याज्ञवल्क्य-स्मृति से पश्चात्कालीन माना है । अत यह प्राय निश्चित-सा है कि वे० सू० ने उस योग-पद्धति के, जो शान्तिपर्व को विदित थी, सिद्धान्तो का खण्डन किया हे।

शल्यपर्व (अध्याय ५०) मे महान् भिक्षु योगी जैगीषव्य की तथा सारस्वत-तीर्थ पर रह रहे असित नामक गृहस्थ की गाथा कही गयी है। शान्तिपर्व (अध्याय २२२, चित्रशाला २२९) मे जैगीषव्य एव असित के बीच सयोग के विषय मे एक लम्बा सवाद पाया जाता है, जिसका एक श्लोक यहाँ उद्धृत किया जाता है—'निन्दाप्रशसे चात्यर्थं न वदन्ति परस्य ये। न च निन्दाप्रशसाभ्या विक्रियन्ते कदाचन', जिसका अर्थ है 'योगी लोग अन्य लोगो की निन्दा एव प्रशसा के रूप मे बातचीत नही करते और न अन्य लोगो द्वारा की गयी निन्दा एव प्रशसा से उनके मन कभी प्रभावित ही होते हैं।' उसी अध्याय मे जैगीषव्य को ऐसे व्यक्ति के रूप मे उल्लिखित किया गया है जो न तो कभी क्रोधी होता और न कभी आह्लादित होता है। वराहपुराण (४।१४) मे आया है कि कपिल एव योगिराज जैगीषव्य राजा अश्वशिरा के पास, जिन्होने अश्वमेध के उपरान्त अवभृथ स्नान कर लिया था, आये और

६ योग नाना मतानि वै ॥ साख्यस्य कपिल परमर्षि स उच्यते । हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता ( ) नान्य पुरातन ॥ अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्य स उच्यते। प्राचीनगर्भं तमृषि प्रवदन्तीह केचन ॥ शान्ति० (३३७।५९–६१, चित्रशाला प्रेस सस्करण ३४९।६४–६५)। और देखिए 'साख्य योग पञ्चरात्र वेदारण्यकमेव च ॥ ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति हि ॥ शान्ति० (३३७।१), एवमेक साख्ययोग वेदारण्यकमेव च ॥ परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्र च कथ्यते। एष एकान्तिना धर्मो नारायणपरात्मक ॥ शान्ति० (३३६।७६, चित्रशाला सस्करण ३४८।८१–८२)। सम्भवत 'वेदारण्यक' बृहदारण्यक एव छान्दोग्य उपनिषदों की ओर सकेत करता है, जिनमे 'निदिध्यास', जीव एव ब्रह्म की अभिन्नता, यथा—'तत्त्वमसि' जैसे बचन आये हैं। वायुपुराण मे परमर्षि की परिभाषा यो दी हुई है—'निवृत्तिसमकाल तु बुद्धयाऽव्यक्तमृषि । पर हि ऋषते यस्मात्परमर्षिस्तत स्मृत ॥ (५९–६०), देखिए यही श्लोक ब्रह्माण्ड० (३।३२।८६) मे।

(७) सनत्कमारो योगाना कपिलो ह्यसि। अनुशासन० (१४।३२३)।

क्रम से विष्णु एव गरुड के रूपो मे परिवर्तित हो गये। यह द्रष्टव्य है कि योगसूत्र (२।५५) के भाष्य ने कतिपय मत प्रकाशित किये हैं, किन्तु जैगीषव्य के मत को प्रमुखता दी है। यो० सू० (३।१८) के भाष्य ने आवट्य एव जैगीषव्य के सवाद का उल्लेख किया है और वहाँ जैगीषव्य का मत प्रकाशित किया गया है कि कैवल्य के दृष्टिकोण से सन्तोप का सुख भी दु ख ही है, यद्यपि इन्द्रियवासनाओ की तुलना मे सन्तोष सुख ही कहा जा सकता है।[८]

बुद्धचरित (अध्याय १२) मे आया है कि जब गौतम (भावी बुद्ध) अराड नामक दार्शनिक के पास पहुँचे तो उन्होंने गौतम से मोक्ष-सम्बन्धी अपनी भावना का उल्लेख किया और जैगीषव्य, जनक एव वृद्ध-पराशर को उन व्यक्तियो मे उल्लिखित किया जो उस मार्ग की सहायता से मुक्त हो चुके थे।

उपर्युक्त उक्तियो से प्रकट होता है कि जैगीषव्य ईसा के बहुत पूर्व ही योग के एक महान् आचार्य हो चुके थे और सम्भवत उन्होंने योग पर कोई ग्रन्थ लिखा जो अभी अनुपलब्ध है।

योगसूत्र (सम्पूर्ण का कुछ अश), पातजल भाष्य एव वाचस्पति की टीका के बहुत-से अग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हो चुके है, यथा—डा० राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा, जिसमे मूल एव राजमार्तण्ड नामक टीका है (बिब्लियोथिका इण्डिका, १८८३), स्वामी विवेकानन्द का राजयोग (खण्ड १, १९४६), जिसमे अनुवाद एव सूत्रो की व्याख्या है, डा० गगानाथ झा (बम्बई, १९०७), रामप्रसाद (पाणिनि आफिस, इलाहाबाद, १९१०), प्रो० जे० एच० वुड्स (हार्वर्ड ओरिएण्टल सीरीज, १९१४), जेराल्डाइन कोस्टरकृत 'योग एण्ड वेस्टर्न साइकोलॉजी (लन्दन, १९३४), पुरोहित स्वामीकृत अनुवाद (डब्लू० बी० यीट्स की भूमिका, फेवर एण्ड फेवर, लन्दन, १९३७), जिसमे सिद्धासन, बद्धपद्मासन, पश्चिमोत्तानासन, भुजङ्गासन, विपरीतकरणी एव मत्स्येन्द्रासन के चित्र दिये हुए है, कृष्णजी केशव कोल्हटकर कृत 'भारतीय मानस-शास्त्र' या 'पातञ्जल-योग-दर्शन' (प्रकाशक—के० बी० धवले, बम्बई, १९५१), जो एक विस्तृत ग्रन्थ है (१०५१ पृष्ठो मे)।

योग पर लिखे गये भारतीय एव पाश्चात्य लेखको के ग्रन्थो की सख्या बहुत अधिक है। उनमे बहुत-से प्रस्तुत लेखक द्वारा पढे नही जा सके है। कुछ पठित ग्रन्थो की सूची नीचे दी जा रही है। राजयोग (विवेकानन्द के ग्रन्थो का पूर्ण सग्रह, १९४६ मायावती, खण्ड १, पृ० ११९-३१३), डब्लू हॉप्किन्स कृत 'योग टेकनीक इन दि ग्रेट एपिक' (जे० ए० ओ० एस्, खण्ड २२, १९०१, पृ० ३३३-३७९), प्रो० एस्० एन्० दासगुप्त कृत 'योग ऐज ए फिलॉसॉफी एण्ड रिलिजन' (लन्दन, १९२४) एव 'योग फिलॉसॉफी' (कलकत्ता यूनि०, १९३०), डा० जे० डब्लू० हावर कृत 'डाई आन्फाजे डर योगप्रेक्सिस इम अल्टेन इण्डीन' (स्टुटगार्ट, १९२२), एव 'डर योग अल्स हील्वेग नच डेन इण्डीश्चेन क्वेलेन डर्गेस्तेल्त' (स्टुटगार्ट, १९३२), यह एक बडी सावधानी से लिखा गया क्रमबद्ध ग्रन्थ है, डा० राधाकृष्णन कृत 'इण्डियन फिलॉसॉफी (खण्ड २, पृ० ३३६-३७३, लन्दन, १९३१), डा० जे० जी० रेले कृत 'दि मिस्टिरिएस कुण्डलिनी (तारापोरवाला एण्ड सस, बम्बई, १९२७), फेलिक्स गुयोत कृत 'योग, दि साइस आव हेल्थ' (अग्रेजी अनुवाद, लन्दन १९३७, जिसमे हठयोग के सिद्धान्त प्रतिपादित है), डा० के० टी० बेहनन कृत 'योग, ए साइण्टिफिक इवैलुएशन' (मैक्मिलन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, १९३७), डब्लू० वाई० इवास-वेट्ज कृत' 'टिबेटन योग एण्ड सिक्रेट डॉक्ट्रिन' (आक्सफोर्ड, १९२७), पाल ब्रण्टनकृत 'ए सर्च इन सीक्रेट इण्डिया'

८ भगवाञ्जैगीषव्य उवाच। विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तम् सन्तोषसुखमुक्तम्। कैवल्य सुखापेक्षया दु ख-मेव। भाष्य (यो० सू० ३।१८)। सन्तोष पाँच नियमो मे एक है (यो० सू० २।३२)। यो सू० (२।४२) मे आया है—सन्तोषादनुत्तम सुखलाभ

(लन्दन, १६४७), पाल टुक्सेन कृत 'दि रिलिजस आव इण्डिया' (कोपेन हैगेन, १६४६), वर्नार्ड वूमेज कृत 'टिवेटन योग', एलैन डैनील कृत 'योग दि मेथड आव री-इण्टीग्रेशन' (लन्दन, १६४६), डब्लू० जी० इवास-वेट्ज कृत 'दि टिवेरेटन वुक आव दि ग्रेट लिवरेशन' (आक्सफोर्ड, १६५४), डा० राधाकृष्णन एव सी० ए० मूर कृत 'सोर्स वुक आव इण्डियन फिलॉसॉफी', मेसिया इलियादे कृत 'योग, इग्मॉर्टेलिटी एण्ड फ्रीडम' (लन्दन १६५८), प्रो० एस० एस्० गोस्वामी कृत 'हठयोग, ऐन एडवान्स्ड मेथड आव फिजिकल एजूकेशन एण्ड कॉसेण्ट्रेशन' (एल० एन० फाउलर, लन्दन १६५६), मौनी साधु कृत 'कॉन्स्ट्रेशन' (लन्दन, १६५६), ए० कोयेस्लर कृत 'दि लोटस एण्ड दि रॉवॉट' (लन्दन, १६६०)।

पतञ्जलि के योगसूत्र के वहुत-से सस्करण छपे है, जिनमे व्यास का भाष्य एव वाचस्पति की टीका (तत्त्व-वैशारदी) भी सम्मिलित है। प्रस्तुत लेखक सूत्र के केवल दो या तीन सस्करणो एव टीकाओ की ही चर्चा करेगा, जिनमे एक है प० राजाराम शास्त्री वोडस कृत सस्करण (निर्णयसागरप्रेस मे सुन्दर ढग से मुद्रित) और दूसरा है आनन्दाश्रम सस्करण, जिसमे वाचस्पति और राजा भोज की टीकाएँ है। काशी सस्कृत सीरीज मे योगसूत्र का प्रकाशन ६ टीकाओ के साथ हुआ है, यथा—भोजराज कृत **राजमार्तण्ड**, भावा-गणेश कृत **प्रदीपिका**, नागोजि भट्टकृत **वृत्ति**, रामानन्दयतिकृत **मणिप्रभा**, अनन्त-देवकृत **चन्द्रिका** एव सदाशिवेन्द्र सरस्वतीकृत **योगसुधाकर**। अन्य दर्शनो के सूत्रो की अपेक्षा योगसूत्र अति सक्षिप्त है। यह चार पादो मे विभाजित है, यथा—समाधि, साधना, विभूति एव कैवल्य। इसमे कुल १६५ सूत्र (५१+५५+५५+३४) है।

डा० राधाकृष्णन ने 'इण्डियन फिलॉसॉफी (खण्ड २, १६३१, पृ० ३४१-३४८) मे मत प्रकाशित किया है कि योगसूत्र का लेखक ३०० ई० के पश्चात् का नही हो सकता। प्रो० एस्० एन् दासगुप्त ने 'हिस्ट्री आव इण्डियन फिलॉसॉफी' (खण्ड १,पृ० २२६-२३८) मे दोनो पतञ्जलियो को एक माना है और कहा है कि योगसूत्र का लेखक ई० पू० दूसरी शती मे हुआ। जैकोवी एव उनकी वात को स्वीकार करने वाले कीथ का कथन है कि योगसूत्र (१।४०)[९] का वचन 'योगी का स्वामित्व परमाणु से लेकर महत्तत्त्व तक विस्तृत होता है' आज के विश्व के परमाणु-सिद्धान्त की ओर सकेत करता है। यह एक ऐसा उदाहरण है जो यह सिद्ध करता है कि पश्चिम के वडे वडे लेखक भी सीधे-सादे शब्दो मे पश्चात्कालीन सिद्धान्तो की गन्ध पाते है, जिसके फलस्वरूप वे प्राचीन ग्रन्थो को पश्चात्कालीन रचित कह देते है। उपनिषदो ने आत्मा को अणु से भी छोटा कहा है और उसे महान् से भी महान् कहा है, और यही वात महाभारत ने भी उसी शब्दावली मे कही है। यह समझने के लिए कोई प्रतीत्यात्मक प्रमाण नही है कि योगसूत्र ने उसी अणु-सिद्धान्त की ओर सकेत किया हे जिसे वैशेपिक सिद्धान्त मे प्रतिपादित किया गया है और न यही कहा जा सकता कि इसने उपनिषदो एव महाभारत के शब्दो का अन्वय मात्र किया है।

हमे उस आरम्भिक परम्परा पर भी विचार करना हे जो भोजदेव की टीका (सन् १०५५ ई० के पश्चात्

९ अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। कठोपनिषद् (२।२०), श्वे० उप० (३।२०), 'अणोरणीयो महतो महत्तर तदात्मना पश्यति युक्त आत्मवान्। शान्तिपर्व (२३२।३३), योगसूत्र (१।४०)—'परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार।' शब्दानामनुशासन विदधता पातञ्जले कुर्वता, वृत्ति राजमृगाङ्कसज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके। वाक्चेतोवपुष। मल फणिभृता भर्त्रेव येनोद्धृतस्तस्य श्रीरणरग मल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वला ॥ पर राजमार्तण्ड नामक वृत्ति का पाँचवाँ भूमिका-श्लोक।

को नही) मे वर्णित है तथा चरकसहिता की टीका (लगभग १०६० ई०) चक्रपाणि मे उल्लिखित है कि पतञ्जलि ने (जो शेष के अवतार कहे जाते है) व्याकरण, योग एव ओपधि पर ग्रन्थ लिखे ।[१०]

हम यहाँ पर दोनो पतञ्जलियो की समानुरूपता एव दोनो की तिथियो के प्रश्नो पर प्रकाश नही डाल सकते, क्योकि वह विषयान्तर हो जायगा। वास्तव मे दोनो को पृथक्-पृथक् सिद्ध करने के लिए अभी ,तक सुपुष्ट प्रमाण उपस्थित नही किये जा सके हैं। चरक के ग्रन्थ का सुधार पतञ्जलि द्वारा हुआ कि नही, यह अभी सदेहात्मक है। शान्तिपर्व मे चिकित्सा के प्रवर्तक कृष्णात्रेय कहे गये है न कि चरक या पतञ्जलि। चरकसहिता ने अध्यायो के आरम्भ मे 'इति ह स्माह भगवानात्रेय' लिखा है। चरक (१।१।२३) मे लिखित है कि मुनि भरद्वाज ने इन्द्र से आयुर्वेद का अध्ययन किया। उनके शिष्य थे पुनर्वसु आत्रेय, जिनके छह शिष्य थे, यथा—अग्निवेश, भेड, जातुकर्ण, पराशर, हारीत एव केशरपाणि। सर्वप्रथम अग्निवेश ने आयुर्वेद पर एक ग्रन्थ लिखा और उसे आत्रेय को सुनाया, ऐसा ही भेड आदि ने भी किया। चरकसहिता (१।११।७५) के 'त्रिस्रैपणीय' नामक अध्याय मे कृष्णात्रेय के तम विशेपत वर्णित हे। अत ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्णात्रेय उन आत्रेय से भिन्न हैं जो चरक के अध्यायो मे श्रद्धा-पूर्वक उल्लिखित हे।[११] यहाँ तक कि अश्वघोष के बुद्धचरित मे आत्रेय को वैद्यक शास्त्र का प्रथम प्रवर्तक कहा गया हे।[१२]

पतञ्जलि ने योग एव व्याकरण पर ग्रन्थ लिखे, यह एक परम्परा है जो भर्तृहरि के वाक्यपदीय से अपेक्षा-कृत पुरानी है। इस बात को तर्क द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। इस ग्रन्थ ने अपने प्रथम विभाग (ब्रह्मकाण्ड) मे लिखा है कि काय, वाणी एव बुद्धि मे जो मल (दोष) उपस्थित होते है वे वैद्यक (चिकित्सा), व्याकरण (लक्षण) एव अध्यात्म-शास्त्र द्वारा दूर किये जा सकते है।[१३] इसके उपरान्त इसने महाभाष्य की प्रशसा मे लिखा है—'अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्' (वाक्यपदीय २।४८५), जिस पर टीकाकार ने टिप्पणी की है कि ब्रह्म-काण्ड के श्लोक मे महाभाष्य का लेखक प्रशसित है और दूसरे श्लोक मे स्वय भाष्य की प्रशसा है। इससे प्रकट होता है कि टीकाकार के मत से वाक्यदीय ने वैद्यक, व्याकरण एव अध्यात्म (अर्थात् योग) शास्त्रो को पतञ्जलि द्वारा लिखित माना है।

१० पातञ्जल-महाभाष्य-चरकप्रतिसस्कृतै । मनोवाक्कायदोषाणा हर्त्रेऽहिपतये नम ॥ चरक की टीका का आरम्भिक श्लोक। इसी प्रकार का दूसरा श्लोक है—योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मल शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत्त प्रवर मुनीना पतञ्जलि प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥ विज्ञानभिक्षु के योग वार्तिक मे उल्लिखित।

११ वेदविद्वेद भगवान् वेदाङ्गानि बृहस्पति । भार्गवो नीतिशास्त्र च जगाद जगतो हितम् ॥ गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम् । देवर्षि चरितगार्ग्य कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम् । न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभि ॥ शान्ति० (२०३।१८–२०, चित्रशाला २१०।२०–२२)।

१२ चिकित्सित यच्च चकार नात्रि पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद ॥ बुद्धचरित (१।५०)। अश्वघोष को ईसा के पश्चात् दूसरी शती का माना जाता है।

१३ कायवाग्बुद्धिविषया ये मला समवस्थिता । चिकित्सा-लक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषा विशुद्धय ॥ वाक्य-पदीय (१।१४८), अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात् । वाक्यपदीय (२।४८५), तदेव ब्रह्मकाण्डे 'काय-वाग्बुद्धिविषया ये मला'—इत्यादिश्लोकेन भाष्यकारप्रशसा उक्ता, इह चैव भाष्यप्रशसेति शास्त्रस्य शास्त्रकर्तुश्च टीकाकृता महत्तोपवर्णिता। हेलाराज की टीका।

यदि यह माना जाय कि योगसूत्र एव महाभाष्य के लेखक भिन्न व्यक्ति है, तो यह मानने के लिए हमारे पास कोई स्पष्ट तर्क नही है कि योगसूत्र के लेखक की तिथि ईसा के पश्चात् दूसरी या तीसरी शती के उपरान्त की है। योगसूत्र की तिथि की जानकारी के लिए व्यास के योगभाष्य की तिथि अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु योगभाष्य की तिथि का प्रश्न भी विवादास्पद है। योगभाष्य के रचयिता व्यास महाभारत के व्यास से भिन्न व्यक्ति है।

वाचस्पति मिश्र जैसे आरम्भिक टीकाकारो के मतानुसार योगसूत्र के लेखक पतञ्जलि कहे गये है। उन पतञ्जलि के काल और पाणिनि-व्याकरण के वार्तिकलेखक एव उस पर लिखे गये महाभाष्य लेखक पतञ्जलि की समानुरूपता के विषय मे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते है। वैयाकरण पतञ्जलि सामान्यत ई० पू० लगभग १५० मे वर्तमान कहे जाते है। इसी से योगसूत्र की तिथि के लिए समानुरूपता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो जाता है । कुछ विद्वान्, यथा— प्रो० बी० लाइबिख, डा० हावर एव प्रो० दासगुप्त दोनो पतञ्जलियो को एक ही मानते हैं, किन्तु कुछ अन्य विद्वान्, यथा—जैकोबी, कीथ, वुड्स, रेनौ इस मत के विरुद्ध है। प्रो० रेनौ (इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द १६, पृ० ५८६-५९१) ने इस प्रश्न पर व्याकरण की दृष्टि से प्रकाश डाला है और कहा है कि 'प्रत्याहार', 'उपसर्ग', 'प्रत्यय' के समान योगसूत्र मे कुछ ऐसे शब्द है जो महाभाष्य द्वारा निर्धारित अर्थो से भिन्न है । किन्तु दोनो ग्रन्थो के विषय भिन्न है, एक ही प्रकार के शब्द विभिन्न अर्थ रख सकते है। इसी प्रकार प्रो० रेनौ व्याकरण-सम्बन्धी नियमो के उल्लघन की बात भी कहते है (योगसूत्र १।३४ मे), जब कि महाभाष्य के पतञ्जलि पाणिनि के नियमो के परिपालन मे बडे कठोर है (स्वय पाणिनि ने कही-कही अपने नियमो का पालन नही किया है, यथा—१।४।५५ एव २।२।१५)। किन्तु बात ऐसी नही है। पतञ्जलि ने भी 'अव्यविकन्याय' के स्थान पर 'अविरविक न्याय' प्रयोग किया है, जिसके लिए उनकी आलोचना की गयी है। ऐसा नही कहा जा सकता कि योगसूत्र ने ही सर्वप्रथम योग के परिभाषिक शब्दो को निश्चित कर दिया था। योग के पारिभाषिक शब्द उपनिषद्-काल से ही विकसित हो रहे थे और पतञ्जलि ने उन्हे उन्ही अर्थो मे प्रयुक्त किया जो कई शतियो से प्रयोग मे चले आ रहे थे । प्रो० रेनो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि योगसूत्र महाभाष्य से कई शतियो उपरान्त लिखा गया । जैकोबी ने योगसूत्र को पाँचवी शती की रचना माना है (जे० ए० ओ० एस्०, जिल्द ३१, पृ० १-२९) और गार्वे के अनुसरण मे ऐसा सोचा है कि व्यासभाष्य सम्भवत ७वी शती मे प्रणीत हुआ। ज्वालाप्रसाद ने जैकोबी की आलोचना की है (जे० आर० ए० एस्०, १९३०, पृ० ३६५-३७५)। प्रस्तुत लेखक रेनौ एव जैकोबी के मतो को स्वीकार नही करता।

योगभाष्य की तिथि का योगसूत्र की तिथि से गहरा सम्बन्ध है। योगभाष्य से पता चलता है कि योग पर पर्याप्त साहित्यिक क्रियाएँ एव प्रतिक्रियाएँ हुई थी। इसने योगसूत्र (२।५५ एव ३।१८) पर जैगीषव्य का उल्लेख किया है, और जैगीषव्य का महाभारत मे महत्त्वपूर्ण उल्लेख है, जैसा कि हमने इसी अध्याय मे पहले ही देख लिया है। और देखिए उस असित देवल का वृत्तान्त, जिसके साथ जैगीषव्य, भिक्षु एव योग मे दक्ष के रूप मे वर्षो रहे (शल्य-पर्व, अध्याय ५०)। यह अवलोकनीय है कि एक ही सूत्र की कई व्याख्याएँ भाष्य मे पायी जाती है (यथा २।५५ पर)। योगसूत्र मे विवेचित कतिपय विषयो पर श्लोको एव कारिकाओ को योगभाष्य ने उद्धृत किया है, यथा—१।२८, ४८, २।५, २८ (विवेकख्याति के ९ कारण), २।३२, ३।६, ३।१५ (अपरिदृष्ट कोटि के सात चित्त-धर्मो पर)। इसके अतिरिक्त भाष्य मे कतिपय गद्यात्मक उद्धरण पाये जाते है, जिनमे बहुत-से वाचस्पति द्वारा पञ्चशिख-कृत कहे गये है। इससे स्पष्ट है कि योगसूत्र एव भाष्य मे कई शतियो का अन्तर है।

भाष्य ने योगसूत्र (२।४२) पर 'तथा चोक्तम्' के साथ एक श्लोक उद्धृत किया है, जो शान्ति-पर्व के एक श्लोक (१७१।५१, १७७।५१ चित्रशाला प्रेस) से मिलता है। यह असम्भव-सा प्रतीत होता है कि कोई लेखक अपने किसी प्रस्ताव के समर्थन मे अपने किसी अन्य ग्रन्थ से तर्क उपस्थित करे। इसके अतिरिक्त योगभाष्य (यो० सू०

१।२८) ने एक श्लोक उद्धृत किया है जो विष्णुपुराण (६।६।२) का है। विद्यमान पुराणो मे विष्णुपुराण आरम्भिक पुराणो मे परिगणित है और वह तीसरी शती के आस-पास की रचना कहा जा सकता है, इसके पश्चात् नही। अत योगभाष्य, जो महाभारत एव विष्णुपुराण को उद्धृत करता है, चौथी शती की रचना कहा जा सकता है। इसी से योगसूत्र को हम दूसरी या तीसरी शती के पश्चात् का नही मान सकते। यद्यपि प्रस्तुत लेखक के मत से वह योग, जिसका खण्डन वे० सू० (२।१।३) मे हुआ है, योगसूत्र का नही है, प्रत्युत वह शान्तिपर्व वाला है, तथापि योगसूत्र का काल ई० पू० दूसरी शती के पूर्व रखना सभव नही है।

न-केवल कुछ उपनिषदो ने योग की पद्धति एव व्यवहारो (आचरणो) पर प्रकाश डाला है, प्रत्युत महाभारत ने भी योग-सम्बन्धी विषयो का विवेचन किया है। यहाँ कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं। शान्ति० (अध्याय २३२, २४१ चित्रशाला प्रेस सस्करण) मे ऐसा आया है कि योग के मार्ग मे काम, क्रोध, लोभ, भय एव स्वप्न (निद्रा) पाँच दोष पाये जाते है।[१४] इसके उपरान्त उसमे इन दोषो के शमन के उपाय भी बताये गये हैं। इस अध्याय मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही गयी है कि हीन वर्ण का पुरुष या नारी भी धर्मानुकूल आचरण करने से इस मार्ग (योग) के द्वारा परम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है (शान्ति० २३२।३२)। इसी अध्याय मे (श्लोक २५) योगाभ्यास के लिए योगी के निवास का उल्लेख है, ऐसे पर्वत एव गुफाएँ, जहाँ कोई न रहता हो, मन्दिर, सूने घर, जिससे कि एकाग्रता स्थापित हो सके। योगी को अपनी प्रशसा या निन्दा करने वालो को समान दृष्टि से देखना चाहिए और किसी पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालने का प्रयास नही करना चाहिए। शान्ति० के अध्याय २८९ (श्लोक ३७) ने 'धारणा' का उल्लेख किया है और कहा है कि वह योगी, जिसने आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर ली है, अपने को सहस्रो शरीरो मे स्थानान्तरित कर सकता है और उन शरीरो के माध्यम से इस विश्व मे भ्रमण कर सकता है, और यह योग-मार्ग विज्ञ ब्राह्मणो के लिए भी दुर्गम है, इस पर कोई सरलतापूर्वक नही चल सकता, कोई व्यक्ति छुरे की तीक्ष्ण धार पर भले ही खडा हो जाय किन्तु योग-धर्म के अनुसार चलना उनके लिए, जिनका आत्मा पवित्र नही है, कठिन है।[१५] शान्तिपर्व (३०४।१) मे ऐसा आया है कि साख्य के समान कोई

१४ योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदु। काम क्रोध च लोभ च भय स्वप्न च पञ्चमम्॥ क्रोध शमेन जयति काम सकल्पवर्जनात्। सत्त्वसवेदनाद्धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति॥ अप्रमादाद् भय जह्याल्लोभ प्रज्ञोपसेवनात्। शान्ति० (२३२।४–७)। शान्ति० (२८९, ३०१ चित्रशाला) मे भीष्म एव युधिष्ठिर का सवाद है जिसमे पाँच दोष कुछ भिन्न ढग से रखे गये है, यथा—राग मोह तथा स्नेह काम क्रोध च केवलम्। योगाच्छित्त्वादितो दोषान्पञ्चैतान् प्राप्नुवन्ति तत्॥ (श्लोक ११)। २९०वें अध्याय मे पाँच दोष यो हैं—कामक्रोधौ भय निद्रा पञ्चम श्वास उच्यते। एते दोषा शरीरेषु दृश्यन्ते सर्वदेहिनाम्॥ उन पर नियन्त्रण करने के उपाय वैसे ही है जैसे अध्याय २३२ मे, किन्तु श्वास के विषय मे ऐसा आया है—'छिन्दन्ति पञ्चम श्वास लध्वाहारतया नृप' (५५)। मिलाइए आप० ध० सू० (१।८।२३।३–६)।

१५ आत्मना च सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ। योगी कुर्याद्बल प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥ शान्ति० (२८९।२६)। शकराचार्य (वे० सू० १।३।२७) ने इसे स्मृतिवाक्य समझकर उद्धृत किया है और टिप्पणी की है 'स्मृतिरपि एव जातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणा योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोग दर्शयति।' दुर्गस्त्वेष मत पन्था ब्राह्मणाना विपश्चिताम्। न कश्चिद् व्रजति ह्यस्मिन् क्षेमेण भरतर्षभ॥ सुस्थेय क्षुरधारासु निशितासु महीपते। धारणासु तु योगस्य दुस्थेयमकृतात्मभि॥ शान्ति० २८९।५० एव ५४। मिलाइए 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।' कठोप० (३।१४)।

यदि यह माना जाय कि योगसूत्र एव महाभाष्य के लेखक भिन्न व्यक्ति है, तो यह मानने के लिए हमारे पास कोई स्पष्ट तर्क नही है कि योगसूत्र के लेखक की तिथि ईसा के पश्चात् दूसरी या तीसरी शती के उपरान्त की है। योगसूत्र की तिथि की जानकारी के लिए व्यास के योगभाष्य की तिथि अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु योगभाष्य की तिथि का प्रश्न भी विवादास्पद है। योगभाष्य के रचयिता व्यास महाभारत के व्यास से भिन्न व्यक्ति ह।

वाचस्पति मिश्र जैसे आरम्भिक टीकाकारो के मतानुसार योगसत्र के लेखक पतञ्जलि कहे गये है। उन पतञ्जलि के काल और पाणिनि-व्याकरण के वार्तिकलेखक एव उस पर लिखे गये महाभाष्य लेखक पतञ्जलि की समानुरूपता के विषय मे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते है। वैयाकरण पतञ्जलि सामान्यत ई० पू० लगभग १५० मे वतमान कहे जाते है। इसी से योगसूत्र की तिथि के लिए समानुरूपता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कुछ विद्वान्, यथा—प्रो० वी० लाइविख, डा० हावर एव प्रो० दासगुप्त दोनो पतञ्जलियो को एक ही मानते है, किन्तु कुछ अन्य विद्वान्, यथा—जैकोबी, कीथ, वुड्स, रेनौ इस मत के विरुद्ध है। प्रो० रेनौ (इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द १६, पृ० ५८६-५९१) ने इस प्रश्न पर व्याकरण की दृष्टि से प्रकाश डाला है और कहा है कि 'प्रत्याहार', 'उपसर्ग', 'प्रत्यय' के समान योगसूत्र मे कुछ ऐसे शब्द है जो महाभाष्य द्वारा निर्धारित अर्थो से भिन्न है। किन्तु दोनो ग्रन्थो के विषय भिन्न है, एक ही प्रकार के शब्द विभिन्न अर्थ रख सकते है। इसी प्रकार प्रो० रेनौ व्याकरण-सम्बन्धी नियमो के उल्लघन की बात भी कहते है (योगसूत्र १।३४ मे), जब कि महाभाष्य के पतञ्जलि पाणिनि के नियमो के परिपालन मे बडे कठोर हैं (स्वय पाणिनि ने कही-कही अपने नियमो का पालन नही किया है, यथा—१।४।५५ एव २।२।१५)। किन्तु बात ऐसी नही है। पतञ्जलि ने भी 'अव्यविकन्याय' के स्थान पर 'अविरविक न्याय' प्रयोग किया है, जिसके लिए उनकी आलोचना की गयी है। ऐसा नही कहा जा सकता कि योगसूत्र ने ही सर्वप्रथम योग के परिभाषिक शब्दो को निश्चित कर दिया था। योग के पारिभाषिक शब्द उपनिषद्-काल से ही विकसित हो रहे थे और पतञ्जलि ने उन्हे उन्ही अर्थो मे प्रयुक्त किया जो कई शतियो से प्रयोग मे चले आ रहे थे। प्रो० रेनौ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि योगसूत्र महाभाष्य से कई शतियो उपरान्त लिखा गया। जैकोबी ने योगसूत्र को पाँचवी शती की रचना माना है (जे० ए० ओ० एस्०, जिल्द ३१, पृ० १-२९) और गार्बे के अनुसरण मे ऐसा सोचा है कि व्यासभाष्य सम्भवत ७वी शती मे प्रणीत हुआ। ज्वालाप्रसाद ने जैकोबी की आलोचना की है (जे० आर० ए० एस्०, १९३०, पृ० ३६५-३७५)। प्रस्तुत लेखक रेनौ एव जैकोबी के मतो को स्वीकार नही करता।

योगभाष्य की तिथि का योगसूत्र की तिथि से गहरा सम्बन्ध है। योगभाष्य से पता चलता है कि योग पर पर्याप्त साहित्यिक क्रियाएँ एव प्रतिक्रियाएँ हुई थी। इसने योगसूत्र (२।५५ एव ३।१८) पर जैगीषव्य का उल्लेख किया है, और जैगीषव्य का महाभारत मे महत्त्वपूर्ण उल्लेख है, जैसा कि हमने इसी अध्याय मे पहले ही देख लिया है। और देखिए उस असित देवल का वृत्तान्त, जिसके साथ जैगीषव्य, भिक्षु एव योग मे दक्ष के रूप मे वर्षो रहे (शल्य-पर्व, अध्याय ५०)। यह अवलोकनीय है कि एक ही सूत्र की कई व्याख्याएँ भाष्य मे पायी जाती है (यथा २।५५ पर)। योगसूत्र मे विवेचित कतिपय विषयो पर श्लोको एव कारिकाओ को योगभाष्य ने उद्धृत किया है, यथा—१।२८, ४८, २।५, २८ (विवेकख्याति के ९ कारण), २।३२, ३।६, ३।१५ (अपरिदृष्ट कोटि के सात चित्त-धर्मो पर)। इसके अतिरिक्त भाष्य मे कतिपय गद्यात्मक उद्धरण पाये जाते है, जिनमे बहुत-से वाचस्पति द्वारा पञ्चशिख-कृत कहे गये है। इससे स्पष्ट है कि योगसूत्र एव भाष्य मे कई शतियो का अन्तर है।

भाष्य ने योगसूत्र (२।४२) पर 'तथा चोक्तम्' के साथ एक श्लोक उद्धृत किया है, जो शान्ति-पर्व के एक श्लोक (१७१।५१, १७७।५१ चित्रशाला प्रेस) से मिलता है। यह असम्भव-सा प्रतीत होता है कि कोई लेखक अपने किसी के समर्थन मे अपने किसी अन्य ग्रन्थ से तर्क उपस्थित करे। इसके अतिरिक्त योगभाष्य (यो० सू०

१।२८) ने एक श्लोक उद्धृत किया है जो विष्णुपुराण (६।६।२) का है । विद्यमान पुराणो मे विष्णुपुराण आरम्भिक पुराणो मे परिगणित है और वह तीसरी शती के आस-पास की रचना कहा जा सकता है, इसके पश्चात् नही। अत योगभाष्य, जो महाभारत एव विष्णुपुराण को उद्धृत करता है, चौथी शती की रचना कहा जा सकता है। इसी से योगसूत्र को हम दूसरी या तीसरी शती के पश्चात् का नही मान सकते । यद्यपि प्रस्तुत लेखक के मत से वह योग, जिसका खण्डन वे० सू० (२।१।३) मे हुआ है, योगसूत्र का नही है, प्रत्युत वह शान्तिपर्व वाला है, तथापि योगसूत्र का काल ई० पू० दूसरी शती के पूर्व रखना समव नही है।

न-केवल कुछ उपनिषदो ने योग की पद्धति एव व्यवहारो (आचरणो) पर प्रकाश डाला है, प्रत्युत महाभारत ने भी योग-सम्बन्धी विषयो का विवेचन किया है। यहाँ कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं । शान्ति० (अध्याय २३२, २४१ चित्रशाला प्रेस सस्करण) मे ऐसा आया है कि योग के मार्ग मे काम, क्रोध, लोभ, भय एव स्वप्न (निद्रा) पाँच दोष पाये जाते है।[१४] इसके उपरान्त उसमे इन दोषो के शमन के उपाय भी बताये गये हैं। इस अध्याय मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही गयी है कि हीन वर्ण का पुरुष या नारी भी धर्मानुकूल आचरण करने से इस मार्ग (योग) के द्वारा परम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है (शान्ति० २३२।३२) । इसी अध्याय मे (श्लोक २५) योगाभ्यास के लिए योगी के निवास का उल्लेख है, ऐसे पर्वत एव गुफाएँ, जहाँ कोई न रहता हो, मन्दिर, सूने घर, जिससे कि एकाग्रता स्थापित हो सके। योगी को अपनी प्रशसा या निन्दा करने वालो को समान दृष्टि से देखना चाहिए और किसी पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालने का प्रयास नही करना चाहिए। शान्ति० के अध्याय २८६ (श्लोक ३७) ने 'धारणा' का उल्लेख किया है और कहा है कि वह योगी, जिसने आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर ली है, अपने को सहस्रो शरीरो मे स्थानान्तरित कर सकता है और उन शरीरो के माध्यम से इस विश्व मे भ्रमण कर सकता है, और यह योग-मार्ग विज्ञ ब्राह्मणो के लिए भी दुर्गम है, इस पर कोई सरलतापूर्वक नही चल सकता, कोई व्यक्ति छुरे की तीक्ष्ण धार पर भले ही खडा हो जाय किन्तु योग-धर्म के अनुसार चलना उनके लिए, जिनका आत्मा पवित्र नही है, कठिन है।[१५] शान्तिपर्व (३०४।१) मे ऐसा आया है कि साख्य के समान कोई

१४ योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदु । काम क्रोध च लोभ च भय स्वप्न च पञ्चमम् ।। क्रोध शमेन जयति काम सकल्पवर्जनात् । सत्त्वसवेदनाद्धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति ।। अप्रमादाद् भय जह्याल्लोभ प्रज्ञोपसेवनात् । शान्ति० (२३२।४-७) । शान्ति० (२८६, ३०१ चित्रशाला) मे भीष्म एव युधिष्ठिर का सवाद है जिसमे पाँच दोष कुछ भिन्न ढग से रखे गये है, यथा—राग मोह तथा स्नेह काम क्रोध च केवलम् । योगाच्छित्त्वादितो दोषान्पञ्चैतान् प्राप्नुवन्ति तत् ।। (श्लोक ११) । २६०वें अध्याय मे पाँच दोष यो हैं—कामक्रोधौ भय निद्रा पञ्चम श्वास उच्यते। एते दोषा शरीरेषु दृश्यन्ते सर्वदेहिनाम् ।। उन पर नियन्त्रण करने के उपाय वैसे ही है जैसे अध्याय २३२ मे, किन्तु श्वास के विषय मे ऐसा आया है—'छिन्दन्ति पञ्चम श्वास लघ्वाहारतया नृप' (५५) । मिलाइए आप० ध० सू० (१।८।२३।३-६) ।

१५ आत्मना च सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ । योगी कुर्याद्बल प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ।। शान्ति० (२८६।२६) । शकराचार्य (वे० सू० १।३।२७) ने इसे स्मृतिवाक्य समझकर उद्धृत किया है और टिप्पणी की है 'स्मृतिरपि एव जातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणा योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोग दर्शयति ।' दुर्गस्त्वेष मत पन्था ब्राह्मणाना विपश्चिताम् । न कश्चिद् व्रजति ह्यस्मिन् क्षेमेण भरतर्षभ ।। सुस्थेय क्षुरधारासु निशितासु महीपते । धारणासु तु योगस्य दु स्थेयमकृतात्मभि ।। शान्ति० २८६।५० एव ५४ । मिलाइए 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ।' कठोप० (३।१४) ।

ज्ञान नही है और योग के समान कोई आध्यात्मिक शक्ति नही है। इसने पुन कहा है कि योग आठ प्रकार (श्लोक ७) का होता है, और श्लोक ९ मे धारणा एव प्राणायाम का उल्लेख है। आश्वमेधिकपर्व (१९।१७) मे सम्भवत प्रत्याहार की ओर सकेत है।[१६]

भगवद्गीता एव योगसूत्र मे विलक्षण समानता दृष्टिगोचर होती है।[१७] उदाहरणार्थ, योगसूत्र मे योग की परिभाषा हे कि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। मिलाइए गीता (६।२०)। गीता योगी को अपरिग्रही बनने के लिए बल देती है (६।१०) और योगसूत्र (२।३०) मे अपरिग्रह पाँच यमो मे परिगणित है। इसी प्रकार वह आसन या स्थान, जहाँ योगी को अभ्यास करना होता है, स्थिर और आरामदायक होना चाहिए (योगसूत्र), यही बात गीता विस्तार से कहती है। ८।१२ मे गीता ने योगधारणा का उल्लेख किया है। गीता ६।२५ मे आया है कि मन वास्तव मे अस्थिर होता है, उसे सयमित करना बडा कठिन है, किन्तु अभ्यास एव वैराग्य से उसे नियन्त्रण मे रखा जा सकता है। यही बात योगसूत्र (१।१२) ने भी कही है और इन्ही दो साधनो की ओर सकेत किया है। गीता (५।४-६) का कथन है कि अज्ञ लोग ही साख्य एव योग को भिन्न मानते हैं, किन्तु जो इनमे से किसी एक का आश्रय लेता है वह दोनो द्वारा उद्घाटित फल की प्राप्ति करता है, और जो दोनो को समान समझता है, वह सत्यावलोकन करता है। यहाँ पर 'साख्य' का अर्थ है 'सन्यास' और 'योग' का अर्थ है 'कर्मयोग'।

पतञ्जलि के योगसूत्र ने कही भी विश्व के विकास की योजना पर स्पष्ट रूप से प्रकाश नही डाला है। किन्तु इसमे पर्याप्त सामग्री है, जिसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यह साख्य-पद्धति के कुछ सिद्धान्तो को स्वीकार करता है, यथा—प्रधान का सिद्धान्त, तीन गुण एव उनकी विशेषताएँ, आत्मा का स्वरूप एव कैवल्य (अन्तिम मुक्ति मे आत्मा की स्थिति)। यह बात योगसूत्र के कुछ निर्देशो से स्थापित की जा सकती है। यो० सू० (३।४८) ने इन्द्रियो के निरोध से उत्पन्न हुए फलो का उल्लेख किया है, जिनमे एक है प्रधानजय (विश्व के प्रथम कारण प्रधान का जीतना, जैसा कि साख्य ने कहा है)। योगसूत्र ने कही भी प्रधान एव इसके विकास या उद्भव की चर्चा नही की है। अत ऐसा प्रकट होता हे कि साख्य ने प्रधान के विषय मे जो कहा है, योग उसे ज्यो-का-त्यो स्वीकार कर लेता है।[१८] आत्मा के विषय मे योगसूत्र का कथन हे—'शुद्ध चेतन-

१६ मिलाइए 'स्वविषयासप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहार ।' योगसूत्र (२।५४), और देखिए शान्ति० २३२।१३—'मनसश्चेन्द्रियाणा च कृत्वैकाग्र्य समाहित । प्राग्रात्रापररात्रेषु धारयेन्मन आत्मना ॥

१७ योगश्चित्तवृत्तिनिरोध । योगसूत्र (१।२), मिलाइए गीता—(६।२०) यत्रोपरमते चित्त निरुद्ध योगसेवया, स्थिरसुखमासनम् । योगसूत्र (२।४६), मिलाइए गीता ६।११-१२ शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिर-मासननात्मन । नात्युच्छ्रित नातिनीच चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ सम कायशिरोग्रीव धारयन्नचल स्थिर । असशय महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलम् । अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ गीता ६।३५, मिलाइए 'अभ्यास-वैराग्याभ्या तन्निरोध ।' योगसूत्र १।१२ ।

१८ ततो मनोजवित्व विकरणाभाव प्रधानजयश्च । यो० सू० (३।४८) । ये तीन पूर्णताएँ हे । 'प्रधानजय' के विषय मे व्यासभाष्य यो है—सर्वप्रकृतिविकारवशित्व प्रधानजय । इति एतास्तिस्र सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते ।'

पर दोनो अद्वैत वेदान्त से पृथक् है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा की अन्तिम नियति है उसी एक ब्रह्म मे समाहित या निमग्न हो जाना।

एक अन्य वात पर विचार करना है। याज्ञवल्क्यस्मृति मे याज्ञवल्क्य ने कहा है कि हृदय मे दीपक के समान प्रकाशित होते हुए आत्मा की अनुभूति की जानी चाहिए, इस अनुभूति से आत्मा का पुनर्जन्म नही होता। याज्ञवल्क्य ने इतना और जोड दिया है कि योग की प्राप्ति के लिए मनुष्य को वह आरण्यक[21] समझना चाहिए जिसे 'मैने सूर्य से प्राप्त किया, तथा मेरे द्वारा उद्घोषित योगशास्त्र समझना चाहिए।' कूर्मपुराण मे आया है कि याज्ञवल्क्य ने योगशास्त्र का प्रणयन किया और ऐसा करने के लिए उन्हे भगवान् हर के द्वारा आदेश प्राप्त हुआ था। विष्णुपुराण (४।४।१०७) मे उल्लिखित है कि हिरण्यनाभ ने जैमिनि के शिष्य तथा महान् योगीश्वर याज्ञवल्क्य से योग का ज्ञान प्राप्त किया। बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४) मे याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी (जो अमरत्व की ओर उन्मुख थी तथा जिसे भौतिकता से किसी प्रकार का लगाव अथवा मोह नही था) से यही कहते है कि वे उसे अमरत्व के मार्ग की व्याख्या बतायेगे और प्रथम वाक्य मे ही वे उससे 'निदिध्यास' (अर्थात् ध्यान) प्राप्त करने एव अभ्यास करने की बात बताते है और उनके प्रथम व्याख्यान का प्रथम भाग इस प्रकार स्मरणीय शब्दो के साथ पूरा होता है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' (बृ० उप० २।४।५)। याज्ञवल्क्य द्वारा प्रणीत योगशास्त्र के ग्रन्थ का क्या तात्पर्य है, यह अभी विवादास्पद ही है। याज्ञवल्क्यस्मृति के अतिरिक्त तीन अन्य ग्रन्थ है, जो याज्ञवल्क्य से सम्बन्धित है, यथा—वृद्ध-याज्ञवल्क्य, योग-याज्ञवल्क्य एव बृहद्-योगि-याज्ञवल्क्य। अन्तिम ग्रन्थ मे महान् योगी याज्ञवल्क्य, गार्गी तथा अन्य मुनियो एव विद्वान् ब्राह्मणो के बीच हुई बातचीत का विवरण है। याज्ञवल्क्य ने जो कुछ ब्रह्मा से प्राप्त किया है अथवा पढा है, उसे सुनाया है। शूलपाणि की दीपकलिका (याज्ञ० ३।११० पर) मे कहा गया है कि 'योगशास्त्र' 'योगि-याज्ञवल्क्य' ही है। किन्तु यह बात अभी सदिग्ध है। स्थानाभाव से हम यहाँ अधिक नही कह सकेगे। वास्तव मे, 'योगि-याज्ञवल्क्य' उस ग्रन्थकार का ग्रन्थ नही हो सकता जिसने बृहदारण्यक एव योगशास्त्र (जैसा कि याज्ञ० ३।११० मे वर्णित है) तथा याज्ञवल्क्यस्मृति का प्रणयन किया है। बृ० उप० (२।४।१ एव ४।५।१—याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च) मे यह स्पष्ट रूप से आया है कि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थी, जिनमे एक थी मैत्रेयी, जिसका झुकाव दर्शन अथवा अध्यात्म-शास्त्र की ओर था और दूसरी थी कात्यायनी, जो सासारिक मोह मे सलग्न थी। मैत्रेयी अमरत्व की प्राप्ति के ज्ञान के पीछे पडी हुई थी और वह जितने प्रश्न पूछती है उन सभी मे वह याज्ञवल्क्य को 'भगवान्' कहती है

२१ ज्ञेय चारण्यकमह यदादित्यादवाप्तवान्। योगशास्त्र च मत्प्रोक्त ज्ञेय योगमभीप्सता॥ याज्ञ० (३।११०), याज्ञवल्क्यो महायोगी दृष्ट्वात्र तपसा हरम्। चकार तन्नियोगेन कायशास्त्रमनुत्तमम्॥ कूर्म० (१।२५।४४)। एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य। बृह० उप० (२।२।४–५)। मिलाइए बृ० उप० (४।५।५–६), वे० सू० (४।१।१), छा० उप० (८।७।१) 'य आत्मापहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्य।' यह सम्भव है कि याज्ञ० (३।११०) एक प्रारम्भिक क्षेपक हो। किन्तु विश्वरूप से चलकर आगे के सभी टीकाकार इस उद्धरण को सच्चा मानते आये है, इसे याज्ञ० स्मृ० का एक अभिन्न एव शुद्ध अग मान लेना होगा, जब तक कि इसके विरोध मे कोई अन्य साक्ष्य न मिल जाय।

(बृ० उप० २।४।३।१३, ४।५।४,१४), वही भी केवल 'याज्ञवल्क्य' नाम नहीं सम्बोधित हुआ है। दूसरी ओर बृह० उप० मे गार्गी को वाचक्नवी (३।६।१, ३।८।१ एव १२) कहा गया है, वह याज्ञवल्क्य की पत्नी नहीं है, प्रत्युत वह एक प्रगल्भ एव वाद्विक नारी है जिसे हम जनक की राजसभा मे उपस्थित जरत्कारु, आर्तभाग, भुज्यु लाह्यायनि, उषस्त चाक्रायण, कहोड के समान ही जिज्ञासु नारियो मे गिनते है। गार्गी ने अन्य लोगो के समान ही याज्ञवल्क्य के ब्रह्मिष्ठ होने के अधिकार पर विरोध प्रकट किया था। बृ० उप० (३।६।१) मे आया है कि जब गार्गी अपनी वितर्कना को और आगे बढा ले जाती है तो याज्ञवल्क्य उसकी भर्त्सना करते है और कहते है कि यदि वह उसी प्रकार तर्क का आश्रय लेती चली जायेगी तो उसका सिर भ्रमित हो जायेगा। अन्य प्रश्नकर्ता याज्ञवल्क्य को बिना भगवान् की उपाधि के पुकारते है और गार्गी भी ऐसा ही कहती है (बृ० उप० ३।६।१, ३।८।२-६)। याज्ञवल्क्यस्मृति (३।११०) एव बृ० उप० के अनुसार योगशास्त्र एव स्मृति दोनो एक ही व्यक्ति की कृतियाँ है (उस याज्ञवल्क्य की, जिसकी दो पत्नियाँ थीं, मैत्रेयी एव कात्यायनी) और उस व्यक्ति की जिसके साथ गार्गी वाचक्नवी का दार्शनिक शास्त्रार्थ हुआ था। योग-याज्ञ० के सम्पादक श्री पी० सी० दीवानजी ने गार्गी को याज्ञवल्क्य की पत्नी कहा है।[२२] बृ० उप० ने केवल दो पत्नियो का उल्लेख किया है, किन्तु अब प्रश्न उठता है—क्या याज्ञवल्क्य की तीन पत्नियाँ थीं? श्री पी० सी० दीवानजी ने इस भारी प्रश्न को कुछ हलका कर दिया है और कहा है कि गार्गी का एक अन्य नाम मैत्रेयी भी था। हमारा सम्बन्ध यहाँ पर योग-सिद्धान्त से नही है, प्रत्युत इस प्रश्न से है कि क्या हम उस ग्रन्थ को, जो याज्ञवल्क्य का लिखा हुआ कहा गया है और जिसमे गार्गी को प्राचीन याज्ञवल्क्य की पत्नी कहा गया है (जब कि उपनिषद् उसे केवल एक प्रगल्भ या वाचाल नारी के रूप मे प्रकट करती है), उसी याज्ञवल्क्य का लिखा हुआ माने जिसने बृ० उप० मे ब्रह्मविद्या की उद्घोषणा की है और जो याज्ञवल्क्यस्मृति का भी प्रणेता कहा गया है, अथवा नही? यह एक ऐसी स्थिति है जो योग-याज्ञवल्क्य (जिसकी ओर श्री दीवान्जी ने सकेत किया है) को मात्र मनगढन्त सिद्ध करती है। यदि समानुरूपता की वास्तविकता थी तो श्लोक मे बिना किसी मात्राभाव के 'मैत्रेय्याख्या महाभागा' पढा जा सकता था। अत यह मानना सम्भव नहीं जँचता कि योग-याज्ञवल्क्य वही योगशास्त्र है जिसे याज्ञवल्क्य ने अपने नाम वाली स्मृति के पूर्व रचा था। कुछ अन्य बाते भी कही जा सकती है। श्री दीवानजी द्वारा सम्पादित ग्रन्थ ने तन्त्रो (५।१०) एव तान्त्रिको (८।४ एव २५) का उल्लेख किया है। किन्तु याज्ञवल्क्यस्मृति ने इन दोनो का कही भी कोई उल्लेख नही किया है प्रत्युत उसमे कही भी तान्त्रिक शब्दो या प्रणाली का उल्लेख नही हुआ है। अत श्री दीवानजी द्वारा सम्पादित योग-

२२ योगयाज्ञ० (१।६–७) मे आया है—तमेव गुणसम्पन्न नारीणामुत्तमा वधू। मैत्रेयी च महाभागा गार्गी च ब्रह्मविद्वरा ॥ सभामध्यगता चेयमृषीणामुग्रतेजसाम्। प्रणम्य दण्डवद् भूमौ गार्ग्येतद् वाक्यमब्रवीत् ॥ यहाँ दो 'च' द्रष्टव्य है, जो सामान्यत यह व्यक्त करेंगे कि मैत्रेयी एव गार्गी भिन्न है। ऐसा तर्क किया जा सकता है कि याज्ञवल्क्य से पढ लेने के उपरान्त (बृ० उप० मे जैसा आया है) मैत्रेयी वहाँ (सभा मे) उपस्थित थी, किन्तु वाद-विवाद मे कोई भाग नही लिया, केवल गार्गी ने ही प्रश्नो की बौछार की थी। अध्याय १ के श्लोक ६ मे मैत्रेयी के लिए 'उत्तमा वधू' तथा गार्गी के लिए 'महाभागा' एव ब्रह्मविद्वरा' का प्रयोग हुआ है। किन्तु १।४३ एव ४।५ मे गार्गी को याज्ञ० की भार्या कहा गया है और उसे 'प्रिये' (४।७) एव 'वरारोहे' आदि शब्दो से सम्बोधित किया गया है।

यो पढा है[२७] 'सर्वार्थतकार्ययो ' । उनके अनुसार भूमियाँ ६ हे, ओर छठी भूमि हे 'एकार्थ'। इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना हे । आश्चर्य तो यह हे कि इस कठिनाई पर योगसूत्र के भाष्यकार व्यास ने भी ध्यान नही दिया । अत निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए सावधानी की परम आवश्यकता हे । इस सूत्र ने योग के लक्ष्य का उल्लेख किया है, अर्थात् आत्मा, जो द्रष्टा हे, तब (जब कि चित्त की वृत्तियाँ नियन्त्रित रहती हे) अपने रूप मे अवस्थित होता है, जब कि सामान्य जीवन मे आत्मा चित्त की चञ्चलताओ के रूपो में प्रकट होता हे । **वृत्तियाँ** पाँच है[२८], जिनमे कुछ **क्लेश** नामक बाधाओ से अभिभूत रहती ह और कुछ इस प्रकार बाधित या अभिभूत नही होती । जो बाधित होती ह, उन पर स्वामित्व स्थापित करना होता है या उन्हे हटाना होता है ओर अन्य वृत्तियो को, जो इस प्रकार बाधित या अभिभूत नही रहती, स्वीकार करना होता हे । पाँच वृत्तियाँ इस प्रकार हे—**प्रमाण** (शुद्ध ज्ञान के साधन), **विपर्यय** (त्रुटिपूर्ण धारणाएँ), **विकल्प**, **निद्रा**[२९] एव **स्मृति** । प्रमाण तीन हे—**प्रत्यक्ष, अनुमान** एव **आगम** (शाब्दिक साक्ष्य) । वृत्तियो पर अधिकार

२७ योगश्चित्तवृत्तिनिरोध । तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम् । वृत्तिसारूप्यमितरत्र । यो० सू० (१।२-४) । कुछ अन्य ग्रन्थो द्वारा उपस्थापित योग-परिभाषाओ को भी जान लेना आवश्यक हे । विषयेभ्यो निवर्त्याभिप्रेतेऽर्थे मनसोऽवस्थापन योग । देवल-धर्मसूत्र, वृत्तिहीन मन कृत्वा क्षेत्रज्ञ (ज्ञ ५।१) परमात्मनि । एकीकृत्य विमुच्येत योगोय मुख्य उच्यते ।। दक्षस्मृति (७।१५), आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगति । तस्या ब्रह्मणि सयोगो योग इत्यभिधीयते ।। विष्णुपुराण (६।७।३१) । इन तीनो परिभाषाओ को अपरार्क (याज्ञ० ३।१०६, पृ० ८८६) एव कृत्यकल्प० (मोक्ष पर पृ० १६५) ने उद्धृत किया हे । स्वय अपरार्क ने कहा है—'जीव-परमात्मनोरभेदविज्ञान विषयान्तरासम्भिन्न योग ।'

२८ वृत्तय पञ्चतय्य क्लिष्टाक्लिष्टा । प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय । प्रत्यक्षानुमानागमा प्रमाणानि । अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा । अनुभूतविषयासम्प्रमोष स्मृति । यो० सू० १।५-७ एव १०-११ । क्लेश (अर्थात् बाधाएँ या रुकावटें) पाँच ह—अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशा क्लेशा (योगसूत्र २।३) । इस पर भाष्य इस प्रकार है—सेय पञ्चपर्वा भवत्यविद्या अविद्यास्मिता निवेशा क्लेशा इति। एत एव स्वसज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति । अविद्या के पाँच स्वरूप है, यथा—अविद्या आदि जो क्रम से मोह आदि कहे जाते हे। वाचस्पति ने इन पाँचो की व्याख्या की हे। अस्मिता के विषय मे उनका कथन यो है—'योगिनामष्टस्वणिमादिकेष्वैश्वर्येष्वश्रेय सु श्रेयोबुद्धिरष्टविधो मोह पूर्वस्माज्जघन्य । स चास्मितोच्यते । बुद्धचरित (१२।३३) मे ये भावनाएँ पायी जाती है—इत्यविद्या हि विद्वास पञ्चपर्वा समीहते । तमो मोह महामोह तामिस्रद्वयमेव च ।। विभिन्न प्रकार के दु खो मे निमज्जित मनुष्यो को वे कष्ट देते हे इसी लिए उन्हे क्लेश कहा जाता है । 'अविद्यादय क्लेशा क्लिश्नन्ति खल्वमी पुरुष सासारिक विविध-दु खप्रहारेणेति' वाचस्पति (योगसूत्र १।२४) ।

२९ योगभाष्य (योगसूत्र १।१०) के अनुसार निद्रा एक विशिष्ट भावात्मक अनुभूति (प्रत्यय) हे, यह केवल मन की क्रियाओ अथवा चञ्चल गतियो का अभाव मात्र नही हे, क्योकि जब व्यक्ति निद्रा से जागता हे तो वह सोचता हे—'मे भली भाँति सोया हूँ । मेरा मन प्रसन्न है और मेरी चेतना या ज्ञान को स्पष्ट करता हे।' इस प्रकार का सोचना या विचारना सम्भव नही होता यदि (निद्रा के समय) इस प्रकार के भाव के कारण की अनुभूति न होती । जिस प्रकार समाधि मे व्यक्ति को अन्य विचारो (यथा—भ्रामक धारणाओ

प्राप्त करने के साधन है अभ्यास एव वैराग्य (जो एक साथ किये जाते है), अभ्यास वह यत्न है जिसके द्वारा वृत्तियो पर नियन्त्रण करके मन को दीर्घकाल के लिए निरन्तर एव इच्छापूर्वा शान्तिमय प्रवाह दिया जाता है और दूसरा वैराग्य हे जो देखे हुए पदार्थो (यथा नारी, भोजन, पेय, उच्च पद आदि) पर स्वामित्व-स्थापन की चेतना (अर्थात् उनकी तृष्णा से छुटकारा पाना) तथा उन पदार्थो (यथा—स्वर्ग, वैदेह्य, प्रकृतिलयत्व आदि) से विरक्ति की भावना हे।[30] वैराग्य के दो प्रकार है—अपर (यो० सू० १।१५) एव पर (यो० सू० १।१६)। पर अर्थात् उच्च कोटि के वैराग्य मे योगी (जो स्व एव गुणो के भेद को जानता है) न केवल इन्द्रिय-पदार्थो से उत्पन्न तृष्णा से मुक्त होता, प्रत्युत वह गुणो मे भी मुक्त हो जाता है और उस बाधारहित चेतना के स्तर को प्राप्त करता हे जो योगी को यह अनुभूति देता हे कि जो प्राप्त करना था मैंने उसे प्राप्त कर लिया है, जिन्हे नष्ट करना था उन क्लेशो (अविद्या आदि) को मने नष्ट कर दिया हे, जन्मो एव मरणो की शृखला काट डाली हे। भाष्य मे आया हे—'ज्ञान की पराकाष्ठा वैराग्य है और इससे अपृथक् रूप से कैवल्य सम्बन्वित हे' (ज्ञानस्य पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयक कैवल्य-मिति)। वाचस्पति का कथन हे कि इस अन्तिम को 'धर्ममेवसमाधि (यो० सू० ४।२९) कहा जाता है। प्रथम पाद के सूत्र १७ एव १८ सम्प्रज्ञात समाधि (सचेत ध्यान) या सालम्बनसमाधि, असम्प्रज्ञात समाधि (वह ध्यान, जिसमे स्थूल एव सूक्ष्म पदार्थो की चेतना न हो) का उल्लेख करते है। इनमे प्रथम के चार प्रकार हे, यथा—सवितर्क (शालग्राम या चतुर्भुज भगवान् आदि स्थूल वस्तु पर ध्यान जमाना या उसकी अनुभूति करना), सविचार (जिसमे सूक्ष्म पदार्थो, यथा तन्मात्राओ आदि का विचार हो), सानन्द (जिसमे सत्त्व से पूर्ण मन का विचार हो, इसे आनन्द की समाधि कहा जाता हे) एव सास्मितारूप (जिसमे केवल व्यक्तिता का ही ज्ञान हो, अर्थात् जिसमे ज्ञाता ही प्रत्यक्ष का पदार्थ होता हे)।[31] इन चार प्रकारो मे

आदि) पर स्वामित्व-स्थापन करना होता हे उसी प्रकार योगी को समाधि-प्राप्ति मे बाधा के रूप मे निद्रा पर भी नियन्त्रण करना होता है।

३० अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोध। तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास। स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि। दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसज्ञा वैराग्यम्। तत्पर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। योगसूत्र (१। १२-१६)। १।१५ पर भाष्य का कथन है—'स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये विरक्तस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्व-प्राप्तावानुश्रविकवितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिन प्रसख्यातबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसज्ञा वैराग्यम्।' वाचस्पति ने व्याख्या की है—'अनुश्रवो वेदस्ततोऽधिगता आनुश्रविका स्वर्गादय। न वैतृष्ण्यमात्र वैराग्यम् अपि तु दिव्यादिव्यविषयसप्रयोगेऽपि चित्तस्यानाभोगात्मिका।' 'दृष्ट' एव 'आनुश्रविक' शब्दो के लिए देखिए सा० का० (२)—दृष्टवदानुश्रविक स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्त। तद्विप-रीत श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥ भाष्य का १।१६ पर यह कथन है—'तद्द्वय वैराग्यम्। तत्र यदुत्तर तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्। ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयक कैवल्यमिति।' वैराग्य के दूसरे प्रकार मे केवल अबाधित एव शान्तिमय चेतना का ज्ञान (किसी भी प्रकार के पदार्थ से असम्बद्ध) पाया जाता है और उसके साथ कैवल्य (जो योग का लक्ष्य है) अविभक्त रूप से सम्बन्धित रहता हे।

३१ वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सप्रज्ञात। विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व सस्कारशेषोऽन्य। योगसूत्र (१। १७-१८)। इन दोनो को सबीज एव निर्बीज या सालम्बन एव निरालम्बन या सविकल्प एव निर्विकल्प समाधि कहा

असम्प्रज्ञात समाधि की उद्भूति होती है जो वृत्तियो की समाप्ति के परिणाम की द्योतक है । इस स्थिति का निरन्तर अभ्यास होता रहता है और मन मे केवल हलकी प्रतिच्छायाएँ आती रहती है। प्रथम पाद के सूत्र १९-५१ मे समाधि के विभिन्न प्रकारो, प्राप्ति के विभिन्न रूपो, योग पद्धति मे ईश्वर की स्थिति, योग-साधन के नौ अन्तरायो (विघ्नो) तथा उनके साथ चलने वाले अन्य सहयोगियो, बाधाओ को दूर करने के साधनो, यथा—एक देवता पर ही ध्यान लगाना, पवित्र लोगो के प्रति मित्रता, दया, आनन्द की उत्पत्ति तथा अपवित्र लोगो के प्रति उदासीनता आदि का विवेचन किया गया है ।

पातञ्जलसूत्र (१।१९-२३) मे असम्प्रज्ञात समाधि के लिए योगियो को नौ कोटियो मे बाँटा गया है, जिन पर हम यहाँ विचार नही करेगे। योगसूत्र (१।२३-२८) मे ऐसी व्यवस्था है कि ईश्वर की भक्ति द्वारा भी समाधि एव मुक्ति (समाधि का परिणाम) प्राप्त की जा सकती है।[३२] ईश्वर एक विशिष्ट पुरुष है,

जाता है। १।१८ पर भाष्य मे आया है—तदभ्यासपूर्वक हि चित्त निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीज समाधि । १।२ परभाष्य मे यो आया है—स निर्बीज समाधि । न तत्र किंचित्सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञात । द्विविध स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति । अस्मिता पाँच क्लेशो मे एक है और अविद्या को शेष चार क्लेशो का आधार कहा गया है। (२।४) और २।६ मे इसकी परिभाषा यो है—'अस्मिता द्रष्टा (अर्थात् व्यक्ति या आत्मा) एव देखने के यन्त्र (अर्थात् बुद्धि) की समानुरूपता है।' यह कुछ विलक्षण-सा है कि अस्मिता को समाधि का एक प्रकार कहा गया है। सम्भवत यहाँ पर 'अस्मिता' का अर्थ है 'मै हूँ' की अर्थात् व्यक्तिता की चेतना। यह अवलोकनीय है कि बौद्ध ग्रन्थो मे सम्प्रज्ञातसमाधि के चार प्रकारो के समानान्तर विचार पाये जाते है (मज्झिमनिकाल, जिल्द १, पृ० २१-२२, (ट्रेंकनर सस्करण, १८८८)।

३२ ईश्वरप्रणिधानाद्वा । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर । तत्र निरतिशय सर्वज्ञत्व-बीजम्। स पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्। तस्य वाचक प्रणव । तज्जपस्तदर्थभावनम्। तत प्रत्यक्चेतना-धिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च । योगसूत्र (१।२३-२९)। व्यासभाष्य द्वारा 'ईश्वरप्रणिधान' की व्याख्या दो प्रकार से की गयी है—(१) भक्ति-विशेष (१।२३ पर) एव (२) परमगुरु को सभी क्रियाओ का अर्पण या सभी क्रियाओ (कर्मो) के फलो का त्याग अथवा सन्यास (ईश्वरप्रणिधान सर्वक्रियाणा परमगुरावर्पण तत्फलसन्यासो वा, २।१ की टीका मे)। भावागणेशवृत्ति ने इस पर ब्रह्मार्पण के अर्थ के लिए कूर्मपुराण उद्धृत किया है—'नाह कर्ता सर्वमेवैतद् ब्रह्मैव कुरुते तथा। एतद् ब्रह्मार्पण प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभि ॥' योगसूत्र (१।२२-२३ एव २।४५) का कथन है कि ईश्वरभक्ति द्वारा समाधि की प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। यह द्रष्टव्य है कि बृहद्योगियाज्ञ-वल्क्य (लोनावाला, कैवल्यधाम द्वारा प्रकाशित) ने, ऐसा प्रतीत होता है, योगसूत्र के १।२४, २८-२९ को श्रुति के रूप मे निम्नलिखित श्लोको मे रखा है—क्लेशकर्मविपाकैश्च वासनाभिस्तथैव च। अपरामृष्टमेवाह पुरुष हीश्वर श्रुति ॥ वाच्यो यज्ञेश्वर (वाच्य स ईश्वर ?) प्रोक्तो वाचक प्रणव स्मृत । वाचकेन तु विज्ञातो वाच्य एव प्रसीदति ॥ तदर्थं प्रणव जप्य ध्यातव्य सतत बुधै । ईश्वर पुरुषाख्यस्तु तेनोपास्तु प्रसीदति ॥ बहद्योगि० (२।४३-४५)। योगसूत्र (१।२८) की व्याख्या मे भाष्य ने यो कहा है—'तदस्य योगिन प्रणव जपत प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्र सम्पद्यते ।' तथा वाचस्पति ने 'भावनम्' का अर्थ 'पुन पुनश्चित्ते निवेशनम्' के रूप मे किया है। 'ओम्' की प्रशसा के विषय मे देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ३०१-३०२, जहाँ 'जप' (धीरे-धीरे या केवल मन मे कहना) का उल्लेख है, और देखिए मनु (२।८५-८७), विष्णुधर्मसूत्र

वह क्लेशो, कर्म (अच्छे या बुरे) या कर्म-परिणामो, तृष्णाओ से अछूता है। उसमें सर्वज्ञता (जो अन्य लोगो मे थोडी-सी होती है) असीम होती है। वह काल से घिरा नही है, वह प्राचीन गुरुओ का भी आचार्य है। उसका वाचक प्रणव (ओम्) है। उस ओम् के जप करने और उसके अर्थ पर निरन्तर रूप से भावना करने से एकाग्रता की प्राप्ति होती है। ईश्वर-भक्ति से योगी आत्मा के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान एव मन को चञ्चल करने वाले अन्तरायो (बाधाओ) का अभाव पाता हे (१।२९)। ये बाधाएँ या अन्तराय ९ हैं, यथा—रोग, आलस्य, भ्रम आदि, और इन्हे **योगमल** एव **योगप्रतिपक्ष** (योगशत्रु) कहा जाता हे। इन अन्तरायो से पीडा, मानसिक कष्ट, शरीर-कम्पन, श्वास-प्रश्वास की अनियमितता की उत्पत्ति होती हे (१।३१)। इन अन्तरायो एव उनके साथ चलने-वाले तत्वो को, जो समाधि के लिए शत्रु-स्वरूप है, कई प्रकारो एव ढगो से रोका जा सकता है, यथा—ईश्वर या किसी अन्य देवता का ध्यान करने से, मित्रता, करुणा, प्रसन्नता एव उदासीनता द्वारा, जो क्रम से प्रसन्न या दु खित, अच्छे एव बुरे (१।३३) के प्रति प्रदर्शित की जाती है, या प्राणायाम द्वारा। जब चित्त एकाग्र हो जाता है तो सप्रज्ञात समाधि के चार प्रकारो (यथा सवितर्क आदि, १।१७) का उदय होता है। सप्रज्ञात समाधि के अन्तिम प्रकार (सास्मितारूप) से जिस ज्ञान की उद्भूति होती है वह शास्त्र या अनुमान से प्राप्त ज्ञान से अधिक श्रेष्ठ है, और इस समाधि मे जो प्रतिच्छाया बनती है वह अन्य प्रतिच्छायाओ के विपरीत होती है और जब यह अन्तिम अनुभूति भी समाप्त हो जाती है या दमित हो जाती है तो निर्बीज समाधि (असप्रज्ञात समाधि) की उद्भूति होती है। इस अन्तिम स्थिति मे स्वय मन अपना कार्य बन्द कर देता। और योगी का आत्मा स्वय मे (निज स्वरूप मे) निवास करने लगता है, अपने प्रकाश से ही प्रकाशित हो उठता है और शुद्ध, केवल (सबसे पृथक्) एव मुक्त कहलाता है।[33] ईश्वरप्रणिधान ईश्वर से साक्षात्कार नही कराता, प्रत्युत यह आत्मा को इस योग्य बनाता है कि वह ईश्वर के समान हो जाय। योगसूत्र मे ईश्वर की भक्ति के विषय मे बहुत कम उल्लेख हुआ है।

योगसूत्र का प्रथम पाद समाधि एव मुक्ति के विवेचन के साथ समाप्त होता है, अर्थात् यह उस व्यक्ति के लिए, जो ध्यान मे सफल होता है, योग का वर्णन करता है। द्वितीय पाद उस व्यक्ति के लिए, जिसका मन ध्यान मे प्रयुक्त नही होता, प्रत्युत चचल रहता हे, विमोहित रहता हे या व्युत्थित (सक्षुब्ध या विक्षिप्त) रहता है, और जो विधि को सीखने की इच्छा रखता हे, एक प्रणाली (विधि) उपस्थित करता है। यह पाद आज के भारतीय एव पश्चिमी विद्यार्थियो के लिए चार पादो मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इसने धर्मशास्त्र के ग्रन्थो को अधिक प्रभावित किया है। योग की मौलिक भावना यह है कि आत्मा वास्तविक, नित्य एव शुद्ध होता है, किन्तु यह भौतिक विश्व मे आसक्त रहता है और यद्यपि यह नित्य है तथापि अनित्य अर्थात् नाशवान् पदार्थों के पीछे पडा

(५५।१९), वसिष्ठ (२६।९)। और देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ६८६। माण्डूक्योपनिषद् ने, जिसमे शकराचार्य के अनुसार वेदान्त का सारतत्त्व पाया जाता हे (वेदान्तार्थसारसग्रहभूत), 'ओम्' का विवेचन किया है। उपनिषदो मे एव उनके पूर्व 'ओम्' अखिल विश्व एव इन्द्रियातीत ब्रह्म का प्रतीक था और उसका आध्यात्मिक उपयोग होता था। योग ने इसका प्रयोग उपनिषदो से लिया और इसे ध्यान के मनोविज्ञान का साधन बनाया। मिलाइए माण्डूक्योपनिषद् (२।२।४)—'प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत् ॥'

३३ तस्मिन् (चित्ते) निवृत्ते पुरुष स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽत शुद्ध. केवलो मुक्त इत्युच्यते। भाष्य (यो० सू० १।५१—तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज समाधि)।
३४

असप्रज्ञात समाधि की उद्भूति होती है जो वृत्तियो की समाप्ति के परिणाम की द्योतक है । इस स्थिति का निरन्तर अभ्यास होता रहता है और मन मे केवल हलकी प्रतिच्छायाएँ आती रहती है । प्रथम पाद के सूत्र १६-५१ मे समाधि के विभिन्न प्रकारो, प्राप्ति के विभिन्न रूपो, योग पद्धति में ईश्वर की स्थिति, योग-साधन के नौ अन्तरायो (विघ्नो) तथा उनके साथ चलने वाले अन्य सहयोगियो, बाधाओ को दूर करने के साधनो, यथा—एक देवता पर ही ध्यान लगाना, पवित्र लोगो के प्रति मित्रता, दया, आनन्द की उत्पत्ति तथा अपवित्र लोगो के प्रति उदासीनता आदि का विवेचन किया गया है ।

पातञ्जलसूत्र (१।१६-२३) मे असप्रज्ञात समाधि के लिए योगियो को नौ कोटियो मे बाँटा गया है, जिन पर हम यहाँ विचार नही करेगे । योगसूत्र (१।२३-२८) मे ऐसी व्यवस्था है कि ईश्वर की भक्ति द्वारा भी समाधि एव मुक्ति (समाधि का परिणाम) प्राप्त की जा सकती है।[32] ईश्वर एक विशिष्ट पुरुष है,

जाता है । १।१८ पर भाष्य मे आया है—तदभ्यासपूर्वक हि चित्त निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीज समाधि । १।२ परभाष्य मे यो आया है—स निर्बीज समाधि । न तत्र किंचित्सप्रज्ञायत इत्यसप्रज्ञात । द्विविध स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति । अस्मिता पाँच क्लेशो मे एक है और अविद्या को शेष चार क्लेशो का आधार कहा गया हे । (२।४) और २।६ मे इसकी परिभाषा यो है—'अस्मिता द्रष्टा (अर्थात् व्यक्ति या आत्मा) एव देखने के यन्त्र (अर्थात् बुद्धि) की समानुरूपता हे।' यह कुछ विलक्षण-सा है कि अस्मिता को समाधि का एक प्रकार कहा गया हे । सम्भवत यहाँ पर 'अस्मिता' का अर्थ हे 'मै हूँ' की अर्थात् व्यक्तिता की चेतना। यह अवलोकनीय है कि बौद्ध ग्रन्थो मे सप्रज्ञातसमाधि के चार प्रकारो के समानान्तर विचार पाये जाते है (मज्झिमनिकाल, जिल्द १, पृ० २१-२२, (ट्रेकनर सस्करण, १८८८) ।

३२ ईश्वरप्रणिधानाद्वा । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर । तत्र निरतिशय सर्वज्ञत्व-बीजम् । स पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात् । तस्य वाचक प्रणव । तज्जपस्तदर्थभावनम् । तत प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च । योगसूत्र (१।२३-२६) । व्यासभाष्य द्वारा 'ईश्वरप्रणिधान' की व्याख्या दो प्रकार से की गयी हे—(१) भक्ति-विशेष (१।२३ पर) एव (२) परमगुरु को सभी क्रियाओ का अर्पण या सभी क्रियाओ (कर्मो) के फलो का त्याग अथवा सन्यास (ईश्वरप्रणिधान सर्वक्रियाणा परमगुरावर्पण तत्फलसन्यासो वा, २।१ की टीका मे) । भावागणेशवृत्ति ने इस पर ब्रह्मार्पण के अर्थ के लिए कूर्मपुराण उद्धृत किया है—'नाह कर्ता सर्वमेवैतद् ब्रह्मैव कुरुते तथा । एतद् ब्रह्मार्पण प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभि ॥' योगसूत्र (१।२२-२३ एव २।४५) का कथन हे कि ईश्वरभक्ति द्वारा समाधि की प्राप्ति शीघ्र हो सकती हे । यह द्रष्टव्य हे कि बृहद्योगियाज्ञ-वल्क्य (लोनावाला, कैवल्यधाम द्वारा प्रकाशित) ने, ऐसा प्रतीत होता हे, योगसूत्र के १।२४, २८-२६ को श्रुति के रूप मे निम्नलिखित श्लोको मे रखा हे—क्लेशकर्मविपाकैश्च वासनाभिस्तथैव च । अपरामृष्टमेवाह पुरुष होश्वर श्रुति ॥ वाच्यो यज्ञेश्वर (वाच्य स ईश्वर ?) प्रोक्तो वाचक प्रणव स्मृत । वाचकेन तु विज्ञातो वाच्य एव प्रसीदति ॥ तदर्थं प्रणव जप्य ध्यातव्य सतत बुधै । ईश्वर पुरुषाख्यस्तु तेनोपास्तु प्रसीदति ॥ बृहद्योगि० (२।४३-४५) । योगसूत्र (१।२८) की व्याख्या मे भाष्य ने यो कहा हे—'तदस्य योगिन प्रणव जपत प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्र सम्पद्यते ।' तथा वाचस्पति ने 'भावनम्' का अर्थ 'पुन पुनश्चित्ते निवेशनम्' के रूप मे किया हे । 'ओम्' की प्रशसा के विषय मे देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ३०१-३०२, जहाँ 'जप' (धीरे-धीरे या केवल मन मे कहना) का उल्लेख हे, और देखिए मनु (२।८५-८७), विष्णुधर्मसूत्र

वह क्लेशो, कर्म (अच्छे या बुरे) या कर्म-परिणामो, तृष्णाओ से अछूता है। उसमें सर्वज्ञता (जो अन्य लोगो मे थोडी-सी होती है) असीम होती है। वह काल से घिरा नही है, वह प्राचीन गुरुओ का भी आचार्य है। उसका वाचक प्रणव (ओम्) है। उस ओम् के जप करने और उसके अर्थ पर निरन्तर रूप से भावना करने से एकाग्रता की प्राप्ति होती है। ईश्वर-भक्ति से योगी आत्मा के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान एव मन को चञ्चल करने वाले अन्तरायो (बाधाओ) का अभाव पाता है (१।२६)। ये बाधाएँ या अन्तराय ६ हैं, यथा—रोग, आलस्य, भ्रम आदि, और इन्हे **योगमल** एव **योगप्रतिपक्ष** (योगशत्रु) कहा जाता है। इन अन्तरायो से पीडा, मानसिक कष्ट, शरीर-कम्पन, श्वास-प्रश्वास की अनियमितता की उत्पत्ति होती है (१।३१)। इन अन्तरायो एव उनके साथ चलने-वाले तत्वो को, जो समाधि के लिए शत्रु-स्वरूप है, कई प्रकारो एव ढगो से रोका जा सकता है, यथा—ईश्वर या किसी अन्य देवता का ध्यान करने से, मित्रता, करुणा, प्रसन्नता एव उदासीनता द्वारा, जो क्रम से प्रसन्न या दुखित, अच्छे एव बुरे (१।३३) के प्रति प्रदर्शित की जाती है, या प्राणायाम द्वारा। जब चित्त एकाग्र हो जाता है तो सप्रज्ञात समाधि के चार प्रकारो (यथा सवितर्क आदि, १।१७) का उदय होता है। सप्रज्ञात समाधि के अन्तिम प्रकार (सास्मितारूप) से जिस ज्ञान की उद्भूति होती है वह शास्त्र या अनुमान से प्राप्त ज्ञान से अधिक श्रेष्ठ है, और इस समाधि मे जो प्रतिच्छाया बनती है वह अन्य प्रतिच्छायाओ के विपरीत होती है और जब यह अन्तिम अनुभूति भी समाप्त हो जाती है या दमित हो जाती है तो निर्बीज समाधि (असप्रज्ञात समाधि) की उद्भूति होती है। इस अन्तिम स्थिति मे स्वय मन अपना कार्य बन्द कर देता। और योगी का आत्मा स्वय मे (निज स्वरूप मे) निवास करने लगता है, अपने प्रकाश से ही प्रकाशित हो उठता है और शुद्ध, केवल (सबसे पृथक्) एव मुक्त कहलाता है।[33] ईश्वरप्रणिधान ईश्वर से साक्षात्कार नही कराता, प्रत्युत यह आत्मा को इस योग्य बनाता है कि वह ईश्वर के समान हो जाय। योगसूत्र मे ईश्वर की भक्ति के विषय मे बहुत कम उल्लेख हुआ है।

योगसूत्र का प्रथम पाद समाधि एव मुक्ति के विवेचन के साथ समाप्त होता है, अर्थात् यह उस व्यक्ति के लिए, जो ध्यान मे सफल होता है, योग का वर्णन करता है। द्वितीय पाद उस व्यक्ति के लिए, जिसका मन ध्यान मे प्रयुक्त नही होता, प्रत्युत चचल रहता है, विमोहित रहता है या व्युत्थित (सक्षुब्ध या विक्षिप्त) रहता है, ओर जो विधि को सीखने की इच्छा रखता हे, एक प्रणाली (विधि) उपस्थित करता है। यह पाद आज के भारतीय एव पश्चिमी विद्यार्थियो के लिए चार पादो मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इसने धर्मशास्त्र के ग्रन्थो को अधिक प्रभावित किया है। योग की मौलिक भावना यह हे कि आत्मा वास्तविक, नित्य एव शुद्ध होता है, किन्तु यह भौतिक विश्व मे आसक्त रहता है और यद्यपि यह नित्य है तथापि अनित्य अर्थात् नाशवान् पदार्थों के पीछे पडा

(५५।१६), वसिष्ठ (२६।६)। और देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ६८६। माण्डूक्योपनिषद ने, जिसमे शकराचार्य के अनुसार वेदान्त का सारतत्त्व पाया जाता हे (वेदान्तार्थसारसग्रहभूत), 'ओम्' का विवेचन किया है। उपनिषदो मे एव उनके पूर्व 'ओम्' अखिल विश्व एव इन्द्रियातीत ब्रह्म का प्रतीक था और उसका आध्यात्मिक उपयोग होता था। योग ने इसका प्रयोग उपनिषदो से लिया और इसे ध्यान के मनोविज्ञान का साधन बनाया। मिलाइए माण्डूक्योपनिषद् (२।२।४)—'प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत् ॥'

३३ तस्मिन् (चित्ते) निवृत्ते पुरुष स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽत शुद्ध. केवलो मुक्त इत्युच्यते। भाष्य (यो० सू० १।५१—तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज समाधि)।

रहता है। पतञ्जलि एक महान् मनोवैज्ञानिक थे। लक्ष्य स्थापित (अविद्या एव गुणो से आत्मा को पृथक् रखकर कैवल्य प्राप्त करना तथा आत्मा के अपने शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति) हो जाने के उपरान्त योगसूत्र उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक दृढ अनुशासन की व्यवस्था करता है।

फ्रायड जैसे आधुनिक मनोवैज्ञानिको की स्थापनाओ एव पतञ्जलि की धारणाओ मे दो मौलिक अन्तर हैं।[३४] पहली वात यह है कि पतञ्जलि बन्धन से मुक्त आत्मा की मुक्ति एव स्वतन्त्रता पर सम्पूर्ण वल देते है, सामान्य सवेगो एव इच्छा को प्रशिक्षित करने के साधनो एव कतिपय आरम्भिक उपक्रमो या परिपाटियो के रूप मे मन की क्रियाओ के निग्रह की व्यवस्था वतलाते हैं, किन्तु कतिपय आधुनिक मनोवैज्ञानिक इस प्रकार के मानस दमन की भर्त्सना करते हैं। दूसरी वात यह है कि पतञ्जलि **कर्म** एव **आवागमन** के सिद्धान्त (२।१२-१५) मे पूर्ण विश्वास करते है और मत प्रकाशित करते है कि ऐसे सत्कर्म भी, जो सुख एव आनन्द से परिपूर्ण भावी जीवन की उत्पत्ति करते हैं, सद्बुद्ध लोगो के लिए कष्टकारक है, किन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिक कतिपय मौलिक प्रवृत्तियो की चर्चा करते है और उनके वास्तविक रूप के विवेचन मे एकमत नही हो पाते, वे कर्म एव आवागमन के सिद्धान्त पर विचार नही करते और न उनके एव सहज मूल प्रवृत्तियो के सम्बन्ध पर ही प्रकाश डालते है। यदि आत्मा की पूर्व-स्थिति नही होती, जैसा कि ईसाई एव अन्य लोग विश्वास करते हैं, तो मानवीय मूल प्रवृत्तियो का उदय कैसे होता है? इस प्रश्न का समीचीन एव सन्तोषप्रद उत्तर आज तक नही प्राप्त हो सका है।

द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र का कथन है कि क्रियायोग या ऐसी क्रियाएँ या अभ्यास, जो योग की प्राप्ति के लिए आवश्यक है, ये हैं—**तप**[३५], **स्वाध्याय** एव **ईश्वरप्रणिधान** (ईश्वर-भक्ति) जो कार्यरूप मे परिणत

३४ ने काम (मिथुन)-सम्बन्धी शक्ति को 'लिबिडो' की सज्ञा दी है। युग ने, जो एक समय के शिष्य थे, अपना विरोध प्रकट किया है और उस शक्ति को सभी मानसिक, मानस-दैहिक या क्रियात्मक शक्ति के लिए प्रयुक्त माना है। 'इडिपस काम्प्लेक्स' (पुत्र का माता पर एव पुत्री का पिता पर असाधारण प्रेम) के सिद्धान्त को -प्रणाली का केन्द्र-बिन्दु माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आगे चलकर ने अपने 'इडिपस काम्प्लेक्स' को परिमार्जित किया, और यद्यपि उन्होने ऐसी परिकल्पना की कि इडिपस काम्प्लेक्स सभी शिशुओ मे पाया जाता है, किन्तु उन्हे यह स्वीकार करना पडा कि स्वाभाविक विकास मे यह काम्प्लेक्स (ग्रन्थि या गांठ) आगे के आरम्भिक बचपन मे समाप्त हो जाता है। देखिए विलियम मैक्डूगल कृत 'एन लाइन आव ऐबनॉर्मल साइकॉलोजी' (लन्दन, १९५२ का सस्करण, पृ० ४१८)।

प्रो० जे० बी० वाट्सन ने 'बिहेवियरिज्म' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जो मन या मानस आचरणो, झुकावों एव वृत्तियो के अस्तित्व को अमान्य ठहराता है। इस मत के अनुसार मनोविज्ञान का विषय 'मन' नहीं है वह प्राणी का आचरण या क्रियाएँ है। इस मत के अनुसार मूल प्रवृत्तियो (इंस्टिंक्ट्स) की धारणा, जिस पर अ मनोवैज्ञानिक मानस व्याख्याएँ उपस्थित करते है, निरर्थक सिद्ध हो जाती है।

३५ तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग। समाधिभावनार्थ क्लेशतनूकरणार्थश्च। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा क्लेशा। योगसूत्र (२।१-३)। धर्मशास्त्र-ग्रन्थो तथा अन्य ग्रन्थो मे 'तप' की कतिपय परिभाषाएँ दी हुई हैं। 'तपस्' शब्द एक दर्जन से अधिक वार ऋग्वेद मे हुआ है। देखिए ऋ० (६।५।४, ८।५९।६, ८।६०।१९, १०।१६।४, १०।८७।१४) जहाँ सभी स्थानो पर 'तपस्' शब्द का अर्थ उष्णता हो सकता है। किन्तु ऋ० १०।१०९।४, १०।१५४।२, ४ (पितॄन् तपस्वत), ५ (ऋषीन्), १०।१८३।१, १०।१९०।१ मे

किये जाने पर समाधि की उत्पत्ति करते है, उन क्लेशो को कम करते है जो अविद्या (अज्ञान, जिससे अन्य चारो की उत्पत्ति होती है), अस्मिता (व्यक्तित्व का भाव), राग (वासनाओ के प्रति मोह), द्वेष (जो क्रोधपूर्वक पीडा एव उसके कारणो मे पाया जाता है) एव अभिनिवेश (जीने की इच्छा या जीवन से चिपकना) के रूप मे प्रकट होते है। व्यासभाष्य मे तप की व्याख्या (यो० सू० २।३२) द्वन्द्वो को सह लेने के रूप मे हुई है, यथा—भूख एव प्यास, शीत एव उष्ण, खडा रहना एव बैठा रहना, स्थाणु (थून्ही) की भाँति स्थिर रहना (सकेतो द्वारा भी मन मे उठती भावनाओ को न व्यक्त करना), देह की स्थिरता (सर्वथा मौन रहना) तथा कृच्छ्र, चान्द्रायण एव सान्तपन जैसे व्रत भी तप मे परिगणित होते है।

व्यासभाष्य ने 'स्वाध्याय' की व्याख्या की है और कहा है कि यह ओम् एव अन्य पवित्र वचनो का जप

'तपस्' का अर्थ है 'तपस्या, वैराग्य या दैहिक सयम।' तपसा येऽनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययु। तपो ये चक्रिरे महस्ताश्चिदेवापि गच्छतात्। ऋ० १०।१५४।२ (यह मृत व्यक्ति के आत्मा को सम्बोधित है)—'जो तपो के कारण दुष्प्रधर्ष (अधृष्य, अर्थात् जिन पर आक्रमण नहीं किया जा सकता) है, जो तपो के कारण स्वर्ग को गये और जिन्होने महान् तप किये उन्हे मिला दो।' अन्य ज्ञात लोगो की अपेक्षा भारतीयो मे ही सर्वप्रथम तप पर इतना बल दिया गया। ऋ० (१०।१९०।१) मे आया है कि उचित (न्याय्य) एव सत्य तथा सूर्य एव चन्द्र और विश्व तपो से ही उत्पन्न हुए हैं। ऋ० (१०।१०९।४) मे सप्तर्षियो को तपस्या के लिए बैठे हुए कहा गया है। ऋ० (१०।१३६।२)मे मुनियो को लम्बी-लम्बी जटा वाले एव गन्दे पीत वस्त्र पहने मार्गों पर चलते हुए व्यक्त किया गया है। शतपथब्राह्मण (६।१।१।१३) एव ऐतरेयब्राह्मण (११।६।४) मे ऐसा व्यक्त किया गया है कि यज्ञ के समान तप सब कुछ प्रदान करेगा। उपनिषदो (यथा—तै० उप० ३।५—'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व', बृह० उप० ४।४।२२) ने बलपूर्वक कहा है कि तप ब्रह्मज्ञान के साधनो मे एक साधन है। छान्दोग्योपनिषद् (२।२३) ने तप को तीन धर्मस्कन्धो मे दूसरा स्थान दिया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।५।१) मे ऐसा कहा गया है कि वैदिक विद्यार्थियो के लिए जो कठोर व्रत या नियम व्यवस्थित किये गये है, वे तप कहे जाते है (नियमेषु तप शब्द)। गौतमधर्मसूत्र (१९।१५) ने व्यवस्था दी है कि काम-सम्बन्धी शुद्धता, सत्यता दिन मे तीन बार स्नान, गीला वस्त्र-धारण, यज्ञिय भूमि पर शयन एव उपवास तप कहे जाते हैं, मनु० (१०।७०) ने व्यवस्था दी है कि यदि व्यवस्थित नियमो के अनुसार एव सात व्याहृतियो एव प्रणव के साथ तीन प्राणायाम सम्पादित किये जायँ तो वे सभी ब्राह्मणो के लिए सर्वोत्तम तप हैं। मनु० (११।२३४-२४४) मे तपो की बड़ी सुन्दर स्तुति की गयी है, श्लोक २३८ मे आया है—'तप द्वारा सभी कुछ सम्पादित हो सकता है, क्योकि तप मे दुर्जेय शक्ति पायी जाती है। याज्ञ० (११।१९८-२०२) ने भी तप की प्रभूत महत्ता गायी है। जैमिनि (पू० मी० सू० ३।८।९) मे 'उपवास' के लिए 'तपस्' शब्द का प्रयोग किया गया है। महाभारत मे भी तप की प्रशसा की गयी है, देखिए—वनपर्व २५९।१३।१७, शान्ति० ५।१२ (देवो एव मुनियो ने तप द्वारा अपना स्थान प्राप्त किया)। अनुशासन (१२२।५-११)। शान्ति० (७९।१८) मे यो आया है—'अहिंसा सत्यवचनमानृशस्य दमो घृणा। एतत्तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम्॥ यहाँ पर महाभारत के सभी श्लोक चित्रशाला प्रेस के सस्करण से लिये गये हैं। योगियो से 'अजपा जप' करने को कहा गया है, अर्थात् जब वे भीतर साँस लेते हैं तो 'सोह' ध्वनि होती है और जब वे साँस बाहर करते है तो 'हस' ध्वनि, तथा मिश्रित शब्द हैं 'सोह हस' अर्थात् 'मै वह हस (नित्य आत्मा) हूँ।' मिलाइए बृहद्योगियाज्ञवल्क्य (२।११५)—'हस तुर्यं पर ब्रह्म।'

या मोक्षशास्त्रो का अध्ययन है।[३६] शतपथब्राह्मण (११।५।७) मे स्वाध्याय की प्रशसा की गयी है और 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' (वेद का अध्ययन करना चाहिए) जैसे शब्दो का प्रयोग बहुधा हुआ है। 'ओम्' उन प्रतीको मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिनके द्वारा ब्रह्म की उपासना की जाती है। देखिए छान्दोग्योपनिषद् (१।१।१ 'ओमित्ये-दक्षरमुद्गीथमुपासीत'), तै० उप० (१।८ 'ओमिति ब्रह्म ओमितीद सर्वम्), मुण्डकोपनिषद् (२।२।४ 'प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते', अर्थात् 'ओम् धनुष है, आत्मा तीर है, ब्रह्म लक्ष्य है), प्रश्न उप० (५।५ 'य पुनरेत त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण पर पुरुषमभिध्यायीत)। योगसूत्र ने ओम् की यह महत्ता उपनिषदो से ली है। अनित्य को नित्य, अशुद्ध को शुद्ध, क्लेश (पीडा) को आनन्द एव अनात्मा को आत्मा समझना **अविद्या** है। जब द्रष्टा को देखने के यन्त्र के अनुरूप (यथा मन एव इन्द्रियो के अनुरूप) समझा जाता है तो **अस्मिता** (अर्थात् व्यक्तिता की अनुभूति) होती है। **अभिनिवेश** (जीवन से चिपके रहना) का अर्थ है ऐसी काक्षा या ईहा (क्या मैं जीना नही चाहता, क्या मै जीता रहूँगा ?) जो अपनी शक्ति से ही बढती रहती है और विद्वानो मे भी उसी रूप से स्थापित रहती है। ईश्वरप्रणिधान की व्याख्या ऊपर हो चुकी है। योगसूत्र (२।११ एव १२) का कथन है कि क्लेशो की सूक्ष्म दशाएँ (अर्थात् अविद्या एव अस्मिता) होती है और वृत्तियो के रूप मे (मन की चचलता, राग, द्वेष एव अभिनिवेश) स्थूल परिणाम होते है, सूक्ष्म दशाओ से छुटकारा वास्तविक ज्ञान से होता है और स्थूल परिणाम ध्यान से नियन्त्रित होते है। **कर्म** का सञ्चित सग्रहण पाँच क्लेशो से उत्पन्न होता है, उनका भोग दृष्ट जन्म (वर्तमान जन्म) एव अदृष्ट जन्म (अर्थात् भविष्य) मे होता है। जब तक जड (मूल अर्थात् क्लेश) विद्यमान रहती है सचित कर्म तीन रूपो मे प्रकट होता है, अर्थात् जन्म, जीवन (लम्बा या छोटा) एव भोग के रूप मे, और ये तीनो रूप अच्छे या बुरे कर्मो के अनुसार क्रम से आनन्द या क्रोध की उत्पत्ति करते है। योगसूत्र मे आया है कि योगशास्त्र मे चिकित्साशास्त्र की भाँति चार व्यूह (स्वरूप) होते है, यथा—**ससार** (जन्मो एव पुनरागमन का चक्र), ससार का **कारण**, ससार से **मुक्ति**, मुक्ति के **साधन** (सम्यक् दर्शन, वास्तविकता मे पहुँच अथवा त्रुटिपूर्ण ज्ञान से रहित पुरुष एव प्रकृति मे अन्तर्भेद करना)।[३७] योगसूत्र

३६ स्वाध्याय प्रणवादिपवित्राणा जपो मोक्षशास्त्राध्ययन वा। योगसूत्र (२।१)। गौतमधर्मसूत्र (१९। १२=बौधायनधर्मसूत्र ३।१०।१०, वसिष्ठ० २२।९) ने उपनिषदो, वेदान्त एव कुछ वैदिक वचनो को पवित्र वचन (या वाक्य) की सज्ञा दी है जिनके जप से व्यक्ति पापो का प्रायश्चित्त करता है। वसिष्ठधर्मसूत्र (२८।१०-१५=विष्णुधर्मसूत्र ५६, गद्य मे=शखस्मृति १०।१२ एव अध्याय ११) ने सभी वेदो के पवित्र वचनो (पवित्राणि) को उल्लिखित किया है। 'प्रणव' शब्द तैत्तिरीयसहिता (३।२।९।५-६) मे आया है—'उद्गीथ एवोद्गातृणामृच प्रणव उक्थशसिनाम्', जिसे शबर (पू० मी० सू० ३।७।४२) ने उद्धृत किया है।

३७ यथा चिकित्साशास्त्र चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्य भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्र चतुर्व्यूहमेव—ससार, ससारहेतु मोक्ष मोक्षोपाय इति। तत्र दु खबहुल ससारो हेय। प्रधानपुरुषयो सयोगो हेयहेतु सयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपाय सम्यग्दर्शनम्। योगभाष्य (यो० सू० २।१५ पर)। हेय दु ख-मनागतम्। द्रष्टृदृश्ययो सयोगो हेयहेतु। तस्य हेतुरविद्या। तदभावात्सयोगाभावो हान तद् दृशे कैवल्यम्। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय। योगसूत्र (२।१६, १७, २४-२५)। मिलाइए बुद्ध के चार आर्य सत्य—दु ख, दु खसमुदय, दु खनिरोध, दु खनिरोधगामिनी पटिपदा, देखिए महावग्ग (१।६।१९-२२)। वाचस्पति के अनुसार 'विप्लव' का अर्थ है मिथ्याज्ञान।

(२।१६-२७) मे इन चारो का उल्लेख है और इनकी परिभाषा मे दिये गये कुछ शब्दो का अर्थ भी बताया गया है। सूत्र २८ मे कहा गया है कि जब योग के अगो के अभ्यास से अशुद्धिया दूर होती जाती है तो ज्ञान चमकने लगता है और इस प्रकार क्रमश अन्तर्भेद करने की शक्ति पूणता प्राप्त कर लेती हे। इसके उपरान्त २६वे सूत्र मे योग के आठ अगो का उल्लेख है, यथा—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एव समाधि।[३८] वैखानसस्मार्तसूत्र ने योग के आठ अगो का उल्लेख किया है। द्वितीय पाद के शेष सूत्र (३० से ५५ तक) यमो एव नियमो, उनकी व्याख्याओ, आसनो, प्राणायाम एव प्रत्याहार का उल्लेख करते हैं। शान्ति० (३०४।७=३१६।७, चित्रशाला प्रेस सस्करण) ने योग को 'अष्टगुणित' या 'अष्टगुणी' कहा है। योग के आठ अगो मे प्रथम पाँच अप्रत्यक्ष रूप से समाधि के लिए उपयोगी है, क्योकि वे समाधि-विरोधी (यथा—हिसा, असत्य आदि) वृत्तियो को दूर भगाते है और योग के बहिरग साधन कहे जाते है। किन्तु धारणा, ध्यान एव समाधि योग के अन्तरग साधन कहे जाते है (योगसूत्र ३।७, 'त्रयमन्तरग पूर्वेभ्य')। अन्तिम तीन का विवेचन तृतीय पाद मे हुआ है। धर्मशास्त्र के ग्रन्थो मे द्वितीय पाद के इन्हीं सूत्रो पर बल दिया गया है। अत इन बातो पर कुछ अधिक लिखना आवश्यक है।

कुछ ग्रन्थो (यथा—गोरक्षसहिता) मे योग के केवल छह अगो का उल्लेख है, वहाँ यम एव नियम या कुछ अन्य छोड दिये गये है। यही बात मैत्रायणी उप० (६।१८), ध्यानबिन्दु उप०, अत्रिस्मृति (११।६), दक्ष० (७।३४), स्कन्दपुराण (काशीखण्ड, ४१।५६) एव बौद्धो मे पायी जाती है।[३९] मनु० (४।२०४) मे आया

३८ योगागानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते। यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावगानि ॥ यो० सू० (२।२८-२६)।२।२६ पर भाष्य यो है—'तेषाम् (योगागानाम्) अनुष्ठानात् पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाश। यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्वर्धते। सा खल्वेषा विवृद्धि प्रकर्षमनुभवत्याविवेकख्याते, आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थ।' योगसूत्र (२।३) मे उल्लिखित पाँच क्लेश ही विपर्यय कहे जाते है। यह विलक्षण बात है कि कृत्यकल्प० (मोक्षकाण्ड, पृ० १६७) एव अपरार्क० (पृ० १०२२) द्वारा आठ अग 'यम समाधयोऽष्टावगानि' महाभारत से उद्धृत किये गये है। वैखानसस्मार्तसूत्र (८।१०) ने योगियो को, उनके अभ्यासो एव सयमो के अनुसार, तीन श्रेणियो मे बाँटा है, यथा—सारग, एकार्घ्य एव विसरग, जिनमे प्रत्येक पुन कई कोटियो मे बाँटे गये है। उसमे पुन आया है कि 'अनिरोधक' नामक योगी प्राणायाम नही करते, 'मार्गग' नामक योगी केवल प्राणायाम करते है, शेष तथा 'विमार्गग' नामक योगी सभी आठ अगो का अभ्यास करते है, किन्तु वे ईश्वर का ध्यान नही भी करते। मौलिक शब्द ये हे—'ये विमार्गगास्तेषा यमनियम त्यष्टाग कल्पयन्तो ध्येयमप्यन्यथा कुर्वन्ति।' अन्तिम अश का अर्थ करना कठिन है। सम्भवत इस वाक्य मे कुछ ऐसी कोटि के योगियो का उल्लेख है जो ईश्वर का ध्यान नही करते और ऐसा विश्वास करते है कि बिना ईश्वर का ध्यान किये वे कैवल्य (मुक्ति) प्राप्त कर सकते है।

३६ तथा तत्प्रयोगकल्प। प्राणायाम प्रत्याहारो ध्यान धारणा तर्क समाधि षडग इत्युच्यते योग। मैत्रा० उप० (२।१८)। अत्रिस्मृति (६।६) एव दक्षस्मृति ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है। 'आसन प्राणसरोध प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यान समाधिरेतानि योगागानि भवन्ति षट् ॥' ध्यानबिन्दु उप० (श्लोक ४१, अड्यार सस्करण), गोरक्षशतक (१।४) एव स्कन्दपु० (काशीखण्ड ४१।५६)। अपरार्क (याज्ञ० ३।११०, पृ० ६६०) ने एक

है—'विज्ञ व्यक्ति को सदैव यमो का भी पालन करना चाहिए, केवल नियमो का ही पालन नही होना चाहिए, जो व्यक्ति केवल नियमो का पालन करता है और यमो का नही, वह पाप करता है (अर्थात् नरक मे पडता है)।' इसका अर्थ यह नही है कि नियम वर्जित है, प्रत्युत यह कहा गया है कि यम नियमो से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। शान्ति० (३२६।१५=३३९।१६ चित्रशाला प्रेस सस्करण) मे 'यम' एव 'नियम' दोनो का उल्लेख हुआ है। कुछ स्मृतियाँ उन्हे योग के अगो के रूप में छोड देती है, क्योकि वे मनु० याज्ञ० आदि द्वारा सामान्यत सभी लोगो के लिए व्यवस्थित किये गये है। मनु यमो एव नियमो को गिनाते नही, किन्तु याज्ञ० ने दस यमो एव दस नियमो का उल्लेख किया है (याज्ञ० ३।३१२–३१३)। देखिए ऊपर पाद-टिप्पणी २३। योगसूत्र के पाँच यम ये है—**अहिंसा, सत्य, अस्तेय** (न चुराना, अर्थात् जो शास्त्रविहित न हो उसे दूसरो से न लेना), **ब्रह्मचर्य** (अन्य ज्ञानेन्द्रियो के साथ जननेन्द्रिय पर नियन्त्रण रखना) एव **अपरिग्रह** (शरीर की रक्षा के लिए जितना आवश्यक हो उससे अधिक किसी अन्य से न प्राप्त करना)। जब ये जाति, देश, काल एव अवसरो की चिन्ता (परवाह) न करके किये जाते है (अर्थात् अभ्यास या प्रयोग मे लाये जाते हैं) तो ये योगी के लिए **महाव्रत** कहे जाते है। जैसा कि मनु का कथन है, यमो का पालन सबको करना है, किन्तु कुछ अपवाद भी है। यमो का पालन **व्रत** है किन्तु उनका कठोर पालन (बिना किसी अपवाद के) **महाव्रत** कहलाता है, जिसे योगी लोग सभी दशाओ मे बिना किसी अपवाद के करते है। यमो एव नियमो का पालन कैवल्य या मुक्ति की प्राप्ति के लिए पहला सोपान है, क्योकि जब तक आत्मा सभी प्रकार की कामजनित एव अहभावी इच्छाओ से दूर हो शुद्ध नही हो पाता तब तक वह उस दिव्य या आध्यात्मिक जीवन को नही प्राप्त कर सकता जिसकी योग की उच्चतर दशा मे आवश्यकता होती है। इसका क्या तात्पर्य है, इसे हम अधोलिखित ढग से समझ सकते है—सामान्य लोगो के लिए इन बातो मे स्मृतियाँ कुछ छूट देती है। उदाहरणार्थ, क्षत्रिय का कर्तव्य है युद्ध करना और मनु (७।८७, ८९) ने इसी से व्यवस्था दी है कि क्षत्रिय को युद्धस्थल से भाग नही आना चाहिए और वे क्षत्रिय जो दोनो पक्षो मे लडाई करते है और ऐसा करते हुए मर जाते है, वे स्वर्ग मे पहुँचते है। और देखिए याज्ञ० (१।३२४)। अत क्षत्रिय के लिए हिंसा की अनुमति है, किन्तु यदि कोई क्षत्रिय योग का अनुसरण करना चाहता है तो उसे हिंसा का परित्याग करना पडता है। इसी प्रकार स्मृतियो ने पाँच अवसरो पर असत्य-भाषण क्षम्य ठहराया है (गौतम २३।२९, वसिष्ठ १६।३६, आदिपर्व ८२।१६, शान्ति० ३४।२५ एव १६५।३०, और देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ३, पृ० ३५३ एव पाद-टिप्पणियाँ ५३६ एव ५३७)। मनु (४।१३८) ने सामान्य लोगो के लिए एक छूट दी है—'अप्रिय सत्य नही बोलना चाहिए' (न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्)। किन्तु जो योग के अनुशासन मे आता है उसे सदा सत्य बोलना चाहिए, केवल एक अपवाद यह है कि सत्य बोलने से प्राणियो का नाश न हो। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।३१२) मे आया है कि विवाह पक्का कराने मे असत्य भाषण (जो स्मृतियो द्वारा क्षम्य माना गया है) का त्याग करना चाहिए, तथा व्रतधारी व्यक्ति को चाहिए कि वह पुत्र या शिष्य को दण्डित न करे। याज्ञ० (१।७९) एव मनु (४।१२८) मे आया है कि वह

स्मृति को उद्धृत करते हुए योग के ६ अग (यम, नियम एव आसन छोड दिये गये हैं और तर्क जोड दिया गया है) दिये हैं। वृद्धयोगियाज्ञवल्क्य (९।३५) एव लिगपुराण (१।८।८-९) ने आठ अगो का उल्लेख किया है। अपरार्क० (पृ० ९९०) ने व्याख्या की है—'ततो मनोबुद्धिपरित्यागेनात्मनि विमर्शस्तर्क।' वायुपुराण (१०। ७६) ने पाँच के नाम दिये हैं—प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, एव स्मरण।

गृहस्थ जो मासिक धर्म के उपरान्त कुछ विशिष्ट दिनो मे अपनी पत्नी के पास जाता है और पर्व के दिनो मे ऐसा नही करता (देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ३, पाद-टिप्पणी १४२५), उसे ब्रह्मचर्य व्रत का पालक कहना चाहिए, किन्तु जब वह योगमार्ग पर आरूढ होता है तो उसे यह छूट छोड देनी होगी और सभी प्रकार की नारियो से, यहाँ तक कि अपनी पत्नी से भी, सभी प्रकार के सम्बन्ध छोड देने होगे। इस बात पर लिंगपुराण ने बहुत बल दिया है।[४०] युक्तिदीपिका ने, जो सांख्यकारिका की एक प्राचीनतम टीका है, उल्लिखित किया है कि यम पाँच हैं, किन्तु उसने 'अपरिग्रह' के स्थान पर 'अकल्कता' (दुष्टता अथवा वक्र व्यवहार का अभाव) रखा है। विष्णु पु० (६।७।३६-३७) ने पाँच यमो एव पाच नियमो का वैसा ही उल्लेख किया है, किन्तु 'ईश्वरप्रणिधान' के स्थान पर 'परब्रह्म मे सलग्न मन' को रखा है (कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवण मन)। योगसूत्र (२।३२) के अनुसार पांच नियम ये है—**शौच** (शुद्धता), **सन्तोष**, **तप**, **स्वाध्याय** (वेदाध्ययन) एव **ईश्वरप्रणिधान** (ईश्वर-भक्ति या अपने सभी कर्मो का ईश्वर को समर्पण)। इनमे तीन, यथा—तपस्या, स्वाध्याय एव ईश्वरप्रणिधान को **क्रियायोग** कहा जाता है, जैसा कि योगसूत्र (२।१) मे उल्लिखित है। कर्तव्य की वस्तुगत परिभाषा करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु आत्मगत आधार पर इसकी परिभाषा की जा सकती है। कर्तव्यो पर बल देने का उद्देश्य यह है कि व्यक्ति छोटी-छोटी इच्छाओ से ऊपर उठे और उच्चतर व्यक्तित्व को प्रकाशित करे। ये कर्तव्य या नियम अधिक या कम उपनिषदो पर आधृत हैं, देखिए छान्दोग्योपनिषद् (३।१७।४) जहाँ **तप**, **अहिंसा**, **सत्यभाषण**, **दान** एव **आर्जव** यजमान द्वारा प्राप्त किये जाने वाले शील-गुण कहे गये हैं। और देखिए बृह० उप० (५।२।३) जहाँ सभी लोगो को **दम** (आत्म-निग्रह), **दान**, **दया** अपने मे उत्पन्न करने को कहा गया है। उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि योगसूत्र द्वारा व्यवस्थित **यम** ऐसे कर्तव्य हैं जो निषेध के रूप मे है, यथा—किसी को कष्ट न दो, झूठ न बोलो, किसी को लूटो नही, (दान ग्रहण न करो) तथा **नियम** ऐसे कर्तव्य है जिनका सम्बन्ध ऐसे व्यक्ति से है जिसने योग-मार्ग का अनुसरण कर लिया हो, और वे भावात्मक रूप मे प्रतिपादित हैं, यथा—शुद्ध रहो, सन्तुष्ट रहो, तप मे लगे रहो, वेदो का अध्ययन करते रहो और ईश्वर-भक्त बनो। अमरकोश[४१] के अनुसार **यम** नित्य कर्म है और वे शरीरसाधनापेक्ष (शरीर द्वारा किये जानेवाले) है, किन्तु **नियम** ऐसे है जो अनित्य है (अर्थात् प्रतिदिन या निरन्तर न किये जानेवाले) और वे शरीर से बाहर के साधनो पर आश्रित है (यथा जल आदि)। **शौच** के दो प्रकार है—**बाह्य** (जल, मिट्टी, पचगव्य, पवित्र भोजन आदि द्वारा प्रभावित शरीर का), एव **आभ्यन्तर** (आन्तरिक या मानसिक)। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ६५१-५२ एव मूल खण्ड ४, पृ० ३१०-३११। मनु० (५।१०६) का एक श्लोक अवलोकनीय है—सभी शौचो मे वह सर्वोत्तम है जो अर्थ से सम्बन्धित है (अनुचित साधनो से दूर रहकर तथा दूसरो को वञ्चित न करके धन की कामना करनी चाहिए), वह व्यक्ति 'शुचि' (पवित्र) है जो अर्थ के मामले मे पवित्र हो, वह नही जो मिट्टी या जल से

४० **कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा। सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥** कूर्म० (२।२।१८), योगियाज्ञवल्क्य (१।५५), अगारसदृशी नारी घृतकुम्भसम पुमान्। तस्मान्नारीषु ससर्गं दूरत परिवर्जयेत्॥ लिंगपु० (१।८।२३)।

४१ शरीरसाधनापेक्ष नित्य यत्कर्म तद्यम। नियमस्तु स यत्कर्मानित्यमागन्तुसाधनम्॥ अमरकोश (द्वितीय काण्ड, ब्रह्मवर्ग)। क्षीरस्वामी ने योगसूत्र की परिभाषाएँ उद्धृत की है और व्याख्या की है—'आगन्तु बाह्य मृज्जलादि साधन यत्रेति, अत एव कृत्रिमकर्म नियम।'

पवित्र किया गया हो।'[४२] द्वितीय पाद के सूत्र ३३-३४ मे आया है कि जब योगाभ्यासी विपरीत विचारो से आक्रमित हो जाय (यथा—जिसने मेरी हानि की है, मै उसे मार डालूगा, मैं असत्य भाषण करूँगा, मैं दूसरे का धन ले लूंगा, मै दूसरे की पत्नी के साथ बलात्कार करूँगा) तो उसे दृढप्रतिज्ञ हो जाना चाहिए और मन मे इन विचारो के विपरीत विचारो की उत्पत्ति करनी चाहिए और ऐसे दुष्कर्मों के परिणामो पर विचार करना चाहिए, यथा—ऐसे कर्मो से असीम दुख मिलता हे और यह सम्यक् ज्ञान के अभाव का परिचायक है। यम एव नियम योग के अभिलाषी के लिए आरम्भिक आचार-शास्त्र की बाते है, जिनका पालन परमावश्यक है और मनु एव याज्ञवल्क्य के अनुसार इनके कुछ भाग का पालन सभी लोगो को करना चाहिए।

द्वितीय पाद के सूत्र ३५-४५ मे कतिपय यमो एव नियमो के निरन्तर पालन के परिणाम रखे गये है, यथा—जब अभिलाषी अहिंसा मे दृढस्थित हो जाता है तो सभी प्राणी (मानव एव पशु) उसकी उपस्थिति मे वैर का त्याग कर देते है।[४३] जब योग का अभिलाषी असत्यभाषण से दूर रहने के अभ्यास मे दृढ हो जाता है तो उसकी वाणी वडी प्रभावशाली हो जाती है और वह जो कुछ किसी से कहता है, लोग उसे मान लेते है। (यथा—यदि वह किसी से कहे 'तुम पवित्र या साधुवृत्ति वाले बनो' या 'तुम्हे स्वर्ग की प्राप्ति हो जाय' तो वह व्यक्ति साधुवृत्ति वाला हो जाता है या स्वर्ग प्राप्ति करता है)। यदि वह चौर्य कर्म से सर्वथा दूर हट जाता हे तो सभी रत्न, सभी दिशाओ से आकर, उसका चरण-चुम्बन करते है (अर्थात् वह भले ही धन या साधनो के पीछे न पडे, किन्तु धन-सम्पत्ति अपने-आप उसके पास चली आती है)। जब योगी ब्रह्मचर्य मे दृढ रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है[४४] तो उसे शक्ति-लाभ होता है (जिसके द्वारा वह अणिमा की शक्ति भी पा लेता है) और जब वह

४२ सर्वेषामेव शौचानामर्थशौच पर स्मृतम्। योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचि शुचि ॥ मनुस्मृति (५।१०६), विष्णुधर्मसूत्र (२२।८९) मे भी यही बात है, किन्तु वहाँ 'अर्थ' के स्थान पर 'अन्न' है। विष्णुधर्मोत्तर० (३।२७५।१३) मे आया है—'तस्माद्धि सर्वशौचाना मन शौच पर स्मृतम्।' मिलाइए 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि (छान्दोग्योपनिषद् ७।२६।२) एव 'आहार शुद्धिरित्याचार्या' (अपरार्क द्वारा याज्ञ० १।१५४ की व्याख्या मे हारीतधर्मसूत्र से उद्धृत)।

४३ अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सनिधौ वैरत्याग। योगसूत्र (२।३५), वाचस्पति का कथन है—'शाश्वतिकविरोधा अप्यश्व-महिष-मूषक-मार्जाराहि-नकुलादयोऽपि भगवत प्रतिष्ठिताहिंसस्य सनिधानात्तच्चित्तानुकारिणो वैर त्यजन्ति।' सस्कृत के कवियो ने मुनियो के आश्रमो के इस स्वरूप का मनोहर वर्णन किया है। देखिए कादम्बरी (पूर्वभाग जहाँ जाबालि के आश्रम का वर्णन है)—'अस्य भगवत प्रसादादेवोपशान्तवैरमपगतमत्सर तपोवनम्। अहो प्रभावो महात्मानाम्। अत्र हि शाश्वतिकमपहाय विरोधमुपशान्तात्मानस्तिर्यञ्चोऽपि तपोवनसुखमनुभवन्ति। तथाहि एष विशति शिखिन कलापमातपाहतो नि शकमहि। अयमुत्सृज्य मातर प्रक्षरत्क्षीरधारमापिबति कुरगशावक सिहीस्तनम्।'

४४ देखिए छा० उप० (८।२।१०) 'य यमन्तमभिकामो भवति य काम कामयते सोऽस्य सकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते।' ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाया वीर्यलाभ। योगसूत्र (२।३८), १।२० मे यो आया है—'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।' अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथतासम्बोध। योगसूत्र २।३९, 'कथता' का अर्थ है 'किंप्रकारता।'

इसमे पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो वह योग-ज्ञान एव योग के अगो को अपने शिष्यो मे स्थानान्तरित करने के योग्य हो जाता है। योगसूत्र (१।२०) मे ऐसा आया है कि असम्प्रज्ञात-समाधि तभी आती है जब योगी मे विश्वास, वीर्य (शक्ति) एव अन्य गुण पाये जाते है। योगी या ब्रह्मज्ञान के अन्वेषक के लिए मन, वचन एव कर्म की पवित्रता पर बहुत बल दिया गया है ('माण्डूक्य० ३।१।५—'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्')। वास्तव मे बात यह है कि यदि योगी पूर्णतया पवित्र एव इन्द्रियनिग्रही है तो वह समाधि के अन्तिम ध्येय एव कैवल्य के पास पहुँचने मे शीघ्रता करता है और बिना जितेन्द्रिय हुए राजयोग का अभ्यास व्यर्थ एव भयकर है। जो लोग ब्रह्मचर्य की महत्ता को विशेष रूप से जानना चाहते है उन्हे महात्मा गान्धी लिखित 'सेल्फ-रेस्ट्रेण्ट वर्सस सेल्फ-इण्ट-ल्जेस' (तृतीय सस्करण, १९२८, विशेषत अनुक्रमणिका—१, पृ० १३७-१३८, जहाँ श्री डब्लू० एल० हरे का निबन्ध भी है) का अध्ययन करना चाहिए। जब योगी दृढ रूप से अपरिग्रह मे प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसमे अपने अतीत, वर्तमान एव भविष्य के जीवनो के ज्ञान की इच्छा जागती है (और उनसे उसे प्रकाश प्राप्त होता है)।

अपने शरीर को स्वच्छ एव शुद्ध कर लेने के उपरान्त योगी अपने शरीर से मोह छोड देता है और अन्य लोगो के सस्पर्श का त्याग कर देता है। मन की शुद्धता के अन्य परिणाम हैं सत्त्वगुण की शुचिता (अर्थात् उस पर रज एव तम का प्रभाव नही पडता), इन्द्रियो पर अधिकार एव आत्मा के परिज्ञान के लिए समर्थता की प्राप्ति। सन्तोष से परम सुख मिलता है। तप से शरीर की पूर्णता की प्राप्ति होती है (अणिमा के समान गुप्त शक्तियो की उपलब्धि होती है) और उससे क्लेश एव पाप नष्ट हो जाने के उपरान्त ज्ञानेन्द्रियो की पूर्णता प्राप्त होती है। लगातार वेदाध्ययन ('ओम्' के जप आदि) से अपने मनचाहे देवता की अनुभूति होने लगती है। ईश्वर की भक्ति से समाधि मे पूर्णता प्राप्त होती है।

अब हम **आसन** का अध्ययन करेगे। योगसूत्र मे इसकी परिभाषा दी हुई है—'आसन वह है जो स्थिर हो और सरल हो' (स्थिरसुखमासनम् २।४६)। आसन वह है जो कुश घास से आवृत हो, उस पर मृगचर्म या वस्त्र बिछा हो, जैसा कि गीता (६।११) मे उल्लिखित है। यह **बाह्य आसन** है। किन्तु योग मे आसन शारीरिक अवस्थिति का द्योतक है। यह द्रष्टव्य है कि योगसूत्र उन आसनो को, जो हठयोगप्रदीपिका एव हठयोग-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थो मे उल्लिखित है, स्पष्ट रूप से व्यवस्थित नही करता और उसमे आया है कि ये आसन पातञ्जल योग के अभ्यास के लिए आवश्यक नही है, प्रत्युत कोई भी आसन जो सरल हो, स्थिर हो एव सुखद हो, योगी के लिए पर्याप्त है। योगसूत्र यहाँ पर श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।८ एव १०) का अनुसरण करता है न कि किसी हठयोग-सम्बन्धी ग्रन्थ का (यदि वह योगसूत्र के काल मे उपस्थित रहा हो)। ऊपर वर्णित आसन की प्राप्ति के लिए योगी को अपने शरीर की स्वाभाविक गतियो को ढीला कर लेना होगा (प्रयत्नशैथिल्य) और मन को ब्रह्म मे केन्द्रित कर लेना होगा। आसन पर पूर्ण स्वामित्व-स्थापन के फलस्वरूप वह द्वन्द्वो (उष्णता एव शीत, भूख एव प्यास आदि) से विमोहित नही होता।

जो लोग आसनो के विषय मे विशिष्ट जानकारी प्राप्त करना चाहते है वे पूना के पास लोनावाला के कैवल्यधाम के श्री कुवल्यानन्द द्वारा प्रणीत एव प्रकाशित ग्रन्थ 'आसन्स' पढ सकते है। यह ग्रन्थ कुल १८८ पृष्ठो मे है, इसमे ८१ चित्र (विभिन्न आसनो के ७८ चित्र एव नौलि के ३ चित्र) है। दक्षस्मृति (७।५) मे पद्मासन का उल्लेख है और लगता है याज्ञ० (३।१९८) ने भी इसकी ओर सकेत किया है। डा० के० टी० बेहनान ने अपने ग्रन्थ 'योग, ए साइण्टिफिक इवैलुएशन' मे कतिपय आसनो के १६ चित्र दिये है। यद्यपि योगसूत्र ने किसी आसन का नाम नही लिया है तथापि व्यासभाष्य ने इनके नाम लिये है और इसके 'आदि' शब्द से कुछ अन्य आसनो

की ध्वनि मिलती है।[४५] रघुवश (१३।५२) मे वीरासन का उल्लेख है, शकराचार्य (वेदान्तसूत्र ४।१।१० पर) ने कहा है कि पद्मकासन एव अन्य विशिष्ट आसनो का उद्घोष योगशास्त्र मे हुआ है। शकराचार्य के मतानुसार वे० सू० (४।१।७-१०) ने गीता (६।११) मे उल्लिखित आसन की ओर सकेत किया है, उसने शारीरिक क्रियाओ की शिथिलावस्था एव शरीरावस्थिति को 'ध्यायतीव पृथिवी' (छान्दोग्योपनिषद् ७।६।१) नामक शब्दो द्वारा व्यक्त किया है। हठयोगप्रदीपिका (१।१७) के अनुसार आसन हठयोग का प्रथम अग है। शिव ने ८४ आसनो की चर्चा की है, जिनमे सिद्ध, पद्म, सिह एव भद्र नामक चार आसन अत्यन्त आवश्यक (सारभूत) हैं, और इसने सिद्धासन को सर्वश्रेष्ठ आसन माना है और उसका वर्णन किया है (१।३५)। हठयोगप्रदीपिका ने १।१९-५५ मे १५ आसनो के नाम लिये हैं और उनका वर्णन किया है। ध्यानबिन्दु उप० का कथन है कि आसनो की सख्या लम्बी है, किन्तु उसने केवल चार के नाम लिये हैं और उन्हे ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है। शिवसहिता (३।१००) एव घेरण्ड-सहिता (२।१) मे आया है कि आसन ८४ हैं, किन्तु गोरक्षशतक का कथन है कि आसन उतने हैं, जितनी जीवित जातियाँ हैं, और वे सभी शिव को ज्ञात है, किन्तु ८४ लाख आसनो मे शिव ने केवल ८४ को चुना है जिनमे सिद्धासन एव पद्मासन सर्वोत्तम है (१।५-९)।

'योग' शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ मे कई मामलो मे होता है। भगवदगीता मे, जो स्वय योगशास्त्र है और जिसका प्रत्येक अध्याय योग कहा जाता है, यह बात पायी जाती है, विशेषत उस विधि या विधियो के विषय मे जिससे या जिनके द्वारा परम ब्रह्म से तादात्म्य बढाया जाता है। उदाहरणार्थ, गीता मे ऐसे प्रयोग हुए हैं, यथा—अभ्यासयोग (८।८, १२।९), कर्मयोग (३।३ एव ७), ज्ञानयोग (३।३), भक्तियोग (१४।२६)। कुछ अन्य ग्रन्थो मे भी यही बात पायी जाती है। कुछ पाश्चात्य लेखको ने योग के कई प्रकारो का उल्लेख किया है, यथा—मन्त्र-योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग एव हठयोग। देखिए एफ्० यीट्स-ब्राउन कृत 'बगाल लैंसर' (१९३०, पृ० २८४), आर० सी० ओमन कृत 'दि मिस्टिक्स् ऐसेटिक्स एण्ड सेण्ट्स आव इण्डिया' (१९०५ का सस्करण, पृ० १७२), जेराल्डाइन कॉस्टर कृत 'योग एण्ड वेस्टर्न साइकॉलॉजी' (पृ० १०), ऐलेन डैनीलो का ग्रन्थ (पृ० ८३, जहाँ मन्त्रयोग, लययोग, कुण्डलिनीयोग आदि का उल्लेख है)। कुछ पश्चात्कालीन ग्रन्थ, यथा—योगतत्त्वोपनिषद्[४६] एव शिवसहिता (५।९) ने मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एव राजयोग नामक चार योगो की चर्चा की है। इन

४५ पद्मासन वीरासन भद्रासन स्वस्तिक दण्डासन सोपाश्रय पर्यंक क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदन-मुष्ट्रनिषदन समसस्थान स्थिरसुख यथासुख चेत्येवमादीनि। भाष्य (योगसूत्र २।३४६ पर)। क्रौञ्चनिषदन एव उसके आगे के दो आसनो के विषय मे वाचस्पति का कथन है—'क्रौञ्चादीना निषण्णाना सस्थानदर्शनात् प्रत्येत-व्यानि।' सोपाश्रय (किसी पीठोपधान के सहारे) 'योगपट्टकयोगात् सोपाश्रयम्' (वाचस्पति)। एपि० इण्डिका (जिल्द २१, पृ० २६०) मे राष्ट्रकूट राजा खोट्टिग के कोलागल्लु शिलालेख (शक सवत् ८८९, फरवरी १७, सन् ९६७ ई०) मे दण्डासन एव 'लोहासनी' नामक आसनो का उल्लेख है। योग का समाज मे इतना अधिक था कि बहुत-से शिलालेखो मे योग पद्धतियो का उल्लेख है।

४६ योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारत । मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोसौ राजयोजक ॥ मातृकादियुत मन्त्र द्वादशाब्द तु यो जपेत्। क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ॥ अल्पबुद्धिरिम योग सेवते साधकाधम ॥ लययोगश्चित्तलय कोटिश परिकीर्तित । गच्छस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायन्निष्कलमीश्वरम् ॥ स एव लययोग स्यात् आदि। योगतत्त्वोपनिषद् (१९।२१-२३)।

सभी योगो मे पतञ्जलि की ही प्रणाली प्रचलित है, किन्तु प्रत्येक मे योग के किसी विशिष्ट स्वरूप का ही निदर्शन है। वास्तव मे योग की केवल दो प्रमुख प्रणालियाँ हैं, एक वह जो योगसूत्र द्वारा प्रतिपादित है और जिसका भाष्य व्यास ने किया है और दूसरी प्रणाली वह है जो गोरक्षशतक तथा स्वात्मारामयोगी की हठयोगप्रदीपिका मे (जिस पर ब्रह्मानन्द द्वारा ज्योत्स्ना नामक टीका है) मे वर्णित है।[४७] सक्षेप मे दोनो योगप्रणालियो मे यह अन्तर है कि जहाँ पातञ्जल योग चित्तानुशासन पर ही सारा प्रयास लगाता है, वहाँ हठयोग का प्रमुख सम्बन्ध है शरीर, उसके स्वास्थ्य, शुद्धता एव रोगरहितता से। इस तथ्य का उद्घाटन इसी से हो जाता है कि जहाँ पतञ्जलि ने आसन की परिभाषा किसी ऐसी शरीरावस्थिति से की है जो 'स्थिरसुख' (स्थिर एव सरल अथवा सुखकर) हो, वहाँ हठयोग-सम्बन्धी ग्रन्थ बहुत-से आसनो का उल्लेख करते है, यथा—मयूरासन, कुक्कुटासन, सिद्धासन आदि, जिनसे रोगो का निवारण होता है (१।३१) और इस प्रकार कुल ८४ आसन है। इतना ही नही, हठयोग ने कुछ क्रियाओ का भी उल्लेख किया है, यथा—नेति (नासा-मार्ग निर्मल करना), धौति (आमाशय स्वच्छ करना), वस्ति (यौगिक एनिमा) एव नौलि (पेट की नलिका हिलाना), जिनके विषय मे पतञ्जलि मौन है।[४८] यदि उचित निर्देशन एव धैर्य के साथ हठयोग

४७ स्वात्माराम योगी कृत हठयोगप्रदीपिका का अग्रेजी अनुवाद श्री श्रीनिवास आयगर द्वारा हुआ है (थियॉसॉफिकल पब्लिशिग हाउस, मद्रास, तीसरा सस्करण, १९४९)। ग्रन्थ का नाम हठप्रदीपिका है, जैसा कि 'हठप्रदीपिका धत्ते स्वात्माराम कृपाकर' (१।३) से प्रकट होता है। प्रत्येक 'उपदेश' के अन्तिम तथा ब्रह्मानन्द कृत 'हठप्रदीपिका-ज्योत्स्ना' के प्रथम श्लोक से भी यही बात झलकती है। टीका के अनुसार 'ह' एव 'ठ' का अर्थ क्रम से सूर्य एव चन्द्र है और वे क्रम से दक्षिण एव वाम नासिका-श्वास के द्योतक हैं। शिवसहिता का अनुवाद राय-बहादुर श्रीचन्द्र विद्यार्णव द्वारा (पाणिनि ऑफिस, दूसरा सस्करण, १९२३) तथा घेरण्डसहिता का अनुवाद श्रीचन्द्र वसु द्वारा हुआ है (बम्बई, १८९६)।

४८ हठयोग की ६ क्रियाएँ ये है—धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटक नौलिक तथा। कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते॥ ह० यो० प्र० (२।२२)। योगमीमासा नामक जर्नल के खण्ड २, पृ० १७०-१७७ मे धौति, खण्ड १, पृ० १०१-१०४ मे बस्ति, खण्ड १, पृ० २५-२६ एव खण्ड ४, पृ० ३२०-२४ मे नौलि का तथा श्री कुवलयानन्द कृत 'प्राणायाम' पुस्तिका (भाग १, पृ० ७९-१००) मे कपालभाति का वर्णन है। नेति मे नासिका को स्वच्छ किया जाता है। त्राटक मे जब तक आँसू न गिरने लगें तब तक किसी अति सूक्ष्म लक्ष्य (पदार्थ) पर आँखो को बिना पलक गिराये रखा है (निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्य समाहित। अश्रुसम्पातपर्यन्त-माचार्यैस्त्राटक . .॥ ह० यो० प्र० (२।३१)। त्राटक के कई प्रकार हैं, यथा—नक्षत्रत्राटक, सूर्यत्राटक, आदर्शत्राटक, भ्रूमध्यत्रा०, नासाग्रत्रा०। जिसके नेत्र दुर्बल हो, उसे त्राटक नहीं करना चाहिए, केवल प्रवीण व्यक्ति के निर्देशन मे ही ऐसा करना चाहिए। एकाग्रता एव ध्यान के लिए त्राटक एक आरम्भिक आवश्यकता है। जो लोग हठयोग के विषय मे अभिरुचि रखते है, उन्हें थेयोस बर्नार्ड का ग्रन्थ 'हठयोग, दि रिपोर्ट आव ए परसनल एक्स्पीरिएस' (कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, द्वितीय सस्करण, १९४५) पढना चाहिए। थेयोज बर्नार्ड महोदय ने सम्पूर्ण भारत की यात्रा की, अपने गुरु की आज्ञा से उन्हीं के साथ राँची मे निवास करते रहे और उनकी आज्ञा से तिब्बत भी गये। उनके ग्रन्थ मे ३६ चित्र हैं, जिनमे २८ आसनो के चित्र है, ७, २६-२७ महामुद्रा, वज्रोलि-मुद्रा एव पाशिणीमुद्रा के चित्र हैं, ३२वें एव ३३वें चित्र मे उड्डीयान-बन्ध के प्रथम एव द्वितीय स्वरूप हैं, ३४ से ३६ तक के चित्र नौळी-मध्यमा, नौळी-वामा एव नौळी-दक्षिणा के चित्र हैं। हठयोगप्रदीपिका (३।६-७) मे दस

का अभ्यास किया जाय तो व्यक्ति न केवल स्वस्थ, शक्तिशाली, शुद्ध एव सक्रिय वन जाता है, प्रत्युत वह आन्तरिक शक्ति एव सुख पाता है। हठयोग की पद्धति से तीन परिणाम प्रकट होते हैं—(१) गेगो एव मन की अव्यवस्थाओ का अच्छा हो जाना, (२) सिद्धियो की प्राप्ति जिससे (३) राजयोग एव कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है। स्वय हठयोगप्रदीपिका मे कहा गया है कि हठयोग का उद्घोप राजयोग के लिए ही हुआ है[४९], अर्थात् राजयोग ही हठयोग का प्रमुख फल है न कि सिद्धियाँ और राजयोग से कैवल्य की उपलब्धि होती है। हठयोगप्रदीपिका ने पतञ्जलि की भाँति आठ अगो का उल्लेख किया है, किन्तु इसमे यम १० है, जिनमे हलका भोजन करना प्रमुख है और नियमो मे अहिसा प्रथम स्थान रखती है। आठ अगो के अतिरिक्त इसमे विशेषत महामुद्रा, खेचरी, जालन्धर, उड्डीयान तथा मूलवन्ध, वज्रोली, अमरोली एव सहजोली का उल्लेख है (१।२६-२७)। हठयोगप्रदीपिका (१।५-८) के अनुसार हठयोग का आरम्भ आदिनाथ (अर्थात् शिव) से हुआ। इसने मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ से लेकर आगे के ३५ महासिद्धो के नाम लिये है। ज्ञानदेव की भगवद्गीता-सम्वन्धी टीका ज्ञानेश्वरी ने अन्त मे गुरुपरम्परा का उल्लेख यो किया है—आदिनाथ , मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव।

हठयोग एव पातञ्जलयोग के ग्रन्थो मे अन्य भेद भी पाये जाते है। गोरक्षशतक एव हठयोगप्रदीपिका के अनुसार आसन एव प्राणायाम का प्रमुख उद्देश्य है कुण्डलिनी (व्यक्ति की मार्मिक शक्ति जो सुषुम्ना के मूल मे सर्प के समान कुण्डली या गेडुर लगाये रहती है) को जगाना तथा उसे कतिपय चक्रो से पार कराना तथा सुषुम्ना नाडी को ब्रह्मद्वार तक ले जाना, जव कि योगसूत्र चक्रो एव नाडियो की कदाचित् ही चर्चा करता है।[५०] वहुत-से लोग कुण्डलिनी पर लिखे गये ग्रन्थो के आधार पर कुण्डलिनी जगाने का प्रयास कर वैठते है। यह एक भयकर प्रयोग है। श्री पुरोहित स्वामी ने अपने ग्रन्थ 'एफोरिज्म्स आव योग' मे लिखा है कि कुण्डलिनी का जागरण एक भयकर अनु-

मुद्राओ के नाम आये हैं। सर पॉल ड्यक्स लिखित 'दि योग आव हेल्थ, यूथ एव ज्वॉय' हाल्ल का लिखा एक ग्रन्थ हे जो पाश्चात्य लोगो के लिए हठयोग पर लिखा गया है (कैसेल, लदन, १९६०)। यह अति उपयोगी ग्रन्थ है, इसमे लगभग ७० अतीव सुन्दर चित्र हे और व्यक्तिगत अभ्यास के आधार पर अत्यन्त सावधानी से यह लिखा गया है। लेखक वर्षों तक सेना मे सैनिको के समक्ष योगाभ्यास की उपयोगिता पर भाषण किया करते थे।

४९ केवल राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते। हठ० (१।२), जिस पर ज्योत्स्ना की टिप्पणी है—'राजविद्या एव मुख्य फल न सिद्धय। राजयोगद्वारा कैवल्य फलम्।' वहुत-से सिद्धो, यथा—मत्स्येन्द्रनाथ, शावरानन्द, भैरव, गोरक्ष आदि का उल्लेख करने के उपरान्त हठयोगप्रदीपिका (५।८) ने यो अन्त किया है—'इत्यादयो महासिद्धा हठयोग- ।'

५० योगसूत्र ने नाभिचक्र (यह केवल नाभि है, जिसका आकार वृत्तवत् है) एव कूर्मनाडी का क्रम से ३।२९ एव ३।३१ मे उल्लेख किया है। देखिए गोरक्षशतक (श्लोक १०-२३, ५४-६७) जहाँ चक्रो, नाडियो, ब्रह्मद्वार आदि का उल्लेख है। हठयोगप्रदीपिका (३) मे कुण्डलिनी के जागरण का उल्लेख है। गोरक्षशतक का मूल एव अनुवाद डब्लू० जी० ब्रिग्स कृत 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटास' (पृ० २८४-३०४) मे है जो अभी हाल मे स्वामी कुवलयानन्द द्वारा अनुवाद एव टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ है (१९५९)। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सम्प्रदाय' (१९५०)नामक एक ग्रन्थ लिखा हे। डा० मोहनसिह ने भी 'गोरखनाथ एण्ड मेडीवल हिन्दू मिस्टिसिज्म' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। यदि ज्ञानेश्वरी मे उल्लिखित गुरुपरम्परा को ठीक माना जाय तो गोरखनाथ लगभग ११०० ई० मे या इससे कुछ ही काल पश्चात् हुए थे। और देखिए श्री आर० सी० धेरे कृत मराठी ग्रन्थ 'गोरक्षनाथ की जीवनी एव शिष्यो की परम्परा' (पृ० २२४)।

भूति है, प्रथम दिन मे, जब कुण्डलिनी का जागरण हो गया तो ऐसा प्रतीत होता था कि मानो सम्पूर्ण शरीर अग्नि मे हो, और उन्होने समझा कि मै मर रहा हूँ, और वे तीन मासो मे कई मन दूध एव घृत पी गये और दो निम्ब-वृक्षो की सारी पत्तियाँ खा गये। नाडियो एव तन्त्रो के सिद्धान्त का बीज (मूल) कठोपनिषद् (६।१६) एव छान्दोग्योपनिषद् (८।६।६) के एक मन्त्र मे पाया जाता है—'हृदय की १०१ नाडियाँ है, उनमे ने एक मस्तक मे प्रवेश करती है, इसके द्वारा कोई ऊपर चढकर अमरता की उपलब्धि करता है, अन्य नाडियाँ विभिन्न दिशाओ की ओर जाने का कार्य करती है।' प्रश्न उप० (३।६-७) मे आया है कि १०१ नाडियो मे प्रत्येक मे ७२ उप-नाडियाँ है, जिनमे पुन १००० और (सूक्ष्म) नाडियाँ होती हैं। देखिए मुण्डक उप० (२।२।६)। छान्दोग्योप-निषद् (८।६।१) मे आया है कि हृदय की नाडियो मे एक सूक्ष्म पदार्थ होता है जिसका रग भूरा, श्वेत, नील, पीत या लाल होता है। सम्भवत यही पिङ्गला नामक नाडी के विषय की चर्चा का मूल है। मैत्रायणी उप० (६।२१) ने सुषुम्ना नाडी का उल्लेख किया है, जो ऊपर को जाती है।

विष्णुपुराण (६।७।३९) ने भद्रासन का उल्लेख किया है, जिसे वाचस्पति ने उद्धृत किया है। अन्य पुराणो मे वायु (११।१३), मार्कण्डेय (३६।२८), कूर्म (२।११।४३), लिंग (१।८।८६), गारुड (१।२३८।११) ने स्वस्तिक, पद्म एव अर्धासन नामक तीन आसनो की चर्चा की है। विष्णुधर्मोत्तर-पुराण (३।२८३।६) ने स्वस्तिक, सर्वतोभद्र, कमल (पद्म) एव पर्यंक नामक आसनो को ध्यान के लिए व्यवस्थित किया है। भागवत० (३।२८।८) ने आसन-सम्बन्धी गीता (६।११) के शब्दो (शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य) का प्रयोग किया है।

आसनो के दो प्रकार है, जिनमे एक प्राणायाम, ध्यान एव एकाग्रता के लिए उपयोगी है, यथा—पद्म, सिद्ध एव स्वस्तिक। आसनो का दूसरा प्रकार शारीरिक रोगो के निवारण एव स्वास्थ्य के लिए उपयोगी होता है। किन्तु इनमे अधिकाश मे विभिन्न शारीरिक आयासो की आवश्यकता होती है और इन आसनो द्वारा उपस्थापित अन्तिम शरीर-दशा गम्भीर ध्यान को असम्भव नही तो कठिन अवश्य बना देती है। देखिए शीर्षासन, सर्वांगासन, हलासन, विपरीतकरणी, मयूरासन। तेजोबिन्दु उपनिषद् (१।२३) का कथन है कि वही आसन (उचित) आसन है जो ब्रह्म मे निरन्तर ध्यान लगाना सम्भव करता है, अन्य आसन केवल कठिनाई उत्पन्न करते है। ऐसा नही सोचना चाहिए कि उस व्यक्ति को, जो उच्चतर योग-अनुशासन के पीछे पडा हुआ है, आसनो मे कुछ समय देना चाहिए, क्योकि तभी वह आगे के योग-स्तर को प्राप्त कर सकेगा। वास्तव मे आसनो का प्रारम्भिक उद्देश्य है रोगो का निवारण करना एव स्वस्थ शारीरिक सस्कार की प्राप्ति करना। यदि कोई योगी अपेक्षाकृत स्वस्थ शरीर वाला है तो वह प्राणायाम एव अन्य अगो का अभ्यास कर सकता है। आसनो के अतिरिक्त योगाभ्यासी को अपनी नाक के अग्रभाग पर (त्राटक) अपलक देखते रहना होता है (गीता, ६।१३)।

योगी को क्या खाना चाहिए, क्या नही खाना चाहिए तथा उसे कहाँ पर योगाभ्यास करना चाहिए, इस विषय मे बहुत-से नियम प्रतिपादित किये गये हैं। शान्तिपर्व[51] मे आया है कि योगी को चावल के छोटे-छोटे कण

५१ कणाना भक्षणे युक्त पिण्याकस्य च भक्षणे। स्नेहाना वर्जने युक्तो योगी बलमाप्नुयात् ॥ भुञ्जानो यावक रूक्ष दीर्घकालमरिन्दम। एकारामो विशुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ पक्षान् मासानृतूश्चैतान् सञ्चरश्च गुहास्तथा। अप पीत्वा पयोमिश्रा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ शान्ति० (२८९।४३-४५, ३००। ४३-४५ चित्रशाला प्रेस सस्करण)। और देखिए मार्कण्डेय० (३६।४८-५०), ब्रह्मपुराण (२३४-१७-९), कूर्म० (२।११।४७-५२), स्कन्द० (काशीखण्ड ४१।६५-६६), लिंगपु० (१।८।७९-८४), जहाँ योगाभ्यास के लिए वर्जित स्थानो का उल्लेख है।

पकाकर या पिण्याक (खली) खाना चाहिए, तैलयुक्त पदार्थों का सेवन नही करना चाहिए, यदि वह यावक (अर्थात् कुल्माष या जौ का दलिया) पर ही रहे तब भी बलवान् रहेगा, उसे जल एव दूध मिलाकर पीना चाहिए और गुफाओ मे निवास करना चाहिए। मार्कण्डेय (कृत्यकल्पतरु, पृ० १६७-१७७, मोक्ष खण्ड) मे आया है—'योगी को सूने स्थलो, वनो, गुहाओ मे ध्यान का अभ्यास करना चाहिए, कोलाहलपूर्ण स्थानो मे, अग्नि एव जल के पास, पुरानी गोशालाओ मे, चौराहो मे, सूखी पत्तियो के ढूह के पास, नदी के तट पर, श्मशान मे, जहाँ रेंगने वाले जीवो का निवास हो, भयकर स्थानो मे, कूप के पास, चैत्य (जहाँ चिता लगायी गयी हो) या दीमक के ढूह पर योगाभ्यास नही करना चाहिए।' उसी पुराण मे यह भी आया है कि उसे तब योगाभ्यास नही करना चाहिए जब पेट मे वायु हो या वह भूखा हो या थका-माँदा हो या जब मन से अव्यवस्थित हो या जब अधिक शीत या उष्ण हो, तीक्ष्ण वायु-वेग हो। देवलधर्मसूत्र मे व्यवस्था है कि योगी को योगाभ्यास देवतायतन (मन्दिर), खाली घर, गिरि-कन्दरा, नदी-पुलिन (नदी की वालुका-भूमि), गुफाओ या वनो तथा भयरहित पवित्र एव शुद्ध स्थल मे करना चाहिए।[52] हठयोगप्रदीपिका (१।६१) मे भक्ष्याभक्ष्य का उल्लेख है। गोरक्षशतक[53] मे व्यवस्था है कि योगी को कटु, अम्ल, लवण युक्त भोजन का त्याग करना चाहिए, उसे केवल दुग्ध भोजन पर रहना चाहिए। गीता मे आया है—'जो अधिक खाता है, या पूर्ण उपवास करता है, वह योग मे सफल नही हो सकता, योग उसके कष्ट को दूर करता है, जो उचित भोजन-व्यायाम करता है।' छान्दोग्योपनिषद् (७।२६।२) मे, जहाँ सनत्कुमार नारद को वास्तविक तत्त्व के विषय मे उपदेश करते है, आया है कि आहार की शुद्धता से मन की शुद्धता आती है (आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धि)। और देखिए अपरार्क (याज्ञ० ३।१५४, पृ० २२१)।

प्राणायाम योग का वह अग है जो आरम्भिक कालो से ही धर्मशास्त्र के ग्रन्थो मे आता रहा है। शाब्दिक रूप मे इसका अर्थ है 'प्राण का नियन्त्रण या विराम।' इसके अन्य पर्याय है 'प्राणसयम' (याज्ञ० १।२२) एव 'प्राण-सरोध'। महत्त्वपूर्ण विवादवस्तु है—'प्राण' का अभिप्राय क्या है ? यह शब्द 'अन्' (साँस लेना) धातु से निष्पन्न है और 'प्र' उपसर्ग पहले जोड दिया गया है, यथा—प्र + अन्। यह क्रिया एव इसके रूप ऋग्वेद मे आये है (१।१०१।५, १०।१२१।३, १०।१२५।४)। ऋग्वेद मे कई स्थानो पर 'प्राण' का अर्थ केवल 'साँस लेना' है, यथा—१।६६।१, ३।५३।२१ एव १०।६८।६ मे। ऋ० (१०।९०।१३ 'प्राणाद्वायुरजायत') मे ऐसा आया है कि आदि-पुरुष के प्राण से वायु (हवा) प्रकट हुई। ऋग्वेद मे 'असु' शब्द भी 'प्राण' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है (१।११३।१६॥ 'उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगात्' एव १।१६४।४)। 'प्राणन' (श्वास) एव 'जीवन' दोनो ऋ० (१।४८।१०, जो उषा को सम्बोधित है) मे आये है। सम्भवत ऋ० (१०।१८९।२) मे 'अपान' की ओर निर्देश है, यथा—'अन्त-श्चरति रोचनास्य प्राणादपानती।' तैत्तिरीय सहिता (१।६।३।३) मे प्राणो के पाँच प्रकार जोड़े मे आलिखित

५२ देवतायतनशून्यागारगिरिकन्दरनदीपुलिनगुहाख्यानाम्अन्यतमे शुचौ निराबाधे विभक्ते . मनसा तच्चिन्तन ध्यानम्। देवल (कृत्यकल्प०, मोक्ष, पृ० १८१)। मिलाइए श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।१०)।

५३ कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत्। गोरक्षशतक (५०), कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णरीत-शाकसौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान् । आजादिमांसदधितक्रकुलत्यकोलपिण्याकहिङ्गुलशुनाद्यमपथ्यमाहु ॥ गो-धूमशालियवषाष्टिकशोभनान्न क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि। शुठीपटोलकफलादिकपचशाक मुद्गादि दिव्य-मुदक च यमीन्द्रपथ्यम्॥ पुष्ट सुमधुर स्निग्ध गव्य धातुप्रपोषणम्। मनोभिलषित योग्य योगी भोजनमाचरेत्॥ ह० यो० प्र० (१।६४-६५)।

है।[५४] तै० स० (१।७।६।२) मे 'प्राण', 'अपान' एव 'व्यान' नामक तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अथर्ववेद (८।१।१) मे 'प्राणा' एव 'अपाना' को बहुवचन मे प्रयुक्त किया गया है। इन दोनो के अतिरिक्त 'असु', 'प्राण' एव 'आयु' (८।१।३) का भी प्रयोग हुआ है। सम्भवत इन पाँचो का अर्थ 'जीवन' (प्राण) ही है। उपनिषदो मे प्राण सभी जीवो की प्रमुख शक्ति का रूप धारण कर लेता है और ब्रह्म का प्रतिनिधि या प्रतीक हो जाता है। देखिए बृ० उप० (१।६।३ प्राणो वा अमृत नामरूपे सत्य ताभ्याम् अय प्राणश्छन्न), बृ० उप० (१।५।२३) मे जहाँ एव श्लोक उद्धृत है कि सूर्य प्राण से उदित होता है और प्राण मे ही अस्त हो जाता है, ऐसा आया है—'तस्मादेक-मेव व्रत चरेत्, प्राण्याच्चैवापान्याच्च, नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नवदिति', 'अर्थात् इसलिए व्यक्ति को एक ही व्रत लेना चाहिए, उसे उच्छ्वास एव नि श्वास इस (भयपूर्ण) विचार के साथ लेना चाहिए कि दुष्ट मृत्यु मुझे पकड लेगी।' यही हमे प्राणायाम की महत्ता का सिद्धान्त दृष्टिगोचर हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद् (५।१८-२४) मे कहा गया है कि भोजन के समय प्राण, व्यान, अपान, समान एव उदान को पाँच आहुतियाँ दी जानी चाहिए (यथा—'प्राणाय स्वाहा' आदि) और जो व्यक्ति अग्निहोत्र एव आहुतियो का सच्चा अर्थ जानता है वह सभी लोको, जीवो एव आत्माओ मे इसे करता है। आज भी भोजन के पूर्व ब्राह्मण लोग इन आहुतियो का कृत्य करते हैं, केवल पाँच के क्रम मे अन्तर पड गया है। प्रश्नोपनिषद् (२।१३) मे आया है—'यह सब जो तीनो लोको मे प्रतिष्ठापित है, प्राण के अधिकार के अन्तर्गत है।' छान्दोग्योपनिषद् (४।३।३) मे भी प्राण के पाँच नाम लिये गये हैं जो शरीर के विभिन्न भागो मे अवस्थित होने के कारण प्राण, अपान, व्यान, समान एव उदान कहे जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ईसा की शती के बहुत पूर्व से ही पाँच प्राणो की क्रिया के अन्तर का परिज्ञान लोगो को हो गया था।

इस ग्रन्थ मे उपनिषदो की प्राण-सम्बन्धी व्याख्या एव विशद विवेचन मे जाना आवश्यक नही है। 'प्राण' एव 'अपान' के अर्थ के विषय मे एक विवाद चलता रहा है। कैलैण्ड, कीथ, ड्यूमाण्ट आदि के मतानुसार प्राचीन वैदिक साहित्य मे **प्राण** का अर्थ था 'नि श्वास' (अर्थात् साँस निकालना) एव **अपान** का 'उच्छ्वास' (साँस लेना), जो आगे चलकर सुधारा गया। दूसरी ओर अधिकाशत सभी टीकाकारो, लेखको तथा जी० डब्लू० ब्राउन, एडगर्टन आदि ने इसका उलटा प्रतिपादित किया है। प्रस्तुत लेखक दूसरे मत का समर्थन करता है, अर्थात् 'प्राण' का अर्थ था और अब भी है 'साँस लेना' तथा 'अपान' का अर्थ है 'पेट की वायु' (जो बाहर निकलती है)। सभी विद्वान् इस विषय मे एकमत है कि सस्कृत साहित्य मे 'प्राण' एव 'अपान' के अर्थ ये ही थे। विरोधी मत केवल इतना ही कहता है कि प्राचीन काल मे (प्राचीन वैदिक काल मे) ही 'प्राण' एव 'अपान' के अर्थ थे क्रम से 'निश्वास' (साँस निकालना) एव 'उच्छ्वास' (साँस लेना)। जहाँ तक सम्भव हो हमे ऐसा जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि उपनिषदो के वचन हमारे अर्थ का ही समर्थन करते है। प्रश्नोपनिषद् (जो एक प्राचीन उपनिषद् है, किन्तु अत्यन्त प्राचीन उपनिषदो मे नही है) मे एक अति मनोरम एव निश्चयात्मक वचन आया है—"जिस प्रकार राजा अपने कर्मचारियो की नियुक्ति यह कहकर करता है कि तुम लोग इन ग्रामो

५४ प्राणापानौ मे पाहि समानव्यानौ मे पाह्युदानव्यानौ मे पाहि। तै० स० (१।६।३।३)। इस पर सायण ने अपनी टीका मे स्पष्ट एव मनोरम टिप्पणी की है—एक एव वायु शरीरगतस्थानभेदात् कार्यभेदाच्च प्राणादिनाम-भिर्भिद्यते। स्थानभेद कैश्चिदुक्त। हृदि प्राणो गुदेऽपान समानो नाभिसस्थित। उदान कण्ठदेशस्थो व्यान सर्वशरी-रग॥ इति। उच्छ्वास-निश्वासौ प्राणव्यापार। मलमूत्रयोरध पातनमपानव्यापार। भुक्तस्यान्नरसस्य शरीरे साम्येन नयन समानव्यापार। उद्गारहिक्कादिरुदानव्यापार। कृत्स्नासु शरीरनाडीषु व्याप्य प्राणापानवरयो सन्धि-

के शासनाधिकारी बनो, उसी प्रकार यह प्राण अन्य प्राणो का पृथक्-पृथक् कार्यक्षेत्र निर्धारित करता है। अपान को पायु (गुदा) एव उपस्थ (जननेन्द्रिय) के अगो मे नियोजित करता है, प्राण मुख एव नासिका से प्रवेश करके अपने को (राजा के समान) आँखो एव कानो मे प्रतिष्ठापित करता है, समान को मध्य मे (अर्थात् प्राण एव अपान के कार्यक्षेत्र के बीच मे) अर्थात् नाभि मे (प्रतिष्ठापित करता है), क्योकि यही (समान ही) है जो दिये हुए (अग्नि मे अर्थात् आमाशय मे) भोजन को समान रूप से (सभी शरीर-भागो मे) ले जाता है।"[५५]

कैलैण्ड, ड्यूमाण्ट आदि, जो 'प्राण' शब्द को प्राचीन सस्कृत साहित्य मे 'नि श्वास' (साँस बाहर निकालना) के अर्थ मे प्रयुक्त मानते है, वे मुख्यत शकराचार्य की उस व्याख्या का आश्रय लेते है जो उन्होने छान्दोग्योपनिपद् (१।३।३) पर की है।[५६] वे लोग शाकर भाष्य (छा० उप० १।३।३) के 'अन्तराकर्पति वायुम्' को श्वास लेने (उच्छ्वास) के अर्थ मे लेते हैं, किन्तु उसका अर्थ यो भी हो सकता है—'वह शरीर के भीतर वायु खीचता है' (शरीर का भीतर का अर्थ है पेट मे), और अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कैलैण्ड, ड्यूमाण्ट आदि ने शकराचार्य के शब्दो का जो अर्थ लगाया है वह स्वय शकराचार्य की उपनिपद् सम्बन्धी अन्य व्याख्याओ से मेल नही खाता, यथा—बृ० उप० (१।५।३, ३।४।१), छा० उप० (३।१३।१-६), कठ० (५।३), प्रश्न० (३।४-५)। शाकर भाष्य (बृ० उप० १।५।३) मे आया है[५७]—'प्राण हृदय की क्रिया है जो मुख एव नासिका मे सञ्चालित होती है और वह इस नाम से इसलिए पुकारा जाता है क्योकि इसका 'प्रणयन' होता है (अर्थात् यह आगे बढाया जाता है), अपान अधोवृत्ति (नीचे जाने वाली क्रिया) है, जो नाभि से आरम्भ होता है और इसलिए ऐसा कहा जाता है कि यह 'मल-मूत्र' बाहर करता है।' केवल शकराचार्य ने ही नही, प्रत्युत उनके पूर्ववर्ती देवल के धर्मसूत्र ने भी ऐसी ही व्याख्या की है।

काले शरीरस्य बलप्रदान व्यानव्यापार। इसके उपरान्त सायण ने छान्दोग्योपनिषद् (१।३।३) का सहारा लिया है—'यद्वै प्राणिति स प्राण यदपानिति सोऽपान। अथ य प्राणापानयो सन्धि स व्यान। यो व्यान सा वाक्।' और देखिए तै० स० (३।४।१३-४) एव प्रश्नोपनिषद् (३।४-५)।

५५ यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते। एतान् ग्रामानेतान् गामानधितिप्ठस्वेति। एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सनिधत्ते। पायूपस्थेऽपानम्। चक्षु श्रोत्रे मुखनासिकाभ्या प्राण स्वय प्रातिप्ठते मध्ये तु समान। एष ह्येतद्धुतमन्न सम नयति। प्रश्नोपनिषद् (३।४-५)।

५६ छा० उप० (१।३।३) पर शकराचार्य ने व्याख्या की है—यद्वै पुरुष प्राणिति मुखनासिकाभ्या वायु बहिर्नि सारयति स प्राणाख्यो वायोर्वृत्तिविशेष। यदपानित्यपश्वसिति ताभ्या-मेवान्तराकर्पति वायु साऽपानाख्या वृत्ति, और देखिए शाकरभाष्य (वे० सू० २।४।१२—पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते)—'प्राण प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा। अपानोऽर्वाग्वृत्तिर्निश्वासादिकर्मा। व्यानस्तयो सन्धौ वर्तमानो वीर्यवत्कर्महेतु। उदान ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतु। समान सम सर्वेष्वङ्गेषु योऽन्नरसान्नयतीति।' गीता (४।२९) मे आया है—'अपाने जुह्वति प्राण प्राणेऽपान तथापरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा ॰॰॰॰॰॰मपरायणा॥' यहाँ दोनो शब्द विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त है।

५७ अथ प्राण उच्यते। प्राणो मुखनासिकासञ्चार्या हृदयवृत्ति प्रणयनात्प्राण। अपनयनान्मूत्रपुरीषादेरपानोऽधोवृत्ति आनाभिस्थान' (बृ० उप० १।५।३ के भाष्य मे)। प्रश्न० (३।५) के भाष्य मे 'अपान' की व्याख्या यो है 'अपानमात्मभेद मूत्रपुरीषाद्यपनयन कुर्वस्तिष्ठति सनिधत्ते।' कठोप० (५।३) के 'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपान प्रत्यगस्यति' पर भाष्य यो है—'ऊर्ध्वं हृदयात्प्राण प्राणवृत्ति वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति तथा अपान प्रत्यगधो अस्यति

योगपद्धति मे, जो उपनिषदो पर आधृत है, प्राण का अर्थ केवल साँस ही नही है, प्रत्युत और कुछ है। यह जीवनी शक्ति एव उन शक्तियो का द्योतक है जो शरीर मे वाणी, आख, कान एव मन मे तथा विश्व मे विभिन्न रूपो मे विद्यमान हैं। इसकी अत्यन्त प्रत्यक्षीकरणयोग्य अभिव्यञ्जना मानवीय फेफडो की गति मे परिलक्षित होती है। योगसूत्र ने योगाभ्यासी के समक्ष यह सिद्धान्त रखा है कि शरीर मे प्राण के वैज्ञानिक सयमन से योगी मानव-चेतना एव वाह्य विश्व मे सामान्यत न दिखाई पडने वाली शक्ति पर अधिकार पा सकता है।

प्रमुख उपनिषदो मे **प्राणायाम** शब्द नही आता।[५८] सूत्रो मे इसका प्रयोग हुआ है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।१२।१४-१५) मे आया है कि यदि गृहस्थ सूर्योदय के समय सोता रहे तो उसे उस दिन (रात्रि तक) व्रत रखना एव मौन रहना चाहिए। उसमे ऐसा भी आया है कि कुछ आचार्यों के कथनानुसार उसे प्रायश्चित्तस्वरूप प्राणायाम तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि वह थक न जाय। गौतमधर्मसूत्र (१।६१) मे आया है कि जब छात्र अपने गुरु के समक्ष विद्याध्ययन के लिए बैठ जाय और उसके तथा गुरु के बीच से कुत्तो, सर्पो, मेढको, बिल्लियो के अतिरिक्त यदि कोई अन्य पशु पार कर जाय तो शिष्य को तीन प्राणायाम करने चाहिए और (प्रायश्चित्तस्वरूप) थोडा घी खा लेना चाहिए। इसी प्रकार उसमे (२३।६ एव २२) पुन आया है कि यदि उसे किसी ऐसे व्यक्ति के मुख से, जिसने मद्य पी रखी है, गन्ध मिल जाय तो उसे (प्रायश्चित्तस्वरूप) तीन प्राणायाम करने चाहिए और घृतप्राशन करना चाहिए और यदि वैदिक विद्यार्थी किसी अशुचि (चाण्डाल आदि) को देख ले तो उसे एक प्राणायाम करके सूर्य की ओर देखना चाहिए। इसी प्रकार बौधायनधर्मसूत्र (४।१।४-११) ने कतिपय दोषो के लिए प्राणायामो की व्यवस्था दी है।

उपर्युक्त उदाहरणो से यह व्यक्त होता है कि सूत्रो (ईसा से कई शतियो पूर्व) के काल मे प्राणायाम की धारणा का इतना विकास हो चुका था कि समाज द्वारा भर्त्सना किये जाने वाले कर्मों के लिए धार्मिक कृत्यो एव प्रायश्चित्तो के रूप मे प्राणायाम का उपयोग होने लगा था। उन दिनो प्राणायाम एक धार्मिक कृत्य-सा था न कि योग के आठ अगो मे उसकी परिगणना होती थी।

वैदिक साहित्य मे पाँच प्राण परिगणित थे, किन्तु पुराणो तथा अन्य मध्यकालीन ग्रन्थो मे विभिन्न नामो वाले पाँच अन्य प्राण सम्मिलित कर लिये गये।[५९]

क्षिपति य इति वाक्यशेष।' इससे स्पष्ट होता है कि भाष्य मे 'प्राण' का अर्थ है 'साँस लेना या कण्ठ की साँस, और 'अपान' का अर्थ है 'पेट की वायु या हवा को बाहर करना।' तत्र ऊर्ध्वं नाभेर्गनो रेचनोच्छ्वासक्षरणोदगरदर्मा प्राण। अधो नाभेरुत्सर्गानन्दधर्माऽपान। देवल (कृत्यकल्पतरु द्वारा उद्धृत, मोक्षकाण्ड, पृ० १७०)। वनपर्व (२१३।७-चित्रशाला प्रेस सस्करण) मे आया है—'बस्तिमूल गुद चैव पावक समुपाश्रित। वहन् मूत्र पुरीष वाप्यपान परिवर्तते ॥'

५८ एक श्लोक मे दस प्राचीन एव मुख्य उपनिषदें इस प्रकार उल्लिखित हैं—'ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरि। ऐतरेय च छान्दोग्य बृहदारण्यक तथा ॥'

५९ प्राणोऽपान समानश्च उदानो व्यान एव च। नाग कूर्मस्तु कृकलो देवदत्तो धनञ्जय ॥ उद्गारे नाग आख्यात कूर्म उन्मीलने तु स। कृकल क्षुतकार्ये च देवदत्तो विजृम्भणे ॥ धनञ्जयो महाघोष सर्वग स मृतेऽपि हि। इति यो दशवायून प्राणायामेन सिध्यति ॥ लिंगपुराण (१।८।६१, ६५-६६)। मिलाइए योगयाज्ञवल्क्य (४।६४-७१, श्री दीवानजी द्वारा सम्पादित) जहाँ दस वायुओ एव उनकी क्रियाओ का उल्लेख है। वनपर्व (२१२।१५—

के शासनाधिकारी बनो, उसी प्रकार यह प्राण अन्य प्राणो का पृथक्-पृथक् कार्यक्षेत्र निर्धारित करता है। अपान को पायु (गुदा) एव उपस्थ (जननेन्द्रिय) के अगो मे नियोजित करता है, प्राण मुख एव नासिका से प्रवेश करके अपने को (राजा के समान) आँखो एव कानो मे प्रतिष्ठापित करता है, समान को मध्य मे (अर्थात् प्राण एव अपान के कार्यक्षेत्र के बीच मे) अर्थात् नाभि मे (प्रतिष्ठापित करता है), क्योकि यही (समान ही) है जो दिये हुए (अग्नि मे अर्थात् आमाशय मे) भोजन को समान रूप से (सभी शरीर-भागो मे) ले जाता है।"[५५]

कैलैण्ड, ड्यूमाण्ट आदि, जो 'प्राण' शब्द को प्राचीन सस्कृत साहित्य मे 'नि श्वास' (साँस बाहर निकालना) के अर्थ मे प्रयुक्त मानते हैं, वे मुख्यत शकराचार्य की उस व्याख्या का आश्रय लेते है जो उन्होने छान्दोग्योपनिषद् (१।३।३) पर की है।[५६] वे लोग शाकर भाष्य (छा० उप० १।३।३) के 'अन्तराकर्षति वायुम्' को श्वास लेने (उच्छ्वास) के अर्थ मे लेते हैं, किन्तु उसका अर्थ यो भी हो सकता है—'वह शरीर के भीतर वायु खीचता है' (शरीर का भीतर का अर्थ है पेट मे), और अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कैलैण्ड, ड्यूमाण्ट आदि ने शकराचार्य के शब्दो का जो अर्थ लगाया है वह स्वय शकराचार्य की उपनिषद् सम्बन्धी अन्य व्याख्याओ से मेल नही खाता, यथा—बृ० उप० (१।५।३, ३।४।१), छा० उप० (३।१३।१-६), कठ० (५।३), प्रश्न० (३।४-५)। शाकर भाष्य (बृ० उप० १।५।३) मे आया है[५७]—'प्राण हृदय की क्रिया है जो मुख एव नासिका मे सञ्चालित होती है और वह इस नाम से इसलिए पुकारा जाता है क्योकि इसका 'प्रणयन' होता है (अर्थात् यह आगे बढाया जाता है), अपान अधोवृत्ति (नीचे जाने वाली क्रिया) है, जो नाभि से आरम्भ होता है और इसलिए ऐसा कहा जाता है कि यह 'मल-मूत्र' बाहर करता है।' केवल शकराचार्य ने ही नही, प्रत्युत उनके पूर्ववर्ती देवल के धर्मसूत्र ने भी ऐसी ही व्याख्या की है।

काले शरीरस्य बलप्रदान व्यानव्यापार। इसके उपरान्त सायण ने छान्दोग्योपनिषद् (१।३।३) का सहारा लिया है—'यद्वै प्राणिति स प्राण यदपानिति सोऽपान। अथ य प्राणापानयो सन्धि स व्यान। यो व्यान सा वाक्। और देखिए तै० स० (३।४।१।३-४) एव प्रश्नोपनिषद् (३।४-५)।

५५ यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङक्ते। एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेति। एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सनिधत्ते। पायूपस्थेऽपानम्। चक्षु श्रोत्रे मुखनासिकाभ्या प्राण स्वय प्रातिष्ठते मध्ये तु समान। एष ह्येतद्धुतमन्न सम नयति। प्रश्नोपनिषद् (३।४-५)।

५६ छा० उप० (१।३।३) पर शकराचार्य ने व्याख्या की है—यद्वै पुरुष प्राणिति मुखनासिकाभ्या वायु बहिर्निसारयति स प्राणाख्यो वायोर्वृत्तिविशेष। यदपानित्यपश्वसिति ताभ्या-मेवान्तराकर्षति वायु साऽपानाख्या वृत्ति, और देखिए शाकरभाष्य (वे० सू० २।४।१२—पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते)—'प्राण प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा। अपानोऽर्वाग्वृत्तिर्निश्वासादिकर्मा। व्यानस्तयो सन्धौ वर्तमानो वीर्यवत्कर्महेतु। उदान ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतु। समान सम सर्वेष्वङ्गेषु योऽन्नरसान्नयतीति।' गीता (४।२९) मे आया है—'अपाने जुह्वति प्राण प्राणेऽपान तथापरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा॥' यहाँ दोनो शब्द विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त है।

५७ अथ प्राण उच्यते। प्राणो मुखनासिकासञ्चार्या हृदयवृत्ति प्रणयनात्प्राण। अपनयनान्मूत्रपुरीषादेरपानोऽधोवृत्ति आनाभिस्थान' (बृ० उप० १।५।३ के भाष्य मे)। प्रश्न० (३।५) के भाष्य मे 'अपान' की व्याख्या यो है 'अपानमात्मभेद मूत्रपुरीषाद्यपनयन कुर्वंस्तिष्ठति सनिधत्ते।' कठोप० (५।३) के 'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपान प्रत्यगस्यति' पर भाष्य यो है—'ऊर्ध्वं हृदयात्प्राण प्राणवृत्ति वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति तथा अपान प्रत्यगधो अस्यति

योगपद्धति मे, जो उपनिषदो पर आधृत है, प्राण का अर्थ केवल साँस ही नही है, प्रत्युत और कुछ है। यह जीवनी शक्ति एव उन शक्तियो का द्योतक है जो शरीर मे वाणी, आँख, कान एव मन मे तथा शिश्न मे विभिन्न रूपो मे विद्यमान हैं। इसकी अत्यन्त प्रत्यक्षीकरणयोग्य अभिव्यञ्जना मानवीय फेफडो की गति मे परिलक्षित होती है। योगसूत्र ने योगाभ्यासी के समक्ष यह सिद्धान्त रखा है कि शरीर मे प्राण के वैज्ञानिक सयमन से योगी मानव-चेतना एव वाह्य विश्व मे सामान्यत न दिखाई पडने वाली शक्ति पर अधिकार पा सकता है।

प्रमुख उपनिषदो मे प्राणायाम शब्द नही आता।[५८] सूत्रो मे इसका प्रयोग हुआ है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।१२।१४-१५) मे आया है कि यदि गृहस्थ सूर्योदय के समय सोता रहे तो उसे उस दिन (रात्रि तक) व्रत रखना एव मौन रहना चाहिए। उसमे ऐसा भी आया है कि कुछ आचार्यो के कथनानुसार उसे प्रायश्चित्तस्वरूप प्राणायाम तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि वह थक न जाय। गौतमधर्मसूत्र (१।६१) मे आया है कि जब छात्र अपने गुरु के समक्ष विद्याध्ययन के लिए बैठ जाय और उसके तथा गुरु के बीच से कुत्तो, सर्पो, मेढको, बिल्लियो के अतिरिक्त यदि कोई अन्य पशु पार कर जाय तो शिष्य को तीन प्राणायाम करने चाहिए और (प्रायश्चित्तस्वरूप) थोडा घी खा लेना चाहिए। इसी प्रकार उसमे (२३।६ एव २२) पुन आया है कि यदि उसे किसी ऐसे व्यक्ति के मुख से, जिसने मद्य पी रखी है, गन्ध मिल जाय तो उसे (प्रायश्चित्तस्वरूप) तीन प्राणायाम करने चाहिए और घृतप्राशन करना चाहिए और यदि वैदिक विद्यार्थी किसी अशुचि (चाण्डाल आदि) को देख ले तो उसे एक प्राणायाम करके सूर्य की ओर देखना चाहिए। इसी प्रकार बौधायनधर्मसूत्र (४।१।४-११) ने कतिपय दोषो के लिए प्राणायामो की व्यवस्था दी है।

उपर्युक्त उदाहरणो से यह व्यक्त होता है कि सूत्रो (ईसा से कई शतियो पूर्व) के काल मे प्राणायाम की धारणा का इतना विकास हो चुका था कि समाज द्वारा भर्त्सना किये जाने वाले कर्मो के लिए धार्मिक कृत्यो एव प्रायश्चित्तो के रूप मे प्राणायाम का उपयोग होने लगा था। उन दिनो प्राणायाम एक धार्मिक कृत्य-सा था न कि योग के आठ अगो मे उसकी परिगणना होती थी।

वैदिक साहित्य मे पाँच प्राण परिगणित थे, किन्तु पुराणो तथा अन्य मध्यकालीन ग्रन्थो मे विभिन्न नामो वाले पाँच अन्य प्राण सम्मिलित कर लिये गये।[५९]

क्षिपति य इति वाक्यशेष।' इससे स्पष्ट होता है कि भाष्य मे 'प्राण' का अर्थ है 'साँस लेना या कण्ठ की साँस, और 'अपान' का अर्थ है 'पेट की वायु या हवा को बाहर करना।' तत्र ऊर्ध्वं नाभेर्गमनो रेचनोच्छ्वासक्षरणोदगरधर्मा प्राण। अधो नाभेरहनगमनानन्दधर्मोऽपान। देवल (कृत्यकल्पतरु द्वारा उद्धृत, मोक्षकाण्ड, पृ० १७०)। वनपर्व (२१३।७-चित्रशाला प्रेस सस्करण) मे आया है—'बस्तिमूल गुद चैव पावक समुपाश्रित। वहन् मूत्र पुरीष वाप्यपान परिवर्तते॥'

५८ एक श्लोक मे दस प्राचीन एवं मुख्य उपनिषदें इस प्रकार उल्लिखित हैं—'ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरि। ऐतरेय च छान्दोग्य बृहदारण्यक तथा॥'

५९ प्राणोऽपान समानश्च उदानो व्यान एव च। नाग कूर्मस्तु कृकलो देवदत्तो धनञ्जय॥ उद्गारे नाग आख्यात कूर्म उन्मीलने तु स। कृकल क्षुतकार्ये च देवदत्तो विजृम्भणे॥ धनञ्जयो महाघोष सर्वग स मृतेपि हि। इति यो दशवायून् प्राणायामेन सिध्यति॥ लिंगपुराण (१।८।६१, ६५-६६)। मिलाइए योगयाज्ञवल्क्य (४।६४-७१, श्री दीवानजी द्वारा सम्पादित) जहाँ दस वायुओ एव उनकी क्रियाओ का उल्लेख है। वनपर्व (२१२।१५—

अब हम यह देखें कि योगसूत्र ने किस प्रकार प्राणायाम की परिभाषा और उसकी व्याख्या की है। जब आसन की स्थिरता की उपलब्धि हो जाय तो श्वास लेने एव छोडने की गति मे जो विराम (विच्छेद) होता है उसे प्राणायाम कहते हैं (श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद प्राणायाम) । भाष्य ने 'श्वास' का अर्थ यो लगाया है—'उस वायु को भीतर खीचना जो शरीर के बाहर रहती है' और 'प्रश्वास' का अर्थ यो लगाया है—'कोष्ठ या छाती की वायु को बाहर फेंकना' (बाह्यस्य वायोराचमन श्वास कोष्ठस्य वायोर्निसारण प्रश्वास) । इन दोनो का अभाव प्राणायाम है (तयोर्गतिविच्छेद उभयाभाव प्राणायाम । भाष्य, २।४६ पर)। इससे प्रकट है कि प्राणायाम मे मुख्य तत्त्व है श्वास एव प्रश्वास का अभाव, जिसे योग के ग्रन्थो मे कुम्भक कहा गया है। आगे के सूत्र मे आया है कि प्राणायाम (गतिविच्छेद) के तीन प्रकार हैं—बाह्य, आभ्यन्तर एव स्तम्भ । तात्पर्य यह है कि कुम्भक (श्वास रोकना या विच्छेद या विराम) बाहर से वायु खीचने पर भी किया जाता है (प्रथम प्रकार) या भीतर की वायु बाहर छोड देने पर भी किया जाता है (द्वितीय प्रकार) या जब सामान्य दशा हो (अर्थात् न तो बाहर से वायु खीची जाय, और न भीतर की वायु बाहर फेकी जाय) तब विराम किया जाय (तृतीय प्रकार)। कालो या मात्राओ या सख्याओ के अनुसार इन प्रकारो मे प्रत्येक को नियमित किया जा सकता है। जब विराम ३६ मात्राओ तक होता है तो प्राणायाम मृदु कहलाता है, जब ७२ मात्राओ तक किया जाता है तो उसे मध्यम तथा जब १०८ मात्राओ तक होता है तो तीव्र कहा जाता है। जब प्राणायाम बहुत दिनो, पक्षो एव मासो तक किया जाता है तो उसे दीर्घ कहा जाता है, जब उसे बडी दक्षता से किया जाता है तो वह सूक्ष्म कहलाता है।

प्राणायाम के विषय मे हमे योगसूत्र (१।३४) पर भी ध्यान देना चाहिए (प्रच्छर्दनविधारणाभ्या वा प्राणस्य)। इस सूत्र मे आया है कि मन की अबाधित शान्ति के लिए एक उपाय है साँस को बाहर करना एव रोकना। इस सूत्र एव इसके भाष्य से प्रकट होता है कि विधारण (कुम्भक—श्वास को रोक रखना) प्राणायाम है।[६०]

प्राणायाम की व्याख्या के सिलसिले मे देश, काल एव सख्या की व्याख्या भी आवश्यक है। सामान्यत एक स्वस्थ विकसित व्यक्ति ४ सेकण्डो में एक बार श्वास लेता और छोड देता है (अर्थात् १ मिनट मे १५ बार या दिन रात्रि मे २१६०० बार)। रेचक की गति को मापने के लिए रुई का एक अश या एक पतला सूत नासिका-छिद्रो से कुछ दूरी पर रख दिया जाता है और वह नाक के श्वास से जितनी दूर उड जाता है या जहाँ जाकर रुक जाता है उस दूरी को अँगुली की चौडाई से नाप लिया जाता है। जहाँ तक काल का प्रश्न है, कई काल-इकाइयाँ वर्णित हैं, क्योकि उन प्राचीन कालो में कोई वैज्ञानिक यन्त्र नही था। एक बार पलक गिरने (निमेष) मे जो समय लगता है वह एक स्वर के उच्चारण मे लगता है, और उसे मात्रा कहा जाता है। अपने हाथ से घुटने को तीन बार छूने तथा अँगूठे एव तर्जनी को छूने मे जो समय बीत जाता है उसे भी मात्रा कहा जाता है। अन्य काल-इकाइयो की चर्चा हम यहाँ छोड दे रहे हैं। सामान्य नियम यह है कि रेचक एव पूरक दोनों

वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो चोदिता) ने भी दस प्राणों का उल्लेख किया है। देखिए डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील का ग्रन्थ 'दि पॉजिटिव साइस आव दि एँश्येण्ट हिन्दूज' (लागमैंस, ग्रीन, १९१५, पृ० २२८-२३१) जहाँ इन दस प्राणो की व्याख्या की गयी है।

६० प्रच्छर्दनविधारणाभ्या वा । यो० सू० (१।३४), कोष्ठस्य वायोर्नासिकापुटाभ्या प्रयत्नविशेषाद् वमनं प्रच्छर्दन विधारण प्राणायामस्ताभ्यां वा मनस स्थिति ेत् । ।

को एकविध एव शान्तिपूर्वक होना चाहिए, और पूरक मे रेचक का आधा काल (समय) लगना चाहिए। पूरक, रेचक एव कुम्भक की अवधि के विषय मे तीन मत हैं, यथा—१ ४ २ या १ २ २ के अनुपात मे या तीनो मे समान। पुराणो ने प्राणायाम के लिए विभिन्न मात्राऍं निर्धारित की हैं, यथा—मार्कण्डेय (३६।१३, १४) मे आया है कि लघु (भाष्य मे मृदु) में १२ मात्राऍं हैं, मध्यम मे इसकी दूनी तथा उत्तरीय (भाष्य मे तीव्र) मे १२ मात्राओं का तिगुना। गरुडपुराण (१।२२६।१४-१५) ने क्रम से १०, २०, ३० मात्राऍं निर्धारित की हैं और कूर्मपुराण ने मार्कण्डेय की बात मान ली है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२००-२०१) ने व्यवस्था दी है कि प्राणायाम की तीन कोटियाँ है—अधम (१५ मात्राऍं), मध्यम (३० मात्राऍं) एव उत्तम (४५ मात्राऍं)। लिंगपुराण (१।८। ४७-४८) ने नीच उद्घात, मध्यम उद्घात एव मुख्य के लिए क्रम से १२, २४ एव ३६ मात्राओ का काल माना है और कहा है कि तीनो का स्पष्ट परिणाम है क्रम से प्रस्वेद आना, कम्पन होना एव उत्थान होना (प्रसाद-कम्पनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम्)। मिलाइए मार्कण्डेय० (३६।१६) जिसमे आया है कि इनमे प्राणायाम की विभिन्न मात्राओ के अनुसार क्रम से प्रवीणता प्राप्त करनी चाहिए (प्रथमेन जयेत् स्वेद मध्यमेन च वेपथुम्। विषाद हि तृतीयेन जयेद्दोषान् अनुक्रमात् ॥)

यह द्रष्टव्य है कि पतञ्जलि एव व्यासभाष्य ने पूरक, रेचक एव कुम्भक नामक विख्यात शब्दो का प्रयोग नही किया है, प्रत्युत श्वास, प्रश्वास एव गतिविच्छेद शब्दो का प्रयोग किया है।[६१] इतना ही नही, पतञ्जलि एव व्यास ने प्राणायाम मे ओम्, गायत्री या व्याहृतियो के जप के विषय में कुछ नही कहा है, जैसा कि स्मृतियो एव पश्चात्कालीन या मध्यकालीन ग्रन्थो मे पाया जाता है। एक तीसरी बात पर विचार करना है कि कुछ अन्य पश्चात्कालीन ग्रन्थो मे रेचक, पूरक एव कुम्भक को प्राणायाम के तीन प्रकारो मे गिना गया है और योगसूत्र मे प्राणायाम के चार प्रकार है जिनमे तीन की व्याख्या योगसूत्र २।५० मे तथा चौथे की २।५१ मे हुई है।

'रेचक', 'पूरक' एव 'कुमक' शब्दो को पर्याप्त प्राचीन माना जाना चाहिए। इनका उल्लेख एव परिभाषा देवलधर्मसूत्र मे है, जैसा कि शकराचार्य का कथन है (देखिए गत अध्याय २१ की प्रथम पाद-टिप्पणी)।[६२]

६१ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद प्राणायाम। बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसख्याभि परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म। बाह्याभ्यन्तरा‌ि पेक्षी चतुर्थ। यो० सू० (२।४९-५१); सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमन श्वास कौष्ठस्य वायोर्नि सारण प्रश्वास तयोर्गतिविच्छेद उभयाभाव प्राणायाम। भाष्य (२।४९ पर)। 'वृत्ति' शब्द का सम्बन्ध बाह्य, आभ्यन्तर एव स्तम्भ से होना चाहिए। यहाँ पर कुम्भक, जो रेचक के उपरान्त होता हैं, बाह्यवृत्ति है और वह जो पूरक के उपरान्त होता है, आभ्यन्तरवृत्ति कहलाता है। जब न तो रेचक होता है और न पूरक तब स्तम्भवृत्ति कहलाती है। देखिए श्री कुवलयानन्द कृत योगमीमासा (खण्ड ६, पृ० ४४-५४, १२९-१४५, २२५-२५७)।

६२ देवल। त्रिविध प्राणायाम। कुम्भो रेचन पूरणमिति। निश्वासनिरोध कुम्भ। अजस्रनि श्वासो रेचनम्। निश्वासाध्मान पूरणमिति। स पुनरेकद्वित्रिभिरुद्घातै (उद्घातै) मृदुर्मन्दस्तीक्ष्णो वा भवति। प्राणापानव्यानोदानसमानाना सकृदुद्गमन मूर्धानमा हत्य निवृत्तिश्चोद्घात (द्घात)। कृत्यकल्प० (मोक्षकाण्ड, पृ० १७०) एव अपरार्क (पृ० १०२३)। मिलाइए व्यासभाष्य 'सख्याभि परिदृष्टा एतावद्भि श्वासप्रश्वासै प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात। एव तृतीय'। एव मृदुरेव मध्य एव तीव्र इति सख्यापरिदृष्ट'। योगसूत्र (२।५०) पर। राजमार्तण्ड में व्याख्या की गयी है 'उद्घातो नाम नाभिमूलात्प्रेरितस्य वायो शिरस्यभि-

बृहद्योगियाज्ञवल्क्य एव वाचस्पति ने इनका उल्लेख किया है। विष्णुपुराण (५।१०।१४) ने शरद् ऋतु के काव्यात्मक वर्णन मे श्लेष के रूप मे इनका उल्लेख किया है।[६३] प्राणायाम करने के विभिन्न ढग बतलाये गये है। सरल ढगो मे एक यह है—अँगूठे से दाहिना नासिका-छिद्र बन्द कर ले, बाये नासिका-छिद्र से अपनी शक्ति भर साँस खीच लें, इसके उपरान्त दाहिने नासिका-छिद्र से साँस बाहर फेंके, पुन दाहिने नासिका-छिद्र से साँस ले और बायें नासिका-छिद्र से साँस बाहर फेंके। इसे कम-से-कम तीन बार करें। इसे प्रतिदिन दो बार अभ्यास मे लायें, विशेषत प्रात काल स्नान करने के उपरान्त या सन्ध्याकाल या चार बार (सूर्योदय के पूर्व, मध्याह्न के समय, सन्ध्याकाल और अर्धरात्रि मे)। आरम्भ मे कुम्भक नही करना चाहिए। पूरक एव रेचक मे कुछ अभ्यास हो जाने के उपरान्त कुम्भक को रेचक के पश्चात् करना चाहिए। पूरक के उपरान्त कुम्भक का अभ्यास बडी सावधानी से करना चाहिए और किसी दक्ष गुरु के निर्देशन मे ही ऐसा करना चाहिए।

मनुस्मृति मे प्राणायाम की महत्ता गायी गयी है—'एक ब्राह्मण के लिए नियमो के अनुसार एव व्याहृतियो तथा प्रणव के साथ किये गये तीन प्राणायाम परम तप के समान है। जिस प्रकार धातुओ के गलाने से उनके मल जल जाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियो के दोष प्राण (वायु) के निग्रह से मिट जाते है। व्यक्ति को प्राणायामो द्वारा दोषो को, धारणा द्वारा पापो को मिटाना चाहिए तथा प्रत्याहार द्वारा ससर्गो को दूर करना चाहिए तथा क्रोध, लोभ, ईर्ष्या आदि दोषो को (ब्रह्म का) ध्यान करके मिटाना चाहिए' (मनुस्मृति ६।७०-७२)। और देखिए बृहद्योगियाज्ञ० (८।२९, ३०, ३२), शखस्मृति (७।१३), वायुपुराण (१०।९३), भागवत० (३।२८), मार्कण्डेयपु० (३६।१०)। योगसूत्र (२।५२-५३) मे आया है कि प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश के आवरण (अर्थात् क्लेश) क्षय को प्राप्त होते हैं और योगी का मन धारणा करने के योग्य हो जाता है (तत क्षीयते प्रकाशावरणम्।

हननम्।' विभिन्न लेखको ने विभिन्न ढगो से इस शब्द की व्याख्या की है, देखिए योगमीमासा (खण्ड २, भाग ३, पृ० २२५-२३४)। कभी-कभी पूरक, रेचक एव कुम्भक को तीन प्राणायाम भी कहा जाता है, और कभी-कभी इन तीनो को मिलाकर एक प्राणायाम कहा गया है। इनमे प्रत्येक पुन मृदु, मन्द (या मध्यम) एव तीव्र कहा गया है। देखिए बृहद्योगियाज्ञवल्क्य (८।७)—'त्रिविध केचिदिच्छन्ति तथा च नवधा परे। मृदु मध्याधिमात्रत्वादेकैक त्रिविध भवेत्॥' देखिए विष्णुधर्मोत्तर (३।२८०।१)—'रेचक पूरक चैव कुम्भक च तथा द्विजा। एकस्यवरर्थ विज्ञेय प्राणायामो महाफल ॥ रेचक-पूरक-कुम्भकेष्वस्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद इति प्राणायामसामान्यलक्षणमेतदिति। तथा हि। यत्र बाह्यो वायुराचम्यान्तर्धार्यते पूरके तत्रास्ति श्वास प्रश्वासयोर्गतिविच्छेद। यत्रापि कौष्ठ्यो वायुर्विरेच्य बहिर्धार्यते तत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिर्विच्छेद। एव कुम्भकेपीति। वाचस्पति (योगसूत्र २।५० पर), पूरक कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्। प्राणायामस्त्रिधा ज्ञेय कनीयो मध्यमोत्तम ॥ पूरक कुम्भको रेच्य प्राणायामस्त्रिलक्षण। बृहद्योगियाज्ञ० (८।९।१०)। कुम्भक का नाम इसलिए पडा है क्योकि इसमे जलपूर्ण कुम्भ (घडा) से समानता है (जल कुम्भ मे स्थिर रहता है)। राजमार्तण्ड मे व्याख्या है 'तस्मिञ्जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणा अवस्थाप्यन्ते इति कुम्भक।' देखिए पाणिनि (५।३।९७), 'प्रतिकृतौ च', इवार्थे कन् स्यात् समुदायेन चेत्सज्ञा गम्यते। अत कुम्भक का अर्थ है 'कुम्भ इव कुम्भक, कुम्भसदृशस्य सज्ञा।'

६३ प्राणायाम इवाम्भोभि सरसा कृतपूरकै। अभ्यस्यतेऽनुदिवस रेचकाकुम्भकादिभि ॥ विष्णुपु० (५।१०।१४)।

धारणासु च योग्यता मनस ।) गोरक्षशतक (५४) मे आया है—'योगी सदा आसन से रोगो को मिटाता है, प्राणायाम से पातको को काटता है तथा प्रत्याहार मे मनोविकार दूर करता है।'[६८] स्मृतियो मे आया है कि पातको को दूर करने मे प्राणायामो से सहायता प्राप्त होती है। देखिए मनु (११।२४८=वसिष्ठ २६।४), बौधायनधर्मसूत्र (१।३१) एव शखस्मृति (१२।१८-१९), जहाँ यह आया है कि यदि व्याहृतियो एव प्रणव (ओम्) के साथ प्रतिदिन १६ प्राणायाम किये जायँ तो एक मास मे ब्रह्महत्या के पाप से भी छुटकारा मिल जाता है। मनु (११।१९९ एव २०१) मे आया है कि एक प्राणायाम कर लेने से हलके-फुलके दोप दूर हो जाते हैं या गधे या ऊँट की सवारी करने का दोप दूर हो जाता है या कुत्ता, सियार, अश्व, ऊँट, सूअर या मानव के काटने से उत्पन्न अशुद्धि दूर हो जाती है। याज्ञ० (३।३०५) ने व्यवस्था दी है कि एक सौ प्राणायाम कर लेने से सभी पापो, उपपातको तथा ऐसे पापो से, जिनके लिए किमी प्रायश्चित्त की कोई व्यवस्था नही है, छुटकारा मिल जाता है। मनु (२।८३=वसिष्ठ १०।५) एव विष्णुधर्मसूत्र (५५।८२) मे आया है—'एक अक्षर (ओम्) परब्रह्म (का प्रतिनिधि) है तथा प्राणायाम परम तप है।'

यह द्रष्टव्य है कि जैनो के महान् आचार्य हेमचन्द्र ने प्राणायामो की भर्त्सना की है और कहा है कि उनसे मन को आराम नहीं प्राप्त होता। पूरक, कुम्भक एव रेचक मे परिश्रम होता है और प्राणायाम से मुक्ति मे रुकावट आती है। देखिए हेमचन्द्र का योगशास्त्र (६ठा प्रकाश, श्लोक ४-५, जैन ग्रन्थमाला, सूरत, सवत् १९९५ मे प्रकाशित)।

पूरक के उपरान्त कुम्भक करने से नाडियो, हृदय एव फेफडो पर दवाव पडता है और असावधानी तथा शीघ्रता से ऐसा अभ्यास करने से इन शरीरागो को ऐसी हानि प्राप्त हो जा सकती है जो कभी मिटायी नही जा सकती। जो लोग फेफडो एव हृदय के रोगी है उन्हे अपने से ही प्राणायाम नही आरम्भ कर देना चाहिए, प्रत्युत उन्हे किसी दक्ष व्यक्ति से परामर्श ले लेना चाहिए। बहुत पहले स्वामी विवेकानन्द ने योग के विद्यार्थियो से यह कहा है कि उन्हे यह जान लेना चाहिए कि गुरु से सीधा सम्पर्क स्थापित करके ही वे योगाभ्यास करें। कुछ अपवाद हो सकते हैं, किन्तु बिना गुरु के योग का ज्ञान प्राप्त करना अच्छा नही है। योगसूत्र मे कुल १९५ सूत्र हैं, जिनमे केवल ५ सूत्र (२।४९-५३) प्राणायाम-सम्बन्धी हैं, और ये ५ सूत्र भी सामान्य रूप वाले ही हैं। इससे प्रकट होता है कि पतञ्जलि ने यह चाहा है कि योगी केवल इन सूत्रो को पढकर या सुनकर ही प्राणायाम का अभ्यास न आरम्भ कर दे, प्रत्युत किसी प्रवीण एव दक्ष योगी के निर्देश मे ही ऐसा करे।

यह द्रष्टव्य है कि पतञ्जलि ने प्राणायाम के लिए यह नही व्यक्त किया है कि उसके साथ ओम् या गायत्री मन्त्र का मौन या मन्द जप हो। किन्तु स्मृतियो ने सन्ध्यावन्दन के बीच मे प्रतिदिन प्राणायाम की व्यवस्था दी है। याज्ञ० (१।२२) मे आया है कि तीन उच्च वर्णों के लोगो को प्रतिदिन स्नान करना चाहिए, मन्त्रो (ऋ० १०।९।१-३), आपो हिष्ठा आदि) के साथ मार्जन करना चाहिए, प्राणायाम करना चाहिए, सूर्य की पूजा एव गायत्री का जप (ऋ० ३।६२।१०) करना चाहिए, प्राणायाम मे व्याहृतियो के साथ गायत्री का तीन बार जप करना चाहिए, प्रत्येक गायत्री पाठ के पूर्व ओम् और उपरान्त शिरस् होना चाहिए। याज्ञ० द्वारा

व्यवस्थित प्राणायाम आजकल प्रात एव साय काल की सध्या मे किया जाता है। ओम् या मन्त्र के मौन जप के साथ प्राणायाम **सगर्भ** या **सबीज** कहलाता है। बिना ओम् एव मन्त्र के जो प्राणायाम होता है उसे ' या **अबीज** कहा जाता है। सबीज दोनो मे अधिक अच्छा माना गया है। शान्ति० (३०४।६=३१६।६-१० चित्रशाला सस्करण) ने . एव **निर्गुण** प्राणायाम का उल्लेख किया है। योगभाष्य (योगसूत्र २।५२) ने एक उद्धरण दिया है—'प्राणायाम से बढकर कोई तप नही है, इससे मलो की विशुद्धि होती है और ज्ञान की दीप्ति चमक उठती है' (तपो न पर प्राणाय मात्ततो विशुद्धिर्मलाना दीप्तिश्च ज्ञानस्य)।

हठयोगप्रदीपिका (२।४४) ने प्राणायाम के आठ प्रकार बतलाये है। दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, यथा—**उज्जायी** एव **भस्त्रिका** का वर्णन श्री कुवलयानन्द ने अपनी पुस्तक 'प्राणायाम' के अध्याय ४ (पृ० ६७-६८) एव अध्याय ६ (पृ० १०१-११५) मे किया है और अन्य छह, यथा—**सूर्यभेदन, शीत्कारी, शीतली, भ्रामरी, मूर्च्छा** एव **प्लाविनी** का उल्लेख उस पुस्तक के भाग २ मे हुआ है। हठयोगप्रदीपिका (२।४८-७०) ने इन आठ प्राणायामो का विस्तृत वर्णन उपस्थित किया है। हम यहाँ पर स्थानाभाव से उनका उल्लेख नही करेगे।

डा० रेले ने अपने ग्रन्थ 'मिस्टिरिएस कुण्डलिनी' मे स्वयसचालित स्नायु-मण्डल का चित्र खीचा है, जो पाश्चात्य शरीर-विज्ञान के अनुरूप है। उसी चित्र मे उन्होने ६ चक्र भी प्रदर्शित किये है और उनके स्थान भी बतलाये हैं। इतना ही नही, उन्होने सहस्रारचक्र भी बनाया है। उन्होने प्रतिपादित किया है कि कुण्डलिनी दाहिनी 'वेगस' स्नायु है, जो उनकी मौलिक धारणा है। उनकी पुस्तक वडी मनोरम है और उन्होने योगाभ्यास से सम्बन्धित एक विशद क्षेत्र की खोज की है। उन्होने पाश्चात्य शरीर-विज्ञान का गम्भीरता से अध्ययन किया है, किन्तु भूमिका मे उन्होने यह स्वीकार किया है कि भारतीय योगाभ्यास-सम्बन्धी उनकी व्याख्याएँ सम्भावित निर्देश मात्र है। किन्तु यह अवलोकनीय है कि सर जॉन वुड्रौफ महोदय ने, जिन्होने भारतीय योग एव तन्त्र ग्रन्थो का गम्भीर अध्ययन किया है और जिन्होने डा० रेले के ग्रन्थ पर प्राक्कथन लिखा है, यह स्पष्ट कह दिया है कि डा० रेले की कुण्डलिनी-सम्बन्धी स्थापना उनको स्वीकार्य नही हो सकती। डा० उड्रौफ का कथन है कि कुण्डलिनी कोई स्नायु नही है और न कोई शारीरिक या मानसिक पदार्थ ही है, प्रत्युत वह दोनो के लिए एक आधार मात्र है। श्री कुवलयानन्द ने डा० रेले की पुस्तक की चर्चा करते हुए (प्राणायाम, भाग १ पृ० ५७) यह लिखा है कि डा० रेले ने प्रयोगशाला मे कोई प्रयोग नही किया और न उन्होने योग के विद्यार्थियो से परामर्श ही ग्रहण किया, अत उनकी बाते सन्दिग्ध हैं। श्री कुवलयानन्द ने यह भी कहा है कि स्वामी विवेकानन्द के राजयोग-सम्बन्धी भाषण भी डा० रेले के ग्रन्थ मे पाये जाने वाले दोषो से खाली नही हैं। स्वामी कुवलयानन्द (पृ० १२१-१२६) ने स्वास्थ्य, फेफडो की स्वस्थ क्रियाओ, पाचन-सम्बन्धी अगो, हृदय, प्लीहा, वृक्क आदि की स्वस्थ क्रियाओ के लिए प्राणायाम को बहुत उपयोगी ठहराया है। उनके मत से प्राणायाम का आध्यात्मिक महत्त्व बहुत वडा है।

प्रत्याहार की परिभाषा योगसूत्र २।५४ मे हुई है[६५] — 'जब इन्द्रियो का अपने विषयो से सयोग या सम्पर्क नही होता (अर्थात् वे उनसे पृथक् कर ली जाती हैं या लौटा ली जाती हैं, क्योकि मन का निरोध

६५ स्वविषयासप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहार । तत वश्यतेन्द्रियाणाम्। यो० सू० (२।५४-५५)। 'प्रत्याहार' शब्द प्रति+आ+हृ से बना है। ' मे है—'इन्द्रियाणि विषयेभ्य प्रतीपमानीयन्तेस्मिन्निति प्रत्याहार'।' प्रत्याहार का शाब्दिक अर्थ है 'पीछे ले , लौटा ।' भाष्य में व्याख्या

हो चुका है) और इस प्रकार वे स्वय चित्त (मन) के अनुरूप हो उठती हैं, तव प्रत्याहार होता है।' जय चित्त, योगी द्वारा निरुद्ध कर लिये जाने पर, इन्द्रिय-विषयो, यथा—स्वर (शब्द), स्पर्श, रूप, रस (स्वाद) एव गन्ध से सयुक्त नही रहता और ज्ञानेन्द्रियाँ भी उससे पृथक् हो जाती हैं (या असम्वन्धित हो जाती हैं) तो इन्द्रियाँ स्वय चित्त के अनुरूप हो उठती हैं (इसी से सूत्र मे 'अनुकार इव' शब्दो का प्रयोग हुआ है)। इस (असप्रयोग) से इन्द्रियो पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है। भावना यह है कि इन्द्रियविषयो से चित्त को हटाने पर इन्द्रियाँ भी उनके सयोग से हट जाती हैं। जव चित्त एकाग्र हो जाता है तो इन्द्रियाँ चित्त के साथ ही विषयो (अर्थात् पदार्थों) का परिज्ञान नही करती। प्रत्याहार चित्त की वाह्य नियाओ (वहिर्गामी गतियो) का निरोध है और इन्द्रियो के दासत्व से इसे स्वतन्त्र करना है। शान्ति० (१८८।५-७=१९५।६-७ चित्रशाला) मे भी ऐसा आया है। विष्णुपुराण (५।१०।१४) ने प्रत्याहार की ओर सकेत किया है ('इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य प्रत्याहार इवाहरत्', अर्थात् जिस प्रकार प्रत्याहार इन्द्रियो को उनके विषयो से दूर हटाता है उसी प्रकार शरद ने जलो की मलिनता दूर कर दी)।[६६] वाचस्पति ने विष्णुपुराण से दो श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमे योगसूत्र के ही विशिष्ट शब्द प्रयुक्त हैं, सम्भवत इस पुराण ने योगसूत्र से ही आधार लिया है। देवलधर्मसूत्र ने प्रत्याहार की व्याख्या की है—'जब मन अपने अणुत्व (सूक्ष्मत्व), चापल्य, लाघव (विचारशून्यता) या अपनी शक्ति के फलस्वरूप योगभ्रष्ट हो जाता है तो उसे (चित्त या मन को) पुन आत्मा की ओर लाकर उसमे (आत्मा मे) प्रतिष्ठापित करना ही प्रत्याहार है।' कूर्मपुराण (२।११।३८) ने इसकी परिभाषा यो की है—'प्रत्याहार उन इन्द्रियो का निग्रह है जो स्वभावत इन्द्रियविषयो से आकृष्ट हो उठती हैं।'[६७] देखिए शान्ति० (२३२।१३)।

है—'स्वविषयसप्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते। यथा मधुकरराज मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशन्तमनु निविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहार।' मधुकरराज एव मधु निकालने वाली मक्षिकाओ का उदाहरण प्रश्नोपनिषद् (२।४) मे भी आया है—'तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्त सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते। एव वाङ्मनश्चक्षु श्रोत्र च।' यह सूत्र कई प्रकार से विवेचित हुआ है, किन्तु भाष्य ने जैगीषव्य के मत का अनुसरण किया है।

६६ शब्दादिष्वनुषक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्। कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायण ॥ वश्यता परमा तेन जायते निश्चलात्मनाम्। इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधक ॥ विष्णुपु० (६।७।४३-४४), कृत्यकल्प० (मोक्षकाण्ड, पृ० १७३) एव अपरार्क (पृ० १०२५) ने भी इसे उद्धृत किया है। मार्कण्डेय पु० (३९।४१, कलकत्ता सस्करण, ३६।४१-४२, वेंक० सस्करण) मे आया है—'शब्दादिभ्योऽनिवृत्तानि यदक्षाणि यतात्मभि। प्रत्याह्रियन्ते योगेन प्रत्याहारस्तत स्मृत ॥ कृत्यकल्प० (मोक्षकाण्ड, पृ० १७३)।

६७ अणुत्वाच्चापल्याल्लाघवाबद्वलवत्त्वाद्वा योगभ्रष्टस्य मनस पुन प्रत्यानीयार्थे योजन प्रत्याहार। देवल (कृत्यकल्प० मोक्ष०, पृ० १७३), अपरार्क (पृ० १०२५) ने इसे हारीत का माना है। इन्द्रियाणा विचरता विषयेषु स्वभावत। निग्रह प्रोच्यते सद्भि प्रत्याहारस्तु सत्तम ॥ कूर्मपुराण (२।११।३८)। स्कन्द०, काशीखण्ड (४१।१०१), इन्द्रियाणा हि चरता विषयेषु यदृच्छया। यत्प्रत्याहरण युक्त्या प्रत्याहार. स उच्यते ॥ 'युक्त्या' का अर्थ है 'विषयदोषदर्शनेन'।

योगसूत्र का तृतीय पाद **विभूति-पाद** (वह पाद जो योगी की अलौकिक शक्तियो का विवेचन करता है) कहलाता है। 'विभूति' शब्द प्रश्नोपनिषद् (५।४) मे आया है और वहाँ कहा गया है कि जो व्यक्ति द्विमात्र ओम् का ध्यान करता है वह चन्द्रलोक मे जाता है, जहाँ वह विभूति का आनन्द लेता है और पुन इस पृथिवी पर चला आता है। यहाँ 'विभूति' शब्द का अर्थ सम्भवत समृद्धिमय जीवन है। तृतीय पाद मे सर्वप्रथम योग के आठ अगो मे अन्तिम तीन का विवेचन है। आठ अगो मे प्रथम पाँच को **बहिरग** (सप्रज्ञात समाधि के परोक्ष सहायक) कहा जाता है और अन्तिम तीन को **अन्तरग** (किन्तु ये भी निर्बीज योग के सन्दर्भ मे बहिरग कहे जाते हैं। क्योकि निर्बीज योग इन तीनो अर्थात् धारणा आदि के अभाव मे भी स्थापित हो सकता है) कहा जाता है। ये तीनो है—**धारणा, ध्यान** एव **समाधि** और जब इन तीनो का अभ्यास एक ही विषय या पदार्थ पर किया जाता है तो इन्हे **सयम** कहा जाता है जो योगशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। कई प्रकार के सयम के परिणाम ही विभूतियाँ है। तृतीय पाद मे १६ से ५२ तक के अधिकाश सूत्रो मे पतञ्जलि ने इन तीन शब्दो के स्थान पर 'सयम' शब्द का ही प्रयोग किया है।

धारणा, ध्यान एव **समाधि** योग के अन्तरग अग हैं और वे एक-के पश्चात् एक आने वाली अवस्थाए हैं, पूर्ववर्ती के पश्चात् उत्तरवर्ती अग आता है। किसी एक स्थल या बिन्दु या पदार्थ पर चित्त को बाँधना **धारणा** है (देशबन्धश्चित्तस्य धारणा)। भाष्य मे व्याख्या हुई है [६८] कि चित्त को शरीर के कुछ विशिष्ट अगो पर लगाना चाहिए, यथा नाभिचक्र, हृदय-पुण्डरीक (कमल), सिर, ज्योति (आँख मे), नासिका का अग्रभाग, जीभ का अग्रभाग आदि तथा उसे (चित्त को) बाह्य वस्तुओ (यथा—देवो की विभिन्न आकृतियो अथवा प्रतीको) पर लगाना चाहिए। इस अवस्था मे चित्त को स्थिर रूप से वरण की हुई वस्तु पर योगाभ्यास करने वाले की इच्छा-शक्ति द्वारा निश्चित किये हुए काल तक लगाना चाहिए। इस अवस्था मे तीन तत्त्व हैं, यथा—कर्ता, विषय एव धारणा की क्रिया। दूसरी अवस्था है **ध्यान**, जिस पर हम थोडी देर के पश्चात् विवेचन उपस्थित करेंगे। मार्कण्डेयपुराण (३६।४४–४५=३९।४४–४५ कलकत्ता सस्करण) ने योगी के शरीर के विभिन्न अगो पर की गयी इन धारणाओ का उल्लेख किया है जो पतञ्जलि द्वारा प्रयुक्त बहुवचनान्त धारणाओ (धारणासु च योग्यता मनस, योगसूत्र २।५३) का मानो समर्थन किया है। आश्वमेधिकपर्व (१९।३७) एव शान्तिपर्व

६८ **देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। योगसूत्र (३।१-२)**, इस पर भाष्य इस प्रकार है—नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा। तस्मि देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृश प्रवाह प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्। लिंगपु० (१।८।४२-४३) मे योगसूत्र के शब्दो की प्रतिध्वनि है—'चित्तस्य धारणा प्रोक्ता स्थानबन्ध समासत। . तत्रैकचित्तता ध्यान प्रत्ययान्तरवर्जितम्। उपनिषदो ने हृदय को कमल (पुण्डरीक) कहा है (देखिए छा० उप० ८।१।१, वे० सू० १।३।१४-२१ पर शकराचार्य का भाष्य—दहर उत्तरेभ्य आदि)। 'ज्योतिषि' सम्भवत आँख के पुरुष की ओर अथवा अपने हृदयस्थ भगवान की ओर सकेत करता है (छान्दोग्य० ८।७।४ या ६।१५।१—य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच)। वाचस्पति ने 'बाह्ये वा विषये' की व्याख्या विष्णुपुराण (६।७।७७-८२) के कतिपय श्लोको को उद्धृत कर के की है, जहाँ विष्णु के रूप के ध्यान करने का उल्लेख है, विष्णु के स्वरूप की यो चर्चा है—सदय मुख, कमल के समान आँखें, कानो मे कुण्डल, छाती पर श्रीवत्स रत्नाभूषण, चार या आठ लम्बे-लम्बे हाथ, पीत वस्त्र, हाथो मे शख, धनुष एव गदा।

(१८८।८-१२=१६५।८ चित्रशाला संस्करण) में भी ऐसा आया है। याज्ञवल्क्यस्मृति (३।१६८-२०१) ने संक्षेप में ही आसन से लेकर धारणा एवं ध्यान तक के अंगों का उल्लेख किया है, यथा—'योगी को न अधिक उच्च और न अधिक नीचे आसन पर विराजमान होकर, अपने पाँवों को उत्तान करके दोनों जाँघों पर रखकर एवं बायीं हथेली (जो उत्तान दाहिने पाँव पर रखी हुई है) पर दूसरी (दायीं) हथेली (जो उत्तान है) को रखकर, मुख को थोड़ा ऊपर रखकर एवं शरीर को छाती से मिलाकर, आँखें बन्द करके, रज एवं तम से छुटकारा पाकर, ऊपरी एवं निचली दन्तपंक्तियों को पृथक्-पृथक् रखकर, जिह्वा को तालु में सटाकर, शरीर में किसी प्रकार का कम्पन न लाकर (अर्थात् शरीर को निश्चल रखकर), मुख को बन्द कर, इन्द्रियों को विषयों से दूर रखकर, दो प्रकार का या तीन प्रकार का २४ या ३६ मात्राओं वाला प्राणायाम करना चाहिए, उस प्रभु की, जो हृदय में दीप के समान स्थित है, चिन्ता करनी चाहिए (अर्थात् ध्यान करना चाहिए) तथा उस प्रभु में धारणा के रूप में चित्त को लगाना (टिकाना) चाहिए।' देवल का कथन है कि शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि एवं आत्मा का निरोध करना ही धारणा है (अपरार्क पृ० १०२५ एवं कृत्यकल्प०, मोक्ष०, पृ० १७४ द्वारा उद्धृत)।

जिसकी चिन्तना की जाय उस विषय के परिज्ञान की एकाग्रता (निरन्तर प्रवाह अथवा चलते रहने वाली स्थिति) ही, जिसमें किसी अन्य भावना या परिज्ञान का अभाव हो ध्यान है। उपनिषदों ने ध्यान पर बल दिया है, यथा—माण्डूक्योपनिषद् (२।२।६) में आया है—'ओम् के रूप में आत्मा का ध्यान करो', बृ० उप० (२।४) में प्रसिद्ध वचन है—'आत्मा द्रष्टव्य (देखे जाने योग्य) है, श्रोतव्य (सुने जाने योग्य) है, मन्तव्य (समझा जाने वाला) एवं निदिध्यासितव्य (जिसकी चिन्तना की जाय) है।' छा० उप० (७।६।२) में ध्यान शब्द 'एक ही विषय पर सभी विचारों को केन्द्रित करने' के अर्थ में प्रयुक्त है।[६९] श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।३) एवं गीता (१८।५२) ने ध्यानयोग का उल्लेख किया है। और देखिए शान्ति० (१८८।१३=१६५। १३-१८ चित्रशाला), देवलधर्मसूत्र (कृत्यकल्प०, मोक्ष०, पृ० १८१), विष्णुपुराण (६।७।६१, वाचस्पति, कृतकल्प०, मोक्ष० पृ० १७५)। अपरार्क (पृ० १०२५-२७) ने विष्णुधर्मसूत्र के अध्याय ९७ से उद्धरण दिया है, जिसमें कहा गया है कि योगी को उस सर्वज्ञ, विभु एवं सर्वशक्तिमान् प्रभु का ध्यान करना चाहिए, जो तीनों गुणों (सत्त्व, रज एवं तम) से हीन है, २४ तत्त्वों के ऊपर है, जो इन्द्रियातीत है और यदि वह एक बार रूपहीन प्रभु पर ध्यान लगाने में असमर्थ हो तो उसे क्रमशः पृथिवी एवं अन्य तत्त्वों, मन, बुद्धि, आत्मा, अव्यक्त से ऊपर उठना चाहिए, यदि वह इतना भी न कर सके तो उसे उस व्यक्ति का ध्यान करना चाहिए जो उसके हृदय (कमल) में दीप के समान है, यदि यह असम्भव हो तो उसे उस वासुदेव का ध्यान करना चाहिए जिसकी छाती (वक्ष) पर वनमाला है, जिसके हाथों में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म है। विष्णुधर्मसूत्र ने इतना

६९. आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। बृह० उप० (२।४।५); ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्। मुण्डक० (२।२।६)। नि के साथ ध्य मिलकर निदिध्यासितव्य बना है। छा० उप० (७।६।२) में आया है—ध्यानं वाव चित्ताद् भूयः। ध्यायतीव पृथिवी... ध्यायन्तीव देवमनुष्याः, तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्ता प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति।... ध्यानमुपास्स्वेति'। पृथिवी उसी प्रकार गतिहीन है जिस प्रकार गम्भीर ध्यान में एक योगी निश्चल (गतिहीन) रहता है, और इसी से ऐसा कहा गया है 'पृथिवी मानो ध्यान में मग्न है।'

और जोड दिया है कि वह (योगी) जिसका ध्यान करता है उसकी उपलब्धि करता है, और यही ध्यान का रहस्य है। इससे प्रकट होता है कि ध्यान या तो **सगुण** होता है या **निर्गुण**, जैसा कि पद्मपुराण के ४।८४।८०-८६ (निर्गुण) एव ४।८४।८८-९६ (सगुण) मे आया है, या **साकार** एव **निराकार** होता है, जैसा कि पद्मपुराण (२।८०।७०, ७०-७८) मे व्यक्त किया गया है। ओर देखिए विष्णुपुराण (६।७।७८-९०), स्कन्द० (काशीखण्ड ४१।१६), नरसिहपुराण (१७।११-२८, २६।१७), कृत्यकल्पतरु, मोक्ष० (पृ० १९१-१९२), शख-स्मृति (७।१६)। ध्यान की अवस्था मे केवल कर्ता (योगी) एव विषय (ध्यान के विषय) मे द्वैध पाया जाता है, विषय पर मन को बाँधने के प्रयास की चेतनता नही पायी जाती, जैसा कि धारणा मे होता है।

समाधि वह अवस्था है जिसमे केवल ध्येय ही प्रकाशित रहता है और ध्यान, ऐसा प्रतीत होता है, स्वय शून्य हो गया है, क्योकि उस स्थिति मे ध्यान का ध्येय से पृथक् कोई ज्ञान या भास नही रहता।[७०] समाधि मे ध्यान उस स्थिति तक पहुँच जाता है कि केवल ध्येय की प्रतीति होने लगती है और ध्यानकर्ता को ध्यान करने की भावना की चेतनता नही रहती, क्योकि ध्येय पूर्णरूप से ध्यानकर्ता को अपने मे विलीन कर लेता है। योगी ध्येय मे इस प्रकार घुल-मिल जाता है कि उसे इसका भास ही नही होता कि वह किसी वस्तु या विषय पर सोच रहा है या ध्यान दे रहा है। 'स्वरूपशून्यमिव' (योगसूत्र ३।३) का यही तात्पर्य है। समाधि मे ध्यानकर्ता एव ध्येय, व्यक्ति एव परमात्मा पूर्णतया एक हो जाते है और ध्येय से ध्यानकर्ता की पृथक् भावना का लोप हो जाता है। 'समाधि' शब्द प्राचीन उपनिषदो मे कही भी उल्लिखित नही है, केवल मैत्रायणी उपनिषद् मे इसका उल्लेख है (२।१८)। गीता (२।५३-५४), वनपर्व (३।११) एव शान्तिपर्व (१९५।१९-२०, चित्रशाला) मे यह शब्द आया है। विष्णुपुराण (६।७।९२) मे कहा गया है कि वही समाधि कहलाती है जब मन ध्यान के फलस्वरूप उसके (परमात्मा के) वास्तविक स्वरूप को धारित कर लेता है और जिसमे (ध्येय, ध्यानकर्म एव ध्यानकर्ता के) पृथक् भास का अभाव हो जाता है।[७१] **सप्रज्ञात समाधि** मे

७०. तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि। त्रयमेकत्र सयम। तदपि बहिरग निर्बीजस्य। योगसूत्र (३।३, ४,८)। ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भास प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात तदा समाधिरित्युच्यते। तदेतद् धारणा-ध्यान-समाधित्रयमेकत्र सयम। एकविषयाणि त्रीणि साधनानि सयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा सयम इति। तदप्यन्तरग साधनत्रय निर्बीजस्य ययोगस्य बहिरग भवति। कस्मात्, तदभावे भावात्। १।७ योगसुधाकर, १।६ असप्रज्ञात। राजमार्तण्ड ने 'समाधि' शब्द की व्याख्या की है—'सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधि। योगसूत्र (३।३) पर सदाशिवेन्द्र सरस्वती के योगसुधाकर (पृ० ११८) मे सप्रज्ञात एव असप्रज्ञात समाधि का अन्तर इस प्रकार समझाया गया है—'ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहकृति विना। सप्रज्ञातसमाधि स्यात् ध्यानाभ्यासप्रकर्षत ॥ इति। पर-वैराग्यपूर्वक निरोधप्रयत्नेन तस्यापि निरोधे सर्ववृत्तिनिरोधान्निर्बीज समाधिर्भवति। तदुक्तम्। मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थिति। याऽसप्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते॥ इत्येष विभागो द्रष्टव्य।

७१ तस्यैव कल्पनाहीन स्वरूपग्रहण हि यत्। मनसा ध्याननिष्पाद्य समाधि सोऽभिधीयते॥ विष्णुपु० (६।७।९२), वाचस्पति, कृत्यकल्प० (मोक्ष० पृ० १७५) एव अपरार्क (पृ० १०२६, जिसने व्याख्या की है—'तस्य ब्रह्मण कल्पनाहीन ध्येय ध्यान ध्यातेति भेदप्रत्यय रहित आदि) ने उद्धृत किया है। लिगपुराण (१।८।४४) मे आया है—'चिद्भासमर्थमात्रस्य देहशून्यमिव स्थितम्। समाधि सवहेतुश्च प्राणायाम इति स्थित ॥'

ये तीनो (धारणा, ध्यान एव समाधि) प्रत्यक्ष सहायक है, किन्तु **असप्रज्ञात समाधि** मे परोक्ष रूप से सहायक हे, क्योकि यह इनके अभाव मे भी हो जाती ह। हठयोगप्रदीपिका (४।७) मे आया हे--'समाधि वह कहलाती हे जव कि जीवात्मा एव परमात्मा मे ऐक्य स्थापित हो जाता हे और सभी सकल्पो का लोप हो जाता है।'[७२] **सबीज** एव **निर्बीज** समाधि **सविकल्प** एव **निर्विकल्प** समाधि के सदृश ही हे, जैसा कि वेदान्तमार्ग द्वारा परिभाषित हे। सप्रज्ञात समाधि की चार कोटियाँ ह, यथा—**सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार** एव **निर्विचार**। देखिए इस अध्याय की पाद-टिप्पणी स० ३१ 'गो' शब्द के द्वारा निर्देशित 'गो' नामक वस्तु एव धारणा या भावना (ज्ञान) कि 'यह गौ है', वास्तव मे तीन पृथक् विषय हे, किन्तु उनका मिश्रित भास होता है। यदि कोई योगी किसी विषय पर एकाग्र होता हे ओर उसकी वुद्धि इन उपर्युक्त तीन बातो से सचेत ह तो यह **सवितर्क समाधि** कही जायगी (योगसूत्र १।४२)। अन्य प्रकारो के लिए देखिए पाद-टिप्पणी ३१ एव नीचे। असप्रज्ञात समाधि मे योगी के अन्दर अन्तिम सत्ता उदित होती हे, प्रकृति उसे किसी भी प्रकार मे प्रभावित नही करती, उसका आत्मा स्वय अपने मे स्थित रहता ह ओर व्यक्तित्व के विषय मे सचेत भी नही रहता और न आनन्द की ही अनुभूति करता हे, सव कुछ चित् या चित्शक्ति होती हे ओर कुछ नही। हम यहाँ पर समाधि की विभिन्न अवस्थाओ का विशद विवेचन नही करेगे, क्योकि हमारा सम्बन्ध हे धर्मशास्त्र पर होने वाले योग के प्रभाव मे, न कि योग सम्बन्धी विस्तृत विवेचन से। गोरक्षशतक मे समाधि की अन्तिम अवस्था का वर्णन इस प्रकार हे—'समाधि मे समायुक्त योगी को गन्ध, रस, रूप, स्पर्श या स्वर का भास नही होता ओर न उसे अपने एव अन्यो मे कोई अन्तर दीखता है, ब्रह्मवित् लोग इसे निर्मल, निश्चल, नित्य, निष्क्रिय, निर्गुण, विशाल व्योम के समान विस्तृत, विज्ञान एव आनन्द समझते हे, योगवित् परम पद मे उस नित्य अद्वयता को प्राप्त होता ह, जैसा कि दुग्ध मे दुग्ध, घृत मे घृत एव अग्नि मे अग्नि डालने से ऐक्य होता हे।'[७३]

यह द्रष्टव्य है कि धारणा, ध्यान एव समाधि मे जो प्रमुख बल लगाया जाता हे वह मानसिक हे। वाह्य दशाएँ अभ्यास मे अवश्य सहायक होती हे, किन्तु ह वे गोण ही। जेसा कि हमने ऊपर देख लिया हे, शौच, सन्तोष, तप, ब्रह्मचर्य, कुछ सरल आसन, वैराग्य, भोजन के विषय मे उसके गुण एव मात्रा सम्बन्धी रोक—ये सव मुख्य वाह्य या शारीरिक दशाएँ हैं। धारणा, ध्यान एव समाधि के अभ्यास के साथ योगी कुछ अलोकिक शक्तियो (विभूतियो) का विकास कर सकता हे, जिनकी उसे उपेक्षा करनी होती हे, क्योकि वे ध्येय की प्राप्ति मे रुकावटे उत्पन्न करती हे (योगसूत्र ३।३६)। ऐसा पतञ्जलि का कथन है, किन्तु अधिकाश योगियो की दृष्टि मे सिद्धियाँ योग के महत्त्वपूर्ण अग है ओर योगसूत्र के १९५ सूत्रो मे ३५ सूत्र (३।१६–५०) सिद्धियो

७२ तत्सम च द्वयोरैक्य जीवात्मपरमात्मनो। प्रनष्टसर्वसकल्प समाधि सोऽभिधीयते॥ ह० यो० प्र० (४।७)। और देखिए स्कन्द० (काशीखण्ड, ४७।१२७), जहाँ यही बात दी गयी है।

७३ न गन्ध न रस रूप न स्पर्श न च नि स्वनम्। आत्मान न पर वेत्ति योगी युक्त समाधिना॥ निर्मल निश्चल नित्य निष्क्रिय निर्गुण महत्। व्योम विज्ञानमानन्द ब्रह्म ब्रह्मविदो विदु॥ दुग्धे क्षीर घृते सर्पिरग्नो वह्निरिवार्पित। अद्वयत्व व्रजेन्नित्य योगवित्परमे पदे॥ गोरक्षशतक (श्लोक ९७,९९–१००)। प्रथम श्लोक हठयोगप्रदीपिका (४।१०८) मे भी ह। मिलाइए श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।१९) 'निष्कल निष्क्रिय', कठोपनिषद् (३।१५) अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय, विज्ञानमानन्द ब्रह्म, बृह० उप० (३।९।२८) एव श्वेताश्व० उप० (१।१५), 'तिलेषु तैल चाग्नि' एव 'दुग्धे क्षीर. आदि।'

के उल्लेख में लगे हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धियाँ योग के महत्त्वपूर्ण अंग अवश्य हैं। वैखानसस्मार्तसूत्र में आया है कि योगी लोगों के बीच से अचानक अदृश्य हो सकता है, बहुत दूर की वस्तुओं को देख सकता है तथा बहुत दूर का स्वर सुन सकता है।

योगसूत्र के पाद ३ में उल्लिखित सभी संयमों के परिणामों का उल्लेख अनावश्यक है। उदाहरणस्वरूप कुछ दिये जा रहे हैं। हाथी की शक्ति पर संयम करने से व्यक्ति हाथी की शक्ति प्राप्त कर सकता है (३।२४), सूर्य पर संयम करने से सात लोकों का ज्ञान हो सकता है (३।२६), चन्द्र के संयम से तारों की व्यवस्था का ज्ञान हो सकता है (३।२७), नाभिचक्र के संयम से शरीर की व्यवस्था (३।२९ यथा तीन दोष—वात, पित्त एवं कफ तथा सात धातुएँ—चर्म, रक्त, मांस, स्नायुओं, अस्थियों, मज्जा एवं वीर्य) का ज्ञान हो सकता है। स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म (तन्मात्राएँ), अन्वय एवं पञ्चभूतों के संयम से तत्त्वों पर जय होती है और इस जय से अणिमा आदि सिद्धियों का उदय होता है और शरीर में सिद्धि की उपलब्धि होती है। (यथा—पृथिवी अपने कठोर पाषाण-खण्डों से योगी को भीतर जाने में रोक नहीं सकती, अग्नि जला नहीं सकती आदि-आदि)।[७४] ४।१ में पतञ्जलि का कथन है कि सिद्धियाँ पाँच रूपों में उदित होती हैं, यथा—(१) कुछ शरीरों में जन्म लेने (यथा पक्षी के रूप में जन्म लेकर, जो आकाश में बहुत ऊँचाई तक जा सकता है), (२) कुछ ओषधियों के प्रयोग से, (३) कुछ मन्त्रों के जप से, (४) तप से (जो नियमों में एक है) तथा (५) समाधि द्वारा, जिनमें प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती से श्रेष्ठ है।[७५]

७४ स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः। ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च। रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्। योगसूत्र (३।४४-४६)। 'स्वरूप' में पाँच तत्त्वों के गुण पाये जाते हैं और उसकी व्याख्या पृथिवी की कठोरता, जल की द्रवता (रसता), अग्नि की उष्णता, वायु की गतिशीलता तथा आकाश की विभुता से की गयी है। तत्त्वों का चौथा रूप 'अन्वय' ख्याति (प्रकाश), क्रिया एवं स्थिति के गुणों का द्योतक है। भाष्य में आया है—'अन्वयिनो गुणाः प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिरूपतया सर्वत्रैवान्वयित्वेन समुपलभ्यन्ते।' देखिए योगसूत्र (२।१८) 'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।' 'प्रकाश', 'क्रिया' एवं 'स्थिति' क्रम से सत्त्व, रज एवं तम नामक गुणों के द्योतक हैं। और देखिए सांख्यकारिका (१३)। पाँचवाँ 'अर्थ-वत्त्व' पाँच तत्त्वों में पाया जाता है और अनुभूति एवं आत्मा की उपलब्धि में उपयोगी होता है। 'वज्रसंहननत्व' वज्र के समान शरीर की कठोरता की प्राप्ति, 'वज्रस्य इव संहननं संहतिः अस्य, तस्य भावः वज्रसंहननत्वम्।' भाष्य ने 'तद्धर्मानभिघातश्च' को इस प्रकार समझाया है—'पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियां, शिलामप्यनुविशतीति। नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति। नाग्निरुष्णो दहति ... आदि।'

७५ जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः। योगसूत्र (४।१)। अर्नेस्ट वुड ('योग', १९५९, पेंगुइन ग्रन्थ-माला) ने लघिमा के विषय में (पृ० १०४) लिखा है—'मुझे स्मरण है, एक बूढ़ा योगी पार्श्वशायी रूप में या लेटे हुए खुली भूमि पर लगभग ६ फुट ऊपर उठ गया और उसी रूप में आधा घण्टा रुका रहा और दर्शक लोग उसके और भूमि के बीच में अपनी छड़ियाँ आर-पार करते रहे।' वुड ने आगे लघिमा का एक और उदाहरण दिया है, जिसे सिक्किम की राजकुमारी ने अपनी आँखों से देखा था। ए० कोयेस्टलर ने अपने ग्रन्थ 'दि लोटस एण्ड दि रॉबॉट' (लन्दन, १९६०, पृ० ११४) में लिखा है कि उन्हें श्री वुड का उदाहरण सन्देहपूर्ण लगता है, क्योंकि वुड ने निश्चित तिथि एवं स्थान की सूचना नहीं दी है। उन्होंने यह बल देकर कहा है कि लघिमा पर कोई भी प्रयोग

इस खण्ड के अध्याय २६ मे सिद्धियो का उल्लेख हुआ है। देवलधर्मसूत्र ने सिद्धियो पर एक लम्बी टिप्पणी की है, जिसका उद्धरण कल्पतरु (मोक्ष०, पृ० २१६-२१७) द्वारा दिया गया है।[७९] याज्ञ० (३।२०२-२०३) ने योगसिद्धि के कुछ विशिष्ट लक्षणो का उल्लेख किया है, यथा—अन्तर्धान होना, पूर्व जीवन की बातो को स्मरण कर लेना, सुन्दर रूप धारण कर लेना, अतीत एव भविष्य की घटनाओ एव दूर के विषयो को देख लेने की सगयता प्राप्त कर लेना, दूर पर क्या कहा जा रहा है उसे जान लेना, अपने शरीर को छोडकर अन्य के शरीर मे प्रवेश कर जाना, अपने मन के अनुरूप बिना किसी साधन एव उपकरण के वस्तु की सृष्टि कर लेना।

तन्त्र वाले अध्याय मे हमने मन्त्रो के विषय मे विशद रूप से पढ लिया है। देखिए इस खण्ड का अध्याय २६। मन्त्रो के विषय मे दो सिद्धान्त है, जिनमे एक है कम्पन सिद्धान्त (वाइब्रेशन थ्योरी), अर्थात् मन्त्र के शब्द मौलिक प्रणेता एव प्रयोगकर्ता की कुछ शक्तियो से अभिभूत रहते है और जब मन्त्र का पाठ किया जाता है तो कुछ अज्ञात कम्पन उठ खडे होते है जिनसे उस उद्देश्य की पूर्ति होती है जिसके लिए वह मन्त्र कहा जाता है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि मन्त्र प्राचीन काल से किसी महान् मुनि के अन्तःकरण से निर्गत होकर आया रहता है, निर्देश करने की इसकी शक्ति महान् होती है। किन्तु प्रस्तुत लेखक के मत से मन्त्र की वास्तविक शक्ति उसे उच्चारण करने वाले व्यक्ति के ज्ञान, उसकी प्रतिक्रियाशीलता एव उसकी आध्यात्मिक शक्ति पर निर्भर रहती है। इस विषय मे कोई वैज्ञानिक प्रयोग नही किया गया है और विभिन्न ग्रन्थ विभिन्न ढगो से उपर्युक्त सिद्धान्तो मे किसी एक को अतिशयोक्ति के साथ महत्त्व देते है। सभी कुछ मात्र कल्पना या वितर्कना है। वास्तव मे, दूसरे सिद्धान्त पर अधिक बल दिया जा सकता है, क्योकि इसमे मानव-मनोविज्ञान की स्पष्ट झलक है। पहले सिद्धान्त के विषय मे इतना अतिचार (असीम माहात्म्य) बढ गया कि प्रसिद्ध मन्त्र 'ओम् मणिपद्मे हुम्' (जो अवलोकितेश्वर देवता का है) बहुत लाभकारी माना जाने लगा, जब कि उसे किसी वस्तु पर लिखकर और किसी चक्र (पहिया) पर सटा कर सैकडो बार घुमाया जाये। दूसरे सिद्धान्त से गुरु एव दीक्षा की महत्ता बढ गयी, और इस विषय मे भी अतिचार का महत्त्व अधिक हो गया। किन्तु इस सिद्धान्त मे एक विशिष्ट बात यह पायी जाने लगी कि शिष्य को तदनुरूप योग्यता के लिए प्रयत्नशील होना पडा, अर्थात् उसे गुरु के प्रति श्रद्धा प्रवाहित करनी पडी, उसे आध्यात्मिक बातो मे अभिरुचि लेनी पडी। शास्त्रो के सिद्धान्तो का ज्ञान प्राप्त करना पडा तथा गुरु की दी हुई शिक्षा मे अभ्यासमग्न होना पडा। गुरु एव शिष्य के सम्बन्ध मे विशिष्ट जानकारी के लिए देखिए शिवसंहिता (३।१०-१९)।

तिथि एव स्थान के साथ नही प्रकाशित हुआ है। डा० अलेक्जेण्डर कैनन ने अपनी पुस्तक 'दि इनविजिबल इफ्लुएस (१९३५, पृ० ३९-४१) मे लघिमा पर एक व्यक्तिगत अनुभव का उल्लेख किया है। पता नही श्री ए० कोयेस्टलर महोदय इस कथन से परिचित है या नही।

७९ देवलधर्मसूत्र की लम्बी टिप्पणी का कुछ अश यो है—'अणिमा महिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्यमीशित्व वशित्व यत्रकामावसायित्व चाष्टावैश्वर्यगुणा। तेषामणिमा महिमा लघिमा त्रय शारीरा॥ प्राप्त्यादय पञ्चेन्द्रिया। शरीराशुगामित्व लघिमा। तेनातिदूरस्थानपि क्षणेनासादयति। विश्वविषयावाप्ति प्राप्ति। प्राप्त्या सर्वप्रत्यक्षदर्शी भवति। अप्रतिहतैश्वर्यमीशित्वम्। ईशित्वेन दैवतान्यपितिशेते। यत्रकामावसायित्व त्रिविधम्—छायावेश, अवध्यानावेश, अगप्रवेश इति। यत् परस्य अगप्रवेशमात्रेण चित्त वशीकरोति स छायावेश। यद् दूरस्थानामपि अनुध्यायेन चित्ताधिष्ठान सोऽवध्यानावेश। यत्सजीवस्योभिस्ते (?) जीवस्य वा शरीरानुप्रवेशन सोऽङ्गप्रवेश, अन्तर्धान स्मृति कान्तिर्दृष्टि श्रोत्रज्ञता तथा। निज शरीरमुत्सृज्य परकायप्रवेशनम्। अर्थानां छन्दत, सृष्टिर्योगसिद्धेश्च लक्षणम्॥ याज्ञ० (३।२०२-२०३)।

योगसूत्र के **चौथे पाद** मे **कैवल्य** का विवेचन है—वह योगी जो समाधि तक की सारी अनुशासन सम्बन्धी क्रियाएँ कर चुका है और पुरुष एव गुणो (सत्त्व, रज एव तम) के अन्तर को भली भाँति समझ गया है, तीनो गुणो के प्रभाव से छुटकारा पा जाता है, क्योकि वे (गुण) आत्मा के उद्देश्य की पूर्ति करके **प्रधान** (प्रकृति) मे समाहित हो जाते हैं। यही **कैवल्य** है अथवा यही (कैवल्य) उस चेतना का द्योतक है जो स्वय उपस्थित रहती है (और यहाँ तक कि सत्त्वगुण से भी सम्बन्धित नही रहती)।[७७] यही स्थिति योगसूत्र (२।२५) मे भी वर्णित है, उसमे आया है कि जब अविद्या अन्तर्भेद (विवेकज्ञान) करने से दूर हो जाती है तो जीवात्मा (जो प्रत्यक्षीकरण करने वाला है) गुणो के सम्पर्क मे नही आता, यही स्थिति कैवल्य की है।[७८] योगसूत्र (४।३४) मे कैवल्य दो दृष्टि-कोणो के आधार पर समझाया गया है। जब कोई पुरुष गुणो (जिनसे प्रकृति बनी रहती है) द्वारा किसी प्रकार प्रभा-वित होना बन्द कर देता है, क्योकि वह पूर्णतया वृत्तिहीन हो गया रहता है, तो प्रकृति, जहाँ तक पुरुष का सम्बन्ध है, तटस्थ (**केवल**) हो जाती है। जब पुरुष को पूर्ण ज्ञान हो जाता है और वह गुणो से प्रभावित होना बन्द कर देता है तो वह 'चितिशक्ति' (केवल चेतनता) रह जाता है और **केवल** बच रहता है अर्थात् तटस्थ हो जाता है, यही कैवल्य के विषय मे दूसरा दृष्टिकोण है। कैवल्य या मोक्ष की स्थिति मे हम उसके लिए किसी आनन्द या परमसुख (सुखातिशय या प्रहर्ष) का निर्देश नही कर सकते, किन्तु हम केवल इतना कह सकते है कि वह चिति-शक्ति (केवल या मात्र चेतनता) की अवस्था मे है। उपनिषदो ने घोषणा की है कि ऐसी अवस्था मे मुक्तात्मा मे न तो सुख की और न दुख की ही अनुभूति पायी जाती, ऐसे आत्मा को सुख या इसका विरोधी भाव स्पर्श तक नही करता, क्योकि वह उस स्थिति मे पहुच गया रहता है जहाँ उसका शरीर से कोई सम्बन्ध (रुचि या लगाव) नही रहता। योग का आदर्श है **जीवन-मुक्त** हो जाना (अर्थात् जीवन एव व्यक्तित्व को त्याग देना, इस विश्व के लिए मर जाना, भले ही शरीर कुछ काल तक चलता रहे)।[७९]

योग के आठ अगो का अधिक या कम वर्णन कई पुराणो मे हुआ है। देखिए अग्निपु० (अध्याय २१४-२१५ एव ३७२-७६), भागवत०। (३।२८), कूर्म० (२।११), नरसिह० (६१।३-१३, कल्पतरु, मोक्ष० पृ० १९४-१९५ मे उद्धृत), मत्स्य० (अध्याय ५२), मार्कण्डेय० (अध्याय ३६-४०, वेक० सस्करण एव ३९-४३ कलकत्ता सस्करण, इसमे लगभग २५० श्लोक है, जिनमे बहुत-से कृत्यकल्पतरु, मोक्ष० मे, अपरार्क आदि द्वारा उद्धृत है), लिङग०,

७७ पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसव कैवल्य स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। योगसूत्र (४।३४), भाष्य है—'कृतभोगापवर्गाणा पुरुषार्थशून्याना य प्रतिप्रसव कार्यकारणात्मकाना गुणाना तत्कैवल्य, स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात्पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्या सदा तथैवावस्थाया कैवल्यमिति।' वाचस्पति ने 'प्रतिप्रसव' का अर्थ 'स्वकारणे प्रधाने लय' लगाया है।

७८ तस्य हेतुरविद्या। तदभावात्सयोगाभावो हान तद्दृशे कैवल्यम्। यो० सू० (२।२४-२५)। तस्यादर्शन-स्याभावाद् बुद्धिपुरुषसयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थ। एतद्धानम्। तद्दृशे पुरुषस्यामिश्रीभाव पुनरसयोगो गुणैरित्यर्थ। दुखकारणनिवृत्तौ दुखोपरमो हान तदा स्वरूपप्रतिष्ठ पुरुष इत्युक्तम्। भाष्य। कैवल्य का अर्थ है 'एकाकिता', अर्थात् स्वय अकेला रहना।

७९ अशरीर वाव सन्त न प्रियाप्रिये स्पृशत। छा० उप० (८।१२।१), अध्यात्मयोगाधिगमेन देव मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। कठ० (२।१२)। वेदान्तसूत्र का (४।४।२ मुक्त प्रतिज्ञानात्) छा० उप० (८।१२।१) पर आधृत है।

(११८), वायु० (अध्याय १०-१५), विष्णु० (६।७, जो विचार एव शब्दो मे योगसूत्र के समान है), विष्णु-धर्मोत्तर० (३।२८०-२८४), स्कन्द० (काशीखण्ड, अध्याय ४१)।

श्री जेरालिडन कॉस्टर महोदय ने अपने ग्रन्थ 'योग एण्ड वेस्टर्न साइकॉलॉजी' (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३४) मे योग की प्रशसा की है जो पठनीय है। उन्होने लिखा है—'मुझे विश्वास है कि वे विचार, जिन पर योग आवृत है, मानव के लिए सार्वभौम रूप मे सत्य है और योगसूत्र मे इतनी सामग्री है जिसका हमे पता चलाना चाहिए और उपयोग करना चाहिए (पृ० २४४)' 'मेरा तो यह कहना है कि पूर्व मे योग का जो अनुसरण किया जाता है वह मानसिक विकास की व्यावहारिक प्रणाली एव विश्लेषणात्मक शान्तिकर अर्थात् रोग निवारक है, वह सामान्य विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक है एव वास्तविक जीवन मे कही अधिक सम्बन्धित है। मुझे इसकी प्रतीति एव विश्वास है कि पतञ्जलि के योगसूत्र मे सचमुच ऐसी स्थापना है जिसे अर्वाचीन काल के अति विकसित एव प्रवीण मनश्चिकित्सक बडी निष्ठा के साथ खोजने मे सलग्न है (पृ० २४५)।'

डा० बेहनन की पुस्तक 'योग, एक वैज्ञानिक मूल्याकन' का अन्तिम अध्याय बडा महत्वपूर्ण एव मनोरम है। उन्होने योग के कतिपय स्वरूपो का मूल्याकन किया है जो स्वय अपने पर किये गये प्रयोगो पर आधृत है। डा० बेहनन ने लोनावाला (पूना) के स्वामी कुवलयानन्द के निर्देशन मे एक वर्ष बिताया और स्वय प्राणायाम मे वे तीन वर्षो तक सलग्न रहे। यहाँ स्थानाभाव से हम उनके मूल्याकन की सभी बातो को नही रख सकते, किन्तु उनके कुछ निष्कर्षो को बिना दिये रह भी नही सकते। उन्हे इसकी अनुभूति हुई है कि योगाभ्यास से चित्त (मन) अन्तर्मुख हो जाता है और बाह्य ससार से वह तटस्थ हो जाता है (पृ० २३२)। उन्हे पता चला है कि सम्भवत प्राणायाम से ऐसी विश्राम-स्थिति आती है कि मन अन्तर्मुखता की ओर उन्मुख हो जाता है (पृ० २३४)। सामान्य रूप से साँस लेने की प्रक्रिया की तुलना करने के पश्चात् उन्हे पता चला है कि **उज्जायी** मे आक्सीजन की वृद्धि २४ ५%, **भस्त्रिका** मे १८ ५% एव **कपालभाति** मे १२% हुई। नासिका के अग्र भाग पर अनिमिष रूप से ध्यान लगाने से मन की चचल वृत्तियो का निरोध होता है (पृ० २४२)। योगिक अभ्यासो से सवेगात्मक स्थिरता आती है। डा० बेहनन ने लगभग आधे दर्जन से अधिक योगाभ्यासियो को बहुत सन्निकट से देखा, उनके जीवन का अवलोकन किया और अन्त मे यही निष्कर्ष निकाला कि उन्होने अपने जीवन मे जितने लोगो को देखा है उनमे ये योगाभ्यासी ही अत्यन्त सुखी व्यक्ति है जिनकी प्रसन्न मुद्रा सपर्कीय हो उठती है अर्थात् अन्य लोगो मे फैल जाती है (पृ० २४५)।

डा० पी० ए० सोरोकिन ने, जो हार्वर्ड यूनिवर्सिटी मे है और आज के महान् समाज-शास्त्रियो मे परिगणित है, एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण निबन्ध ('योग एण्ड मैस ट्रान्सफिगरेशन') भारतीय विद्या भवन के जर्नल (नवम्बर, १९५८, पृ० १११-१२०) मे प्रकाशित किया है, जिसका प्रथम वाक्य यो है—'योग की प्रणालियो एव विधियो, विशेषत राजयोग की प्रणालियो एव विधियो मे आज के मनोविश्लेषण, मानस चिकित्सा शास्त्र, मानस नाट्य, नैतिक शिक्षा एव चरित्र-शिक्षा की अधिकाश सभी सारगर्भित प्रणालियाँ एव विधियाँ समाहित हो जाती है।'

योगाभ्यास मे सलग्न व्यक्ति के गुणो की अभिव्यक्ति से यह प्रकट हो जाता है कि वह क्रमश आध्यात्मिक स्तरो मे विकसित होने मे सफलता प्राप्त करता जा रहा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।११) मे योगाभ्यास के प्रथम अनुकूल लक्षण इस प्रकार व्यक्त किये गये है—'लघुत्व अर्थात् शरीर का हलकापन, आरोग्य, अलोलुपता (लोभ-हीनता), शरीर के रग का प्रसार या दीप्ति (चमक), स्वर-सौष्ठव, शुभ या सुखद शरीर-गन्ध, मूत्र एव मल की

योगसूत्र के चौथे पाद मे कैवल्य का विवेचन है—वह योगी जो समाधि तक की सारी अनुशासन सम्बन्धी क्रियाएँ कर चुका है और पुरुष एवं गुणो (सत्त्व, रज एव तम) के अन्तर को भली भाँति समझ गया है, तीनो गुणो के प्रभाव से छुटकारा पा जाता है, क्योकि वे (गुण) आत्मा के उद्देश्य की पूर्ति करके **प्रधान** (प्रकृति) मे समाहित हो जाते है। यही **कैवल्य** है अथवा यही (कैवल्य) उस चेतना का द्योतक है जो स्वय उपस्थित रहती है (और यहाँ तक कि सत्त्वगुण से भी सम्बन्धित नही रहती)।[७७] यही स्थिति योगसूत्र (२।२५) मे भी वर्णित है, उसमे आया है कि जब अविद्या अन्तर्भेद (विवेकज्ञान) करने से दूर हो जाती है तो जीवात्मा (जो प्रत्यक्षीकरण करने वाला है) गुणो के सम्पर्क मे नही आता, यही स्थिति कैवल्य की है।[७८] योगसूत्र (४।३४) मे कैवल्य दो दृष्टिकोणो के आधार पर समझाया गया है। जब कोई पुरुष गुणो (जिनसे प्रकृति बनी रहती है) द्वारा किसी प्रकार प्रभावित होना बन्द कर देता है, क्योकि वह पूर्णतया वृत्तिहीन हो गया रहता है, तो प्रकृति, जहाँ तक पुरुष का सम्बन्ध है, तटस्थ (**केवल**) हो जाती है। जब पुरुष को पूर्ण ज्ञान हो जाता है और वह गुणो से प्रभावित होना बन्द कर देता है तो वह 'चितिशक्ति' (केवल चेतनता) रह जाता है और **केवल** बच रहता है अर्थात् तटस्थ हो जाता है, यही कैवल्य के विषय मे दूसरा दृष्टिकोण है। कैवल्य या मोक्ष की स्थिति मे हम उसके लिए किसी आनन्द या परमसुख (सुखातिशय या प्रहर्ष) का निर्देश नही कर सकते, किन्तु हम केवल इतना कह सकते है कि वह चितिशक्ति (केवल या मात्र चेतनता) की अवस्था मे है। उपनिषदो ने घोषणा की है कि ऐसी अवस्था मे मुक्तात्मा मे न तो सुख की ओर न दुःख की ही अनुभूति पायी जाती, ऐसे आत्मा को सुख या इसका विरोधी भाव स्पर्श तक नही करता, क्योकि वह उस स्थिति मे पहुँच गया रहता है जहाँ उसका शरीर से कोई सम्बन्ध (रुचि या लगाव) नही रहता। योग का आदर्श है **जीवन-मुक्त** हो जाना (अर्थात् जीवन एव व्यक्तित्व को त्याग देना, इस विश्व के लिए मर जाना, भले ही शरीर कुछ काल तक चलता रहे)।[७९]

योग के आठ अगो का अधिक या कम वर्णन कई पुराणो मे हुआ है। देखिए अग्निपु० (अध्याय २१४-२१५ एव ३७२-७६), भागवत०। (३।२८), कूर्म० (२।११), नरसिंह० (६१।३-१३, कल्पतरु, मोक्ष० पृ० १९४-१९५ मे उद्धृत), मत्स्य० (अध्याय ५२), मार्कण्डेय० (अध्याय ३६-४०, वेक० सस्करण एव ३९-४३ कलकत्ता सस्करण, इसमे लगभग २५० श्लोक है, जिनमे बहुत-से कृत्यकल्पतरु, मोक्ष० मे, अपरार्क आदि द्वारा उद्धृत है), लिङ्ग०,

७७ **पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसव कैवल्य स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। योगसूत्र (४।३४),** भाष्य है—'**कृतभोगापवर्गाणा पुरुषार्थशून्याना य प्रतिप्रसव कार्यकारणात्मकाना गुणाना तत्कैवल्य, स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात्पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्या सदा तथैवावस्थाया कैवल्यमिति।**' वाचस्पति ने '**प्रतिप्रसव**' का अर्थ '**स्वकारणे प्रधाने लय**' लगाया है।

७८ **तस्य हेतुरविद्या। तदभावात्सयोगाभावो हान तद्दृशे कैवल्यम्। यो० सू० (२।२४-२५)। तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुषसयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थ। एतद्धानम्। तद्दृशे पुरुषस्यामिश्रीभाव पुनरसयोगो गुणैरित्यर्थ। दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हान तदा स्वरूपप्रतिष्ठ पुरुष इत्युक्तम्। भाष्य।** कैवल्य का अर्थ है '**एकाकिता**', अर्थात् स्वय अकेला रहना।

७९ **अशरीर वाव सन्त न प्रियाप्रिये स्पृशत। छा० उप० (८।१२।१), अध्यात्मयोगाधिगमेन देव मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। कठ० (२।१२)। वेदान्तसूत्र का (४।४।२ मुक्त प्रतिज्ञानात्) छा० उप० (८।१२।१)** पर आधृत है।

(१।८), वायु० (अध्याय १०-१५), विष्णु० (६।७, जो विचार एवं शब्दों में योगसूत्र के समान है), विष्णुधर्मोत्तर० (३।२८०-२८४), स्कन्द० (काशीखण्ड, अध्याय ४१)।

श्री जेरात्डिन कॉस्टर महोदय ने अपने ग्रन्थ 'योग एण्ड वेस्टर्न साइकॉलॉजी' (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३४) में योग की प्रशंसा की है जो पठनीय है। उन्होंने लिखा है—'मुझे विश्वास है कि वे विचार, जिन पर योग आवृत है, मानव के लिए सार्वभौम रूप में सत्य हैं और योगसूत्र में इतनी सामग्री है जिसका हमें पता चलाना चाहिए और उपयोग करना चाहिए (पृ० २४४)' 'मेरा तो यह कहना है कि पूर्व में योग का जो अनुसरण किया जाता है वह मानसिक विकास की व्यावहारिक प्रणाली एवं विश्लेषणात्मक शान्तिकर अर्थात् रोग निवारक है, वह सामान्य विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक है एवं वास्तविक जीवन से कहीं अधिक सम्बन्धित है। मुझे इसकी प्रतीति एवं विश्वास है कि पतञ्जलि के योगसूत्र में सचमुच ऐसी स्थापना है जिसे अर्वाचीन काल के अति विकसित एवं प्रवीण मनश्चिकित्सक बड़ी निष्ठा के साथ खोजने में संलग्न हैं (पृ० २४५)।'

डा० बेहनन की पुस्तक 'योग, एक वैज्ञानिक मूल्यांकन' का अन्तिम अध्याय बड़ा महत्त्वपूर्ण एवं मनोरम है। उन्होंने योग के कतिपय स्वरूपों का मूल्यांकन किया है जो स्वयं अपने पर किये गये प्रयोगों पर आधृत है। डा० बेहनन ने लोनावाला (पूना) के स्वामी कुवलयानन्द के निर्देशन में एक वर्ष बिताया और स्वयं प्राणायाम में वे तीन वर्षों तक संलग्न रहे। यहाँ स्थानाभाव से हम उनके मूल्यांकन की सभी बातों को नहीं रख सकते, किन्तु उनके कुछ निष्कर्षों को बिना दिये रह भी नहीं सकते। उन्हें इसकी अनुभूति हुई है कि योगाभ्यास से चित्त (मन) अन्तर्मुख हो जाता है और बाह्य संसार से वह तटस्थ हो जाता है (पृ० २३२)। उन्हें पता चला है कि सम्भवतः प्राणायाम से ऐसी विश्राम-स्थिति आती है कि मन अन्तर्मुखता की ओर उन्मुख हो जाता है (पृ० २३४)। सामान्य रूप से साँस लेने की प्रक्रिया की तुलना करने के पश्चात् उन्हें पता चला है कि **उज्जायी** में आक्सीजन की वृद्धि २४.५%, **भस्त्रिका** में १८.५% एवं **कपालभाति** में १२% हुई। नासिका के अग्र भाग पर अनिमिष रूप से ध्यान लगाने से मन की चंचल वृत्तियों का निरोध होता है (पृ० २४२)। यौगिक अभ्यासों से संवेगात्मक स्थिरता आती है। डा० बेहनन ने लगभग आधे दर्जन से अधिक योगाभ्यासियों को बहुत सन्निकट से देखा, उनके जीवन का अवलोकन किया और अन्त में यही निष्कर्ष निकाला कि उन्होंने अपने जीवन में, जितने लोगों को देखा है उनमें ये योगाभ्यासी ही अत्यन्त सुखी व्यक्ति हैं जिनकी प्रसन्न मुद्रा संपर्कीय हो उठती है अर्थात् अन्य लोगों में फैल जाती है (पृ० २८५)।

डा० पी० ए० सोरोकिन ने, जो हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में हैं और आज के महान् समाज-शास्त्रियों में परिगणित हैं, एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण निबन्ध ('योग एण्ड मैस ट्रान्स्फिगरेशन') भारतीय विद्या भवन के जर्नल (नवम्बर, १९५८, पृ० १११-१२०) में प्रकाशित किया है, जिसका प्रथम वाक्य यों है—'योग की प्रणालियों एवं विधियों, विशेषतः राजयोग की प्रणालियों एवं विधियों में आज के मनोविश्लेषण, मानस चिकित्सा शास्त्र, मानस नाट्य, नैतिक शिक्षा एवं चरित्र-शिक्षा की अधिकांश सभी सारगर्भित प्रणालियाँ एवं विधियाँ समाहित हो जाती हैं।'

योगाभ्यास में संलग्न व्यक्ति के गुणों की अभिव्यक्ति से यह प्रकट हो जाता है कि वह क्रमशः आध्यात्मिक स्तरों में विकसित होने में सफलता प्राप्त करता जा रहा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।११) में योगाभ्यास के प्रथम अनुकूल लक्षण इस प्रकार व्यक्त किये गये हैं—'लघुत्व अर्थात् शरीर का हलकापन, आरोग्य, अलोलुपता (लोभहीनता), शरीर के रंग का प्रसार या दीप्ति (चमक), स्वर-सौष्ठव, शुभ या सुखद शरीर-गन्ध, मूत्र एवं मल की

अलता।'[८०] सर्वथा ये ही शब्द वायुपुराण एवं मार्कण्डेयपुराणों में आये हैं। मार्कण्डेयपुराण में कुछ और भी कहा है—'लोग योगी की चाहना या उसे पसन्द करते हैं और उसके पीछे उसके गुणों की प्रशंसा करते हैं, सभी पशु उससे भय नहीं रखते वह अति शीत या उष्ण से प्रभावित नहीं होता और न किसी से भय रखता है, इससे प्रकट होता है कि योग में सिद्धि आ रही है।' वायुपुराण में आया है कि 'यदि योगाभ्यासी पृथिवी या अपने को मानो अग्नि में जलता देखे और यदि वह अपने को सभी भूतों (या सभी प्राणियों) में प्रवेश करता देखे तो उसे समझना चाहिए कि योग में सिद्धि (सफलता) उपस्थित है' (११।६४, कृत्यकल्प, मोक्ष०, पृ० २११)।

मार्कण्डेयपुराण (३८।२९) एवं विष्णुपुराण (२।१३) में विस्तार के साथ **योगी-चर्या** (योगी के व्यवहार या आचरण या चरित्र) का उल्लेख है। यहाँ पर सभी बातें नहीं दी जा सकतीं, केवल दो महत्त्वपूर्ण श्लोकों का अर्थ दिया जा रहा है। मार्कण्डेयपुराण[८१] में आया है—मनुष्यों में (सामान्यतः) मान एवं अपमान प्रीति एवं उद्वेग (क्लेश) उत्पन्न करते हैं, किन्तु ये दोनों योगी में विपरीत अर्थवाले होते हैं और उसके लिए सिद्धिकारक सिद्ध होते हैं, ये क्रम से विष एवं अमृत कहे जाते हैं, अपमान योगी के लिए अमृत है और मान विष।' विष्णुपुराण ने बल दिया है कि योगी को ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि लोग उसका अपमान करें और उसका संग न करें। मनुस्मृति (६।२८-८५) ने सन्यासियों के कर्तव्यों का विवेचन किया है जिनमें कुछ योगियों के लिए भी सटीक बैठते हैं। मनु (६।६५) ने योग के साधनों द्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता की जानकारी के लिए सन्यासियों को प्रबोधित किया है और दूसरे स्थान (६।७३) पर उनसे ध्यानयोग के अभ्यास की बात कही है। और देखिए याज्ञ० (३।५९-६७)।

शान्तिपर्व (२९४।१४-१७ = ३०६।१४-१७ चित्रशाला) में आया है कि योग की विधि एवं विधानों (नियमों) को जानने वाले उसी को योगी कहते हैं जो मन से इन्द्रियों को स्थिर कर देता है, बुद्धि से अपने मन को निश्चल बना देता है, पाषाण की भाँति अडिग हो जाता है स्थाणु (पेड़ के तने) की भाँति अकम्पित हो जाता है तथा पर्वत की भांति गतिहीन (निश्चल) एवं शक्तिशाली होता है। समझदार (विज्ञ) लोग उसी को युक्त (योगी) कहते हैं जो न सुनता है, न गन्ध लेता है, न स्वाद लेता है, न देखता है और न स्पर्श करता है, जिसके मन में (परिवर्तनशील) संकल्प नहीं उठते हैं, जो किसी भी वस्तु को अपनी नहीं कहता, जो बाह्य जगत् की वस्तुओं को नहीं पहचानता, अर्थात् जो मानो काठ के समान है, और जिसने आत्मा के वास्तविक एवं मौलिक रूप की अभिज्ञता प्राप्त कर ली है। देवलधर्मसूत्र (कल्पतरु, मोक्षप्रकरण, पृ० ९०-९१) ने व्यवस्था दी है कि अहंकार एवं ममत्व के फलस्वरूप सभी प्राणी बन्धन में आ जाते हैं, किन्तु जो इनसे मुक्त है वह मुक्त है।[८२]

८० लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च। गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।११), वायु० (११।६३), मार्कण्डेय० (३९।६३=३९।६३, कलकत्ता संस्करण)। और देखिए कृतकल्प० (मोक्ष०, पृ० २११)।

८१ मानापमानौ यावेतौ प्रीत्युद्वेगकरौ नृणाम्। तावेव विपरीतार्थौ योगिनः सिद्धिकारकौ॥ मानापमानौ यावेतौ तावेवाहुर्विषामृते। अपमानोऽमृतं तत्र मानस्तु विषमं विषम्॥ मार्क० (३८।२-३), मिलाइए विष्णुपुराण (२।१३।४२-४३) 'समाननः परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते ।'

८२ द्रू ममेति यत्स्वाम्यमात्मनोऽर्थेषु मन्यते। अजानंस्तदनित्यत्वं ममत्वमिति तद्विदुः॥ अहमित्यभिमानेन यः क्रियासु प्रवर्तते। कार्यकारणयुक्तासु तदहंकारलक्षणम्॥ अहंकारममत्वाभ्यां बध्यन्ते सर्वदेहिनः। संसारविनियोगेषु ताभ्यां मुक्तस्य (मुक्तस्तु?) मुच्यते॥ देवल (कल्पतरु, मोक्ष०, पृ० ९०-९१)।

शताब्दियो से भारत मे सन्यासियो एव योगियो की अत्यन्त सम्मानपूर्वक पूजा होती रही है। श्राद्ध के अवसर पर योगी को विशिष्ट रूप से आमन्त्रित करने की परम्परा रही है और कहा गया है कि एक योगी सैकडो एव सहस्रो ब्राह्मणो के समान है। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ४, पृ० ३८८, ३९८-३९९। कुछ परिस्थितियो मे जब धर्म के विषय मे शका उत्पन्न हो जाती थी तो विवादग्रस्त विषय का निर्णय दस विद्वान् ब्राह्मणो या कम से कम तीन ब्राह्मणो की परिषद् पर छोड दिया जाता था, किन्तु एक व्यक्ति भी परिषद् का कार्य कर सकता था यदि वह वेदज्ञ हो तथा धर्म को जानने वाला हो (मनु १२।१०८-११३)। किन्तु याज्ञ० (१।९) आदि ने कहा है कि चार वेदज्ञ एव धर्मशास्त्रज्ञ या उसी प्रकार के तीन या केवल एक, जो आध्यात्मिक विषयो के जानकारो मे सर्वश्रेष्ठ हो, परिषद् का कार्य कर सकता है और वह जो घोषित करेगा वह आचरण करने (धर्म) की सच्ची विधि होगी। इस विषय मे देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ९६९। भगवद्गीता मे आया है—'योगी (जो वास्तव मे कर्मयोगी है और जिसने कर्मफल भगवान् को समर्पित कर दिये है) तप करने वालो (व्रत आदि या हठयोग करने वालो) से उत्तम होता है, वह उनसे भी उत्तम होता है जो दार्शनिक ज्ञान (साख्य आदि) पर अधिकार रखते है, और वह उनसे भी उत्तम होता है जो वैदिक कृत्य (स्वर्ग प्राप्त करने के लिए) करते हैं, अत हे अर्जुन, वैसे योगी बनो, जो कर्म करता है (क्योकि ऐसा करना उसका धर्म है, कर्तव्य है और जो किये गये कर्मो के फलो के पीछे नही रहता)।

मनु (१२।८३) का कथन है—'वेदाध्ययन, तप, सत्य ज्ञान (ब्रह्म के विषय मे) इन्द्रिय-निग्रह, अहिंसा, गुरुसेवा ये नि श्रेयस (अर्थात् मोक्ष) के सर्वोच्च साधन हैं।' श्लोक ८५ मे पुन आया है—'इन छह साधनो मे आत्मा का सत्य ज्ञान सर्वोत्तम है, यह सभी विद्याओ का सिरमौर है, क्योकि इसके द्वारा अमरता (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।'

याज्ञवल्क्य स्मृति (१।८) ने योग को वेदान्त के अभिन्न भाग के रूप मे सर्वोच्च स्थान दिया है और कहा है कि योग द्वारा आत्मदर्शन सर्वोच्च धर्म है (अय तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्)। इसी स्मृति मे पुन आया है—'वेदाध्ययन, यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, दम (इन्द्रिय-निग्रह), श्रद्धा, उपवास एव स्वातन्त्र्य (सासारिक विषयो से दूर रहना) आत्मज्ञान के हेतु हे।'[८३] यह द्रष्टव्य है कि इन हेतुओ मे कुछ यम, नियम एव प्रत्याहार के अन्तर्गत आ जाते है। दक्षस्मृति ने दृढतापूर्वक कहा है—'वह देश, जहाँ ऐसा योगी रहता है जो योग मे पारगत है और ध्यान करने वाला है, पवित्र हो जाता है, तो उसके बन्धुओ के विषय मे क्या कहना है!' (अर्थात् वे अवश्य ही पवित्र हो जायेगे)।[८४]

योगसूत्र कठिन है और योगाभ्यास की कतिपय अवस्थाओ की पूर्ण व्याख्या नही उपस्थित करते। वे सक्षिप्त टिप्पणी के रूप मे है, मानो यह निर्देश करते है कि लोग उत्सुक होकर योगाभ्यासो की जानकारी के लिए किसी समर्थ गुरु के चरणो मे जाये। कुछ उदाहरण दिये जा सकते हे, यथा—योगसूत्र (२।५०) ने तीन प्राणायामो की ओर सकेत किया है जब कि २।५१ ने एक चौथा प्रकार भी उल्लिखित किया है (बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थ)। इस चौथे प्रकार की कोई व्याख्या नही है। ४।१ मे पतञ्जलि ने एक साथ ही जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप

८३ वेदानुवचन यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दम। श्रद्धोपवास स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतव॥ याज्ञ० (३।१९३), मिलाइए बृह० उप० (४।४।२२)।

८४ यस्मिन्देशे वसेद्योगी ध्यायी योगविचक्षण। सोऽपि देशो भवेत्पूत कि पुनस्तस्य बान्धवा॥ दक्षस्मृति (७।४५)

एव समाधि से उत्पन्न सिद्धियो को लाकर रख दिया है। ओषधि से उत्पन्न सिद्धि तथा समाधि से उत्पन्न सिद्धि मे महान् अन्तर है। पतञ्जलि का कथन है कि 'ओम्' ईश्वर का प्रतीक है और इसके जप से और इसके अर्थ पर ध्यान देने से एकाग्रता की उद्भूति होती है, किन्तु इसकी कोई व्याख्या नही है कि ओम् ईश्वर की अभिव्यक्ति किस प्रकार है और न ओम् की महत्ता के विषय मे उपनिषदो की ओर कोई सकेत ही है और न यही बताया गया है कि जप किस प्रकार किया जाय। सम्भवत यह उस अति प्राचीन परम्परा का द्योतक है कि आध्यात्मिक ज्ञान गुप्त रखना चाहिए, सभी प्रकार के लोगो को इसकी शिक्षा नही दी जानी चाहिए, केवल उसी शिष्य को इसका ज्ञान देना चाहिए जिसमे कुछ विशिष्ट गुण हो। हमने इस खण्ड के अध्याय २६ मे उपनिषदो के उद्धरणो से व्यक्त कर दिया है कि किस प्रकार गूढ ज्ञान केवल किसी गुरु द्वारा ही शिष्य को दिया जाना चाहिए। याज्ञवल्क्य एव आर्तभाग के सवाद (बृह० उप० ३।२।१३) मे ऐसा आया है कि जब आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से यह कहने के उपरान्त कि 'मृत्यु के उपरान्त व्यक्ति की वाणी अग्नि मे चली जाती है, उसकी साँस वायु मे प्रविष्ट हो जाती है, आँखे सूर्य मे विलीन हो जाती है, शरीर पृथिवी मे समाविष्ट हो जाता है', यह पूछा कि 'तब व्यक्ति कहाँ बच रहता है', तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'मेरा हाथ पकडो, इस विषय मे केवल हम दोनो ही किसी समाधान पर पहुँचे, किन्तु यहाँ इस भीड मे नही।' तब दोनो एक ओर गये और एक-दूसरे से बाते करते रहे। इससे यह प्रकट होता है कि मृत्यु के उपरान्त क्या होता है उसका विवेचन सर्वसाधारण के मध्य मे करना उचित नही समझा जाता था। छान्दोग्योपनिषद् (३।२।५) मे आया है—'अत पिता उस ब्रह्म-सिद्धान्त को अपने ज्येष्ठ पुत्र से या किसी योग्य शिष्य से कह सकता है, किसी अन्य से नही, चाहे कोई उसे समुद्रो से घिरी एव धन से पूर्ण पृथिवी ही क्यो न दे दे, क्योकि यह सिद्धान्त उससे भी अधिक मूल्यवान् है।' बृह० उप० (६।३।१२) मे आया है—'इस (ब्रह्म) के विषय मे किसी अन्य से जो अपना पुत्र या शिष्य नही है, नही बोलना चाहिए।' और देखिए श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।२२) एव मैत्रा० उप० (६।२९)। शान्तिपर्व (२४६।१६-१८, चित्रशाला सस्करण) मे कहा गया है कि आध्यात्मिक ज्ञान अपने प्यारे पुत्र एव आज्ञाकारी शिष्य को देना चाहिए, उस व्यक्ति को नही जिसका चित्त शान्त या सयमित न हो, उसको भी नही जो ईर्ष्यालु है, दुष्ट प्रकृति का है, चुगलखोर है या तर्कशास्त्र-दग्ध (तर्कना करने वाला, बाल की खाल निकालने वाला) है। हठयोगप्रदीपिका मे आया है—'सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा वाले योगी को हठविद्या गोपनीय रखनी चाहिए, जब यह गोप्य (गोपनीय) रहती है तो वीर्यवती (शक्तिशाली) रहती है, किन्तु जब प्रकाशित हो जाती है तो निर्वीर्य अर्थात् दुर्बल (प्रभावहीन) हो जाती है, गुरु द्वारा उपदेशित मार्ग से ही इसका अभ्यास किया जाना चाहिए।'[८५] यह बात प्राचीन काल मे न केवल गूढ या अलौकिक ज्ञान के विषय मे लागू थी, प्रत्युत अन्य विद्यालयीन विद्याध्ययन के विषय मे भी प्रचलित थी। निरुक्त (२।३) मे आया है कि इसका अध्यापन उसको नही होना चाहिए जो व्याकरण न जानता हो, उसको भी नही जो ज्ञान के लिए गुरु के पास नही जाता, या जो शास्त्र की महत्ता नही जानता, क्योकि अबोध (अज्ञानी) व्यक्ति ज्ञान के विषय मे दुष्ट इच्छा रखता है, और निरुक्त (२।४) ने इस विषय मे विद्यासूक्त नामक चार मन्त्र उद्धृत किये है। भगवद्गीता

८५ तदिद नाप्रशान्ताय नादान्तायातपस्विने। नासूयकायानृजवे न चानिर्दिष्टकारिणे। न तर्कशास्त्र दग्धाय तथैव पिशुनाय च॥ शान्ति० (२४६।१६-१८ चित्रशाला सस्करण)। 'असूयकायानृजवे' शब्दो मे निरुक्त (२।४) मे आये 'विद्या ह वै असूकायानृजवे आदि' की प्रतिध्वनि मिलती है। हठविद्या पर गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता। भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता॥ गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत्। ह० यो० प्र० (१।११,-१६)।

मे श्री कृष्ण ने भक्तियोग के ज्ञान को अत्यन्त गोपनीय माना है (९।२), १७।६३ मे जो ज्ञान अर्जुन को दिया गया है वह सभी गुप्त ज्ञानो से अधिक गुप्त (गोपनीय) माना गया है तथा १८।६४-६५ मे कृष्ण ने अर्जुन से अपने अत्यन्त गोप्य शब्दो को सुनने के लिए कहा है—'चित्त को मुझमे लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरे लिए यज्ञ करो, मेरे समक्ष साष्टाग प्रणत हो, तुम मेरे पास आओगे, मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योकि तुम मेरे प्रिय हो।' यह वचन ९।३४ से लेकर पुन दुहराया गया है। १५ वे अध्याय के अन्त मे यह कहा गया है—हे निरपराधी, यह अत्यन्त गोप्य (गुप्त) सिद्धान्त मेरे द्वारा तुम्हारे लिए घोषित किया गया है।'

इस विषय मे यहाँ विवाद नही उठाया जा सकता कि योग का मार्ग उचित या सम्भाव्य (साध्य, सुकर या करणीय) है या नही। किन्तु सहस्रो वर्षो तक भारतवर्ष मे महान् व्यक्तियो ने योग के मार्ग का अनुसरण किया है, जिसमे वे योग द्वारा अविद्या से आत्मा की स्वतन्त्रता के एव जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने के वाञ्छित लक्ष्य को प्राप्त कर सके थे। शान्तिपर्व (२८९।५० एव ५४) के युग मे भी योगमार्ग कठिन था और यह छुरे की धार पर चलना था, जिनका आत्मा शुद्ध नही हो सका वे धारणाओ के अभ्यास को कठिन एव कष्टप्रद समझते थे। कालिदास ने रघुवश (८।१६-२४) मे राजा रघु द्वारा किये गये योगाभ्यास का सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है। कालिदास ने (८।१६ मे) सन्यासी रघु के **अपवर्ग** प्राप्ति के लक्ष्य की ओर सकेत किया है और उसकी तुलना **महोदय** (**अभ्युदय या भोग**) से की है। ये दोनो शब्द योगसूत्र (२।१८, 'प्रकाशभोगापवर्गार्थं दृश्यम्') मे आये है। कालिदास ने **धारणा** का उल्लेख किया है (८।१८) उन्होने **प्रणिधान**-अभ्यास एव **पञ्चप्राणो** पर स्वामित्व-स्थापन का उल्लेख किया है (रघुवश ७।२१, योगसूत्र ३।४८ 'प्रधानजय') तथा योगविधि को परमात्मदर्शन का साधन माना है (रघु० ८।२२, याज्ञ० १।८)।

राजयोग ने **प्रकृति** (या अद्वैतवाद की माया) से **मुक्ति** को परम लक्ष्य माना है और इसने इस पर बल दिया है कि हम इन्द्रिय-सुख एव अविद्यामूलक जीवन का त्याग कर दें। मुक्ति का अर्थ है वेदान्तियो के लिए **ब्रह्म** मे लीन हो जाना या **कैवल्य** (शुद्ध योग के अनुसार यह जीवात्मा का जन्म-मरण एव प्रकृति से पृथक् हो जाना या छुटकारा पा लेना है)। असख्य नर-नारियो के लिए पातञ्जल योग या अद्वैत वेदान्त का मार्ग एव अन्तिम लक्ष्य दुर्लंघ्य एव अप्राप्य है, जैसा कि स्वय गीता ने कहा है—'जिनका चित्त अव्यक्त पर लगा है वे अपेक्षाकृत (उन लोगो की अपेक्षा जो किसी व्यक्तिगत देव की पूजा करते हैं) अधिक भारी कठिनाइयो का सामना करते हैं, क्योकि शरीरधारी प्राणियो द्वारा अव्यक्त के लक्ष्य तक पहुँचना बडा कठिन है।' **कर्मयोग** (शास्त्रविहित अच्छे कर्मो का बिना फल की इच्छा के सम्पादन) का एव **भक्तियोग** (जहाँ ईश्वर के प्रति गम्भीर भक्ति एव आत्म-समर्पण होता है) का मार्ग सामान्य मानव प्राणियो के लिए, अपेक्षाकृत अधिक योग्य लगता है। गीता के अध्याय १३ मे (श्लोक १३-१७) ईश्वर सम्बन्धी सर्वोत्तम वर्णन है (उसे सर्वातिरिक्त एव अन्त स्थ रूप मे व्यक्त किया गया है) और श्लोक १८ मे इतना जोड दिया गया है कि जो ईश्वर का भक्त इसे समझता है वह ईश्वर की उपलब्धि करता है।

जो लोग श्री अरविन्द घोष, उनके पाडिचेरी स्थित आश्रम एव उनके विशाल साहित्य से परिचित होगे, वे इस बात से आश्चर्य प्रकट कर सकते है कि प्रस्तुत लेखक ने योग एव धर्मशास्त्र पर इसके प्रभाव से सम्बन्धित इस भाग मे श्री अरविन्द (जो अपने शिष्यो एव प्रशसको द्वारा **महायोगी** कहे जाते है) के विषय मे कुछ भी उल्लेख नही किया। कारण स्पष्ट है। पहली बात यह है कि श्री अरविन्द ने योग से सम्बन्धित धर्मशास्त्र के विषय मे कदाचित् ही कुछ कहा है। दूसरी बात यह है कि श्री अरविन्द ने स्वय स्वीकार किया है कि उन्हे किसी 'गुरु से स्पर्श' नही प्राप्त हुआ है, उन्हे भीतर से ही स्पर्श प्राप्त हुआ और उन्होने योगाभ्यास किया।

उन्हे ग्वालियर के श्री लेले से कुछ सहायता प्राप्त हुई, वे जब पाडिचेरी मे आये, उन्हे भीतर से साधना करने का एक कार्यक्रम प्राप्त हुआ, उन्हे अन्य लोगो को सहायता देने मे कोई अधिक सफलता नही प्राप्त हो सकी और जब माता (मीरा रिचर्ड) सन् १९२० मे आश्रम मे आयी, उन्हे इनकी सहायता से अन्य लोगो को सहायता देने की विधि का पता चला। एक अन्य बात यह है कि वे योग पर लिखने वाले बहुत से चमत्कारी सस्कृत लेखको की शिक्षाओ को अस्वीकार करते है, यथा योगी को नारियो से दूर रहना चाहिए (कूर्मपुराण २।११।१८, योगियाज्ञवल्क्य १।५५, लिंगपुराण १।८।२३), जब कि उनके चरित-लेखक श्री दिवाकर का कथन है कि अरविन्द आश्रम की स्थापना २४ नवम्बर, सन् १९२६ मे हुई और माताजी (मदर) पर ही उसका सम्पूर्ण भार तब से अब तक रहा है और श्री अरविन्द ने तब से सभी प्रकार के सम्पर्क तोड दिये और उनसे केवल मदर के द्वारा सम्पर्क स्थापित हो सकता था (पृ० २५७)। इस बात मे श्री अरविन्द ने एक पृथक् ही नयी रीति निकाली और प्रस्तुत लेखक तथा अन्य सामान्य लोगो की दृष्टि मे उन्होने इस प्रकार प्राचीन योग द्वारा चलाये गये मार्ग का उल्लघन किया और 'गुरोरेस्तृतीय पन्था' नामक विख्यात उक्ति के समान बन गये।

श्री अरविन्द रहस्यवादी है, रहस्यवादियो की अनुभूतियाँ विलक्षण होती है और उनकी अपनी, सामान्य शब्दो एव वाणी की पद्धति से वे उन लोगो पर व्यक्त नही की जा सकती, जो इस प्रकार की अनुभूतियो से परिचित नही है। श्री अरविन्द नवम्बर सन् १९२६ से अपनी महासमाधि की तिथि ५ दिसम्बर, सन् १९५० तक एकान्तसेवी बने रहे, वर्ष मे वे केवल चार दिन दर्शन देते थे, यथा—अगस्त १५ (जन्म-दिन), नवम्बर २४ (उनके शब्दो मे उनकी विजय का दिन), फरवरी २१ (मदर का जन्म दिन) एव अप्रैल २४ (वह दिन जब मदर आश्रम मे पधारी थी) (देखिए श्री दिवाकर कृत 'लाइफ आव महायोगी, पृ० २६५)। अरविन्दजी पाडिचेरी मे ४० वर्षो तक रहे। उनका आश्रम समन्वित योग की शिक्षा का एक केन्द्र बन गया और उनके लिए घर बन गया जो वास्तविक जीवन एव प्रकाश की खोज मे थे और उनकी शिक्षाओ से अभिप्रेरित नर-नारियो के लिए एक तीर्थस्थान बन गया।

अगस्त १५, सन् १९४७ को जब भारत स्वतन्त्र हो गया (वह तिथि उनकी जन्मतिथि भी थी) तो उन्होंने एक लम्बा वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमे उनकी युवावस्था के सपने व्यक्त किये गये थे और कहा गया था कि अब वे सफल हो रहे हैं अथवा सफलता के मार्ग पर अग्रसर हो रहे है। उन्होने कहा—'मेरे सपनो मे प्रथम था क्रान्तिकारी आन्दोलन जो एक स्वतन्त्र एव सयुक्त भारत का निर्माण करेगा। दूसरा सपना यह था कि एशिया के लोग मुक्त होगे और एशिया मानव-सस्कृति के विकास मे महत्त्वपूर्ण योग देगा। तीसरा सपना यह था कि एक विश्व-सघ का निर्माण होगा जो सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए अपेक्षाकृत सुन्दर, प्रकाशमय एव भद्र जीवन का बाह्य आधार सिद्ध होगा। कोई विप्लव खडा हो सकता है, वह विरोध खडा कर सकता है और जो कुछ हो रहा है उसे विनष्ट भी कर सकता है किन्तु तब भी अन्तिम परिणाम निश्चित है। एकता प्रकृति की आवश्यकता है और है एक अवश्यम्भावी गति। एक अन्य सपना था, विश्व के लिए भारत द्वारा आध्यात्मिक उपहार, जिसका आरम्भ हो चुका है। भारतीय आध्यात्मिकता का यूरोप एव अमेरिका मे प्रवेश सतत उन्मेपशाली गति से हो रहा है। अन्तिम सपना था विकास मे एक चरण-चाप जो मानव को उच्च से उच्चतर चेतना की ओर ले जायेगा और उन समस्याओ का समाधान उपस्थित कर देगा जिन्होने उन्हें तब से व्यामोहित एव परेशान कर रखा था जब से उन्होने व्यक्तिगत पूर्णता एव पूर्ण समाज के विषय मे चिन्तन करना एव सपना देखना आरम्भ किया था। यहाँ भी, यदि विकास होना ही है, क्योकि इसे आत्मा एव आन्तरिक

चेतनता के विकास के द्वारा आगे बढना ही है, आरम्भ भारत से ही हो सकता है और, यद्यपि क्षेत्र को सार्वभौम होना ही है, केन्द्रीय क्रान्ति यही पायी जा सकती है।'

निसन्देह ऊपर की सवेगात्मक एव ललित शब्दो मे कही गयी बाते भारतीयो के लिए गर्व करने योग्य है, किन्तु यह सम्भव है कि श्री अरविन्द की ये गर्वोक्तियाँ अधिकाश अभारतीय जनता को हास्यास्पद लग सकती है। इसमे सदेह नही कि भारत १३वी शती से लगभग सात शतियो तक बाह्य विजेता लोगो मे पदाक्रान्त होता रहा और उसका मानमर्दन होता रहा (किन्तु कुछ भागो मे अल्पकाल के लिए भारतीय राज्य अवश्य सस्थापित थे, यथा विजयनगर साम्राज्य या मराठो के अन्तर्गत लगभग १५० वर्षो तक तथा पजाब मे लगभग ५० वर्षो तक महाराज रणजीत सिह का राज्य)। अब भारतीय पाठक स्वय इसका पता लगाये कि प्रथम सपने को छोडकर (भारतीय स्वतन्त्रता[८६]) श्री अरविन्द के अन्य कौन-से सपने पूरे हुए। क्या स्वतन्त्रता की प्राप्ति के इतने वर्षो के उपरान्त भारत आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे कोई विकास कर सका है? क्या सामान्य जनता के मन मे इस प्रकार की भावना घर कर सकी है? क्या विभिन्न जातियो एव राष्ट्रो के बीच भावनात्मक एकता का कोई चिह्न दृष्टिगोचर हो रहा है? क्या निकट भविष्य मे इसकी कोई आशा है? या सपूर्ण ससार विनाश के कगार पर खडा है?

श्री अरविन्द ने मानव जाति की एकता की स्थापना के लिए आन्तरिक एकता एव उद्देश्य पर बल दिया है, उनके मतानुसार यह अभिरुचियो के बाह्य सम्मिलन से सम्भव नही है। २४ वर्षो तक श्री अरविन्द ने बाह्य जगत से अपने को खीच लिया था और वर्ष मे केवल चार बार लोगो को दर्शन देते थे। उन्होने ग्रन्थो के प्रणयन के अतिरिक्त मानव जाति की एकता के लिए क्या किया, यह स्पष्ट नही हो पाता और न उन नर-नारियो मे, जो उनके नेतृत्व मे पाडिचेरी मे एकत्र हुए, किसी ने महत्त्व का कोई पद सुशोभित किया और न अपने गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर शक्तिशाली ढग से सफलतापूर्वक चलने का प्रयत्न ही किया और न आज कोई अपने गुरु के उस कार्य को कर रहा है, जिसका उन्होने स्वप्न देखा था और जो आज भी अनारम्भित एव अपूर्ण पडा हुआ है। अपनी साधना के विषय मे श्री अरविन्द ने लिखा है—'मैने अपना योग सन् १९०४ मे आरम्भ किया। मेरी साधना ग्रन्थो पर आधृत नही थी, वह उन व्यक्तिगत अनुभूतियो पर आधृत थी जो अन्तर से उमड कर मेरे चतुर्दिक् छा गयी यह तथ्य है कि मै जेल मे विवेकानन्द की वाणी एक पक्ष तक निरन्तर सुनता रहा' (पृ० १३१, श्री दिवाकर द्वारा लिखित 'महायोगी का जीवन-चरित')।

श्री अरविन्द ने अपने भाई बारीन्द्र को ७ अप्रैल, १९२० मे एक पत्र लिखा था, जिसमे उन्होने प्राचीन योगो के मुख्य दोषो को बताया था। उनके अनुसार 'प्राचीन योग मे केवल मन, बुद्धि एव आत्मा की बात थी, लोग मानसिक धरातल पर ही आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जाते थे। उनके मत से मन केवल आशिक ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है, यह केवल अशो का ही परिज्ञान कर सकता है न कि सम्पूर्ण का। मन केवल समाधि, मोक्ष या निर्वाण द्वारा ही असीम एव सम्पूर्ण वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, किसी अन्य साधन से नही। हाँ, कुछ लोग इस प्रकार का मोक्ष अवश्य प्राप्त करते है जिसे केवल अन्ध मार्ग या द्वार कहा जा सकता है। तो इसकी क्या उपयोगिता है? किन्तु भगवान् मानव को इस योग्य

८६ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त सयुक्त भारत की कल्पना टूट-फूट कर छिन्न-भिन्न हो गयी। देश का विभाजन हो गया। पाकिस्तान एक नया राष्ट्र बन गया जो निरन्तर भारत के लिए शिर-पीडा बना हुआ है।

बनाना चाहता है कि मानव उसे इसी जीवन मे, व्यक्ति एव सम्पूर्ण समाज के भीतर जान ले। योग के प्राचीन सिद्धान्त आध्यात्मिकता एव जीवन मे सश्लेषण एव एकता ला न सके। उन्होंने जगत् को माया या भगवान् की क्षणभगुर लीला कहकर छोड दिया और इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन से शक्ति एव आश्रय की परिसमाप्ति हो गयी और भारत का अवपतन हो गया।' उपर्युक्त शब्दो मे श्री अरविन्द अपने सश्लिष्ट योग एव प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीयो के योग के अन्तर को बताते है। योग के इस **सिद्धान्त मे कोई नवीन बात नहीं है।** गीता मे यही बात युगो पूर्व कह दी गयी है, यथा—गीता ५।१५ 'अज्ञानेनावृतम्', 'उत्सीदेयुरिमे लोका' (गीता २।२४-२५, २।४७, ३।८, १९, ६।२७, १८।४५-४६, ये सब इसी पर बल देते है कि निष्काम कर्म ही भगवान की पूजा है)। श्री अरविन्द को अपनी इच्छा के अनुसार कुछ शिष्यो को इस कार्य मे लगा देना चाहिए था। पातञ्जल योग ने 'माया' शब्द का प्रयोग नही किया है और न उसमे यही कहा गया है कि यह जगत् ईश्वर की लीला है। वेदान्तसूत्र ने ही एक विरोध को दूर करने के रूप मे ऐसा कहा था (२।१।३३, 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्')। पातञ्जल योग मे ईश्वर का ससार-सृष्टि से कोई सम्बन्ध नही है, प्रत्युत इसने अविद्या की चर्चा की है जिससे जीवात्मा जकडा रहता है (योगसूत्र २।३-५ एव २४) न कि ईश्वर या परमात्मा। इतना ही नही, स्वय श्री अरविन्द के प्रश्न पर प्रतिप्रश्न किया जा सकता है—'सश्लिष्ट योग, मन, प्रमन एव अतिमन की आवश्यकता या उपयोगिता क्या है?' क्या कोई कम से कम केवल आधे दर्जन श्री अरविन्द के अनुयायियो की ओर सकेत कर सकता है, जिन्होंने उनके सिद्धान्त या सकल्पो के अनुसार देश एव मानव-समाज के पुनरुद्धार के लिए अपनी शक्तियाँ लगायी हो? इस विषय मे कुछ और कहना यहाँ समीचीन नही है।

श्री अरविन्द के कई ग्रन्थ है जो आकार एव प्रकार मे विशद एव विस्तृत है। उनके ग्रन्थो की तालिका के लिए देखिए श्री दिवाकर का ग्रन्थ 'महायोगी' (पृ० २६७-२६९)। प्रस्तुत लेखक ने उनके निम्नलिखित ग्रन्थ पढे है, यथा—'योग एण्ड इट्स आब्जेक्ट्स' (१९३८, जिसमे यह दर्शाया गया है कि अध्यात्म योग हठयोग एव राजयोग से अपेक्षाकृत उच्च है), 'दि मदर' (१९३७), 'एसेज़ ऑव दि गीता' (पाँचवाँ सस्करण, १९४९), 'दि सिंथेसिस आव योग' (१९४८), जिसमे यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि ज्ञानयोग, भक्तियोग एव कर्मयोग नामक तीनो मार्गों का समन्वय हो सकता है, 'दि प्राब्लेम आव रीबर्थ' (आश्रम द्वारा प्रकाशित, १९५२), 'फाउण्डेशन्स आव इण्डियन कल्चर' (कई निबन्ध हैं, जिनका सुधार स्वय अरविन्द ने किया है, न्यूयार्क, १९५३), 'लाइफ डिवाइन' (मौलिक तीन खण्डो मे, किन्तु अब १२७२ पृष्ठो मे प्रकाशित, अरविन्द इण्टरनेशनल यूनिवर्सिटी सेण्टर, पाडिचेरी, १९५५)। प्रस्तुत लेखक ने अन्तिम पुस्तक का प्रथम खण्ड ही पढा है। किन्तु सामान्य लोगो की बुद्धि इन ग्रन्थो को पढने एव समझने मे असमर्थ है। 'लाइफ डिवाइन' के शब्द, शब्द-विन्यास एव भाव बडे गूढ एव अलौकिक अर्थ वाले है, जिन्हे प्रस्तुत लेखक जैसे सामान्य जन समझ सकने मे असमर्थ हैं। प्रस्तुत लेखक के मत से 'फाउण्डेशस ऑव इण्डियन कल्चर' उनकी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है जिसे उसने पढ लिया है। प्रो० आर० डी० रानाडे ने 'भगवद्गीता ऐज ए फिलॉसॉफी ऑव गॉड रीयलाइज़ेशन' (नागपुर, १९५९, पृ० १६३-१७६) मे श्री अरविन्द के ग्रन्थ 'एसेज़ आन दि गीता' की जाँच की है और कई स्थलो पर अपना मतभेद प्रकट किया है। श्री अरविन्द के दर्शन की वृहत् जानकारी के लिए देखिए डा० हरिदास चौधरी एव डॉ० फ्रेडरिक स्पीगेलबर्ग द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'इण्टीग्रल फिलॉसॉफी आव अरविन्द' (एलेन एव अन्विन, १९६०), जिसमे भारतीय एव पाश्चात्य लेखको के ३० निबन्ध सगृहीत है। पृ० ३२ पर 'माइण्ड' (मन) एव सुपरमाइण्ड (अतिमन) की व्याख्या उपस्थित की गयी है।

अध्याय ३३

तर्क एवं धर्मशास्त्र

याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३) ने न्याय (तर्कशास्त्र)[1] को चौदह विद्याओ मे परिगणित किया है और उसे धर्म के ज्ञान का एक साधन माना है। मिताक्षरा (याज्ञ० पर भाष्य) ने न्याय को 'तर्कविद्या' की सज्ञा दी है और कहा है कि चौदह विद्याएँ धर्म के हेतु (साधन) हैं।

न्यायसूत्र एव वैशेषिक सूत्र दोनो ने यह स्वीकार किया है कि दोनो दर्शनो के पदार्थो के सम्यक् ज्ञान से नि श्रेयस की उद्भूति होती है।[2]

'तर्क' शब्द के आरम्भिक प्रयोगो मे एक प्रयोग कठोपनिषद् (२।९) का भी है--'(आत्मा का) यह ज्ञान (केवल) तर्क से ही नही प्राप्त किया जा सकता,' इसके पूर्व के मन्त्र मे आया है कि आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है और केवल अनुमान या तर्क से नही समझा जा सकता ('अणीयान् ह्यतर्कचमणुप्रमाणात्')। और देखिए शब्द 'मन्त्रव्य' ('आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोत्रव्यो मन्तव्य', बृ० उप० २।४।५ एव ४।५।६) जिसे भाष्य (वे० सू० १।१।२) मे विरोधी ने एव शकराचार्य (वे० सू० २।१।४) ने तर्क के अर्थ मे लिया है। मैत्रा० उप० (२।१८) ने तर्क को योग के अगो मे सम्मिलित किया है (प्राणायाम प्रत्याहारो ध्यान धारणा तर्क समाधि षडग इत्युच्यते योग ।) और उसमे यह भी आया है कि वाणी, मन एव प्राण के निरोध से व्यक्ति तर्क की सहायता से ब्रह्म को देखता है (६।२०)। गौतमधर्मसूत्र (२।२३-२४) मे आया है --'न्याय की प्राप्ति के लिए तर्क एक उपाय (साधन) है' (न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपाय । तेनाभ्यूह्य यथास्थान गमयेत्)। यक्ष ने युधिष्ठिर से जितने प्रश्न पूछे है, उनमे एक यह है--'तर्क अस्थिर होता है, वह अप्रतिष्ठ है, उससे निष्कर्ष नही प्राप्त होते, वैदिक वचन (आपस मे) एक-दूसरे से भिन्न है (उनमे अन्तर है), कोई ऐसा मुनि नही है जिसकी सम्मति (अन्य लोगो या मुनियो द्वारा) प्रामाणिक मानी जाय, धर्म का तत्त्व गुहा मे पडा हुआ है (वह अधकार से आवृत है और स्पष्टता एव सुगमता से नही जाना जा सकता) वही मार्ग है (जिसके द्वारा अग्रसर होना चाहिए) जिसके द्वारा अधिकाश लोग चले' (वनपर्व ३१३।११७, चित्रशाला प्रेस सस्करण--तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मत प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया महाजनो येन गत स पन्था ॥)। उपसहार के अन्त मे मनुस्मृति मे आया

१ पुराणन्यायमीमासाधर्मशास्त्रागमिश्रिता । वेदा स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश ॥ याज्ञ० (१।३) कुछ लोग 'पुराणतर्कमीमासा ' ऐसा पढते हैं।

२ अथातो धर्म व्याख्यास्याम । यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म । द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाना पदार्थाना साधर्म्यवैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञान नि श्रेयसहेतु । वैशेषिकसूत्र (१।१।२ एव ४), प्रमाणप्रमेयसशयप्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयवतर्क-निर्णयवादज्ञानवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानाना तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसाधिगम । न्यायसूत्र (१।१।१)। नि श्रेयस ('अचतुर०', एक लम्बा सूत्र) शब्द पाणिनि एव कौषीतक्युपनिषद् (२।१४ एव ३।२) मे आया है।

है—'जो व्यक्ति शुद्ध धर्म जानना चाहता है उसे इन तीनो का अवश्य ज्ञान होना चाहिए—प्रत्यक्ष, अनुमान एव विभिन्न परम्पराओ पर आधृत शास्त्र, केवल वही व्यक्ति धर्म जानता है जो आर्ष वचन (अर्थात् मुनियो के वचन या वेद), (स्मृतियो मे वर्णित) धर्मोपदेश को उस तर्क के साथ विचारता है जो वेद एव शास्त्रो के विरोध मे नही पडता है (१२।१०५)।' सस्कृत के अधिकाश कट्टर लेखको का तर्क के विषय मे यही कथन है। यदि कोई केवल तर्क पर ही निर्भर रहे तो परिणाम अनिश्चित एव विप्लवकारी होगा। प्रत्येक सिद्धान्तवादी यही कहता है कि उसका सिद्धान्त तर्क पर आधृत है, किन्तु सामान्य लोगो के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्नो के विषय मे तर्क पर आधृत उत्तर विभिन्न प्रकार से व्यामोह मे डालने वाले होते हैं। विभिन्न वातावरणो मे पले हुए विभिन्न अनुभवो वाले विचारक विभिन्न तर्क रखते हैं और यहाँ तक कि विभिन्न नैतिक विधानो का उद्घोष कर डालते है। सामान्य व्यक्ति किसका अनुसरण करे ? वेद एव स्मृतियाँ सहस्र वर्षो से चले आये हुए, महान् एव स्वार्थरहित मुनियो द्वारा अनुभूत एव निर्णीत तथा जीवन के सभी क्षेत्रो से सम्बन्धित आचरण सम्बन्धी सिद्धान्तो से परिपूर्ण है, अर्थात् उनमे बहुत-से विज्ञ लोगो के अनुभव एव तर्क पाये जाते है। अत यदि आज कोई व्यक्ति यह कहता है कि तर्क के आधार पर वह वेद-विरोधी मत रखता है तो अधिकाश लोग उस अकेले एक व्यक्ति की बाते, जो कतिपय प्राचीन ऋषियो द्वारा प्रकाशित मतो के विरोध मे पडती है, मानने को किसी प्रकार सन्नद्ध नही हो सकते। इस बात को और बढाकर कहने की आवश्यकता नही है। बहुत-से ऐसे प्रश्नो के विषय मे, यथा—क्या परमात्मा का अस्तित्व है, क्या कोई परम बुद्धि है जो इस विश्व का निर्देशन कर रही है, क्या आत्मा का अस्तित्व है, मर जाने के उपरान्त मनुष्य का भविष्य क्या है, अति विज्ञ लोगो ने अति विभिन्न उत्तर दिये है।[3] इन प्रश्नो के ऐसे उत्तर जो सबको या अधिकाश लोगो को स्वीकार्य हो, केवल तर्क से ही नही दिये जा सकते। यद्यपि यही शास्त्र-सम्मत स्थिति है, किन्तु समय-समय पर वैदिक आचार जनमत के कारण त्याग दिये गये हैं। स्वय स्मृतिकारो ने ऐसी व्यवस्था दी है कि शास्त्रीय वचनो के अन्धानुकरण से धर्म की हानि होती है और जब स्मृतियो की व्यवस्थाओ मे विरोध उपस्थित हो जाय तो तर्क का आश्रय लेना चाहिए तथा लोकमत एव लोकाचारो पर विचार करना चाहिए। इस विषय मे देखिए इस खण्ड का अध्याय २९ एव इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड ३ के पृ० ८६६-८६८। महाभारत मे आया है—'अचिन्त्य विषयो के समाधान मे तर्क का सहारा नही लेना चाहिए।'[4] भूख से पीडित मुनि विश्वामित्र (जो एक कुत्ते की पूछ खाना चाहते थे) एव चाण्डाल के बीच हुई वार्ता के सिलसिले मे महाभारत मे आया है—'अत धर्म एव अधर्म के विषय मे विज्ञ व्यक्ति को, जिसका आत्मा पवित्र हो, अपनी बुद्धि पर आश्रय लेकर कार्य करना चाहिए।' किन्तु ऐसा नही समझना चाहिए कि शकराचार्य एव अन्य महान् भारतीय लेखको ने तर्क का आश्रय लेना सर्वथा छोड दिया था। उनके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यदि निष्कर्ष सीधे वेद एव स्मृति-वचनो के विरोध मे पडते हो तो केवल एक या दो व्यक्तियो के तर्क का अनुसरण नही करना चाहिए। शकराचार्य ने अपनी स्थिति स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दी है (वे० सू० २।१।१ एव ११)। जैनो एव बौद्धो के विश्वास धर्मविरुद्ध थे, क्योकि वे वेद तथा अन्य पवित्र परम्पराओ की प्रामाणिकता स्वीकार नही करते थे, यद्यपि वे हिन्दू

३ ई० पी० मार्गन ने 'दिस आई बिलीव' (लन्दन १९५३) के पृ० ६० मे पिशेल का एक वचन उद्धृत किया है—'हृदय के अपने तर्क है जिन्हे तर्क नहीं समझ पाता।'

४ अचिन्त्या खलु ये भावा न तास्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्य पर यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥ भीष्मपर्व (शकराचार्य, वे० सू० २।१।६, स्मृति के रूप मे उद्धृत)। यह मत्स्यपुराण (११३।६), पद्मपुराण (आदि ३।१२), ब्रह्माण्ड० (२।१३।७-८) मे भी आया है। 'प्रकृति' का अर्थ है भौतिक कारण।

आचारो का व्यवहार करते थे और हिन्दुओ के यहाँ विवाह सवन्ध करते थे। किन्तु इतना होने पर भी विश्वासो, रीतियो और परम्पराओ मे वहुत अविक विरोध की सम्भावना थी। कुछ उपनिपदो की प्रवृत्तियो के अवगाहन से इसे समझाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, मुण्डकोपनिषद् (१।१।४-५) ने विद्या को **परा** एव **अपरा** नामक दो कोटियो मे वॉटा है, अपरा के अन्तर्गत चार वेदो, छह अगो को सम्मिलित किया है और परा (मर्वोत्तम) के अन्तर्गत उस विद्या को, जिसके माध्यम से अनश्वर ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। छा० उप० (७।१।१-५) मे आया है कि जब नारद सनत्कुमार के पास सीखने के लिए गये तो सनत्कुमार ने जो कुछ पढा था उनसे कह दिया, यथा—चारो वेद, इतिहास-पुराण एव अन्य विद्याएँ, सनत्कुमार ने यह भी वतलाया कि उन्होने जो कुछ पटा है वह केवल नाम मात्र है आर आगे उन्होने वह वताया जो सव कुछ से उत्तम है। मुण्डक० (१।२।७) ने यज्ञो को फूटे हुए (छिद्रयुक्त) पात्रो के समान माना है। यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि छा० उप० (१।१२।२-५) ने पाँच पुरोहितो एव यजमान के एक-दूमरे के स्पर्श करने की विधि की तथा 'सदस्' से 'चात्वाल' तक, जहाँ वहिष्पवमान मन्त्र का गायन होता रहता है, उनके रेगकर जाने की तुलना कुत्तो की उस पक्ति (कतार) से की है जिसमे कुत्तो ने एक दूसरे की पूँछ अपने मुँह से पकड रखी हो। देखिए पुरोहितो के मौन रूप से रेगने वाली बात के लिए ताण्ड्य ब्राह्मण (६।७।६-१२) एव आप० श्रौ० सू० (१२-१७।१-४) आदि। ऐसी वात है, तव भी उपनिपदे वेदान्त कही जाती है और वैदिक धर्म एव साहित्य के सर्वोत्तम 'अन्त' के रूप मे धार्मिक ग्रन्थ मानी जाती है। अधिकाश उपनिषदे भी वैदिक सहिताओ को प्रामाणिक मानती हैं। उदाहरणार्थ, वृ० उप० (१।४।१०) एव ऐतरेय उप० (२।५) ने ऋ० (४।२६।१ एव ४।२७।१) को क्रम से उद्धृत किया है, बृह० उप० (२।५।१६-१७) ने ऋ० (१।११६।१२ एव १।११७।२२) को तथा उसी (२।५।१६) ने पुन ऋ० (६।४७।१८) को उद्धृत किया है, कठोपनिषद् (४।६) सर्वथा अथर्ववेद (१०।८।१६) है, प्रश्न० (१।११) ऋ० (१।१६४।१२) है। मुण्डकोपनिषद् (३।२।१०) मे आया है कि श्रोत्रियो (वेदज्ञो) को ब्रह्मविद्या का ज्ञान दिया जाना चाहिए। इस विषय मे उपनिषदे अधिकारभेद नामक सिद्धान्त पर निर्भर है।

प्राचीनतम दार्शनिक समस्याओ मे एक है विश्वास (आप्तवचन या प्रमाण) एव तर्क की समस्या, और प्राचीन काल से ही दोनो मे निरन्तर सघर्ष चलता आ रहा है। अधिकाश लोग किसी प्रमाण का आश्रय लेते है या उस पर निर्भर रहते है अथवा किसी ऐसे व्यक्ति पर विश्वास करते है जो उनसे अपेक्षाकृत उच्च होता है। अधिकाश लोगो के लिए यह प्रामाणिकता (विश्वास की भावना) अथवा वह 'कुछ' जो उनसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है श्रुतिप्रकाश (ऐश-उन्मेष) एव ईश्वर है। ईश्वर के अस्तित्व, आत्मा के अस्तित्व, स्वतन्त्र इच्छा एव निश्चिततावाद, आचार-सम्वन्धी सामान्य सिद्धान्त, भौतिक शरीर की मृत्यु के उपरान्त अन्तिम नियति आदि निगूढ प्रश्नो के विषय मे स्वय तर्कनापूर्ण ढग से सोचने के लिए उनके पास न तो इतना अवकाश ही है, न प्रवृत्ति ही है और न है उस प्रकार की बौद्धिक योग्यता। सामाजिक विषयो मे मानव-निर्णय बहुधा प्रचलित रूढियो एव दुराग्रहो से आवृत होते है। ऐसे प्रश्नो पर जो धार्मिक कहे जाते है (और भारत मे धार्मिक विषयो का क्षेत्र सदा विशद रहा है) निर्व्याज विवेचन विना क्रोध एव अमर्ष अथवा विद्वेष उत्पन्न किये अधिकाश मे असम्भव होता है। तलाक, सन्तति-निरोध ऐसे नैतिक प्रश्न परम्परानुगत धार्मिक उक्तियो (रूढियो) की स्थिति मे आ जाते है और जब उन पर कोई खुला विवेचन आरम्भ हो जाता है तो क्रोधाग्नि उत्पन्न हो जाती है। आज के वहुत-से लोकतान्त्रिक देशो मे तार्किक विवेचन सबसे अन्त मे आता है और वडे-वडे महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का निर्णय दल-विशेष की आसक्ति या व्यक्ति-विशेष के प्रति पक्षपात या शक्ति-प्राप्ति के प्रति लोलुपता तथा व्यक्तिगत वृद्धि के प्रति मोह के आधार पर किया जाता है। ऐसा नही समझना चाहिए कि प्राचीन एव मध्यकालीन भारत मे बुद्धिवादी (तार्किक) एव अनस्तित्ववादी नही थे।

है—'जो व्यक्ति शुद्ध धर्म जानना चाहता है उसे इन तीनो का अवश्य ज्ञान होना चाहिए—प्रत्यक्ष, अनुमान एव विभिन्न परम्पराओ पर आधृत शास्त्र, केवल वही व्यक्ति धर्म जानता है जो आर्ष वचन (अर्थात् मुनियो के वचन या वेद), (स्मृतियो मे वर्णित) धर्मोपदेश को उस तर्क के साथ विचारता है जो वेद एव शास्त्रो के विरोध मे नही पडता हे (१२।१०५)।' सस्कृत के अधिकाश कट्टर लेखको का तर्क के विषय मे यही कथन है। यदि कोई केवल तर्क पर ही निर्भर रहे तो परिणाम अनिश्चित एव विप्लवकारी होगा। प्रत्येक सिद्धान्तवादी यही कहता है कि उसका सिद्धान्त तर्क पर आधृत है, किन्तु सामान्य लोगो के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्नो के विषय मे तर्क पर आधृत उत्तर विभिन्न प्रकार से व्यामोह मे डालने वाले होते हैं। विभिन्न वातावरणो मे पले हुए विभिन्न अनुभवो वाले विचारक विभिन्न तर्क रखते हैं और यहाँ तक कि विभिन्न नैतिक विधानो का उद्घोष कर डालते है। सामान्य व्यक्ति किसका अनुसरण करे? वेद एव स्मृतियाँ सहस्र वर्षो से चले आये हुए, महान् एव स्वार्थरहित मुनियो द्वारा अनुभूत एव निर्णीत तथा जीवन के सभी क्षेत्रो से सम्बन्धित आचरण सम्बन्धी सिद्धान्तो से परिपूर्ण है, अर्थात् उनमे वहुत-से विज्ञ लोगो के अनुभव एव तर्क पाये जाते है। अत यदि आज कोई व्यक्ति यह कहता है कि तर्क के आधार पर वह वेद-विरोधी मत रखता है तो अधिकाश लोग उस अकेले एक व्यक्ति की बाते, जो कतिपय प्राचीन ऋषियो द्वारा प्रकाशित मतो के विरोध मे पडती है, मानने को किसी प्रकार सन्नद्ध नही हो सकते। इस बात को और बढाकर कहने की आवश्यकता नही है। वहुत-से ऐसे प्रश्नो के विषय मे, यथा—क्या परमात्मा का अस्तित्व है, क्या कोई परम बुद्धि है जो इस विश्व का निर्देशन कर रही है, क्या आत्मा का अस्तित्व है, मर जाने के उपरान्त मनुष्य का भविष्य क्या है, अति विज्ञ लोगो ने अति विभिन्न उत्तर दिये है।[3] इन प्रश्नो के ऐसे उत्तर जो सबको या अधिकाश लोगो को स्वीकार्य हो, केवल तर्क से ही नही दिये जा सकते। यद्यपि यही शास्त्र-सम्मत स्थिति है, किन्तु समय-समय पर वैदिक आचार जनमत के कारण त्याग दिये गये हैं। स्वय स्मृतिकारो ने ऐसी व्यवस्था दी है कि शास्त्रीय वचनो के अन्धानुकरण से धर्म की हानि होती है और जब स्मृतियो की व्यवस्थाओ मे विरोध उपस्थित हो जाय तो तर्क का आश्रय लेना चाहिए तथा लोकमत एव लोकाचारो पर विचार करना चाहिए। इस विषय मे देखिए इस खण्ड का अध्याय २९ एव इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड ३ के पृ० ८६६-८६८। महाभारत मे आया है—'अचिन्त्य विषयो के समाधान मे तर्क का सहारा नही लेना चाहिए।'[4] भूख से पीडित मुनि विश्वामित्र (जो एक कुत्ते की पूँछ खाना चाहते थे) एव चाण्डाल के बीच हुई वार्ता के सिलसिले मे महाभारत मे आया है—'अत धर्म एव अधर्म के विषय मे विज्ञ व्यक्ति को, जिसका आत्मा पवित्र हो, अपनी बुद्धि पर आश्रय लेकर कार्य करना चाहिए।' किन्तु ऐसा नही समझना चाहिए कि शकराचार्य एव अन्य महान् भारतीय लेखको ने तर्क का आश्रय लेना सर्वथा छोड दिया था। उनके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यदि निष्कर्ष सीधे वेद एव स्मृति-वचनो के विरोध मे पडते हो तो केवल एक या दो व्यक्तियो के तर्क का अनुसरण नही करना चाहिए। शकराचार्य ने अपनी स्थिति स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दी है (वे० सू० २।१।१ एव ११)। जैनो एव बौद्धो के विश्वास धर्मविरुद्ध थे, क्योकि वे वेद तथा अन्य पवित्र परम्पराओ की प्रामाणिकता स्वीकार नही करते थे, यद्यपि वे हिन्दू

३ ई० पी० मार्गन ने 'दिस आई बिलीव' (लन्दन १९५३) के पृ० ६० मे पिशेल का एक वचन उद्धृत किया है—'हृदय के अपने तर्क है जिन्हे तर्क नही समझ पाता।'

४ अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्य पर यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥ भीष्मपर्व (शकराचार्य, वे० सू० २।१।६, स्मृति के रूप मे उद्धृत)। यह मत्स्यपुराण (११३।६), पद्मपुराण (आदि ३।१२), ब्रह्माण्ड० (२।१३।७-८) मे भी आया है। 'प्रकृति' का अर्थ है भौतिक कारण।

आचारो का व्यवहार करते थे और हिन्दुओ के यहाँ विवाह सवन्ध करते थे। किन्तु इतना होने पर भी विश्वासो, रीतियो और परम्पराओ मे बहुत अधिक विरोध की सम्भावना थी। कुछ उपनिषदो की प्रवृत्तियो के अवगाहन से इसे समझाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, मुण्डकोपनिषद् (१।१।४-५) ने विद्या को परा एव अपरा नामक दो कोटियो मे बाँटा है, अपरा के अन्तगत चार वेदो, छह अगो को सम्मिलित किया हे और परा (सर्वोत्तम) के अन्तर्गत उस विद्या को, जिसके माध्यम से अनश्वर ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती हे। छा० उप० (७।१।१-५) मे आया है कि जब नारद सनत्कुमार के पास सीखने के लिए गये तो सनत्कुमार ने जो कुछ पढा था उनसे कह दिया, यथा—चारो वेद, इतिहास-पुराण एव अन्य विद्याएँ, सनत्कुमार ने यह भी बतलाया कि उन्होने जो कुछ पढा हे वह केवल नाम मात्र हे ओर आगे उन्होने वह बताया जो सब कुछ से उत्तम हे। मुण्डक० (१।२।७) ने यज्ञो को फूटे हुए (छिद्रयुक्त) पात्रो के समान माना हे। यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि छा० उप० (१।१२।२-५) ने पाँच पुरोहितो एव यजमान के एक-दूसरे के स्पर्श करने की विधि की तथा 'सदस्' से 'चात्वाल' तक, जहाँ बहिष्पवमान मन्त्र का गायन होता रहता है, उनके रेगकर जाने की तुलना कुत्तो की उस पक्ति (कतार) से की है जिसमे कुत्तो ने एक दूसरे की पूँछ अपने मुँह से पकड रखी हो। देखिए पुरोहितो के मौन रूप से रेगने वाली बात के लिए ताण्ड्य ब्राह्मण (६।७।६-१२) एव आप० श्रौ० सू० (१२-१७।१-४) आदि। ऐसी बात हे, तब भी उपनिषदे वेदान्त कही जाती है ओर वैदिक धर्म एव साहित्य के सर्वोत्तम 'अन्त' के रूप मे धार्मिक ग्रन्थ मानी जाती हे। अधिकाश उपनिषदे भी वैदिक सहिताओ को प्रामाणिक मानती हे। उदाहरणार्थ, बृ० उप० (१।४।१०) एव ऐतरेय उप० (२।५) ने ऋ० (४।२६।१ एव ४।२७।१) को क्रम से उद्धृत किया है, बृह० उप० (२।५।१६-१७) ने ऋ० (१।११६।१२ एव १।११७।२२) को तथा उसी (२।५।१९) ने पुन ऋ० (६।४७।१८) को उद्धृत किया है, कठोपनिषद् (४।९) सर्वथा अथर्ववेद (१०।८।१६) हे, प्रश्न० (१।११) ऋ० (१।१६४।१२) हे। मुण्डकोपनिषद् (३।२।१०) मे आया हे कि श्रोत्रियो (वेदज्ञो) को ब्रह्मविद्या का ज्ञान दिया जाना चाहिए। इस विषय मे उपनिषदे अधिकारभेद नामक सिद्धान्त पर निर्भर हे।

प्राचीनतम दार्शनिक समस्याओ मे एक है विश्वास (आप्तवचन या प्रमाण) एव तर्क की समस्या, और प्राचीन काल से ही दोनो मे निरन्तर सघर्ष चलता आ रहा हे। अधिकाश लोग किसी प्रमाण का आश्रय लेते है या उस पर निर्भर रहते हे अथवा किसी ऐसे व्यक्ति पर विश्वास करते हे जो उनसे अपेक्षाकृत उच्च होता है। अधिकाश लोगो के लिए यह प्रामाणिकता (विश्वास की भावना) अथवा वह 'कुछ' जो उनसे अधिक महत्त्वपूर्ण हे श्रुतिप्रकाश (ऐश-उन्मेष) एव ईश्वर है। ईश्वर के अस्तित्व, आत्मा के अस्तित्व, स्वतन्त्र इच्छा एव निश्चिततावाद, आचार-सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त, भौतिक शरीर की मृत्यु के उपरान्त अन्तिम नियति आदि निगूढ प्रश्नो के विषय मे स्वय तर्कनापूर्ण ढग से सोचने के लिए उनके पास न तो इतना अवकाश ही हे, न प्रवृत्ति ही हे और न है उस प्रकार की बौद्धिक योग्यता। सामाजिक विषयो मे मानव-निर्णय बहुधा प्रचलित रूढियो एव दुराग्रहो से आवृत होते हे। ऐसे प्रश्नो पर जो धार्मिक कहे जाते है (और भारत मे धार्मिक विषयो का क्षेत्र सदा विशद रहा हे) निर्व्याज विवेचन बिना क्रोध एव अमर्ष अथवा विद्वेष उत्पन्न किये अधिकाश मे असम्भव होता है। तलाक, सन्तति-निरोध ऐसे नैतिक प्रश्न परम्परानुगत धार्मिक उक्तियो (रूढियो) की स्थिति मे आ जाते है और जब उन पर कोई खुला विवेचन आरम्भ हो जाता हे तो क्रोधाग्नि उत्पन्न हो जाती हे। आज के बहुत-से लोकतान्त्रिक देशो मे तार्किक विवेचन सबसे अन्त मे आता हे और बडे-बडे महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का निर्णय दल-विशेष की आसक्ति या व्यक्ति-विशेष के प्रति पक्षपात या शक्ति-प्राप्ति के प्रति लोलुपता तथा व्यक्तिगत वृद्धि के प्रति मोह के आधार पर किया जाता है। ऐसा नही समझना चाहिए कि प्राचीन एव मध्यकालीन भारत मे बुद्धिवादी (तार्किक) एव अनस्तित्ववादी नही थे।

वास्तव मे कतिपय बुद्धिवादी सदा पाये जाते रहे हे। इस विषय मे देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ३५८–३५९, टिप्पणी ८७५ एव खण्ड ३, पृ० ४६–४७५ टिप्पणी ५७ (लोकायत एव उनके मत आदि।[5] बहुत-से बुद्धिवादियो की धारणा हे कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे कोई प्रमाण नही हे, वे आत्मा के विषय मे भी ऐसी ही धारणा रखते है, वे अमरता मे विश्वास नही करते और न यही स्वीकार करते कि इस विश्व मे मनुष्य की बुद्धि मे बढकर कोई अन्य उच्च बुद्धि है, वे इमे नही मानते कि इस विश्व के पीछे कोई विशिष्ट उद्देश्य या प्रयोजन हे, उनका विश्वास हे कि सभी धर्मो मे कुछ-न-कुछ सत्य है जो अत्यधिक भ्रम से युक्त हे। बुद्धिवादियो (तर्कवादियो) का कथन ह कि उन्हे इस बात को सिद्ध करने के लिए विवश नही करना चाहिए कि ईश्वर नही हे (जो कि एक अस्वीकारार्थक या अभावात्मक प्रस्ताव है), प्रत्युत अस्तित्ववादियो को ही यह सिद्ध करना हे कि ईश्वर हे अर्थात् उसका अस्तित्व है और वह सर्वशक्तिमान् एव सर्वज्ञ है (जो एक भावात्मक प्रस्ताव अथवा प्रमेय या प्रतिज्ञा हे)। उनका कथन है कि ईश्वर को क्रोध, प्रेम या करुणा नामक गुणो से युक्त करना ईश्वर के सर्वशक्तित्व को निर्विवाद रूप से समाप्त कर देना है। इस विश्व मे दुराचार की जो समस्या विराजमान है, वह बुद्धिवादियो की दृष्टि मे, ईश्वर को अच्छा, दयालु, सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान् मानने के मार्ग मे एक बाधा है। नास्तित्ववादी (अथवा बुद्धिवादी) अस्तित्ववादी के साथ सम्भवत यह मान ले कि मनुष्य एक सत्ता के रूप मे अपने से उच्च उस सत्ता पर निर्भर रहता है जो उसे मार्ग-निर्देशन देने मे तथा आज्ञा अथवा निर्देशन के उल्लघन पर दण्ड देने मे समर्थ है। बुद्धिवादी अथवा तर्कवादी का दृष्टिकोण है कि मानव किसी प्रकार के ऐसे समुदाय या ऐसे समाज मे रहता है या सत्ता रखता है जो उससे अपेक्षाकृत अधिक महान् हे। यह दृष्टिकोण इस बात की ओर सकेत करता है कि ईश्वर-पूजा के स्थान पर मानव-समुदाय या सयुक्त मानव-शक्ति की पूजा होनी चाहिए। ईश्वर के स्थान पर किस मानव-समुदाय को रखा जाय ? क्या यह सम्पूर्ण मानव-समाज (जिसमे मनुष्यो की सख्या आज लगभग तीन अरब तक है) होगा या इसके कुछ बडे या छोटे दल ? आज स्पष्ट रूप से दो दल है जिनमे विचारधारा-सम्बन्धी सघर्ष है, यथा—साम्यवादी दल (गुट) जिसके नेता रूस एव चीन है तथा पूजीवादी दल जिसका नेता अमेरिका है। इग्लैण्ड तथा यूरोप के कुछ अन्य देश तथा एक तीसरा दल, जो तथाकथित तटस्थ देशो का दल कहा जाता है, जिसमे भारत भी एक हे, और जो अभी उतना सुव्यवस्थित नही है, इन दोनो दलो मे किसी मे सम्मिलित नही है।

वर्तमान काल मे साम्यवाद सचमुच एक प्रकार की पूजा हे, अर्थात् ईश्वर-पूजा के स्थान पर मनुष्य या मनुष्यो की पूजा हे। यह बात स्वीकार्य होगी कि सम्भवत वर्तमान रूस की जनता भौतिक आवश्यकताओ के विषय मे जारो के काल के प्रजाजनो से कही अधिक समृद्ध एव उत्तम जीवन बिता रही है। जनता मे साम्यवाद के प्रति भक्ति हे। किन्तु यह भक्ति वास्तव से अधिक दिखावटी हे, शीघ्र (क्षिप्र) लाभो की आशा पर या अविलम्ब दण्ड के भय पर आधृत हे तथा शिक्षा एव वातावरण पर राज्य के कठोर नियन्त्रण का प्रतिफल या परिणाम है। निम्नोक्त शब्दो मे साम्यवादियो का नारा बडा आकर्षक हे—"विश्व के श्रमिको ! सयुक्त होओ,

५ लोकायत या लोकायतिक के लिए देखिए जयराशिभट्ट कृत 'तत्त्वोपप्लवसिंह' नामक ग्रन्थ (गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, बडोदा)। 'लोकायत' शब्द 'उक्थादि गण' मे आया है (पाणिनि ४।२।६०, 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्‌ ठक्')। देखिए डा० दक्षिणारञ्जन शास्त्री कृत 'शार्ट हिस्ट्री आव इण्डियन मैटिरियलिज्म' (कलकत्ता, द्वितीय सस्करण, १९५७)।

तुम्हे शृखलाओ के अतिरिक्त कुछ नही खोना है।" कुछ अन्य ध्यानाकर्षक शब्द ये है—"कृषक-श्रमिको की अधिनायकता या अनन्य शासन।" किन्तु वास्तव मे, यह तानाशाही कृषक-श्रमिको पर साम्यवादी दल की तानाशाही के रूप मे परिणत होती है। भौतिक कल्याण प्राप्ति के बदले मे सामान्य जनता अपनी कई स्वतन्त्रताओ का विनिमय करती है (अर्थात् भौतिक कल्याण की वेदी पर कई स्वतन्त्रताओ की आहुतियाँ देती है), यथा—अपने विषय मे सोचने की स्वतन्त्रता, बोलने की स्वतन्त्रता, बाह्य देशो के लोगो से मिलने-जुलने की स्वतन्त्रता, अपनी जीवन-वृत्तियो (पेशो) के चुनाव की स्वतन्त्रता आदि। इस विषय मे साम्यवादी लोग कुछ भी गुप्त नही रखते कि वे सम्पूर्ण विश्व को साम्यवाद के अन्तर्गत लाना चाहते है। अतएव वे उद्घोषणा करते है कि वे सम्पूर्ण ससार के सामान्य नरो एव नारियो के त्राता या उद्धारक है, और उन्हे कोई आक्रान्त नही कर सकता, क्योकि वे पूजीवाद या उपनिवेशवाद आदि के बन्धन से लोगो को मुक्त करना चाहते है। उनके मत मे उन्मत्तता, असहिष्णुता या अन्य के प्रति विद्वेष की भावना पायी जाती है। ईश्वर विहीन समाज के विषय मे एक मात्र प्रयोग विशाल पैमाने पर रूस मे हुआ है, किन्तु यह बाह्य लोगो की दृष्टि मे सुखद एव सफल नही सिद्ध हुआ है। सोवियत रूस के बडे-बडे नेताओ (जिनमे कुछ को उनके उत्तराधिकारियो ने हत्यारे की उपाधि दी है) के चित्रो का सार्वभौम प्रदर्शन स्पष्ट रूप से ईश्वरविहीन समाज मे भी पूजा की आवश्यकता की उद्घोषणा करता है। तानाशाहो ने न केवल सम्पत्ति की उत्पत्ति के साधनो का राष्ट्रीयकरण किया है, प्रत्युत देश के सम्पूर्ण 'श्रम' (लेबर) के साथ ऐसा किया है। तानाशाहो ने अपने को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठापित किया है और अपने प्रजाजनो के शरीरो एव मनो पर भी पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करना चाहा है। रूसी साम्यवादियो का ऐसा विश्वास है कि उनका देश इस पृथिवी पर स्वर्ग है और उनका कहना है कि लोगो को उनके शब्दो को, बिना जाँच-पडताल किये तथा वस्तुस्थिति का स्वय परिचय प्राप्त किये, ज्यो-का-त्यो अवश्य मान लेना चाहिए। साम्यवादियो की इतिहास, अर्थशास्त्र एव विज्ञान-सम्बन्धी विचारधाराएँ उनकी अपनी है। किसी को इस विषय मे किसी प्रकार का प्रश्न उठाने का अधिकार नही है।

जूडावाद (यहूदियो का धर्म), ईसाई धर्म एव इस्लाम (सभी एक ईश्वर मे एव एक ग्रन्थ मे विश्वास करते है) के अनुयायियो ने अपने सिद्धान्तो एव आचारो को फैलाने के लिए शतियो तक रक्तरञ्जित युद्धो एव हत्याओ का आश्रय लेने मे किसी प्रकार की हिचक नही प्रदर्शित की। जो लोग हिन्दू धर्म एव बौद्ध धर्म की परम्पराओ मे पले हुए है उनकी दृष्टि मे यह व्यवहार अथवा इस प्रकार का धार्मिक आवेश आकस्मिक क्षोभ उत्पन्न करने वाला है। यदि बुद्धिवादी अथवा अनीश्वरवादी लोग ईश्वर-पूजा के स्थान पर मानव-समाज के दल स्थापित करते है या पूजा एव शासन के लिए ऐसे दलो के नेताओ को प्रतिष्ठापित करते है तो इसमे सन्देह नही कि स्वय मानवता ही विलुप्त हो जायगी। यह मानते हुए भी कि तथाकथित बुद्धिवादियो को हम सर्वशक्तिमान् एव सर्वज्ञ ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के विषय मे सन्तुष्ट नही कर सकते, प्रस्तुत लेखक ऐसा अनुभव करता है कि अधिकाश समाजो के लिए, जिनमे करोडो-करोड मानव रहते है, ईश्वर एव आत्मा मे विश्वास करना, अपेक्षाकृत अच्छा है। अधिकाश लोग ईश्वर के भय से सदाचार एव अच्छाइयो की ओर झुकते है, क्योकि उनका अन्त करण उन्हे कोसता रहता है, उन्हे लोक-लज्जा रहती है और उन्हे राज्य के राजा से दण्ड मिलने का भय लगा रहता है। जो लोग ईश्वर-भय, सदाचार का पथ एव दूसरी बात अर्थात् अन्त करण (ईश्वर द्वारा मनुष्य मे डाली हुई आन्तरिक शक्ति) की बात छोड देते है, उन्हे तीसरा (अर्थात् लोक-लज्जा का भाव) भी छोड देना होता है और इस प्रकार वे सुखवादी (अपने ही लिए सबसे अधिक सुख की भावना—हेडोनिज्म) हो उठते है। ऐसे लोग 'अधिक से अधिक लोगो का अधिक से अधिक लाभ हो' वाले सिद्धान्त या कल्पना द्वारा किसी आदर्श समाज के विषय मे

सोचने लगते हे। हिन्दू धर्म एव सभी उच्च धर्मो के आदर्शो एव सिद्धान्तो के समक्ष केवल धर्मनिरपेक्ष या भौतिक सुख के ही पीछे पडा रहना असगत-सा है। बुद्धिवाद उन स्वीकृत पक्षो को, जिन्हे विज्ञान सुविधाजनक एव उपयोगी मानता है, स्वीकार कर लेता है। यद्यपि ये स्वीकृत पक्ष (स्वयसिद्ध प्रमाण) कुछ सीमाओ तक भली भाँति चलते हे, किन्तु यह अवश्य कहा जाना चाहिए कि ये सीमाएँ बहुत सँकरी होती ह। विज्ञान का उद्देश्य है सामान्य नियमो एव विधानो को स्थापित करना। इन नियमो से हम केवल प्रकृति के आचरण या व्यवहार से परिचित हो पाते है और यह जान पाते है कि किस प्रकार मानव प्राकृतिक शक्तियो का उपयोग मानवीय उद्देश्यो की पूर्ति मे कर सकता हे। किन्तु विज्ञान यह नही बता पाता कि उन उद्देश्यो (ध्येयो) को क्या होना चाहिए। विज्ञान नैतिक वृत्तिविहीन विद्या ह, इसका नैतिकता एव आध्यात्मिकता से कोई सम्बन्ध नही है। बुद्धिवाद, ऐसा लगता है, मानव मन के बहुत-से ऐसे अनुभवो को नियन्त्रित करता है, जो आज के विज्ञान के यन्त्रो के ऊपर की गतियाँ हे। जब वैज्ञानिक प्रणालियो का प्रयोग सामाजिक अध्ययनो मे भी प्रयुक्त होता है तो ऐसा प्रतीत होता है, वे जीवन के मूल्यो के विषय मे किसी प्रकार के ज्ञान की वृद्धि करने मे पूर्णतया असमर्थ हे। बुद्धिवाद इस पर बल देता है कि हमारे सभी विश्वास स्पष्ट एव निश्चित भूमियो पर आधृत हो और वह इस बात पर विश्वास करता है कि आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली ही एक मात्र प्रणाली है जिसके द्वारा सभी प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। किन्तु मनुष्यो मे बहुत-सी उपचेतन एव अतार्किक (अबुद्धिवादी) वृत्तियाँ, विश्वास एव प्रज्ञाएँ होती है जिन्हे वे अपेक्षाकृत अधिक सत्य मानते है और उन्हे बुद्धिवादी स्तरो की अपेक्षा अधिक उच्च समझते है (देखिए डब्लू० जेम्स कृत 'वैराइटीज आव रिलिजिएस एक्सपीरिएस', पृ० ७४, सन् १९२० का सस्करण)। प्रत्येक पीढी के चिन्तक नेताओ का यह प्रयास होना चाहिए कि वे परम्परा एव रूढि मे जो अत्यावश्यक एव गुरु है (परम्पराओ की अमोघता मे बिना विश्वास किये) उसका पता चलाये और ऐसे तर्कयुक्त मत या व्यवस्थाएँ दे जो परम्परा के सार तत्त्वो के साथ, आधुनिक चिन्तन, परिस्थितियो एव वातावरण की आवश्यकताओ एव पृच्छाओ की पूर्ति कर सके। आधुनिक बुद्धिवाद के विषय मे कुछ और कहना यहाँ आवश्यक नही है।

हमने इस ग्रन्थ मे बहुधा इस तथ्य की ओर सकेत कर दिया है कि लगभग दो सहस्र वर्षो तक हमारे प्राचीन लेखको एव मनुस्मृति (१२।१०५-१०६) जैसी अन्य स्मृतियो ने धर्म के अन्वेषण मे तर्क को स्थान दिया हे (स्वय कुमारिल ने उस पर विश्वास किया है), विरोधी मतो के प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित की है और धार्मिक कृत्यो, दार्शनिक मतो, सामाजिक रीतियो एव आचारो मे परिवर्तन किये हे और ऐसा करने मे कही भी किसी प्रकार की हत्याएँ या अनाचार नही किये गये हे। कोई व्यक्ति एक-ईश्वरवादी हो सकता हे या बहुदेवतावादी हो सकता है या मूर्ति-पूजक हो सकता है, अस्तित्ववादी, नास्तित्ववादी या दोनो के बीच मे हो सकता है, या निर्गुण ब्रह्म को मानने वाला आदर्शवादी दार्शनिक हो सकता हे तब भी वह, यदि वेद तथा सामाजिक प्रयोगो के प्रति एक सामान्य झुकाव रखता हो तो वह पूर्ण हिन्दू कहा जायगा। इस प्रकार की सहिष्णुता जो सैकडो-सहस्रो वर्षो से हमारी भारतीय जनता ने प्रदर्शित की हे वह अन्यत्र दुर्लभ एव अचिन्त्य रही हे। पाश्चात्य लेखक जहाँ एक ओर धार्मिक दृष्टिकोणो एव व्यवहारो मे हमारी सहिष्णुता की प्रशसा करते ह, वही भोजन, विवाह आदि मे जाति-सम्बन्धी नियमो के पालन की खिल्ली भी उडाते ह। किन्तु जाति धार्मिक होने की अपेक्षा सामाजिक अधिक हे, अत जिस प्रकार पाश्चात्य देशो मे आचार-सम्बन्धी नियमो (यथा १३ की सख्या और सब्बथ पर कार्य करने, थियेटर जाने, ताश खेलने तथा चलने के अतिरिक्त अन्य शारीरिक व्यायामो के विरुद्ध नियम) का पालन साशक होता रहा है, उसी प्रकार भारत मे जाति-सम्बन्धी नियमो के प्रति व्यवहार होता रहा हे। इतना ही नही, जाति-नियमो के भग करने पर दोषी को अपनी जाति के बन्धु-बान्धवो की सभा (पचायत) मे अपनी त्रुटि माननी पडती थी, जाति को

या ग्राम-मन्दिर को दण्ड रूप मे कुछ देना होता था, तब कही उसे अपनी जाति की सुविधाएँ प्राप्त हो सकती थी। ईसाइयो के चर्च थोडी-सी भी मार्ग-भ्रष्टता के प्रति बहुत ही असहिष्णु रहे हे (विशेषत धार्मिक विषयो एव विशिष्ट कालो मे) अत यूरोप मे अपने मतो के प्रति दुराग्रह प्रकट करने की प्रवृत्ति एव बुद्धिवाद पर विशेष बल दिया गया। सरकारो ने प्रभावपूर्ण ढग से शिक्षा पर नियन्त्रण करके अपनी प्रजा के मतो को जिधर चाहा घुमाया, ऐसा करने मे उन्होने ग्रन्थो पर अधिकार किया और उन लोगो को यातनाएँ दी जिन्होने उनकी मान्यताओ के विरुद्ध मत व्यक्त किये। रोम के चर्च ने ऐसी अनभीष्ट पुस्तको की सूची बनवायी जो वर्जित थी, तथा एक सूची बनवायी जिसमे अभीष्ट ग्रन्थो के वे वचन सगृहीत थे जो वर्जित ठहरा दिये गये थे। इस विषय मे पाश्चात्य धार्मिक इतिहास बडा क्रूर एव कठोर चित्र उपस्थित करता हे। देखिए लेकी का ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव दि राइज एण्ड इफ्लुएस आव रेशनलिज्म इन यूरोप', आर्चीबाल्ड राबर्टसन कृत 'रेशनलिज्म इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस' (वाट्स एण्ड को० द्वारा प्रकाशित, १९५४) एव ह्यू टी० ऐसन फॉसेट कृत 'दि फ्लेम एण्ड लाइट' (लन्दन, १९५८)। इन ग्रन्थो मे ऐसी बातो का पूर्ण विवेचन है। लेकी ने बताया है कि किस प्रकार जापान से ईसाई धर्म, स्पेन से प्रोटेस्टण्टवाद, फ्रास से ह्यूजेनॉट्स तथा इग्लेण्ड से अधिकाश कैथोलिको का मूलोच्छेद हो गया। जेसुइटो ने इस सिद्धान्त का कार्यान्वयन किया कि ध्येय के अनुसार ही साधन चलते है। उनका ध्येय था 'ईश्वर का महत्तर गौरव' जिसका उनके लिए अर्थ था रोमन कैथोलिकवाद के अनुसार मनुष्यो एव राज्यो का धार्मिक परिवर्तन, साधन थे मारकाट एव युद्ध के लिए निजधर्मावलम्बियो को उभारना। गैलिलिओ को ज्योतिष मे कोपर्निकस के सिद्धान्त के अनुसरण के कारण यातना दी गयी। सूर्य पृथिवी के चतुर्दिक् घूमता है या पृथिवी सूर्य के, इससे धर्म के लिए विशेष अन्तर नही होता। इसी विषय मे एक बात यह बता दी जाय कि भारत मे 'आर्यभट (सन् ४७६ ई० मे जन्म) ने यह घोषित किया कि नक्षत्र पृथिवी के चतुर्दिक् चक्कर नही काटते प्रत्युत पृथिवी ही अपने चारो ओर घूमती हे और इसे समझाने के लिए एक चलती हुई नाव मे बैठे हुए पुरुष का उदाहरण दिया, जिसे ऐसा भास होता है कि तट पर स्थित पदार्थ ही पीछे की ओर दौडते दृष्टिगोचर होते है।[६] वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका (१३।६) मे इस मत का उल्लेख हे और इसे त्याग दिया गया हे, किन्तु इसलिए नही कि यह वेदविरुद्ध है, प्रत्युत इस तर्क पर कि यदि यह मत ठीक होता तो चील आदि पक्षी, जो आकाश मे इतनी दूर उडते रहते है, अपने घोसलो मे पुन सफलता-पूर्वक नही आ सकते थे। उन्हे यह नही ज्ञात था कि पृथिवी के साथ वायुमण्डल भी चलता रहता हे। यह बात गैलिलिओ से ११०० वर्ष पहले की हे ओर हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नही है कि आर्यभट को अपने मतो के कारण कोई पीडा उठानी पडी। देखिए डब्लू० ई० क्लार्क कृत 'आर्यभटीयम्' (चिकागो, १९३०), पृ० ६४। जैसा कि आर्चीबाल्ड रॉबर्टसन ने अपने ग्रन्थ मे लिखा हे, यूरोप मे तार्किक (अथवा बौद्धिक) क्रान्ति का इतिहास बहुत बडी सीमा तक उन मतो के मानने एव उन्हे प्रसारित करने के अधिकार के युद्ध का इतिहास हे, जो कुछ कालावधि तक अप्रचलित रहे है, और यूरोप मे धार्मिक सहिष्णुता की भावना का विकास परम्परागत धार्मिक विश्वासो के नाश के साथ-साथ चलता रहा हे। एक ही विषय पर तर्क कई युगो मे कई प्रकार के निष्कर्षों को उपस्थित करता हे और कभी-कभी एक ही युग मे जो किसी एक दल विशेष को तर्कयुक्त लगता हे, अन्य दल के लोगो को

६ अनुलोमगतिर्नौस्थ पश्यत्यचल विलोमग यद्वत्। अचलानि भान्ति तद्वत्समपश्चिमगानि लकायाम्॥ आर्यभटीय (गोलपाद, श्लोक ९)।

सोचने लगते है। हिन्दू धर्म एव सभी उच्च धर्मों के आदर्शो एव सिद्धान्तो के समक्ष केवल धर्मनिरपेक्ष या भौतिक सुख के ही पीछे पडा रहना असगत-सा है। बुद्धिवाद उन स्वीकृत पक्षो को, जिन्हे विज्ञान सुविधाजनक एव उपयोगी मानता है, स्वीकार कर लेता है। यद्यपि ये स्वीकृत पक्ष (स्वयसिद्ध प्रमाण) कुछ सीमाओ तक भली भाँति चलते ह, किन्तु यह अवश्य कहा जाना चाहिए कि ये सीमाएँ बहुत सँकरी होती है। विज्ञान का उद्देश्य है सामान्य नियमो एव विधानो को स्थापित करना। इन नियमो से हम केवल प्रकृति के आचरण या व्यवहार से परिचित हो पाते है और यह जान पाते है कि किस प्रकार मानव प्राकृतिक शक्तियो का उपयोग मानवीय उद्देश्यो की पूर्ति मे कर सकता है। किन्तु विज्ञान यह नही बता पाता कि उन उद्देश्यो (ध्येयो) को क्या होना चाहिए। विज्ञान नैतिक वृत्तिविहीन विद्या हे, इसका नैतिकता एव आध्यात्मिकता से कोई सम्बन्ध नही है। बुद्धिवाद, ऐसा लगता है, मानव मन के बहुत-से ऐसे अनुभवो को नियन्त्रित करता है, जो आज के विज्ञान के यन्त्रो के ऊपर की गतियाँ हे। जब वैज्ञानिक प्रणालियो का प्रयोग सामाजिक अध्ययनो मे भी प्रयुक्त होता है तो ऐसा प्रतीत होता है, वे जीवन के मूल्यो के विषय मे किसी प्रकार के ज्ञान की वृद्धि करने मे पूर्णतया असमर्थ हे। बुद्धिवाद इस पर बल देता है कि हमारे सभी विश्वास स्पष्ट एव निश्चित भूमियो पर आवृत हो और वह इस बात पर विश्वास करता है कि आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली ही एक मात्र प्रणाली है जिसके द्वारा सभी प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। किन्तु मनुष्यो मे बहुत-सी उपचेतन एव अतार्किक (अबुद्धिवादी) वृत्तियाँ, विश्वास एव प्रज्ञाएँ होती है जिन्हे वे अपेक्षाकृत अधिक सत्य मानते है और उन्हे बुद्धिवादी स्तरो की अपेक्षा अधिक उच्च समझते है (देखिए डब्लू० जेम्स कृत 'वैराइटीज आव रिलिजिएस एक्सपीरिएस', पृ० ७४, सन् १९२० का सस्करण)। प्रत्येक पीढी के चिन्तक नेताओ का यह प्रयास होना चाहिए कि वे परम्परा एव रूढि मे जो अत्यावश्यक एव गुरु है (परम्पराओ की अमोघता मे बिना विश्वास किये) उसका पता चलाये और ऐसे तर्कयुक्त मत या व्यवस्थाएँ दे जो परम्परा के सार तत्त्वो के साथ, आधुनिक चिन्तन, परिस्थितियो एव वातावरण की आवश्यकताओ एव पृच्छाओ की पूर्ति कर सके। आधुनिक बुद्धिवाद के विषय मे कुछ और कहना यहाँ आवश्यक नही है।

हमने इस ग्रन्थ मे बहुधा इस तथ्य की ओर सकेत कर दिया है कि लगभग दो सहस्र वर्षो तक हमारे प्राचीन लेखको एव मनुस्मृति (१२।१०५-१०६) जैसी अन्य स्मृतियो ने धर्म के अन्वेषण मे तर्क को स्थान दिया हे (स्वय कुमारिल ने उस पर विश्वास किया है), विरोधी मतो के प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित की है ओर धार्मिक कृत्यो, दार्शनिक मतो, सामाजिक रीतियो एव आचारो मे परिवर्तन किये हे और ऐसा करने मे कही भी किसी प्रकार की हत्याएँ या अनाचार नही किये गये है। कोई व्यक्ति एक-ईश्वरवादी हो सकता हे या बहुदेवतावादी हो सकता है या मूर्ति-पूजक हो सकता हे, अस्तित्ववादी, नास्तित्ववादी या दोनो के बीच मे हो सकता है, या निर्गुण ब्रह्म को मानने वाला आदर्शवादी दार्शनिक हो सकता हे तब भी वह, यदि वेद तथा सामाजिक प्रयोगो के प्रति एक सामान्य झुकाव रखता हो तो वह पूर्ण हिन्दू कहा जायगा। इस प्रकार की सहिष्णुता जो सैकडो-सहस्रो वर्षो से हमारी भारतीय जनता ने प्रदर्शित की हे वह अन्यत्र दुर्लभ एव अचिन्त्य रही हे। पाश्चात्य लेखक जहाँ एक ओर धार्मिक दृष्टिकोणो एव व्यवहारो मे हमारी सहिष्णुता की प्रशसा करते है, वहीं भोजन, विवाह आदि मे जाति-सम्बन्धी नियमो के पालन की खिल्ली भी उडाते ह। किन्तु जाति धार्मिक होने की अपेक्षा सामाजिक अधिक हे, अत जिस प्रकार पाश्चात्य देशो मे आचार-सम्बन्धी नियमो (यथा १३ की सख्या और सैब्बथ पर कार्य करने, थियेटर जाने, ताश खेलने तथा चलने के अतिरिक्त अन्य शारीरिक व्यायामो के विरुद्ध नियम) का पालन साशक होता रहा है, उसी प्रकार भारत मे जाति-सम्बन्धी नियमो के प्रति व्यवहार होता रहा हे। इतना ही नही, जाति-नियमो के भग करने पर दोषी को अपनी जाति के बन्धु-बान्धवो की सभा (पचायत) मे अपनी त्रुटि माननी पडती थी, जाति को

या ग्राम-मन्दिर को दण्ड रूप मे कुछ देना होता था, तब कही उसे अपनी जाति की सुविधाएँ प्राप्त हो सकती थी। ईसाइयो के चर्च थोडी-सी भी मार्ग-भ्रष्टता के प्रति बहुत ही असहिष्णु रहे है (विशेषत धार्मिक विषयो एव विशिष्ट कालो मे) अत यूरोप मे अपने मतो के प्रति दुराग्रह प्रकट करने की प्रवृत्ति एव बुद्धिवाद पर विशेष बल दिया गया। सरकारो ने प्रभावपूर्ण ढग से शिक्षा पर नियन्त्रण करके अपनी प्रजा के मतो को जिधर चाहा घुमाया, ऐसा करने मे उन्होने ग्रन्थो पर अधिकार किया और उन लोगो को यातनाएँ दी जिन्होने उनकी मान्यताओ के विरुद्ध मत व्यक्त किये। रोम के चर्च ने ऐसी अनभीष्ट पुस्तको की सूची बनवायी जो वर्जित थी, तथा एक सूची बनवायी जिसमे अभीष्ट ग्रन्थो के वे वचन सगृहीत थे जो वर्जित ठहरा दिये गये थे। इस विषय मे पाश्चात्य धार्मिक इतिहास बडा क्रूर एव कठोर चित्र उपस्थित करता है। देखिए लेकी का ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव दि राइज एण्ड इफ्लुएन्स आव रेशनलिज्म इन यूरोप', आर्चीबाल्ड राबर्टसन कृत 'रेशनलिज्म इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस' (वाट्स एण्ड को० द्वारा प्रकाशित, १९५४) एव ह्यू टी० ऐसन फॉसेट कृत 'दि फ्लेम एण्ड लाइट' (लन्दन, १९५८)। इन ग्रन्थो मे ऐसी बातो का पूर्ण विवेचन है। लेकी ने बताया है कि किस प्रकार जापान से ईसाई धर्म, स्पेन से प्रोटेस्टैण्टवाद, फ्रास से ह्यूजेनॉट्स तथा इग्लैण्ड से अधिकाश कैथोलिको का मूलोच्छेद हो गया। जेसुइटो ने इस सिद्धान्त का कार्यान्वयन किया कि ध्येय के अनुसार ही साधन चलते है। उनका ध्येय था 'ईश्वर का महत्तर गौरव' जिसका उनके लिए अर्थ था रोमन कैथोलिकवाद के अनुसार मनुष्यो एव राज्यो का धार्मिक परिवर्तन, साधन थे मारकाट एव युद्ध के लिए निजधर्मावलम्बियो को उभारना। गैलिलिओ को ज्योतिष मे कोपर्निकस के सिद्धान्त के अनुसरण के कारण यातना दी गयी। सूर्य पृथिवी के चतुर्दिक् घूमता है या पृथिवी सूर्य के, इससे धर्म के लिए विशेष अन्तर नही होता। इसी विषय मे एक बात यह बता दी जाय कि भारत मे 'आर्यभट (सन् ४७६ ई० मे जन्म) ने यह घोषित किया कि नक्षत्र पृथिवी के चतुर्दिक् चक्कर नही काटते प्रत्युत पृथिवी ही अपने चारो ओर घूमती है और इसे समझाने के लिए एक चलती हुई नाव मे बैठे हुए पुरुष का उदाहरण दिया, जिसे ऐसा भास होता है कि तट पर स्थित पदार्थ ही पीछे की ओर दौडते दृष्टिगोचर होते है।[६] वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका (१३।६) मे इस मत का उल्लेख है और इसे त्याग दिया गया है, किन्तु इसलिए नही कि यह वेदविरुद्ध है, प्रत्युत इस तर्क पर कि यदि यह मत ठीक होता तो चील आदि पक्षी, जो आकाश मे इतनी दूर उडते रहते है, अपने घोसलो मे पुन सफलता-पूर्वक नही आ सकते थे। उन्हे यह नही ज्ञात था कि पृथिवी के साथ वायुमण्डल भी चलता रहता है। यह बात गैलिलिओ से ११०० वर्ष पहले की है और हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नही है कि आर्यभट को अपने मतो के कारण कोई पीडा उठानी पडी। देखिए डब्लू० ई० क्लार्क कृत 'आर्यभटीयम्' (चिकागो, १९३०), पृ० ६४। जैसा कि आर्चीबाल्ड रॉबर्टसन ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है, यूरोप मे तार्किक (अथवा बौद्धिक) क्रान्ति का इतिहास बहुत बडी सीमा तक उन मतो के मानने एव उन्हे प्रसारित करने के अधिकार के युद्ध का इतिहास है, जो कुछ काला-वधि तक अप्रचलित रहे है, और यूरोप मे धार्मिक सहिष्णुता की भावना का विकास परम्परागत धार्मिक विश्वासो के नाश के साथ-साथ चलता रहा है। एक ही विषय पर तर्क कई युगो मे कई प्रकार के निष्कर्षों को उपस्थित करता है और कभी-कभी एक ही युग मे जो किसी एक दल विशेष को तर्कयुक्त लगता है, अन्य दल के लोगो को

६ अनुलोमगतिर्नौस्थ पश्यत्यचल विलोमग यद्वत्। अचलानि भान्ति तद्वत्समपश्चिमगानि लकायाम्॥ आर्यभटीय (गोलपाद, श्लोक ९)।

वही अतार्किक एव अनुचित-सा प्रतीत होता है। देखिए रॉबर्ट ब्रिजेज कृत 'टेस्टामेण्ट आव ब्यूटी' (बुक १, पक्तियाँ ४६५-४७०), जहाँ जो उचित अथवा तर्कसगत है उस पर लिखा गया है। करोडो लोगो ने फलो को पृथिवी पर टपकते हुए देखा था किन्तु यह न्यूटन की ही प्रज्ञा एव तर्क था जिसके द्वारा उन्होने आकर्षण के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर दिया।

बृहदारण्यकोपनिषद् (१।५।३) ने सशय (अथवा सन्देह) को मन की एक उचित वृत्ति कहा है, यथा—'काम सकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्व मन एव', अर्थात् इच्छा, सकल्प, सदेह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धर्य (स्थिरता), अधैर्य, लज्जा, समझ (धी) एव भय—ये सभी मन के स्वरूप है। ऋग्वेद (२।१२।५) ने भी इन्द्र के विषय मे सशय करने वालो की ओर सकेत किया है ('उतेमाहुर्नैषोस्तीत्येनम्')। कठोपनिषद् मे नचिकेता का कथन है—"जब मनुष्य मर जाता है, वहाँ सन्देह है, कुछ लोग कहते है, 'वह (आत्मा) रहता है', अन्य लोग कहते है, 'वह रहना समाप्त कर देता है'", इस प्रकार कहकर नचिकेता यम से प्रार्थना करते है कि वे (यम) उसके तीसरे वरदान के रूप मे इसी सन्देह को दूर करे।

डेकार्ट का कथन है कि केवल एक ही सत्य सन्देहातीत है, यथा 'कॉगितो इर्गो सम', अर्थात् 'मै विचार करता हूँ, अत मै हूँ।' १८वी एव १९वी शतियो मे, जहाँ तक विचारशील व्यक्तियो का सम्बन्ध है, यूरोप मे तर्क एव विकास के प्रति असीम श्रद्धा पायी जाती थी। किन्तु दो महायुद्धो के (विशेषत द्वितीय के) कारण एव उनके परिणामो के फलस्वरूप दो शक्तिशाली साम्यवादी देशो के अभ्युत्थान ने तर्क एव आचार-शास्त्र द्वारा निर्देशित विकास के प्रति श्रद्धा को धक्का पहुँचाया है, व्यक्ति की प्रतिष्ठा (अथवा माहात्म्य) एव समानता के प्रति श्रद्धा-भावना का ह्रास हुआ है और उस पर कतिपय क्षेत्रो से आक्रमण हो रहा है और इस मत को कि शक्ति से अधिकार की उत्पत्ति होती है या शक्ति ही अधिकार है, प्रधानता मिलती जा रही है।

उपनिषदो का कथन है कि सत्य वेदान्तवादी धारणा के लिए विशुद्ध नैतिकता की सन्नद्धता आवश्यक है। बृह० उप० मे आया है—'अत जो शान्ति की प्राप्ति, इन्द्रिय-निग्रह, विषय वासनाओ से दूर हट जाने, सभी प्रकार के द्वन्द्वो (शीत एव उष्णता आदि) को सह लेने के उपरान्त इसे (आत्मा को) जानता है, वह आत्मा मे आत्मा देखता है, सभी वस्तुओ को आत्मा समझता है।' कठोपनिषद् (२।२४) का कथन है—'जिसने दुष्कर्म करना नही छोडा है, जो शान्त नही है, जिसने अपने मन को एकाग्र नही किया है और न उसे शान्त ही किया है, वह सत्य ज्ञान से आत्मा का परिज्ञान नही कर सकता।' प्रश्नोपनिषद् (१।१६) मे आया है—'जो कुटिलता, असत्य एव वञ्चनापूर्ण आचरण से मुक्त है वे ब्रह्म के पवित्र लोक की प्राप्ति करते है।' श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।२२) मे आया है—'यह अत्यन्त निगूढ वेदान्त ज्ञान उस व्यक्ति को नही दिया जाना चाहिए जिसका मन अशान्त है अथवा जो अपना पुत्र या शिष्य नही है।' 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'वह तुम हो' नामक मन्त्र प्रत्येक व्यक्ति को यह बताता है कि वह सभी मनुष्यो मे आत्मा को देखे या जसा कि गीता (६।२९-३०) मे कहा गया है—'जो योगयुक्त है और आत्मा का ही सब कुछ समझता है और प्रत्येक वस्तु को आत्मा मे अवस्थित मानता है, परमात्मा से बिछुड नही सकता और न परमात्मा ही उसे छोड सकते है।' छान्दोग्योपनिषद् (३।१६।१) मे मनुष्य को प्रतीक रूप मे यज्ञ माना गया है और (३।१७।४ मे) ऐसा आया है कि तप, दान, आर्जव (अकुटिलता), अहिंसा एव सत्य दक्षिणा है।

उपर्युक्त उदाहरणो से यह व्यक्त होता है कि वेदान्त अपने सर्वोत्तम रूप मे व्यक्तियो को शुद्ध नैतिकता का अत्युत्तम आश्रय प्रदान करता है। इसी शिक्षा के कारण बहुत-से मुनियो ने आश्रमो मे इन गुणो की उपलब्धि की और प्राचीन काल मे राजाओ एव सामान्य लोगो द्वारा पूजित हुए थे, किन्तु मध्य काल मे ऐसे मुनियो की कमी

हो गयी[७] ओर सामान्य जनता परम्परानुगत रीतियो, लोकाचारो एव जाति मे बधी रही, बहुत कम लोगो ने सभी लोगो को उनकी सामान्य आवश्यकताओ की सुरक्षा के लिए एकता के सूत्र मे बाधने के कठिन प्रयत्न किये, ओर इतने महान् एव उत्कृष्ट दार्शनिक सिद्धान्तो के रहते हुए भी हमारे देश ने अधिकाश जनता मे अधमता, दारिद्र्य एव क्रूर आक्रामको द्वारा राजनीतिक प्रभुत्व-स्थापन देखा। कई शतियो से हमारे इतिहास मे वेदो के ऊपर निर्भरता तथा ऐसा विश्वास एव तर्क पाया जाता रहा हे कि जो कुछ अतीत मे था वह सर्वोत्तम था, तथा अतीत के प्रति एक विलक्षण मोहकता की भावना हममे भरती रही हे। हमारा आदर्शवाक्य 'वेदो की ओर' नही होना चाहिए, प्रत्युत वह 'वेदो के साथ आगे की ओर' होना चाहिए। वेद तथा आप्त वचन को मूल्य देते हुए हमे विचार-स्वातन्त्र्य की भर्त्सना कभी भी नही करनी चाहिए।

बेथम, जेम्स मिल एव जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे कुछ पाश्चात्य बुद्धिवादियो ने 'उपयोगितावाद' (यूटिलिटेरियनिज्म) का सिद्धान्त प्रचारित किया हे, जो सक्षेप मे यह हे कि कर्मो की जाँच उनके परिणामो मे की जानी चाहिए ओर वे उसी अनुपात मे ठीक हे जिस अनुपात मे वे अधिक-से-अधिक लोगो को अधिक-से-अधिक सुख देते हे। इस सिद्धान्त मे बडे-बडे दोप है, जिनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यह हे कि यह वास्तव मे, नैतिक सिद्धान्त नही हे, क्योकि वह यह नही बताता कि मनुष्य या समाज को क्या होना चाहिए। धर्म अपने अनुयायियो को बताते हे कि उन्हे क्या करना चाहिए ओर क्या नही करना चाहिए। यह पता नही चल पाता कि अधिक-से-अधिक लोग किस बात को अच्छी या सुखद मानते हे। एक व्यक्ति की दृष्टि मे जो अधिकतम लोगो के लिए अधिकतम अच्छा हे वह अन्य लोगो को स्वीकार्य नही भी हो सकता। यही एक अन्य कठिनाई हे। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी हे कि बहुत-से लोग अन्य लोगो के सुख के लिए कुछ भी नही करते। इस सिद्धान्त द्वारा नैतिक, राजनीतिक एव अर्थशास्त्रीय कर्म अस्पष्ट एव सकुल हो उठते हे। व्यवहार मे यह सिद्धान्त, सुख पर बल दिये जाने के कारण, सुखवाद एव भौतिक पदार्थों मे लवलीन हो जाने की छूट देने लगा है।

प्रस्तुत लेखक विचार-स्वातन्त्र्य का विरोध नही करता, किन्तु वह जिस बात का विरोधी हे, वह हे बुद्धिवाद की बद्धमूलता, जिसने करोडो सामान्य नर-नारियो को विश्वासरहित बना दिया हे और उन्हे नास्तिकवादी एव अनात्मवादी बनाती जा रही हे। बुद्धिवादी एव उपयोगितावादी लोग सामान्य लोगो के लिए आचार के मूल्यो एव सिद्धान्तो के विपय मे कुछ कहते ही नही। यदि ईश्वर एव आत्मा का निष्कासन करना ही हे तो उन्हे इसके स्थान पर अपेक्षाकृत कोई अधिक मूल्यवान् एव उपयोगी तत्त्व रखना चाहिए था जिसके लिए आज की नयी पीढी कुछ करती और अपना उत्सर्ग करती। यद्यपि हम ऐसा नही कह सकते कि धार्मिक एव सामाजिक विपयो के अन्तिम ज्ञान की बाते वेद मे या प्राचीन ऋषियो एव लेखको के ग्रन्थो मे पायी जाती हे, किन्तु आज के विज्ञ व्यक्ति यह निर्णय देने के पूर्व हिचकेगे कि ईश्वर एव अमर आत्मा वाले सिद्धान्त मे विश्वास करने के विरोध मे हमे कोई नारा उठाना चाहिए। गीता ने अधिकाश लोगो को सावधान किया है (३।२६)—'ज्ञानी (या विद्वान्) लोगो को उन अबोध लोगो के मनो को, जो (आचरण द्वारा विशिष्ट) कर्मो मे लिप्त हे, अस्तव्यस्त नही करना चाहिए, प्रबुद्ध व्यक्ति को स्वय एक योगी के समान सभी कर्म करते हुए अन्य लोगो को सभी कर्म करने के लिए प्रवृत्त करना चाहिए।'

७ आजकल भी रमण महर्षि (अरुणाचल के मुनि, १८७९-१९५०) जैसे मुनि पाये जाते हे जिनमे अद्वैत वेदात की सच्ची लगन है। श्री आर्थर ऑसबॉर्न ने 'रमन महर्षि एण्ड दि पाथ आव सेल्फ नालेज' (राइडर एण्ड को०, १९५४) नामक मनोरम ग्रन्थ लिखा हे।

दोनो महायुद्धो के परिणामस्वरूप, जिनमे अवर्णनीय अनाचार एव असभ्य कृत्य[८] अत्यधिक पढे-लिखे लोगो एव ऐसे देशो द्वारा जिनमे लोग ईसाई धर्मावलम्बी रहे है, सम्पादित किये गये, एक प्रकार की विराग अथवा जुगुप्सा की भावना उत्पन्न हुई, और कतिपय महान् व्यक्ति इस विषय मे तर्कना करने लगे है कि यह सब धार्मिक विश्वास के अभाव के कारण हुआ है और वे यही चाहते है कि मानव समाज पुन धर्म की ओर झुके। किन्तु समस्या-सम्बन्धी कठिनाई तो यह है कि आज के युग मे कौन-से धार्मिक विश्वास एव व्यवहार लोगो मे भरे जायँ और लोग माने तथा प्रयोग मे लाये। प्रस्तुत लेखक की दृष्टि मे विश्व के रोगो को दूर करने के लिए धर्म कभी भी रामबाण नही सिद्ध हो सकता। आज के शिक्षित मानव-समुदाय मे बहुत-से लोग कतिपय प्रचलित धार्मिक सिद्धान्तो एव प्रयोगो तथा उनके बौद्धिक या प्रामाणिक ग्रन्थो से असन्तुष्ट है। प्रश्न के समाधान मे कठिनाई तो यह है कि धर्म या विश्वास मे कैसी बातो का समावेश होना चाहिए जो आज के अधिकाश लोगो या सभी अच्छे लोगो या पढे-लिखे आधुनिक बौद्धिक लोगो के मन मे उतर सके। विभिन्न युगो मे विभिन्न सदाचारो एव गुणो (यथा—मठवास या ससारत्याग या आरण्यकवृत्ति, दान, विनम्रता या अनहकार, देशभक्ति, समाज-सेवा या लोक हितेच्छा) को विशेष महत्त्व दिया जाता रहा है। यूरोपीय देशो मे देश-भक्ति के गुण एव राष्ट्रीयता की भावना का विकास ईसाई धर्म की शिक्षा के फलस्वरूप नही हुआ, प्रत्युत वह यूरोप के राजनीतिक एव अर्थशास्त्रीय इतिहास मे किन्ही अन्य कारणो से हुआ। वास्तव मे, सदाचार एव शालीनता-सम्बन्धी कतिपय गुण है, यथा—धार्मिक, वीरता-सम्बन्धी, सुशीलता-सम्बन्धी आदि। यूरोप एव अमेरिका के लोगो ने गत चार शतियो मे महात्मा ईसा मसीह द्वारा 'पर्वत पर दिये गये उपदेशो' से सम्बन्धित सदाचारो अथवा शील-गुणो को हवा मे फेक दिया और अतुल सम्पत्ति एव समृद्धि का अर्जन किया, उन्होने अपने उपनिवेशो का विस्तार किया, वहाँ के लोगो का शोषण किया, पिछडी जातियो को पद दलित किया, पशुओ की भाँति मनुष्यो का आखेट किया, उन्हे दासता की बेडियो मे कसा, चारो ओर प्रतिद्वन्द्विता के नारे लगाये, मानो वे ईश्वर की पूजा के लिए सदुपदेश कर रहे हो।[९] दो महायुद्धो की आहुतियो के उपरान्त बहुत से चिन्तक, न केवल धार्मिक लोग, प्रत्युत वे लोग भी जो प्रशासन मे उच्च पदो पर आसीन है, नैतिक ज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव करते है और चाहते है कि लोगो मे अनुशासन, नि स्वार्थ भावना आदि सद्गुणो का उद्रेक हो और लोग जीवन के सत् पदार्थों के बँटवारे मे एक-दूसरे से सहयोग करे। इस प्रकार के सदाचारो पर बृह० उप० (५।२।१-३) मे बहुत बल दिया गया है।

८ देखिए लिवरपुल के लार्ड रसेल कृत 'स्कॉरेज आव दि स्वस्तिक', जहाँ पर (पृ० १७१) उन्होने हॉस के अगीकृत वक्तव्य को प्रकाशित किया है कि आश्त्रिविज मे कम से कम ३० लाख व्यक्ति मारे गये, जिनमे २५,००,००० गैस चेम्बर से मारे गये थे। पृ० २५० मे लेखक ने टिप्पणी की है कि जर्मनो द्वारा ५० लाख से अधिक यूरोपीय यहूदियो की हत्या विश्व-इतिहास मे सबसे बडी हत्या एव निकृष्ट अपराध है।

९ आर्चीबाल्ड रॉबर्टसन ने 'रेशनलिज्म इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस' (वाट्स एण्ड को०, लन्दन, १९५४) मे कहा है (पृ० ४१) कि ईसा के धर्म-सम्बन्धी नैतिक गुण प्रयोग मे कभी नहीं लाये गये है और जो समाज 'माउण्ट के सर्मन' (उपदेश) पर आधृत होगा, वह एक मास तक भी नहीं चल सकता। अपने ग्रन्थ 'क्राइस्ट' (लन्दन, १९३९) मे श्री डब्लू० आर० मैथ्यूज ने पृ० ७६ पर प्रो० ह्वाइटहेड के मत के साथ सहमति प्रकट की है कि यदि पर्वत पर दिये गये सर्मन (ईसा-उपदेश) के सिद्धान्तो को, जैसा कि शब्दो द्वारा समझा जाता है,

भारत मे सम्राट् अशोक ने ई० पू० तीसरी शती मे ब्राह्मण धर्म एव बौद्ध धर्म के लिए अपने अनुशासनो द्वारा सहिष्णुता की भावना की शिक्षा दी है (देखिए इसी खण्ड के अध्याय २५ को)। अशोक ने किसी धर्म-विशेष के सिद्धान्तो की चर्चा नही की है, प्रत्युत उन्होने अपने को अपने प्रजाजनो का पिता मान कर उनके लिए ऐसी नैतिकता की व्यवस्था की है जो व्यावहारिक है और सबको स्वीकार्य हो सकती है, यथा—सहिष्णुता, मानवता, भिक्षुओ एव दरिद्रो को दान तथा मूक पशुओ के प्रति करुणा की भावना। आगे चल कर, यह प्रदर्शित करना अत्यन्त आवश्यक था कि तर्क द्वारा उपस्थित सिद्धान्त वेद द्वारा स्थापित सिद्धान्त या वचन के सीधे विरोध मे न पडे। यहाँ एक ही उदाहरण पर्याप्त है—यद्यपि उपनिषद् ऐसे वचनो द्वारा, यथा—'अह ब्रह्मास्मि' (छा० उप० ३।१४।१), 'तत्त्वमसि' (छा० उप० ६।८।७) अद्वैत की अभिव्यक्ति करते है, किन्तु मध्वाचार्य भी अपना द्वैत सिद्धान्त प्रतिपादित कर सके और उन्होने अपनी तर्कना से उपर्युक्त वचनो की व्याख्या की, और अपने को ही वेद का सच्चा व्याख्याता कहा तथा अद्वैत सिद्धान्त को प्रच्छन्न बौद्ध धर्म की सज्ञा देकर उसका तिरस्कार किया। किन्तु ऐसा करने मे किसी पक्ष को कोई यातनाएँ नही सहनी पडी। याज्ञवल्क्य (२।१९२) ने वणिक समुदायो (विदेशी व्यापारियो), पाषण्डियो (अन्य धर्मियो) तथा उनके जीवन-निर्वाह के ढगो की सुरक्षा के लिए राजा को उत्तरदायी ठहराया है। विभिन्न प्रकार के धार्मिक रूपो एव उनके आचारो तथा एक-दूसरे के सर्वथा विरुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तो के प्रति सहिष्णुता की भावना से एक दुर्बलता भी आती गयी है, यथा--इससे धार्मिक विश्वासो, रीतियो एव दार्शनिक मतो मे असख्य रूप-भेदो की सृष्टि होती गयी है, कई प्रकार के दोष उत्पन्न हो गये है जिनमे कुछ तो अत्यन्त गर्हित एव अस्वस्थ है।

कार्यान्वित किया जाये तो इसका तात्पर्य होगा सभ्यता की अचानक मृत्यु। अपने ग्रन्थ 'ऐक्विजिटिव सोसाइटी' (१९२१) मे श्री सी० एच० टॉनी ने दृढतापूर्वक यह कहा है कि ईसाई धर्म मे जो ईसाईपन था वह लगभग १७वी शती के उपरान्त समाप्त हो गया है (पृ० १२-१३)।

अध्याय ३४

विश्व-विद्या

ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे सभी धर्मशास्त्रकारो की सहमति है। ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे तर्क अथवा प्रमाण उपस्थित करने के काय मे कदाचित् ही कोई अभिरुचि उनकी ओर से प्रकट की गयी हो। ईसाई धर्मावलम्बियो ने सैकडो वर्षो तक ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे बहुत-से तर्क उपस्थित किये है। विलियम जेम्स ने अपने ग्रन्थ 'वैराइटीज आव रिलिजियस एक्स्पीरिएंस' (पृ० ४३७) मे उन तर्को को सक्षिप्त ढग से रखा है। इस व्यवस्थित विश्व को देखकर विश्वविद्या-सम्बन्धी प्रथम तर्क यह उपस्थित होता है कि इसका **प्रथम कारण** ईश्वर है, जिसको कम-से-कम इतनी पूर्णता अवश्य प्राप्त है जितनी इस विश्व मे विद्यमान है। हेतु-विद्या-विषयक तर्क यह हे कि स्वय प्रकृति के पीछे एक उद्देश्य या हेतु या अभिप्राय हे, जिसके आधार पर ऐसी परिकल्पना सार्थक है कि **प्रथम कारण** (अर्थात् ईश्वर) अवश्य ही एक निर्माणकारी बुद्धि या मन हे। तब अन्य तर्क भी आ उपस्थित होते ह, यथा 'नैतिक तर्क' (नैतिक कानून अथवा नैतिक व्यवस्था के पीछे कोई-न-कोई कानून या व्यवहार का पणेता अथवा व्यवस्था देने वाला अवश्य होता है), 'एक्स कासेसू जेण्टियम का तर्क (अर्थात् सारे ससार मे ईश्वर के विषय मे विश्वास फैला हुआ है, और यह बात यो ही नही हे, इसमे कुछ वजन है अर्थात् इसका कुछ अर्थ होना चाहिए)।[1]

१ और देखिए डब्लू० एफ्० वेस्टावेकृत 'ऑब्सेसस एण्ड कन्विक्शस आव दि ह्यूमन इण्टेलेक्ट' (ब्लैकी एण्ड सस, १९३८) जिसमे जेम्स की चार बातो मे एक पाँचवी बात जोड दी गयी हे, यथा—सत्त्वविद्या-सम्बन्धी तर्क (आण्टॉलॉजिकल आर्गूमेण्ट—ईश्वर के विषय मे भावना या धारणा ईश्वर के अस्तित्व को आवश्यक बना देती है), पृ० ३७८-८०। विलियम जेम्स ने, 'प्रैग्मैटिज्म' (पृ० १०९, १९१० सस्करण) मे लिखा है कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे प्रमाण या साक्ष्य व्यक्तिगत आन्तरिक अनुभूति मे पाया जाता है। श्री वेस्टावे (पृ० ३७४) ने स्पष्ट उत्तर दिया है कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे कोई प्रमाण नही हे, किन्तु (पृ० ३८७) उन्होने स्वीकार किया हे कि उद्देश्य (प्रयोजन या अभिप्राय या अर्थ) सम्बन्धी तर्क से एक सम्भावना की अत्यन्त ऊँची मात्रा उठ खडी होती है और उन्होने विश्वास किया है कि यह विश्व कोई दैवयोग घटना मात्र नही है, जैसा कि कुछ दार्शनिको ने विश्वास प्रकट किया हे। ईश्वर के अस्तित्व के लिए उपस्थित उद्देश्य का तर्क विकासवादी सिद्धान्त द्वारा खण्डित हो चुका है। यदि प्रत्येक वस्तु के पीछे कोई कारण हे तो, ऐसा तर्क उपस्थित किया जाता हे कि ईश्वर के पीछे भी तो कोई कारण होना चाहिए। और यह कुछ लोगो द्वारा उपस्थित किया जाता हे कि इस कल्पना के पीछे कोई तर्क नहीं है कि विश्व का कोई आरम्भ भी था। कुमारिल ऐसे मीमासको ने ऐसा मत प्रकाशित किया है। एच्० जी० वेल्स ने अपने ग्रन्थ 'यू काण्ट बी टू केयरफुल' (लण्डन १९४२, पृ० २८२) मे मत प्रकाशित किया है कि ईश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वविश्वव्यापकत्व एव सर्वशक्तित्व से सम्बन्धित विचार का अवश्य त्याग हो जाना चाहिए, क्योकि ये, उनके मत से, असगत स्थापनाएँ है। दूसरी ओर डा० एफ्० डब्लू० जोस ने अपने ग्रन्थ 'डिजाइन एव परपज' (लण्डन,

उपनिषदो ने परम ब्रह्म को भूतो (जीवो या तत्त्वो या दोनो) का स्रष्टा, पोषक एव सहारक माना है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीयोपनिषद् (३।१, भृगु अपने पिता वरुण द्वारा उपदेशित किये गये हैं) मे आया है[२]—'यह जानने की इच्छा करो कि किससे सभी भूत उत्पन्न होते ह, उत्पन्न हो जाने के उपरान्त किसके द्वारा वे जीते हैं (पालित-पोषित) होते ह तथा किसमे वे पुन लौट जाते हे और उसमे समा जाते ह, वह ब्रह्म हे।' यह वह आधार-भूत वचन है जिस पर वे० सू० (१।१।२, 'जन्माद्यस्य यत') आधृत हे। इसका अर्थ हे 'जिससे इस (विश्व) का जन्म (सृष्टि, जीवन एव विलयन) होता है' (वही ब्रह्म है)। तैत्तिरीयोपनिषद् (२।१) मे पुन आया हे—'इस आत्मा से आकाश निकला, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ (वृक्ष-पौधे), ओष-धियो से भोजन तथा भोजन से मनुष्य।' छान्दोग्योपनिषद् (३।१४।१) मे भी आया है[३]—'यह सभी, वास्तव मे, ब्रह्म है, मनुष्य को, मन का नियन्त्रण करके उस (विश्व) पर, उससे उत्पन्न होता हुआ समझ कर, उसी मे (ब्रह्म मे) समाप्त हुए तथा साँस लेते हुए, ध्यान करना चाहिए।' यह वे० सू० (१।२।१, सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्) का आधार है। यहाँ ब्रह्म की तीन उपाधियाँ ह विश्व का स्रष्टा, पालक एव सहारक।

बादरायण के वेदान्तसूत्र मे आगे आया है कि ब्रह्म के सत्य ज्ञान के लिए शास्त्र ही उपकरण है (शास्त्र-योनित्वात्, वे० सू० १।१।३)। इसके विरोध मे कि वेद का सम्बन्ध कृत्यो (क्रिया-सस्कारो) से हे, इसके कुछ भाग केवल क्रियाओ की प्रशसा के लिए ह, वैदिक मन्त्र यज्ञकर्ता को केवल यज्ञ के कतिपय अगो का स्मरण दिलाते हे, अत वेदान्त वचनो का या तो कोई उद्देश्य ही नही हे या अधिक-से-अधिक वे यज्ञकर्ता के आत्मा के विषय मे सूचना दे देते हे या पूजित होने वाले देवता के बारे मे बतला देते हे, वेदान्तसूत्र (१।१।४, तत्तु समन्वयात्) द्वारा उत्तर दिया जाता हे, जिसका अर्थ यह है कि वेदान्त वचन इस विषय मे स्वीकार करते ह कि उनका तात्पर्य हे उस ब्रह्म की स्थापना करना जो वे० सू० (१।१।२) मे इस विश्व के स्रष्टा, पालक एव सहारकर्ता के रूप मे परिकल्पित है और जिसका स्वरूप वैसा है और जो सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान् हे।

१९४२) मे मत उपस्थित किया है कि बहुत-से लोग इस विश्वास को छोड रहे है कि यह विश्व एक व्यवस्थित अस्तित्व है और बहुत-से लोगो ने मानव-जीवन के उद्देश्य के विश्वास को त्याग दिया हे (पृ० १३)। प्रयोजनवादी अथवा उद्देश्यवादी तर्क उस व्यक्ति के विश्वास को शक्तिशाली बना सकता हे, जो ईश्वर मे पहले से विश्वास करता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह उस व्यक्ति मे, जो वैसा मत नही रखता, अर्थात् जो ईश्वर मे विश्वास नही करता, ईश्वर के प्रति विश्वास नही उत्पन्न कर सकता। एबेल जोस ने अपने ग्रन्थ 'इन सर्च आव ट्रुथ' (१९४५) मे कहा हे कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे जो तीन प्रमुख तर्क उपस्थित किये जाते हे वे हे—विश्वविद्याविषयक (कॉस्मोलॉजिकल), हेतुविद्याविषयक (टेलियोलॉजिकल) एव सत्त्वविद्याविषयक (ऑण्टॉलॉजिकल)।

२ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।। तै० उप० (३।१)।

३ सर्वं खल्विद ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। छा० उप० (३।१४।१)। ब्रह्म के लिए प्रयुक्त 'तज्ज-लान्' शब्द विलक्षण हे, शकराचार्य ने इसे इस प्रकार समझाया हे 'तज्जलानिति। तस्माद् ब्रह्मणो जात तेजोबन्नादि-क्रमेण सर्वम्। अतस्तज्जम्। तथा तेनैव जननक्रमेण प्रतिलोमतया तस्मिन्नेव ब्रह्मणि लीयते तदात्मतया श्लिष्यते इति तल्लम्। तथा तस्मिन्नेव स्थितिकाले अनिति प्राणिति चेष्टते इति। और देखिए छा० उप० (१।९।१) सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाश प्रत्यस्त यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान्। आकाश परायणम्।

अध्याय ३४

विश्व-विद्या

ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे सभी धर्मशास्त्रकारो की सहमति है। ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे तर्क अथवा प्रमाण उपस्थित करने के काय में कदाचित् ही कोई अभिरुचि उनकी ओर से प्रकट की गयी हो। ईसाई धर्मावलम्बियो ने सैकडो वर्षो तक ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे बहुत-से तर्क उपस्थित किये है। विलियम जेम्स ने अपने ग्रन्थ 'वैराइटीज आव रिलिजियस एक्स्पीरिएस' (पृ० ४३७) मे उन तर्कों को सक्षिप्त ढग से रखा है। इस व्यवस्थित विश्व को देखकर विश्वविद्या-सम्बन्धी प्रथम तर्क यह उपस्थित होता है कि इसका **प्रथम कारण** ईश्वर है, जिसको कम-से-कम इतनी पूर्णता अवश्य प्राप्त है जितनी इस विश्व मे विद्यमान है। हेतु-विद्या-विषयक तर्क यह है कि स्वय प्रकृति के पीछे एक उद्देश्य या हेतु या अभिप्राय है, जिसके आधार पर ऐसी परिकल्पना सार्थक है कि **प्रथम कारण** (अर्थात् ईश्वर) अवश्य ही एक निर्माणकारी बुद्धि या मन है। तब अन्य तर्क भी आ उपस्थित होते है, यथा 'नैतिक तर्क' (नैतिक कानून अथवा नैतिक व्यवस्था के पीछे कोई-न-कोई कानून या व्यवहार का प्रणेता अथवा व्यवस्था देने वाला अवश्य होता है), 'एक्स कासेसू जेण्टियम का तर्क (अर्थात् सारे ससार मे ईश्वर के विषय मे विश्वास फैला हुआ है, और यह बात यो ही नही है, इसमे कुछ वजन है अर्थात् इसका कुछ अर्थ होना चाहिए)।[1]

१ और देखिए डब्लू० एफ्० वेस्टावेकृत 'ऑब्सेसस एण्ड कन्विक्शस आव दि ह्यूमन इण्टेलेक्ट' (ब्लैकी एण्ड सस, १९३८) जिसमे जेम्स की चार बातो मे एक पाँचवी बात जोड दी गयी है, यथा—सत्त्वविद्या-सम्बन्धी तर्क (आण्टॉलॉजिकल आर्गूमेण्ट—ईश्वर के विषय मे भावना या धारणा ईश्वर के अस्तित्व को आवश्यक बना देती है), पृ० ३७८-८०। विलियम जेम्स ने, 'प्रैग्मैटिज्म' (पृ० १०९, १९१० सस्करण) मे लिखा है कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे प्रमाण या साक्ष्य व्यक्तिगत आन्तरिक अनुभूति मे पाया जाता है। श्री वेस्टावे (पृ० ३७४) ने स्पष्ट उत्तर दिया है कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे कोई प्रमाण नही है, किन्तु (पृ० ३८७) उन्होने स्वीकार किया है कि उद्देश्य (प्रयोजन या अभिप्राय या अर्थ) सम्बन्धी तर्क से एक सम्भावना की अत्यन्त ऊँची मात्रा उठ खडी होती है और उन्होने विश्वास किया है कि यह विश्व कोई दैवयोग घटना मात्र नही है, जैसा कि कुछ दार्शनिको ने विश्वास प्रकट किया है। ईश्वर के अस्तित्व के लिए उपस्थित उद्देश्य का तर्क विकासवादी सिद्धान्त द्वारा खण्डित हो चुका है। यदि प्रत्येक वस्तु के पीछे कोई कारण है तो, ऐसा तर्क उपस्थित किया जाता है कि ईश्वर के पीछे भी तो कोई कारण होना चाहिए। और यह कुछ लोगो द्वारा उपस्थित किया जाता है कि इस कल्पना के पीछे कोई तर्क नहीं है कि विश्व का कोई आरम्भ भी था। कुमारिल ऐसे मीमासको ने ऐसा मत प्रकाशित किया है। एच्० जी० वेल्स ने अपने ग्रन्थ 'यू काण्ट वी टू केयरफुल' (लण्डन १९४२, पृ० २८२) मे मत प्रकाशित किया है कि ईश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वविश्वव्यापकत्व एव सर्वशक्तित्व से सम्बन्धित विचार का अवश्य त्याग हो जाना चाहिए, क्योकि ये, उनके मत से, असगत स्थापनाएँ है। दूसरी ओर डा० एफ्० डब्लू० जोस ने अपने ग्रन्थ 'डिजाइन एव परपज' (लण्डन,

उपनिषदो ने परम ब्रह्म को भूतो (जीवो या तत्त्वो या दोनो) का स्रष्टा, पोषक एव सहारक माना है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीयोपनिषद् (३।१, भृगु अपने पिता वरुण द्वारा उपदेशित किये गये है) मे आया है[2]—'यह जानने की इच्छा करो कि किससे सभी भूत उत्पन्न होते ह, उत्पन्न हो जाने के उपरान्त किसके द्वारा वे जीते है (पालित-पोषित) होते ह तथा किसमे वे पुन लौट जाते हे और उसमे समा जाते ह, वह ब्रह्म है।' यह वह आधार-भूत वचन हे जिस पर वे० सू० (१।१।२, 'जन्माद्यस्य यत') आधृत हे। इसका अर्थ हे 'जिससे इस (विश्व) का जन्म (सृष्टि, जीवन एव विलयन) होता है' (वही ब्रह्म हे)। तैत्तिरीयोपनिषद् (२।१) मे पुन आया है—'इस आत्मा से आकाश निकला, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ (वृक्ष-पौधे), ओषधियो से भोजन तथा भोजन से मनुष्य।' छान्दोग्योपनिषद् (३।१४।१) मे भी आया ह[3]—'यह सभी, वास्तव मे, ब्रह्म है, मनुष्य को, मन का नियन्त्रण करके उस (विश्व) पर, उससे उत्पन्न होता हुआ समझ कर, उसी मे (ब्रह्म मे) समाप्त हुए तथा साँस लेते हुए, ध्यान करना चाहिए।' यह वे० सू० (१।२।१, सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्) का आधार हे। यहाँ ब्रह्म की तीन उपाधियाँ ह विश्व का स्रष्टा, पालक एव सहारक।

बादरायण के वेदान्तसूत्र मे आगे आया हे कि ब्रह्म के सत्य ज्ञान के लिए शास्त्र ही उपकरण ह (शास्त्र-योनित्वात्, वे० सू० १।१।३)। इसके विरोध मे कि वेद का सम्बन्ध कृत्यो (क्रिया-सस्कारो) से हे, इसके कुछ भाग केवल क्रियाओ की प्रशसा के लिए हे, वैदिक मन्त्र यज्ञकर्ता को केवल यज्ञ के कतिपय अगो का स्मरण दिलाते हैं, अत वेदान्त वचनो का या तो कोई उद्देश्य ही नही हे या अधिक-से-अधिक वे यज्ञकर्ता के आत्मा के विषय मे सूचना दे देते है या पूजित होने वाले देवता के बारे मे बतला देते ह, वेदान्तसूत्र (१।१।४, तत्तु समन्वयात्) द्वारा उत्तर दिया जाता है, जिसका अर्थ यह है कि वेदान्त वचन इस विषय मे स्वीकार करते है कि उनका तात्पर्य हे उस ब्रह्म की स्थापना करना जो वे० सू० (१।१।२) मे इस विश्व के स्रष्टा, पालक एव सहारकर्ता के रूप मे परिकल्पित हैं और जिसका स्वरूप वैसा है और जो सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान् है।

१९४२) मे मत उपस्थित किया है कि बहुत-से लोग इस विश्वास को छोड रहे है कि यह विश्व एक व्यवस्थित अस्तित्व है और बहुत-से लोगो ने मानव-जीवन के उद्देश्य के विश्वास को त्याग दिया हे (पृ० १३)। प्रयोजनवादी अथवा उद्देश्यवादी तर्क उस व्यक्ति के विश्वास को शक्तिशाली बना सकता है, जो ईश्वर मे पहले से विश्वास करता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह उस व्यक्ति मे, जो वैसा मत नही रखता, अर्थात् जो ईश्वर मे विश्वास नहीं करता, ईश्वर के प्रति विश्वास नहीं उत्पन्न कर सकता। एबेल जोस ने अपने ग्रन्थ 'इन सर्च आव ट्रुथ' (१९४५) मे कहा है कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे जो तीन प्रमुख तर्क उपस्थित किये जाते हे वे हे—विश्वविद्याविषयक (कॉस्मोलॉजिकल), हेतुविद्याविषयक (टेलियोलॉजिकल) एव सत्त्वविद्याविषयक (ऑण्टॉलॉजिकल)।

२ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।। तै० उप० (३।१)।

३ सर्वं खल्विद ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। छा० उप० (३।१४।१)। ब्रह्म के लिए प्रयुक्त 'तज्ज-लान्' शब्द विलक्षण हे, शकराचार्य ने इसे इस प्रकार समझाया हे 'तज्जलाविति। तस्माद् ब्रह्मणो जात तेजोवन्नादि-क्रमेण सर्वम्। अतस्तज्जम्। तथा तेनैव जननक्रमेण प्रतिलोमतया तस्मिन्नेव ब्रह्मणि लीयते तदात्मतया श्लिष्यते इति तल्लम्। तथा तस्मिन्नेव स्थितिकाले अनिति प्राणिति चेष्टते इति। और देखिए छा० उप० (१।९।१) सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाश प्रत्यस्त यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान्। आकाश परायणम्।

वेदान्त के उद्घोषको के मनो मे प्रयोजन अथवा उद्देश्य-सम्बन्धी तर्क उपस्थित था, यह इस बात से प्रकट है कि वेदान्तसूत्र (२।२।१, 'सेनानूपपत्तेश्च नानुमानम्') ने इसे अस्वीकार किया है कि साख्य के प्रधान (जिसे अचेतन कहा गया है) से विश्व का कारण समझा जा सकता है।[४]

यह द्रष्टव्य है कि शकराचार्य के मत से जो सृष्टि-सम्बन्धी विस्तृत विवेचन जो उपनिषदो मे पाया जाता है उसे ज्यो-का-त्यो नही ग्रहण करना चाहिए, उस पर आवृत कोई विशिष्ट उद्देश्य नही प्राप्त होता और न ऐसा उद्देश्य श्रुति (वेद) द्वारा ही व्यवस्थित किया गया है, किन्तु उन सभी विवेचनो अथवा वक्तव्यो का तात्पर्य है ब्रह्म-ज्ञान की ओर बढना तथा ब्रह्म से जगत् की अभिन्नता घोषित करना।[५] अति आरम्भिक कालो से दार्शनिक लोग 'प्रथम सिद्धान्त' अर्थात् मूलतत्त्व या बीज तत्त्व के जो कि विश्व मे अन्तरस्थ है तथा उस सिद्धान्त के, जिसके अनुसार ईश्वर स्रष्टा एव सर्वोत्तम (परम) कहा जाता है, बीच दोलायमान रहे है। ऋग्वेद एव उपनिषदे, प्रथम सिद्धान्त की कल्पना करती सी प्रतीत होती है, जिसके अनुसार परम तत्त्व जब विश्व की सृष्टि करता है, उसी मे प्रवेश कर जाता है (तै० उप० २।६, 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्', छा० उप० ६।२।१, ६।३।२, बृह० उप १।४।१०)। वे भी ईश्वर को विश्व का शासन करते हुए प्रकट करती है (अन्तर्यामी, यथा—बृ० उप० ३।७, कौषीतकि उप० ३।८)। उन दिनो परमाणु-सिद्धान्त नही था। आरम्भिक यूनानी विचार भी इन्ही दो सिद्धान्तो के बीच दोलायमान था। आगे चलकर विश्व-विद्या का सिद्धान्त प्रचारित हुआ जिसमे अणुओ का विशेष महत्त्व था, जो डेमॉक्रिटस (मृत्यु ई० पू० ३७०) द्वारा, विलियम जेम्स के मतानुसार, उद्घोषित हुआ था तथा लुक्रेटियस द्वारा व्याख्यायित हुआ था। भारत मे भी वैशेषिको ने एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसके अनुसार विश्व परमाणुओ का पुञ्ज है। कणाद या कणभुक् (जो कणो, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थो को खाता है अर्थात् उन के विचार पर जीता है) को वैशेषिक सिद्धान्त का प्रवर्तक कहा जाता है। कणाद ने स्पष्ट रूप से ईश्वर के बारे मे कुछ नही कहा। किन्तु न्याय-वैशेषिक के पश्चात्कालीन लेखको ने ईश्वर एव परमाणुओ को एक मे मिला दिया। तर्कदीपिका (पृ० ९) ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार रखा है—जब ईश्वर सृष्टि करना चाहता है तो परमाणुओ मे क्रिया उत्पन्न हो जाती है, दो परमाणु मिल जाते है, द्व्यणुक (द्यद्) की उत्पत्ति होती है, त्र्यणुक की उत्पत्ति तीन द्व्यणुको से होती है और अन्त मे यह बडी पृथिवी उत्पन्न हो जाती है, सृष्ट पदार्थो को जब ईश्वर समाप्त कर देना चाहता है तो परमाणुओ मे क्रिया उत्पन्न हो जाती है। परमाणु नित्य है और सख्या मे अनन्त है।[६]

४ अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्नाचेतन जगत्कारणमनुमातव्य भवति। शाकरभाष्य (वे० सू० २।२।१)।

५ वैदिक वचनो मे पायी जाने वाली विश्व-विद्या के विषय मे निम्नलिखित ग्रन्थ पढे जा सकते है एच्० डब्लू० वालिस कृत 'कॉस्मॉलॉजी आव दि ऋग्वेद' (१८८७), मेक्डॉनेल कृत 'वैदिक माइथोलॉजी' (पृ० ८-१५), ए० एस्० गेडेन द्वारा अनूदित 'फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्स' (१९०६, पृ० १८०-२५३), ए० बी० कृत 'रिलिजन एण्ड फिलॉसॉफी आव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स' (पृ० ५७०-५८४)। अभी हाल मे मिल्टन के० म्यूनिज ने 'थ्योरीज आव दि यूनिवर्स' नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराया है (फ्री प्रेस, ग्लेंको, १९५७) जिसमे बेबिलोनिया से लेकर सभी देशो तथा आज के विज्ञान मे पायी जाने वाली विश्व-विद्याओ का उल्लेख है। किन्तु भारतीय सामग्री से कोई लाभ नहीं लिया गया है।

६ ईश्वरस्य चिकिर्षावशात्परमाणुषु क्रिया जायते। तत परमाणुद्वय सयोगे सति द्व्यणुकमुत्पद्यते त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकम। एव चतुरप्रकादिक्रमेण महती पृथिवी वायु-रुत्पद्यते। एवमुत्पन्नस्य कार्यद्रव्यस्य सञ्जिहीर्षावशात् परमाणुषु क्रिया। तर्कदीपिका (पृ० ९, अथल्ये का द्वितीय सस्करण, १९१८)।

यद्यपि धर्मशास्त्रकारो ने एक मत से सार्वभौम रूप से ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे अपनी स्वीकृति दी थी, तथापि ईश्वर के नामो, स्वरूप एव उपाधियो के विषय मे विभिन्न मत थे। ऐसी ही वात पश्चिम मे भी थी।[७] अधिकाश लोगो ने यही माना कि ईश्वर एक है, उसके बराबर कोई अन्य नही, वह आध्यात्मिक (दैहिक नही, यद्यपि बहुत-से लोगो ने उसे शिव या विष्णु या देवी के रूप मे पूजा), निर्विकार (निर्विकल्प, अपरिवर्तनीय), सर्वगत (सर्वात्मक, सर्वव्यापी), सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्रष्टा, पूत, सत् एव न्यायकर्ता आदि है। ईश्वर के विश्वास के विषय मे कठिन प्रश्न उठते है। दो-एक का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—क्या ईश्वर पूर्णरूप से, जैसा कहा गया है, वैसा ही सर्वज्ञ है, अर्थात् वह जो चाहे कर सकता है या कुछ बाते वह नही भी कर सकता है? दूसरा प्रश्न यो है—'क्या उसके अतिरिक्त जितनी वस्तुएँ है वे सब उसके द्वारा निर्मित हुई है या कुछ ऐसी भी वस्तुएँ है जो ईश्वर के समान ही चरम या अनन्त है? सभी धर्म कठिनाइयो से आपन्न है अत धर्म विश्वास पर ही आधृत है।

यद्यपि ऋग्वेद विभिन्न देवो (यथा—अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, सोम) के कृत्यो एव स्तुतियो से परिपूर्ण है, तथापि इसमे कुछ ऐसे स्तोत्र एव मन्त्र है जो यह प्रकट करते है कि 'मौलिक सिद्धान्त' अर्थात् मूल तत्त्व या बीज तत्त्व केवल एक ही है, जो अपने मे से ही विश्व की सृष्टि करता है, उसमे प्रविष्ट होता है और उसे प्रेरित करता है। ऋ० (१।१६४।४६) मे ऋषि ने कहा है—'विप्र एक को (सिद्धान्त या 'प्रिंसिपुल' अर्थात् मूल तत्त्व या बीज तत्त्व को) कई नामो से कहते है, वे उसे अग्नि, यम, मातरिश्वा (वायु देव) के नाम से पुकारते है।' यह कोई अकेला मन्त्र नही है। इसी के समान कई अन्य मन्त्र भी है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद (८।५८।२, वालखिल्य स्तोत्रो मे एक) मे आया है—'एक ही अग्नि कई स्थानो मे प्रज्ज्वलित होती है, एक ही सूर्य सम्पूर्ण ससार मे चमकता है, एक ही उषा सम्पूर्ण विश्व के ऊपर ज्योतित होती है और एक ही (मूल तत्त्व या आत्मा) यह सब हुआ (अर्थात् एक ही से इतने प्रकट हुये)।' ऋ० (१०।९०।२) मे ऐसा घोषित है 'जो हो चुका है, और जिसका भविष्य मे अस्तित्व होगा (दोनो) यह सम्पूर्ण विश्व, वास्तव मे, केवल पुरुष है।' ऋ० (२।१।३-७) मे अग्नि को इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, वरुण, मित्र, आर्यमा, त्वष्टा, रुद्र, द्रविणोदा, सविता एव भग कहा गया है। ये सभी श्लोक यह स्थापित करते है कि अन्ततोगत्वा यह अनेकता केवल शब्दो का खेल है, केवल नाम है ('वाचारम्भण विकारो नामधेयम्', जैसा कि छा० उप० ६।१।४ मे आया है) तथा एकता ही केवल वास्तविकता है और ऐसा प्रकट होता है कि उपनिषदो की मूल शिक्षा का बीज ऋग्वेद मे विद्यमान है।

ऋग्वेद के दसवे मण्डल (१०।७२, १०।८१ एव ८२, १०।९०, १०।१२१, १०।१२९) मे विश्व की उत्पत्ति के विषय मे कई स्तोत्र है। स्थानाभाव से हम सबका उद्धरण नही दे पायेगे, केवल कुछ महत्वपूर्ण वचन ही उल्लि-

७ प्रसिद्ध वैज्ञानिक एव साहित्यकार श्री जीस ने अपने ग्रन्थ 'मिस्टीरियस युनिवर्स' (कैम्ब्रिज, १९३१) मे कहा है कि पश्चिम मे 'इस विश्व का निर्माता (विधायक) एक शुद्ध गणितज्ञ के समान प्रकट होता है' (पृ० १३४)। आइंस्टीन ने, जो आधुनिक काल के सबसे बडे वैज्ञानिक कहे जाते रहे है, न्यूयॉर्क के रब्बी एच् एस्० गोल्डस्टीन (जिसने तार से पूछा था 'क्या आप ईश्वर मे विश्वास करते है?) को लौटते तार से उत्तर दिया था कि 'मै स्पिनोजा के ईश्वर मे विश्वास करता हूँ, जो अपने को पदार्थो की समरसता मे अभिव्यक्त करता है, उस ईश्वर मे नहीं जो मनुष्यो के कर्मो की नियति से अपना सम्बन्ध रखता है।' अपने ग्रन्थ 'आउट आव माई लेटर इयर्स' मे उन्होने मत प्रकाशित किया है कि विज्ञान एव धर्म का प्रमुख सघर्ष व्यक्तिगत ईश्वर की धारणा से सम्बन्धित है। और देखिए, ई० डब्लू० मार्टिन द्वारा सम्पादित विस्काउण्ट सैमुयल का भाषण 'इन सर्च आव फेथ' (पृ० ७८), जहाँ विश्व एव ईश्वर के सम्बन्ध के विषय मे चार मत प्रकाशित किये गये है।

खित किये जायेंगे। १०।७२ का प्रमुख प्रयोजन है, 'आठ आदित्यो के जन्म का उल्लेख करना।' ऋ० (१०।७२।२) मे आया हे कि ब्रह्मणस्पति ने शिल्पी (जो भाथी से काम करता हे, यथा लोहकार) की भाँति देवो को जन्म दिया और देवो के पूर्व कालो मे असत् से सत् की उत्पत्ति हुई।[८] ऋ० (१०।७२।४-५ एव ८) मे ऐसा आया हे कि दक्ष की उत्पत्ति अदिति से हुई और अदिति की दक्ष से, और देव उस (अदिति) से उत्पन्न हुये और अदिति से आठ पुत्र उत्पन्न हुए । १०।८१ एव ८२ नामक दो सूत्र विश्वकर्मा की चर्चा करते है, जिसने लोगो की सृष्टि की। १०।८१।२ एव ४ मे प्रश्न आये ह 'आधार (जिससे उसने विश्व रचा) क्या था ? सामग्री (जिससे उसने पृथिवी वनायी) क्या थी ? वह वन एव वृक्ष क्या था जिससे स्वर्ग एव पृथिवी का तक्षण हुआ ?' तीसरे श्लोक मे एक ईश्वर का वर्णन यो है 'वह एक ईश्वर जो चारो ओर देखता हे, जिसका मुख सभी दिशाओ मे घुमा हुआ हे, जिसके हाथ एव पैर सभी स्थानो मे है, जो स्वर्ग एव पृथिवी को वनाते हुए अपने (दोनो) हाथो से उसी प्रकार आगे भेजते ह, जिस प्रकार भाथियो एव पखो से भेजा जाता है (जिस प्रकार एक पक्षी सचारित होता हे या आगे वढाया जाता हे)।' ऋग्वेद का यह स्तोत्र (१०।९०, जिसमे १६ श्लोक हे) वहुत प्रसिद्ध है और **पुरुषसूक्त** कहलाता है । इसमे सहस्रो शिरो, नेत्रो एव पैरो वाले पुरुष (जिसे सायण ने आदि पुरुष कहा है) के रूप मे परम स्रष्टा की कल्पना की गयी है और कहा गया है कि जो कुछ अस्तित्व मे आ चुका है और जो कुछ आने वाला है वह **पुरुष** है। पुरुष से विराट् की उत्पत्ति हुई, विराट् से (जिसे दूसरा पुरुष कह सकते ह) उस पुरुष (हिरण्यगर्भ) की उद्भूति हुई। जिसे देवो ने एक प्रतीकात्मकयज्ञ के रूप मे हवि (आहुति या पशु) दी, जिसमे वसन्त, ग्रीष्म एव शरद् तीन ऋतुएँ क्रम से घृत, ईधन एव हवि हे। सम्भवत यह सूक्त उस समय प्रणीत हुआ या जव, प्रतीत होता है, यह दृढ विश्वास हो गया था (जैसा शत० ब्रा० ५।२।४।७, ६।१।१।३ एव तै० स० ७।४।२।१ मे) आया हे कि यज्ञ या तप के बिना कुछ भी उपलब्ध नही किया जा सकता है। इस सूक्त मे पुन आया है कि उस आदियज्ञ से सभी पशु (घोडे गाय आदि), चारो वर्ण, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वेद, स्वर्ग एव पृथिवी की उत्पत्ति हुई। अथर्ववेद (१९।६) मे भी ऐसे १६ मन्त्र है। प्रथम पन्द्रह पुरुषसूक्त के समान हे, किन्तु मन्त्र-क्रमो मे अन्तर हे, और कुछ शब्दो मे भी अन्तर है। वाजसनेय सहिता (३१) मे पुरुषसूक्त के सभी मन्त्र है, प्रत्युत पाँच अन्य मन्त्र एव एक गद्याश भी अन्त मे

८ ब्रह्मणस्पतिरेता स कर्मार इवाधयत्। देवाना पूर्व्ये युगेऽसत ॥ ऋ० (१०।७२।२) यहाँ पर 'असत्' को 'अविकसित' (अव्यक्त) के अर्थ मे लेना चाहिए न कि 'जिसका अस्तित्व न हो' के अर्थ मे। बृह० उप० (१।४।७) का कथन हे 'यह सब तव (सृष्टि के प्रारम्भ होने के पूर्व) अविकसित (अव्यक्त) था और यह नाम एव रूप मे विकसित (व्यक्त हुआ)।' इसी प्रकार तै० उप०(२।७)मे ऐसा कहा गया है—'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत।' किन्तु छा० उप० (६।२।१-२) मे दृढतापूर्वक कहा गया है—"आरम्भ मे केवल वही था, जो सत् था, केवल वही जिसका कोई दूसरा नही था, कुछ लोग कहते है 'आरम्भ मे, केवल वही था, जो असत् था, जिससे सत् निष्पन्न हुआ,' किन्तु यह कैसे हो था, किस प्रकार सत् (जो हे) असत् (जो नही है) से उत्पन्न हो सकता था ? यह सत् ही था जो आरम्भ मे था, जिसके समान कोई दूसरा नही था। इसने विचारा 'क्या मै अनेक हो सकता हूँ, क्या मै उत्पन्न कर सकता हूँ,' इसने अग्नि आदि उत्पन्न की।" शकराचार्य (वे० सू० १।४।१५) ने तै० उप० (२।७) के 'असद् वा इदमग्र आसीत्' एव छा० उप० (३।१९।१) के 'असदेवरमग्र आसीत्' की ओर सकेत किया है और इस वात को समझाया हे कि इन वचनो मे असत् का क्या अर्थ हे, यथा—'नामरूपव्याकृतवस्तुविषय सच्छब्द प्रसिद्ध इति तद्व्याकरणाभावापेक्षया सदेव ब्रह्मासदिवासीदित्युपचर्यते।'

सम्मिलित कर लिया गया है। ऋ० (१०।१२१।१) ने घोषित किया है[9] कि आरम्भ में हिरण्यगर्भ (सोने के एक अण्ड) की उत्पत्ति हुई, और १०वें मन्त्र में उसकी तुलना प्रजापति से की गयी है तथा ८वें एवं १०वें मन्त्र घोषित करते हैं कि उसके द्वारा जलों की उत्पत्ति हुई जिनसे हिरण्यगर्भ (सोने का अण्ड) निष्पन्न हुआ, जो स्वयं प्रजापति था। ऋग्वेद का १०।१२५ सूक्त वाक् के मुख से कहा गया है जिसमें वाक् को शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है जो देवों से भी ऊँची है और निर्माण करने वाली है। आठ मन्त्रों में तीन का अनुवाद नीचे दिया जाता है—'मैं रुद्रों एवं वसुओं तथा आदित्यों एवं विश्वदेवों के साथ घूमती हूँ, मैं दोनों मित्र एवं वरुण, इन्द्र एवं अग्नि तथा दोनों अश्विनों को आश्रय देती हूँ। मैं रुद्र का धनु ब्रह्म (पवित्र स्तुति) से घृणा करने वाले शत्रु को मारने के लिए तानती हूँ। मैं मनुष्यों में युद्ध भड़काती हूँ। मैंने द्यावा (स्वर्ग) एवं पृथिवी में प्रवेश किया। मैं सभी लोकों को उत्पन्न करती हुई वायु के समान चलती हूँ। मैं द्यावा (स्वर्ग) के ऊपर हूँ एवं पृथिवी के ऊपर हूँ। अपनी महत्ता (शक्ति) से मैं ऐसी हो सकी हूँ।' यह कहा जा सकता है कि ऋषि ने यहाँ केवल सामान्य वाणी या भाषा की ही ओर संकेत नहीं किया है, प्रत्युत उस धारणा की ओर संकेत किया है जिसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि शब्द में निर्माणात्मक शक्ति है और वह ईश्वर के साथ एक है या ब्रह्म द्वारा उच्चरित विचार है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का १२९ वाँ सूक्त (जो आरम्भिक शब्दों के कारण 'नासदीय सूक्त' कहलाता है) एक विलक्षण सूक्त है। इसके बहुत-से मन्त्र अब भी निगूढ एवं क्लिष्ट हैं, जिनका अर्थ निकालने में प्रसिद्ध विद्वानों के दाँत खट्टे हो गये हैं।[10] इस सूक्त में मूल तत्त्व (बीज तत्त्व या 'फर्स्ट प्रिंसिपल') को कोई संज्ञा नहीं दी गयी

९ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। ऋ० (१०।१२१।१)। तै० सं० (५।५।१।२) में आया है 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे इत्याधारमाधारयति प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपत्वाय।' य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० (१०।१२१।२) 'वह जीवन एवं बल देता है, जिसकी आज्ञाएँ सभी देवों द्वारा सम्मानित होती हैं, जिसकी छाया अमरता है और मृत्यु भी, यह कौन देव है जिसकी पूजा हम अन्य आहुतियों से करते हैं (या हम किस देव को हवियों के साथ पूजा दें?)।

१० नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥ तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥ ऋ० (१०।१२९।१-७) शतपथब्राह्मण (१०।५।३।१-२) ने इस सूक्त की ओर एक मनोरम संकेत किया है—नेव वा इदमग्रेऽसदासीन्नेव) सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत्तद्ध तन्मन एवास। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्। नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमिति नेव हि सन्मनो नेवासत् तदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत्। इस ब्राह्मण ने यह स्पष्ट किया है कि यह (विश्व) न तो पहले असत् था और न सत् और इसने आगे कहा है—'प्रारम्भ में यह (विश्व), जैसा कि इसका अस्तित्व था, नहीं था। उस समय केवल मन था और वह मन मानो न तो सत् था और न असत्।' यह द्रष्टव्य है कि भागवतपुराण (२।९।३२-३६) ने भगवान् के विषय कहा है कि वे गुह्य सत्य की ओर संकेत करते हैं। इसका ३२वाँ श्लोक ऋग्वेद (१।१२९।१) का स्मरण दिलाता है—'अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्। पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥'

है और न उसे स्रष्टा (या निर्माणकर्ता) ही कहा गया है, केवल उसे 'तदेकम्' कहा गया है, जैसा कि उपनिषदो मे आया है (छा० उप० ६।१।१-२, 'तत्त्वमसि' या 'एकमेवाद्वितीयम्')। महत्त्वपूर्ण एव अपेक्षाकृत स्पष्ट मन्त्र यहाँ अनूदित किये जा रहे है—'उस समय न तो असत् (जो नही है, अर्थात् जिसका अनस्तित्व है) था और न सत् (जो है, अर्थात् जिसका अस्तित्व है), न आकाश था और न स्वर्ग जो बहुत दूर है, वह क्या था जिसने सबको आवृत कर रखा था ? वह कहाँ और किसके आश्रय मे था ? क्या गम्भीर एव गहन (अतलस्पर्शी) जल था ?, (२) मृत्यु नही थी, अत कुछ भी अमर नही था, रात्रि एव दिन मे कोई चेतना (अन्तर) नही थी, वायु नही थी, अपने स्वभाव (शक्ति) से ही लोग साँस लेते थे, वास्तव मे, उसके अतिरिक्त कुछ भी नही था, (४) इच्छा (काम) प्रकट हुई, वह मन का प्रथम प्रवाह (बीज, सन्तति) था, (५) (जब यह सृष्टि प्रकट हुई तो) इसे सीधे ढग से (स्पष्ट या सरल ढग से) कौन जानता है, और कौन इसकी उद्घोषणा कर सकता है कि यह (वहाँ पर) कहाँ से आयी ?, (६) जिससे यह सृष्टि हुई, चाहे उसने इसे बनाया या नही बनाया, और सर्वोच्च (परम) व्योम मे। इसका सर्वोच्च अध्यक्ष है, क्या वह वास्तव मे जानता है या वह भी नही जानता है !?'

यह अवलोकनीय है कि इस सूक्त के ऋषि ने, जो कवि एव दार्शनिक था, उद्घोषित किया कि वह एक था, जो सभी देवो, दशाओ एव सीमाओ से ऊपर था, उसने (ऋषि ने) विश्व की सृष्टि के पूर्व की स्थिति के विषय मे अपनी धारणा व्यक्त की है। रात्रि एव दिन, मृत्यु एव अमरता द्वन्द्व कहे जाते है। इनका अस्तित्व तभी होता है जब सृष्टि हो गयी रहती है और इसी से ऋषि ने कहा है—'न तो मृत्यु थी और न कोई अमरता (थी)।' यह सूक्त यह नही कहता कि पहले असत् था और उससे सत् की उद्भूति हुई। इसके कहने का अभिप्राय यही है कि केवल वही अकेला साँस लेता था, द्वन्द्व, सत् (अस्तित्व) एव असत् (अनस्तित्व) का अस्तित्व ही नही था। इस सूक्त के अनुवादो एव टिप्पणियो के लिए देखिए मैक्समूलर कृत 'हिस्ट्री आव ऐश्येण्ट सस्कृत लिटरेचर' (१८५९), पृ० ५३९-५६६ एव 'सिक्स सिस्टेम्स आव इण्डियन फिलॉसॉफी' (१९१९ का सस्करण), पृ० ४९-५२, डा० राधाकृष्णन कृत 'इण्डियन फिलॉसॉफी' (१९२३, खण्ड १) पृ० १००-१०४। प्रो० ह्विटनी (प्रोसीडिंग्स आव अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी, खण्ड ११, पृ० ६१) ने अपनी विशिष्ट अत्युद्धत प्रणाली मे टिप्पणी की है कि इस सूक्त के विषय मे जो प्रशसा-सूत्र गाये गये है वे उन्हे बहुत बुरे लगते है। ड्यूसन ने ह्विटनी के कुत्सात्मक लेख के बहुत दिनो के उपरान्त लिखा है—'अपनी उत्कृष्ट सरलता एव दार्शनिक दृष्टि की महत्ता मे, सम्भवत यह प्राचीन काल के दर्शन-शास्त्र का अत्यन्त प्रशसनीय एव श्लाघ्य अश है,' 'कोई अनुवाद इसके मूल अश की सुन्दरता के बराबर नही आ सकता' (देखिए ब्लूमफील्ड कृत 'दि रिलिजिन आव दि वेद', पृ० २३४, १९०८ का सस्करण)। और देखिए कीथकृत 'रिलिजिन एण्ड फिलॉसॉफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स' (खण्ड २, पृ० ४३५-४३६)। ऋग्वेद के कई वचनो मे विभिन्न देव स्रष्टा के रूप मे वर्णित है। देव प्रजापति ने, ऐसा कहा गया है, स्वर्ग एव पृथिवी की रचना की, जो चौडी, गहरी और सुन्दर ढग से निर्मित है और उन्हे अपनी शक्ति द्वारा बिना किसी आश्रय के आगे बढा दिया है अर्थात् उन्हे गति दी है (देखिए ऋ० ४।५६।३)। इन्द्र ने सूर्य एव उषा को बनाया, ऐसा कहा गया है (ऋ० २।१२।७) और उसने स्वर्ग को बिना स्थाणु (थून्ही) के आश्रय के टिका रखा है, और उसे आश्रय दिया है और पृथिवी को फैला दिया है (ऋ० २।१५।२)।

उपर्युक्त सूक्त उस काल की धारणा है जब विश्व के उद्भव के विषय मे कोई सामान्य ढग से स्वीकृत सिद्धान्त निरूपित नही हो सकता था। किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे, कम से कम कुछ वैदिक ऋषियो ने इस सिद्धान्त की स्थापना कर ली थी कि केवल एक ही 'प्रिंसिपुल' या 'स्पिरिट' (आत्मा या मूल

तत्त्व या बीज तत्त्व) था, जो विभिन्न नामो से पुकारा जाता था और उसने विश्व की रचना करनी चाही और उसे अपने मे से ही रचा।

उपर्युक्त सूक्त के मन्त्रो के अतिरिक्त, जिन्हे सृष्टिसूक्त की सज्ञा दी जा सकती है, ऋग्वेद मे कतिपय देवो द्वारा द्यावा (स्वर्ग) एव पृथिवी की रचना या आश्रय तथा अन्य पदार्थो की रचना के विषय मे निर्देश अथवा सकेत मिलते है।[11] ऋ० (१०।८९।४) मे इन्द्र को स्वर्ग एव पृथिवी से सभी दिशाओ मे वैसा ही निर्माण करने वाला कहा गया है जैसा कि धुरी पहियो के साथ करती है। ऋ० (१।१५४।४) मे विष्णु के विषय मे आया है कि वे अकेले ही तीनो को, यथा पृथिवी, स्वर्ग (एव अन्तरिक्ष) तथा सभी लोको को आश्रय (सहारा) देते है (या सँभालते है)। मित्र के बारे मे ऐसा आया है कि वह स्वर्ग एव पृथिवी को सँभालता है (ऋ० ३।५९।१) तथा सभी देवो को आलम्बन देता है (ऋ० ३।५९।८)। ब्रह्मणस्पति (स्तुति के पति या स्वामी, बृहस्पति) के विषय मे ऐसा आया है कि उसने लोहकार की भांति देवो को जन्म दिया देवो के आदि काल मे सत् की उत्पत्ति असत् से हुई।[12] ऋ० (६।४७।४) मे सोम के लिए आया है कि उसने पृथिवी की चौडाई, स्वर्ग की ऊँचाई बनायी तथा विस्तृत अन्तरिक्ष को सँभाला। ऋ० (२।४०, जो सोम एव पूषा को सम्मिलित रूप से सम्बोधित है) मे ऐसा आया है कि उनमे एक (सोम) ने सभी लोको (भुवनो) को उत्पन्न किया और दूसरा (अर्थात् पूषा, सूर्य) सम्पूर्ण विश्व के कामो को देखता या उनका निरीक्षण करता जाता है (मन्त्र ५)।

ऋग्वेद (७।७८।३) मे उषाओ (बहुवचन) को सूर्य, यज्ञ एव अग्नि की स्रष्टा कहा गया है, यह केवल लाक्षणिक है, क्योकि प्रत्येक उषा के उपरान्त सूर्य उदित होता है, यज्ञिय अग्नि प्रज्वलित की जाती है तथा यज्ञ किया जाता है। ऋ० (१।९६।२) मे अग्नि को मनुष्यो का पिता (पूर्वज) कहा गया है। ऋ० (२।३५।२) मे (अपा नपात्, जलो का पौत्र अर्थात् अग्नि) अग्नि को सभी लोको का स्रष्टा कहा गया है।

ऋग्वेद मे द्यावा-पृथिवी (स्वर्ग एव पृथिवी, युग्म देवो के रूप मे) के लिए ६ सूक्त है, यथा—१।१५९-१६०, १८५, ४।५६, ६।७० एव ७।६३, और उन्हे 'रोदसी' एव 'बहिने' (ऋ० १।१८५।५) कहा गया है। उन्हे देवो के जनक-जननी कहा गया है (ऋ० ८।९७।८, १०।२।७)।

'अन्तरिक्ष' (वायुमण्डलीय क्षेत्र) शब्द ऋग्वेद मे कम-से कम एक सौ बार आया है। कभी-कभी 'तिस्र पृथ्वी' जैसे शब्द-विन्यास आते हैं, जिनका अर्थ है पृथिवी के सहित तीन लोक (ऋ० १।३४।८), और कही-कही नीचे वाली, बीच वाली एव सबसे ऊपर वाली पृथिवी की चर्चा है (यद् इन्द्राग्नी अवमस्या पृथिव्या मध्यमस्या परमस्या उत स्थ। ऋ० १।१०८।९), जिसका अर्थ है पृथिवी, अन्तरिक्ष एव स्वर्ग। अन्तरिक्ष को बहुधा 'रजस्' (वह क्षेत्र, जहाँ धूल हो, कुहरा हो और जहाँ बादल हो) कहा गया है (ऋ० १।३५।२ एव ९)।

११ य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा। ऋ० १।१५४।४। 'त्रिधातु' शब्द ऋग्वेद मे कम-से-कम दो दर्जन बार प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका है। ऋ० (८।४०।१२) मे आया है—'त्रिधातुना शर्मणा पातमस्मान्' (तीन प्रकार की रक्षा से हमारी रक्षा करो), किन्तु 'त्रिधातु' रक्षा क्या है, कहना कठिन है।

१२ ब्रह्मणस्पतिरेता . सदजायत। ऋ० (१०।७२।२)। प्रथम मन्त्र (देवाना नु वय जाना प्रवोचाम विपन्यया) मे 'एता' शब्द 'जाना' (जन्मानि) की ओर सकेत करता है। 'सत्' एव 'असत्' के अर्थ के लिए देखिए पाद-टिप्पणी ८।

ऋ० (१।३५।६) मे ऐसा आया है—'तीन द्यौ' हैं (अर्थात् स्वर्ग, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी), दो (अर्थात् स्वर्ग एव पृथिवी) सविता की गोद मे हैं और एक (अर्थात् अन्तरिक्ष) यमलोक मे है। ऋषि ने ऋ० (१०।८५।१५) मे व्याख्या की है—'मैंने दो मार्गों के विषय मे सुना है, यथा—पितरो एव देवो का मार्ग तथा मनष्यो का भी, सम्पूर्ण लोक जो घूमता है उस (क्षेत्र) मे पहुँचता है जो पिता (स्वर्ग) एव माता (पृथिवी) के बीच मे है।'

वरुण के बारे मे कहा गया है कि उसने अन्तरिक्ष को वनो पर, सूर्य को स्वर्ग पर तथा सोम को पर्वतो पर बिछा (फैला) दिया (ऋ० ५।८५।२)। ऋग्वेद के काल मे भी स्वर्ग एव पृथिवी के बीच की दूरी के विषय मे कल्पना आरम्भ हो गयी थी। ऋ० (१।१५५।५) मे कवि का वचन है कि विष्णु के तीसरे पद (अर्थात् स्वर्ग) तक पहुँचने का साहस कोई नही करता, यहाँ तक कि पक्षी भी, जो पखो पर उडते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (७।७।या २ १७) मे पृथिवी एव सूर्य के बीच की दूरी एक अश्व के लिए एक सहस्र दिनो की कही गयी है।[13]

तैत्तिरीय सहिता मे प्रजापति को बहुधा देवो एव असुरो (३।३।७ १) की सृष्टि करते हुए, यज्ञो (१।६।८।१) का निर्माण करते हुए, मनुष्यो (२।१।२१) को बनाते हुए, पशुओ (१।५।८।७) की रचना करते हुए तथा प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा करते हुए और उसके लिए तप करते हुए (३।१।१।१) उल्लिखित किया गया है। उसमे (५।६।४।२) आया है कि यह सब आरम्भ मे जल था, एक समुद्र—और प्रजापति वायु बनकर कमलदल पर क्षिप्र गति से तैर रहे थे।

सृष्टि पर अथववेद मे भी कुछ सूक्त आये है। किन्तु वे वाग्बहुल है, पुनरुक्तियो से परिपूर्ण है और उनमे उपर्युक्त ऋग्वेदीय गम्भीरता, दार्शनिकता एव सक्षिप्तता नही पायी जाती। १०वे काण्ड के ७वे एव ८वे सूक्तो मे इसने स्कम्भ को आधार रूप मे रखा है और उसे प्रजापति के अनुरूप समझा है और सभी लोको के स्रष्टा एव आश्रयदाता के रूप मे उल्लिखित किया है, जिसमे सभी ३३ देव पाये जाते है, इसने पूछा है—'परम उच्च, परम नीच एव मध्यम प्रकारो म, जिन्हे प्रजापति ने रचा, स्कम्भ ने कितना प्रवेश किया, वह कितना है जिसमे वह (स्कम्भ) नही पहुँचा ?' ऋ० (९।८६।४६) मे यज्ञ के लिए निर्मित सोम को स्कम्भ कहा गया है। अथर्ववेद के १०वें काण्ड के ८वे सूक्त को ज्येष्ट-ब्रह्म (परम या सबसे बडे ब्रह्म) के वर्णन वाला सूक्त कहा गया है। इससे दो मन्त्र उद्धृत किये जा रहे हैं—'उस ज्येष्ठ ब्रह्म को प्रणाम जो सब पर, चाहे वह उत्पन्न हो चुका है या उत्पन्न होने वाला है, शासन करता है, और स्वर्ग उसी का, केवल उसी का है। ये दोनो, स्वर्ग एव पृथिवी स्कम्भ द्वारा सँभाले गये हैं, यह सब जो आत्मा वाला है, जो साँस लेता है एव पलक गिराता-उठाता है, वह स्कम्भ है।' स्कम्भ का शाब्दिक अर्थ है 'आश्रय' या 'स्तम्भ' (खम्भा)। इसका क्रियारूप 'स्कम्नाति ऋ० (१०।६।३) मे आया है और 'स्कम्भ' शब्द भी कई बार आया है, किन्तु स्रष्टा या निर्माता के रूप मे नही। और देखिए अथर्ववेद (१०।८।२ एव १०।७, जिसमे ४४ मन्त्र है)।[14] अथर्ववेद

१३ सहस्रमनूच्य स्वर्गकामस्य सहस्राश्वीने वा इत स्वर्गो लोक । ऐ० ब्रा० (७ वाँ अ०, ७वाँ खण्ड या द्वितीय पञ्चिका १७)।

१४ यस्मिन् स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्सर्वान् अधारयत्। स्कम्भ त ब्रूहि कतम स्विदेव स ॥ यत्परमवम यच्च मध्यम प्रजापति ससृजे विश्वरूपम्। कियता स्कम्भ प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत्कियत्तद् बभूव ॥ यस्य त्रयस्त्रिंशद्

का १०।२, जिसमे ३३ मन्त्र हैं, ब्रह्मप्रकाशन सूक्त कहा जाता है। एक से उन्नीस मन्त्रो तक बहुत-से प्रश्न पूछे गये हे। २०,२२ एव २४वें मन्त्रो मे प्रश्न पूछे गये हैं और २१, २३ एव २५वें मे उत्तर दिये गये है। एक प्रश्न एव एक उत्तर यहाँ उपस्थित किया जा रहा है—'किसके द्वारा पृथिवी बनायी गयी (या व्यवस्थित हुई)? किसके द्वारा यह ऊचा स्वर्ग रखा गया ? किसके द्वारा आकाश ऊपर व्यस्त रेखा-द्वय रूप मे एव विभिन्न दिशाओ मे रखा गया?' 'ब्रह्म ने पृथिवी बनायी, ब्रह्म ही स्वर्ग है जो ऊपर रखा हुआ है, यही ब्रह्म आकाश है जो ऊपर, एक-दूसरे को काटती हुई दो रेखाओ के रूप मे एव विभिन्न दिशाओ मे है।' अथर्ववेद (१०।८) का मन्त्र २७ श्वेताश्वतरोपनिषद् (४।३) के समान ही है, जिसमे स्रष्टा को युवा एव बूढे, पुरुष एव नारी तथा लडका एव लडकी के अनुरूप कहा गया है। अथर्ववेद (१०।८) मे कतिपय अन्य देवो का उल्लेख है, किन्तु उन्हे परम तत्त्व मे समाहित माना गया है । अथर्ववेद (९।२, इसमे २५ मन्त्र है) मे काम को देवतातुल्य माना गया है, प्रथम १८ मे शत्रुओ को भगाने के लिए काम की स्तुति की गयी है, और १९ से २४ तक के सभी मन्त्रो के अन्तिम चरण मे 'तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि' (हे काम, मैं तुम्हे प्रणाम करता हूँ) आया है। इन ६ मन्त्रो मे ऐसी घोषणा है कि काम सर्वप्रथम प्रकट हुआ, वह स्वर्ग, पृथिवी, जलो, अग्नि, दिशाओ, सभी पलक गिराने वाले प्राणियो और समुद्र मे बडा है, काम के पास न तो देवगण, न पितर लोग और न मनुष्य ही पहुँच सके, वात, अग्नि, सूर्य एव चन्द्र काम के पास नही पहुँचते। अथर्ववेद के १९।५० नामक सूक्त मे काम को ५ मन्त्र सम्बोधित है, और काम को आरम्भ मे उत्पन्न होने वाला कहा गया है तथा यह भी कि वह मन का प्रथम प्रवाह था।[१५]

अथर्ववेद मे (११।४, कुल २६ मन्त्र) 'प्राण' को सम्बोधित किया गया है और उसे सर्वशक्तिमान् माना गया है। प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—'उस प्राण को प्रणाम, जिसके शासन के अन्तर्गत यह सब (विश्व) है, वह सबका स्वामी है और उसमे सभी कुछ स्थापित है।' मन्त्र १२ मे ऐसा आया है—'प्राण विराट है, प्राण ही निर्देशन करने वाली शक्ति है, प्राण की सब उपासना करते हैं, प्राण वास्तव मे सूर्य एव चन्द्रमा है और वे (ऋषि) उसे प्रजापति कहते है।'

१९वे काण्ड के सूक्त ५३ एव ५४ मे अथर्ववेद ने काल को मूल तत्त्व (फर्स्ट प्रिंसिपल) कहा है, ऐसा प्रतीत होता है। तीन मन्त्रो का अनुवाद इस प्रकार है—'तप काल मे अवस्थित है, काल मे ही ज्येष्ठ

देवा अङ्गे सर्वे समाहिता। स्कम्भ त ब्रूहि कतम स्विदेव स ॥ अथर्ववेद (१०।७।७, ८, १३), केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता। केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्ष व्यचो हितम् ॥ ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता। ब्रह्मेद-मूर्ध्व तिर्यक्चान्तरिक्ष व्यचो हितम् ॥ अथर्ववेद (१०।२।२४-२५)।

१५ कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेत प्रथम मदासीत्। स काम कामेन बृहता सुयोनी रायस्पोष यजमानाय धेहि ॥ अथर्ववेद (१९।५२।१)। 'मनसो रेत' के लिए मिलाइए ऋ० (१०।१२९।४), जो ऊपर पाद-टिप्पणी १० मे उद्धृत है। प्राणाय नमो यस्य सर्वमिद वशे। यो भूत सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्। प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राण सर्व उपासते। प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमा प्राणमाहु प्रजापतिम् ॥ अथर्ववेद (११।४।१ एव १२), काले तप काले ज्येष्ठ काले ब्रह्म समाहितम्। कालो ह सर्वस्येश्वरो य पितासीत्प्रजापते ॥ काल प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्। स्वयम्भू कश्यप कालात्तप कालादजायत ॥ अथर्व० (१९।५३।८ एव १०), कालादाप समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिश। कालेनोदेति सूर्य काले नि विशते पुन ॥ अथर्व० (१९।५४।१)।

ब्रह्म है, काल सबका ईश्वर है, वही प्रजापति का पिता है, काल ने प्रजा की सृष्टि की, आरम्भ मे काल ने प्रजापति को उत्पन्न किया, स्वयम्भू (ब्रह्मा), कश्यप एव तप काल से ही उद्भूत हुए, काल से जल, ब्रह्म, तप एव दिशाएँ उत्पन्न हुई, काल के कारण सूर्योदय होता है और वह उसी मे (रात्रि मे) समा जाता है।'

शतपथ ब्राह्मण ने कतिपय स्थानो पर सृष्टि के विषय मे कहा है। इसमे (६।१।१) आया है—'यहाँ पर आरम्भ मे असत् था', पुन दृढतापूर्वक कहा है कि असत् ही ऋषि था, और प्राण-वायु था, इसके उपरान्त कल्पना की गयी है कि जिन्होने कामना की,—'मै और हो जाऊँ, मेरी सन्ताने हो । उन्होने परिश्रम किया और थक जाने पर उन्होने सर्वप्रथम 'ब्रह्म' एव तीन विद्याएँ (तीनो वेद) उत्पन्न की, उन प्रजापति ने वाक् (जो विश्व है) से जल उत्पन्न किया, वे (प्रजापति) तीनो वेदो के साथ जल मे प्रविष्ट हो गये और तब उसमे से हिरण्यगर्भ (सोने का अण्ड) निकला, उन्होने उसका स्पर्श किया, तब पृथिवी उत्पन्न हुई ।'

शतपथब्राह्मण (११।१।६।१) मे आया है—'आरम्भ मे यह जल था, केवल एक समुद्र । जलो ने कामना की—हमे सन्तति की प्राप्ति कैसे होगी ? 'उन्होने परिश्रम किया, तप किये, जब वे ऐसा कर रहे थे तो हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई, जो लगभग एक वर्ष तक तैरता रहा, एक वर्ष की अवधि मे एक पुरुष, प्रजापति उपन्न हुए, उन्होने वह अण्ड फोडा, उन्होने अपने मुख (की साँस) से देवो की सृष्टि की, उन्होने अग्नि, इन्द्र, सोम की उत्पत्ति की' आदि-आदि ।

शतपथ ब्राह्मण (११।२।३।१२) मे पुन आया है—'आरम्भ मे यह (विश्व) ब्रह्म था, इसने देवा, अग्नि, वायु, सूर्य की रचना की', इसके उपरान्त नाम-रूप की ओर सकेत मिलता है जिसके द्वारा वह लोको मे उतरता है और ऐसा कहा गया है—'ये दोनो (नाम-रूप) ब्रह्म की बडी अभिव्यक्तियाँ है ।'

हिरण्यगर्भ वाली अनुश्रुति ऋग्वेद (१०।१२९।३ एव १०।१२१।१ हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे) से छान्दोग्य० (३।१९।१-२) मे विकसित हुई है—'आरम्भ मे यह विश्व असत् (आवृत) था, यह सत् हुआ (अनावृत होने लगा), इसने जन्म लिया (इसने रूप धारण किया), तब एक अण्ड बना, दो अर्धांशो मे एक चाँदी का था और दूसरा सोने का, चाँदी वाला अर्धांश यह पृथिवी है और सोने वाला स्वर्ग है ।' यही मनुस्मृति मे भी आया है, जिसका उल्लेख हम आगे करेगे ।

शतपथ ब्राह्मण (१०।४।२।२२-२३) मे कहा गया है कि प्रजापति ने ऋग्वेद को इस प्रकार व्यवस्थित किया कि इसके अक्षरो की सख्या १२,००० बृहती मात्राओ (प्रत्येक बृहती मे ३६ अक्षर होते है) मे हो गयी।

तैत्तिरीय ब्राह्मण मे आया है—'प्रजापति ने देवो एव असुरो की सृष्टि की (२।२।३), किन्तु उन्होने इन्द्र को नही बनाया, देवो ने उनसे कहा—'हमारे लिए इन्द्र की उत्पत्ति करे', जिस प्रकार हमने तप से आप को उत्पन्न किया उसी प्रकार आप इन्द्र को उत्पन्न करे, उन्होने तप किया और इन्द्र को अपने मे (अपने हृदय मे निवास करते) देखा, उन्होने कहा 'उत्पन्न हो जाइए' ।' तै० ब्रा० (२।२।९।१) मे आया है[१६]—'आरम्भ मे यह विश्व कुछ भी नही था। न स्वर्ग था, न पृथिवी और न अन्तरिक्ष। उस असत् ने

१६ इद वा अग्रे नैव किचनासीत् । न द्यौरासीत् । न पृथिवी । नान्तरिक्षम् । ...व सन् मनोऽकुरुत स्यामिति (तै० ब्रा० (२।२।९।१) । ब्रह्म देवानजनयत्, ब्रह्म विश्वमिद जगत् । ब्रह्मणा क्षत्र निर्मितम् । ब्रह्म ब्राह्मणा आत्मना ॥ अन्तरस्मिन्निमे लोका । ब्रह्मैव भूताना ज्येष्ठम् । तेन कोऽर्हति स्पर्धितुम् । ब्रह्मन्देवास्त्रयस्त्रिंशत् । ब्रह्मन्निन्द्र प्रजापती । ब्रह्मन्ह विश्वा भूतानि । नावीवान्त. समाहिता ॥ तै० ब्रा० (२।८।८।९-१०) ।

मन की सृष्टि 'मैं ऐसा हो जाऊँ' इस विचार के साथ की।' उसी ब्राह्मण (२।६।२।३) ने पुन कहा है—'प्रजापति ने वेद की सहायता से 'सत्' एव 'असत्' दो रूप बनाये।' तै० ब्रा० (२।८।८।६-१०) ने पुरोडाश की पुरोनुवाक्या एव याज्या तथा हवि की पुरोनुवाक्या को इस प्रकार उल्लिखित किया है—'ब्रह्म ने देवो एव इस विश्व को उत्पन्न किया, ब्रह्म से क्षत्रिया की उत्पत्ति हुई और ब्रह्म ने अपने रूप से ब्राह्मणो को उत्पन्न किया, (याज्य) 'ये लोक ब्रह्म के भीतर रहते है। उसी प्रकार यह सारा लोक इसमे निवास करता है, ब्रह्म सभी भूतो मे सर्वोत्तम है, इससे कौन स्पर्धा करता है, ब्रह्म ३३ देवो के रूप मे है और सभी भूत (प्राणी) इसमे उसी प्रकार है जैसे किसी नाव मे।'

कौषीतकि ब्राह्मण मे प्रजापति के विषय मे सक्षिप्त इगित है। इसमे (६।१) आया है—'प्रजापति ने सन्तति की कामना से तप किया, वे जब इस प्रकार तपस्या कर रहे थे तो पाच, यथा—अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र एव उषा की उत्पत्ति हुई', पुन (६।१०) आया है—'प्रजापति ने तप किया, तप करने के उपरान्त उन्होने प्राण से यह विश्व (पृथिवी), अपान से यह अन्तरिक्ष तथा व्यान से सामने का लोक (स्वर्ग) बनाया, इसके उपरान्त उन्होने पृथिवी, अन्तरिक्ष एव स्वर्ग मे क्रम से अग्नि, वायु एव आदित्य की रचना की, और उन्होने अग्नि से ऋग्वेद की ऋचाएँ, वायु से यजुर्वेद के वचन तथा आदित्य से साम के वचन उत्पन्न किये।' पुन (१३।१) ऐसा आया है—'प्रजापति ही वास्तव मे यज्ञ है, जिसमे सभी काम (इच्छाएँ या कामनाएँ), सभी अमृतत्व (अमरता) केन्द्रित है।' पुन (२८।१) उसमे ऐसा आया है—'प्रजापति ने यज्ञ की सर्जना की, देवो ने यज्ञ के द्वारा जब इसकी उत्पत्ति हुई, पूजा की और इसके द्वारा सभी इच्छित पदार्थों की उपलब्धि की।'[१७]

वेद के ब्राह्मणो का प्रधान ध्येय एव उद्देश्य है विभिन्न यज्ञो से सम्बन्धित क्रिया-सस्कारो के कृत्यो एव अशो की व्यवस्था उपस्थित करना, उनके उद्भव से सम्बन्धित कथा-वार्ताओ, किंवदन्तियो आदि को उपस्थित करना तथा बहुत से यज्ञो के सम्पादन पर कतिपय पुरस्कारो अथवा फलो की स्वीकृति देना।

ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्रजापति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव प्रमुख हो गये है। प्रजापति का उल्लेख ऋग्वेद मे बहुत ही कम हुआ है। ऋ० (४।५३।२) मे सविता को प्रजापति, ऋ० (९।५।९) मे सोम को प्रजापति कहा गया है। ऋ० (१०।८५।४) के विवाहसूक्त मे प्रजापति का आह्वान सन्तान देने के लिए किया गया है। ऋ० (१०।१६९।४) मे गौओ के लिए प्रजापति का आह्वान किया गया है। ऋ० (१०।१८४।१) मे विवाहित नारी के गर्भाधान के लिए अन्य देवो एव देवियो के साथ प्रजापति का भी आह्वान किया गया है। ऐतरेयब्राह्मण मे गाथा आयी है कि वृत्र को मारने के उपरान्त जब इन्द्र प्रजापति के स्थान पर उच्च एव सम्मानित होना चाहते थे तो प्रजापति ने पूछा (यदि तुम बडे होना चाहते हो तो) 'मै क्या होऊँगा?' (कोहमिति) और इसी कारण प्रजापति को 'क' की सज्ञा मिली।[१८]

१७ प्रजापतिर्वै यज्ञस्तस्मिन्सर्वे कामा सर्वममृतत्वम्। कौषी० ब्रा० (१३।१), प्रजापतिर्ह यज्ञ ससृजे तेन ह सृष्टेन देवा ईजिरे तेन हेष्ट्वा सर्वान्कामानापु। वही (२८।१, लिण्डनर का सस्करण, जेना, १८८७)।

१८ ऋग्वेद के १०।१२१ मे ९वें मन्त्र का अन्तिम चरण यों है—"कस्मै देवाय हविषा विधेम" (अर्थात् किस देवता को हम हवि देंगे?)। इसके उपरान्त दसवाँ मन्त्र एव अन्तिम मन्त्र प्रजापति को इस प्रकार सम्बोधित करता है—'आपके अतिरिक्त कोई अन्य देवता ऐसा नहीं है जिसने इन सभी सृष्टियो की परिवृति कर रखी हो

ऐतरेय ब्राह्मण मे आया है कि प्रजापति ने अपने को बढाने (विस्तृत करने) और अधिक होने के लिए तप करने के उपरान्त तीन लोको की रचना की, यथा—पृथिवी, अन्तरिक्ष एव स्वर्ग, जिनसे तीन ज्योतियाँ प्रकट हुई—अग्नि, वायु एव आदित्य, जिनसे तीन वेदो की उत्पत्ति हुई आदि-आदि ।

वैदिक सहिताओ एव ब्राह्मणो से यह प्रकट होता है कि आत्मा के विषय मे सामान्य प्रचलित विश्वास यह था कि अच्छे कर्मो के कारण वह स्वर्ग मे पहुँचता है, अमर हो जाता है और भाँति-भाँति के आनन्दो एव सुखो का उपभोग करता है । देखिए ऋ० (९।११३।७-११, १।१२५।४-६), अथर्व० (४।३४।२ एव ५, ६।१२०।३) । एक व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्ति के प्रति कृत दुष्कर्मो एव हानिप्रद कर्मो के प्रतिकार एव निष्कृति की धारणा उन दिनो विद्यमान थी । उदाहरणार्थ, शतपथब्राह्मण (१२।९।१।१) मे आया है—'व्यक्ति जो कुछ इस लोक मे खाता है, उस वस्तु द्वारा वह दूसरे लोक मे स्वय खाया जाता है ।' और देखिए शत० ब्रा० (११।६।१) । किन्तु जब हम उपनिषदो के युग मे पहुचते है तो सम्पूर्ण बौद्धिक वातावरण ही परिवर्तित दृष्टिगोचर होता है । उपनिषदे बहुधा कहती है कि केवल आत्मा ही वास्तविक (तत्त्व) है, अन्य कुछ नही और आत्मा को ही हम इस प्रकार उल्लिखित कर सकते है (अथवा उसकी चर्चा कर सकते हैं) —'नेति-नेति' (अर्थात् यह नही—यह नही), अर्थात् आत्मा को नही जाना जा सकता । **यही वेदान्त का प्रथम एव प्रमुख स्वरूप है** । किन्तु इस उच्च आध्यात्मिक धारणा एव सामान्य लोगो के विचारो के बीच सघर्ष उपस्थित हो गया और सामान्य लोगो ने यही समझा कि वास्तविक विश्व स्रष्टा से पृथक अवस्थित है। अपेक्षाकृत अधिक उच्च दार्शनिक मनस्वियो ने सामान्य लोगो के लिए विश्व की वास्तविकता की बात मान ली। वे यह कहने को सन्नद्ध थे कि विश्व का अस्तित्व होता है, किन्तु वस्तुत वह कुछ नही है, बल्कि विश्व मे आत्मा समाया हुआ है । उपनिषदो ने यह बताया कि यह विश्व दृग्विषय है अथवा गोचर होने वाला है, मिथ्या नही है और न 'न कुछ' है , किन्तु विश्व के पीछे आत्मा है । **यह वेदान्त का द्वितीय स्वरूप है**, अर्थात् वेदान्त के अनुसार विश्व मूल तत्त्व ब्रह्म से विकसित हुआ है। उपनिषदो ने सगुण ब्रह्म एव निर्गुण ब्रह्म मे अन्तर बताया, सगुण ब्रह्म मे प्रार्थना, उपासना तथा व्यवहार का स्थान है। अपेक्षाकृत अधिक उच्च चिन्तन ने यह भी दृढता-पूर्वक कहा कि पारमार्थिक सत्य यह है कि ब्रह्म एक है, विश्व मे प्रत्येक वस्तु (यथा—मनुष्य, पशु, निर्जीव पदार्थ) ब्रह्म है ('सर्वं खल्विद ब्रह्म', छा० उप० ३।१४।१, अह ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवत्' बृ० उप० १।४।१०)। ऐतरेयोपनिषद् ने अति दृढतापूर्वक कहा है कि मूल तत्त्व से मनुष्यो, पशुओ, अचल जीवो का तादात्म्य है ।[१९]

(इतनी सृष्टियो पर छा गया हो)।' सम्भवत इसी कारण 'कस्मै' (जो प्रथम ९ मन्त्रो मे पाया जाता है) से प्रजापति को 'क' कहा जाने लगा ।

१९ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकान-सृजताम्भो मरीचीर्मरमाप । स ईक्षत इमे नु लोका । लोकपालान्नु सृजा इति। सो अद्भ्य एव पुरुष समुद्धृत्यामूर्च्छ-यत्। स ईक्षत कथ न्विद मदृते स्यादिति। स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स एतमेव सीमान विदार्यैतया द्वारा

। ऐ० उप० (१।१-३, १।३।११-१२)। यह वचन वे० सू० (३।३।१६) मे विवेचित हुआ है, वहाँ ऐसी स्थापना है कि 'आत्मा' शब्द 'परमात्मा' के लिए तथा 'अम्भ', 'मरीची', 'मर' एव 'आप' क्रम से स्वर्ग, अन्तरिक्ष, पृथिवी एव पृथिवी के नीचे जल के लिए प्रयुक्त हैं।

तत्त्वो के विषय मे बृ० उप० (३।७।२-२३) मे एक लम्बी उक्ति आयी है[20], जिसमे याज्ञवल्क्य ने उद्दालक आरुणि से एक अति उत्कृष्ट सिद्धान्त कहा है। यथा—यह आत्मा पृथिवी तथा अन्य तत्त्वो मे निवास करता पाया जाता है, जिसे वे (तत्त्व) नही जानते, जिसकी (आत्मा की) देह पृथिवी एव तत्त्व ह, जो पृथिवी के अन्तर एव अन्यो द्वारा शासन करता है, यह आत्मा तुम्हारा (मेरा एव अन्यो का) है, आन्तरिक शासक है ओर अमर है। इस उक्ति का अन्तिम अश यो है—'आन्तरिक शासक अदृष्ट है, किन्तु देखता रहता है, अश्रुत है किन्तु सुनता रहता है, अमत (अप्रत्यक्ष) है किन्तु प्रत्यक्षीकरण करता रहता है, अज्ञात (अविज्ञात) है किन्तु जानता रहता है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य देखने वाला (द्रष्टा) नही है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य सुननेवाला (श्रोता) नही है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य परिज्ञान या प्रत्यक्षीकरण करने वाला (मन्ता) नहीं है। उसके अतिरिक्त कोई अन्य जानने वाला (विज्ञाता) नही है। यही आत्मा, अन्तर्यामी एव अमृत (अमर) है। अन्य कुछ क्लेश (आर्तम्) है।' यह सम्पूर्ण भाग, जिसे **अन्तर्यामी ब्राह्मण** कहा जाता है, बृ० उप० (२।५) मे वर्णित **मधुविद्या** के समान ही है।

स्रष्टा के रूप मे ब्रह्म-सम्बन्धी सामान्य धारणा का उपनिषदो के चिन्तको द्वारा सम्पूर्ण त्याग नही किया गया, यद्यपि ऐसा घोषित किया गया कि ऐसी धारणा **अविद्या** (वास्तविक तत्त्व के प्रति अज्ञान) के कारण है। स्रष्टा के रूप मे अवधारित ब्रह्म ईश्वर (देह वाला **ईश्वर** या भगवान्) कहलाया, यद्यपि पूजक को यह अवश्य ज्ञात होना चाहिए कि ब्रह्म सारतत्त्व रूप मे व्यक्तित्व (शारीरिक रूपत्व) की दशाओ एव सीमाओ से ऊपर है। यही **ईश्वरवाद या आस्तिक्यवाद** है जो तीन अस्तित्वो को स्वीकार करता है—वास्तविक विश्व, परमात्मा (सृष्टि करने वाला आत्मा) एव आत्मा (जीव) जो परमात्मा पर अवलम्बित है। किन्तु उपनिषदो का वास्तविक चिन्तन ब्रह्म एव आत्मा तथा भौतिक विश्व की अन्तर्हीनता मे केन्द्रित है, अर्थात् इन तीनो मे तादात्म्य है। यह विचार (चिन्तना) कि ब्रह्म विभिन्न आत्माओ एव भौतिक विश्व मे प्रविष्ट हो गया, **वेदान्त का तीसरा स्वरूप है**। वेदान्तसूत्र (२।३।४३) की व्याख्या मे शकराचार्य ने अथर्ववेद वाले ब्रह्मसूक्त[21]

२० य पृथिव्या तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो य पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीर य पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत। अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुत श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता। एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत। अतोऽन्यदार्तम्। बृह० उप० (३।७।३ एव २३)। मिलाइए इस अन्तिम से बृह० उप (३।४।२) 'कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तर'। न दृष्टेर्द्रष्टार पश्ये एष त आत्मा सर्वान्तर। अतोन्यदार्तम्', एव ३।५।२। ऐत० उप० (३।२) मे १७ शब्द ऐसे है जो प्रज्ञान (अर्थात् ब्रह्म) के नाम कहे गये ह। ऐत० उप० (३।३) यो है—'एष ब्रह्मा, एष इन्द्र, एष प्रजापति, एते सर्वे देवा, इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषि, एतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जरायुजानि स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गाव पुरुषा हस्तिनो यत्किचेद प्राणि जगम च पतत्रि च यच्च स्थावर सर्व तत्प्रज्ञानेत्र प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्। प्रज्ञानेत्रो लोक। प्रज्ञा प्रतिष्ठा। प्रज्ञा ब्रह्म।' यह पुरुषसूक्त (१०।९०।६, ८, १०) वाले विचार का मानो तार्किक निष्कर्ष है।

२१ एके शाखिनो दाशकितवादिभाव ब्रह्मण आमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते—ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे इत्यादिना। इति हीनजन्तूदाहरणेन सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकरणसघातप्रविष्टाना जीवाना ब्रह्मत्वमाह। तथान्यत्रापि ब्रह्म प्रक्रियायामेवायमर्थ प्रपञ्च्यते। त्व स्त्री त्व पुमानसि त्व कुमार उत वा कुमारी। त्व जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्व जातो भवसि विश्वतोमुख ॥ इति। यह अन्तिम अथर्व० (१०।८।२०) एव श्वे० उप० (४।३) मे ह।

से तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् से ऐसे वचन उद्धृत किये हैं जो यह अभिव्यक्त करते हैं कि ब्रह्म का तादात्म्य मछुवो एव दासो, जुआरियो, पुरुषो एव नारियो, लडको एव लडकियो तथा लकडी के सहारे चलते हुए बूढो तक से है। यह विश्वास कि एक ही आत्मा सम्पूर्ण विश्व को, पाषाण, कीट-पतगो, पशुओ से लेकर मनुष्य तक को अनुप्राणित करता है, एक ऐसी उन्मेषशाली धारणा है जो इस बात की ओर इगित करती है कि सभी जीव भाई-भाई हैं और स्रष्टा की खोज कर रहे है। यह विश्वास साधारण विश्वास नही है। आज के विश्व मे, जो अहकार एव स्वार्थभावना से परिपूर्ण है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत समृद्धि की उन्नति मे लगा हुआ है, यह धारणा एव विश्वास मधुर एव सन्तोषप्रद है। देखिए डुइशेन कृत 'दि फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्स' (ए० एस्० गेडेन द्वारा अनूदित, १९०६, इडिनबरो मे प्रकाशित) एव ज० रॉयमकृत दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविडुअल' (विशेषत पृ० १५६-१५७)।

उपनिषदे सृष्टि एव मूल तत्त्व के रूप मे सम्बन्धित सिद्धान्तो से परिपूर्ण है। सृष्टि के विषय मे कुछ वचन दिये जा रहे है। बृ० उप० (१।४।३-४, ७) म सृष्टि पर मौलिक एव महत्त्वपूर्ण वचन है, जिसका एक अश यह है—'आरम्भ मे पुरुष के रूप मे केवल यही आत्मा था, उसे (अकेला होने के कारण) आनन्द न मिला, उसे एक अन्य (साथी) की कामना हुई, वह आलिगन मे बद्ध एक पुरुष एव नारी के फैलाव मे आ गया, उसने इसी आत्मा को दो भागो मे अलग-अलग हो जाने दिया जो पति एव पत्नी बन गये, इनसे मनुष्य उत्पन्न हुए और उस (पुरुष) ने चीटियो तक के छोटे-छोटे जीव उत्पन्न किये, यह (विश्व) तब अविकसित (या अनावृत नही) था, तब यह नामो एव रूपो मे विकसित हुआ, वह (आत्मा) उसमे अँगुली के पोरो तक उस प्रकार प्रविष्ट हो गया, जिस प्रकार छुरा आवेष्टन (कोष) मे छिपा रहता है या सबको आश्रय देने वाली (अग्नि) काष्ठ मे नही दिखाई पडती।' इस वचन मे सृष्टि-सम्बन्धी प्रचलित धारणा उठायी गयी है और वह एक वास्तविक तत्त्व आत्मा से सम्बन्धित रखी गयी है और इस सिद्धान्त पर बल दिया गया है कि इस वस्तु-जगत् के मायाजाल मे एक मात्र वास्तविकता आत्मा ही है। छा० उप० (७।१०।१) मे आया है—'यह पृथिवी, ये मध्य मे स्थित क्षेत्र या स्थल, स्वर्ग, देव एव मनुष्य, पशु एव पक्षीगण, घास एव ओषधियाँ तथा कीटो, पतगो (तितलियो), चीटियो से सयुक्त अन्य पशु—कुछ नही हैं प्रत्युत वे अद्रव रूप मे जल ही है।' छा० उप० (६।२।३-४ एव ६।३।२-३) मे आया है—'आरम्भ मे केवल सत् ही था, केवल एक, जिसके साथ कोई दूसरा नही, उसने विचारा, 'म बहुत होऊँगा, मैं सन्तति प्राप्त करूगा', उसने तेज उत्पन्न किया, तेज से जलो की उत्पत्ति हुई, जल से भोजन (अन्न), उस देवता ने सकल्प किया, 'मैं इन तीन देवो (अग्नि, जल एव अन्न) मे इस जीवित आत्मा के साथ प्रवेश करूँगा और नाम एव रूप को अनावृत करूँगा (खोलूगा)।' यहाँ पर तीन तत्त्वो, तेज, जल एव पृथिवी (अन्न की उत्पत्ति पौधो से होती है और पौधे पृथिवी से प्रस्फुटित होते है) की ओर इगित है। ऐसा नही सोचना चाहिए कि केवल तीन ही तत्त्वो को स्वीकार किया गया था। वास्तव मे ये तीनो अत्यन्त प्रकट एव स्पष्ट थे, अन्य दो, यथा—वायु एव आकाश को, जो ऐत० उप० एव तै० उप० मे उल्लिखित हैं, अन्तर्हित रूप मे मान लेना होगा। ऐत० उप० (देखिए ऊपर पाद-टिप्पणी २०) मे आया है—"आरम्भ मे यहाँ पर केवल आत्मा था, कोई अन्य ऐसा नही था जो गतिशील हो (अर्थात् जो आँखे खोलता या बन्द करता हो), उसने विचारा, 'मैं लोको की सृष्टि करूँगा।' उसने इन लोको की रचना की, अम्भ (स्वर्ग के ऊपर जल), मरीचि ('किरणे') वायुमण्डीय क्षेत्र, मृत्यु, जल।' उपनिषद् और आगे कहती है—उसने लोको के रक्षको की रचना की और उनके लिए भोजन की आकाक्षा की। तब उसने विचारा—'यह ढाँचा (आवेष्टन) मुझसे पृथक् कैसे रह सकता है?', तब उसने पुन सोचा—'मैं किस ढग से या किस मार्ग से इसमे प्रवेश करूँ?' इसके उपरान्त ऐसा आया है कि उसने सिर को खोला और उस द्वार से प्रविष्ट हो गया। तै० उप (२।६) मे कथित है—"उसने (आत्मा ने) कामना की

'मै अधिक हो जाता, मै सन्तति प्राप्त करना चाहता हूँ,' तप करके उसने यह (विश्व), जो कुछ है, उत्पन्न किया, इसे उत्पन्न करके वह इसी मे प्रविष्ट हो गया।" उसमे (२।७) पुन आया है—'आरम्भ मे यह 'असत्' (आवृत) था, इसके उपरान्त यह 'सत्' (व्यक्त या विकसित) हुआ, इसने अपने को अनावृत किया।' यही वेदान्तसूत्र (१।४।२६) का आधार है (आत्मकृते परिणामात्), जो यह स्थापित करता है कि ब्रह्म सृष्टि का कर्ता एव कर्म दोनो है। इसी उपनिषद् (२।१) ने आत्मा मे आकाश की, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की तथा जल से पृथिवी की रचना की बात कही है। यहाँ पर पाँच तत्त्वो का उल्लेख है न कि छान्दोग्योपनिषद् की भाँति केवल तीन का, जैसा कि अभी ऊपर निर्देश किया जा चुका है। ऐतरेयोपनिषद् (३।३) ने पाच तत्त्वो के नाम लि है और उन्हे 'महाभूतानि' की सज्ञा दी है (यद्यपि वहाँ पर सामान्य क्रम नही रखा गया है)। प्रश्नोपनिषद् (६।४, श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।१२), कठोपनिषद् (३।१५) ने भी पाँच तत्त्वो का उल्लेख किया है। कठोपनिषद् (३।१५) मे पाँच तत्त्वो (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी) के नाम है और साथ-ही-साथ उनके विशिष्ट गुणो (क्रम मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस एव गन्ध) के नाम भी दिये गये है।

हमने यह पहले ही देख लिया है कि भूत (जीव) ब्रह्म से निकलते है और उसी मे समाहित हो जाते है (देखिए तै० उप० ३।१, पाद-टिप्पणी २, एव छा० उप० ३।१४।१, पाद-टिप्पणी ३)। प्रलय का क्रम सृष्टि का प्रतिलोम (उलटा) है। यह वेदान्तसूत्र (२।३।१४) मे उल्लिखित है ('विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च')। शकराचार्य ने अपने भाष्य मे इसके पक्ष मे शान्तिपर्व का एक श्लोक उद्धृत किया है।[२२]

इस महाग्रन्थ के खण्ड ३ के मूल पृष्ठ ८८५-८९६ मे हमने युगो, महायुगो, मन्वन्तरो एव कल्पो के विषय मे पढ लिया है। खण्ड ५ के अध्याय १९ मे भी (मूल पृ० ६८६-६९२) इस विषय मे अध्ययन किया गया है। विश्व के विलयन को **प्रलय** कहा जाता है, जो चार प्रकार का होता है, यथा—**नित्य** (जो जन्म लेते है उनमे बहुतो का प्रतिदिन मरना), **नैमित्तिक** (जब ब्रह्मा का एक दिन समाप्त होता है और विश्व का प्रलय हो जाता है), **प्राकृतिक** (जब प्रत्येक वस्तु प्रकृति मे समाप्त हो जाती है) तथा **आत्यन्तिक** (मोक्ष, सत्य ज्ञान के उपरान्त जब आत्मा परमात्मा मे समाहित हो जाता है)। नैमित्तिक प्रलय ब्रह्मा के एक दिन के उपरान्त होता है और ब्रह्मा का एक दिन बराबर होता है १००० महायुगो के। प्राकृतिक प्रलय मे प्रकृति के साथ प्रत्येक वस्तु परमात्मा मे लीन हो जाती है। गीता (८।१७-१८) मे आया है और मनु (१।७३) मे भी इसका उल्लेख है कि ब्रह्मा का एक दिन एक सहस्र युगो के बराबर होता है और ब्रह्मा की रात्रि की अवधि भी इतनी ही लम्बी होती है, यह भी आया है कि ब्रह्मा के दिन के आरम्भ मे सभी व्यक्त वस्तुएँ अव्यक्त (मूल तत्त्व) से प्रस्फुटित होती है और ब्रह्मा की रात्रि के आगमन पर वे सभी उसी अव्यक्त मे समा जाती है।

प्रस्तुत लेखक अन्य धर्मों के शास्त्रो मे पाये जाने वाले विश्व-विद्या-सम्बन्धी सिद्धान्तो के विवेचन मे नही पडना चाहता, कुछ पाश्चात्य लेखको के तत्सम्बन्धी ग्रन्थों की ओर इगित कर देना ही पर्याप्त होगा। श्री रेने

२२ स्मृतावप्युत्पत्तिक्रमविपर्ययेणैवाप्ययस्तत्र तत्र प्रदर्शित —'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। ज्योतिष्याप प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते॥ इत्यादौ। यह श्लोक शान्तिपर्व (३४०।२९=३२९।२८) का है। अगले तीन श्लोक इस प्रकार है—खे वायु प्रलय याति मनस्याकाशमेव च। मनो हि परम भूत तदव्यक्ते प्रलीयते॥ अव्यक्त पुरुषे ब्रह्मन्-निष्क्रिये सप्रलीयते। नास्ति तस्मात्परतर पुरुषाद्वै सनातनात्॥ नित्य हि नास्ति जगति भूत स्थावरजगमम्। ऋते तमेक पुरुष वासुदेव सनातनम्॥

से तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् से ऐसे वचन उद्धृत किये हैं जो यह अभिव्यक्त करते हैं कि ब्रह्म का तादात्म्य मछुवो एव दासो, जुआरियो, पुरुषो एव नारियो, लडको एव लडकिया तथा लकडी के सहारे चलते हुए बूढो तक से है। यह विश्वास कि एक ही आत्मा सम्पूर्ण विश्व को, पाषाण, कीट-पतगो, पशुओ से लेकर मनुष्य तक को अनुप्राणित करता है, एक ऐसी उन्मेषशाली धारणा है जो इस बात की ओर इगित करती है कि सभी जीव भाई-भाई हैं और स्रष्टा की खोज कर रहे हैं। यह विश्वास साधारण विश्वास नही है। आज के विश्व मे, जो अहकार एव स्वार्थभावना से परिपूर्ण है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत समृद्धि की उन्नति मे लगा हुआ है, यह धारणा एव विश्वास मधुर एव सन्तोषप्रद है। देखिए डूइशेन कृत 'दि फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्स' (ए० एस० गेडेन द्वारा अनूदित, १९०६, इडिनबरो मे प्रकाशित) एव ज० रॉयमकृत दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविडुअल' (विशेषत पृ० १५६-१५७)।

उपनिषदे सृष्टि एव मूल तत्त्व के रूप से सम्बन्धित सिद्धान्तो से परिपूर्ण है। सृष्टि के विषय मे कुछ वचन दिये जा रहे है। बृ० उप० (१।४।३-४, ७) मे सृष्टि पर मौलिक एव महत्त्वपूर्ण वचन है, जिसका एक अश यह है—'आरम्भ मे पुरुष के रूप मे केवल यही आत्मा था, उसे (अकेला होने के कारण) आनन्द न मिला, उसे एव अन्य (साथी) की कामना हुई, वह आलिगन मे बद्ध एक पुरुष एव नारी के फैलाव मे आ गया, उसने इसी आत्मा को दो भागो मे अलग-अलग हो जाने दिया जो पति एव पत्नी बन गये, इनसे मनुष्य उत्पन्न हुए और उस (पुरुष) ने चीटियो तक के छोटे-छोटे जीव उत्पन्न किये, यह (विश्व) तब अविकसित (या अनावृत नही) था, तब यह नामो एव रूपो मे विकसित हुआ, वह (आत्मा) उसमे अँगुली के पोरो तक उस प्रकार प्रविष्ट हो गया, जिस प्रकार छुरा आवेष्टन (कोष) मे छिपा रहता है या सबको आश्रय देने वाली (अग्नि) काष्ठ मे नही दिखाई पडती।' इस वचन मे सृष्टि-सम्बन्धी प्रचलित धारणा उठायी गयी है और वह एक वास्तविक तत्त्व आत्मा से सम्बन्धित रखी गयी है और इस सिद्धान्त पर बल दिया गया है कि इस वस्तु-जगत् के मायाजाल मे एक मात्र वास्तविकता आत्मा ही है। छा० उप० (७।१०।१) मे आया है—'यह पृथिवी, ये मध्य मे स्थित क्षेत्र या स्थल, स्वर्ग, देव एव मनुष्य, पशु एव पक्षीगण, घास एव ओषधियाँ तथा कीटो, पतगो (तितलियो), चीटियो से सयुक्त अन्य पशु—कुछ नही हैं प्रत्युत वे अद्रव रूप मे जल ही है।' छा० उप० (६।२।३-४ एव ६।३।२-३) मे आया है—'आरम्भ मे केवल सत् ही था, केवल एक, जिसके साथ कोई दूसरा नही, उसने विचारा, 'मै बहुत होऊँगा, मैं सन्तति प्राप्त करूगा', उसने तेज उत्पन्न किया, तेज से जलो की उत्पत्ति हुई, जल से भोजन (अन्न), उस देवता ने सकल्प किया, 'मैं इन तीन देवो (अग्नि, जल एव अन्न) मे इस जीवित आत्मा के साथ प्रवेश करूँगा और नाम एव रूप को अनावृत करूँगा (खोलूगा)।' यहाँ पर तीन तत्त्वो, **तेज, जल एव पृथिवी** (अन्न की उत्पत्ति पौधो से होती है और पौधे पृथिवी से प्रस्फुटित होते है) की ओर इगित है। ऐसा नही सोचना चाहिए कि केवल तीन ही तत्त्वो को स्वीकार किया गया था। वास्तव मे ये तीनो अत्यन्त प्रकट एव स्पष्ट थे, अन्य दो, यथा—**वायु एव आकाश** को, जो ऐत० उप० एव तै० उप० मे उल्लिखित है, अन्तर्हित रूप मे मान लेना होगा। ऐत० उप० (देखिए ऊपर पाद-टिप्पणी २०) मे आया है—"आरम्भ मे यहाँ पर केवल आत्मा था, कोई अन्य ऐसा नही था जो गतिशील हो (अर्थात् जो आँखे खोलता या बन्द करता हो), उसने विचारा, 'मै लोको की सृष्टि करूँगा।' उसने इन लोको की रचना की, अम्भ (स्वर्ग के ऊपर जल), मरीचि ('किरणे') वायुमण्डीय क्षेत्र, मृत्यु, जल।' उपनिषद् और आगे कहती है—उसने लोको के रक्षको की रचना की और उनके लिए भोजन की आकाक्षा की। तब उसने विचारा—'यह ढाँचा (आवेष्टन) मुझसे पृथक् कैसे रह सकता है?', तब उसने पुन सोचा—'मैं किस ढग से या किस मार्ग से इसमे प्रवेश करूँ?' इसके उपरान्त ऐसा आया है कि उसने सिर को खोला और उस द्वार से प्रविष्ट हो गया। तै० उप (२।६) मे कथित **है**—"उसने (आत्मा ने) कामना की

'मै अधिक हो जाता, मै सन्तति प्राप्त करना चाहता हूँ,' तप करके उसने यह (विश्व), जो कुछ है, उत्पन्न किया, इसे उत्पन्न करके वह इसी मे प्रविष्ट हो गया।" उसमे (२।७) पुन आया है--'आरम्भ मे यह 'असत्' (आवृत) था, इसके उपरान्त यह 'सत्' (व्यक्त या विकसित) हुआ, इसने अपने को अनावृत किया।' यही वेदान्तसूत्र (१।४।-२६) का आधार है (आत्मकृते परिणामात्), जो यह स्थापित करता है कि ब्रह्म सृष्टि का कर्ता एव कर्म दोनो है। इसी उपनिषद् (२।१) ने आत्मा से आकाश की, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की तथा जल से पृथिवी की रचना की बात कही है। यहाँ पर पाँच तत्त्वो का उल्लेख है न कि छान्दोग्योपनिषद् की भाँति केवल तीन का, जैसा कि अभी ऊपर निर्देश किया जा चुका है। ऐतरेयोपनिषद् (३।३) ने पाच तत्त्वो के नाम लिहे और उन्हे 'महाभूतानि' की सज्ञा दी है (यद्यपि वहाँ पर सामान्य क्रम नही रखा गया है)। प्रश्नोपनिषद् (६।४, श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।१२), कठोपनिषद् (३।१५) ने भी पाँच तत्त्वो का उल्लेख किया है। कठोपनिषद् (३।१५) मे पाँच तत्त्वो (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी) के नाम है और साथ-ही-साथ उनके विशिष्ट गुणो (क्रम मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस एव गन्ध) के नाम भी दिये गये है।

हमने यह पहले ही देख लिया है कि भूत (जीव) ब्रह्म से निकलते है और उसी मे समाहित हो जाते है (देखिए तै० उप० ३।१, पाद-टिप्पणी २, एव छा० उप० ३।१४।१, पाद-टिप्पणी ३)। प्रलय का क्रम सृष्टि का प्रतिलोम (उलटा) है। यह वेदान्तसूत्र (२।३।१४) मे उल्लिखित है ('विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च')। शकराचार्य ने अपने भाष्य मे इसके पक्ष मे शान्तिपर्व का एक श्लोक उद्धृत किया है।[२२]

इस महाग्रन्थ के खण्ड ३ के मूल पृष्ठ ८८५-८९६ मे हमने युगो, महायुगो, मन्वन्तरो एव कल्पो के विषय मे पढ लिया है। खण्ड ५ के अध्याय १९ मे भी (मूल पृ० ६८६-६९२) इस विषय मे अध्ययन किया गया है। विश्व के विलयन को **प्रलय** कहा जाता है, जो चार प्रकार का होता है, यथा--**नित्य** (जो जन्म लेते है उनमे बहुतो का प्रतिदिन मरना), **नैमित्तिक** (जब ब्रह्मा का एक दिन समाप्त होता है और विश्व का प्रलय हो जाता है), **प्राकृतिक** (जब प्रत्येक वस्तु प्रकृति मे समाप्त हो जाती है) तथा **आत्यन्तिक** (मोक्ष, सत्य ज्ञान के उपरान्त जब आत्मा परमात्मा मे समाहित हो जाता है)। नैमित्तिक प्रलय ब्रह्मा के एक दिन के उपरान्त होता है और ब्रह्मा का एक दिन बराबर होता है १००० महायुगो के। प्राकृतिक प्रलय मे प्रकृति के साथ प्रत्येक वस्तु परमात्मा मे लीन हो जाती है। गीता (८।१७-१८) मे आया है और मनु (१।७३) मे भी इसका उल्लेख है कि ब्रह्मा का एक दिन एक सहस्र युगो के बराबर होता है और ब्रह्मा की रात्रि की अवधि भी इतनी ही लम्बी होती है, यह भी आया है कि ब्रह्मा के दिन के आरम्भ मे सभी व्यक्त वस्तुएँ अव्यक्त (मूल तत्त्व) से प्रस्फुटित होती है और ब्रह्मा की रात्रि के आगमन पर वे सभी उसी अव्यक्त मे समा जाती है।

प्रस्तुत लेखक अन्य धर्मो के शास्त्रो मे पाये जाने वाले विश्व-विद्या-सम्बन्धी सिद्धान्तो के विवेचन मे नही पडना चाहता, कुछ पाश्चात्य लेखको के तत्सम्बन्धी ग्रन्थो की ओर इगित कर देना ही पर्याप्त होगा। श्री रेने

२२ स्मृतावप्युत्पत्तिक्रमविपर्ययेणैवाप्ययस्तत्र तत्र प्रदर्शित --'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। ज्योतिष्याप प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते॥ इत्यादौ। यह श्लोक शान्तिपर्व (३४०।२९=३२९।२८) का है। अगले तीन श्लोक इस प्रकार है--खे वायु प्रलय याति मनस्याकाशमेव च। मनो हि परम भूत तदव्यक्ते प्रलीयते॥ अव्यक्त पुरुषे ब्रह्मन्-निष्क्रिये सप्रलीयते। नास्ति तस्मात्परतर पुरुषाद्वै सनातनात्॥ नित्य हि नास्ति जगति भूत स्थावरजगमम्। ऋते तमेक पुरुष वासुदेव सनातनम्॥

ग्रौसेट ने अपने ग्रन्थ 'दि सम आव हिस्ट्री' एव 'इन दि फूटस्टेप्स आव बुद्ध' मे भारतीय विश्व-विद्या तथा अन्य बातो की चर्चा की है। उनका ग्रन्थ 'सिविलिजेशन आव दि ईस्ट' भी इस सिलसिले मे पठनीय है । और देखिए जेरार्ल्ड हर्ड कृत 'इज गॉड एविडेण्ट', जिसमे सस्कृत वाली विश्व-विद्या को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

उपनिषदो मे दो धारणाए साथ-साथ बहती है। पहली है वह उच्च आध्यात्मिक धारणा जिसके अनुसार वास्तव मे ब्रह्म के बाहर कोई विश्व नही है, अर्थात् केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है, जो **निर्गुण** है। दूसरी है वह लोकप्रसिद्ध एव प्रयोगसिद्ध धारणा जिसके अनुसार एक दैहिक ईश्वर है जो सृष्टि करता है, और **सगुण ब्रह्म** कहलाता है और एक वास्तविक विश्व भी है। प्रश्न उप० (५।२) मे आया है कि 'ओम्' **पर** (सर्वोच्च) ब्रह्म एव **अपर** (दूसरा, अवस्य) ब्रह्म दोनो है। शकराचार्य (वे० सू० १।१।१२, आनन्दमयोऽभ्यासात्) का कथन है कि उपनिषदो मे ब्रह्म का उल्लेख दो प्रकार का है, प्रथम वह है जिसके अनुसार ब्रह्म की कई उपाधिया है, यथा—उसका नाम है, रूप है, उसने पदार्थो की सृष्टि की है और वह पूजित होता है, तथा दूसरा वह है जिसके अनुसार ब्रह्म गुणरहित अथवा निर्गुण है (जिसका परिज्ञान रहस्यवादी ढग से होता है)। दूसरे प्रकार (**निरुपाधिक या निर्गुण ब्रह्म**) के लिए शकराचार्य ने कतिपय वचनो के उदाहरण दिये है, यथा—बृ० उप० (४।५।१५, ३।९।२६ = ४।४।२२, ३।८।८), छा० उप० (७।२४।१), श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।१६)। अन्य वचन है बृ० उप० (४।४।१९ नेह नानास्ति किंचन), कठ उप० (४।१०-११, मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति)। उपनिषद् अर्थात् वेदान्त का चौथा स्वरूप है शरीर की मृत्यु के उपरान्त आत्मा की नियति तथा अन्य बाते, जो उसके साथ चलती है (अर्थात् आचार-शास्त्र एव पर-लोक-सम्बन्धी बाते)।

उपर्युक्त वचन यह बताते है कि ब्रह्म का वर्णन करना असम्भव है, अर्थात् ब्रह्म वर्णनातीत है, हम केवल वही कह सकते है जो वह नही है। शकराचार्य (वे० सू० ३।२।१७) ने बाष्कलि एव बाध्व के सवाद का उदाहरण दिया है, जहाँ बाध्व ने मौन रहकर ब्रह्म की विशिष्टता प्रकट की है। बाष्कलि ने कहा,—'महोदय, मुझे ब्रह्म के विषय मे बताये,' तब बाध्व मौन रह गये, जब बाष्कलि ने दूसरी एव तीसरी बार भी पूछा तो बाध्व ने उत्तर दिया,—'हम वास्तव मे कह रहे थे, किन्तु तुम समझ नही रहे हो, यह आत्मा उपशान्त है (बिना किसी क्रिया वाला)।' शकराचार्य ने **पर-ब्रह्म** एव **अपर-ब्रह्म** (दैहिक ईश्वर) मे अन्तर बताया है[२३]—'जहाँ नामो एव रूपो से, जो अविद्या से उत्पन्न होते है, ब्रह्म के सम्बन्ध को छोड दिया जाता है (अर्थात् उस सम्बन्ध को ठीक नही माना जाता अथवा उसका त्याग किया जाता है) और ब्रह्म को अभावात्मक ढग से, यथा अस्थूल आदि शब्दो से व्यक्त किया जाता है तो वहाँ 'पर ब्रह्म' है (अर्थात् उसका अर्थ है **पर ब्रह्म**), किन्तु जहाँ ऐसे वचन है, यथा—'वह मनोमय है, प्राणरूप है, शरीर-रूप है, प्रकाश रूप है, जिसके विचार सत्य है, जिसका स्वभाव आकाश के समान (सब स्थानो मे उपस्थित) है, जो सब कुछ की सृष्टि करता है आदि,' वहाँ ब्रह्म का उल्लेख उपासना के लिए है और वह **अपर ब्रह्म** है

२३ किं पुन पर ब्रह्म किमपरमिति। उच्यते। यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते 'मनोमय प्राणशरीरो भारूप' (छा० उप० ३।१४।२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम्। भाष्य (वे० सू० ४।३।१४)। एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसम्बन्धं निरस्तोपाधिसम्बन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यत इति। शकराचार्य (वे० सू० १।१।१२)। यह द्रष्टव्य है कि याज्ञवल्क्य की ब्रह्म-सम्बन्धी व्याख्या मे 'नेति नेति' शब्द चार बार आये है (बृ० उप० ४।२।४, ४।४।२२, ४।५।१५, ३।९।२६)। पर ब्रह्म को देश, काल एव कारण-नियम से अतीत माना गया है।

विश्व की सृष्टि एव प्रलय का वर्णन तभी सयुक्तिक कहा जायगा जब वह व्यावहारिक क्षेत्र पर आधृत हो। अद्वैत वेदा त मे सत्ता के तीन प्रकार ह, यथा—**पारमार्थिकी** (सर्वोच्च परम, केवल वही), **व्यावहारिकी** (व्यावहारिक जीवन वाली) एव **प्रातिभासिकी** (आभासित)। इनमे प्रथम (अर्थात् **पारमार्थिकी सत्ता**) परा विद्या विषयक है जिससे यह प्राप्त किया जाता है कि आत्मा का ही वास्तविक अस्तित्व है, विश्व उसी आत्मा म निवास करता है और इससे ऊपर किसी अन्य वस्तु की स्थापना या रचना नहीं है। इस उच्च आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, वास्तव मे न तो कोई सृष्टि है और न प्रलय, जीवात्मा वास्तव म बन्धन मे नहीं है, अत कोई मुक्त नहीं होता (मुक्त होने की बात ही नहीं उठती)। दूसरे प्रकार की सत्ता (अर्थात् **व्यावहारिकी सत्ता**) केवल व्यावहारिक है, प्रयोग-सिद्ध है, विश्व की सृष्टि एव प्रलय के तथा जीवात्मा एव उसके बन्धन, आवागमन एव अन्तिम मुक्ति के सिद्धान्त केवल अपरा विद्या के लिए युक्तिसगत (अथवा सयुक्तिक) है। अधिकाश धर्म तीन प्रकार की सत्ताओं की परिकल्पना करते हैं, यथा—**ईश्वर, जीवात्मा एव बाह्य ससार**। ये तीनो सत्य है किन्तु एक निश्चित सीमा तक ही (केवल तभी तक, जब तक व्यक्ति अहकारवश अपनी सत्ता स्वीकार करता है), किन्तु ये तीनो अन्तिम सत्ता के द्योतक नहीं है। किन्तु इस निम्न स्तर वाली सत्ता मे भी वह व्यक्ति जो गम्भीर निद्रा मे रहता है (कुछ देर के लिए) सत्य सत्ता मे लीन हो जाता है, जैसा छा० उप० (६।८।१, यत्रैतत् पुरुष स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति) मे कहा गया है। तीसरी सत्ता (**प्रातिभासिकी सत्ता**) स्वप्न की अवस्था की द्योतक है। स्वप्न म सुख, दुःख एव दुर्दशा की अनुभूति होती है और इन मानसिक स्थितियो का सम्बन्ध स्वप्न मे दिखाई पड़ने वाले दृश्यो से होता है, जो स्वप्न के चलते समय तक वास्तविक लगते है, किन्तु जब व्यक्ति जग जाता है तो ये सभी दृश्य अदृश्य हो जाते है। विश्व की सृष्टि के वर्णनो मे केवल यही बात पायी जाती है कि कारण एव कार्य मे कोई भेद नहीं है और वे सभी ब्रह्म के विषय मे सच्चा ज्ञान कराते है। शकराचार्य ने यही तर्क अन्य आत्माओ के विषय मे भी दिया है (वे० सू० २।३।३०) जिसे हम आगे के अध्याय मे उद्धृत करेंगे।

उपनिषदो मे जो सृष्ट अथवा रचित है उसके विषय मे तथा सृष्ट वस्तुओ के क्रम के विषय मे स्पष्ट विरोध पाया जाता है।[२४] बृ० उप० (५।५।१) मे आया है—'आरम्भ मे केवल जल थे, जलो ने **सत्य** की रचना की, जो ब्रह्म है, ब्रह्म ने प्रजापति को बनाया, जिसने देवो की सृष्टि की।' छा० उप० (६।२।३) मे प्रथम सृष्टि (रचना) के रूप मे जो स्पष्ट रूप से उल्लिखित है, वह है **तेज** और आकाश का तो कोई उल्लेख ही नहीं है। किन्तु तै०

२४ यह द्रष्टव्य है कि उपनिषदो मे विश्व-उत्पत्ति-सम्बन्धी धारणा बहुत प्राचीन है, उसके लिए कोई निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती, जैसा कि बाइबिल-सम्बन्धी शास्त्रीय तिथि-क्रम निर्धारित किया गया है (४००४ ई० पू०)। देखिए पिंगिल-पैटिसन कृत 'आइडिया आव गॉड' (१९१७ का सस्करण, पृ० २९९)। एच० डी० ऐथॉनी कृत 'साइस एण्ड इट्स बैकग्राउण्ड (मैकमिलन, १९४८, पृ० २) मे आया है 'कि आर्माघ के प्रधान पादरी जेम्स उश्शर ने १७वी शती मे 'ऐंग्लिकन चर्च' मे ई० पू० ४००४ नामक वर्ष निश्चित किया, अर्थात् सृष्टि ई० पू० ४००४ वर्ष पहले हुई। मध्यकालीन ईसाई सिद्धान्त यह है कि सृष्टि केवल ईश्वर के अस्तित्व मे एक घटना मात्र है और मानव ईश्वर की प्रतिमूर्ति के अनुरूप ही बना है और ईश्वर की साँस से ही मानव जीवित प्राणी बना (जेनेसिस १।२७ एव २।७)। मनुष्य के विषय मे ईसाई एव वेदान्त-सिद्धान्तो मे एक अन्य महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहाँ ईसाई सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का गर्भाधान एव जन्म पाप की दशा मे होता है, वही वेदान्त के अनुसार मानव आत्मा दिव्य है।

उप० (२।१) मे आकाश को प्रथम रचित माना गया है और उसके उपरान्त वायु (आकाश से उत्पन्न) एव अग्नि (वायु से उत्पन्न) को माना गया हे। इसी प्रकार छा० उप० (४।२) मे, जहाँ तेज, जल एव अन्न (अर्थात् पृथिवी) की रचना का स्पष्ट उल्लेख है, वायु (जो तै० उप० २।१ मे वर्णित है) की रचना के विषय मे कुछ भी नही कहा गया हे। तत्त्वो की सृष्टि एव उनके क्रम के विषय मे वे० सू० (२।३।१-११) मे व्याख्या की गयी है। शकराचार्य (वे० सू० २।३।६ पर भाष्य) का उत्तर यह हे कि छा० उप० मे पाये जाने वाले श्रुतिवचन का सम्बन्ध केवल तेज ऐसे तत्त्वो की सष्टि से है, इसका कोई अन्य उद्देश्य नही हे। यह ऐसा नही प्रदर्शित करना चाहता कि तै० उप० मे आकाश की सृष्टि त्रुटिपूर्ण है और इसलिए त्याज्य है।

सृष्टि के विषय मे चर्चा करते हुए एक प्रश्न उठ खडा होता है कि क्या जीवात्मा भी पृथिवी, वृक्षो एव लता-गुल्मो की भाँति एक सृष्टि है। उपनिषदो ने इस विषय मे विस्तार से कहा है। यहाँ भी हमे दो प्रकार के वचनो पर ध्यान देना होगा। प्रथम प्रकार के ऐसे वचन है जो यह कहते है कि विभिन्न आत्मा पर-ब्रह्म से उद्भूत होते है। कुछ वचन पाद-टिप्पणी मे उद्धृत किये जा रहे है।[२५] बृ० उप० मे आया है—'जिस प्रकार अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ छूटती है उसी प्रकार इस आत्मा से सभी प्राण, सभी लोक, सभी देव एव जीव उद्भूत होते है।' मुण्डकोपनिषद् ने भी यही विचार इस प्रकार बढाकर कहा है—'जिस प्रकार भली भाँति जलायी गयी अग्नि से उसके स्वभाव वाले सहस्रो स्फुलिग (चिनगारियाँ) फूटते है, उसी प्रकार इस अक्षर (अनाशवान्) से विभिन्न जीवित प्राणी निकलते है, और वही लौट आते ह।' याज्ञवल्क्य-स्मृति मे भी अग्नि एव स्फुलिग वाला उदाहरण उल्लिखित है। कठोपनिषद् मे एक अपेक्षाकृत अधिक उचित उदाहरण पाया जाता है—'जिस प्रकार एक शुद्ध जल दूसरे शुद्ध जल मे डाले जाने पर एक समान हो जाता (पृथक्-पृथक् नही किया जा सकता) है उसी प्रकार विज्ञ का आत्मा भी (पर ब्रह्म से अपरिच्छेद्य या अलक्ष्य) हो जाता है। द्वितीय प्रकार के ऐसे उपनिषद्-वचन है जो स्पष्ट रूप से कहते ह कि जीवात्मा अजन्मा हे, अमरणशील हे, वह कोई सृष्टि नही हे, पर ब्रह्म जीवात्मा रूप मे ही प्रवेश करता हे, पर ब्रह्म एव जीवात्मा मे कोई भेद नही है। इनमे से कुछ वचन देखिए नीचे पाद-टिप्पणी मे।[२६] शकराचार्य (वे० सू० २।३।१७) ने इन वचनो को उद्धृत किया है और इनके आधार पर दो प्रमेय उपस्थित

२५ यथाग्ने क्षुद्रा विस्फुलिगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मन सर्वे प्राणा सर्वे लोका सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। बृहदारण्यकोपनिषद् (२।१।२०), यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिगा सहस्रश प्रभवन्ते सरूपा। तथाक्षराद्विविधा सोम्य भावा प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥ मुण्डकोपनिषद् (२।१।१)। मिलाइए कौषीतक्युपनिषद् 'यथाग्नेर्ज्वलत सर्वा दिशो विस्फुलिगा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मान प्राणा यथा यतन विप्रतिष्ठन्ते। प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका' (४।१८) एव मैत्री० (६।२६ एव ३१) जिसमे ऐसा ही श्लोक आया हे। याज्ञ० (३।६७) मे ऐसा आया है—'नि सरन्ति यथा लोह पिण्डात्तप्तत्स्फुलिगका। सकाशादात्मनस्तद्वदात्मान प्रभवन्ति हि॥', यथोदक शुद्धे शुद्धमासिक्त तादृगेव भवति। एव मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ कठोपनिषद् (४।१५)।

२६ जीवापेत वाव किलेद म्रियते न जीवो म्रियत इति। छा० उप० (६।११।३), स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म। बृ० उप (४।४।२५), न जायते म्रियते वा विपश्चित् अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे। कठोपनिषद (२।१८), तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तै० उप० (२।६), अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। छा० उप० (६।३।२), स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्य। बृह० (१।४।७), तत्त्वमसि (छा० उप० ६।८।७), अह ब्रह्मास्मि (बृ० उप० १।४।१०), अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू। बृ० उप० (२।५।१९)।

किये है, यथा (१) जीवात्मा अजन्मा है तथा (२) यह श्रुतिवचनो के आधार पर नित्य है (नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्य)। यह पर ब्रह्म किस प्रकार बहुसख्यक विश्व मे फैलता है और विभु रूप मे समाहित रहता है, यह एक बडा रहस्य है, जिसे हम उदाहरणो से समझा सकते है। कुछ ऐसे वचनो को, जिनमे जीवात्माओ की सृष्टि एव प्रलय का उल्लेख-सा प्रतीत होता है, हम उन उपाधियो की ओर इगित करते हुए समझ सकते है जिनसे आत्मा प्रभावित हो जाता है। मैत्रेयी को समझाते हुए याज्ञवल्क्य ने अन्तिम निष्कर्ष निकाला है और इस प्रकार का उत्तर दिया है—'यह आत्मा अविनाशी एव अक्षय है, किन्तु (जब कोई मृत्यु की बात करता है तो उसका तात्पर्य यह है कि) आत्मा का भौतिक पदार्थो से 'कोई सम्बन्ध नही होता।'[२७] यही बात शान्तिपर्व (१८०।२६-२८=१८७।२७-२९, चित्रशाला सस्करण) एव गीता (२।२०, २१, २४, २५) मे भी कही गयी है ।[२८]

केवल थोडे ही लोग सर्वोच्च आध्यात्मिक दृष्टिकोण को समझ सकते है। कोटि-कोटि लोगो के लिए प्रयोग-सिद्ध दृष्टिकोण ही बच रहता है, और उन्ही के लिए उपनिषद्-वचन दैहिक-ईश्वर, क्रिया-सस्कार एव यज्ञो की व्यवस्था देते है, ऐसे लोग प्रकाश की सीढी के प्रथम चरण पर ही अवस्थित है और ईश्वर के विषय मे अल्पाश ही जानते है, उपरि-वर्णित लोगो की अपेक्षा थोडे से अन्य लोग है, जो ईश्वर की पूजा करते है, उसे खोजते है और अन्त मे इसकी अनुभूति करते है कि ईश्वर अन्त स्थ एव सर्वोत्तम है, बहुत थोडे लोगो की एक तीसरी कोटि भी है, जिसमे बडे-बडे ऋषि-मुनि, आध्यात्मिक विशिष्ट लोग है, यथा शकराचार्य जैसे विशिष्ट लोग, जो शुद्ध अद्वैतवाद के शिखर पर पहुँच पाते है, जो अहकार का त्याग कर देते है, जो पर ब्रह्म से सयुक्त हो जाने की पूर्ण अवस्था मे है और वे ऐसा नही कह सकते और न उन्हे ऐसा कहना ही चाहिए कि जीवात्मा एव भौतिक ससार अवास्तविक (माया) है। बादरायण (वे० सू० २।२।२९, 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्') एव शकराचार्य दोनो इस बात मे एकमत है कि सामान्य भौतिक ससार स्वप्नो से पूर्णतया भिन्न है और जाग्रत् अवस्था के प्रभाव मे स्थित पदार्थो से पृथक् नही है। इस प्रश्न के रहते हुए भी कि क्या **माया** शब्द (वे० सू० ३।२।३ मे प्रयुक्त—'मायामात्र तु) बादरायण द्वारा उसी अर्थ मे प्रयुक्त है जिसे शकराचार्य ने समझा है, ऐसा नही कहा जा सकता कि कठोपनिषद् (२।४।२), प्रश्नोपनिषद् (१।१६), छान्दोग्योपनिषद् (८।३।१-२) के वचन तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (१।३।२८) की प्रार्थना ('असतो मा सद् गमय ') से बडी सरलतापूर्वक माया के सिद्धान्त का निर्देश मिल जाता है और वह एक बुद्धियुक्त विकास का द्योतक है। अत अधिकाश मे सभी मनुष्यो के लिए ही उचित है कि वे विश्व को माया न कहे। यदि जीवात्मा एव ससार अवास्तविक है तब तो उस व्यक्ति द्वारा जो मायावाद को स्वीकार नही करता, ऐसा तर्क किया जा सकता है कि मायावादी ऐसी शिक्षा दे रहा है कि अवास्तविक आत्मा को अवास्तविक ससार से छुटकारा प्राप्त करना है और प्राप्त करना

२७ अविनाशी वा अरे आत्मानुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति। बृह० उप० (४।५।१४)। यह शकराचार्य द्वारा (वे० सू० २।३।१७) उद्धृत है।

२८ न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे मिथ्यैतदाहुर्म्रियतेति बुद्धा। जीवस्तु देहान्तरित प्रयाति दशार्धतैवास्य शरीरभेद ॥ एव सर्वेषु भूतेषु गूढश्चरति सवृत । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया तत्त्वदर्शिभि ॥ त पूर्वापररात्रेषु युञ्जान सतत बुध । लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ शान्ति० (१८०।२६-२,८ १८७। २७-२९, चित्रशाला)। 'दशार्ध' का अर्थ है पांच एव दशार्धता का अभिप्राय है 'पञ्चत्व'। 'न जीवनाशोऽस्ति' को मिलाइए छा० उप० (६।११।३)—जीवापेत इति (देखिए ऊपर पाद-टिप्पणी २६) तथा कठोपनिषद् (३।१२)।

है उसे जिसे वह मोक्ष कहता है और वह भी ऐसे साधनो द्वारा जो स्वय अवास्तविक है (यथा उपनिषद् का अध्ययन), अत मोक्ष स्वय अवास्तविक है। किस प्रकार एक ही सत्ता बहुत हो जाती है और अपने को सतत परिवर्तनशील भौतिक लोक के रूप मे अभिव्यक्त करती है, वास्तव मे यह एक अव्याख्येय एव दुर्बोध रहस्य है। किन्तु इससे हम लोग यह कहने का अधिकार नही पा जाते कि यह जगत् अवास्तविक या स्वप्न है। बहुत थोडे से अत्यन्त उच्च दार्शनिक लोग ही ऐसा कह सकते है कि जो वास्तविक है वह है एक, परम, केवल एक, अन्य सब कुछ उस केवल का आभास या छाया मात्र है। सामान्य लोग ऐसा कह सकते है कि इन दार्शनिको ने जो व्याख्याएँ उपस्थित की है वे उन्हे सन्तोष नही दे पाती और उनकी समझ के बाहर की है।

जब इस पर बल देना होता है कि ससार के पीछे क्या सत्ता है, तो उस पर ब्रह्म का उल्लेख किया जाता है। किन्तु जब उस एक सत्ता का अन्य आत्माओ एव भौतिक ससार के सम्बन्ध मे उल्लेख किया जाता है तो दैहिक ईश्वर की चर्चा हो उठती है। जब वेदान्तसूत्र (२।१।१४) यह कहता है कि यह लोक ब्रह्म से अन्वित (पृथक् नही) है, तो इसका तात्पर्य यह नही है कि दोनो अभिन्न है, प्रत्युत उसका अर्थ यह है कि आत्माओ एव लोक ब्रह्म से पूर्णतया भिन्न नही है। जब ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म की अनुभूति से मोक्ष की प्राप्ति होती है तो लोक के नाश का प्रश्न नही उठता, प्रत्युत बात यह है कि उस विषय में जो मिथ्या भावना या झुकाव है, वह दूर हो गया है या किसी सत्य भावना द्वारा हटा दिया गया है। यह परिमित (सीमित या नियत) ससार किस प्रकार अपरिमित या असीम से उत्पन्न होता है, यह एक रहस्य है, जिसके लिए शकराचार्य 'माया' शब्द का प्रयोग करते है। किन्तु वे इस विषय मे असदिग्ध है कि जब तक व्यक्ति एक आत्मा की अनुभूति करता है, सभी धार्मिक एव सासारिक जीवन-गतियाँ (वास्तविक या अवास्तविक) बिना किसी बाधा के चलती रहती है। शकराचार्य द्वारा प्रतिपादित माया का सिद्धान्त वेदान्त के उन तत्त्वो मे एक है जिन्हे लोगो ने अत्यन्त मिथ्यापूर्ण ढग से समझा है। यह नही भूलना चाहिए कि बहुत से दार्शनिक रुचि वाले हिन्दू इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नही करते कि यह जगत् मिथ्या है, अद्वैत-वादी लोग जो कुछ कहते है वह यही है कि ससार वैसा वास्तविक नही है जैसा ब्रह्म है। शकराचार्य ने अपनी स्थिति व्यक्त की है (वे० सू० २।१।१४)। उनका कहना है कि अपने विभिन्न अन्तर्भेदो के साथ यह ससार दीखता है, किन्तु इसका कोई अन्य आधार होना चाहिए, जहाँ यह अवस्थित हो सके, वही कोई अन्य आधार **पर ब्रह्म** है। दोनो का सम्बन्ध अव्याख्येय (जिसकी व्याख्या न की जा सके) है, इसीसे इसे **माया** कहते है। इस रीति से शकराचार्य निरीश्वरवादी भी कहे जाते है, जब कि अन्य धार्मिक दार्शनिक विश्व एव परमात्मा के सम्बन्ध मे सामान्य रूप से मान्य एव तार्किक सिद्धान्त को रखने मे सिद्धान्तो की अयथार्थता या अपनी असहायता को स्वीकार करने को सन्नद्ध नही होते।

हमे नही विस्मृत करना चाहिए कि हमारे शास्त्रो के अनुसार मानव-जीवन के चार ध्येय (**पुरुषार्थ**) है—**धर्म** (जो उचित या ठीक हो उसी को करने का नैतिक जीवन), **अर्थ** (सम्पत्ति एकत्र करने का जीवन या न्याय पर आवृत आर्थिक जीवन), **काम** (निर्दोष आनन्दो एव उचित कामनाओ के उपभोग का जीवन) **एव मोक्ष** (मुक्ति)। यह अन्तिम ध्येय (लक्ष्य) सर्वोत्तम है और यह बहुत ही थोडे लोगो द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसे **परम पुरुषार्थ** कहा जाता है। ऋग्वेद (१।८९।८) मे भी ऋषि ने शारीरिक स्वास्थ्य, सुख एव शत वर्षो के जीवन के लिए प्रार्थना की है—'हे देवगण, हम लोग कल्याण (भद्र) के शब्दो को सुनने के योग्य हो (अर्थात् हम लोग मृत्यु तक बहरेपन से ग्रसित न हो), अपनी आँखो से सुन्दर दृश्यो को देखते रहे,

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् (१।२।१२-१३)३० मे भी व्यवस्था है—'कर्मो द्वारा सगृहीत (उपलब्ध या प्राप्त किये हुए) लोको की परीक्षा करके ब्राह्मण को इस प्रकार के निर्वेद मे आना चाहिए कि त्रियाओ (जो अस्थिर हे) द्वारा अविनाशी नही प्राप्त हो सकता, विशिष्ट रूप से उसको समझने के लिए उसे समिधा लेकर उस गुरु के पास पहुँचना चाहिए जो विद्वान् हो और पूणतया ब्रह्म मे निवास करता हो,' विज्ञ (गुरु) उसी के समक्ष ब्रह्मविद्या का उद्घोष करता हं जो इस प्रकार उचित ढग से (गुरु के पास) आता है, और जिसका मन शान्त है (अर्थात् अहकार आदि से विचलित नही होता)। जिसका मन अव इन्द्रिय-विषयो के पीछे नही भागता, उसके द्वारा शिष्य उस अक्षर पुरुष को जानेगा।' यहाँ पर 'परीक्ष्य' शब्द यह प्रदर्शित करता हे कि ब्रह्मविद्या की उपलब्धि केवल उसी को हो सकती है जो इन्द्रिय-सुखो मे थक चुका हो, अर्थात् जिसमे अव ससार से विराग उत्पन्न हो गया हो। ऐसा आगे कहा गया हे (कठोपनिषद् ६।१४ एव बृह० उप० ४।४।७) कि जब व्यक्ति उन सभी वासनाओ से मुक्त हो जाता हे जो मनुष्य के हृदय मे चिपकी रहती है, तो वह अमर हो जाता है और इसी जीवन मे ब्रह्म की उपलब्धि कर लेता हे।[३१] और देखिए बृह० उप० (४।४।६) जहाँ उसके बारे मे आया है जो कामना नही करता, जो कामना न करते हुए सभी कामनाओ से मुक्त है, जो इसकी अनुभूति करता है कि उसे केवल आत्मा की कामना है और इस प्रकार (इस कामना से) सारी कामनाओ की उपलब्धि कर लेता है, जीवनोच्छ्वास अन्य उच्च लोको (स्वर्ग आदि) की ओर नही जाता, क्योकि वह (वास्तव मे) ब्रह्म हो जाने के कारण ब्रह्म मे ही लीन हो जाता है कठोपनिषद् (२।२४) मे आया है—'जिसने कदाचरण नही छोडा है, जिसका मन शान्त नही है, जो ध्यान नही लगाता, वह केवल ज्ञान की सहायता से आत्मा की अनुभूति नही कर सकता।'

उपनिषदो के सिद्धान्त के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है, व्यक्ति जव सत्कर्म करता है तो उससे जो अच्छे फल प्राप्त होते हे उन्हे भोगने के लिए वह नये जन्म प्राप्त करता जाता हे और इस प्रकार मोक्ष विलम्बित हो जाता हे। अत सन्यासियो का कर्मो एव फलो से पूर्ण विराग ले लेना आवश्यक माना गया है। जव तक देह जीवित है तब तक उसे सम्पत्ति, सन्तति एव उच्चतर लोको की कामनाएँ छोडनी पडती है और भिक्षा पर ही निर्भर रहना पडता है। सन्यासियो के लिए कोई अन्य आचार-सहिता यहाँ व्यवस्थित नही है, अत यह मानना पडेगा कि उपनिषदो ने केवल यही शिक्षा सन्यासियो के लिए उपयुक्त ठहरायी हे। अन्य वचनो से भी यही दृष्टिकोण झलकता हे। ऐसा आया हे कि मुक्त लोग सुकृत (सत्कर्म एव उनके फल) एव दुष्कृत (असत्कर्म एव उनके फल) के ऊपर होते ह। छान्दोग्योपनिषद् (८।४।१)[३२] मे आया है—'यह आत्मा सेतु हे जिससे ये लोक

३०. परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृत कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्। तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षर पुरुष वेद सत्य प्रोवाच ता तत्त्वतो ब्रह्म विद्याम्॥ मुण्डकोप० (१।२।१२-१३), नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ कठोप० (२।२४)।

३१ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठोप० (४। १४) एव बृह० उप० (४।४।७)।

३२ अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषा लोकानामसम्भेदाय। नैन सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृत न दुष्कृतम्। सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते। अपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोक। छा० उप० (८।४।१), स एष विसुकृतो विदुष्कृतो ब्रह्म विद्वान्ब्रह्मैवाभिप्रैति। कौषी० उप० (१।४)।

दूर-दूर पड जाते है, और एक-दूसरे से व्यामोहित नही हो पाते, दिन एव रात्रि इसके ऊपर नही हो पाते (नही तैर पाते), और न जरा न मृत्यु, न शोक और न सुकृत एव दुष्कृत ही (इसके ऊपर हो पाते), सभी दुष्कृत अथवा पापमय कर्म इससे दूर भाग जाते हे, क्योकि ब्रह्मलोक सभी पापमय कृत्यो से मुक्त है।' इसी प्रकार कौषीतकि उप० (१।४) मे भी आया हे—'अच्छे कर्मो एव बुरे कमो से युक्त होने पर यह ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म की ओर बढता है' (ब्रह्म से एक हो जाता है या ब्रह्म मे समाहित हो जाता हे अथवा ब्रह्मलीन हो जाता है)।

उपर्युक्त वचनो से प्रकट है कि उपनिषदो के अनुसार सन्यासी को केवल जीने के लिए, जब तक शरीर चलता रहता है, छोडकर सभी प्रकार के कर्मो का पूर्णतया त्याग करना होता है। जाबालोपनिषद् (४ 'यदहरेव विरजेनदहरेव प्रव्रजेत्') मे आया हे—'जिस दिन विराग हो जाय उसी दिन सन्यासी (परिव्राजक, घूमने वाला सन्यासी) हो जाना चाहिए।' इससे प्रकट है कि केवल ज्ञान ही नही, प्रत्युत सासारिक जीवन से विराग हो जाना भी सन्यास ग्रहण के लिए आवश्यक है। और देखिए कठोपनिषद् (२।२४)। प्रश्नोपनिषद् (१।१६) मे दृढतापूर्वक कहा गया है कि 'केवल उन्ही के पास ब्रह्म का पवित्र लोक आता हे, जिनमे वक्रता नही होती, झूंठ नही होती और माया या द्वैधीभाव नही होता।'[३३] उपनिषदे कभी-कभी कहती हे कि 'जो ब्रह्म को जानता है वह स्वय ब्रह्म हो जाता है' (मुण्डकोप० २।३।६), किन्तु वे ही पुन कहती हे (मुण्डकोप० १।२।१२-१३) कि ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त महान् नैतिक एव आत्मिक उपलब्धियाँ आवश्यक ह।

सस्कृत-साहित्य मे मोक्ष के लिए कतिपय शब्दो का प्रयोग हुआ है। अमरकोश ने **मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, श्रेयस्, नि श्रेयस्, अमृत, मोक्ष** एव **अपवर्ग** को एक दूसरे का पर्याय माना है। उपनिषद् एव गीता ने बहुधा मुक्ति, मोक्ष एव अमृत (या अमृतत्व) का प्रयोग किया है। कई दृष्टिकोणो से उन्होने मोक्ष की अवस्था का उल्लेख किया है। मानव मे वासनाओ के प्रति गम्भीर पिपासा एव तृष्णा होती हे और वह जन्मो एव मरणो के चक्र मे पिसता रहता हे, अत जब आत्मा इन सबसे छुटकारा पा लेता हे और ब्रह्म की अनुभूति कर लेता है तो ऐसा कहा जाता है कि यह अमर हो गया है या इसने अमरता प्राप्त कर ली हे। देखिए बृ० उप० (६।४।७ एव १४, ५।१५-१७, 'विद्ययामृतमश्नुते') छा० उप० (२।२३।२, जो ब्रह्मज्ञान को भली भाँति जानता है वह अमरता प्राप्त करता है), कठोप० (६।२ एव ९), श्वे० उप० (४।१७ एव २०, ३।१, १०,१३), गीता (१२।१३, १४।२०)। 'मुक्ति' एव 'मोक्ष' दोनो 'मुच्' (स्वतन्त्र हो जाना) धातु से निकले है और मुच् के क्रियारूप बहुधा 'अमरता' के साथ प्रयुक्त होते ह, यथा—कठोप० (६।८, य ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्व च गच्छति एव १४), बृ० उप० (४।४।७), श्वे० उप० (१।८ एव ४।१६, ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै)। **'मोक्ष'** शब्द का प्रयोग श्वे० उप० (४।१६) एव गीता (५।२८, ७।२९, १८।३०) मे हुआ है। नि श्रेयस (मोक्ष, इससे बढकर अन्य कुछ नही) का प्रयोग कौषीतकि उप० (३।२), गीता (५।२) मे हुआ है। **श्रेयस्** शब्द का अर्थ है 'उससे अपेक्षाकृत अच्छा' और इसका प्रयोग उपनिषदो (तै० उप० १।११ एव छा० उप० ४।६।५) एव गीता (२।७,३१, ३।३५, १८।४७ आदि) मे हुआ है, किन्तु कठोपनिषद् (२।१ एव २ 'श्रेयस्' जिसका प्रतिलोम हे 'प्रेयस्' अर्थात् आनन्द) मे इसका अर्थ हे 'नि श्रेयस (मुक्ति)।

३३ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ कठोप० (२।२४), तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृत न माया चेति। प्रश्नोप० (१।१६)।

पाणिनि (५।४।७७, ने 'नि श्रेयस' शब्द को उन पचीस शब्दो मे गिना है जो अनियमित कहे जाते हैं और महाभाष्य ने इसकी व्याख्या की है 'निश्चित श्रेय'। **कैवल्य** शब्द का प्रयोग उपनिषदो मे नही हुआ है, किन्तु 'केवल' (अर्थात् गुणो से रहित, शुद्ध चेतना के रूप मे पृथक्) का प्रयोग श्वे० उप० (४।१८ एव ६।११ —साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च) मे हुआ है। **निर्वाण** शब्द गीता (६।१५, वह योगी, जिसने मन पर अधिकार कर लिया है, और सदा योगाभ्यास करता रहता है, मुझमे अवस्थित शान्ति पाता है, वही सर्वोच्च निर्वाण है) मे आया है, गीता (२।७२ एव ५।२४-२५) मे 'ब्रह्मनिर्वाणम्' आया है जिसका अर्थ है 'ब्रह्म मे परमसुख।' **अपवर्ग** का प्रयोग केवल मैत्री उप० (६।३०) मे हुआ है और न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र द्वारा यह लक्ष्य के रूप मे निर्धारित है।

यह द्रष्टव्य है कि विश्वविद्या, उपनिषदो मे या पश्चात्कालीन ग्रन्थो मे, भूकेन्द्रीय सिद्धान्त पर आवृत है और इसका अधिकाश मे सम्बन्ध है—सामान्य रूप मे (विना किसी विस्तृत उल्लेख के) पृथिवी, तत्त्वो, सूर्य, चन्द्र, ग्रहो एव नक्षत्रो से।

मनुस्मृति मे सृष्टि-सम्बन्धी कई सिद्धान्त हैं। १।५-१९ मे **प्रथम सिद्धान्त** पाया जाता है—यह विश्व अन्धकार के रूप मे अवस्थित था, अज्ञात था, और था स्पष्ट सकेतो से रहित, तर्कहीन, न जानने योग्य, मानो गम्भीर निद्रा मे निमग्न हो। इसके उपरान्त देव स्वयम्भू दुर्निवार शक्तियो के साथ अन्धकार को हटाते हुए तथा महान् तत्त्वो के साथ इन सभी को स्पष्ट करते हुए प्रकट हुए, वे अपनी इच्छा से ही चमक उठे, उन्होने विभिन्न प्रकार की वस्तुओ को अपने शरीर से उत्पन्न करने की इच्छा से तथा सोचने (सृष्टि करने की भावना करने) के उपरान्त सर्वप्रथम जल की उत्पत्ति की और उसमे अपना वीज लगाया। वह वीज सोने का एक अण्डा (हिरण्यगर्भ) वन गया, जो दीप्ति मे सूर्य के समान था, और उस अण्डे मे वे ब्रह्मा के रूप मे उत्पन्न हुए, जो सम्पूर्ण ससार के पूर्वज रूप मे थे। वे नारायण कहे जाते हैं।[३४] क्योकि जल (वहुवचन मे प्रयुक्त) जो नारा (नर की सन्ताने) कहे जाते है, उनके निवास का प्रथम स्थल वने। उस प्रथम कारण से, जो अभी व्यक्त नही था, जो न तो सत् कहा जा सकता और न असत्, एक पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसे लोग ब्रह्मा कहते है। उस अण्डे मे वह दैवी शक्ति एक वर्ष तक निवास करती रही, उन्होने उस विषय मे सोचने-विचारने के उपरान्त उस अण्डे को दो भागो मे विभाजित कर दिया, इन दोनो मे से उन्होने स्वर्ग एव पृथिवी का निर्माण किया, इन दोनो के बीच मे अन्तरिक्ष, आठ दिशाएँ एव जलो का निवास (अर्थात् समुद्र) बनाया। उन्होने अपने मे से मन को निकाला (वनाया) जो न तो सत् है और न असत्, मन से अहकार (आत्म-चेतना) एव

३४ आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव । ता यदस्यायन पूर्वं तेन नारायण स्मृत ॥ मनु (१।१०), शान्तिपर्व (३४२।४० चित्रशाला सस्करण) मे इसकी प्रथम अर्धाली है और दूसरी अर्धाली यो है—'अयन मम तत्पूर्वमतो नारायणो ह्ययम्।' विष्णु पु० (१, ४।५-६), ब्रह्माण्ड पु० (१।५।५-६), कूर्म पु० (१।६।४-५), इम चोदाहरन्त्यत्र श्लोक नारायण प्रति। आपो नारा सूनव। अयन तस्य ता पूर्वं स्मृत ॥ यह स्पष्ट है कि दोनो पुराणो ने किसी एक ग्रन्थ से उधार लिया है, जो सम्भवत मनुस्मृति ही है। मार्कण्डेय पु० (४४।४-५) मे विष्णु पु० के ही श्लोक है, यथा—इम चोदा० एव आपो सूनव। तासु शेते स यस्माच्च तेन नारायण स्मृत ॥ वराह पु० (२।२५-२६) मे विष्णु पु० (१।४।५-६) के समान ही पाया जाता है। ब्रह्म पु० (१।३८-३९) मे आया है 'आपो नारा सूनव। अयन तस्य ता.. स्मृत ॥

'महत्-आत्मान्', सभी उत्पन्न वस्तुएँ तीन गुणो के सम्मिलन से वनी, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ वनी जो इन्द्रिय-विषयो का प्रत्यक्षीकरण करती है। उन्होने ६ (अहकार एव पाँच तन्मात्राओ) के सूक्ष्म भागो को मिलाकर और अपने अशो के सम्मिश्रण से सभी जीवो को वनाया, पाँच तत्त्व सभी जीवो के ढाँचे के निर्माता मे प्रवेश कर गये। इस सिद्धान्त मे ऋ० (१०।१२९ के विशेषत १-३ मन्त्र), शत० ब्रा० (११।१।६।१) एव छान्दोग्योप० (३।१९।१-२, हिरण्यगर्भ के विषय वाली) एव साख्य सिद्धान्त की (तत्त्व एव गुण, यद्यपि महत्, अहकार एव पच तत्त्वो के क्रम मे समानता नही है) वातो का समावेश है। मनुस्मृति के १।२१ मे ऐसा आया है कि हिरण्यगर्भ ने सृष्टि के आरम्भ मे वेद के शब्दो द्वारा सभी रचित जीवो को नाम दिये तथा उनकी विशिष्ट क्रियाएँ एव अवस्थाएँ (परिस्थितियाँ) निर्धारित की। इस विषय मे मनुस्मृति ने एक श्रुति वचन का अनुसरण किया है, यथा ऋ० ९।६२।१, जिसे शकराचार्य ने (वे० सू० १।३।२८) उद्धृत किया है।

सृष्टि-सम्बन्धी दूसरा सिद्धान्त मनुस्मृति (१।३२-४१) मे यो आया है—ब्रह्मा ने अपने शरीर को दो भागो मे विभाजित किया, एक अर्धांश पुरुष के रूप मे और दूसरा नारी के रूप मे। नारी के रूप से उन्होने विराट् की सृष्टि की, जिसने तप किया और एक पुरुष उत्पन्न किया जो स्वय मनु (जिसने मनुस्मृति का उद्घोष किया है) था। मनु ने सृष्टि की कामना से जीवो की सृष्टि की, सर्वप्रथम उन्होने, दस ऋषियो को प्रजापतियो के रूप मे बनाया जिन्होने सात ऋषियो, देवो, देवो की कोटियो, महान् ऋषियो, यक्षो, राक्षसो, गन्धर्वों, अप्सराओ, सर्पों, पक्षियो, पितरो की श्रेणियो (वर्गों), विजली, मेघो, बडे-छोटे नक्षत्रो, बन्दरो, मछलियो, हरिणो, गायो, मनुष्यो, सिहो, कीटो, मक्षिकाओ, अचल पदार्थों आदि की रचना की। यह वर्णन ऋ० के पुरुषसूक्त (ऋ० १०।-९०) से, विशेषत ५ एव ८-१० ऋचाओ से प्रभावित है।

सृष्टि-सम्बन्धी तीसरा सिद्धान्त मनुस्मृति (१।७४-७८) मे सक्षिप्त रूप से आया है। निद्रा से जागने पर ब्रह्मा ने अपने मन को रचा (अर्थात् नियुक्त किया), जिसने ब्रह्मा से प्रेरित होकर आकाश वनाया, जिसका विलक्षण गुण है स्वर। उस आकाश ने अपने को परिमार्जित करके वायु की रचना की जिसका गुण है स्पर्श। वायु से देदीप्यमान (भास्वत्) प्रकाश का उदय हुआ, जिससे जल की उत्पत्ति हुई। जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई जिसका विशिष्ट गुण है गन्ध। यह सिद्धान्त साख्य सिद्धान्त का परिमार्जन है, जिसके अनुसार (साख्यकारिका २५) पाँच तत्त्व अहकार से उद्भूत होते है। यहाँ ब्रह्मा (जिनका साख्य सिद्धान्त मे कोई स्थान नही है) को वैठा दिया गया है। एक ही विषय पर मनुस्मृति ने कई विरोधी मत प्रतिपादित किये है। उदाहरणार्थ मिलाइए मास-प्रयोग पर मनु (५।२७-४६) एव मनु (५।४८-५६), मनु (३।१३) एव मनु (३।१४-१९) जहाँ ब्राह्मण द्वारा शूद्र नारी से विवाह की वात की ओर इगित है, मनु (९।५९-६२) एव मनु (९।६४-६८) जहाँ पर नियोग-प्रथा की चर्चा है।

महाभारत मे (विशेषत शान्तिपर्व मे) सृष्टि-सम्बन्धी वातो का वहुधा उल्लेख हुआ है। यहाँ पर सभी वाते नही दी जा सकती। कुछ का उल्लेख हो रहा है। शान्तिपर्व (१७५।११-२१=१८२।११-२१, चित्रशाला सस्करण) मे आया है कि अव्यक्त से सभी जीवो का जन्म हुआ। उन्होने सर्वप्रथम 'महान्' (जिसे आकाश भी कहा जाता है) की रचना की, आकाश से जल उत्पन्न हुआ, जल से अग्नि एव वायु की उत्पत्ति हुई, इन दोनो के मिश्रण से, पृथिवी वनी। तव स्वयम्भू ने एक कमल वनाया, जिससे ब्रह्मा उदित हुए, जिन्हे अहकार कहा जाता है और उन्होने सम्पूर्ण विश्व को रचा। अध्याय १७६ (चित्रशाला का १८३) मे आया है कि ब्रह्मा ने सर्वप्रथम जल वनाया, जल से वायु उठी, जल एव वायु के मिश्रण से अग्नि की उत्पत्ति हुई और अग्नि, वायु एव आकाश के सम्मिलन से पृथिवी वनी। अध्याय १७७ (१८४, चित्रशाला सस्करण) मे व्याख्या है कि महाभूत (महान् तत्त्व)

पॉच है, यथा—**वायु, आकाश, अग्नि, जल एव पृथिवी**, इन्ही से सभी जीव बने है, पाँच इन्द्रियाँ है, ज्ञानेन्द्रियो के पॉच पदार्थ या विषय हे और पॉच गुण है—शब्द, स्पर्श, रूप (रग), रस (स्वाद) एव गन्ध, इसके उपरान्त इनके कतिपय उप-भागो का उल्लेख है। अध्याय १७८ (=१८६, चित्रशाला) मे पॉच प्राणो एव उनके कार्य-क्षेत्रो का वर्णन है। अध्याय १७६-१८० (=१८६-१८७, चित्रशाला) मे 'जीव' की चर्चा है और अन्त मे कहा गया है कि शरीर (देह) नाशवान् है, आत्मा एक देह से दूसरी देह मे जाता है ओर योग द्वारा व्यक्ति परमात्मा मे आत्मा को देख सकता हे। अध्याय २०० (=२०७ चित्रशाला) मे आया है कि पुरुषोत्तम ने पॉच तत्त्व निर्मित किये, वे जलो पर लेट गये, उनकी नाभि से सूर्य के समान देदीप्यमान एक कमल निकला, जिससे ब्रह्मा प्रकट हुए जिन्होने अपने मन से सात पुत्र उत्पन्न किये, यथा—दक्ष, मरीचि, अत्रि, अगिरा, पुलस्त्य, पुलह एव क्रतु। दक्ष की कई पुत्रियाँ थी (सबसे बडी थी दिति), इन पुत्रियो से दैत्यो, आदित्यो, अन्य देवो, काल एव इसके भागो, पृथिवी, चार वर्णो, सभी प्रकार के मनुष्यो, आन्ध्रो, पुलिन्दो, शबरो एव अन्यो की उत्पत्ति दक्षिणापथ मे तथा उत्तरापथ मे योनो (यवनो), काम्बोजो, गान्धारो, किरातो, बर्बरो आदि की उत्पत्ति हुई। अध्याय २२४ (२३१ चित्र०) मे कहा गया हे कि आरम्भ मे ब्रह्म था, जो अनादि एव अनन्त है तथा बोधगम्य नही है और वह निमेष से लेकर युगो तक एव उनकी विशेषताओ तक काल का विभाजन करने वाला है। यही पर वे श्लोक आते है जो मनुस्मृति (१।६५-६७, ६६-७०, ७५-७७, ८१-८३, ८५-८६) के समान है। यह बताना कठिन है कि किसने किसका अनुकरण किया है, क्योकि मनुस्मृति (१०।४४) ने भी पौण्ड्रको, आद्रो, द्रविडो, काम्बोजो, यवनो, शको, पारदो, पह्लवो, चीनो, किरातो, दरदो एव खशो का उल्लेख किया है जो मौलिक रूप मे क्षत्रियो के उप विभाजन या उप-जातियाँ (क्षत्रिय जातय) थे, किन्तु अब ब्राह्मणो से सभी प्रकार के सम्पर्क टूट जाने तथा धार्मिक सस्कारो (यथा, उपनयन आदि) के बन्द हो जाने के कारण शूद्रो की श्रेणी मे परिगणित हो गये है। शान्ति० के अध्याय ३११ मे सृष्टि का उल्लेख साख्य के पारिभाषिक शब्दो मे हुआ है, केवल ब्रह्मा को रख दिया गया है। ब्रह्मा (जो **महान्** कहे गये है) हिरण्यगर्भ मे उत्पन्न हुए, वे अण्ड के भीतर एक वर्ष तक रहे, इसके उपरान्त उन्होने अण्ड के दो भागो (स्वर्ग एव पृथिवी) मे अन्तरिक्ष की रचना की, अहकार से पञ्च तत्त्वो की उत्पत्ति हुई, इसके उपरान्त उनके पॉच गुण उल्लिखित है। आश्वमेधिक पर्व (अध्याय ४०-४२) शान्ति० (अध्याय ३११) के समान है और उसमे सृष्टि-क्रम यो है—अव्यक्त-महत्-अहकार-पञ्चतत्त्व। अन्तर केवल यही है कि श्लोक २ मे महान् को विष्णु, शम्भु, बुद्धि के नाम से कहा गया है और बहुत से उनके पर्यायवाची शब्द आ गये है।

याज्ञवल्क्यस्मृति (३।६७-७०) मे ऐसा उल्लिखित है कि एक आत्मा से बहुत-से आत्मा उसी प्रकार निकलते हे जिस प्रकार एक प्रज्ज्वलित लौहपिण्ड से स्फुलिग फूटते है और अजन्मा एव अविनाशी आत्मा देह के सम्पर्क मे आने पर ही जन्म लेता हे। सृष्टि के आरम्भ मे परमात्मा पञ्च तत्त्वो की रचना करता है, यथा—आकाश, वायु, तेज, जल एव पृथिवी, जिनमे आगे आने वाला प्रत्येक तत्त्व गुणो का आधिक्य ग्रहण करता जाता है, (परमात्मा) जब जीवात्मा के रूप मे प्रकट होता है तो वह (अपने शरीर के लिए) ये ही तत्त्व ग्रहण करता है। इसके उपरान्त स्मृति गर्भाधान, भ्रूण आदि का उल्लेख करती है, मानव-शरीर मे स्थित अस्थियो, स्नायुओ, मासपेशियो की सख्या बताती हे ओर घोषित करती है कि सम्पूर्ण विश्व परमात्मा से ही प्रकट होता है तथा जीवात्मा तत्त्वो से ही प्रकट होता है (अर्थात् उसका शरीर इन्ही तत्त्वो से बना हुआ है)। आत्मा अनादि है, अजन्मा है, किन्तु यह शरीर के घनिष्ठ सपर्क मे आता ह जो असत्य भावनाओ, तृष्णाओ एव द्वेषो से प्रभावित कर्मो के कारण है (३।१२५)। कतिपय रूप धारण करने वाले मूल तत्त्व परमात्मा के कतिपय भागो (मुख, बाहुओ, जाँघो, पाँवो आदि) से क्रम से चारो वर्णो, पृथिवी, स्वर्ग, प्राणो, दिशाओ, वायु, अग्नि, चन्द्र (मन से), सूर्य (उसकी आँखो से), आकाश तथा

सम्पूर्ण चल एव अचल विश्व की उत्पत्ति होती है (३।१२६-१२८)। यहाँ पर पुरुषसूक्त (ऋ० १०।६०।१ एव १२-१४) का पूर्ण अनुसरण है।

पुराणो ने विश्व-विद्या एव विश्व-विवरण-सम्बन्धी सिद्धान्तो के विषय मे सहस्रो श्लोको की रचना की है। यहाँ हम बहुत सक्षेप मे कतिपय अति प्राचीन पुराणो, यथा—मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु एव मार्कण्डेय मे विवरण उपस्थित करेगे। पुराणो मे पाँच विषयो पर चर्चा होती है, यथा—**सर्ग** (सृष्टि), **प्रतिसर्ग** (पुन सृष्टि एव प्रलय), **वश** (राजकुलो का उल्लेख), **मन्वन्तर** (काल की विशद अवधियाँ) तथा **वशानुचरित** (सूर्य, चन्द्रवशी तथा अन्य वशी कुलो का इतिहास)। इस प्रकार बहुत से पुराण विशद रूप मे सृष्टि का उल्लेख करते है। यहाँ हम थोटे-से अति प्रसिद्ध एव विलक्षण सिद्धान्तो एव वचनो का उल्लेख कर सकेगे।

मत्स्यपुराण ने सृष्टि के विषय मे मनुस्मृति के सदृश ही उल्लेख किया है और उसके बहुत-से श्लोक सर्वथा अनुरूप है या वही है। मत्स्य० (२।२७) मे आया है—आरम्भ मे सर्वप्रथम नारायण ही प्रकट हुए और विविध रूपी विश्व के निर्माण की कामना रखने के कारण उन्होने अपने शरीर से जलो की उत्पत्ति की, उनमे बीज डाला और एक सोने का अण्डा प्रकट हुआ, उस अण्डे के भीतर सूर्य प्रकट हुआ जो सूर्य एव ब्रह्मा कहलाया उसने उस अण्डे के दो भागो को स्वर्ग एव पृथिवी के रूपो मे परिणत किया और उन दोनो के बीच सभी दिशाएँ बनायी तथा आकाश बनाया। इसके उपरान्त मेरु एव अन्य पर्वतो तथा सात समुद्रो (लवण, ईख के रस आदि वाले समुद्रो) का निर्माण हुआ। नारायण प्रजापति बन गये, जिन्होने देवो एव असुरो सहित यह विश्व बनाया[1]। मत्स्य० के तृतीय अध्याय ने वेदो, पुराणो एव विद्याओ को उनके अधरो से निकला हुआ कहा है और कहा है कि उन्होने अपने मन से मरीचि, अत्रि आदि दस ऋषि उत्पन्न किये (३।५-८)। इसके उपरान्त मत्स्य० ने सास्य सिद्धान्त-सम्बन्धी विश्व-रचना का उल्लेख किया है (३।१४-२९) और उसमे आया है गुण तीन है, यथा—सत्त्व, **रज** एव **तम** और उनके सन्तुलन की स्थिति **प्रकृति** कहलाती है, जिसे कुछ लोग **प्रधान** कहते है, अन्य लोग **अव्यक्त** कहते है यह प्रधान सृष्टि करता है। तीन गुणो से ब्रह्मा, विष्णु एव महेश्वर प्रकट हुए। प्रधान से **महान्** का उदय हुआ, महान् से **अहकार** की उत्पत्ति हुई और तब **पाँच ज्ञानेन्द्रियो** एव **पाँच कर्मेन्द्रियो** की उद्भूति हुई और मन एक ग्यारहवी इन्द्रिय बना और **पाँच तन्मात्राएं** (सूक्ष्म तत्त्व) बनी। **आकाश** की उत्पत्ति शब्द नामक तन्मात्रा से हुई, आकाश से **वायु**, वायु से **तेज** तथा तेज से **जल** की उत्पत्ति हुई, और जल से **पृथिवी** बनी और पुरुष २५वाँ तत्व है। इसके उपरान्त मत्स्य० (३।३०-४४) एक विलक्षण गाथा कहता है कि ब्रह्मा ने अपने मे से एक स्त्री (शतरूपा, सावित्री, सरस्वती, गायत्री या ब्रह्माणी नाम से पुकारी जाने वाली) की रचना की, और उससे मोहित हो गये और एक लम्बे समय के उपरान्त उससे एक पुत्र प्राप्त किया जिसका नाम था मनु (स्वायम्भुव नामक), एक अन्य पुत्र भी हुआ, जिसका नाम था विराट्। इसके उपरान्त ब्रह्मा ने अपने पुत्रो से लोगो को उत्पन्न करने के लिए कहा। मत्स्य० ने अध्याय ४ मे कहा है कि ब्रह्मा को शतरूपा से सात पुत्र उत्पन्न हुए, यथा मरीचि आदि (श्लोक २५-२६, जो ३।५-८ के विरोध मे आ जाते है), उसने स्वायम्भुव मनु के दो पुत्रो तथा उनके वशजो का उल्लेख किया है। पाँचवे अध्याय के उपरान्त कुछ अध्याय दक्ष, कश्यप, दिति के वशजो की तथा पृथु के राज्याभिषेक, सूर्य एव चन्द्र के कुलो तथा पितरो के विभिन्न वर्गो की चर्चा करते है।

वायुपुराण ने सृष्टि-विषयक बातो पर पाँच अध्याय (४-९) लिखे है, जिनमे ६०० से अधिक श्लोक है। अध्याय ४ (श्लोक २२-६१) मे सास्य सिद्धान्त के अनुसार प्रधान, महत्, अहकार, तन्मात्रा का उल्लेख है और उसके साथ हिरण्यगर्भ सिद्धान्त जोड दिया गया है (श्लोक ६६ तथा आगे)। अध्याय ६ मे लगता है

पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०।१-२) की ओर इगित है (श्लोक २-३), उसमे ऐसी व्याख्या है कि नारायण का नाम इसलिए पडा है कि वे जलो पर लेटते हैं, इसमे कूर्म अवतार की ओर सकेत है, सृष्टि के नौ प्रकारो का उल्लेख है। इसमे एक नया सिद्धान्त यह आया है कि ब्रह्मा ने आरम्भ मे मनु से उत्पन्न पुत्रो तथा सनन्दन एव सनक की रचना की (६।६५)। अध्याय ७ मे फिर से हुई सृष्टि की ओर सकेत है। अध्याय ८ मे (जिसमे १९८ श्लोक हैं) युगो, उनकी अवधियो, ८ देवयोनियो, पशुओ, मात्राओ (छन्दो) आदि तथा ब्रह्मा के विभिन्न पुत्रो की चर्चा है।

ब्रह्माण्डपुराण (१ के अध्याय ३-५) मे हिरण्यगर्भ के प्रकट होने तथा विभिन्न प्रकार की सृष्टियो (रचनाओ) का उल्लेख है। चौथे अध्याय मे **प्रधाना** एव **गुणो** का उल्लेख है और ऐसा आया है कि प्रधान मे पाये जाने वाले गुणो के असमान मिश्रण से सृष्टि होती है। उसमे ब्रह्मा के मनस पुत्रो का भी उल्लेख है। इस पुराण के अनुषगपाद (द्वितीय परिच्छेद) के अध्याय ८ एव ११ मे देवो, पितरो, मनुष्यो एव महान् ऋषियो, भृगु आदि की सृष्टि की चर्चा है।

ब्रह्मपुराण के प्रथम तीन अध्याय (जिनमे लगभग २४० श्लोक है) सृष्टि का उल्लेख करते है। प्रथम अध्याय (श्लोक ३४ तथा इसके आगे के श्लोक) मे ब्रह्मा को भूतो का स्रष्टा एव नारायण का भक्त कहा गया है, इसमे आगे आया है कि **महत्** से **अहकार** का उदय हुआ और अहकार से **पाँच तत्त्वो** की उत्पत्ति हुई। मत्स्यपु० के समान ब्रह्मपु० (१।३७-४१) भी मनु (१।५-१३) का अनुसरण करता है। इसमे मरीचि, अत्रि आदि सप्तर्षियो की जो सप्त 'ब्राह्मण' थे, उत्पत्ति का उल्लेख है तथा साध्यो, देवो, ऋग्वेद एव अन्य वेदो, पक्षियो एव सभी प्रकार के जीवो की सृष्टि की भी चर्चा है। इसमे (१।५३) आया है कि विष्णु ने विराज की सृष्टि की, जिसने **पुरुष** की रचना की (यह पुरुषसूक्त, ऋ० १०।९०।५ पर आधृत है) और पुरुष ने लोगो को उत्पन्न किया। अध्याय २ मे आया है कि पुरुष ने शतरूपा से विवाह किया, इस पुरुष को स्वायभुव मनु कहा जाता है। पुरुष (स्वायम्भुव मनु) एव शतरूपा को वीर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वीर के दो पुत्र थे—प्रियव्रत एव उत्तानपाद। इसके उपरान्त इनके वशजो का उल्लेख है, जिनमे दक्ष की ५० पुत्रियाँ थी, जिनमे १० धर्म को, १३ कश्यप को एव २७ (नक्षत्र) राजा सोम को ब्याही गयी। तीसरे अध्याय मे देवो एव असुरो की रचना का उल्लेख है।

विष्णुपुराण के प्रथम **अश** के अध्याय २,४,६,एव ७ मे सृष्टि के कई प्रकारो का उल्लेख है। अध्याय २ का आरम्भ विष्णु से होता है और ऐसा आया है कि **प्रधान** एव **पुरुष** उसके रूप हैं और श्लोक ३४-५० मे साख्य सिद्धान्त की सविस्तार चर्चा है और श्लोक ५४ मे **महत्** एव अन्य तत्त्वो द्वारा हिरण्यगर्भ (सोने का अण्डा) की रचना का उल्लेख है। अध्याय ३ मे आया है कि किस प्रकार ब्रह्म ने, जो गुणरहित है, बोधगम्य नही है, शुद्ध है, निष्कलक है, सृष्टि की, और इसका उत्तर दिया हुआ है कि सभी पदार्थो मे कुछ स्वाभाविक शक्तियाँ है, जो बोधगम्य नही है, अत ब्रह्म मे विश्व की सृष्टि करने की शक्ति है। अध्याय ५ मे नौ प्रकार की सृष्टियो, यथा—महत्, तन्मात्राओ, भूतो (तत्त्वो), वैकारिक (अर्थात् ऐन्द्रियक), मुख्य (अर्थात् अचल पदार्थ), निम्नश्रेणी के पशुओ, ऊर्ध्वरेतो (दैवी जीवो), मानवो, कुमारो (अर्थात् सनत्कुमार आदि) का उल्लेख है।

मार्कण्डेयपुराण के अध्याय ४२ मे प्रधान, महत्, अहकार, तन्मात्राओ की सृष्टि का उल्लेख है, किन्तु ब्रह्मा द्वारा ही इनकी सृष्टि कही गयी है। अध्याय ४४ मे विष्णुपु० की भाँति ९ सृष्टियो की चर्चा है। अध्याय

४५,४६ एव ४७ मे देवो, पितरो, मानवो, चार वर्णो, पशुओ, पक्षियो, वृक्षो, गुल्मो आदि की रचना का वर्णन है। इसमे अन्य पुराणो के वचन उद्धृत हे, जिन्हे स्थानाभाव से नही दिया जा रहा हे।[३५]

उपनिपदो मे भौगोलिक वाते बहुत कम ह और वे हिमालय एव विन्ध्य के मध्य के भूमिक्षेत्र मे ही सम्बन्धित है (कोषीतक्युपनिषद् २।१३ ने दो पर्वतो का, जो उत्तर एव दक्षिण मे ह, उल्लेख किया है, वृह० उप० १।१।१-२ ने पूर्वी एव पश्चिमी समुद्रो की ओर इगित किया है, ऐसा प्रतीत होता है)। सुन्दर एव भव्य अश्व सिन्धु देश से लाये जाते थे (वृ० उप० ६।१।१३), गान्धार देश (छा० उप० ६।१४।२) का सम्भवत पता था और वह उपनिषद् के प्रणयन-स्थल से कुछ दूरी पर था। मद्र देश का उल्लेख वृ० उप० (३।३।१७ एव ३।७।१) मे हुआ है। विदेह के राजा जनक थे, जिनकी राजसभा मे कुरु, पञ्चाल्ल से ब्राह्मण आते थे और याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करते थे (वृह० उप० ३।१।१)। काशी (वाराणसी) के राजा अजातशत्रु ने वालाकि गार्ग्य का गर्व चूर कर दिया (वृह० उप० २।१।१ एव कोषीतकि उप० ४।१।१)। कोपीतकि उप० (४।१।१) ने तो वश, उशीनर, कुरु, पञ्चाल एव विदेह का उल्लेख किया है। कुरु का उल्लेख छा० उप० (१।१०।१, ४।१७।१०) मे हुआ है। पञ्चाल की चर्चा भी छा० उप० (५।३।१) एव वृ० उप० (६।२।१) मे हुई है। केकय (सुदूर उत्तर-पश्चिम) के राजा अश्वपति ने ब्राह्मणो को वैश्वानर-विद्या का ज्ञान दिया।

पुराणो ने जगत् का विवरण विशद रूप से दिया है[३६], अर्थात् उनमे द्वीपो (पृथिवी के भागो), वर्षो, पर्वतो, समुद्रो, नदियो, उनके पास के देशो एव उनके विस्तार, सूर्य, चन्द्र एव नक्षत्रो की गतियो, युगो, मन्वन्तरो एव कल्पो का उल्लेख पाया जाता है।[३७] धर्मशास्त्र-ग्रन्थो ने इस विषय मे पुराणो का आधार

३५ वहुत-से पुराणो ने एक ही प्रकार के श्लोक दिये है। उदाहरणस्वरूप थोडे-से श्लोक यहाँ दिये जा रहे है—अव्यक्त कारण यत्तत्प्रधानमृषिसत्तमैः। प्रोच्यते प्रकृति सूक्ष्मा नित्य सदसदात्मकम्॥ त्रिगुण तज्जगद्योनिरनादिप्रभवात्ययम्। वेदवदाविदो विद्वन्नियता ब्रह्मवादिन। पठन्ति चैतमेवार्थ प्रधानप्रतिपादकम्॥ नाहो न रात्रि र्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभूच्च नान्यत्। श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेक प्राधानिक ब्रह्म पुमास्तदासीत्॥ विष्णो स्वरूपात्परतोदिते द्वे रूपे प्रधान पुरुषश्च विप्र। विष्णु पु० (१।२।१९, २१-२४), ब्रह्माण्ड पु० (१।३।१-९) 'अव्यक्तकारण दात्मकम्। प्रधान प्रकृति चैव यमाहुस्तत्त्वचिन्तका॥, वायु पु० (४।१७) मे आया है—'अव्यक्त कारण यत्तु नित्य सदसदात्मकम्। प्रधान तत्त्वचिन्तका॥' ब्रह्म पु० (१।३३) मे आया है—'अव्यक्त त्मकम्। प्रधान पुरुषस्तस्मान्निर्ममे विश्वमीश्वर॥ मार्कण्डेय पु०, अध्याय ४२।३६-५२ एव ५९-६३ सर्वथा विष्णु पु० (१।२।३४-४९, ५१-५५) के समान ही है।

३६ पुराणो मे प्राचीन भारत के समय का जो भौगोलिक उल्लेख मिलता हे उस पर अत्यन्त पूर्ण एव क्रमवद्ध ग्रन्थ हे श्री डब्लू किर्फेल कृत 'डाई कॉस्मोग्रैफी डर इण्डर' (वॉन, १९२०, पृ० ४०१) जिसमे चित्र भी उपस्थित किये गये हें। उस ग्रन्थ मे पौराणिक बातें पृ० १-१७७ मे हे, बौद्ध पृ० १७८-२०७ मे तथा जैन पृ० २०८-२३९ मे। इतना ही नहीं, प्रत्युत एक नाम-तालिका भी अनुक्रमणिका (पृ० ३४०-४०१) मे दी हुई है।

३७ द्वीपो के विषय मे ऋषियो ने सूत से जो प्रश्न किये हे, वे अधिकाश पुराणो मे उल्लिखित हे—'ऋषय ऊचु। कति द्वीपा समुद्रा वा पर्वता वा कति प्रभो। कियन्ति चैव वर्षाणि तेषु नद्यश्च का स्मृता॥

लिया है। जम्बूद्वीप कम-से-कम ई० पू० ३०० मे ज्ञात था, जैसा कि अशोक के शिलालेख (रूपनाथ प्रस्तर लेख) से पता चलता है। 'द्वीप' शब्द ऋग्वेद (१।१६९।३ एव ७।२०।४, 'वि द्वीपानि ,पापतन्,) मे भी आया है। पाणिनि (६।३।९७) ने इसे 'द्वि' एव 'आप' से निष्पक्ष माना है। हम यहाँ पर केवल सक्षिप्त वणन उपस्थित करेगे। मत्स्यपुराण (११३।४-५) ने कहा है कि सहस्रो द्वीप हे, किन्तु सबका वर्णन सम्भव नही है, अत केवल सात द्वीपो का वर्णन उपस्थित किया जायगा।[३८] इस पुराण के अध्याय १२१-१२३ मे सात द्वीप ये है—जम्बूद्वीप, शकद्वीप, कुश, कौञ्च, शालमलि, गोमेदक एव पुष्कर, जिनमे प्रत्येक आगे वाला अपने से पीछे वाले से दुगुना है, प्रत्येक समुद्र से आवृत है, 'प्रत्येक मे सात वर्ष, सात प्रमुख पर्वत एव सात मुख्य नदिया है। सात द्वीपो को घेरने वाले सात समुद्र क्रम से सब **लवण** (नमकीन) **जल, दुग्ध, घृत** (गला हुआ), दधि, सुरा, ईखरस एव शुद्ध जल से परिपूर्ण है।[३९] विभिन्न पुराणो मे नाम-क्रम विभिन्न है, यथा विष्णु पु० (२।१।१२-१४, २।२।५) एव ब्रह्म पु० (१८।११) ने उन्हे प्लक्ष, शालमलि, कुश, क्रौञ्च, शक एव पुष्कर नाम से अभिहित किया है। वायु पु० (३३।११-१४), कूर्म पु० (१।४५।३), मार्कण्डेय पु० (५०।१८-२०) ने इन सातो को उसी क्रम मे रखा है।

कल्प, मन्वन्तर, युग से सम्बन्धित पुराण-वृत्तान्त हम इस महाग्रन्थ के खण्ड ३ एव इस खण्ड (अर्थात् ५) मे विस्तारपूर्वक पढ चुके है। इन विषयो पर पुराणो मे सहस्रो श्लोक पाये जाते है।

विष्णुपु० (२।२।१३-२४) ने निम्नोक्त वर्ष गिनाये हैं—भारत (सब मे प्रथम) किम्पुरुष, हरि, रम्यक, हिरण्मय, उत्तर-कुरु, इलावृत एव केतुमाल। वामन पु० (१३।२-५) ने भी यही उल्लिखित किया है, किन्तु रम्यक के स्थान पर चम्पक रखा है। विष्णु पु० (२।१।१६-१७) मे आया है कि नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्य, हिरण्वान्, कुरु, भद्राश्व, केतुमाल नौ राजा थे, जो आग्नीध्र के पुत्र, प्रियव्रत के पौत्र, स्वायम्भुव मनु के प्रपौत्र थे। आग्नीध्र के नौ पुत्रो को दिये गये वर्षो के नाम क्रम से यो है—हिमाह्व (अर्थात् भारत), हेमकूट, नैषध, इलावृत, नीलाचल, श्वेत, शृगवान्, मेरु के पूर्व मे एक वर्ष, गन्धमादन। अत राजाओ

महाभूमिप्रमाण च लोकालोकस्तथैव च। पर्याप्तिपरिमाण च गतिश्चन्द्रार्कयोस्तथा॥ एतद् ब्रवीहि न सर्व विस्तरेण यथार्थवित्। त्वदुक्तमेतत्सकल श्रोतुमिच्छामहे वयम्॥ सूत उवाच। द्वीपभेदसहस्राणि सप्त चान्तर्गतानि च। न शक्यन्ते क्रमेणेह वक्तु वै सकल जगत्। सप्तैव तु प्रवक्ष्यामि चन्द्रादित्यग्रहै सह॥ मत्स्य० (११३।१-५), वायु० (१३४।१-३, ६-७), ब्रह्माण्ड० (२।१५।२-३, ५-६), मार्कण्डेय० (५१।१-३)।

३८ द्वीप सामान्यत सात की सख्या मे परिगणित होते रहे है, परन्तु कभी-कभी वे १८ भी कहे गये है, यथा वायु पु० (१।१५) मे—'अष्टादश समुद्रस्य द्वीपानश्नात् पुरूरवा' तथा कालिदास (रघुवश ६।३८) 'अष्टादशद्वीप-निखातयूप।' द्वीप को यहाँ पर 'महाद्वीपो' (कण्टीनेण्ट्स) के अर्थ मे न लेकर केवल 'द्वीप' (आइलैण्ड) के ही अर्थ मे लेना सम्भव लगता है। पाणिनि (४।३।१०) के 'द्वीपादनुसमुद्रम् यञ्' से पता चलता है कि 'द्वीप समुद्र-तट के पास के आइलैण्ड (द्वीप) के लिए प्रयुक्त हुआ है। देखिए शशिभूषण चौधुरी का लेख 'नाइन द्वीपज आव भारतवर्ष' (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ५९, पृ० २०४-२०८ एव २२४-२२६)।

३९ एते द्वीपा समुद्रैस्तु सप्त सप्तभिरावृता। लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलै समम्॥ विष्णु पु० (२।२।६), ब्रह्मपु० (१८।१२), मार्क० (५१।७), लवणे दधिक्षीरजलादिभि। द्विगुणैर्द्विगुणैर्वृद्धया सर्वत परिवेष्टिता॥)

के एव वर्षो के नामो मे सन्दिग्धता पायी जाती है। वायुपु० (३०।३८-४०) मे पुत्रो के ये ही नाम आये हैं और ३३।४१-४५ मे उन्ही वर्षो का उल्लेख है, केवल भद्राश्व के स्थान पर माल्यवत् नाम आया है।[४०]

वायुपुराण (४५।७५-८१) मे ऐसा आया है कि भारतवर्ष समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण मे है और मनु को भरत कहा गया क्योकि उन्होने अपनी प्रजा अर्थात् या लोक का भरण किया और इसी से इस वर्ष को भारत कहा गया। यही बात ब्रह्माण्डपु० (२।१६।७) मे भी है। वायुपु० ने स्वय विरोधी बात लिखी है (३३।५०-५२) कि नाभि का पुत्र ऋषभ था, जिसका पुत्र था भरत, जिसके नाम पर भारतवर्ष नाम पडा। यही बात ब्रह्माण्डपु० (२।१४।६०-६२) मे भी है। वायुपु० (९९।१३४) मे यह भी आया है कि दुष्यन्त एव शकुन्तला से भरत उत्पन्न हुए और उनके नाम पर भारत पडा।[४१] भारत-

४०. उत्तर यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। वर्षं तद्भारत नाम भारती यत्र सतति ॥ नवयोजनसाहस्रो विस्तारश्च द्विजोत्तमा। कर्मभूमिरिय स्वर्गमपवर्ग च गच्छताम् ॥ महेन्द्रो मलय सह्य शुक्तिमानृक्षपर्वत। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वता ॥ विष्णुपु० (२।३।१-३), ब्रह्मपु० (१९।१-३), देखिए अग्नि० (११८। १-३, जहाँ ऋक्षपर्वत के स्थान पर हेमपर्वत आया है), मार्कण्डेयपु० (५४।१०-११), ब्रह्माण्ड० (२।१६-५ एव १८-१९)। यह द्रष्टव्य है कि पाणिनि ने स्पष्ट रूप से इन पर्वतो मे केवल 'हिमवत्' (४।४।११२) का नाम लिया है जब कि उन्हे किशुलुकगिरि ऐसे अन्य पर्वतो के नाम विदित थे (६।३।११७)। अत्रापि भारत श्रेष्ठ जम्बूद्वीप महामुने। यतो हि कर्मभूरेषा यतोन्या भोगभूमय ॥ ब्रह्म० (१९।२३), विष्णुपु० (२।३।२२), इस श्लोक के उपरान्त दोनो मे कई श्लोक एक समान है। भीष्मपर्व (९।११) मे 'महेन्द्रो ' नामक श्लोक है, किन्तु वहाँ 'ऋक्षवान्' नाम आया है, किन्तु अध्याय ६ (श्लोक ४-५) मे केवल ६ पर्वतो के ही नाम आये हैं।

४१ विष्णुपु० (२।१।३२) की वायुपु० (३३।५०-५२) से सहमति है। शाकुन्तल (अक ७) मे कालिदास ने एक पात्र से कहलवाया है कि शकुन्तला का पुत्र, जो कण्व के आश्रम मे सर्वदमन कहा जाता था, भरत के नाम से प्रसिद्ध होगा (इहाय सत्त्वाना प्रसभदमनात्सर्वदमन पुनर्यास्यत्याख्य। भरत इति लोकस्य भरणात्)। यह सम्भव है कि कालिदास के काल तक शकुन्तला का पुत्र भारतवर्ष के नाम से सम्बन्धित नहीं था, अन्यथा कवि को एक अन्य भविष्यवाणी करने मे कि उसके नाम से एक वर्ष भी सम्बन्धित होगा, कौन रुकावट थी। पाणिनि ने 'प्राच्यो' एव 'भरतो' (२।४।६६ एव ४।२।११३) का उल्लेख किया है। भरत लोग प्राचीन थे और उनका ऋग्वेद (३।३३।११-२२) मे कई बार उल्लेख हुआ है। भरतो को 'ग्राम' अर्थात् एक दल या सघ के रूप मे भी कहा गया है जिसने 'विपाश्' एव शुतुद्रि (आधुनिक व्यास एव सतलज) के सगम को पार किया था (३।२३।२), भरतो ने घर्षण से अग्नि उत्पन्न की थी (३।५३।१२, जहाँ पर ऐसा आया है कि विश्वामित्र की स्तुति ने भारत-जन की रक्षा की थी)। बहुत-से मन्त्रो में अग्नि को 'भारत' कहा गया है (ऋ० २।७।१ एव ५, ४।२५।४, ६।१६।१९ एव ४५) ऐतरेयब्राह्मण (३९।९) मे ऐसा आया है कि दीर्घतमा मामतेय ने भरत दौष्यन्ति (दौष्यन्ति) को ऐन्द्र महाभिषेक द्वारा मुकुट दिया (राजा बनाया) और उसके उपरान्त भरत ने चारो ओर राज्य जीता, कई अश्वमेध किये। इसके उपरान्त पाँच ऐसे श्लोक उद्धृत हैं जो यह बताते हैं कि भरत ने मस्नार देश मे असख्य हाथियो का दान किया, उन्होने यमुना एव गगा के तट पर यज्ञ किये। अन्तिम श्लोक (पाँचवाँ) में आया है 'महाकर्म भरतस्य न पूर्वे नापरे जना।

वर्ष के सात प्रमुख पर्वत हे—महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमत्, ऋक्षपर्वत, विन्ध्य एव पारियात्र। पुराणो का कथन है कि जम्बूद्वीप मे भारत सर्वश्रेष्ठ वर्ष हे (ब्रह्म० १६।२३-२४, विष्णुपु० ३।३।२२, ब्रह्माण्डपु० २।१६।१७)। कुछ पुराणो मे भारत के विषय मे सुन्दर प्रशस्तियाँ हें (ब्रह्म० २७।२।६ एव ६६-७६, विष्णुपु० २।३।२३-२६)।

कुछ पुराणो मे भारतवर्ष के ६ भागो के नाम आये है, यथा—इन्द्रद्वीप, कशेरु, ताम्रपर्ण, गभस्तिमत्, नागद्वीप, सह्य, गन्धर्व, वारुण, ओर नवाँ १,००० योजन उत्तर से दक्षिण तक लम्बा है, जिसके पूर्व मे किरात लोग, पश्चिम मे यवन लोग तथा मध्य मे चार वर्णो के लोग रहते है। यह द्रष्टव्य हे कि यद्यपि भारतवर्ष जम्बूद्वीप का एक भाग मात्र है किन्तु नव भागो मे कुछ इन्द्रद्वीप एव नागद्वीप के नाम मे विख्यात हैं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मत्स्य० (११४।१०), वायु० (४५।८१), वामन० (१३।११) एव ब्रह्माण्ड० (२।१६।११) ने ६वे द्वीप को कुमार कहा है या गगा के स्रोत-स्थल से कुमारिकी तक विस्तृत माना है। अत ऐसा प्रतीत होता हे कि भारतवर्ष का ६वाँ भाग आज का भारतवर्ष हे और अन्य आठ भाग, ऐसा लगता है, वे देश तथा द्वीप है जो आज के भारत के दक्षिण-पूर्व मे पडते हे। यह सम्भव हे कि प्रारम्भिक ग्रन्थो ने भारतवर्ष को आज के भारत की सीमा तक ही सीमित समझा, किन्तु जब भारतीय सस्कृति दक्षिण-पूर्व एशिया मे फैल गयी तो भारतवर्ष के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत एव सुदूर भारत भी सम्मिलित हो गया।

शबर (भाष्य, जैमिनी १०।१।३५) ने व्यक्त किया हे कि हिमवत् से कुमारी अतरीप तक भद्र लोगो की भाषा एक-सी हे (प्रसिद्धश्च स्थात्या चरशब्द आ हिमवत आ च कुमारीभय प्रयुज्यमानोदृष्ट)। और देखिए वही भाष्य (जै० १०।१।४२) जहाँ वैसे ही शब्द प्रयुक्त हे। हिमाच्छादित पर्वतो का ज्ञान ऋग्वेद के ऋषियो को भी था (१०।१२१।४, यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्र रसया सहाहु)। 'यस्य' का सकेत हिरण्यगर्भ की ओर है। अथर्ववेद (५।४।२ एव ८) ने हिमवत् को एकवचन मे प्रयुक्त किया है। पर्वत (बहुवचन मे) कई बार आये हे (ऋ० १।३७।७, ५।५६।४)। महाभारत, शबर, पुराणो एव बृहत्सहिता से प्रकट हे कि प्राचीन भारत के लोगो ने अपनी सस्कृति को भारतवर्ष से समन्वित माना, अर्थात् उन्होने देश एव सस्कृति को न कि जाति एव सस्कृति को एक माना। ब्रह्मपुराण एव मार्कण्डेयपुराण ने भारत को आज के भारत के रूप मे ही चित्रित किया है, क्योकि इसकी सीमा के विषय मे ऐसा आया है कि उत्तर मे हिमालय है और तीन ओर समुद्र हें। और देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ११-१६ एव १७-१८।[42]

दिव मर्त्य इव हस्ताभ्या नोदापु पञ्चमानवा ॥' देखिए शतपथब्राह्मण (१३।५।४।११-१३), जहाँ ऐसा आया है कि भरत दौष्पन्ति शकुन्तला से उत्पन्न हुए थे, वही उनके विषय मे चार गाथाएँ आयी हे। जिनमे तीन तो ज्यो की-त्यो ऐतरेयब्राह्मण वाली है, और ऐसा आया हे कि उन्होने वही महत्ता एव कीर्ति कमायी जो भरतो को उसके कालो मे प्राप्त हुई थी। अथर्ववेद ने बहुधा 'हिमवत्' की चर्चा की हे (यथा ५।२।८, १६।३६।१ मे) और ऐसा कहा गया हे कि कुष्ठ ओषधि (पौधा) उत्तर मे पाया जाता है और वह हिमवत् से पूर्व की ओर ले जाया जाता है, और ऐसा आया ह (अथर्व० ६।२४।१ एव ३) कि सभी नदियाँ हिमवत से निकलती हैं और सिन्धु मे मिलती ह। महाभाष्य (पाणिनि २।४।६६) ने टिप्पणी दी हे कि भरत लोग पूर्व को छोड कर किन्हीं अन्य देशो मे नहीं पाये जाते।

४२ दक्षिणापरतो यस्य पूर्वे चैव महोदधि। हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुण। तदेतद्भारत वर्ष सर्वबीज द्विजोत्तमा। ब्रह्मपु० २७।६५-६६, मार्कण्डेयपुराण (५४।५६)।

वायुपु० ने लगभग १००० श्लोक (अध्याय ३६-४६) भुवनविन्यास (विश्व-सगठन) के विषय मे, ब्रह्मपु० ने (अध्याय १८-२१) उसी विषय मे (अर्थात् भुवनकोष के विषय मे), मत्स्यपु० (अध्याय ११४) ने भुवनकोष के विषय मे लिखे है तथा कूर्मपु० (१।४०) ने भुवनविन्यास पर लिखा है तथा द्वीपो एव वर्षों का उल्लेख किया है।

प्राचीन एव मध्यकालीन देशो का उल्लेख विष्णुपु० (२।३।१५-१८) वायुपु० (४५।१०६-१३६), ब्राह्माण्डपु० (२।१६।४०-६८), मत्स्यपु० (११४।३४-५६), मार्कण्डेयपु० (५४), पद्मपु० (आदि ६।३४-५६), वामनपु० (१३।३६ तथा आगे के श्लोक) मे हुआ है।[४३] भीष्मपर्व (अध्याय ६) मे भी देशो एव लोगो का उल्लेख है। बृहत्सहिता के नक्षत्रकूर्माध्याय (१४।१-३३) मे भारतवर्ष के मध्य मे स्थित कई देशो के नाम आये है और इसकी आठो दिशाओ मे स्थित देशो के नाम भी आये है। ऋग्वेद मे बहुत-सी नदियो के नाम आये है। (ऋ० १०।७५।५-६) मे गगा से कुभा (काबुल नदी) गोमती, क्रुमु (आधुनिक कुर्रम) तक की १८ या १९ नदियो के नाम आये है। इक्कीस नदियो (तीन दलो मे विभाजित तथा प्रत्येक दल मे सात) की ओर सकेत मिलते है(ऋ० १०।६४।८, १०।७५।१ एव ९९। ऋ० (१।३२।१२ एव १०।१०४।८) मे सात सिन्धुओ का उल्लेख है। और देखिए (ऋ० २।१२।१२,४।२८।१, १०।४३।३)। नदियो को मुख्य-मुख्य पर्वतो से निकली कहा गया है, देखिए इस विषय मे मत्स्यपु० (११४।२०-३३), कूर्मपु० (१।४७।२८-३९), ब्रह्माण्ड पु०(२।१६।२४-३९), वामनपु० (१३।२०-३५ एव ३४।६-८), ब्रह्मपु० (१९।१०-१४ एव २७। २५-४०) पद्मपु० (आदि खण्ड, ६।१०-३२)। अनुशासनपर्व (१६५।१९-२९) मे भी बहुत-सी नदियो का उल्लेख है।

४३ पाणिनि मे जनपदो एव अन्य भौगोलिक आँकडो के लिए देखिए जर्नल (उत्तर प्रदेश की हिस्टॉरिकल सोसाइटी, जिल्द १६, पृ० १०-५१, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल) एव इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द २१, पृ० २९७-३१४ जहाँ पुराणो मे उल्लिखित देशो का ब्यौरा उपस्थित किया गया है, और देखिए डा० डी० सी० सरकार कृत 'टेक्स्ट आव दि पुराणिक लिस्ट आव पिपुल्स' (इण्डि० हिस्टॉ० क्वा०, जिल्द १९, पृ० २९७-३१४)। पाणिनि से ऐसा लगता है कि वे सम्पूर्ण भारत से अवगत थे, सुदूर उत्तर-पश्चिम से कलिग तक तथा अश्मक (अजन्ता एव पैठान के आसपास का क्षेत्र) एव आधुनिक कच्छ तक, क्योकि उन्होने स्पष्ट रूप से ये नाम लिये है, यथा—गान्धार (४।१।१६९), सुवास्तु (४।२।७७, आधुनिक स्वात), कम्बोज (४।१।१७५) एव तक्षशिला (४।३।९३), सिन्धु (४।३।९३), शलातुर (४।३।९४, जहाँ पर पाणिनि का जन्म हुआ था, जिसके कारण भामह ऐसे 'पश्चात्कालीन लेखको ने उन्हे शलातुरीय कहा है), सौवीर (४।१।१४८), कच्छ (४।२।१३३), मगध, कलिग, सूरमास (सूर्मा घाटी) (४।१।१७०), अश्मक।(४।१।१७३)। देखिए कन्निङघम कृत 'ऐंश्येण्ट जियॉग्रैफी' आव इण्डिया' (१८७२), नन्दलाल डे कृत 'दि जियोग्रैफिकल डिक्शनरी आव ऐंश्येण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया (१९२७), सुरेन्द्रनाथ मजुमदार कृत 'बिब्लियोग्रैफी आव ऐंश्येण्ट जियॉग्रैफी ऑव इण्डिया' (इण्डियन ऐंटीक्वेरी, जिल्द ४८, १९१९, पृ० १५-२३) एव तीर्थों की तालिका', जो इसी महाग्रन्थ से सलग्न है (हिन्दी सक्षिप्त सस्करण के खण्ड २ मे प्रकाशित है)।

पुराणो मे पातालो की सख्या बहुधा सात मानी गयी है, किन्तु उनके नामो मे कुछ अन्तर पाया जाता है। इस विषय मे देखिए वायुपु० (५०।११-१२), ब्रह्मपु० (२१।२-३ एव ५४।२० तथा आगे के श्लोक), ब्रह्माण्डपु० (२।२०।१० तथा आगे के श्लोक), कूर्मपु० (१।४४।१५-२५) एव विष्णुपु० (२।५।२-३)।

योगसूत्र (३।२५, कही-कही २६ की सख्या आयी है, 'भुवनज्ञान सूर्ये सयमात्') के व्यासभाष्य मे सात लोको (भूर्, भुव, स्व, मह, जन, तप एव सत्य)[४४], सात नरको (अवीचि आदि), सात पातालो सात दीपो के सात पृथिवी, पृथिवी के मध्य मे मेरु के साथ सात पर्वतो, वर्षो, सात द्वीपो, यथा—जम्बु, शक, कुश, क्रौच, शालमलि, गोमेध (गोमेधक नही, जैसा कि मुद्रित पुराणो मे पाया जाता है) एव पुष्कर, सात समद्रो, देवो की वाटिकाओ, उनके सभा-भवन (जिसका नाम सुधर्मा था, नगर का नाम था सुदर्शन, प्रासाद का नाम था वैजयन्त), महेन्द्रलोक, प्रजापत्य लोक, जनलोक, तप लोक एव सत्य लोको मे देवो के दलो का सक्षिप्त किन्तु बहुत ही महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। इनमे से बहुत-सी बाते पुराणो मे वर्णित बातो से मिलती-जुलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि चौथी शती के बहुत पहले से ही पुराणो मे पाये जानेवाले जगत्-सम्बन्धी, विवरण लोगो मे विख्यात हो गये थे।

४४ तीन या सात व्याहृतियो के लिए प्रयुक्त शब्द लोको के द्योतक माने जाते है। देखिए तै० ब्रा० (२।२।४।३)—'एता वै व्याहृतय इमे लोका' एव तै० उप० (१।५)—'भूरिति वा अय लोक। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोक। मह इत्यादित्य। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते।'; कूर्मपुराण (१।४४।१-४) ने मह से सत्य तक के लोको का उल्लेख किया है।

अध्याय ३५

कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त

कर्म एव पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतीय धर्म एव दर्शन के अत्यन्त मौलिक सिद्धान्तो मे परिगणित है। यह उस प्रश्न के समाधान का प्रयास हे जो सभी विचारशील व्यक्तियो के मन मे उठा करता है, यथा शरीर की मृत्यु के उपरान्त मनुष्य का क्या होता है? इस सिद्धान्त ने सहस्रो वर्पा तक अथवा कम-से-कम उपनिपदो के काल से सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन एव सभी हिन्दुओ, जैनो एव वौद्धो को प्रभावित कर रखा है। यह एक विशाल विषय है और गत कुछ दशको से पश्चिम के लेखको के मनो को इसने आकृष्ट कर रखा है। पुन शरीर धारण पर पश्चिम मे अव एक वृहत् साहित्य की रचना हो चुकी है।

प्राचीन ऐतिहासिक कालो मे बहुत-से देश पुनर्जन्म मे विश्वास करते थे। हेरोडोटस का कथन है कि कुछ यूनानियो ने (जिनके नाम उसे ज्ञात थे, किन्तु उसने उन्हे गुप्त रखा) उस सिद्धान्त का प्रयोग अपना समझ कर किया, किन्तु सर्वप्रथम मिस्र देश के निवासियो ने ऐसा कहा और विश्वास किया कि मानव आत्मा अमर है और शरीर की मृत्यु हो जाने पर यह किसी अन्य जीवित वस्तु मे, जो जन्म लेने वाली होती थी, प्रवेश कर जाता हे। लगता हे, पैथागोरस ने इस पर विश्वास किया हे किन्तु उसने इस विश्वास को भारत से ग्रहण किया, इस विषय मे विभिन्न मत प्रकाशित हुए है। प्रो० ए० बी० कीथ (जे० आर० ए० एस०, १९०९, पृ० ५६९-६०६) ने एक लम्बे विवेचन के उपरान्त ऐसा मत प्रकाशित किया है कि पैथागोरस ने यह सिद्धान्त भारत से उधार नही लिया। विषयान्तर हो जाने के भय से प्रस्तुत लेखक इस विषय मे अपना मत नही रखना चाहता। हाप्किस एव मैक्डोनेल ने पैथागोरस के ऊपर पडने वाले भारतीय प्रभाव को स्वीकार किया है किन्तु ओल्डेनवर्ग एव कीथ ने नही।

केवल पैथागोरस ने ही नही, प्रत्युत एम्पीडॉकिल्स (जिसने यहॉ तक कहा था कि वह पहले लडका, लडकी, झाडी, पक्षी एव मछली था) एव प्लेटो ने आत्मा के पूर्वजन्म एव उत्तर-जन्म मे विश्वास किया हे। देखिए केनेथ वाकर का ग्रन्थ 'दि सर्किल आव लाइफ' (जिसमे उन्होने लिखा है कि ईसा मसीह के काल मे पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारत मे भलीभॉति विख्यात था, पृ० ९३) तथा गफ कृत 'फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्' (लन्दन, १८८२), पृ० २९-३१। गफ ने प्रतिपादित किया हे कि उपनिषदो के पूर्व वैदिक साहित्य मे पुनर्जन्म की वात नही पायी जाती अत हिन्दुओ ने इस सिद्धान्त को भारतीय आदिवासियो से ग्रहण किया होगा। देखिए इसी विषय मे जी० डब्ल्यू० ब्राउन का मत 'स्टडीज़ इन ऑनर आव ब्लूमफील्ड' नामक ग्रन्थ मे (पृ० ७६-८८)। यह अत्यन्त निर्मूल कल्पना है, इसके पीछे कोई प्रमाण नही है। यदि पुनर्जन्म का सिद्धान्त मिस्रवासियो तथा अन्य आदिजातियो मे पाया जा सकता है तो ऐसी कल्पना के लिए कोई तर्क नही है कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन स्वय भारतीयो ने नही किया, विशेपत जव इस विश्व मे कही भी इतना विस्तृत कर्म एव पुनर्जन्म का सिद्धान्त नही पाया जाता जितना कि सस्कृत साहित्य मे विद्यमान है। अत गफ एव ब्राउन को (जिसने यहाँ तक लिख डाला हे कि योग, साख्य एव उपनिपद् शब्द द्रविड भाषा के शब्दो

के आधार पर बने है) कल्पनाएँ एव अनुमान निराधार एव निर्मूल्य है। विद्वानो, विशेषत पाश्चात्य विद्वानो को पूर्व के विषय मे लिखते समय मल्लिनाथ के 'नामूल लिख्यते किञ्चित्' नामक शब्दो को स्मरण रखना चाहिए। प्रस्तुत लेखक अनुमानो के विरुद्ध नही है, किन्तु उनके पीछे कोई तथ्य एव प्रमाण अवश्य होना चाहिए। भय तो इसका रहता है कि पहले के विद्वानो के अनुमान आगे के लेखको के लिए युक्तिसग निष्कर्ष-से लगने लगते है। वास्तव मे हमे भारी-भरकम नामो के रौबदाब से अपनी रक्षा करनी चाहिए, बिना किसी जाँच के विश्वास नही कर लेना चाहिए, जैसा कि विद्वान् लेखक एव विचारक एक्टन ने लिखा है। इस महाग्रन्थ के खण्ड ४ के मूल पृष्ठ ३८-४० मे कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर सक्षेप मे कुछ लिखा जा चुका है (पापो एव उनके प्रायश्चित्तो आदि के विषय मे चर्चा करते समय)। किन्तु विस्तार आगे के लिए छोड दिया गया था।

इस अध्याय मे हम इस सिद्धान्त के उद्गम एव विकास के लिए वैदिक साहित्य की जाँच करेंगे और देखेंगे कि आगे चल कर इसमे क्या सशोधन, परिवर्तन एव विरोध उपस्थित किये गये और आधुनिक काल मे इसके विरोध मे क्या तर्क उपस्थित किये जाते है। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि यद्यपि कतिपय दर्शनो (यथा—साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमासा एव वेदान्त) ने एक-दूसरे के सिद्धान्तो की कडी आलोचनाएँ की है, किन्तु उन्होने कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त को एक स्वर से स्वीकार किया है, केवल भौतिकवादियो (यथा चार्वाक) ने इसे अमान्य ठहराया है। बौद्धो एव जैनो ने इसे अपने ढग से अपना लिया है (जब कि वे वैदिक एव स्मृति साहित्य के बहुत-से विषयो से असहमत है)। कर्म एव पुनर्जन्म-सम्बन्धी सभी विश्वासो के साथ कुछ सम्भावनाएँ एव ऊहापोह चलते है, यथा—(१) मनुष्य का एक आत्मा होता है, जो नित्य और भौतिक शरीर से पृथक है, (२) अन्य जीवो यथा—पशुओ, ओषधियो (पौधो) एव सम्भव निर्जीव पदार्थों मे भी आत्मतत्त्व होता है, (३) मनुष्य एव निम्नस्तर के पशुओ का आत्मा एक भौतिक शरीर से दूसरे मे प्रविष्ट हो जा सकता है, (४) आत्मा कर्म करने वाला एव दुख सहने वाला होता है।

हमने इस महाग्रन्थ के खण्ड ४ के मूल पृ० १५४-१७१ मे विस्तार के साथ देख लिया है कि किस प्रकार स्वर्ग एव नरक की भावनाएँ वैदिक काल से आगे तक चली और किस प्रकार कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त से वे परिमार्जित हुई।

'कर्म' शब्द ऋग्वेद मे ४० बार से अधिक प्रयुक्त हुआ है। कही-कही इसका अर्थ है 'पराक्रम' या 'वीर कार्य', यथा ऋ० (१।२२।१९, विष्णु के कर्म (पराक्रम) का निरीक्षण करो), प्रशसा के योग्य उसके (इन्द्र के) प्राचीन कर्मो की घोषणा अपने शब्दो (या श्लोको) से करो (ऋ० १।६१।१३)[1] और देखिए ऋ० (१।६२।६, १।१०१।४, १०।५४।४, १०।१३१।४)। ऋग्वेद के कुछ स्थलो पर 'कर्म' का अर्थ है 'धार्मिक कृत्य' (यज्ञ, दान आदि), यथा 'देव लोग इस कवि के सभी कर्मो को स्वीकार करते (या चाहते) है, जो तुम्हे स्तुति देता है (तुम्हारी वन्दना करता है) यह ऋ० (१।१४८।२) है।[2] और देखिए ऋ० (८।३६।७,

१. अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः। ऋ० (१।६१।१३), तदु प्रयक्षतममस्य कर्म दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः। उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन् मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः॥ ऋ० (१।६२।६), युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा। विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम्॥ ऋ० (१०।१३१।४)

२. जुषन्त विश्वान्यस्य कर्मोपस्तुतिं भरमाणस्य कारोः। ऋ० (१।१४८।२) श्यावाश्वस्य सुन्व-

९।६६।११)। प्राचीन काल मे स्वर्ग ऐसा स्थल माना जाता था, जहाँ अधिक मे अधिक कर्मो के फल का आनन्द लिया जाता है। इस लोक के फल (यथा—सम्पत्ति, वीर पुत्रो) के लिए स्तुति नि सन्देह की जाती थी, किन्तु अमृतत्व एव स्वर्ग के आनन्द को सर्वाधिक मूल्य दिया जाता था। ऋ० (१०।१६।४) मे अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि वह मृत को उन लोगो के लोक मे ले जाये जिन्होने अच्छे कर्म किये है (ताभिर्वहैन सुकृता उलोकम्)। 'सुकृता लोकम्' शब्द अथर्ववेद (३।२८।६, १८।२।७१) एव वाज० स० (१८।५२) मे भी आये है। ऋ० (९।११३।७-१०) मे वह यजमान जो इन्द्र को सोम अर्पण करता है, प्रार्थना करता है कि वह स्वर्ग मे अमर रूप मे रख दिया जाय, जहाँ अनन्त प्रकाश रहता है, विवस्वान के पुत्र यम राजा है, जहाँ आनन्द एव आह्लाद है और जहाँ कामनाएँ ओर उनकी पूर्ति है। अमरत्व के लिए सभी देवो की स्तुतियाँ की गयी है, यथा अग्नि की (ऋ० १।१३।७, ४।५८।१, ५।४।१०, ६।७।४), मरुतो की (ऋ० ५।५५।४), मित्र एव वरुण की (ऋ० ५।६३।२), विश्वेदेवो की (ऋ० १०।५२।५ एव १०।६२।१), सोम की (१।९१।१, ९।९४।४, ९।१०८।३)। किन्तु दुष्कृत्य करने वालो के भाग्य के लिए ऋग्वेद मे कुछ नही कहा गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थो मे सत्कर्मो के फलो एव दुष्कर्मो के प्रतिकार के विषय मे पर्याप्त वर्णन मिलता है। शत० ब्रा० (१२।९।१।१) मे प्रतिकार की भावना व्यक्त की गयी है।[3] यही बात मास-भक्षण के विषय मे मनु एव विष्णुधर्मसूत्र मे कही गयी है, जिससे ऐसा अभिव्यक्त है—"वह जीव जिसका मास मै यहाँ खाता हूँ, दूसरे लोक मे मुझे खायेगा, विज्ञ लोग 'मास' शब्द के मूल या उद्भव के विषय मे ऐसा घोषित करते है।" शतपथब्राह्मण (११।६।१।३-६) मे एक विलक्षण कथा आयी है। भृगु से, जो अपनी विद्या के कारण गर्वीले हो गये थे और अपने को पिता से भी अधिक विद्वान् समझते थे, उसके पिता वरुण ने चारो दिशाओ मे पूर्व से उत्तर तक जाने को कहा और लौट आने पर देखी हुई सभी घटनाओ का विवरण माँगा। सभी दिशाओ मे भृगु को भयकर दृश्य देखने को मिले, पूर्व मे उन्होने लोगो को एक-दूसरे को छिन्न-भिन्न करते देखा, एक-एक कर हाथ उखाडते यह कहते सुना, 'यह तुम्हारे लिए, यह मेरे लिए।' उन्होने कहा, 'यह भयकर है।' उन लोगो ने कहा, 'इन लोगो ने हमारे साथ सामने के लोक मे किया, अत हम लोग प्रतिकार मे ऐसा कर रहे है।' तब उन्होने उत्तर मे देखा कि चिल्लाते एव रोते हुए लोगो द्वारा चिल्लाते एव रोते हुए लोग पीटे जा रहे है। जब उन्होने कहा, 'यह तो भीष्म (भयकर या भीषण) है' तो उन लोगो ने उत्तर दिया, 'इन लोगो ने हमारे साथ ऐसा ही यह प्रतिकार है।' यह एक लम्बी गाथा है, जिसका वर्णन यहाँ अनावश्यक है। यह कथा सम्भवत 'जैसे को तैसा' वाली कहावत चरितार्थ करती है। इतना तो स्पष्ट है कि शतपथब्राह्मण के काल तक यह धारणा बँध चुकी थी कि जो व्यक्ति एक जीवन मे दुष्कृत्य करता है वह दूसरे जीवन मे उसी व्यक्ति द्वारा, जिसका अनभल वह किये रहता है, दुष्कृत्य का उत्तर अथवा प्रतिकार पाता है। शत० ब्रा० एव तै० ब्रा० ने कई बार 'पुनर्मृत्यु' (बार-बार मरना, अर्थात् बार-बार जन्म लेना एव मरना) को जीत लेने अथवा उसको दूर कर

तत्तथा शृणु यथा शृणोरत्रे कर्माणि कृण्वत। ऋ० (८।३६।७), यही पुन ८।३७।७ मे आया है (सुन्वत के स्थान पर रेभत आया है), त्वया हि न पितर सोम पूर्वे कर्माणि चक्रु पवमान धीरा ऋ० (९।९६।११)।

३ एतस्माद्वै यज्ञात्पुरुषो जायते। स यद्धवा अस्मिँल्लोके पुरुषोऽन्नमत्ति तदेनममुष्मिँल्लोके प्रत्यत्ति शतपथ (१२।९।१।१), मास भक्षयितामुत्र यस्य मास मिहाद्म्यहम्। एतन्मासस्य मासत्व प्रवदन्ति मनीषिण॥ मनु (५।५५), विष्णुधर्मसूत्र (५१।७८), 'मा' का अर्थ है मुझको एव 'स' का अर्थ 'वह जीव' और मास शब्द (जिसमें दोनो मिले है) का अर्थ वह है जो ऊपर कहा गया है।

देने की बात कही है। शत० ब्रा० (१०।४।४) मे आया है कि देव लोग अमर हो गये, क्योकि उन्होने प्रजापति की सम्मति से अग्नि चयन का उचित सम्पादन किया, यथा—३६० घेरने वाली ईंटो, ३६० यजुष्मती ईंटो, तथा उन पर ३६ ओर ईंटो तथा १०,८०० लोकम्पृणा ईंटो से उसे सम्पादित किया। (१०।४।४।९) मे आया है—'जो व्यक्ति विद्या द्वारा तथा पवित्र कर्मो द्वारा अमर होना चाहता हे, वह इस शरीर से पृथक् होने पर अमर हो जायेगा' और पुन (१०।४।४।१०) मे आया हे—'जो व्यक्ति इसे जानते हे या जो यह पवित्र कर्म करते है, वे पुन मरने के उपरान्त इस जीवन मे आते हे ओर जीवन मे आने के उपरान्त अमर जीवन प्राप्त करते ह, किन्तु वे लोग जो इसे नही जानते या इस पवित्र कम का सम्पादन नही करते, मरने पर पुनर्जीवन प्राप्त करते हे और वे मृत्यु का भोजन बार-बार वनते ह।'[४] तै० ब्रा० (३।२।८) मे नचिकेता की गाथा कही गयी है जो कठोपनिषद् से मिलती हे (कुछ मन्त्र दोनो मे समान ह।) तै० ब्रा० मे आया है कि मृत्यु ने नचिकेता को तीन वरदान दिये, जिनमे तीसरा कठोपनिषद् से भिन्न हे। वह तीसरा वरदान यह है—"मै 'पुनर्मृत्यु' किस प्रकार दूर करूँ, इसकी मुझसे घोषणा करो।" मृत्यु ने उससे नाचिकेत अग्नि घोषित का उपदेश किया, जिससे नचिकेता पुनर्मृत्यु को दूर कर सका। और देखिए कौषीतकि ब्रा० (२५।१) एव वृ० उप० (१।२।७, १।५।२, ३।२।१० एव ३।३।२)।

दुष्कृत्यो के प्रतिकार की प्राचीन भावना से ही सम्भवत अच्छे कर्मो की यह भावना उठ खडी हुई कि इनको (अर्थात् सत्कर्मा को) दुष्कर्मो के विरोध मे रखा जाय और दोनो को मानो तराजू मे तोला जाय। शतपथब्राह्मण (११।२।७।३३) मे आया हे—'अब यह तराजू हे, अर्थात् वेदी का दाहिना पार्श्व। वह वेदी का दाहिना पार्श्व छूकर बैठ जाय, क्योकि, वास्तव मे, वे उसे सामने के लोक मे तराजू पर बैठाते है, और दोनो मे जो ऊपर उठ जायेगा वह उसी का अनुसरण करेगा, चाहे वह अच्छा हो या बुरा। जो कोई इसे जानता है वह इस तराजू पर इस लोक मे बैठता है और सामने के लोक मे अर्थात् आगे के या परलोक मे बैठने से छुटकारा पा जाता है, क्योकि यह सत्कर्म ही है जो ऊपर उठता है बुरा कर्म नही।'[५]

शतपथ इस निष्कर्ष पर पहुँच गया था कि मनुष्य की इच्छा (और उसी के अनुरूप उसका कार्य) पर ही यह निर्भर है कि उसे मृत्यु के उपरान्त कौन-सा लोक प्राप्त होगा। उसमे कथित है—'उसे ब्रह्म समझ कर सत्य का ही ध्यान करना चाहिए। अब यह पुरुष (मनुष्य) ही अधिकतर इच्छा हे और अपनी इच्छा के अनुसार ही जब वह इस लोक से चलेगा तो सामने के (अर्थात् आगे के) लोक मे भी वैसी इच्छा रखेगा।'

शतपथब्राह्मण (१०।१।५।४) मे एक विचित्र वचन आया है जिसका सम्बन्ध यज्ञो से उत्पन्न उन शक्तियो से है जो कि सामने के (आगे अर्थात् परलोक) लोक मे प्रकट होती है। इसमे आया है कि जो व्यक्ति नियमित रूप

४ ते य एवमेतद्विदुर्ये वै तत्कर्म कुर्वते मृत्वा पुन सम्भवन्ति ते सम्भवन्त एवामृतत्वमभि सम्भवन्त्यथ य एव न विदुर्ये वै तत्कर्म न कुर्वते मृत्वा पुन सम्भवन्ति त एतस्यैवान्न पुन पुनर्भवन्ति। शतपथब्रा० (१० ४।३।१०)।

५ अथ हैषैव तुला यदक्षिणो वेद्यन्त स यत्साधु करोति तदन्तर्वेद्यथ यदसाधु तद्बहिर्वेदि। तस्माद्दक्षिण वेद्यन्तमधिस्पृश्येवासीत। तुलाया ह वा ऽमुष्मिँल्लोक आदधति यतरद्यस्यति तदन्वेष्यति यदि साधु वाऽसाधु वेति। अथ य एव वेदास्मिन्हैव लोके तुलामारोहत्य मुष्मिँल्लोके तुलाधान मुच्यते। साधुकृत्या हैवास्य यच्छति न पापकृत्या। शतपथब्राह्मण (११।२।७।३३)। यहाँ पर वेदि के दाहिने पार्श्व के किनारे को तुला का दण्ड कहा गया है।

से अग्निहोत्र करता है वह परलोक मे प्रात एव साय भोजन करता है, दर्श एव पूर्णमास को करने वाला प्रत्येक पक्ष मे भोजन करता है, चातुर्मास्यो (ऋतुओ वाले यज्ञ) को करने वाला सामने के लोको मे प्रति चार मासो के उपरान्त भोजन करता है, पशु-यज्ञ करने वाला प्रत्येक ६ मासो पर खाता है, सोम यज्ञ करने वाला एक वर्ष के उपरान्त भोजन करता है, अग्निचयन वेदिका का निर्माण करने वाला प्रत्येक सौ वर्षो पर इच्छा के अनुसार खाता है या एक बार खा लेने पर खाने की आवश्यकता नही समझता है।

शतपथब्राह्मण इस निष्कर्ष पर पहुचा था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के अनुसार निर्मित लोक मे जन्म लेता है। उसने यह दृढतापूर्वक व्यक्त किया है कि जो देवो के लिए यज्ञ करता है वह उस लोक को नही प्राप्त करता है जिसे आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला पाता है और आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला व्यक्ति अपने शरीर से, पाप से, उसी प्रकार मुक्ति पाता है जिस प्रकार सर्प अपने केंचुल से पाता है (११।२।६।१३-१४)।

यह मान लेना होगा कि कर्म एव पुनर्जन्म सिद्धान्त सम्बन्धी स्पष्ट वक्तव्य का ऋग्वेद मे अभाव है। ऋग्वेद का ७।३३ एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है। प्रथम ९ मन्त्रो मे वसिष्ठ ने अपने पुत्रो के विषय मे कहा है। १०-१४ स्वय वसिष्ठ के लिए प्रयुक्त हैं जो या तो उनके पुत्रो द्वारा कथित है या एक अन्य मत से इन्द्र के साथ हुई वातचीत का एक अश है। ये मन्त्र देवताख्यान युक्त हैं, रहस्यवादी हैं और व्याख्या के लिए अति कठिन। १० वे मन्त्र मे वसिष्ठ के जन्म की ओर इगित है जब कि मित्र एव वरुण ने उन्हे विद्युत् के अतितेज के पास पहुँचते हुए देखा, और ऐसा कहा गया है कि अगस्त्य उन्हे (वसिष्ठ को) लोगो के पास ले आये। यहाँ पर 'एक जन्म' से ज्ञात होता है कि इस सूक्त मे वसिष्ठ के अन्य जन्म की ओर भी सकेत है। ११वे मन्त्र मे वसिष्ठ को उर्वशी से उत्पन्न मित्र एव वरुण का पुत्र कहा गया है और ऐसा आया है कि सभी देवो ने उन्हे एक पुष्कर (अन्तरिक्ष या कमल) मे रखा। १२वाँ मन्त्र लाक्षणिक एव रहस्यवादी होने के कारण महत्त्वपूर्ण है, क्योकि यम द्वारा फैलाये गये वस्त्र को बुनने की इच्छा करते हुए वसिष्ठ उर्वशी से उत्पन्न हो गये। १३वें श्लोक मे आया है कि दोनो (मित्र एव वरुण) ने बीज को एक घडे मे डाल दिया, जिसके मध्य से अगस्त्य निकले और वसिष्ठ भी उत्पन्न हुए। १४वाँ मन्त्र प्रतृदो को सम्बोधित है और उनमे कहा गया है कि वे वसिष्ठ के सम्मान मे लग जायँ जो उनके पास यज्ञ (कराने) के लिए आयेगे। यह, ऐसा प्रतीत होता है, वसिष्ठ का दूसरा जन्म है।

प्रो० आर० डी० रानाडे ने अपने ग्रन्थ 'कान्स्ट्रक्टिव सर्वे आव दि उपनिषदिक फिलॉसॉफी' (पृ० १४५-१४६) मे ऋग्वेद के कुछ मन्त्रो पर निर्भर होकर यह कहने का प्रयास किया है कि वैदिक ऋषियो ने पुनर्जन्म की ओर सकेत किया है (पृ० १४७)। किन्तु प्रो० रानाडे ने (उसी पृष्ठ पर) स्वय यह माना है कि ऋग्वेद के अधिकाश भाग मे पुनर्जन्म की भावना का सर्वथा अभाव है। स्थानाभाव से हम उनके तर्को की जाच यहाँ नही कर पायेगे। पूर्ण जानकारी के लिए देखिए मूल ग्रन्थ, पृ० १५३७-१५४८।

श्री जे० एस० करन्दीकर ने (पूना-निवासी, जो लोकमान्य तिलक के कट्टर शिष्य है) अपने ग्रन्थ 'गीता-तत्त्व मञ्जरी, (मराठी मे, १९४७) मे यह दर्शाया है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त वैदिक सहिताओ मे पाया जाता है और इस विषय मे उन्होने ऋग्वेदीय चार ऋचाओ (१०।१४।८, १०।१६।३ एव ५ तथा १०।१३५।६, का आश्रय लिया है। किन्तु उनकी धारणा निर्मूल है। उन्होने ऋचाओ का जो अर्थ लगाया है, वह ठीक नही है। विशेष तर्क एव विवेचन के लिए देखिए इस ग्रन्थ का मूल पृ० १५४२ से पृ० १५५४ (खण्ड ५)।

तै० स० (२।६।१०।२) मे एक मनोरम वचन आया है—'जो व्यक्ति किसी ब्राह्मण को धमकी देता है वह इसके लिए एक सौ वर्षो तक प्रायश्चित्त करेगा, जो उसे पीटता है वह एक सहस्र वर्षो तक (प्रायश्चित्त करेगा), जो ब्राह्मण का रक्त गिरायेगा वह उतने वर्षो तक अपने पितरो के लोक को नही जानेगा जितने मिट्टी के कण

देने की बात कही है। शत० ब्रा० (१०।४।४) मे आया है कि देव लोग अमर हो गये, क्योकि उन्होने प्रजापति की सम्मति से अग्नि चयन का उचित सम्पादन किया, यथा—३६० घेरने वाली ईंटो, ३६० यजुष्मती ईंटो, तथा उन पर ३६ और ईंटो तथा १०,८०० लोकम्पृणा ईंटो से उसे सम्पादित किया। (१०।४।४।६) मे आया है—'जो व्यक्ति विद्या द्वारा तथा पवित्र कर्मो द्वारा अमर होना चाहता है, वह इस शरीर से पृथक् होने पर अमर हो जायेगा' और पुन (१०।४।४।१०) मे आया है—'जो व्यक्ति इसे जानते है या जो यह पवित्र कर्म करते है, वे पुन मरने के उपरान्त इस जीवन मे आते है और जीवन मे आने के उपरान्त अमर जीवन प्राप्त करते है, किन्तु वे लोग जो इसे नही जानते या इस पवित्र कर्म का सम्पादन नही करते, मरने पर पुनर्जीवन प्राप्त करते है और वे मृत्यु का भोजन बार-बार बनते है।'[४] तै० ब्रा० (३।२।८) मे नचिकेता की गाथा कही गयी है जो कठोपनिषद् से मिलती है (कुछ मन्त्र दोनो मे समान है।) तै० ब्रा० मे आया है कि मृत्यु ने नचिकेता को तीन वरदान दिये, जिनमे तीसरा कठोपनिषद् से भिन्न है। वह तीसरा वरदान यह है—"मै 'पुनर्मृत्यु' किस प्रकार दूर करूँ, इसकी मुझसे घोषणा करो।" मृत्यु ने उससे नाचिकेत अग्नि घोषित का उपदेश किया, जिससे नचिकेता पुनर्मृत्यु को दूर कर सका। और देखिए कौषीतकि ब्रा० (२५।१) एव बृ० उप० (१।२।७, १।५।२, ३।२।१० एव ३।३।२)।

दुष्कृत्यो के प्रतिकार की प्राचीन भावना से ही सम्भवत अच्छे कर्मो की यह भावना उठ खडी हुई कि इनको (अर्थात् सत्कर्मो को) दुष्कर्मो के विरोध मे रखा जाय और दोनो को मानो तराजू मे तोला जाय। शतपथब्राह्मण (११।२।७।३३) मे आया है—'अब यह तराजू है, अर्थात् वेदी का दाहिना पार्श्व। वह वेदी का दाहिना पार्श्व छूकर बैठ जाय, क्योकि, वास्तव मे, वे उसे सामने के लोक मे तराजू पर बैठाते है, और दोनो मे जो ऊपर उठ जायेगा वह उसी का अनुसरण करेगा, चाहे वह अच्छा हो या बुरा। जो कोई इसे जानता है वह इस तराजू पर इस लोक मे बैठता है और सामने के लोक मे अर्थात् आगे के या परलोक मे बैठने से छुटकारा पा जाता है, क्योकि यह सत्कर्म ही है जो ऊपर उठता है बुरा कर्म नही।[५]

शतपथ इस निष्कर्ष पर पहुँच गया था कि मनुष्य की इच्छा (और उसी के अनुरूप उसका कार्य) पर ही यह निर्भर है कि उसे मृत्यु के उपरान्त कौन-सा लोक प्राप्त होगा। उसमे कथित है—'उसे ब्रह्म समझ कर सत्य का ही ध्यान करना चाहिए। अब यह पुरुष (मनुष्य) ही अधिकतर इच्छा है और अपनी इच्छा के अनुसार ही जब वह इस लोक से चलेगा तो सामने के (अर्थात् आगे के) लोक मे भी वैसी इच्छा रखेगा।'

शतपथब्राह्मण (१०।१।५।४) मे एक विचित्र वचन आया है जिसका सम्बन्ध यज्ञो से उत्पन्न उन शक्तियो से है जो कि सामने के (आगे अर्थात् परलोक) लोक मे प्रकट होती है। इसमे आया है कि जो व्यक्ति नियमित रूप

४ ते य एवमेतद्विदुर्ये वै ' कुर्वते मृत्वा पुन सम्भवन्ति ते सम्भवन्त एवामृतत्वमभि सम्भवन्त्यथ य एव न विदुर्ये वै तत्कर्म न कुर्वते मृत्वा पुन सम्भवन्ति त एतस्यैवान्न पुन पुनर्भवन्ति। शतपथब्रा० (१० ४।३।१०)।

५ अथ हैषैव तुला यदक्षिणो वेद्यन्त स यत्साधु करोति तदन्तर्वेद्यथ यदसाधु तद्बहिर्वेदि। तस्माद्दक्षिण वेद्यन्तमधिस्पृश्येवासीत। तुलाया ह वाऽमुष्मिँल्लोक आदधति यतरद्यंस्यति तदन्वेष्यति यदि साधु वाऽसाधु वेति। अथ य एव वेदास्मिन्हैव लोके तुलामारोहत्य मुष्मिँल्लोके तुलाधान मुच्यते। साधुकृत्या हैवास्य यच्छति न पापकृत्या। शतपथब्राह्मण (११।२।७।३३)। यहाँ पर वेदि के दाहिने पार्श्व के किनारे को तुला का दण्ड कहा गया है।

से अग्निहोत्र करता है वह परलोक मे प्रात एव साय भोजन करता है, दर्श एव पूर्णमास का करने वाला प्रत्येक पक्ष मे भोजन करता है, चातुर्मास्यो (ऋतुओ वाले यज्ञ) को करने वाला सामने के लोको मे प्रति चार मासो के उपरान्त भोजन करता है, पशु-यज्ञ करने वाला प्रत्येक ६ मासो पर खाता है, सोम यज्ञ करने वाला एक वर्ष के उपरान्त भोजन करता है, अग्निचयन वेदिका का निर्माण करने वाला प्रत्येक सौ वर्षो पर इच्छा के अनुसार खाता है या एक बार खा लेने पर खाने की आवश्यकता नही समझता है।

शतपथब्राह्मण इस निष्कर्ष पर पहुचा था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के अनुसार निर्मित लोक मे जन्म लेता है। उसने यह दृढतापूर्वक व्यक्त किया है कि जो देवो के लिए यज्ञ करता है वह उस लोक को नही प्राप्त करता है जिसे आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला पाता है और आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला व्यक्ति अपने शरीर मे, पाप मे, उसी प्रकार मुक्ति पाता है जिस प्रकार सर्प अपने केंचुल से पाता है (११।२।६।१३-१४)।

यह मान लेना होगा कि कर्म एव पुनर्जन्म सिद्धान्त सम्बन्धी स्पष्ट वक्तव्य का ऋग्वेद मे अभाव है। ऋग्वेद का ७।३३ एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है। प्रथम ९ मन्त्रो मे वसिष्ठ ने अपने पुत्रो के विषय मे कहा है। १०-१४ स्वय वसिष्ठ के लिए प्रयुक्त है जो या तो उनके पुत्रो द्वारा कथित है या एक अन्य मत से इन्द्र के साथ हुई बातचीत का एक अश हैं। ये मन्त्र देवताख्यान युक्त हैं, रहस्यवादी हैं और व्याख्या के लिए अति कठिन। १० वे मन्त्र मे वसिष्ठ के जन्म की ओर इगित है जब कि मित्र एव वरुण ने उन्हे विद्युत् के अतितेज के पास पहुँचते हुए देखा, और ऐसा कहा गया है कि अगस्त्य उन्हे (वसिष्ठ को) लोगो के पास ले आये। यहाँ पर 'एक जन्म' से ज्ञात होता है कि इस सूक्त मे वसिष्ठ के अन्य जन्म की ओर भी सकेत है। ११वे मन्त्र मे वसिष्ठ को उर्वशी से उत्पन्न मित्र एव वरुण का पुत्र कहा गया है और ऐसा आया है कि सभी देवो ने उन्हे एक पुष्कर (अन्तरिक्ष या कमल) मे रखा। १२वॉ मन्त्र लाक्षणिक एव रहस्यवादी होने के कारण महत्त्वपूर्ण है, क्योकि यम द्वारा फैलाये गये वस्त्र को बुनने की इच्छा करते हुए वसिष्ठ उर्वशी से उत्पन्न हो गये। १३वें श्लोक मे आया है कि दोनो (मित्र एव वरुण) ने बीज को एक घडे मे डाल दिया, जिसके मध्य से अगस्त्य निकले और वसिष्ठ भी उत्पन्न हुए। १४वा मन्त्र प्रतृदो को सम्बोधित है और उनसे कहा गया है कि वे वसिष्ठ के सम्मान मे लग जायें जो उनके पास यज्ञ (कराने) के लिए आयेगे। यह, ऐसा प्रतीत होता है, वसिष्ठ का दूसरा जन्म है।

प्रो० आर० डी० रानाडे ने अपने ग्रन्थ 'कान्स्ट्रक्टिव सर्वे आव दि उपनिषदिक फिलॉसॉफी' (पृ० १४५-१४६) मे ऋग्वेद के कुछ मन्त्रो पर निर्भर होकर यह कहने का प्रयास किया है कि वैदिक ऋषियो ने पुनर्जन्म की ओर सकेत किया है (पृ० १४७)। किन्तु प्रो० रानाडे ने (उसी पृष्ठ पर) स्वय यह माना है कि ऋग्वेद के अधिकाश भाग मे पुनर्जन्म की भावना का सर्वथा अभाव है। स्थानाभाव से हम उनके तर्को की जाच यहाँ नही कर पायेगे। पूर्ण जानकारी के लिए देखिए मूल ग्रन्थ, पृ० १५३७-१५४८।

श्री जे० एस० करन्दीकर ने (पूना-निवासी, जो लोकमान्य तिलक के कट्टर शिष्य है) अपने ग्रन्थ 'गीता-तत्त्व मञ्जरी, (मराठी मे, १९४७) मे यह दर्शाया है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त वैदिक सहिताओ मे पाया जाता है और इस विषय मे उन्होने ऋग्वेदीय चार ऋचाओ (१०।१३।८, १०।१६।३ एव ५ तथा १०।१३५।६, का आश्रय लिया है। किन्तु उनकी धारणा निर्मूल है। उन्होने ऋचाओ का जो अर्थ लगाया है, वह ठीक नही है। विशेष तर्क एव विवेचन के लिए देखिए इस ग्रन्थ का मूल पृ० १५४२ से पृ० १५८४ (खण्ड ५)।

तै० स० (२।६।१०।२) मे एक मनोरम वचन आया है—'जो व्यक्ति किसी ब्राह्मण को धमकी देता है वह इसके लिए एक सौ वर्षो तक प्रायश्चित्त करेगा, जो उसे पीटता है वह एक सहस्र वर्षो तक (प्रायश्चित्त करेगा), जो ब्राह्मण का रक्त गिरायेगा वह उतने वर्षो तक अपने पितरो के लोक को नही जानेगा जितने मिट्टी के कण

रक्त से सनकर एक पिण्ड के रूप मे बन जायेगे। अत व्यक्ति न तो ब्राह्मण को धमकी दे, न पीटे और न उसके शरीर से रक्त गिरने दे, क्योकि वैसा करने से उतना ही पाप होता है।' इस वचन से ऐसा नही प्रतीत होता है कि इस वचन के प्रणयन के काल तक केवल पितृलोक की भावना ही बन सकी थी, जैसा कि ड्यूशन ने अपने ग्रन्थ 'फिलॉसॉफी आव उपनिषद्' (पृ० ३२५) मे लिखा है। वास्तव मे, ऋग्वेद मे देवयान एव पितृयाण की कल्पना प्रबल हो चुकी थी। ऋग्वेद के अनुसार अधिक लोग यम के राज्य पितृलोक मे जायेगे, केवल थोडे से देवयान द्वारा देवो के लोक मे जायेंगे। यह वचन इस विषय मे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि एक अति घातक पाप के फलस्वरूप पापी को एक सहस्र वर्षो तक या कई सहस्रो वर्षो तक दुख भोगना पडता था, अत उसे कई जीवनो तक जन्म लेना पडता था, क्योकि मानव की आयु सौ वर्ष होती है (ऋ० १०।१६१।४=अथर्व० ३।११।४, ऋ० १।८९।९=वाज० स० २५।२२)। उपर्युक्त वचन के आधार पर गौतमधर्मसूत्र ने व्यवस्था दी है कि क्रोध मे आकर ब्राह्मण को धमकी देने से सौ वर्षो तक स्वर्ग का द्वार अवरुद्ध हो जायेगा (या नरक मे जाना होगा), उसे पीटने से एक सहस्र वर्षो तक तथा उसके शरीर से रक्त निकालने पर उतने वर्षो तक स्वर्ग-द्वार अवरुद्ध रहेगा जितने मिट्टी के कणो से एक रक्तरजित पिण्ड बन जायेगा। मनु (११।२०६-७) ने इसे यो समझा है कि ब्राह्मण के विरुद्ध किये गये दुष्कर्मो से अभियोगी को क्रम से १००, १००० या सहस्रो वर्षो तक नरक मे रहना पडेगा।

मनुष्य अपने कर्मो एव आचरण से अपना भविष्य बनाता है, इस सिद्धान्त की शिक्षा बृह० उप० (४।४।५-७) मे मिलती है[६]—"जो जैसा आचरण करता है, वह वैसा ही होगा, अच्छे कर्मो वाला अच्छा (जन्म) पायेगा, दुष्कर्मो वाला बुरा (जन्म) पायेगा, पुण्य कर्मो से पुण्य (पवित्र) होता है। दुष्कर्मो से बुरा। यहाँ वे कहते हैं—'मनुष्य काममय है, उसकी जैसी कामना होगी वैसी ही उसकी इच्छा-शक्ति होगी, उसकी जैसी इच्छा होगी वैसा ही उसका कर्म होगा, और जो कुछ कर्म वह करता है वैसा ही वह होगा वैसा ही फल वह प्राप्त करेगा।" इस पर एक श्लोक आया है—'जिस किसी से मनुष्य का मन एव सूक्ष्म देह सलग्न रहता है उसी के पास अपने कर्मो के फलो के साथ वह जाता है, और जो कुछ कर्म वह इस लोक मे करता है उसका फल प्राप्त करने के उपरान्त वह पुन उस लोक से (जहाँ वह फल-प्राप्ति के कारण कुछ काल के लिए गया था), कर्मलोक मे आ जाता है, इतनी बात उस व्यक्ति के लिए है जो **कामयमान** (अर्थात् जो कामनाओ या इच्छाओ मे डूबा हुआ है) है, अब **अकामयमान** के विषय मे—, जो व्यक्ति कामरहित है, निष्काम है, जिसके काम शान्त हो गये हैं, जो स्वय आत्मकाम (स्वय अपनी इच्छा) है उसके प्राण कही और नही जाते, वह स्वय ब्रह्म होने के कारण ब्रह्मलीन हो जाता है। इस बात पर एक श्लोक है—"जब मनुष्य के हृदय मे स्थित सभी काम दूर हो जाते है, तो वह जो मर्त्य है, अमृत हो जाता है, यही इसी शरीर मे वह ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है।" उपर्युक्त वचन मे क्रम यो है—काम, इच्छा

---

६ स वा ... त्मा ब्रह्म विज्ञानमयो ... इति। यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्य पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेन। अथो खल्वाहु। काममय एवाय पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। तदेव श्लोको भवति। तदेव सक्त सह कर्मणैति लिङ्ग मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्त कर्मणस्तस्य यत्किचेह करोत्ययम। तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे। इति नु कामयमान। अथा कामयमानो "योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति। तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिता। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥' बृं० उप० (४।४।५-७)।

एव कर्म। इस विषय मे देखिए ड्यूशन (फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्स, पृ० २४८) एव जेराल्ड हर्ड ('इज गॉड एविडेण्ट', पृ० ३४) की भावभीनी टिप्पणियाँ।

उपर्युक्त वचन के पहले एव उपरान्त कई उदाहरण आये है, जिनमे दो यहाँ दिये जा रहे हैं, जिससे यह बात व्यक्त हो जायगी कि आत्मा किस प्रकार एक शरीर से दूसरे शरीर मे जाता है। 'जिस प्रकार एक झिनगा घास के एक अकुर के पोर पर पहुँचने के उपरान्त दूसरे अकुर के पास पहुँचने की गति करता है, उसको ओर अपने रा खीच लेता है और उस पर अपने को अवस्थित कर लेता है, उसी प्रकार यह (जीव का) आत्मा मृत्यु पर अपने शरीर को त्याग कर, अविद्या को हटाता हुआ, दूसरे शरीर की ओर पहुँचता हुआ उसकी ओर अपने को खीच लेता है और उसी मे अपने को अवस्थित कर लेता है' (बृ० उप० ४।४।३)। दूसरा उदाहरण यह है—'जिस प्रकार सर्प का केचुल पिपीलिका के ढूह पर मरा हुआ एव फेका हुआ रहता है, उसी प्रकार यह शरीर पडा रह जाता है और तब आत्मा, शरीर रहित, अमरात्मा हो जाता है और केवल ब्रह्म होता है।

यह सम्पूर्ण वचन (बृ० उप० ४।४।५-७) सबसे मुख्य, प्राचीन एव स्पष्ट वचन है और उपनिषदो मे पाये जाने वाले पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर प्रभूत प्रकाश डालता है। इसी प्रकार के अन्य वचन भी हैं। याज्ञवल्क्य एव आर्त-भाग की कथा के अन्त मे (जहाँ याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग से एकान्त मे मृत्यु के उपरान्त होने वाली अवस्था के विषय मे बात की है) उपनिषद मे आया है—'उन्होने जो कहा वह केवल कर्म था, उन्होने जिसकी प्रशसा की, वह कर्म ही है। व्यक्ति अच्छे कर्मों से अच्छा होता है और दुष्कर्मों से बुरा होता है' (बृ० उप० ३।२।१३)।

ये दोनो ऐसे मौलिक वचन हैं जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त के आधार मे पडे तर्क एव उद्देश्य की व्याख्या उपस्थित करते हैं।

उपर्युक्त दोनो उक्तियो का साराश यह है कि इस जीवन मे किये गये कर्म एव आचारण मनुष्य के भावी जीवन का निर्माण करने वाले होते है और वर्तमान जीवन मनुष्य द्वारा अतीत जीवन या जीवनो मे किये गये कर्मों या व्यवहार का फल है। किन्तु कर्म एव आचरण (व्यवहार) मनुष्य की इच्छा (सकल्प) पर निर्भर रहते है और यह सकल्प (या इच्छा) कामनाओ के कारण ही जागता है। मनुष्य की कई कामनाएँ हो सकती हैं, वह उनमे कुछ को दबा सकता है, किन्तु कुछ कामनाओ की निष्पत्ति अथवा सिद्धि के लिए वह सकल्प ले सकता है। अत कामनाएँ (अथवा केवल 'काम') सकल्प (या इच्छा), कर्मो एव आचरण का आधार (मूल या जड) है और अन्ततोगत्वा वही जन्मो एव मरणो के चक्र (जिसे ससार कहा जाता है) के मूल मे भी है। इसी से शकराचार्य ने 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा' (बृ० उप० ४।४।७) का अनुसरण करते हुए कहा है—'कामो मूल ससारस्य' अर्थात् काम ससार का मूल है।

बृहदारण्यकोपनिषद् (६।२) मे एक अन्य महत्त्वपूर्ण वचन है। वहाँ आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु के बारे मे एक कथा आयी है। श्वेतकेतु अपनी विद्या के घमण्ड मे चूर पञ्चालो के सभा-भवन मे आये और वहाँ पर नौकरो द्वारा सेवा पाते हुए प्रवाहण जैवलि (एक क्षत्रिय या राजकमार) को देखा। श्वेतकेतु को देख लेने पर राजकुमार ने उनसे पूछा—'क्या आपने अपने पिता से शिक्षा पायी है?' जब श्वेतकेतु ने 'हाँ' कहा तो राजकुमार ने उनसे पाँच प्रश्न किये, यथा—(१) क्या आप यह जानते है कि जब मनुष्य यहाँ से जाते हैं तो वे किस प्रकार विभिन्न दिशाओ को जाते है?, (२) क्या आप यह जानते है कि वे किस प्रकार यहाँ लौट आते हैं?; (३) क्या आप यह जानते हैं कि सामने वाला लोक किस प्रकार बहुत लोगो द्वारा बार-बार जाने पर भी भर नही पाता?, (४) क्या आप यह जानते हैं कि किस कृत्य की आहुति पर जल मानव वाणी से युक्त हो जाते है, उठ पडते है और बोल उठते हैं?, (५) क्या आप देवयान एव पितृयाण नामक मार्गो की पहुँच को जानते हैं? (अर्थात् क्या आप उन कर्मों को

जानते हैं जिनके द्वारा मनुष्य **देवयान** एवं **पितृयाण** नामक मार्गों में जा सकते हैं ?), क्योंकि हमने एक ऋषि को यह कहते सुना है—'मैंने मनुष्यों के लिए दो मार्गों की बात सुनी है, जिनमें एक पितरों की ओर जाता है और दूसरा देवों की ओर, इन्हीं दोनों मार्गों पर सारा संसार जो कुछ भी पिता (आकाश) एवं माता (पृथिवी) के बीच रहता है, चलता है।'[७] इन सभी प्रश्नों के विषय में श्वेतकेतु ने कहा कि वे कुछ नहीं जानते। राजकुमार ने आतिथ्य दिया, किन्तु श्वेतकेतु दौड़ कर अपने पिता के पास गये और यह जानना चाहा कि कैसे उन्होंने कह दिया था कि उन्होंने सब कुछ पढ़ा दिया है, जब कि एक राजन्य द्वारा पूछे गये पाँच प्रश्नों में एक का भी उत्तर नहीं दिया जा सका। उनके पिता ने कहा कि उन्होंने सब कुछ, जो उन्हें ज्ञात था, पढ़ा दिया था, वे स्वयं इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानते। वे राजकुमार के पास गये, जिसने उन्हें दान से सम्मानित किया। आरुणि को धन नहीं चाहिए था, उन्होंने प्रश्नों का उत्तर चाहा। राजकुमार ने कहा—'शिष्य के रूप में आइए'। आरुणि (गौतम) ने कहा कि वे शिष्य के रूप में ही आये हैं। राजकुमार ने कहा कि जो विद्या मैं पढ़ाऊँगा वह किसी ब्राह्मण के पास इसके पूर्व नहीं थी।[८] इसके उपरान्त उन्होंने (राजन्य या क्षत्रिय अथवा राजकुमार ने) श्वेतकेतु को पाँचों प्रश्नों का उत्तर संक्षेप में दिया जो इस प्रकार है—पाँच अग्नियाँ (लाक्षणिक रूप में) हैं, **स्वर्ग, वर्षा के देव, पृथिवी, पुरुष** एवं **नारी** और पाँच आहुतियाँ हैं—**श्रद्धा, सोम** (चन्द्र), **वर्षा, अन्न** एवं **बीज**। यह चौथे प्रश्न का उत्तर हुआ। पहले एवं पाँचवें प्रश्नों का उत्तर इस वक्तव्य में है—'कुछ लोग देवों के मार्ग से, कुछ लोग पितरों के मार्ग से जाते हैं किन्तु अन्य (यथा—कीड़े-मकोड़े, मक्खियाँ आदि) लोगों के लिए कोई मार्ग नहीं है (वे केवल जीते हैं और मर जाते हैं)। देखिए बृ० उप० (६।२।१५-१६)। दूसरे एवं तीसरे प्रश्नों का उत्तर उसी प्रकार है, यथा—जो लोग पितृयाण से जाते हैं वे इस पृथिवी पर लौट आते हैं और जो ब्रह्म के पास जाते हैं वे लौट कर नहीं आते, इसी से वह लोक भर नहीं पाता।

छा० उप० (५।३।२) में ये प्रश्न कुछ भिन्न रूप से पूछे गये हैं—(१) क्या आप जानते हैं कि यहाँ से लोग किस स्थान को जाते हैं ?, (२) वे कैसे लौटते हैं ?, (३) क्या आप जानते हैं कि देवों का मार्ग एवं पितरों का मार्ग कहाँ अलग-अलग होता है ?, (४) लोक भर क्यों नहीं जाता ?, (५) पाँचवीं आहुति में जल को मनुष्य क्यों कहा जाता है ? इनके उत्तर बृह० उप० एवं छा० उप० में एक-से नहीं हैं, यद्यपि वे पर्याप्त रूप में एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। अग्नि के पाँच अंग हैं, **ईंधन, धूम, ज्वाला, जलते कोयले** (अंगारे) एवं **स्फुलिंग**। छा० उप० (५।१०।४-९) एवं बृह० उप० (६।२।९-१३) में अग्नियाँ एक ही हैं, किन्तु उनके अंगों में थोड़ा

७ देवयान एवं पितृयाण के विषय में जो प्रश्न बृह० उप० (६।२।२) में पूछा गया है उसका रूप यों है वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा। यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वा। अपि हि न ऋषेर्वचः श्रुतम्—द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च। इति। 'द्वे सृती' नामक पद ऋ० (१०।८८।१५) एवं तै० ब्रा० (१।४।२-३) में पाया जाता है। द्यौ (स्वर्ग) एवं पृथिवी को क्रम से पिता एवं माता कहा गया है (ऋ० १।१६४।३३ एवं १।१८९।६)।

८ इस विद्या को 'पञ्चाग्निविद्या' कहा जाता है। इस उपनिषद् में 'राजन्य' शब्द राजकुमार के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है, केवल क्षत्रिय, जैसा कि पुरुषसूक्त, (१०।९०।१२) में आया है, न कि 'राजा'।

अन्तर है, मिलाइए, उदाहरणार्थ, बृह० उप० (६।२।११) एव छा० उप० (५।३।६)। छा० उप० मे प्रथम प्रश्न के उत्तर मे दोनो मार्गों का उल्लेख है। दूसरे प्रश्न का उत्तर छा० उप० (५।१०।८) मे है।[१] चन्द्र तक पहुँचने पर मार्ग पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। (तीसरे प्रश्न का उत्तर), जैसा कि छा० उप० (५।१०।२ एव ४-५) मे आया है। चौथे प्रश्न का उत्तर छा० उप० (५।१०।८) मे है। पाँचवे प्रश्न का उत्तर 'पचाग्नि-विद्या' की उक्ति द्वारा दिया गया है।

आगे कुछ और कहने के पूर्व इस विषय मे कुछ लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि शरीर के मरने के उपरान्त क्या होता है अथवा क्या सम्भव हो सकता है। इस विषय मे तीन सम्भावनाएँ है, यथा—(१) सम्पूर्ण विलोप, (२) स्वर्ग या नरक मे अनन्त प्रतिकार (बदला, अर्थात् फल भोगना), एव (३) पुनर्जन्म। जो लोग आत्मा की अमरता मे विश्वास नही करते वे प्रथम मत का प्रतिपादन करते है। प्राचीन भारत मे भी, जैसा कि कठोपनिषद् (१।२०) ने प्रमाण दिया है, कुछ लोग मृत्यूपरान्त आत्मा के अतिजीवन (जीते रह जाने) मे शकाएँ रखते थे। जो लोग अतिजीवन (सरवाइवल) मे विश्वास नहीं करते वे अन्य प्रश्नो मे व्यामोहित अथवा चिन्तित नहीं होते। अत मृत्यु के उपरान्त वाला अति जीवन-सम्बन्धी प्रश्न सबसे महत्वपूर्ण है अर्थात् क्या भौतिक शरीर की मृत्यु के उपरान्त व्यक्ति (या उसका आत्मा या उसका कोई अपनापन) का कोई चिह्न बचा रहता है? श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रथम मन्त्र चार समस्याएँ उपस्थित करता है—(१) क्या ब्रह्म ही कारण है?, (२) हम कहाँ से आते हैं?, (३) हमे कौन पालता है? तथा (४) हम कहाँ जा रहे है? जो लोग ईश्वर, स्वर्ग एव नरक मे विश्वास करते है उनमे बहुत-से लोग आत्मा के पूर्वास्तित्व मे विश्वास नही करते, वे केवल उत्तरास्तित्व (पश्चात् वाले अस्तित्व) मे विश्वास करते है। वे ऐसा विश्वास करते है कि यदि व्यक्ति इस जीवन में सदाचारी है तो उसे स्वर्ग मे आनन्द का अनन्त जीवन प्राप्त होगा, और जो पापमय जीवन बिताता है वह मृत्यु के उपरान्त नरक मे सदा के लिए निवास करेगा। बाइबिल एव कुरान मे विश्वास करने वाले ऐसा विश्वास करते है, और उनकी दृष्टि मे सुकृत (साधुता, धर्माचरण या सदाचार) केवल ईश्वर की इच्छा के प्रति श्रद्धा रखने मे है (जैसा कि बाइबिल या कुरान मे 'इलहाम' या अन्तःप्रेरणा के रूप में व्यक्त है)। बहुत कम लोग प्रथम सम्भावना, अर्थात् सम्पूर्ण नाश (विलोप) वाले सिद्धान्त को स्वीकार करते है, क्योकि इससे मनुष्य की कामनाओ से विरोध उठ खडा होता है, क्योकि व्यक्ति सोचता है कि उसने इस जीवन मे जो कुछ मानसिक एव आध्यात्मिक रूप मे कमाया है वह बिना कुछ चिह्न छोड़े सर्वथा विलुप्त नही हो सकता। दूसरी सम्भावना अनन्त पुण्यफल या पापफल भोगने की ओर इंगित करती है, और इसमे बहुत लोग विश्वास नही करते, विशेषत जब वे सोचते है कि जीवन तो अल्प होता है और

[१] छा० उप० (५।१०।४) 'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षन्ति' एव बृ० उप० (६।२।१६) 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा भक्षयन्ति'। वे० सू० (३।१।७) मे इनका विवेचन है (भाक्तं वानात्मविरवात्तथाहि दर्शयति), उसमें आया है कि शब्दों (देव उन्हें खाते हैं, 'भक्षयन्ति') को शाब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिए प्रत्युत लाक्षणिक अर्थ मे। वास्तव मे, कहने का तात्पर्य यह है कि देवों को उनका साथ अच्छा लगता है जो लोग यज्ञ करते हैं, क्योकि छा० उप० (३।६।१) मे स्वय आया है कि देव लोग न तो खाते है और न पीते हैं, किन्तु वे अमृत को देख कर अवश्य सन्तुष्ट होते है।"

उसी मे किये गये सत्कर्मो या दुष्कर्मों के लिए स्वर्ग या नरक में अनन्त वास करना पडता है। अत अपेक्षाकृत अधिक लोग तीसरी सम्भावना मे विश्वास करते हैं, क्योकि इसमे भौतिक मृत्यु के उपरान्त किसी-न किसी रूप मे एव किन्ही वातावरणो में आत्मा के सतत अस्तित्व का सकेत मिलता है ।

उपर्युक्त उपनिषद्-वचन यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त किस प्रकार उपनिषद्-काल मे अपना रूप धारण कर रहा था । ऋग्वेद मे देवयान एव पितृयान नामक दो मार्ग विदित थे और यह भी ज्ञात था कि स्वर्ग मे आनन्द एव आह्लाद प्राप्त होते हैं, किन्तु ऋग्वेद से यह नही ज्ञात हो पाता कि स्वर्ग के आनन्दो की क्या अवधि थी और न वहाँ पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त के विषय मे कोई स्पष्ट एव निश्चित उक्ति ही मिलती है । ब्राह्मण ग्रन्थो मे दोनो मार्गों की ओर बहुधा सकेत किया गया है और इस धारणा की ओर भी निर्देश मिलता है कि मनुष्य को कई बार मरना होगा (पुनर्जन्म), किन्तु तथापि सत्कर्मो एव दुष्कर्मो पर आधारित पुनर्जन्म के विषय मे कोई स्पष्ट एव निश्चित सिद्धान्त नही मिलता। अत्यन्त स्पष्ट (और सम्भवत अत्यन्त आरम्भिक) वक्तव्य बृह० उप० के दो वचनो (३।२।१३ एव ४।४।५-७) मे है जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त के उद्गम पर प्रकाश डालते ह । ये दोनो वचन याज्ञवल्क्य से सम्बन्धित हैं और उन्होने ही दृढतापूर्वक कहा है कि अपने कर्मो के फलस्वरूप ही मनुष्य नये जन्म ग्रहण करता है। इन दोनो वचनो मे देवयान एव पितृयाण का कोई उल्लेख नही है। किन्तु बृह० उप० (६।२।१६) एव छा० उप० (५।१०) ने पुनर्जन्म के दो मार्गों की चर्चा की है और उनके लिए जो कीटो एव मक्खियो के रूप मे जन्म लेते ह, तीसरे स्थान की बात कही है। यह दो मार्गों वाले सिद्धान्त के आगे का मार्ग है, क्योकि इसमे एक और मार्ग जोड दिया गया है। एक अन्य अन्तर भी पाया जाता है। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।५) मे आया है कि वैसे लोग, जो यज्ञ करते हे, जन-कल्याण का कार्य करते हे तथा दान देते है, चन्द्रलोक जाते हैं और जब उनके सत्कर्मो के फल समाप्त हो जाते है तो वे उसी मार्ग से लौट आते है जिससे वे चन्द्रलोक गये थे (अर्थात् चन्द्र मे आकाश, तब वायु, धूम्र, कुहरा, बादल एव वर्षा के मार्ग से लौटते है) और पुन किसी माता के पेट से जन्म लेते हैं । इससे विदित होता है कि जो लोग यज्ञ आदि करते हैं उन्हे दो प्रतिकार (बदले) मिलते हैं, यथा—बहुत काल तक चन्द्रलोक मे निवास तथा इस पृथिवी पर पुनर्जन्म ।

छा० उप० की भाँति प्रश्न उ० मे भी वही सिद्धान्त आया है, किन्तु यहाँ सूर्यलोक के निवास की भी बात आयी है, यथा—"सवत्सर वास्तव मे प्रजापति का है, इसके दो मार्ग हैं—दक्षिणी एव उत्तरी । जो लोग यज्ञ एव जन-कल्याण के कार्य को आवश्यक समझ कर सम्पादित करते हैं वे चन्द्र को ही अपने भावी लोक के रूप मे प्राप्त करते है, और वे ही इस लोक को फिर लौट आते है । अत जो ऋषि सन्तान की कामना रखते है दक्षिणी मार्ग को अपनाते हैं। जो ऋषि तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा एव ज्ञान के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेते है वे उत्तरी मार्ग से सूर्य की ओर जाते है, जो प्राणो का आयतन है, अमृत हैं, भय से मुक्त है, यह सर्वोच्च एव अन्तिम लक्ष्य है । यहाँ से वे लौटते नही, यहाँ अन्य पदार्थो के लिए निरोध है। इस पर एक श्लोक है (ऋ० १।१६४।१२)—"कुछ लोग उसे पाँच पाँवो वाले (पाँच ऋतुओ), बारह रूपो वाला (१२ महीनो) पिता कहते है, सर्वोच्च स्वर्ग मे वर्षा का दाता कहते हैं, अन्य लोग कहते हैं कि ऋषि नीचे के अर्ध भाग मे सात पहियो वाले (घोडो या सूर्य की किरणो) एव छह तीलियो (अरो) वाले रथ मे रखा जाता है ।" ऋग्वेद का यह मन्त्र सम्भवत उन दो मार्गों के लिए उद्धृत किया गया है जो प्रतीक के रूप मे वर्ष के दो भागो को बताते हैं। ऋग्वेद के इस मन्त्र का प्रथम अर्ध भाग सूर्य की ओर सकेत करता है जो कि स्वर्ग के सर्वोच्च अर्धभाग मे अवस्थित है और सम्भवत दूसरा अर्धभाग स्वर्ग के उस भाग को बताता

कठोपनिषद् (५।६-७) में नचिकेता को यम ने ब्रह्मविद्या का रहस्य बताया है और यह भी बताया है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा का क्या हो जाता है—कुछ लोग दैहिक अस्तित्व के लिए माता के गर्भाशय में चले जाते हैं और अन्य लोग अपने कर्मों एवं विद्या के अनुसार वृक्षों की थूनियों (स्थाणुओं) में परिवर्तित हो जाते हैं।

बृ० उप० (६।२।१५-१६) एवं छा० उप० (५।३।१० आदि) में देवयान एवं पितृयाण मार्गों में जाने वाले लोगों का उल्लेख है। सर्वप्रथम हम बृ० उप० को उद्धृत करते हैं—'ऐसे लोग जो (गृहस्थ भी) इसे (पञ्चाग्नि विद्या) जानते हैं और वे लोग जो (आश्रमवासी एवं सन्यासी) वन में श्रद्धा के साथ सत्य (ब्रह्म या हिरण्यगर्भ) की उपासना करते हैं अचि (प्रकाश) को जाते हैं, अचि से दिन (अहन्) को, दिन से पूर्ण होते हुए पक्ष (शुक्ल पक्ष) को, आपूर्वमाणपक्ष (पूर्ण होते हुए पक्ष) से छह मासों में जाते हैं, जिस अवधि में सूर्य उत्तर में गतिशील हो जाता है। उन छह मासों से देवलोक में जाते हैं, देवलोक से सूर्य को जाते हैं और सूर्य से विद्युत् को जाते हैं। जब वे विद्युत् के स्थल को पहुँच जाते हैं तो (ब्रह्मा के) मन से उत्पन्न पुरुष उनके पास आता है और उन्हें ब्रह्मा के लोकों को ले जाता है, इन लोकों में उच्च पद प्राप्त करके वे युगों तक रहते हैं और उनके लिए (इस संसार में पुनः) लौटना नहीं होता। किन्तु वे लोग जो यज्ञ, दान एवं तप द्वारा लोकों पर विजय प्राप्त करते हैं, धूम (मार्ग) को जाते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से छह मासों को जाते हैं जिनमें सूर्य दक्षिणायन होता है, इन मासों से पितरों के लोक में जाते हैं, पितृलोक से चन्द्र लोक को जाते हैं और चन्द्र तक पहुँच जाने पर वे अन्न हो जाते हैं और तब देवगण उन्हें उसी प्रकार खाते हैं जिस प्रकार यज्ञ करने वाले राजा सोम को खाते हैं (यह यज्ञ के अनुसार बढ़ता या घटता है)। किन्तु जब यह (पृथिवी पर किये गये कर्मों का फल) समाप्त हो जाता है वे आकाश को लौट आते हैं, आकाश से वायु, वायु से वर्षा और वर्षा से पृथिवी पर चले आते हैं, पृथिवी पर पहुँचने पर वे अन्न (भोजन) हो जाते हैं। तब वे पुनः अग्नि में, जो मनुष्य कहलाती है, डाले जाते हैं। इसमें (अर्थात् मनुष्य से) वे अग्नि में जो नारी कहलाती हैं, जन्म लेते हैं। ये लोग लोकों की प्राप्ति के लिए (यज्ञ आदि द्वारा) उद्योग करते हुए इस लोक में बार-बार आते हैं। वे लोग, जो इन दोनों मार्गों से अपरिचित हैं, कीटों, पतंगों, पक्षियों एवं मक्खियों के रूप में जन्म लेते हैं।'

छा० उप० (५।१०।१-२) में बृह० उप० (६।२।१५) के ही शब्द अधिकांश में आये हैं। कहीं-कहीं कुछ अन्तर पाया जाता है। स्थानाभाव से यहाँ अन्तरों पर प्रकाश नहीं डाला जा रहा है। भविष्य जीवन को रूप देने वाले आचरणों से सम्बन्धित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वचनों में एक है छा० उप० का ५।१०।७-८ जो यों है—'जिनके आचरण रमणीय रहे हैं वे शीघ्र ही रमणीय योनि प्राप्त करेंगे, यथा ब्राह्मण योनि या क्षत्रिय योनि या वैश्ययोनि। किन्तु जिनके आचरण कपूय (बुरे) रहे हैं वे शीघ्र ही कपूय योनि प्राप्त करेंगे, यथा श्वयोनि, सूकरयोनि या चाण्डालयोनि। जो इन क्षेत्रों में से किसी मार्ग का अनुसरण नहीं करते वे ऐसे क्षुद्र जीव बनते हैं, जो सतत लौटते आ रहे हैं और उनके भाग्य (नियति) को हम यों कह सकते हैं—'जीना एवं मरना'। उनका तीसरा स्थल है। (उन दोनों मार्गों से भिन्न)। अतः सामने का लोक पूर्ण नहीं होता अतः इस संसार से जुगुप्सा उत्पन्न होती है।

यह द्रष्टव्य है कि भगवद्गीता (८।२३-२७) ने भी दो मार्गों का उल्लेख किया है, जिनमें एक वह है जिसके द्वारा जाने से योगी इस लोक में लौट कर नहीं आता और दूसरा वह है जिसके द्वारा जाने पर उसे पुनः यहाँ लौट आना पड़ता है। इन्हें शुक्ल एवं कृष्ण गति (८।२६) तथा सृति (८।२७) कहा गया है।

प्रथम है अग्नि, प्रकाश (ज्योति), दिन, मास का शुक्ल पक्ष एव सूर्य का उत्तरायण मार्ग, वे लोग, जिन्होंने ब्रह्म की अनुभूति कर ली है, इस लोक से जाते समय ब्रह्मलोक की यात्रा करते है। दूसरा मार्ग है धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, सूर्य के ६ मासो का दक्षिणायन मार्ग, योगी इस मार्ग से चन्द्र-प्रकाश को प्राप्त कर पुन इस लोक मे लौट आता है।

शान्तिपर्व (२६।८-१०, चित्रशाला सस्करण) ने उत्तरायण एव दक्षिणायन मार्गो का उल्लेख किया है, जिनमे दूसरे की उपलब्धि दाना, वेदाध्ययन एव यज्ञो मे होती है (जैसा बृ० उ० ६।२।१६ एव छा० उ० ५। १०।८ मे वर्णित है)। याज्ञवल्क्यस्मृति (३।१९७) ने भी इन मार्गो की ओर इगित किया है, और देखिए याज्ञ० (३।१९५-१९६)।

वेदान्तसूत्र ने बहुधा पुनर्जन्म के सिद्धान्त की ओर सकेत किया है, किन्तु स्थानाभाव से हम सभी बातो का उल्लेख नही कर सकते। थोडे ही सूत्रो की व्याख्या यहा उपस्थित की जायगी। वे० सू० के तीन सूत्र (२।१।३४-३६)[१०] पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विषय मे बडे महत्त्वपूर्ण है। विरोधी कहता है—'यह कहना कि ईश्वर ससार का कारण है, युक्तिसगत नही जँचता, क्योकि यदि ऐसा है तो ईश्वर पर व्यवहार-वैषम्य एव अत्याचार का अभियोग लग जायेगा। वे कुछ ऐसे लोगो को उत्पन्न करते है जो (देवो आदि की भाति) अत्यन्त आनन्द का उपभोग करते है। कुछ ऐसे लोगो को उत्पन्न करते है जो (भारवाही पशुओ की भाति) अत्यन्त क्लेशयुक्त जीवन बिताते है तथा कुछ ऐसे लोगो को उत्पन्न करते है जो बीच की स्थिति प्राप्त करते है अर्थात् आनन्द का अल्पाश मात्र पाते है। अत ईश्वर पर ऐसा अभियोग लगाया जा सकता है कि वे द्वेष एव प्रेम की भावनाओ से (सामान्य लोगो की भाति) परिपूर्ण है। ईश्वर भी क्लेश उत्पन्न करता है और अन्त मे सब को नष्ट कर देता है। इस प्रकार का बडा अत्याचार दुष्ट लोगो की दृष्टि मे भी घृणास्पद है।' इस पर उत्तर यो है—'यदि ईश्वर ने ससार मे वैषम्य की रचना केवल अपने मन से की होती तथा किसी अन्य बात पर विचार न किया होता तो निस्सन्देह उन पर असमान व्यवहार एव अत्याचार के दो अभियोग लगाये जाते। किन्तु ईश्वर ने सदाचार नामक वृत्ति को भी दृष्टि मे रखा है। ईश्वर की स्थिति को हम वर्षा की स्थिति से तुलना करके देखे। वर्षा समान रूप से खेत पर होती है किन्तु अकुर समान रूप से नही निकलते, कोई छोटा होता है, कोई बडा, कोई उत्तम होता है, कोई निकृष्ट, यह सब बीज की विशेषता पर निर्भर होता है। ईश्वर पशुओ, मनुष्यो एव देवो की रचना का एक मात्र कारण है, जो विषमता दृष्टि-गोचर हो रही है वह है विभिन्न जीवो की अपनी-अपनी विशिष्ट वृत्तियाँ एव शक्तियाँ।'

कर्म एव पुनर्जन्म के विषय मे अति प्राचीन काल से ही लोगो का मन प्रभावित था। आपस्तम्बधर्म-सूत्र (२।१।२।२-३, ५-६) मे आया है—'विभिन्न वर्णो के लोग अपने व्यवस्थित कर्तव्यो के सम्पादन से सर्वोच्च एव अपरिमित सुख का भोग करते है। (स्वर्ग मे सुख भोगने के उपरान्त) कर्मफल शेष होने के कारण वे लौट आते है और यथोचित जाति (या कुल), रूप, वर्ण, बल, बुद्धि, प्रज्ञा, सम्पत्ति के साथ जन्म लेते है, धर्मानुष्ठान (कर्तव्य पालन) का लाभ उठाते है और यह सब आनन्द मे परिणत होता है जो चक्र के समान दोनो लोको मे होता है। यही नियम दुष्कृत्य करने पर भी लागू होता है। सोने का चोर एव ब्रह्महत्यारा अपनी

१० वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति। न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्। उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च। वे० सू० (२।१।३४–३६)।

जाति के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के अनुसार कुछ अवधि तक नरक की यातनाए सहकर क्रम से चाण्डाल पौल्कस या वैण बनता है (का जन्म पाता हे)।' यही बात गौतमधर्मसूत्र (११।२९-३०) मे भी आयी हे।

कर्म का सिद्धान्त यह बताता हे कि प्रत्येक अच्छा या बुरा कर्म विशिष्ट प्रकार का परिणाम उपस्थित करता है जिससे कोई बच नही सकता। इस भौतिक ससार मे कार्य-कारण का एक सार्वभौम नियम हे। कर्म का सिद्धान्त इस नियम को मानसिक एव नैतिक धरातल पर भी ला देता हे। कर्म का सिद्धान्त कोई यान्त्रिक कानून नही है, यह एक प्रकार से नैतिक एव आध्यात्मिक आवश्यकता हे। इसमे सन्देह नही कि यह सिद्धान्त वैज्ञानिक नही है, किन्तु इसे केवल काल्पनिक कह कर ही हम नही त्याग सकते। यदि कर्म एव पुनर्जन्म का सिद्धान्त न होता तो हम इस लोक को अनियन्त्रित मानते और यह समझते कि स्रष्टा लोगो के कर्मो की चिन्ता नही करता हे और मनमाने ढग से लोगो को पुरस्कार आदि देता है। वास्तव मे कर्म-सिद्धान्त तीन बातो पर बल देता हे—(१) यह वर्तमान अस्तित्व को अतीत अस्तित्व अथवा अस्तित्वो मे किये गये कर्मो का फल मानता हे, एक प्रकार का प्रायश्चित्त मानता है, (२) बुरे कर्म का नाश सत्कर्म से नही हो सकता, दुष्कर्मो का भोग तो भोगना ही हे, (३) दुष्कर्म के लिए जो दण्ड होता है वह व्यक्तिगत एव स्वय होने वाला होता है। यहाँ पर सयोग एव भाग्य की बात ही नही उठती।

कर्म सिद्धान्त से ही हम पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर पहुँचते है। एक व्यक्ति के कर्मो के फल अचानक या वर्तमान जीवन मे नही भी घटित हो सकते। आदिपर्व एव मनु मे आया है—'दुष्कर्म अपना फल गौ (जो खा लेने के पश्चात् ही पर्याप्त दूध दे देती है) के समान तुरन्त ही नही उपस्थित कर देता, किन्तु धीरे-धीरे वह अपने कर्ता की जड को ही कुतर डालता हे।'[११] अतीत अस्तित्वो मे किये गये कर्म वर्तमान अस्तित्व के रूप को निर्धारित एव निश्चित करते हे और वर्तमान अस्तित्व के कर्म पूर्व जन्मो (अस्तित्वो) के शेष कर्मो के साथ भावी अस्तित्व का रूप निर्धारित करते है। यही सक्षेप मे, पुनर्जन्म के सिद्धान्त का आधार हे। इसमे जो परिवर्तन हुए हे उनसे सम्बन्धित वचनो, उक्तियो एव प्रचलित दृष्टिकोणो पर हम आगे विचार करेगे। भौतिक शरीर की मृत्यु के उपरान्त क्या होता है, इस विषय मे जितने अनुमान ह उनमे ही पुनर्जन्म का भी सिद्धान्त है जो अन्य अनुमानो के समान ही तार्किक है। सम्पूर्ण नाश वाले सिद्धान्त के अनुमान से (जो अनस्तित्ववादियो द्वारा घोषित है) तो यह अधिक सन्तोषजनक है। इतना ही नही, स्वर्ग या नरक मे कर्मो के प्रतिकार के रूप मे अनन्त काल तक रहने वाले सिद्धान्त से भी यह सिद्धान्त अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषजनक है। अधिकाश धर्मो के नेता एव प्रवर्तक लोग ऐसा विश्वास करते ह कि ईश्वर उनके साथ है और उन्होने १९वी शती तक अपने धर्मो के बाहर कोई भला (व्यक्ति या घटना) नही देखा हे। उपनिषदो एव गीता का हिन्दू धर्म ही एक ऐसा धर्म एव दर्शन हे जिसने सहस्रो वर्ष पहले ऐसा उद्घोष किया कि सत्कर्मो वाला व्यक्ति ही भगवान् के अत्यधिक सन्निकट हे और दुष्कर्मो वाला व्यक्ति भगवान के अनुग्रह एव सग को नही पा सकता।

वेदान्तसूत्र (३।१) ने छा० उप० एव बृ० उप० मे पाये जाने वाले पञ्चाग्निविद्या-सम्बन्धी वचनो की जाँच की हे। शकर के भाष्य मे पाये जाने वाले विशद विवेचन को यहाँ उपस्थित करना सम्भव नही है, अत कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तिम निष्कर्ष ही यहाँ उपस्थित किये जा रहे ह—यह आत्मा (व्यक्ति का आत्मा) एक

११ नाधर्मश्चरितो लोके सद्य फलति गौरिव। शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति। आदिपर्व (८०।२) एव मनु (४।१७२)।

शरीर से दूसरे शरीर मे जाता हुआ सूक्ष्म तत्त्वो (भूतसूक्ष्म) के साथ अथवा उनमे घिरा हुआ चलता है, छा० उप० (५।९।१) मे उल्लिखित आहुतियो की चर्चा 'आप' के रूप मे हुई है, क्योकि मानव-शरीर अन्नरस, रक्त आदि के रूप मे द्रव पदार्थो से परिपूर्ण है, क्योकि अग्निहोत्र आदि पवित्र कृत्य मृत्यु के उपरान्त नये शरीर के कारण बनते है ओर उन कृत्यो मे जो मुख्य पदार्थ (यथा—सोम रस, घृत, दुग्ध) प्रयुक्त होते है वे सभी मुख्यत द्रव ही है। उस उक्ति या वक्तव्य मे कि "जो यज्ञादि करते है वे पितृयाण मार्ग से चन्द्रलोक जाते है और श्राद्ध एक द्रव्य के रूप मे अर्पित होता हे जिसमे से सोम, जो देवो का भोजन हे, निकलता है", 'देवो का भोजन' नामक शब्द लाक्षणिक रूप मे प्रयुक्त हुए हे (न कि साक्षात् भोजन करने के अर्थ मे)। यज्ञ, जन-कल्याण कर्म, दान, आदि करने वालो का आत्मा चन्द्र के पास पहुँचने एव अपने सत्कर्मो के फलो (जो चन्द्र मे अर्थात् चन्द्रलोक मे ही भोगे जा सकते हैं) को भोगने के उपरान्त उसी मार्ग से लौटता है, जिस मार्ग से गया था, किन्तु विश्राम-स्थल यहाँ उलटे पड जाते है, जिससे कर्मो के फल, जो केवल इस पृथिवी पर ही भोगे जा सकते है, भोगे जा सके।[१२] इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत दो बाते है— (१) इस जीवन से ऊपर एक जीवन (जिसकी ओर ऋग्वेद मे बहुधा निर्देश मिलता है) तथा पुनर्जन्म। इतना ही नही, इस दृष्टिकोण से अच्छे कर्मो के फलस्वरूप दो परिणाम भी प्रकट होते हैं—स्वर्ग के भोग तथा पुन भौतिक साधनो एव सास्कृतिक वातावरणो से युक्त पुनर्जन्म की स्थिति, जैसा हम **गौतमधर्मसूत्र** (११।२९) एव गीता (६।३७-४५) मे पाते हैं। इसी के साथ यह भी जान लेना है कि दुष्कर्मो के लिए दो दण्ड हैं, नरक की यातनाएँ और उनके उपरान्त घृणित निम्न स्तर का जीवन।

वे० सू० (३।१।१३-१७) ने आगे व्याख्या की है कि सभी मनुष्य चन्द्रलोक नही जाते, किन्तु केवल वे ही लोग जाते है, जो यज्ञ आदि करते हे, जो लोग यज्ञो या जन-कल्याण के कार्यों को नही सम्पादित करते, वे दुष्कर्मो के दोषी है और नरक (जो वे० सू० ३।१।१५ के मत से सात है) की यातनाओ को भोगने के लिए यमलोक जाते हे और उसके उपरान्त इस पृथिवी पर लौट आते है। जो श्रद्धा एव तप के मार्ग का अनुसरण करते है वे **देवयान मार्ग** (छा० उप० ५।१०।१ एव मुण्डक उप० १।२।११) से जाते है, और जो यज्ञ, दान एव जन-कल्याण के कर्मों का सम्पादन करते है वे **पितृयाण मार्ग** (छा० उप० ५।१०।३ एव मुण्डक उप० १।२।१०) से जाते है, और जो इन दोनो मे किसी भी मार्ग का अनुसरण नही करते वे तीसरे स्थल को जाते हे और कीटो, पतगो आदि के रूप मे जन्म लेते हे (छा० उप० ५।१०।८)। कौषीतकि उप० के (१।२) जैसे श्रुतिवचन मे जो यह आया है कि जो यहाँ से प्रस्थान करते हे वे सभी चन्द्रलोक जाते है, उसमे 'वे सभी' शब्द उनके लिए प्रयुक्त ह जिन्हे चन्द्र के यहाँ जाने का अधिकार (योग्यता या समर्थता) है।

एक शब्द हे 'ससार', जो वेदान्त एव धर्मशास्त्र सम्बन्धी पश्चात्कालीन ग्रन्थो मे बहुधा किन्तु उपनिषदो मे बहुत कम प्रयुक्त हुआ हे। इसका अर्थ है 'जन्मो एव मृत्युओ के चक्र मे आना-जाना'। कठोपनिषद् (३।७) मे आया हे—'जो व्यक्ति अविज्ञानवान् (बिना समझ का) हे, अमनस्क (मन को सयमित नही रखता हे) हे, जो सदा अशुचि (अशुद्ध या अपवित्र) हे, उसे वह सर्वोच्च-पद नही प्राप्त होता और ससार (जन्म एव मरण) मे आता-

१२. कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्या यथेतमनेव च। वे० सू० (३।१।८)। शङ्कराचार्य ने 'अनुशय' शब्द का अर्थ बताया है 'आमुष्मिकफले कर्मजाते उपभुक्तेऽवशिष्टमैहिकफल कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तोऽवरोहतीति।' 'अनुशय' का यहाँ पर अर्थ है 'अवशेष, बचा हुआ'। मिलाइये मेघदूत (३०) 'स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणा गा गताना शेषै पुण्यैर्हृतमिव दिव कान्तिमत्खण्डमेकम्॥' यह वेदान्त सूत्र (३।१।८) के सिद्धान्त पर आधृत एक बहुत ही सुन्दर उत्प्रेक्षा है।

जाता (गुजरता) हे ।'[१३] श्वेताश्वतरोपनिपद् (६।१६) ने परमात्मा के विपय मे यो लिखा है—'वह विश्व की रचना करने वाला, विश्व को जानने वाला, आत्मयोनि (स्वय जन्म लेने वाला), ज्ञाता, कालकाल (काल को नष्ट करने वाला), सभी गुणो से युक्त, सर्वविद्य (सर्वज्ञ), प्रधान तथा क्षेत्रज्ञो (व्यक्तिगत आत्माओ) एव गुणो (सत्त्व, रज, तम) का स्वामी है ओर ससार से मोक्ष देने, उसकी स्थिति एव वन्धन का हेतु (कारण) है।' मत्रायणी उपनिपद् (१।४) का कथन है—'जब ससार का ऐसा स्वरूप हे तो (आनन्दो के) भोग से क्या लाभ ?' मुक्तिका उपनिपद् (२।३७) का कथन है—'मन ससार रूपी वृक्ष की जड के रूप मे अवस्थित है।' 'ससार' शब्द वे० सू० (४।२।८) मे भी आया हे। गीता ने इसका प्रयोग कई बार किया है (यथा—९।३, १२।७ आदि)। मनुस्मृति ने भी 'ससार' शब्द का प्रयोग कई बार किया है (यथा—१।११७ मे तथा कई बार १२ वे अध्याय मे)। सत, रज एव तम नामक तीन गुणो की विशेपताओ का वर्णन करने (मनु० १२।२६-२९) तथा उनके प्रभावो पर प्रकाश डालने (मनु० १२।३०।३८) के उपरान्त मनु ने कहा हे कि जिनमे सत्त्व, रज एव तम की प्रधानता होती है वे क्रम से देव, मानव एव निम्न श्रेणी के जीव होते है। मनु ने पुन लोगो को नीच, मध्यम एव उत्तम श्रेणियो मे बाँटा हे (१२।४०-५०)। मनु ने 'ससार' को बहुवचन मे (१२।५२, ५४, ७०) तथा 'गति' या 'योनि' के अर्थ मे प्रयुक्त किया है। विशेप रूप से देखिए मनु (६।४०-६०) जहाँ ससार का उल्लेख है, सन्यास धर्म की चर्चा है, नरक-यातनाओ, रोगो, व्याधियो आदि का वर्णन हे। श्री सजन महोदय ने अपने ग्रन्थ 'डॉग्मा आव रीइन्कारनेशन' के पृ० १० पर कहा है कि मनु के अनुसार प्रत्येक जीव दस सहस्र लक्षो की सख्या मे अस्तित्व ग्रहण करता है। किन्तु यह उक्ति पूर्णतया भ्रामक एव त्रुटिपूर्ण है। मनु का इतना ही कहना है कि मोक्ष के लिए इच्छुक सन्यासी को इस सम्भावना पर सोचना चाहिए कि कुछ आत्मा लाखो जन्मो मे परिभ्रमण कर सकते है। याज्ञ० (३।१६९)ने जन्मो के घेरे मे आने-जाने के अर्थ मे 'समरति' क्रिया का प्रयोग किया है और कहा है—'कुछ लोगो द्वारा किये गये कर्मो का विपाक मृत्यु के उपरान्त ही उत्पन्न होता है (अर्थात् अन्य शरीरो मे) या इसी जीवन मे होता है (यथा कारीरी यज्ञ के विपय मे) तथा कुछ लोगो के विपय मे इस लोक मे या परलोक मे (अर्थात् यह कोई शास्त्रीय नियम नही है कि कर्मो का विपाक या फल उनके सम्पादन के उपरान्त शीघ्र ही प्रतिफलित हो जाता है)। याज्ञ० (३।१३३, १६२) मे एक सुन्दर रूपक आया हे—'जिस प्रकार एक अभिनेता विभिन्न अभिनय करने के लिए विभिन्न रगो का प्रयोग करता है उसी प्रकार यह आत्मा विभिन्न कर्मो के अनुसार विभिन्न रूपो (छोटा, कुवडा आदि) एव शरीरो को धारण करता हे।'[१४] याज्ञ० (३।१४०) मे स्वय 'ससार' शब्द प्रयुक्त हुआ है। शान्तिपर्व (२०५।६, चित्रशाला सस्करण=१९८।११-१२) मे आया हे—'इसमे कोई सन्देह नही है कि इस जीवन मे सुख से कही अधिक दुख हे।' पुराण वहुधा कहते हे कि ससार अनित्य हे, दुखो एव चिताओ से परिपूर्ण हे और केला के पातो के समान

१३ यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्क सदाऽशुचि। न स तत्पदमाप्नोति ससार चाधिगच्छति॥ कठोपनिषद (३।७), 'तत्पद' का सकेत कठो०(२।१५-१६) की ओर है। श्वेताश्वतरोपनिषद् मे आया हे' 'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञ कालकालोगुणी सर्वविद्य। प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश ससारमोक्षस्थितिबन्ध हेतु (६।१६)।

१४ विपाक कर्मणा प्रेत्य केषाञ्चिदिह जायते। इह वामुत्र वैकेषा भावस्तत्र प्रयोजनम्॥ यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम्। नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजास्तनू ॥ याज्ञ० (३।१३३, १६२)। 'नानारूपाणि कुर्वाण को हम 'भरत' के साथ भी ले सकते हे। 'भरत' का अर्थ हे अभिनेता।

क्षणभगुर (अर्थात् शीघ्र ही झकोरो से फट कर जीर्ण-शीर्ण हो जाने वाला है)। देखिए ब्रह्मपुराण (१७८।१७६ ससारे अनित्ये दु खवहुले कदलीदलसनिभे)। इस अत्यधिक कर्मवादी सिद्धान्त के कारण आगे चलकर भारतीय जीवन मे भाग्यवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित होने लगा और वहुत-से लोग प्रमादी, आलसी एव कर्मजन्य निद्र होने लगे। स्वय सन्तो ने कर्म के सिद्धान्त को वहुत वढावा दिया। सन्त तुकाराम का कथन है कि सुख तो राई के समान है और दु ख पहाड है।

उपनिषदो मे आत्मा के पुनर्जन्म-सम्वन्धी उपर्युक्त विवेचन प्रामाणिक है और वे ससारावस्था या व्यवहारावस्था से सम्वन्धित हे, किन्तु अद्वैत (मुण्डक १।१।५-६ की परा विद्या या वृ० उप० २।३।५-६ के अमूर्त ब्रह्म) के सर्वोच्च आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करने पर यह धराशायी हो जाता है, क्योकि आत्मा परमब्रह्म से अभिन्न हे। शकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (२।३।३०) की व्याख्या मे इस वात पर वल दिया हे। उनका कथन हे[१५]—'जव तक यह आत्मा ससारी है और जव तक यह सम्यक् दर्शन मे (पूर्णज्ञान से) ससारिकता से दूर नही होता तव तक आत्मा एव वुद्धि से सम्वन्ध (सयोग) नही टूट सकता। जव तक वुद्धि के साथ, आत्मा का यह सम्वन्ध चलता रहता हे तव तक जीव ससारिकता से लिप्त वना रहता है। किन्तु सत्य तो यह हे कि जीव की स्वय अपनी कोई सत्ता नही है, जो हे वह केवल वुद्धि की उपाधि से परिकल्पित सम्वन्ध मात्र है। क्योकि, जव हम वेदान्त के अर्थ के निरूपण मे लगते ह तो हमे उस सर्वज्ञ ईश्वर के अतिरिक्त, जिसका स्वरूप ही नित्य मुक्ति (स्वतन्त्रता) हे, कोई अन्य वुद्धिमान् धातु (द्रव्य या पदार्थ) दृष्टिगोचर नही होती।' इसके उपरान्त शकराचार्य ने कुछ वचन उद्धृत किये ह (यथा—वृ० उप० १।४।७, ३।७।२३, छा० उप० ६।१।६, ६।८।७) और कहा है कि इस प्रकार के सैकडो वचन है। शकराचार्य का कथन है कि स्वय वादरायण ने, जो वेदान्तसूत्र के प्रणेता हे, सर्वोच्च विदान्तवादी दृष्टिकोण से तथा व्यवहारावस्था (या ससारावस्था) के दृष्टिकोण से कुछ सूत्रो की रचना की है। निम्नोक्त सूत्रो मे वेदान्तसूत्रकार वादरायण ने जीव एव परमात्मा मे अन्तर स्पष्ट किया है, यथा—१।१।१६-१७, १।१।२१, १।२।२०, १।३।५, २।१।२१-२३, २।३।२१, २।३।४१, २।३।४३, आदि। किन्तु १।१।३३, २।१।१४ एव ४।१।३ व्यक्त करते हे कि दोनो (जीवात्मा एव परमात्मा) मे अभिन्नता है।[१६]

१५ यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्। वे० सू० (२।३।३०), यावदयमात्मा ससारी भवति यावदस्य सम्यग्दर्शनेन ससारित्व न निवर्तते तावदस्य बुद्ध्या सयोगो न शाम्यति। यावदेव चाय बुद्ध्युपाधिसम्वन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्व ससारित्व च 'परमार्थस्तस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति। न हि नित्यमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञादीश्वरादन्यश्चेतनो धातुर्द्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणायामुपलभ्यते। नान्योतोस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता (बृ० ३।७।२३), नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ (छा० ६।८।७), तत्त्वमसि (छा०, ६।१।६), अह, ब्रह्मास्मि (बृ० १।४।७) इत्यादिश्रुतिशतेभ्य। अपि च मिथ्याज्ञानपुरःसरोऽयमात्मनो बुद्ध्युपाधिसम्बन्ध। न च मिथ्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानादन्यत्र निवृत्तिरस्तीत्यतो यावद् ब्रह्मात्मतानववोधस्तावद्‌य बुद्ध्युपाधि सम्वन्धो न शाम्यति। शाङकरभाष्य। इसी प्रकार वे० सू० (१।१।५) पर शाङकरभाष्य का कथन है 'सत्य, नेश्वरादन्य ससारी, तथापि देहादिसघातोपाधिसम्वन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधि सम्वन्ध इव व्योम्न।'

१६ तदनन्यत्वभारम्भशब्दादिभ्य। वे० सू० (२।१।१४), सूत्रकारोपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकव दिति महासमुद्र स्थानीयता ब्रह्मण कथयति। अप्रत्याख्यायैव

जाता (गुजरता) है ।'[13] श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।१६) ने परमात्मा के विषय मे यो लिखा है—'वह विश्व की रचना करने वाला, विश्व को जानने वाला, आत्मयोनि (स्वय जन्म लेने वाला), ज्ञाता, कालकाल (काल को नष्ट करने वाला), सभी गुणो से युक्त, सर्वविद्य (सर्वज्ञ), प्रधान तथा क्षेत्रज्ञो (व्यक्तिगत आत्माओ) एव गुणो (सत्त्व, रज, तम) का स्वामी है और ससार से मोक्ष देने, उसकी स्थिति एव बन्धन का हेतु (कारण) है।' मैत्रायणी उपनिषद् (१।४) का कथन है—'जब ससार का ऐसा स्वरूप है तो (आनन्दो के) भोग से क्या लाभ ?' मुक्तिका उपनिषद् (२।३७) का कथन है—'मन ससार रूपी वृक्ष की जड के रूप मे अवस्थित है।' 'ससार' शब्द वे० सू० (४।२।८) मे भी आया है। गीता ने इसका प्रयोग कई बार किया है (यथा—९।३, १२।७ आदि)। मनुस्मृति ने भी 'ससार' शब्द का प्रयोग कई बार किया है (यथा—१।११७ मे तथा कई बार १२ वे अध्याय मे)। सत, रज एव तम नामक तीन गुणो की विशेषताओ का वर्णन करने (मनु० १२।२६-२९) तथा उनके प्रभावो पर प्रकाश डालने (मनु० १२।३०।३८) के उपरान्त मनु ने कहा है कि जिनमे सत्त्व, रज एव तम की प्रधानता होती है वे क्रम से देव, मानव एव निम्न श्रेणी के जीव होते है। मनु ने पुन लोगो को नीच, मध्यम एव उत्तम श्रेणियो मे बाँटा है (१२।४०-५०)। मनु ने 'ससार' को बहुवचन मे (१२।५२, ५४, ७०) तथा 'गति' या 'योनि' के अर्थ मे प्रयुक्त किया है। विशेष रूप से देखिए मनु (६।४०-६०) जहाँ ससार का उल्लेख है, सन्यास धर्म की चर्चा है, नरक-यातनाओ, रोगो, व्याधियो आदि का वर्णन है। श्री सजन महोदय ने अपने ग्रन्थ 'डॉग्मा आव रीइन्कारनेशन' के पृ० १० पर कहा है कि मनु के अनुसार प्रत्येक जीव दस सहस्र लक्षो की सख्या मे अस्तित्व ग्रहण करता है। किन्तु यह उक्ति पूर्णतया भ्रामक एव त्रुटिपूर्ण है। मनु का इतना ही कहना है कि मोक्ष के लिए इच्छुक सन्यासी को इस सम्भावना पर सोचना चाहिए कि कुछ आत्मा लाखो जन्मो मे परिभ्रमण कर सकते है। याज्ञ० (३।१६९)ने जन्मो के घेरे मे आने-जाने के अर्थ मे 'ससरति' क्रिया का प्रयोग किया है और कहा है—'कुछ लोगो द्वारा किये गये कर्मो का विपाक मृत्यु के उपरान्त ही उत्पन्न होता है (अर्थात् अन्य शरीरो मे) या इसी जीवन मे होता है (यथा कारीरी यज्ञ के विषय मे) तथा कुछ लोगो के विषय मे इस लोक मे या परलोक मे (अर्थात् यह कोई शास्त्रीय नियम नही है कि कर्मो का विपाक या फल उनके सम्पादन के उपरान्त शीघ्र ही प्रतिफलित हो जाता है)। याज्ञ० (३।१३३, १६२) मे एक सुन्दर रूपक आया है—'जिस प्रकार एक अभिनेता विभिन्न अभिनय करने के लिए विभिन्न रगो का प्रयोग करता है उसी प्रकार यह आत्मा विभिन्न कर्मों के अनुसार विभिन्न रूपो (छोटा, कुबडा आदि) एव शरीरो को धारण करता है ।[14] याज्ञ० (३।१४०) मे स्वय 'ससार' शब्द प्रयुक्त हुआ है। शान्तिपर्व (२०५।६, चित्रशाला सस्करण=१९८।११-१२) मे आया है—'इसमे कोई सन्देह नही है कि इस जीवन मे सुख से कही अधिक दुख है।' पुराण बहुधा कहते है कि ससार अनित्य है, दुखो एव चिताओ से परिपूर्ण है और केला के पातो के समान

१३ यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्क सदाऽशुचि। न स तत्पदमाप्नोति ससार चाधिगच्छति॥ कठोपनिषद (३।७), 'तत्पद' का सकेत कठो०(२।१५–१६) की ओर है। श्वेताश्वतरोपनिषद् मे आया है 'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञ कालकालोगुणी सर्वविद्य। प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश ससारमोक्षस्थितिबन्ध हेतु (६।१६)।

१४ विपाक कर्मणा प्रेत्य केषाचिदिह जायते। इह वामुत्र वैकेषा भावस्तत्र प्रयोजनम्॥ यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम्। नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजास्तनू ॥ याज्ञ० (३।१३३, १६२)। 'नानारूपाणि कुर्वाण को हम 'भरत' के साथ भी ले सकते है। 'भरत' का अर्थ है अभिनेता।

क्षणभगर (अर्थात् शीघ्र ही झकोरो से फट कर जीर्ण-शीर्ण हो जाने वाला है)। देखिए ब्रह्मपुराण (१७८।१७६ ससारे अनित्ये दु खवहुले कदलीदलसनिभे)। इस अत्यधिक कर्मवादी सिद्धान्त के कारण आगे चलकर भारतीय जीवन मे भाग्यवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित होने लगा और वहुत-से लोग प्रमादी, आलसी एव कर्मजड सिद्ध होने लगे। स्वय सन्तो ने कर्म के सिद्धान्त को बहुत बढावा दिया। सन्त तुकाराम का कथन है कि सुख तो राई के समान है और दु ख पहाड है।

उपनिषदो मे आत्मा के पुनर्जन्म-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन प्रामाणिक है और वे ससारावस्था या व्यवहारावस्था से सम्बन्धित है, किन्तु अद्वैत (मुण्डक १।१।५-६ की **परा विद्या** या बृ० उप० २।३।५-६ के **अमूर्त ब्रह्म**) के सर्वोच्च आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करने पर यह धराशायी हो जाता है, क्योकि आत्मा परमब्रह्म से अभिन्न है। शकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (२।३।३०) की व्याख्या मे इस बात पर बल दिया है। उनका कथन है[१५]—'जव तक यह आत्मा ससारी है और जव तक यह सम्यक् दर्शन मे (पूर्णज्ञान से) ससारिकता से दूर नही होता तव तक आत्मा एव बुद्धि से सम्वन्ध (सयोग) नही टूट सकता। जव तक बुद्धि के साथ, आत्मा का यह सम्बन्ध चलता रहता है तब तक जीव ससारिकता से लिप्त बना रहता है। किन्तु सत्य तो यह है कि जीव की स्वय अपनी कोई सत्ता नही है, जो है वह केवल बुद्धि की उपाधि से परिकल्पित सम्वन्ध मात्र है। क्योकि, जब हम वेदान्त के अर्थ के निरूपण मे लगते है तो हमे उस सर्वज्ञ ईश्वर के अतिरिक्त, जिसका स्वरूप ही नित्य मुक्ति (स्वतन्त्रता) है, कोई अन्य बुद्धिमान् धातु (द्रव्य या पदार्थ) दृष्टिगोचर नही होती।' इसके उपरान्त शकराचार्य ने कुछ वचन उद्धृत किये है (यथा—बृ० उप० १।४७, ३।७।२३, छा० उप० ६।१।६, ६।८।७) और कहा है कि इस प्रकार के सैकडो वचन है। शकराचार्य का कथन है कि स्वय वादरायण ने, जो वेदान्तसूत्र के प्रणेता है, सर्वोच्च वेदान्तवादी दृष्टिकोण से तथा व्यवहारावस्था (या ससारावस्था) के दृष्टिकोण से कुछ सूत्रो की रचना की है। निम्नोक्त सूत्रो मे वेदान्तसूत्रकार वादरायण ने जीव एव परमात्मा मे अन्तर स्पष्ट किया है, यथा—१।१।१६-१७, १।१।२१, १।२।२०, १।३।५, २।१।२१-२३, २।३।२१, २।३।४१, २।३।४३, आदि। किन्तु १।१।३३, २।१।१४ एव ४।१३ व्यक्त करते है कि दोनो (जीवात्मा एव परमात्मा) मे अभिन्नता है।[१६]

१५ यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्। वे० सू० (२।३।३०), यावदयमात्मा ससारी भवति यावदस्य सम्यग्दर्शनेन ससारित्व न निवर्तते तावदस्य बुद्ध्या सयोगो न शाम्यति। यावदेव चाय बुद्ध्युपाधिसम्वन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्व ससारित्व च परमार्थस्तस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति। न हि नित्यमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञादीश्वरादन्यश्चेतनो धातुर्द्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणायामुपलभ्यते। नान्योतोस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता (बृ० ३।७।२३), नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ (छा० ६।८।७), तत्त्वमसि (छा०, ६।१।६), अह, ब्रह्मास्मि (बृ० १।४।७) इत्यादिश्रुतिशतेभ्य। अपि च मिथ्याज्ञानपुर सरोऽयमात्मनो बुद्ध्युपाधिसम्बन्ध। न च मिथ्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानादन्यत्र निवृत्तिरस्तीत्यतो यावद् ब्रह्मात्मतानववोधस्तावद्य बुद्ध्युपाधि सम्वन्धो न शाम्यति। शाङकरभाष्य। इसी प्रकार वे० सू० (१।१।५) पर शाङकरभाष्य का कथन है 'सत्य, नेश्वरादन्य ससारी, तथापि देहादिसघातोपाधिसम्वन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधि सम्वन्ध इव व्योम्न।'

१६ तदनन्यत्वमारम्भशब्दादिभ्य। वे० सू० (२।१।१४), सूत्रकारोपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्र स्थानीयता ब्रह्मण कथयति। अप्रत्याख्यायैव

पुनर्जन्म का सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक जीवन पूर्व अस्तित्व या अस्तित्वो (जीवनो) के कर्मों का परिणाम या प्रतिफल हे। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि हम अतीत की ओर वढे और वहुत दूर तक निकल जाये तो कोई अस्तित्व या जन्म प्रथम नही हो सकता। इसी से वेदान्तसूत्र को यह घोषणा करनी पडी कि (२।१।३५, 'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात') ससार अनादि (आरम्भहीन) है। किन्तु यह उपनिपदो के कई वचनो के विरुद्ध पड जाता है, जो सृष्टि के विपय मे उल्लेख करते हुए 'पूर्वे' या 'अग्रे' या 'आरम्भ मे' नामक शव्दो का प्रयोग करती है (छा० उप० ६।२।१, वृ० उप० १।४, १।१० एव १७, ५।५।१, तै० उप० २।७।१)। इस विरोध को दूर करने के लिए कल्पो की धारणा के अनुसार प्रलय के उपरान्त वार-वार विश्व की रचना की धारणा उपस्थित की गयी[१७], जिसका अर्थ यह हे कि ब्रह्म द्वारा रचित विश्व एक कल्प तक चलता है, जिसके उपरान्त वह ब्रह्म मे विलीन हो जाता हे। देखिए, शान्तिपर्व (२३१।२९-३२=२२४।२८-३१ चित्रशाला सस्करण)। गीता (८।१७-१९) मे आया है कि ब्रह्मा का एक दिन एक सहस्र युगो के वरावर होता है (चार युगो का एक महायुग होता हे) और ब्रह्मा की रात्रि की अवधि भी इतनी ही लम्बी है। ब्रह्मा के दिन के आगमन पर प्रकृति से सभी पदार्थ उत्पन्न हो जाते है, और रात्रि के आगमन पर वे सभी प्रकृति मे समा जाते है। देखिए भगवद्गीता (९।७) 'कल्प के अन्त मे सभी तत्त्व (जीव) उस प्रकृति मे, जिसका मै अधिष्ठाता हूँ, चले जाते है, किन्तु जव दूसरा कल्प आरम्भ होता है मै उन्हे प्रकट कर देता हूँ।'

तर्क यह है--जिस प्रकार हम यह नही निश्चित कर सकते कि पहले कौन हुआ वीज या अकुरित होने वाली ओपधि (पौधा)। उसी प्रकार यह कहना असम्भव हे कि पहले कौन आता है, शरीर या कर्म, क्योकि विना कर्म के कोई शरीर नही और न विना शरीर के कोई कर्म। छा० उप० (५।१३।२) मे आया है--'उस प्राणी (देवता) ने, जिसने अग्नि, जल एव पृथिवी की उत्पत्ति की, सोचा--इस जीवात्मा के साथ मै इन तीनो जीवो (अग्नि, जल एव पृथिवी) मे प्रवेश करूँगा और तव नामो एव रूपो को विकसित करूँगा।' इससे प्रकट होता है कि सृष्टि के समय जीव (आत्मा) का अस्तित्व था, जिससे यह सकेत मिलता है कि ससार आरम्भहीन (अनादि) है। ऋग्वेद (१०।१९०।३) ने स्पष्ट कहा है--"धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अर्थात् विधाता ने पहले की भाँति व्यवस्थित किया (या रचा)।" इसी प्रकार गीता (१५।३) मे आया है--'इस (ससार के वृक्ष) का वास्तविक रूप इस प्रकार नही जाना जाता, और न इसका अन्त न आदि और न आधार ही जाना जाता हे, शक्तिशाली अनासक्ति से दृढता से जडीभत इस अश्वत्थ (पिप्पल) वृक्ष को काट कर उस स्थल की खोज की जानी चाहिए जिससे वे लोग, जो वहाँ पहुँच गये है, नही लौटते।'

भगवद्गीता (६।३७-४५) ने दृढतापूर्वक कहा है कि योग के माग मे व्यक्ति द्वारा श्रद्धा से किया गया व्यवसाय व्यर्थ नही जाता, भले ही उसे पूर्णता शीघ्र प्राप्त न हो सके। श्री कृष्ण ने (६।४० और आगे के

कार्यप्रपञ्चपरिणामप्रक्रिया चाश्रयति सगुणेषूपासननेपूपयोक्ष्यत इति। शाङकरभाष्य ने अन्त में लिखा है। वे० सू० (२।१।१३) मे आया है 'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्'।

१७ ब्रह्मा का एक दिन एक सहस्र महायुगो के वरावर होता हे और इसे ही 'कल्प' कहा जाता हे। कल्प, मन्वन्तर, महायुग एव युग के लिए देखिए इसी खण्ड का अध्याय १९। प्राचीन उपनिषदो ने कल्पो आदि के सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की है।

श्लोक मे) कहा है कि ऐसा व्यक्ति जो पूर्णता प्राप्ति मे असफल हो जाता है, किसी बुरे अन्त को नही प्राप्त होता, प्रत्युत वह सदाचारी लोगो के लोको को जाता है और वहाँ पर बहुत वर्षो तक निवास करता है, समृद्ध एव पवित्र लोगो के घरो मे जन्म लेता है या विज्ञ योगियो के कुल मे जन्म लेता है जहाँ पर वह अपने अतीत अस्तित्वो के मानसिक चिह्नो को पुन प्राप्त करता है । वह पूर्णता की प्राप्ति के लिए पुन उद्योगशील होता है और अपने पूर्व जीवनो मे किये गये अभ्यासो (के फलस्वरूप) अनिवार्य रूप से आगे बढता है और सभी पापो से मुक्त हो कर एव बहुत से जीवनो द्वारा अपने को पूर्ण करता हुआ परम तत्त्व (लक्ष्य, ब्रह्मपद) को प्राप्त करता है। गीता (४।५) मे श्रीकृष्ण कहते है—'मेरे बहुत-से जीवन है जो बीत चुके है, और तुम्हारे भी । मै उन सभी को जानता हूँ, किन्तु तुम नही जानते ।' कई स्थलो पर गीता ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्पर्श किया है (यथा—२।१२-१३ एव २२-२७, ४।८-९, ७।१९, ८।६, १५-१६, ९।२१) ।

वनपर्व के अध्याय ३०-३२ (चित्रशाला सस्करण) मे द्रौपदी एव युधिष्ठिर मे एक वार्तालाप हुआ है। युधिष्ठिर ने कौरवो के साथ द्यूत खेल कर सारा राज्य खो दिया था और वन मे बडे कष्ट से जीवन-यापन कर रहे थे। द्रौपदी को इस बात का बडा आश्चर्य था कि युधिष्ठिर ऐसे सत्यवादी, उदार, ऋजु एव मधुर व्यक्ति किस प्रकार द्यूत ऐसे निकृष्ट कार्य मे सलग्न हुए (३०।१९) और भगवान सभी जीवो के साथ माता-पिता-सा समान व्यवहार नही करता । द्रौपदी को यह जान कर बडा आश्चर्य हुआ कि सदाचारी सम्मानित व्यक्ति दु ख उठा रहे है और दुराचारी एव असम्मानित लोग आनन्दपूर्वक जीवन-यापन कर रहे है। अत उसने सोचा कि भगवान् सामान्य मनुष्य की भाँति शीघ्रकोपी या चण्डस्वभाव वाले है (३०।३८-३९)। उसने कहा—'मानव प्राणी भगवान् की इच्छा के आधार पर ही अबोध तथा सुख एव दु ख पर नियन्त्रण रख सकने के कारण स्वर्ग या नरक मे जाते ह ।' इस पर युधिष्ठिर ने द्रौपदी को चेतावनी दी कि तुम नास्तिक लोगो की भाँति बाते कर रही हो। उन्होने कहा कि मैने कोई कर्म इसलिए नही किया कि उसका पुरस्कार मिले, मैने दान दिया, यज्ञ किये, किन्तु इसलिए कि उन्हे सम्पादित करना अपना कर्तव्य माना। उन्होने द्रौपदी से अनीश्वरवादी व्यवहार से दूर रहने को कहा और कहा कि वह अपनी भावनाओ से भगवान् का अनादर कर रही है। इस पर द्रौपदी की बुद्धि लौटी और उसने क्षमा याचना कर कहा कि दु खित होने के कारण ही मेने वैसी अनीश्वरवादी बात कही, वास्तव मे, भगवान् का बहुत आदर एव सम्मान करती हूँ। इसके उपरान्त द्रौपदी ने उस विषय पर विचार-विमर्ष करना आरम्भ किया, जिसे लोग **दिष्ट** (भाग्य) या हठ (सयोग) या **स्वभाव** कहते ह और अन्त मे यही निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति जो कुछ प्राप्त करता हे वह पूर्व जन्मो के कर्मो का फल है।[१८]

यहाँ पर पुरुषकार (मानवीय उद्योग या व्यवसाय) तथा दैव पर कुछ लिखने की आवश्यकता नही हे। इस विषय मे हम इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड ३, पृ० १६८-१७० एव पाद टिप्पणी २१४-२१६ मे पढ चुके ह, जहाँ प्राचीन एव मध्यकालीन लेखको के विभिन्न मतो का विवेचन उपस्थित किया गया हे।

१८ तथैव हठदुर्बुद्धि शक्त कर्मण्यकर्मकृत् । आसीत न चिर जीवेदनाथ इव दुर्बल । अकस्मादिह य कश्चिदर्थं प्राप्नोति पूरष । त हठेनेति मन्यन्ते स हि यत्नो न कस्यचित् ॥ एव हयाच्च दैवाच्च स्वभावात्कर्मणस्तथा । यानि प्राप्नोति पुरुषस्तत्फल पूर्वकर्मणाम् ॥ वनपर्व (३२।१५-१६, २०) नीलकण्ठ ने 'हठवादिक' का अर्थ यो किया किया है . प्राग्जन्माभावादकृतमेवोपस्थास्यतीति वदन् चार्वाक ।'

अनुशासनपर्व के प्रथम अध्याय मे गौतमी, उसके पुत्र की सर्प-दश से मृत्यु, आखेटक से गौतमी का वार्तालाप तथा काल की बाते वर्णित ह, जो कर्म सिद्धान्त पर प्रकाश डालती है। गोतमी को चित्त-सयम प्राप्त था। उसके पुत्र को एक सर्प ने काट लिया ओर वह मर गया। एक शिकारी (आखेटक) ने उस सर्प को बॉधकर गोतमी के समक्ष रख दिया ओर कहा कि मे उस सर्प को मार डालूँगा, क्योकि उसने एक अबोध बच्चे को काट लिया है। इस पर गौतमी ने उसे मना किया ओर समझाया कि सर्प को मार डालने से बच्चा लौट कर नही आ सकता। तब काल वहॉ आया ओर उसने व्याख्या उपस्थित की—'जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी के खण्ड से जो चाहता है उसे बनाता हे उसी प्रकार मनुष्य अपने द्वारा किये गये कर्मो का फल पाता हे। बच्चे की मृत्यु के मूल मे ह उसके पूर्व जीवन के कर्मो के प्रतिफल।' इस बात को गौतमी ने माना ओर कहा कि उसका पुत्र अपने अतीत जीवन के कर्मो के कारण मरा और उसकी मृत्यु से उसे जो शोक प्राप्त हुआ है वह स्वय उसके (गौतमी के) पूर्व जीवन के कर्मो का प्रतिफल है।[१९] और देखिए इस विषय मे विराटपर्व (२०।१४), अनुशासनपर्व (७।२२=पद्मपुराण २।८१।४७–'यथा धेनुसहस्रेपु वत्सो विन्दति मातरम्। एवमात्मकृत कर्म कर्तारमनुगच्छति॥), आश्वमेधिक पर्व (१८।१), शान्तिपर्व (३१६।२५ एव ३५=चित्रशाला स० ३२३।२५, ३५)।

कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त से हिन्दू समाज पूर्णतया प्रभावित हो उठा। सस्कृत के महान् कवियो ने भी इस विषय मे सकेत किये है। रघुवश (११।२२) मे आया है कि जब राम वामन के आश्रम मे पहुँचे तो (कालिदास ने टिप्पणी की है) वे मन से अस्थिर हो गये, वामन के रूप मे अपने कर्मो का स्मरण नही कर सके। शाकुन्तल (अक ५) मे कवि ने टिप्पणी की हे—'जब कोई व्यक्ति सुन्दर दृश्य देख कर, मधुर वचन सुन कर, आनन्दो से घिरे रहने पर भी अस्थिर (दुखी) हो जाता हे, तो वास्तव मे बात यह है कि अचिन्त्य रूप से उसके मन मे अतीत जीवनो के प्यार एव मित्रता के चित्र खिच आते ह।' सातवे अक मे जब शकुन्तला एव दुष्यन्त का पुनर्मिलन हो जाता हे तो शकुन्तला अपने पति के पूर्वत्याग (या तिरस्कार) की ओर सकेत करती हुई कहती है—'अवश्य ही उस समय मेरे (पूर्व जीवन के) दुष्कृत्यो मे सुकृत्यो को बाधित किया ओर वे स्वय प्रतिफलित हुए।' और देखिए रघुवश (१४।६२ एव ६६) एव मेघदूत (३०)।

कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर स्वभावत बहुत-से प्रश्न उठ खडे होते ह। एक प्रश्न को योगसूत्र (२।१३) के भाष्यकार व्यास ने विवेचित किया हे। योगसूत्र (२।३) मे पॉच क्लेशो (अविद्या आदि) का उल्लेख हे और ऐसा आया हे (२।१३) कि ये क्लेश जन्म, जीवन (लम्बा या छोटा), अनुभूति-प्रकार के द्वारा कर्मो के विपाक की ओर ले जाते ह अर्थात् कर्मो का फल उपस्थित करते हे। योगसूत्र (४।७) के अनुसार कर्म के चार प्रकार है, यथा—१ **कृष्ण** (दुष्ट लोगो मे पाये जाने वाले), २ **शुक्लकृष्ण** (जो वाह्य साधनो मे किये जाते ह और उनसे किसी की हानि या किसी का लाभ होता हे), ३ **शुक्ल** (ऐसे लोगो के कर्म जो तप करते हे, स्वाध्याय मे लीन रहते है तथा ध्यान करते ह, ओर इस प्रकार के वाह्य कारणो या साधनो से नही सम्पन्न होते ओर इनसे किसी की हानि या हिंसा नही होती), ४ **अशुक्लाकृष्ण** (न तो शुक्ल और न कृष्ण, जो सन्यासियो मे पाये जाते हे, जिनके क्लेश दूर हो गये रहते ह, और जिनके शरीर अब अन्तिम रहते हे अर्थात् इसके उपरान्त वे जन्म नही लेते)। इन

१९. यथा मृत्पिण्डत कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति। एवमात्मकृतं कर्म मानव प्रतिपद्यते। नैव कालो न भुजगो न मृत्युरिह कारणम्। स्वकर्मभिरय बाल कालेन निधन गत। मया च तत्कृत कर्म येनाय मे मृत सुत। यातु कालस्तथा मृत्युर्मुञ्चार्जुनक । अनुशासनपर्व (१।७४, ७८–७९)।

चारो मे केवल योगी के कर्म शुक्ल होते है, क्योकि वह कर्मो के फलो का त्याग किये रहता है और वह अकृष्ण कर्म करता है, अर्थात् बुरे कर्म करता ही नही। योगसूत्र (२।१३) के भाष्य ने चार प्रश्न उठाये हैं, यथा—(१) क्या एक कर्म एक जन्म का कारण होता है ?, या (२) क्या एक कर्म कई जन्मो का कारण होता है ?, (३) क्या एक से अधिक कर्म से एक से अधिक जन्म होते है ?, (४) क्या एक से अधिक कर्म से एक जन्म होता है ? भाष्यकार ने प्रथम तीन प्रश्नो का विरोध किया है और चौथे को स्वीकार किया है, अर्थात् कई कर्मो से एक जन्म होता है। शान्तिपर्व (२७३।३३-३४=२८०। ३३-३४ चित्रशाला सस्करण) ने आत्मा के छह रग बताये हैं, यथा—**कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, पीत,** एव **शुक्ल** और इन्हे एक-दूसरे के ऊपर रखा है, यथा कृष्ण को सबसे बुरा कहा है और शुक्ल को सर्वोत्तम। श्लोक ३६-४६ मे इन प्रकारो का विस्तृत उल्लेख है।

हमारे वर्तमान जीवन की कतिपय समस्याओ पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त से प्रकाश पडता है। सर्वथा अनजान दो व्यक्ति जब कभी एक-दूसरे से मिलते है तो उनमे मित्रता एव वैर की भावना क्यो उमड पडती है ? एक कल्पना की जा सकती है कि सम्भवत पूर्व जीवन मे वे एक-दूसरे के मित्र या वैरी रहे है। विश्व मे देखने मे आता है कि कुछ लोग बिना किसी योग्यता के आनन्दोपभोग करते है और कुछ ऐसे लोग, जो सभी प्रकारो से योग्य है, अथवा जिन्होने त्याग एव तपस्या का जीवन बिताया है, बडे कष्ट मे रहते है। इस दशा पर कर्म एव पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रभूत प्रकाश डालता है। हम विश्व मे छायी विषमता को देखकर विकल हो उठते है, इतना ही नही, हमारी न्यायप्रिय भावना एव सुन्दर व्यवहार करने की क्षमता पर धक्का पहुँच सकता है, किन्तु जब हम इस सिद्धान्त पर मनन करते है तो सन्तोष मिल जाता है। इस अनुमान एव विश्वास से कि सभी मानवीय प्रयत्नो एव आचरणो का उचित फल एव दण्ड प्राप्त होगा, हमारे वर्तमान जीवन को महत्त्वपूर्ण गुरुता प्राप्त हो जाती है और हम इस जीवन मे सतत सत्कर्म करने के लिए अनुप्राणित होते है और दुष्कर्मो, अत्याचारो एव पापमय जीवन से दूर रहने का प्रयत्न करते है। मानवो मे देखे जाने वाले सुख-दु ख-सम्बन्धी वैषम्य पर तो यह सिद्धान्त प्रकाश डालता ही है, साथ-ही-साथ हम इससे भौतिक कल्याण एव अस्वस्थ शारीरिक दशाओ की पारस्परिक विभिन्नताओ को भी समझने मे समर्थ हो जाते है। आज के विश्व मे असद् वृत्तियो का राज्य क्यो है ? इस भयकर एव महान् प्रश्न पर भी हमे कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त से प्रकाश प्राप्त होता है। कुछ लोगो मे जो विलक्षण बुद्धि, योग्यता एव समर्थता देखने मे आती है, जिसके फलस्वरूप वे गणित, विज्ञान, सगीत तथा अन्य ललित कलाओ मे विशेष योग्यता प्रदर्शित कर ससार को चकित कर देते है, उसके मूल मे क्या है ? सम्भवत कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त से इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर प्रकाश पडता है। यदि सम्यक् ढग से विचार किया जाय तो यह सिद्धान्त निराशावादी या भाग्यवादी नही है, प्रत्युत यह इस जीवन मे पूर्ण रूप से मानवीय उद्योग करने पर बल देता है। हम देखेगे कि कितने धर्मशास्त्र-ग्रन्थ या उनसे सम्बन्धित ग्रन्थ एव विचार **पुरुषकार** (उद्योग) पर बल देते है और कुछ लोगो द्वारा प्रतिपादित दैव या **स्वभाव** या **काल** (समय) या इन सभी के सम्मिश्रण से सम्बन्धित विचारो (यथा—इसी जीवन मे कर्मो के फल मिलते है) के विरोध मे मत प्रकाशित करते है। कभी-कभी एक बहुत दरिद्र व्यक्ति राजा हो जाता है और अपनी प्रतिभा एव योग्यता से लोगो को चकित कर देता है। यह सब क्या है ? कुछ लोग राई से पर्वत हो जाते है और कुछ लोग पर्वत से राई। सम्भवत इन सब के मूल मे पूर्व जन्म के कर्म एव सस्कार है।

विश्व के उद्गम एव अन्य समान समस्याओ के विषय मे उपनिषद्काल से ही कतिपय मत प्रकाशित होते रहे है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।१) मे प्रश्न आये है—'क्या ब्रह्म ही कारण है ? हम कहाँ से जन्म लेते है ? किसके द्वारा हम जीवित रहते है ? हम कहाँ जा रहे है ?, हे ब्रह्मविद्, हमे बताओ, किसके नियन्त्रण के भीतर हम सुख या दु ख की अनुभूति करते हैं ?' आगे के पद्य मे आया है—'क्या काल या स्वभाव या आवश्यकता या सयोग

या तत्त्वो को हम कारण माने या उसे जो पुरुष (कहलाता) है ? यह उनके एक साथ मिल जाने का भी परिणाम नही है, क्योकि स्वय आत्मा को सुख एव दुख पर अपना अधिकार नही है।' तीसरे मन्त्र के उत्तरार्ध मे आया है—'वह अकेला ही इन कारणो, अर्थात्-काल, आत्मा आदि पर नियन्त्रण रखता है।' याज्ञ० (१।३५०) ने वाञ्छित एव अवाञ्छित परिणामो के कारणो के प्रश्न के विषय मे पाँच मत रखे है, यथा —कुछ लोग **दैव** को, कुछ लोग **स्वभाव** को, कुछ लोग **काल** को, कुछ लोग **पुरुषकार** (मानव उद्योग) को तथा कुछ लोग इन सभी के **सम्मिलित रूप** को कारण मानते है। किन्तु याज्ञ० (१।३४९, ३५१) का स्वय अपना मत है कि अच्छे या बुरे परिणामो के कारण है **दैव** एव **पुरुषकार,** जिनमे प्रथम तो पूर्व जन्मो (अस्तित्वो) का परिणाम है और अब प्रतिफलित हो रहा है। शान्तिपर्व (२३८।४-५=२३०।४-५ चित्रशाला सस्करण) ने तीन मतो की ओर इगित किया है, यथा—**पुरुषकार या दैव या स्वभाव,** किन्तु ऐसा प्रतीत होता है, इसका अपना मत यह है कि **दैव** एव **स्वभाव** मिल कर प्रतिफल उपस्थित करते है। मत्स्यपुराण (२२१।८) के मत से **दैव** एव **काल** मिल कर कर्मो का फल देते है। ब्रह्माण्डपुराण (२।८।६१-६२) ने तीन मतो की ओर सकेत किया है, यथा—**दैव, पुरुषकार** एव **स्वभाव**, किन्तु उसका अपना मत यह है कि दैव एव पुरुषकार मिलकर कर्मो का फल उपस्थित करते है।

कर्म को तीन दलो मे रखा गया है, यथा—**सञ्चित, प्रारब्ध एव क्रियमाण** (या **सञ्चीयमान**)। प्रथम कर्म अतीत अस्तित्वो के कर्मो का योगफल है, जिसके प्रतिफलो की अनुभूति अभी नही की जा सकी है। परारब्ध कर्म वह है जो इस वर्तमान जीवन के आरम्भ होने के पूर्व सञ्चित कर्मो मे सबसे प्रबल था, और जिसे ऐसा परिकल्पित किया गया है कि उसी के आधार पर वर्तमान जीवन निश्चित होता है। इस वर्तमान जीवन मे व्यक्ति जो कुछ सगृहीत करता है वही क्रियमाण (या सञ्चीयमान, एकत्र होता हुआ) कर्म है। आगे आने वाला जीवन (अस्तित्व) सञ्चित एव क्रियमाण के सम्मिलित कर्मो मे अत्यन्त प्रबल (या कुछ लोगो के मत से सबसे आरम्भिक) कर्म द्वारा निर्धारित एव निश्चित होता है। कर्म विभिन्न प्रकार के होते है[२०] और विभिन्न प्रकार के प्रतिफल उपस्थित करते है (सात्त्विक कर्मो से स्वर्ग, राजसिक कर्मो से पृथिवी या अन्तरिक्ष तथा तामसिक कर्मो से यातनाओ के स्थल प्राप्त होते है)। इसी प्रकार अस्तित्व (जन्म या शरीर) भी विभिन्न होते है और शरीर से आत्मा प्रभावित होता है अत विभिन्न आत्मा नानारूप वाले होते है। एक विरोध उपस्थित किया जाता है कि सभी नैतिक मूल्यो का आधार इच्छा-स्वातन्त्र्य है और यदि मनुष्य के अतीत जीवनो के कर्म से वर्तमान जीवन निश्चित होता है तो वर्तमान जीवन केवल कर्म की शक्ति के हाथ मे एक खिलौना मात्र है और व्यक्ति के लिए इतनी छूट नही रहती कि वह वही कर सके जिसे वह सर्वोत्तम समझता है। मनुष्य के इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न अत्यन्त पेचीदा है और इस पर प्राचीन काल मे ही महान् चिन्तको ने सोचा-विचारा है और विभिन्न मत प्रकाशित किये है और आज तक हमे कोई सन्तोषजनक उत्तर नही मिल सका है। इस विषय मे पाठक कुछ ग्रन्थो का अवलोकन कर सकते है, यथा—रैशडल कृत 'थ्योरी आव गुड एण्ड इविल' (जिल्द २, पृ० ३०२-३५५, सन् १९०७), बर्गसाँ कृत 'टाइम एण्ड फ्री

२० देखिए पद्मपाद की विज्ञानदीपिका (श्लोक ५ एव ८), 'कर्मणा फलवैचित्र्याद्वैचित्र्य जन्मनामिह। देहवैचित्र्यतो जीवे वैचित्र्य भासते तथा ॥ सञ्चित चीयमान च प्रारब्ध कर्म तत्फलम् । क्रमेणावृत्तिरेतेषा पूर्व बलवतोऽपिवा' ॥ टीका मे आया है 'सञ्चिताना शुभाशुभकर्मणा मध्ये यस्य पूर्वकालिकत्व तस्य पूर्व प्रारम्भ । तत्समाप्तौ तदनन्तरजातस्यैव वा क्रमेणामावृत्ति । अपि च सञ्चितकर्मणां मध्ये पौर्वापर्यमनपेक्ष्य यस्य कर्मणो बलवत्तरत्व तस्यैव पूर्व प्रारम्भ ।

विल" विस्काउण्ट सैमुएल कृत 'बिलीफ एण्ड ऐक्शन' (पृ० ३०३-३२०) तथा एम० डेविड्सन कृत 'फ्री विल' (लण्डन, १९४८)। जहाँ तक भारतीय कर्म-सिद्धान्त का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है, इच्छा-स्वातन्त्र्य की बात इस जीवन (अस्तित्व) मे अच्छे कर्म करने के लिए, नैतिक जीवन बिताने के लिए एव श्लाघार्ह कर्म करने के लिए परिकल्पित की गयी है, किन्तु इस प्रकार के कर्म आदि इस जीवन की परिस्थितियो (वातावरणो) की सीमाओ पर निर्भर रहते है। महत्त्वपूर्ण क्रियाशील विश्वास यह है कि व्यक्ति को इच्छा-स्वातन्त्र्य प्राप्त है कि वह इस जीवन मे अपने भावी जीवन (अस्तित्व) को श्लाघार्ह कर्मो द्वारा कोई रूप देने मे स्वतन्त्र है। यही शान्तिपर्व (२८०।३ = २९१।३ चित्रशाला सस्करण) का सन्देश है।[२१] गीता मे श्री कृष्ण ने एक लम्बे विवेचन के उपरान्त अर्जुन को यह छूट दे दी कि 'जो चाहे सो करो' (१८।६३, 'यथेच्छसि तथा कुरु')। गीता (९।३०) का कथन है—'यदि कोई भ्रष्टचरित वाला व्यक्ति भी अविभक्त श्रद्धा से मेरी पूजा करता है, उसे सदाचारी अवश्य कहा जा सकता है, क्योकि उसने दृढ प्रतिज्ञा कर ली है।' इसी प्रकार गीता (६।५) ने व्यवस्था दी है—'व्यक्ति स्वय अपने को ऊपर उठाये, वह अपने को नीचे न गिराये, क्योकि केवल आत्मा ही उसका सच्चा मित्र है और केवल आत्मा ही उसका शत्रु है।' प्राचीन भारतीय सिद्धान्त के अनुसार दोनो, अर्थात् **प्रारब्धवाद** (अग्रनिरूपित—निर्देश अथवा दैववाद) एव **इच्छा-स्वातन्त्र्यवाद** को स्वीकार करना सम्भव है, प्रथम के अनुसार व्यक्ति किसी विशिष्ट वातावरण मे जन्म लेता है और दूसरे के अनुसार व्यक्ति का इस जीवन (वर्तमान अस्तित्व) के कर्मो से सम्बन्ध है। **प्रारब्धवाद** (दैववाद) के अनुसार व्यक्ति का किसी विशिष्ट वातावरण मे जन्म लेना निश्चित रहता है और इच्छा-स्वातन्त्र्यवाद के अनुसार व्यक्ति अपने उपस्थित जीवन के कर्मो के प्रति स्वतन्त्र रहता है। भगवद्गीता (६।५-६) तो पापी के लिए भी आशा बँधाती है कि सुधार करने के लिए देरी की चिन्ता नही करनी चाहिए अर्थात् देरी हो जाने पर भी सुधार का आरम्भ किया जा सकता है और पुन कहा है (२।४०) कि सदाचार का अल्पाश भी महान् भय से व्यक्ति की रक्षा करता है और व्यवसाय (उद्योग या प्रयास) कभी नष्ट नही होता।

यद्यपि गीता का सामान्य झुकाव इच्छा-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त की ओर ही है तथापि कुछ ऐसी उक्तियाँ भी है जिनमे पूर्वनिर्धारणवाद (प्रारब्धवाद, अर्थात् वह सिद्धान्त जिसके अनुसार सब कुछ पहले से ही निश्चित रहता है—इस जीवन मे क्या होगा, यह पहले से ही निश्चित है) की झलक मिलती है। यथा, 'प्रकृतिजन्य गुणो के फल-स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को असहाय रूप से कर्म करने पडते है' (३।३३)—"हठवादिता के कारण तुम सोचते हो, 'मै युद्ध नही करूँगा', तुम्हारी यह प्रतिज्ञा व्यर्थ है, तुम्हारा स्वभाव तुम्हे वैसा करने को बाध्य करेगा, तुम अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्मो से ही विवश होकर असहाय रूप मे वह कार्य करोगे जिसे तुम करना नही चाहते हो (१८।५९-६०)।' यह स्वीकार करना ही पडेगा कि बचपन के वातावरण के विषय मे इच्छा की स्वतन्त्रता की बात ही नही उठती।

रामायण ने इस विश्वास को व्यक्त किया है कि वर्तमान जीवन की चिन्ता या दुख अतीत जीवन या जीवनो मे किये गये ऐसे ही कर्मो का परिणाम है। जब ककैयी द्वारा वरदान माँगने पर राजा दशरथ ने राम को वनवास दे दिया तो राम की माता कौशल्या रोती हुई कहती है—'मै विश्वास करती हूँ कि मैने पूर्व जन्म मे बहुत-से लोगो को उनके पुत्रो से दूर कर दिया होगा या जीवित प्राणियो को हानि की होगी (या उन्हे मार डाला

२१ आयुर्न सुलभ लब्ध्वा नावकर्षेद् विशापते। उत्कर्षार्थं प्रयतते नर पुण्येन कर्मणा॥ शान्ति० २८०।३ (२९१।३, चित्रशाला)।

होगा), इसी से यह दुःख मुझ पर घहरा पडा है', 'मै बिना सन्देह के ऐसा मानती हूँ कि मैने पूर्व जीवन मे, उन गौओ (या माताओ) के स्तनो को काट दिया होगा जिनके बछडे अपनी माँ का दूध पीना चाहते थे।'

पुराणो ने भी अच्छे एव बुरे कर्मो की महत्ता पर बल दिया है। उनके कथनानुसार अच्छे या बुरे कर्मो का फल भोगना ही पडता है, जब तक फलो का नाश नही हो जाता। सैकडो जीवनो के उपरान्त भी कर्म का नाश नही होता।[२२] पद्म पु० (२।८१।४८ एव ९४।११८) मे आया है—'बिना कर्मफल भोगे कर्म का नाश नही होता, अतीत जीवनो के कर्म से उत्पन्न बन्धन को कोई हटा नही सकता', इसमे पुन आया है—'मनुष्य अपने कर्मो द्वारा देवता बन सकता है, या मानव बन सकता है, पशु या पक्षी या क्षुद्र जीव या स्थावर (वृक्ष या पाषाण-खण्ड) बन सकता है, अपनी शक्ति या सन्तान के उत्पत्ति से कोई व्यक्ति पूर्व जन्मो मे किये गये कर्मो के प्रभावो को दूर नही कर सकता।[२३] उपनिषदो मे वर्णित पुनर्जन्म की भावना बुद्ध के काल मे सार्वभौम रूप धारण कर चुकी थी। बुद्ध ने नित्य व्यक्तित्व या आत्मा की बात को स्वीकार नही किया था। वे कोई आध्यात्मिक दार्शनिक नही थे, वे चाहते थे कि मानवता अबोधता (अज्ञान) एव दुःख से मुक्ति पा सके और उसे निर्वाण प्राप्त हो जाये, इसी से उन्होने आत्मा की नित्यता को अस्वीकार करते हुए भी पुनर्जन्म का सिद्धान्त ग्रहण किया था।

इसी सिलसिले मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है, यथा—क्या वेदान्तवादी विचारो के मौलिक उद्भावक क्षत्रिय थे, ब्राह्मण नही? इस विषय मे एक सक्षिप्त विवेचन इस महाग्रन्थ के खण्ड २ (पृ० १०५-१०७) मे हो चुका है। ड्यूशन (डैस सिस्टेम डेस वेदान्त, १८८३, पृ० १८-१९, एव फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्, पृ० १८-१९, गेडेन द्वारा अग्रेजी मे अनूदित) एव डा० आर० जी० भण्डारकर (वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म, पृ० ९) ने मत प्रकाशित किया है कि क्षत्रिय लोग ही वेदान्तवादी सिद्धान्तो के मौलिक उद्भावक थे। ड्यूशन महोदय मुख्यत ६ उक्तियो एव डा० भण्डारकर केवल दो उक्तियो (छा० उप० ५।३ एव ११) पर निर्भर होते है। ड्यूशन महोदय का यह भी कथन है (फिलॉ० उप० पृ० १९) कि यह निष्कर्ष पूर्ण निश्चित नही है। उसमे केवल अधिक सम्भावना मात्र है। इस मत के विरोध मे बार्थ (रिलिजिएन्स आव इण्डिया, पृ० ६५), हॉप्किन्स (एथिक्स आव इण्डिया, १९२४, पृ०

२२ अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्। नाभुक्त क्षीयते कर्म ह्यपि जन्मशतै प्रिय।। नारदीयपुराण (उत्तर भाग २९।१८)। 'नाभुक्त क्षीयते कर्म' का उद्धरण शाकरभाष्य की टीका भामती (वे० सू० ४।१।१३) मे आया है।

२३ उपभोगादृते तस्य नाश एव न विद्यते। प्राक्तन बन्धन (बन्धक?) कर्म कोन्यथा कर्तुमर्हति ।। पद्म० (२।८१।४८ एव ९४।११८), देवत्वमथ मानुष्य पशुना पक्षिणा तथा। तिर्यक्त्व स्थावरत्व च याति जन्तु स्वकर्मभि ।। पूर्वदेहकृत कर्म न कश्चित्पुरुषो भुवि। बलेन प्रजया वापि समर्थ कर्तुमन्यथा ।। पद्म० (२।९४।१३, १५)। प्रथम पद्म० (२।८१।४३) मे भी आया है। और देखिये ऋ० (५।४।१०), 'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम' एव मनु (९।१३७)—'पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते'। पद्म० के अनुसार ये वचन मात्र प्रशसात्मक है। न तु भोगादृते पुण्य पाप वा कर्म मानवम्। परित्यजति भोगाच्च पुण्यापुण्ये निबोध मे। मार्कण्डेय (१४।१७), यादृश वपते बीज क्षेत्रे तु कृषिकारक । भुनक्ति तादृश वत्स फलमेव न सशय ।। यादृश क्रियते कर्म परिभुज्यते। विनाश हेतु, कर्मास्य सर्वे कर्मवशा वयम् ।। पद्म० (२।९४।७-८)।

६३), मैक्डोनेल एव कीथ (वैदिक इण्डिया, जिल्द २, पृ० २०६) एव टक्सेन (दि रिलिजिएन्स आव इण्डिया, कोपेनहेगेन, १६४६, पृ० ८८) ने अपने विचार व्यक्त किये ह । ड्यूशन महोदय ने तो यहाँ तक कहा हे (पृ० १६)—'अतमा-सम्वन्धी यह शिक्षा उनसे (ब्राह्मणो से) जानवूझ कर पृथक रखी गयी थी, और यह क्षत्रियो की छोटी मण्डली मे ही दी जाती थी ।' हम यहाँ इस मत की परीक्षा करेगे।

प्राचीन उपनिपदो के प्रमुख एव महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दो ह, यथा—(१) जीवात्मा एव परम ब्रह्म की अभिन्नता एव (२) व्यक्ति के कर्त्तव्यो एव आचरण पर आत्मा के आवागमन (पुनर्जन्म) का निर्भर होना। इन दोनो सिद्धान्तो को याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को वताया है (वृ० उप० ४।४।४-७ तथा अन्य वचन जो नीचे दिये जा रहे है) । ड्यूशन ने औपनिषदिक वातो मे इन वातो को सवसे अति गम्भीर सत्य एव श्रेष्ठ कहा है । इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य के शब्द, जो वृ० उप० (३।२।१३ 'जो अच्छा करता है, वह अच्छा जन्म पाता है', ४।४।५ 'जो अच्छा करता हे, वह अच्छा जन्म पाता हे, जो वुरा करता है, वह वुरा जन्म पाता है जो पवित्र कार्य आदि करता है वह पवित्र हो जाता हे') मे पाये जाते है, उन्हे स्वय ड्यूशन महोदय ने पुनर्जन्म सम्वन्धी सिद्धान्त के विषय मे सवसे अधिक प्राचीन माना है । इसके साथ स्वय ड्यूशन महोदय की उक्ति से सिद्ध हो जाता है कि उपनिषदो के दो प्रमुख मौलिक सिद्धान्तो का उद्घोष ब्राह्मण याज्ञवल्क्य द्वारा किया गया था, जिन्होने उसी उपनिषद् (वृ० उप० २।४।१-१४) मे अपनी पत्नी मैत्रेयी से आत्मा एव तत्त्वो आदि का ब्रह्म से तादात्म्य वताया है (इद सर्व यदयमात्मा)। इतना ही नही, इन सिद्धान्तो की शिक्षा देने वाले अन्य शिक्षक भी थे । उदाहरणार्थ, उद्दालक आरुणि ने विस्तार के साथ अपने पुत्र श्वेतकेतु को 'तत्त्वमासि' (छा० उप० ६।८-१६) का अर्थ समझाया है ।

अव हम उन उदाहरणो की जाँच करेगे जिन पर ड्यूशन महोदय ने अपने निष्कर्ष आधृत किये है। छा० उप० (५।११।१) मे एक कथा आयी है । पाँच ऐसे गृहस्थ, जो वेद के महान पाठक थे, आपस मे मिले और 'आत्मा' तथा 'ब्रह्म' के विपय मे उन्होने चर्चा की। उन्होने उद्दालक आरुणि के पास, जो 'वैश्वानर' नामक आत्मा के विपय मे जानते थे, जाने को सोचा। जव वे उनके यहाँ पहुँचे तो उद्दालक आरुणि ने कहा कि मै स्वय सभी कुछ की व्याख्या नही कर सकूँगा अत तुम लोगो को अश्वपति कैकेय (केकय देश के राजा) के पास जाना चाहिए, जो वैश्वानर नामक आत्मा की जानकारी रखते है। उद्दालक के साथ वे सभी गृहस्थ अश्वपति कैकेय के पास पहुँचे । जिन्होने दूसरे दिन प्रश्न का उत्तर देने को कहा। दूसरे दिन वे छह व्यवित समिधा लेकर राजा के पास पहुँचे। अश्वपति कैकेय ने अन्य आरम्भिक कृत्यो को स्थगित कर दिया ओर उनसे पूछा कि उनमे प्रत्येक किसका ध्यान करता है। जव सब ने ध्यान के आधार, यथा—स्वर्ग, आदित्य, वायु, आकाश एव पृथिवी (इसका नाम उद्दालक ने लिया) की वात वतला दी तो राजा ने वताया कि ये सभी वैश्वानर के अश (भाग) है और उन्होने उनसे अग्निहोत्र के सम्पादन की उचित विधि भी वतला दी ।

दो वाते विचारणीय ह । एक तो यह कि यहाँ पर उद्दालक आरुणि को वास्तविक 'वैश्वानरविद्या' मे अनभिज्ञ कहा गया हे, किन्तु दूसरे ही परिच्छेद (छा० उप० ६।८।७) मे उन्हे 'तत्त्वमसि' नामक श्रेष्ठ सिद्धान्त का व्याख्याता (शिक्षक) कहा गया हे। सम्भवत ये दोनो उद्दालक एक ही नही है, वे दो व्यक्ति हे या यह कथा ही कपोलकल्पित है। दूसरी वात यह ह कि अश्वपति कैकेय ने जो कुछ सिखाया वह वैश्वानर के विपय मे था, न कि ब्रह्मविद्या (जीवात्मा एव परम ब्रह्म के तादात्म्य) के विपय मे। यास्क के काल के पूर्व से ही वैश्वानर के विषय मे कई मत थे, जिनका उल्लेख वहुधा ऋग्वेद (१।५२।६, १।६८।१) मे हुआ है। निरुक्त (७।२१-२३) ने तीन विभिन्न मत उद्धृत किये है, यथा—वैश्वानर विद्युत् है, या आदित्य है

या लौकिक अग्नि है। छा० उप० (५।१८।२) ने निष्कर्ष निकाला है (५।१९-२४) और उसे पाँच प्राणो की आहुतियो (प्राणाय, स्वाहा, अपानाय, स्वाहा) की पक्ति मे रखा है। वे० सू० (१।२।२४-३२) मे भी इसकी चर्चा है और यही निष्कर्ष है कि इसका अर्थ है **परमात्मा,** न कि जीवात्मा या अग्नि (एक तत्त्व के रूप मे) या जठरानल।

इसके उपरान्त ड्यूशन महोदय ने गार्ग्य बालाकि की गाथा (बृ० उप० २।१) कही है। गार्ग्य बालाकि ने काशी के राजा अजातशत्रु को ब्रह्म की व्याख्या सुनानी चाही और राजा ने इस बात के लिए एक सहस्र गाएँ देने की बात कही ओर यह भी कहा कि लोग 'जनक, जनक' (अर्थात् जनक ही दाता तथा ब्रह्म की व्याख्या सुनने वाले हैं) का उद्घोष कर दौडते है। बालाकि ने ब्रह्मध्यान के लिए बारह पदार्थों की चर्चा की, किन्तु राजा ने उत्तर दिया कि मै यह सब पहले से ही जानता हूँ और यह भी कहा कि ब्रह्म इन पदार्थो से भिन्न है और उसे आपके (अर्थात् बालाकि के) कहने के अनुसार समझा नही जा सकता। इस पर बालाकि मौन रह गये और शिष्य हो जाना चाहा। तब आजातशत्रु ने कहा—'यह तो प्रतिलोम है कि ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानार्थ क्षत्रिय के पास शिष्य होने के लिए जाय। ऐसा कह कर राजा ने बालाकि का हाथ पकड लिया ओर अपने आसन से उठ पडे। इस गाथा की कुछ बाते द्रष्टव्य है। इससे यह नही प्रकट होता कि ब्राह्मण जाति ब्रह्मविद्या को नही जानती थी और न यही व्यक्त होता कि इसका ज्ञान केवल क्षत्रियो को ही था , दूसरी ओर जनक का विशिष्ट उल्लेख हुआ है कि वे गौओ के दाता है और ब्रह्मविद्या को सुनने के लिए तत्पर रहते है तथा लोग उनसे गोएँ प्राप्त करने एव ब्रह्मविद्या का ज्ञान देने के लिए उनके यहाँ जाया करते है। हमे बृ० उप० (३।१) से विदित है कि विदेह के राजा जनक ने एक सहस्र गौएँ दी थी और जब याज्ञवल्क्य ने उनको ले लिया तो राजा जनक की सभा मे बैठे कतिपय लोगो, यथा अश्वल (राजा के होता पुरोहित), आर्तभाग, गार्गी, उद्दालक आरुणि, विदग्ध शाकल्य ने उनसे कई प्रश्न पूछे। और देखिए बृ० उप० (४।४। ७—जनक ने याज्ञवल्क्य को एक सहस्र गाये दी है) ४।४।२३—जनक याज्ञवल्क्य को विदेह का राज्य तथा अपने को दास के रूप मे देते है। अत बालाकि की गाथा से यदि कोई बात व्यक्त की जा सकती है तो वह यह है कि जनक ऐसे क्षत्रिय ने ब्रह्मविद्या की शिक्षा ग्रहण कर ली थी किन्तु बालाकि को जो ब्राह्मण था, इसका ज्ञान न था (यद्यपि उसने ऐसा कह रखा था कि मुझे यह ज्ञात है) और उसको काशी के राजा अजातशत्रु से इसका ज्ञान प्राप्त हुआ तथा अजातशत्रु ने ऐसा कहा कि ब्राह्मण क्षत्रिय का शिष्य नही होता। सभी ब्राह्मण ब्रह्मविद्या मे निष्णात नही हो सकते थे, क्षत्रियो की तो बात ही दूसरी है (अर्थात् उनमे तो इने-गिने ही ब्रह्मविद हो सकते थे)। अत ड्यूशन महोदय त्रुटिपूर्ण सामान्यीकरण करने (व्यापक सिद्धान्त बनाने) के अपराधी है। यह द्रष्टव्य है कि इस कथा मे काशी के राजा अजातशत्रु ऐसा नही कहते कि यह विद्या पहले ब्राह्मणो को नही ज्ञात थी (जैसा कि प्रवाहण जैवलि ने कहा था), प्रत्युत उन्होने आश्चर्य प्रकट किया कि एक ब्राह्मण उनके पास यह विद्या ग्रहण करने को आया है।

यही कथानक कौषीतकि उप० (४।१-१९) मे उन्ही शब्दो मे आया है। यहाँ बालाकि ने अपने ध्यान के विषयो के बारे मे १६ व्याख्याएँ की है। और देखिए वे० स० (१।४।१६-१८)। बृ० उप० (२।१) एव कौ० उप० (४) मे पुनर्जन्म के विषय मे कुछ नही है, इन दोनो उक्तियो मे केवल इतना ही व्यक्त है कि आत्मा से सभी प्राण, सभी लोक, सभी देव एव सभी तत्त्व निष्पन्न होते है (बृ० उप० २।२।२०)। यह वैसा ही है जैसा कि बृ० उप० (४।४।७) एव छा० उप० (४।१-१६) मे आया है (ऐतदात्म्यम् इद सर्व . तत्त्वमसि)।

यह बडे आश्चर्य की बात है कि ड्यूशन महोदय ने सनत्कुमार एव नारद के सवाद को अपने इस तर्क की सिद्धि के लिए प्रयुक्त किया है कि क्षत्रिय लोग ही वेदान्त के महान् सिद्धान्तो के मौलिक उद्भावक थे। उन्होंने छा० उप० (७) का सहारा लिया है, जहाँ आया है कि नारद सनत्कुमार के पास गये और प्रार्थना की—'महोदय, मुझे पढाइए । सनत्कुमार ने उनसे कहा—'बताइए, आप कितना जानते है, तब मै बताऊँगा कि उसके आगे क्या है'। नारद ने बताया (छा० उप० ७।१-२) कि मैंने चार वेदो, इतिहास-पुराण का अध्ययन कर लिया है और उन्होंने विद्याओ की सूची उपस्थित की जिसमे देवविद्या, ब्रह्मविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या सम्मिलित थी । नारद ने स्वीकार किया कि मुझे केवल मन्त्र ही ज्ञात है, आत्मा के बारे मे नही जानता । उन्होंने कहा, 'मैंने आप के समान लोगो से सुना है कि आत्मविद् दुख को जीत लेता है। मै दुख मे हूँ, भगवन्, दुख से पार होने मे मेरी सहायता अवश्य करे।' सनत्कुमार ने कहा, 'आपने जो कुछ पढा है, वह नाम मात्र है, कुछ नाम से बढ कर भी है । सनत्कुमार ने नाम से बढकर वाणी पर ध्यान करने को उत्तम कहा और शिक्षा दी कि मन वाणी से उत्तम है और आगे बहुत-सी बातो का उल्लेख किया जो अपने पूर्ववर्ती से उत्तम है, और इस प्रकार वे 'भूमन' (परमात्मा) का उल्लेख किया है, जिसमे सभी कुछ की उद्भूति होती है । अन्त मे (छा० उप० ७।२६।२) आया है—भगवान् सनत्कुमार ने नारद को सब कुछ दिखाया, जिसके दोष जड से नष्ट हो गये है और जो अविद्या के ऊपर है, उसे लोग (सनत्कुमार) स्कन्द कहते है ।

उपर्युक्त लम्बे वचन मे ऐसा कहीं भी नही आया है कि सनत्कुमार एव नारद ब्राह्मण थे या क्षत्रिय। संस्कृत साहित्य मे स्कन्द को युद्ध का देवता (गीता, १०।२४, सेनानीनामह स्कन्द) कहा गया है और वनपर्व (२२६।२२-२३) मे उसे देवो की सेनाओ का सेनापति कहा गया है तथा शान्तिपर्व (२७५=२६७) चित्र-शाला सस्करण) मे आया है कि लोक की उत्पत्ति एव प्रलय के ज्ञान की प्राप्ति के लिए नारद देवल के पास गये । इससे ड्यूशन महोदय खट से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते है कि सनत्कुमार क्षत्रिय थे और नारद ब्राह्मण । महाभारत, मनुस्मृति एव पुराणो मे उन्हे वर्ण या जाति के ऊपर अर्ध दैविक ऋषि कहा गया है । गीता (१०।१३) ने नारद को देवर्षि कहा है, वायुपुराण ने पर्वत एव नारद को कश्यप के पुत्रो के रूप मे तथा देवर्षियो मे गिना है (६१।८५) । मनुस्मृति (१।३५) ने नारद को प्रथम दस प्रजापतियो मे परिगणित किया है। ब्रह्म पु० (१।४६-४७) ने स्कन्द एव सनत्कुमार को ब्रह्मा का पुत्र कहा है। नारदीय पु० (पूर्व भाग २।३) ने सनक, सनन्दन, सनत्कुमार एव सनातन को ब्रह्मा का मानस पुत्र कहा है और सनत्कुमार को ब्रह्मवादी कहा है, जिन्होंने नारद को सभी धर्मो का ज्ञान दिया था। वामन पु० (६०।६८-६९) ने इन चारो को धर्म एव अहिंसा का पुत्र तथा योग-शास्त्र का व्याख्याता कहा है। इन सभी बातो से बढ कर कूर्मपु० (१।७।२०-२१) मे आया है कि ये चारो ऋतु के साथ विप्र (ब्राह्मण), योगी एव ब्रह्मा के मानस पुत्र है ।[२४] सनत्कुमार को शाब्दिक या लाक्षणिक रूप से स्कन्द कहा जा सकता है, क्योकि उन्होंने अविद्या को उसी प्रकार आक्रमण करके जीत लिया जिस प्रकार स्कन्द देवता ने असुरो की सेनाओ को परास्त किया था।

२४ अग्रे ससर्ज वै ब्रह्मा मानसानात्मन समान। सनक सनातन चैव तथैव च सनन्दनम्। ऋतु सनत्कुमार च पूर्वमेव प्रजापति । पञ्चैते योगिनो विप्रा पर वैराग्यमाश्रिता ।। कूर्मपु० (१।७।१९-२१)।

छा० उप० (१।८) मे उल्लेख है कि भारत के किसी भाग मे (जिसकी चर्चा नही हुई है) तीन व्यक्ति, यथा—शिलक शालावत्य, चैकितायन दाल्भ्य एव प्रवाहण जैवलि, ऐसे व्यक्ति थे जो उद्गीथ (अर्थात् ओम्) के गूढ अर्थ मे निष्णात थे। वे उद्गीथ पर विचार करने के लिए बैठ गये। प्रथम दो (जो ब्राह्मण थे) ने एक-दूसरे से प्रश्नोत्तर किया। इस पर प्रवाहण जैवलि ने उन्हे बताया कि वे ऐसे विषयो के बारे मे उत्तर दे रहे है जो नित्य नही है। इसके उपरान्त प्रवाहण जैवलि ने उनसे कहा कि इस विश्व का मूल आकाश है, प्राणियो की उत्पत्ति आकाश से हुई हे ओर प्राणी पुन वही लौट जायेगे, तथा यह आकाश उद्गीथ है जो उच्च से उच्चतर हे और अनन्त आदि है। ड्यूशन ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए इस वचन का भी सहारा लिया हे। उपनिषदो मे उद्गीथ-विद्या कतिपय उपासनाओ मे परिगणित है। अत जो बात प्रकट होती हे, वह यह हे कि प्रवाहण जैवलि को वह विद्या ज्ञात थी ओर किसी स्थान (जिसका नामोल्लेख नही हुआ है) के दो ब्राह्मणो को वह अज्ञात थी। इस सिद्धान्त की, जो ब्राह्मणो को तादात्म्य (ब्रह्माद्वैतवाद) के केन्द्रीय सिद्धान्त से अनभिज्ञ ठहराता है, परीक्षा करके उसे ठीक मानना सम्भव नही है। इसी सन्दर्भ मे (छा० उप० १।९।३) प्रवाहण जैवलि ने उल्लेख किया हे कि अतिधन्वा शौनक ने उदरशाण्डिल्य को उद्गीथ-विद्या का ज्ञान दिया था। ड्यूशन ने बिना कोई प्रमाण उपस्थित किये कह दिया है कि यहाँ भी ब्राह्मण ने क्षत्रिय से शिक्षा ग्रहण की। वे सम्भवत यह बात भूल गये कि 'शौनक' एव 'शाण्डिल्य' दोनो ब्राह्मण नाम हे। यह तथ्य यह सिद्ध करता है कि अपने सिद्धान्त की पुष्टि मे आतुरतावश एक गम्भीर विद्वान् भी किस प्रकार त्रुटियाँ कर सकता है। उन्होने स्वय लिखा है कि शौनक ने, जो ब्राह्मण (अतिधन्वा नामक) था, एक अन्य ब्राह्मण (उदरशाण्डिल्य) को उस विद्या मे शिक्षित किया। इसके अतिरिक्त, उद्गीथ विद्या कतिपय उपासनाओ मे एक उपासना है और प्रवाहण ने जो पढाया है वह यह है कि सभी भूत (प्राणी) आकाश से उत्पन्न होते है और उसी मे पुन समाहित हो जाते है, जिसका अभिप्राय यह है कि आकाश ब्रह्म की ओर सकेत करता है, जैसा कि वे० सू० (१।१।२२) भी कहता है। मिलाइए यह सिद्धान्त तै० उप० (३।६, जो वे० सू० १।१।२ का आधार है) आदि से। इतना ही नही, छा० उप० के इस वचन में पुनर्जन्म के विषय मे कुछ भी नही है।

ड्यूशन एव भण्डारकर के मतो का आधार है पञ्चाग्निविद्या के विषय मे प्रवाहण जैवलि एव श्वेतकेतु का सवाद (बृ० उप० ६।२ एव छा० उप० ५।३-१०) तथा अश्वपति केकेय एव उद्दालक आरुणि के बीच वैश्वानर के विषय मे हुई वार्ता (छा० उप० ५।११।२४)। दूसरी वार्ता के विषय मे हम ऊपर पढ चुके है। प्रथम वार्ता वाला प्रसग बडा महत्त्वपूर्ण है जिसे लोगो ने ठीक से समझा नही है। श्वेतकेतु एव उसके पिता आरुणि गौतम को पञ्चाग्निविद्या बताने के पूर्व प्रवाहण जैवलि ने कहा है (छा० उप० ५।३।७)—'तुम्हारे पूर्व यह विद्या ब्राह्मणो के पास नही गयी, अत सभी लोको मे अधिकार (शासन) केवल क्षत्रिय जाति के पास ही रह सका है।' बृ० उप० के वचन मे शब्द आये है—'आज के पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण मे नही पायी जाती थी, किन्तु मै तुम्हे इसे बताऊँगा, क्योकि कौन व्यक्ति तुम्हे नही बतायेगा जो मुझे इस प्रकार सम्बोधित करते हो। (अर्थात् 'मै आप के पास शिष्य-रूप मे उपस्थित हुआ हूँ)।' कौषीतकि उप० (१) मे देवयान एव पितृयाण का सिद्धान्त चित्र गार्ग्यायणि द्वारा आरुणि (एव उसके पुत्र श्वेतकेतु) को बतलाया गया है, किन्तु यह कथन कि केवल क्षत्रिय ही इस सिद्धान्त के उद्भावक एव जानकार थे, वहाँ नही आया है और गार्ग्यायणि ब्राह्मण अध्यापक के सदृश प्रतीत होते है। प्रश्न यह हे—"छान्दोग्य एव बृहदारण्यक उपनिषदो के उपर्युक्त वचनो मे 'इस विद्या' का क्या तात्पर्य है?" उपनिषदो (विशेषत छान्दोग्य एव बृहदारण्यक) मे वैसे पुरुषो के लिए, जो ब्रह्मविद्या के मार्ग पर अधिक दूर नही जा सके है, ब्रह्म की उपासना के लिए कतिपय विद्याओ की विस्तृत चर्चा हुई है, यथा—उद्गीथविद्या (छा० उप० १।८-९, बृह० उप० १।३), दहरविद्या (छा० ८।१।१-२, बृ० उप० १।३, वे० सू० १।३।१४-२१), मधुविद्या (उप० छा०

३।१।१, बृ० उप० २।५।१-१५), सवर्गविद्या (छा० ४।३)। इसी प्रकार पञ्चाग्निविद्या भी एक उपासना है। ड्यूशन आदि ने इसे स्वीकार किया हे कि जीवात्मा एव परमात्मा की एकात्मता एव कर्मो तथा आचरण पर आवृत आत्मा के पुनर्जन्म के विपय मे महान् एव मौलिक वचन याज्ञवल्क्य द्वारा कहे गये ह जो बृ० उप० मे पाये जाते है। पञ्चाग्निविद्या का सम्बन्ध पुनर्जन्म के केवल एक पक्ष मे है, ओर वह पक्ष हे वह मार्ग जिसका अनुसरण वे लोग करते है जो ग्राम मे रहते हुए यज्ञ, जन-कल्याण-कार्य एव दान करते रहते है। पॉच अग्नियो एव पॉच आहुतियो का सम्बन्ध केवल पितृयाण मार्ग से है। इसमे उस गति या दशा की गूट, एव अर्व भौतिक व्याख्या पायी जाती है जिसके द्वारा व्यक्ति इस पथिवी पर वार-वार जन्म लेते हैं। अधिक-से-अधिक यही तर्क उपस्थित किया जा सकता हे कि कुछ क्षत्रिय राजाओ या सामन्तो ने पवित्र लोगो द्वारा चन्द्रलोक से पुन पथिवी लोक पर आने की विधि पर किमी गूढ या आध्यात्मिक व्याख्या करने का अधिकार प्राप्त कर लिया होगा। इस विषय मे स्पष्ट रूप मे नही कहा जा सकता कि प्रवाहण जैवलि किसी देश के राजा थे या मात्र एक क्षत्रिय (राजन्य, बृ० उप० ६।२।३ एव छा० उप० ५।३।५), किन्तु इतना स्पष्ट रूप से कहा हुआ हे कि अश्वपति केकय राज्य (भारत के उत्तर-पश्चिम मे स्थित) के राजा थे, जब कि जीवात्मा एव परमात्मा की एकात्मता एव आत्मा की अमरता के मौलिक उद्घोषक थे याज्ञवल्क्य, जो विदेह (मिथिला, बिहार प्रदेश) के निवासी थे जो केकय मे कम-से-कम एक सहस्र मील दूर था। याज्ञवल्क्य का दर्शन केकय ऐसे सुदूर देश मे एक लम्बे काल के उपरान्त ही पहुँचा होगा। यदि यह वात तर्क के लिए मान भी ली जाय कि अश्वपति के समान कुछ शासक ऐसे थे जिन्होने सर्वप्रथम पवित्र याज्ञिको (यज्ञ करने वालो) के सन्मुख पुनर्जन्म के मार्ग की व्याख्या उपस्थित की, तब भी ड्यूशन महोदय की स्थापना किसी प्रकार भी उपर्युक्त पुष्ट प्रमाणो के समक्ष नही ठहरती।

(प्रकृत विषय की चर्चा अब पुन आरम्भ होती है।) उपनिषदो ने एक ऐसा कठोर नियम वनाया है कि सभी प्रकार के अच्छे या बुरे कर्मो के फल भोगने ही पडते हे ओर व्यक्ति के कर्मो एव आचरण से ही आगे के जीवन निर्धारित एव निश्चित होते है। किन्तु उपनिषदो के कुछ वचनो से प्रकट होता है कि उन्होने इस विषय मे कुछ अपवाद छोड रखे हे। एक अपवाद यह हे कि जब कोई व्यक्ति ब्रह्म की अनुभूति कर लेता है, उसके सभी अच्छे या बुरे कर्म जो ब्रह्मानुभूति के उपरान्त या भौतिक देह के मरने के पूर्व किये गये हो, कोई परिणाम नही उपस्थित करते। छा० उप० (६।१४।३) मे सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्य उपकोसल से कहा है—'जिस प्रकार जल कमलदल से नही चिपक सकता, उसी प्रकार जो ब्रह्म को जानता है उसमे दुष्कर्म नही लगा रह सकता।' छा० उप० (५।२४।३) मे पुन आया है—'जिस प्रकार इषीका—तूल के सूत्र अग्नि मे भस्म हो जाते है उसी प्रकार वैश्वानर (ब्रह्म) के अभिप्राय को जानने वाले अग्निहोत्री व्यक्ति के बुरे कर्म भस्म हो जाते है।' बृ० उप० (४।४।२२) मे आया हे—'जो इन दोनो को जानता है उसको ये अभिभूत नही करते, चाहे वह भले ही कहे कि किसी कारणवश उसने बुरा कर्म किया या किसी कारणवश अच्छा कर्म किया, वह इन दोनो को पार कर जाता है, उसे किया हुआ अथवा न किया हुआ, कोई भी कर्म नही तपाता।' मुण्डकोपनिषद् (२।२।८) ने व्यवस्था दी है—'जब कोई व्यक्ति सर्वोच्च (कारण) को देख लेता हे (उसकी अनुभूति कर लेता है) ओर निम्नतम (कार्य) भी जान लेता है तो उसके कर्म नष्ट हो जाते है।'[२५] किन्तु यह उन्ही कर्मो के लिए सत्य हे जो ब्रह्मानुभूति के पूर्व किये गये थे

२५ यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त इति। छा० उप० (४।१४।३), तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोत प्रदूयेतैव हास्य सर्वे पाप्मान प्रदूयते य एतदेव विद्वानग्निहोत्र जुहोति। छा० उप० (५।२४।३), एतमु हैवैते न तरत

तथा उनके लिए जो अनुभूति की प्राप्ति के उपरान्त शरीर द्वारा किये गये। किन्तु वह व्यक्ति उस प्रारब्ध कर्म को खण्डित नही कर सकता जिसने उसे वह जन्म दिया जिसमे उसने ब्रह्मानुभूति की प्राप्ति की। भावना यह है कि वे कर्म, जिनके फलस्वरूप व्यक्ति को वर्तमान स्वरूप प्राप्त हुआ, मृत्युपर्यन्त भोगे जाने चाहिए, इसके उपरान्त ही व्यक्ति भौतिक शरीर के बन्धन से मुक्त होता है। छा० उप० [२६] का कथन है कि उस व्यक्ति के लिए, जिसने किसी गुरु से परमात्मा का सत्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है, केवल तब तक की देरी है जब तक वह इस शरीर से मुक्त नही हो जाता, तभी वह पूर्ण हो पाता है। वे० सू० (४।१।१३-१५) मे इन सभी वचनो का आधार लिया गया है और शकराचार्य ने उनके उद्देश्य की सक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। गीता (४।३७) मे भी आया है कि ज्ञान की अग्नि मे सभी कर्म भस्म हो जाते है। यहा पर 'कर्म' का तात्पर्य है **सञ्चित** एव **सञ्चीयमान** न कि **परारब्ध** कर्म। विद्या की प्राप्ति एव शरीरपात के बीच के कर्मो के विषय मे शकराचार्य ने धनुष से छूटे हुए तीर का उदाहरण दिया है, जो आरम्भिक वेग की समाप्ति पर हो सकता है। कुछ ग्रन्थो मे ऐसा आया है कि जब इस जीवन मे किये गये शुभ एव अशुभ कर्म अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाते है तो उनके फल इसी जीवन मे प्राप्त हो जाते है [विज्ञानदीपिका, १०]।

उपनिषद्-सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति को अच्छे या बुरे कर्मो का फल अवश्य भोगना चाहिए। किन्तु कभी-कभी कोई दुष्कर्म अनजान मे भी हो जाता है, यथा अचानक हाथ की बन्दूक से गोली छूट जाय और कोई व्यक्ति मर जाय या बुरी तरह से घायल हो जाय। इस बात को लेकर धर्मसूत्रो एव स्मृतियो मे एक विवेचन उठ खडा हुआ था और आगे चलकर प्रायश्चित्त का विधान बनाया गया। वैदिक काल से ही धार्मिक कृत्यो के होते समय किसी प्रकार की अनियमितताओ एव दुर्घटनाओ के रक्षार्थ तथा दुर्निमित्तो या व्यक्तिगत आपत्तियो (यथा कुत्ते का काटना आदि) के लिए कुछ कृत्य सम्पादित किये जाते रहे है। इन विषयो मे केवल व्यक्तिगत पवित्रता तथा किसी आपत्ति से रक्षा पाना ही उद्देश्य है, यहाँ पाप-सम्बन्धी कोई प्रश्न नही है। गोतमधर्मसूत्र मे इस विषय मे

इति। अत पापमकरवमिति। अत कल्याणमकरवमिति। उभे उ हैवैष एते तरति। नैन कृताकृते तपत । बृह० उप० (४।४।२२), क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। मुण्डक उप० (२।२।८), एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येऽथ सपत्स्य इति । छा० उप० (६।१४।२)।

२६ तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्। इतरस्याप्येवमसश्लेष पाते तु। अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधे। वेदान्तसूत्र (४।१।१३-१५), शाकरभाष्य 'ब्रह्माधिगमे सत्युत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवत उत्तरस्याश्लेष, पूर्वस्य विनाश इतरस्यापि पुण्यस्य कर्मण एवमघवदसश्लेषो विनाशश्च ज्ञानवतो भवत । अवश्यम्भाविनी विदुष शरीरपाते मुक्तिरित्यवधार्यते।' बृ० उप० (१।४।१०) पर शाकरभाष्य मे आया है 'याव-च्छरीरपातस्तावत्फलोपभोगागतया विपरीतप्रत्यय रागादिदोष च तावन्मात्रमाक्षिपत्येव। मुक्तेषुवत्प्रवृत्तफलत्वात्तद्धे-तुकस्य कर्मण । तेन न तस्य निर्वर्तिकी विद्या। अविरोधात्। ज्ञानोत्पत्ते प्रागूर्ध्व तत्कालजन्मान्तरसचितानां च कर्मणामप्रवृत्तफलाना विनाश सिद्धो भवति।' पद्मपाद की विज्ञानदीपिका मे आया है—'उभयोर्ज्ञानतो नाशो भोगा-त्प्रारब्धकर्मण ' (श्लोक ६)। टीकाकार का कथन है "ज्ञान के दो प्रकार हैं, यथा—परोक्ष एव अपरोक्ष। प्रथम का स्वरूप यो है 'ब्रह्म का अस्तित्व है और मुझे उसकी उपासना अवश्य करनी चाहिए।' द्वितीय का स्वरूप इस प्रकार है 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या। अतोहमपि ब्रह्मैवेत्याकारक यज्ज्ञान तदपरोक्षम्। अपरोक्षज्ञान तावत्प्रारब्धेतरकर्मनाश-कम्। एव चात्र ज्ञानमपरोक्षमेव। तस्मादुभयो सञ्चितसञ्चीयमान यो कर्मणोर्नाशो लीजलोप'।"

एक विवेचन है, जो सम्भवत इस प्रकार के अत्यन्त आरम्भिक पाप एव प्रायश्चित्त-सम्बन्धी व्याख्या है। गौतम का कथन है कि पापो के शमन के लिए प्रायश्चित्तो के विपय मे दो मत है, जिनमे एक यह है कि पापो के लिए प्रायश्चित्त नही किया जाना चाहिए, क्योकि जब तक उनके फलो को भोग नही लिया जाता, उनका नाश नही होता, और दूसरा मत यह है कि प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए, क्योकि इस विषय मे वैदिक वचन उपलब्ध है, यथा—'पुन स्तोम नामक यज्ञ करने के पश्चात् व्यक्ति सोम यज्ञ करने के योग्य हो सकता है (अर्थात् वह सभी प्रकार के यज्ञ कर सकता है)', 'व्रात्यस्तोम करने के पश्चात् व्यक्ति वैदिक यज्ञो के सम्पादन के योग्य हो जाता है', 'जो अश्वमेध करता है वह सभी पापो, यहाँ तक कि ब्रह्म हत्या को भी लाँघ जाता है।'[२७] कुछ लोगो का ऐसा मत था कि केवल वे पाप प्रायश्चित्तो से दूर होते है जो अनजान मे हो जाते है, किन्तु कुछ लोग ऐसा दृष्टिकोण रखते थे कि वे पाप भी प्रायश्चित्तो से शमित होते है जिन्हे जानबूझ कर किया जाता है, क्योकि इस विषय मे वैदिक सकेत प्राप्त होते है (मनु ११।४५)।[२८] इस विषय मे हमने इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड ४ पृ० १-१७८ मे विस्तार के साथ पढ लिया है।

पापो के फलस्वरूप पुनर्जन्म पाने के विपय मे पाठको का ध्यान निम्नलिखित ग्रन्थो की ओर आकृष्ट किया जा रहा है—मनुस्मृति (१२।५४-६६), याज्ञवल्क्य स्मृति (३।१३१, १३५-१३६, २०७-२१५), विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय ४४), अत्रिस्मृति (४।५-१४, १७-४४), मार्कण्डेयपुराण (१५।१-४१), ब्रह्मपुराण (२१७।३७-११०), गरुडपुराण (प्रेतकाण्ड, २।६०-८८, जहाँ याज्ञ० ३।२०६-२१५ ज्यो-का-त्यो रख दिया गया है), मिताक्षरा ३।२१६), मदनपारिजात (पृ० ७०१-७०२), पराशरमाधवीय (खण्ड २, भाग २, पृ० २४६, २५६, २६३ २६६)। स्थानाभाव के कारण इस विषय मे हम विस्तार से विवेचन नही उपस्थित करेगे, केवल थोडे-से उदाहरण प्रस्तुत किये जायेगे।

मनु (१२।५४-६६, जिनसे बहुत-सी बातो मे याज्ञ० ३।२०६-२०८ की सहमति है) मे आया है—'महापातकी लोग बहुत वर्षो तक भयकर नरको मे रह कर निम्नलिखित जन्म प्राप्त करते है। ब्रह्महत्यारा कुत्ता, सूअर, गधा, ऊँट, कौआ (या बैल), बकरी, भेड, हरिण, पक्षी, चाण्डाल एव पुक्कस के जन्मो को पार करता है, सुरा पीने वाला ब्राह्मण कीटो, मकोडो, पतगो, मल खाने वाले पक्षियो, मासभक्षी पशुओ के विभिन्न जन्मो को पाता है, ब्राह्मण के सोने की चोरी करने वाला ब्राह्मण मकडो, सर्पो, छिपकलियो, जलचरो, नाशक निशाचरो की योनियो मे सहस्रो बार जन्म लेता है, गुरु के पर्यक को अपवित्र करने वाला (गुरु-पत्नी के साथ सभोग करने वाला) घासो, गुल्मो, लताओ, मासभक्षी पशुओ, फणिधरो तथा व्याघ्र ऐसे क्रूर पशुओ की योनियो मे सैकडो बार जन्म लेता है। जो व्यक्ति लोगो को मारा-पीटा करते है वे कच्चा मास खाने वालो की योनि मे जन्म लेते है, जो व्यक्ति निषिद्ध भोजन करते है, वे कीट होते है, जो चोरी करते है, वे ऐसे जीव बनते है जो अपनी जाति के जीवो को खा डालते है, यथा मछली, जो लोग हीन जाति

२७ तत्र प्रायश्चित्त कुर्यान्न कुर्यादिति मीमासन्ते। न कुर्यादित्याहु । न हि कर्म क्षीयत इति। कुर्यादित्यपरम्। पुन स्तोमेनेष्ट्वा पुन सवनमायान्तीति विज्ञायते। व्रात्यस्तोमैश्चेष्ट्वा। तरति सर्व पाप्मान तरति ब्रह्महत्या योऽश्वमेधेन यजते। अग्निष्टुताऽभिशस्यमान याजयेदिति च। गो० ध० सू० (१६।३-१०)। देखिए वसिष्ठधर्मसूत्र (२२।३-७), तै० स० (५।३।१२।२) एव शतपथब्राह्मण (१२।३।१।१)।

२८ अनभिसन्धिकृते प्रायश्चित्तमपराधे। अभिसन्धिकृतेप्येके। वसिष्ठ (२०।१-२)।

की नारियो से सभोग करते ह, वे प्रेत होते हे, जो व्यक्ति बहिष्कृत लोगो के साथ कुछ विशिष्ट अवधि तक रह लेता है, जो दूसरो की पत्नियो के साथ सभोग करता हे, जो ब्राह्मण की सम्पत्ति (सोना के अतिरिक्त) को छीन लेता है, वह ब्रह्मराक्षस होता हे। जो व्यक्ति लोभवश रत्नो, मोतियो, मूँगो या किसी अन्य प्रकार के बहुमूल्य पत्थरो को चुराता हे, वह स्वर्णकारो के बीच जन्मता हे, अन्न चुराने पर ब्राह्मण चूहा होता हे, काँसा चुराने पर व्यक्ति हस पक्षी होता हे, दूसरे को जल से वचित करने पर व्यक्ति प्लव नामक पक्षी होता हे, मधु चुराने पर डक मारने वाला जीव होता हे, मीठा रस (ईख आदि का) चुराने पर कुत्ता होता हे। मास चुराने पर चील होता हे, तेल चुराने पर तैलपक (तेलचट्टा) कीडा, नमक चुराने पर झिल्ली जीव तथा दही चुराने पर बलाका (बगला) पक्षी होता है, रेशम, सन-वस्त्र, कपास-वस्त्र चुराने पर क्रम से तीतर, मेढक एव क्रौंच पक्षी का जन्म मिलता हे, गो चुराने पर गोधा, चोटा चुराने पर वाग्गुद (चमगादड?) पक्षी, सुगध चुराने पर गधमूषक (छछूँदर), पत्तियो वाले शाक चुराने पर मोर, भाति-भाति के पक्वान्न चुराने पर शल्य (साही) तथा बिना पका भोजन चुराने पर शल्य (या झाडी मे रहने वाला जीव विशेष) का जन्म मिलता हे। अग्नि चुराने पर बगला (बक), बर्तनो के चुराने पर हाडा, रगीन वस्त्र चुराने पर चक्रवाक पक्षी, हिरण या हाथी चुराने पर भेडिया, घोडा चुराने पर बाघ, फलो एव कन्द-मूलो के चुराने पर बन्दर, नारी चुराने पर भालू, पीने वाला पानी चुराने पर चातक, सवारी (यान) चुराने पर ऊँट, पालतू पशु चुराने पर बकरा का जन्म प्राप्त होता हे। जो व्यक्ति किसी अन्य की कोई सम्पत्ति बलपूर्वक छीन लेता हे या जो उस यज्ञिय सामग्री को, जिसका कोई अश अभी यज्ञ मे नहीं लगा हे, खा लेता हे तो वह निम्न श्रेणी का पशु होता हे, जो नारियाँ उपर्युक्त प्रकार की चोरी करती हैं, वे भी पातकी होती हे और वे ऊपर वर्णित जीवो की पत्नियो के रूप मे जन्म ग्रहण करती ह।

जब एक बार प्रायश्चित्तो के सिद्धान्त द्वारा उपनिषदो मे वर्णित कर्म-सिद्धान्त ढीला कर दिया गया तो आरम्भिक कालो मे भी पापो के परिणामो को दूर करने के अनेक प्रायश्चित्त-मार्ग व्यवस्थित हो गये। गौतम[२९] ने अपराधपूर्ण कर्मों के प्रभावो के शमन के लिए पाँच साधन बताये हैं, यथा—जप, तप, होम, उपवास एव दान। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड—४, जहाँ पृ० ४४-५१ मे **जप**, पृ० ४२-४३ मे **तप**, पृ० ४३-४४ मे **होम**, पृ० ५१-५२ मे **दान** तथा पृ० ५२-५४ मे **उपवास** पर विशेष रूप से लिखा हुआ है। यहाँ कुछ लिखना आवश्यक नहीं है। किन्तु कुछ विशिष्ट परिमार्जनो एव साधनो की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक हे। शूद्रो एव प्रतिलोम जातियो के सदस्यो को वेदाध्ययन की अनुमति नही थी, अत मध्यकालीन ग्रन्थो, विशेषत पुराणो ने यहाँ तक कह दिया कि कृष्ण के नाम का स्मरण सभी प्रायश्चित्तो एव तपो से उत्तम हे और यदि कोई व्यक्ति प्रात, मध्याह्न, साय, रात्रि या अन्य कालो मे नारायण का स्मरण करता ह उसके सभी पाप कट जाते ह (विष्णुपुराण २।६।३९ एव ४१, ब्रह्मपुराण २२।३६, जो प्रायश्चित्तविवेक पृ० ३१

२९ तस्य निष्क्रयणानि जपस्ततो होम उपवासो दानम्। गौ० ध० सू० (१९।११)। १९।१२ मे गौतम ने वैदिक वचनो की एक लम्बी सूची दी हे, जिनके पाठ से व्यक्ति पापो से मुक्त होता हे। मनु (११।२४९-२५०) ने कुछ वैदिक सूक्त तथा मन्त्र निर्धारित किये हैं जिनके जप से ब्रह्महत्या, सुरापान, सोने की चोरी, गुरुतल्प-गमन (गुरु की पत्नी के साथ सभोग) तथा अन्य बडे या हलके पाप नष्ट हो जाते हैं। मनु (११।२५९-२६०) ने अघमर्षण सूक्त (ऋ० १०।१९०।१-३) के जप की बडी प्रशसा की हे, क्योंकि उससे सभी पाप कट जाते हे।

अपरार्क० पृ० १२३२ तथा प्रायश्चित्ततत्व पृ० ५२४ मे उद्धृत है)। पापो की मुक्ति के लिए अन्य साधन भी थे, यथा—तीर्थयात्रा। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ४, पृ० ५५-५६ एव पृ० ५५२-५८०। एक अन्य साधन था प्राणायाम-अभ्यास (देखिए वही, पृ० ४२)।

अत्यन्त आरम्भिक काल मे भी सबके समक्ष पाप-निवेदन करना पापमोचन का एक साधन माना जाता था। वरुण-प्रघास नामक चातुर्मास्य यज्ञ मे पत्नी को उसके द्वारा स्पष्ट प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से यह स्वीकार करने पर कि उसका किसी प्रेमी से शरीर-सम्बन्ध था, पवित्र मान लिया जाता था और उसे पवित्र कृत्यो मे भाग लेने की अनुमति मिल जाती थी। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ५७५-५७६ एव पृ० १०६८। और देखिए आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।९।२४।१५, १।१०।२८।१९ एव १।१०।२९।१)। ब्रह्मचारी को सभोग करने के पाप के मोचनार्थ सात घरो मे भिक्षा माँगते समय अपने दुष्कृत्य की घोषणा करनी पडती थी (गौतम० २३।१८, मनु ११।१२२)।

अनुताप—मनु (११।२२७ एव २३०) ने व्यवस्था दी है कि कोई भी पापी लोगो के समक्ष पाप-निवेदन करने से, अनुताप करने से, तपो द्वारा, वैदिक वचनो के जप द्वारा तथा (यदि वह तप न कर सके तो) दान द्वारा पाप के प्रतिफलो से मुक्त हो जाता है। व्यक्ति पाप करने के उपरान्त अनुताप करने से पापमुक्त हो जाता है और जब 'मै ऐसा अब कभी न करूँगा' इस प्रकार प्रतिज्ञा करता है तो वह पवित्र हो जाता है। विष्णुपुराण (२।६।४०) मे आया है कि यदि पाप करने के उपरान्त व्यक्ति अनुताप (पश्चात्ताप या परि-ताप) करता है तो सबसे बडा प्रायश्चित्त है हरिस्मरण। उपर्युक्त कथन वैदिक वचनो तथा धर्मशास्त्र-ग्रन्थो के वक्तव्यो एव व्यवस्थाओ से यह प्रकट है कि हिन्दुओ के कर्म-सिद्धान्त मे पाप-निवेदन की व्यवस्था थी। अत स्काटलैण्ड के पादरी मैकनिकोल कृत 'इण्डियन थीइज्म' पृ० २२३ मे लिखित यह वक्तव्य कि हिन्दुओ के कर्म-सिद्धान्त मे अनुताप को कोई स्थान नही है, सर्वथा असत्य एव भ्रामक है। वास्तव मे, हिन्दुओ मे ईसाइयो के समान सस्ता 'कन्फेशन' (पाप की स्वीकारोक्ति) नही है, प्रत्युत उनमे नरक की यातनाओ एव दुखदायी जन्मो की बाते भी पायी जाती है। पश्चात्कालीन पौराणिक लेखक बहुत सीमा तक ईसाइयो की सामान्य मान्यता के सन्निकट आ गये थे और हरिस्मरण से अपने को पाप-मुक्त समझने लगे। ईसाइयो मे ऐसा विश्वास है कि ईसामसीह को पापमोचक समझ कर पापनिवेदन करके पाप से छुटकारा प्राप्त हो सकता है। आश्चर्य है, मैक्निकोल महोदय प्रसगोचित वचनो एव पौराणिक बातो को भी पढ लेना भूल गये और एक असत्य एव भ्रामक वक्तव्य दे बैठे।

मैक्निकोल महोदय ने अपना ग्रन्थ 'इण्डियन थीइज्म' सन् १९१५ मे लिखा था। उनके बहुत पहले से ही बहुत-से पाश्चात्य लेखको ने, जो ईसाई धर्म के वातावरण मे पले थे, ऐसा व्यक्त किया कि मृत्यु के पश्चात् मानव की नियति के विषय मे प्राचीन भारतीय सिद्धान्त उसी विषय पर कही गयी बाइबिल की भाव-नाओ से अपेक्षाकृत बहुत अच्छे ह और अधिक स्वीकार करने योग्य है। हम यहाँ केवल दो-तीन उदाहरणो से ही सन्तोष करेगे। अर्बेरी महोदय ने अपने ग्रन्थ 'एशियाटिक जोस' (पृ० ३७) मे अर्लस्पेसर को लिखे गये सर विलियम जोस के एक पत्र का उद्धरण दिया है—'मैं हिन्दू नही हूँ, किन्तु मै भविष्य जीवन से सम्बन्वित हिन्दुओ के सिद्धान्त को ईसाइयो द्वारा अनन्त दण्डो से सम्बन्धित मान्य धारणाओ से अपेक्षाकृत अधिक बौद्धिक, अधिक पवित्र तथा लोगो को दुष्कर्म से दूर रखने मे अधिक समर्थ मानता हूँ।' लोवेस डिकि-सन ने अपने ग्रन्थ 'रिलिजिएन एण्ड इम्मौरैलिटी' (डेण्ट एण्ड सस, १९११, पृ० ७४) मे लिखा है—'वास्तव मे, यह सन्तोषप्रद भावना है कि हमारी वर्तमान समर्थताएँ हमारे गत जीवन के कार्यो द्वारा निर्धारित होती है और हमारे वर्तमान कर्म पुन हमारे भावी चरित्र को निश्चित करेगे।' ओवेन रटर ने, जो 'दि स्कोल्स

आव कर्म' (लण्डन, १९२५) के लेखक है, लिखा है कि ईसाई धर्म ने उन बौद्धिक एव नैतिक समस्याओ का समाधान करने मे असफलता व्यक्त की हे जिनसे वर्तमान ससार की विपमताओ मे रहने वाले लोग ग्रस्त ह। उन्होने यह लिखा हे कि कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर लिखने के सात वर्प पूर्व हमने उसका अध्ययन किया था, अत जो कुछ उन्होने लिखा है वह उनका व्यक्तिगत वक्तव्य हे न कि कर्म पर एक लेख मात्र है (पृ० १२-१३)। जिन्होने इस सिद्धान्त के विरोध मे लिखा हे उन्होने यह स्वीकार करते हुये कि उपनिपद् का यह सिद्धान्त यद्यपि अति प्राचीन है और विश्व मे न्याय एव अन्याय के सम्बन्ध मे एक अति गम्भीर विवेचन है, लिखा हे कि यह (कर्म-सिद्धान्त) एक दुर्बल एव कठिनाइयो से परिपूर्ण सिद्धान्त ह। यहाँ पर एक प्रश्न किया जा सकता हे—वे कौन-से धर्म एव दर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्त हे जो कठिनाइयो से परिपूर्ण नही हे ? हम ईसा के धर्म को उदाहरणस्वरूप ले सकते हे। जो ईसाई नही ह (और बहुत से आधुनिक ईसाई भी) उनकी दृष्टि मे मौलिक पाप का सिद्धान्त, बिना बपतिस्मा लिये हुए शिशुओ की नरक-दण्ड-सम्बन्धी भावना, पूर्वनिश्चितवाद, जो इस बात पर आधृत है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान स्वर्ग एव पृथिवी का स्रष्टा हे, विचित्र-सा एव दोपपूर्ण लगेगा। एल० टी० हावहाउस ने 'मॉरल्स इन इवल्यूशन' (भाग २, १९०६) मे प्रदर्शित किया हे कि किस प्रकार ईश्वर वाले सभी सिद्धान्त विशेपत ईसाई धर्म, कठिनाइयो से परिपूर्ण है। ऐसा कहना कि ईसामसीह का धर्म विलक्षण है, इस धर्म के मानने वाले लोग विशिष्ट है। ईश्वर को अन्यायी सिद्ध करना होगा और इसीलिए प्रो० टायनबी (क्रिश्चियानिटी एमग दि रिलिजियस आव दि वर्ल्ड, आक्सफोर्ड युनि० प्रेस, १९५८) ऐसे लेखको ने ऐसा सोचना एव आग्रह करना आरम्भ कर दिया हे कि ईसाई धर्म को इस प्रकार के विश्वासो से निर्मुक्त हो जाना चाहिए (पृ० १३ एव ९५)।

कर्म का सिद्धान्त यह बताता है कि एक व्यक्ति के अच्छे या बुरे कर्म दूसरे मे स्थानान्तरित नही हो सकते और न कोई व्यक्ति किसी अन्य के पापो को भोग सकता है। किन्तु ऋग्वेद मे ऐसे विश्वास के सकेत है कि ईश्वर पिताओ के पापो के कारण उनके पुत्रो को दण्डित कर सकता हे। ऋ० (७।८६।५) मे वसिष्ठ वरुण से प्रार्थना करते है—'हम लोगो से हमारे पिताओ के उल्लघनो को दूर कर दीजिए, और उन सबको भी जो हमने स्वय अपने शरीर मे किये है', 'हम लोग अन्य लोगो द्वारा किये गये पापो से दु खी न हो और न हम लोग वह करे जिसके लिए आप दण्डित करते हे' (यह विश्वेदेव को सम्बोधित हे)। शान्तिपर्व (२७९।१५ एव २१=२९०।१६ एव २२, चित्रशाला सस्करण) मे आया है—'चार प्रकार से यथा—आँख, मन, वचन एव कर्म से व्यक्ति जो कुछ करता हे, वह वैसा ही फल पाता है। दूसरे द्वारा किये गये अच्छे या बुरे कर्मो के फल को अन्य व्यक्ति नही भोगता, व्यक्ति वही पाता है जो स्वय करता हे।' और देखिए शान्तिपर्व (१५३।३८ एव ४१)।

इस सिद्धान्त का परिमार्जन बहुत पहले ही हो गया। गौतमधर्मसूत्र (११।९-११) मे आया है कि राजा को शास्त्र के अनुकूल वर्णो एव आश्रमो की रक्षा करनी चाहिए, यदि वे कर्त्तव्यपालन से विचलित हो तो उन्हे कर्तव्यपालन मे सचेष्ट रखना चाहिए क्योकि राजा को उनके द्वारा किये गये धर्म का अश प्राप्त होता है। मनु (८।३०४-३०५, ३०८) ने कहा हे कि वह राजा, जो प्रजा की रक्षा करता है, प्रजा के आध्यात्मिक पुण्य का छठा भाग पाता ह, यदि वह प्रजाजनो की रक्षा नही करता तो वह उनके पाप का छठा भाग पाता है। और देखिए मनु (९।३०१)। कालिदास ने शकुन्तला मे यही बात कही हे।[30] मनु

३० सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षत। अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षत॥ मनु (८।३०४), मिलाइए शाकुन्तल (२।१४) 'यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणा क्षयि म्। तप षड्भागमक्षय्य ददत्यारण्यका हि न॥

(८।३१६) मे आया है कि यदि चोर राजा के पास आता है, पाप-निवेदन करता है 'और राजा से कहता है कि वह उसे भारी डण्डे या हथियार से मारे और राजा उसे मारता हे या छोड देता हे तो चोर पाप से मुक्त हो जाता हे, किन्तु यदि राजा उसे दण्डित नही करता तो वह चोर के समान अपराधी सिद्ध होता है। ओर देखिए वसिष्ठ (१६।४६ एव २०।४१)। मनु (३।१००) मे आया हे कि यदि उस व्यक्ति के घर मे जो पवित्र एव सादा जीवन व्यतीत करता हे, खेत मे पडे अन्न को बीन कर अपनी जीविका चलाता हे और पॉच अग्नियो मे होम करता है, कोई अतिथि विना सम्मान पाये निवास करता हे तो उसका सारा पुण्य अतिथि का हो जाता हे। और देखिए इस विषय मे शान्ति० विष्णुधर्मसूत्र तथा कतिपय पुराण।[31] यह सब सम्भवत अर्थवाद है, अर्थात् केवल गृहस्थो को अतिथि-सत्कार के लिए प्रोत्साहन देना मात्र हे। साक्ष्य देने वाले को न्यायाधीश ने इस प्रकार समझाया है—'तुमने जो कुछ सुकृत सैकडो जीवनो मे किये होगे वे सभी उस पक्ष को मिल जायेगे जो तुम्हारे असत्य साक्ष्य से हार जायेगे, (याज्ञ० २।७५)। मिताक्षरा एव अपरार्क ने कहा है कि यह सब केवल डराने के लिए हे। (फिर भी असत्य भाषण का पाप तो होगा ही। और देखिए मनु (८।६०), एव १२।८१)।

भगवद्गीता ने, इस बात के रहते हुए भी कि वास्तविकता के ज्ञान (तत्त्वज्ञान) से सभी कर्मो के प्रभाव नष्ट हो जाते है, अन्त मे ईश्वर-भक्ति पर बल दिया हे, सब कुछ भगवान् के चरणो मे अर्पित कर देने को कहा हे—'सभी विभिन्न मार्गो को छोडकर मेरी ही शरण मे आओ, चिन्ता न करो, मै तुम्हे सभी पापो के प्रतिफलो से मुक्त कर दूंगा।'[32]

पति एव पत्नी के विषय मे धर्मशास्त्र-ग्रन्थो मे बहुत कुछ है। किन्तु वहॉ जो कुछ कहा गया है उसे ज्यो-का-त्यो नही ग्रहण करना चाहिए। मनु (५।१६४-१६६) ने कहा है—'पति से झूठा व्यवहार करके (किसी अन्य के साथ व्यभिचार करके) पत्नी इस जीवन मे निन्दित तो होती ही है,' वह (मृत्यु के उपरान्त) लोमडी हो जाती है और (कोढ ऐसे) भयकर रोगो से ग्रसित होती है। वह स्त्री, जो विचार, वाणी एव कर्म पर सयम रखती हे, जो अपने पति के प्रति असत्य नही होती, वह अपने पति के साथ (स्वर्ग मे) रहती है, और पतिव्रता नारी कहलाती है। मन, वचन एव कर्म मे सयमित नारी अपने आचरण द्वारा इस जीवन मे सर्वोच्च यश कमाती है और परलोक मे पति के साथ, निवास करती है।' देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ५६७-५६८, जहॉ पतिव्रता के विषय मे उल्लेख है। एक श्लोक इस प्रकार है—'जिस प्रकार मदारी सर्प को बिल से वलपूर्वक बाहर निकाल लेता है, उसी प्रकार पतिव्रता नारी यमदूत से अपने पति का जीवन खीच लेती है और पति के साथ परलोक जाती है।' यह भी एक अर्थवाद है, किन्तु सम्भवत यह उन कालो की प्रचलित भावनाओ की ओर सकेत हे।

३१ अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते। स तस्मै दुष्कृत दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति।। शान्तिपर्व (१८४।१२, चित्रशाला सस्करण), विष्णुधर्मसूत्र (६७।३३), विष्णुपुराण (३।६।१५ एव ३।२।६८), वराहपुराण (१७०।४६)।

३२ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज। अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच। भगवद्गीता (१८।६६)। यहाँ धर्म का अर्थ मार्ग हे जिसके द्वारा व्यक्ति अपने लक्ष्य तक जाता हे। बहुत-से मार्गो की ओर शान्तिपर्व (३४२।१०-१६=३५४।१०-१६० चित्रशाला) मे सकेत है, यथा—मोक्षधर्म, यज्ञधर्म, राजधर्म, अहिसाधर्म। उस अध्याय मे अन्तिम श्लोक यो हे—'एव बहुविधैर्लोकैर्धर्मद्वारैरनावृतै। ममापि मतिराविग्नामेघलेखेव वायुना।।'

महाभारत मे आया है कि यदि पाप के प्रतिफल कर्ता के जीवन मे नही देखे जाते तो वे पुत्रो एव पौत्रो मे अवश्य प्रकट हो होगे। यह भी अर्थवाद ही हे।[३३]

मनु (८।३१८=वसिष्ठ १९।४५) मे ऐसा आया हे कि (चोरी ऐसे) पापमय कर्म के लिए राजा द्वारा दण्डित हो जाने पर व्यक्ति पापमुक्त हो जाता है और वह पवित्र हो कर उसी प्रकार स्वर्ग जाता है जिस प्रकार अच्छे कर्म वाले व्यक्ति (राजभि कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवा। निर्मला स्वर्गमायान्ति सन्त सुकृतिनो यथा ॥)।

कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त का श्राद्ध-सिद्धान्त से मेल बैठाना बडा कठिन है। श्राद्ध मे श्राद्धकर्ता के तीन पूर्वपुरुषो को पिण्ड दिये जाते है। इस विषय मे हमने इस महाग्रन्थ के खण्ड ४ (पृ० ३३५-३३९) मे पढ लिया हे। पितरो को पिण्डदान देने की प्रथा वेदकालीन हे और सम्भवत वह वेदो से भी प्राचीन है तथा कर्म एव पुनर्जन्म का सिद्धान्त पश्चात्कालीन है। सामान्य लोग श्राद्ध के सिद्धान्त को नही छोडना चाहते थे और इसी से दोनो का प्रचलन साथ-साथ चलता रहा हे।

उपनिषदो एव उनकी टीकाओ, वेदान्तसूत्रो एव भाष्यो तथा भगवद्गीता के अतिरिक्त कर्म एव पुनर्जन्म से सम्बन्धित बहुत ही कम अन्य ग्रन्थ है। तुलनात्मक ढग से पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थ हे पद्मपाद (सम्भवत शकराचार्य के अनन्य शिष्य) कृत विज्ञानदीपिका, जिसमे कुल ७१ श्लोक हे और जिसका सम्पादन म० म० डा० उमेश मिश्र ने किया है (१९४०)। इस ग्रन्थ मे **सञ्चीयमान कर्म** की तुलना खेत मे खडे अन्नो से की गयी है, **सञ्चित कर्म** की घर मे रखे अन्नो से तथा **प्रारब्ध कर्म** की तुलना पेट मे पडे अन्नो से की गयी है। पेट मे पडा भोजन पच जाता है, किन्तु इसमे कुछ समय लगता हे। सञ्चित एव सचीयमान कर्म का नाश सम्यक् ज्ञान से होता है। किन्तु प्रारब्ध कर्म का नाश कुछ काल तक उसके फलो के भोगने के उपरान्त ही होता है। इस पुस्तक ने इस पर बल दिया है कि **वैराग्य** से ही तत्त्व का सच्चा ज्ञान होता है, वासनाओ का नाश होता है, कर्म तथा पुनर्जन्म की समाप्ति होती है।

एक अन्य ग्रन्थ है भटट वामदेव कृत जन्म-मरण विचार, जो केवल २५ पृष्ठो मे प्रकाशित है। यह कश्मीर के शैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित हे। इसमे आया हे कि शिव की तीन शक्तियाँ है—**चित्शक्ति** (जो प्रकाश या चेतना के समान हे), **स्वातन्त्र्य** (इच्छा-स्वातन्त्र्य) एव **आनन्दशक्ति**। छह **कञ्चुक** (आवरण या म्यान) है—**माया, कला, शुद्ध विद्या, राग, काल** एव **नियन्त्रण**। जब शरीर का यन्त्र टूट जाता है, तो चेतना प्राणन (साँस) पर अवरोध करके आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर द्वारा दूसरे शरीर मे ले जायी जाती है। आतिवाहिक (सूक्ष्म शरीर) मृत शरीर एव आगामी भौतिक शरीर के बीच एक द्वार या यान का कार्य करता है। इस ग्रन्थ मे अन्य बाते भी है, जिन्हे स्थानाभाव से हम यहाँ नही दे पा रहे हे। इसमे आया है कि ईश्वर की कृपा से मनुष्य पवित्र होता है तथा दीक्षा एव अन्य साधनो से वह वास्तविकता का परिज्ञान करता है और शिव के पास पहुँचता है। इसमे ऐसा कथित है कि सभी मनुष्य मुक्ति नही पाते, किन्तु वे, जो दीक्षा, मन्दिरो एव सत्यज्ञान को घृणा की दृष्टि से देखते है, नरक मे पडते है। कर्म के प्रकारो एव उनके प्रभावो को दूर करने के विषय मे बहुत ही कम विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

३३ नाधर्मश्चरितो कृन्तति ॥ पुत्रेष वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति। फलत्येव ध्रुव पाप गुरुभुक्तमिवोदरे ॥ आदि (८०।२-३)। और देखिए शान्तिपर्व (१३९।२२=१३७।१९) 'पाप कर्म कृत किञ्चिद्यदि तस्मिन न दृश्यते। नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥

एक अन्य ग्रन्थ है अच्युतराय मोडक लिखित (१८१६ ई०) 'प्रारब्धध्वान्त सहृति' (अर्थात् प्रारब्ध के विषय मे अन्धकार या अज्ञान का नाश)। डा० एच० जी० नरहरि (न्यू इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ५, पृ० ११५-११८) ने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि, तिथि एव विपयानुक्रमणिका उपस्थित की है। अच्युतराय के अनुसार ग्रन्थ का अर्थ हे 'प्रारब्ध-वाद-ध्वान्तसहृति' अर्थात् 'प्रारब्ध सिद्धान्त के द्वारा उत्पन्न अन्धकार का नाश।' उन्होने इस भावना की आलोचना की है कि गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त तक के सभी मानवीय कर्म केवल अतीत जीवन के कर्मो द्वारा प्रशासित होते है। उनका कथन हे कि सभी मानवीय क्रियाओ के मूल मे **प्रारब्ध, सस्कार** (उपचेतन या अव्यक्त वृत्तियाँ) एव **प्रयत्न** (मानवीय प्रयत्न) पाये जाते है। उनका कथन है कि देहपात के उपरान्त परमेश्वर द्वारा प्रेरित सञ्चित पुण्य एव पाप फल देना आरम्भ कर देते हे ओर उनमे जो पुण्य (अच्छा कर्म) या पाप (बुरा कर्म) या दोनो जो अत्यन्त प्रवल होता हे यथोचित शरीर का आरम्भ कर देता हे। जब मिश्र (अच्छे एव बुरे कर्म मिलकर) कर्म अत्यन्त प्रवल होते ह तो व्यक्ति ब्राह्मण जाति मे जन्म लेता हे, जब पाप कर्म अत्यन्त प्रवल होता हे तो तिर्यक योनि मे तथा जब पुण्य कर्म अत्यन्त प्रवल होता है तो देवत्व प्राप्त करता है। आयु सो वर्ष की हो सकती हे। भोग ह अनुकूल एव प्रतिकूल अनुभूति। सुख के तीन प्रकार है—**प्रातिभासिक, व्यावहारिक** तथा **प्रातिभासिक के कारण व्यावहारिक।** सुख पुन **रम्य** या **प्रिय** हो सकता है। रम्य एव प्रिय एक-दूसरे के पर्याय नही हे, क्योकि सोना सन्यासी को रम्य (सुन्दर) लग सकता है, किन्तु यह उसके लिए प्रिय (या प्यारा) नही हे। पुन प्रिय के तीन प्रकार और सुख के तीन प्रकार बताये गये है, जिन्हे स्थानाभाव से यहाँ नही दिया जा रहा है। अब तक के सुख **लौकिककार्य** (सामान्य) हे, किन्तु अन्य सुख भी हे, यथा—**वैदिक, प्रतीकोपासना, आहार्य** (मान लिया गया) एव **वासनात्मक।** वासनात्मक सुख के तीन प्रकार है—सात्त्विक, राजस एव तामस। इसी प्रकार दुख के भी प्रकार बताये गये हे, जिनका वर्णन यहाँ नही किया जा रहा है। अन्य बातो का उल्लेख भी नही किया जा रहा है।

बहुत-से विद्वानो ने कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विरोध मे बाते कही है। अब हम बहुत ही सक्षेप मे उन विरोधो की जाँच करेगे। प्रथम विरोध है प्रिंगिल-पैटिसन का (आइडिया आव इम्मॉर्टैलिटी, आक्सफोर्ड, १९२२), पूर्व जीवन की कोई स्मृति नही होती, बिना स्मरण के अमरता व्यर्थ है। ऐसा ही विरोध मिस लिली डूगल (देखिए 'इम्मॉर्टैलिटी'), कैनन स्ट्रीटर आदि ने भी उपस्थित किया है। इसका उत्तर कई प्रकार से दिया जा सकता है। क्या कोई व्यक्ति अपने जीवन के प्रथम दो वर्षो की बाते स्मरण कर लेता हे? यह भी विदित है कि अति वृद्धावस्था मे लोग अपने पौत्रो के नाम तक ठीक से स्मरण नही कर पाते, अपने गत जीवन मे दस वर्ष पूर्व व्यक्ति ने क्या-क्या किया, वास्तव मे, ये सारी बाते स्मरण मे नही आ पाती। सचमुच, यह कारुणिक बात है कि हमे अतीत जीवनो की सुधि नही हो पाती। यदि अतीत जीवनो की सारी बाते स्मरण होने लगे तो हमारा मन व्यामोह मे पड जाय। कर्म गुरुत्वाकर्षण के नियम के समान एक सार्वभौम कानून हे, जो सम्पूर्ण विश्व मे परिव्याप्त है। गुरुत्वाकर्षण को लोग सहस्रो वर्षो से नही जानते थे। किन्तु वह नियम पहले से ही विद्यमान था। बहुत से लोग अपने अतीत जीवनो को स्मरण करने की बात कहते रहे हे। लाला देशबन्धु गुप्त, प० नेकीराम शर्मा एव ताराचन्द माथुर ने शान्तिदेवी की कहानी पर प्रकाश डाला हे। शान्तिदेवी को अपना पूर्व जीवन स्मरण हो आया था। 'थियोसोफिस्ट मथली' (जनवरी १९२५) मे बहुत-सी गाथाएँ दी हुई हे, जिनमे अतीत जीवनो के स्मरण हो आने की बात पायी जाती हे। श्रीमती एनी बेसेण्ट एव श्री लेडबीटर ने 'दि लाइव्ज आव अलसीओन (अड्यार, १९२४) ई० पू० ७०,०००

से ई० पू० ६२४ तक के ४८ जीवनो का उल्लेख किया हे। जिनमे कुछ के चित्र भी हें जो पूर्व जीवन से सम्बन्धित हे।

एक अन्य विरोध हे, जिसका सम्बन्ध हे अनुवाशिकता (वशानुक्रम) मे। माता-पिता एव सन्तानो मे दैहिक एव मानसिक समानुरूपता पायी जाती है। इस बात का उत्तर हम कैसे दे सकते हे? एक ऐसा उत्त' दिया जा सकता हैं कि आत्मा, जिसे जन्म लेना रहता हे, अपनी स्थिति के अनुकूल माता-पिता की सन्तान होता है। किन्तु बच्चे अपने माता-पिता के सर्वथा अनुरूप नही होते। उनमे व्यक्तिगत अन्तर तो पाया जाता ही हे। कर्म यह नही स्पष्ट कर पाता कि व्यक्ति माता-पिता से क्या प्राप्त करता हे, किन्तु 'वह इतना तो वता पाता है कि व्यक्ति अपने पूर्व जीवन से क्या प्राप्त करता हे।

एक विरोध यह हे कि इस कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त मे विश्वास करने से लोग मानवीय दुःख के प्रति निर्मम हो जायेगे और किसी दुःखित व्यक्ति को सहायता देना नही चाहेगे और सोचेगे कि दुःख तो पूर्व जन्मो का फल है और दुःखित व्यक्ति को इस प्रकार का दुःख भोगना ही चाहिए। किन्तु, वास्तव मे, बात ऐसी नही हे। अति प्रारम्भिक वैदिक काल से ही लोग दान एव करुणा-प्रदर्शन के गुणो की प्रशसा करते रहे हे। ऋग्वेद (१०।११७।६) मे आया है—'जो व्यक्ति केवल अपने लिए खाना पकाता हे और केवल अकेला ही खाता है, वह पाप करता हे' (केवलाघो भवति केवलादी)। बृ० उप० (५।२।३) ने सभी लोगो के लिए तीन कर्त्तव्य निर्धारित किये हैं—आत्म-सयम, दान एव दया। यदि समर्थ व्यक्ति किसी की सहायता नही करता है तो वह कर्त्तव्यच्युत कहा जायगा। यह सम्भव हे कि दुःख उठाने वाले व्यक्ति के कर्म का फल ही ऐसा रहा हो कि वह सहायता करने वालो की कृपा पायेगा।

एक अन्य विरोध निम्नोक्त है। पृथिवी की जन-सख्या बढती जा रही है। प्रश्न उठता है—'अतिरिक्त जीव कहाँ से आते जा रहे हे? देखिए इस विषय मे जे० ई० सजन की पुस्तक 'डोग्मा आव री-इन्कारनेशन' (पृ० ८१) एव बर्थेलोट का मत ('ट्रासमाइग्रेशन आव सोल्स')। कतिपय प्राणियो की जातियाँ समाप्त हो गयी है और बहुत से जीव समाप्त होते जा रहे है, यथा— सिंह। जो लोग कर्म-सिद्धान्त मे विश्वास करते हे, ऐसा कह सकते हे, कि जो जीव पशुओ के रूप मे थे अब मानवो के स्वरूप मे आ रहे हे, क्योकि उनके बुरे कर्म, जिनके फलस्वरूप वे निकृष्ट कोटियो मे विचरण कर रहे थे, अब नष्ट हो रहे है।

कुछ पुराण ऐसा कहते है कि जो व्यक्ति अति पापी होता है वह निम्नतर अवस्थाओ को प्राप्त होगा वायुपुराण (१४।३४-३७) मे आया है कि वह पहले पशु होगा, तब हिरण, उसके उपरान्त पक्षी, तब रेंगने वाला कीट और इसके उपरान्त जगम (वृक्ष या पाषाण)। थियोसोफिस्ट तथा आजकल के कुछ अन्य विद्वान ऐसा कहते है कि एक बार मनुष्य हो जाने पर प्रत्यावर्तन नही होता, अर्थात् प्रतीपगमन (पीछे लौटना) नही होता। किन्तु कठोपनिषद् (५।६-७) मे स्पष्ट आया हे कि मृत्यु के उपरान्त कुछ लोग वृक्ष के तने हो जाते है और कुछ लोग विभिन्न शरीर-रूप धारण करते हे, और यह सब उनके कर्मो एव ज्ञान पर निर्भर होता हे। और देखिए छा० उप० (५।१०-७), मनु (१२।६, १२।६२-६८), याज्ञ० (३।२१३-२१५=मनु १२।५३-५६) एव योगसूत्र (२।१३)।

उपर्युक्त सभी प्रमाणो को हम केवल **अर्थवाद** कहकर छोड नही सकते, अर्थात् ऐसा नही समझ सकते कि वे केवल पापियो को डराने-धमकाने के लिए कहे गये हे। डा० राधाकृष्णन् (ऐन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ, सन १६३२ का सस्करण) ने निर्देश दिया हे कि यह सम्भव है कि पशुओ के रूप मे पुनर्जन्म की बात उन लोगो के विषय मे एक लाक्षणिक प्रयोग हे जो मानवरूप मे पाशविक गुणो वाले होते हैं (पृ० २६२)।

अध्याय ३६

हिन्दू संस्कृति एव सभ्यता की मौलिक एव मुख्य विशेषताएँ

अब हम इस परिच्छेद मे धर्मशास्त्र के इतिहास के गत पृष्ठो मे विखरे सूत्रो को एकत्र कर हिन्दू (भारतीय) सस्कृति एव सभ्यता की मौलिक एव प्रमुख विशिष्टताओ पर प्रकाश डालेगे।

भारत की महान् नदी सिन्धु के पश्चिम एव पूर्व के निवासियो एव भूमि क्षेत्र को फारस के सम्राट् दारा (५२२-४८६ ई० पू०) एव जेवर्सेज (४८६-४६५ ई० पू०)[1] ने हिन्दू ('हिदु' के रूप मे) के नाम से पुकारा है और यूनानियो ने इसी क्षेत्र के लोगो को 'इण्डोई' कहा, जिससे 'इण्डियन' शब्द बन गया है। अपने इतिहास (लोयेब ग्रन्थमाला) मे हेरोडोटस ने कहा है कि भारतीयो के उपरान्त (ग्रन्थ ५, वाक्य-समूह ३, खण्ड-३, पृ० ५) ससार मे थ्रेसियो का राष्ट्र सबसे वडा था और भारतीय लोग फारस साम्राज्य के बीसवे प्रान्त के निवासी थे और कर के रूप मे ३६० टैलेण्ट दिया करते थे। केवल ऋग्वेद मे 'सिन्धु' शब्द एकवचन एव बहुवचन दोनो मे दो सौ से अधिक वार प्रयुक्त हुआ है। एकवचन मे 'सिन्धु' की अपेक्षा 'सिन्धव' (बहुवचन) एव 'सप्त सिन्धून्' बहुधा आया है। इन्द्र को कई वार ऐसा कहा गया है कि उसने सात सिन्धुओ को बहने के लिए छोड दिया है (ऋ० १।३२।१२, २।१२।१२, ४।२८।१, ८।९६।१, १०।४३।३)। इन वचनो मे सिन्धु नदी एव उसकी सहायक नदियो (या सम्भवत इसके सात मुखो) की ओर सकेत किया गया है। ऋग्वेद के बहुत-से वचन, जहाँ एक वचन का प्रयोग हुआ है, केवल सिन्धु नदी की ओर इगित करते है (ऋ० २।१५।६, ४।३०।१२, ५।४।९ आदि)। ऋ० (२।१५।६) मे उल्लिखित है कि इन्द्र ने सिन्धु को उत्तर मे बहने दिया। यह बात हिमालय से निकल कर बहने वाली नदी के प्रथम अश की ओर सकेत करती है, जहाँ सिन्धु उत्तरवाहिनी है। पाणिनि ने 'सिन्धु' शब्द का प्रयोग देश के अर्थ मे किया है (४।३।९३, जहाँ 'सैन्धव' का अर्थ है वह व्यक्ति या जिसके पूर्व पुरुष लोग सिन्धु देश मे रहते हो)। आर्यावर्त की घटती-बढती सीमाओ के विषय मे देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ११-१६, तथा खण्ड ५, पृ० १५२५ या गत अध्याय ३४। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख मे भी 'भारतवर्ष' शब्द आया है।[2] अशोक

१ देखिए डा० डी० सी० सरकार द्वारा सम्पादित 'सेलेक्ट इस्क्रिप्शस' (सख्या ४, पृ० १० एव सख्या ५, पृ० १२) जिसमे दारय-उश (डेरियुस या दारा) के अभिलेख 'नक्श-ए-रुस्तम' एव क्षयार्श (जेवर्सेज) के अभिलेख 'पर्सिपोलिस' का उल्लेख है। हमारे देश के कुछ भू भागो मे आज भी सस्कृत 'स' का 'ह' मे परिवर्तन हो जाया करता है। प्राचीन पारसी शास्त्र वेण्डिडाड (सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, खण्ड-४, पृ० २) ने सोलह भू-खण्डो (क्षेत्रो) का उल्लेख किया है, जिनमे ९ नामो का पता चल गया है, १५ वें का नाम है हप्त हिन्दु (सप्त सिन्धु)।

२ देखिए एपीग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २०, पृ० ७१-८९। हाथीगुम्फा अभिलेख की तिथि के विषय मे विद्वानो मे गहरा मतभेद रहा है। डा० जायसवाल के अनुसार इसकी तिथि ई० पू० दूसरी शती का प्रथम अर्ध है। किन्तु डा० एन० एन० घोष ने इसे ई० पू० प्रथम शती का अन्तिम चरण माना है।

ने एक अभिलेख में अपने राज्य को जम्बूद्वीप नाम से पुकारा है। आज भी धार्मिक कृत्यों में संकल्प के समय बहुत-से प्रान्तों (यथा महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश आदि) में 'जम्बूद्वीपे भारतवर्षे बौद्धावतारे ' या जम्बू द्वीपे भारतखडे, आर्यावर्ते ' बोला जाता है। इसी से अपने देश को हमें भारतवर्ष कहना चाहिए जो अत्यन्त प्राचीन है। ऐसा कहा जा सकता है कि हमारी संस्कृति एवं सभ्यता के पीछे अतीत युगों में एक भौगोलिक पृष्ठभूमि रही है। भारतीय संविधान की प्रथम धारा में 'भारत' शब्द आया है। किन्तु विदेशियों एवं हमारे कुछ लेखकों ने 'हिन्दू' एवं 'इण्डियन' शब्दों का प्रयोग किया है और हमारे देश को हिन्दुस्तान (हिन्दुस्थान) या इण्डिया कहा है। आज अधिक प्रचलित नाम है भारत, भारतवर्ष, इण्डिया एवं हिन्दुस्तान।

'संस्कृति' एवं 'सभ्यता' नामक शब्दों का प्रयोग बहुत विद्वानों द्वारा समानार्थक रूप में हुआ है, किन्तु कुछ लोग इन्हें एक-दूसरे से पृथक् मानते हैं। विद्वानों ने संस्कृति (कल्चर) एवं सभ्यता (सिविलिजेशन) की कई परिभाषाएँ की है, किन्तु हम उनके चक्कर में नहीं पडेंगे। पाठक निम्नलिखित विद्वानों की पुस्तकें पढ सकते हैं—डा० टीलर (प्रिमिटिव कल्चर, भाग १, पृ० १ मरे, लण्डन, १८७१), मैत्थ्यू आर्नाल्ड (कल्चर एण्ड एनार्की, १८६६), प्रो० पी० ए० सोरोकिन (सोशल एण्ड कल्चरल डायनोमिक्स, १९५७) प्रो० इडगर्टन ('डॉमिनेण्ट आइडियाज इन दि फार्मेशन आव इण्डियन कल्चर', अमरिकन, ओरिएण्टल, सोसाइटी, जिल्द ६२, १९४२, पृ० १५१-१५६), प्रो० ट्वायन्बी ('सिविलिजेशन ऑन ट्रायल', १९४८), 'रीकसीडरेशस', जिल्द १२, पृ० ७६-७७), आर्चीबाल्ड (रेशनलिज्म इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, लण्डन, १९५४, पृ० ६२)। यदि दोनों शब्दों में कोई अन्तर किया जाय तो 'संस्कृति' को 'सभ्यता' अर्थात् 'कल्चर' को 'सिविलिजेशन' से अच्छा मानना चाहिए। सभ्यता (सिविलिजेशन) का प्रयोग बहुधा सामाजिक विकास के अति उच्च स्तर के लिए होता है और आदिम अवस्था के समाजों के लिए 'कल्चर' शब्द का प्रयोग होता है, यथा—प्रिमिटिव कल्चर। लोग 'प्रिमिटिव कल्चर' का प्रयोग करते हैं, किन्तु 'प्रिमिटिव सिविलिजेशन' का नहीं।[३]

मानव इतिहास के गत ६००० वर्षों में कतिपय संस्कृतियाँ एवं सभ्यताएँ उठी एवं गिरी। स्पेंग्लर ने, जो सैनिक अथवा फौजी व्यक्ति रहे हैं और जिन्होंने अबौद्धिकता का प्रदर्शन किया है, धर्म, नैतिकता एवं राजनीतिशास्त्र को तिलाञ्जलि दे दी है और बडी निर्दयता के साथ तीस सभ्यताओं एवं संस्कृतियों की जाँच की है और मत प्रकाशित किया है कि उनमें अधिकांश (७ या ८ को छोड कर सभी) ने एक समान ढंग अपनाया है, यथा—उन्होंने जन्म लिया, वे बढी, अवनति को प्राप्त हुई और मर गयी और एक बार समाप्त हुई तो पुनः उठ न सकी। प्रो० ट्वायन्बी ने, जो ईसाई हैं, फौजी नहीं है, अपने ग्रन्थ 'स्टडी आव हिस्ट्री' में स्पेंग्लर के प्रतिकूल निष्कर्ष निकाले हैं, यथा—संस्कृति एवं समाजों में बचपन, विवृद्धि (परिपक्वता), वार्धक्य एवं नाश के स्तर पाये जाते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'स्टडी आव हिस्ट्री के खण्ड ६, पृ० ७५८ में १९ सभ्यताओं की सूची दी है, जिसमें उनकी अभिव्यक्ति एवं अधःपतन तथा उनके विकास-क्रम को वर्षों में रख दिया गया है। उन्होंने 'इण्डिक' सभ्यता

३ डा० जी० एस० घुर्ये का ग्रन्थ 'कल्चर एण्ड सोसाइटी' (बम्बई यूनिवर्सिटी प्रकाशन, १९४७) एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने 'कल्चर' एवं 'सिविलिजेशन' पर महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं और इमर्सन, ऑर्नाल्ड, मोर्ले, ह्वाइटहेड, रसेल, लास्की, वेल्स आदि के दृष्टिकोणों की व्याख्या की गयी है। और देखिए प्रो० नॉर्थरॉप कृत 'मीटिंग आव ईस्ट एण्ड वेस्ट' (१९४६) एवं प्रो० सोरोकिन कृत 'सोशल फिलॉसॉफीज इन एँन एज आव क्राइसिस' (लण्डन, १९५२)।

का आरम्भ ई० पू० १३७५ से माना है, अध पतन ई० पू० ७२५ मे माना है तथा 'हिन्दू सम्यता' का आरम्भ ७७५ ई० से माना हे तथा अध पतन ११७५ ई० से। यह मत अत्यन्त आपत्तिजनक ह। उन्होने 'इण्डिक' तथा 'हिन्दू' सम्यताओ मे जो अन्तर बताया हे तथा जो तिथियाँ उपस्थित की ह वे उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर हे, उनके पीछे कोई प्रमाण नही हे। हिन्दू सम्यता ११७५ ई० मे क्यो समाप्त हो गयी, इसका उत्तर नही मिल पाता और न यही पता चलता है कि ई० पू० ७२५ एव ७७५ ई० के मध्य भारतीय सम्यता का क्या स्वरूप एव नाम है। दूसरी ओर जन्म लेने, बढने, विवृद्धि या परिपक्वता को प्राप्त होने तथा नाश हो जाने के पीछे जो रूपक हे उसे अन्य विद्वान् 'सम्यताओ' के लिए अनुपयुक्त ठहराते ह। जे० जी० डे वेडस ने 'फ्यूचर आव दि वेस्ट' (लण्डन, १६५३) मे कहा है कि सम्यताएँ न तो जन्म लेती ह और न मरती है, प्रत्युत वे परिवर्तित होती हे या समाहित हो जाती हे (पृ० ६०)। और देखिए प्रो० सोरोकिन कृत 'सोशल एण्ड कल्चरल डायनॉमिक्स' (पृ० ६२७), लेयोनार्ड वूल्फ कृत 'क्वैक, क्वैक' (पृ० १३६-१६०)। श्री ए० एल्० क्रोयबर ने अपने ग्रन्थ 'स्टाइल एण्ड सिविलिजेशन' (न्यूयार्क, १६५७) मे प्रो० सोरोकिन से सहमति तथा स्पेगलर एव ट्वायन्वी से असहमति प्रकट की है और कहा है—'सम्यताओ का अध्ययन सत्य रूप से वैज्ञानिक या विद्वत्तापूर्ण तव तक नही हो सकता जव तक उनमे से सकट, नाश, सहार, विलयन एव नियति के विषय मे हम अपने सवेगात्मक सम्बन्ध को नही त्यागेगे।

इस विश्व मे जितनी सस्कृतियाँ एव सम्यताएँ उत्पन्न एव विकसित हुई उनमे केवल दो (भारतीय एव चीनी) ही ऐसी हे जो पारसीको (फारस वालो), यूनानियो, सिथियनो, हूणो, तुर्कों के वार-वार के वाह्य आक्रमणो तथा आन्तरिक सघर्षो एव सक्षोभो के रहते हुए भी चार सहस्र (यदि और अधिक नही) वर्षो से अव तक जीवित रही हे और अपनी परम्पराएँ अक्षुण्ण रख सकी हे।[४] भारत ने इन सभी वाह्य आक्रामको को आत्मसात् कर लिया और वहुत से यूनानियो, शको एव अन्य वाह्य लोगो को भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा का पोपक वना लिया आर उनके लिए भारतीय सामाजिक रचना मे एक स्थान निर्धारित कर दिया। (इस विषय मे हम आगे भी लिखेगे)। इतना ही नही, भारत ने अपने साहित्य, धर्म, कला एव सस्कृति का प्रचार एव प्रसार आक्रमणो अथवा देशो को जीत कर अपने मे मिलाकर नही किया, प्रत्युत यह कार्य उसने शान्तिप्रिय साधनो द्वारा किया, यथा—शिक्षा, सस्कृत ग्रन्थो के अनुवाद एव प्रबोध (सशयच्छेद अथवा शकानिवृत्ति) द्वारा और इस प्रकार श्रीलका (सीलोन), ब्रह्मा (वरमा), सुमात्रा, मलाया, जावा, वाली, वोर्नियो, चीन, तिब्वत, जापान, मगोलिया एव कोरिया मे अपनी सास्कृतिक एव सम्यता-सम्वन्धी अनुप्रेरणाएँ भर दी।[५] वाली का

४ देखिए प्रो० सोरोकिन कृत 'सोशल एण्ड कल्चरल डायनेमिक्स' (पृ० ६६७) एवं डा० राधाकृष्णन कृत 'रिलिजिन एण्ड सोसाइटी' (१६४७, पृ० १०१)।

५ 'सुदूर भारत' ('फर्दर इण्डिया' एव 'ग्रेटर इण्डिया') मे अर्थात् दक्षिण-पूर्वी एशिया एव चीन मे भारतीय सस्कृति के प्रसार के विषय मे एक वडा साहित्य उत्पन्न हो गया हे और अव भी कतिपय विद्वान् ग्रन्थ एव निबन्ध लिखते ही जा रहे ह। कुछ ग्रन्थो एव निवन्धो के नाम यहाँ उपस्थित किये जा रहे ह, यथा—डा० आर० सी० मजूमदार कृत 'ऐंश्येण्ट इण्डियन कॉलोनीज़' (खण्ड १ एव २), श्री एच० जी० क्वारिछ वेल्स कृत 'टूअर्ड्स अगकोर' (जिसमे ४२ चित्र हैं, १६३७) एव 'मेकिंग आव ग्रेटर इण्डिया' (लण्डन, १६५१, इसमे एक अच्छी ग्रन्थ-सूची भी है), प्रो० के० ए० नीलकान्त शास्त्री कृत 'श्री विजय' (१६४६, जिसमे सन् ६८३ ई० से लगभग १४वीं शती

सुन्दर द्वीप अब भी हिन्दू है, उसमे चारो वर्णो के लोग है, उनके पुरोहित को पेण्डड (पण्डित) कहा जाता है, पूजा के जल को तोय (देखिए एस लेवी कृत 'सस्कृत टेक्स्ट्स फ्राम बाली') कहा जाता है और पुरोहित अब भी गायत्री का एक चरण 'भर्गो देवस्य धीमहि' कहते है और अशुद्ध रूप मे यज्ञोपवीत का मन्त्र (यज्ञोपवीत परम पवित्रम्) कहते है।

भारतीय सस्कृति एव सभ्यता का इस प्रकार सैकडो शतियो तक चला जाना एक आवश्यर्यजनक बात है। ऐसा क्योकर सम्भव हो सका ? इसके उत्तर मे हमे इस भारतीय सस्कृति एव सभ्यता से सम्बन्धित मौलिक विचार-धारणाओ, मूल्यो एव विशेषताओ की व्याख्या करनी होगी, उन पर विचार करना होगा। भारतीय सस्कृति एव सभ्यता का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है, उसे केवल हम यूरोपीय मापदण्डो से नही जान सकते।

गत शतियो मे कुछ देशो के लोगो को इसका अभिमान एव गर्व रहा है कि वे अन्य देशो के लोगो से श्रेष्ठ है और अपने को प्रचारित एव प्रसारित करने के लिए उन्होने अपने को अधिकृत कर लिया। जब ब्रिटिश साम्राज्य अति विशाल हो गया और इतना विस्तृत हो गया कि उसमे सूर्य कभी भी अस्त नही होता था तो ब्रिटिश साम्राज्यवादियो ने सदम्भ एव साधिकार ऐसा प्रचार करना आरम्भ किया कि वे अविकसित एव पिछडे लोगो के सुधार एव कल्याण के लिए 'श्वेत मनुष्य का भार' ('ह्वाइट मैंस बर्डेन') ढो रहे है (जब कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी अपने शासित भारतीयो को उपनिवेशवादी नीतियो के फलस्वरूप चूस रहे थे और उन्हे दरिद्र बना रहे थे)। दूसरी ओर रूस साधिकार गर्जना कर रहा है कि वह जन-साधारण को 'पूंजीवाद के शिकञ्जे' से छुडायेगा और इस पृथिवी पर ही स्वर्ग उतारेगा। हिटलर से शासित जर्मनो ने ऐसा विश्वास जताया था कि वे श्रेष्ठ नोरडिक जाति के है और वे 'साम्यवाद के शिकञ्जे' से ससार की रक्षा करेगे। इस प्रकार का अभिभाव केवल पश्चिम तक ही सीमित नही था। आजकल कुछ भारतीयो ने भी साधिकार घोषणा की है कि आध्यात्मिकता का अस्तित्व केवल यदि कही है तो वह भारत मे है। निस्सन्देह ऐसा कहना समीचीन ही है कि भारतीय सस्कृति एव सभ्यता महान् आध्यात्मिक मूल्यो पर आधृत है। किन्तु ऐसा कहना पूर्णतया असत्य है कि अन्य देशो के लोगो मे आध्यात्मिकता नही पायी जाती। हम इतना ही कह सकते है कि हिन्दूवाद के लिए आध्यात्मिकता अपेक्षाकृत अधिक मौलिक रही है और यह हिन्दुओ मे अपेक्षाकृत अधिक फैली हुई है और अन्य देशो मे इस मात्रा मे नही पायी जाती। मनुस्मृति मे आया है कि केवल वे लोकाचार अथवा प्रयोग (प्रचलित आचार), जो विशेषत ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र तथा मत्स्य, पञ्चाल एव शूरसेन देशो के वर्णो एव जातियो मे परम्परानुगत प्रचलित रहे है, सदाचार कहे जाते है (२।१७-१९) और इन्ही देशो के ब्राह्मणो से इस पृथिवी के लोगो को अपने कर्त्तव्यो की धारणा करनी चाहिए अथवा शिक्षा लेनी चाहिए। इस

तक के अभिलेख भी दिये हुए हैं), श्री देवे ग्रोसेट कृत 'सिविलिजेशस आव दि ईस्ट' (फ्रेंच से अनुवाद कैथरिन ए० फिलिप्स द्वारा, २४९ चित्र, खण्ड २, भारत, सुदूर भारत एव मलाया के बारे मे, पृ० १–३४३ तक)। 'भारत पर चीन का ऋण' (चाइनाज डेट टु इण्डिया) के लिए देखिए प्रो० लियाग चि चाओ के निबन्ध विश्वभारती क्वार्टरली, खण्ड २, पृ० २५१–२६१, जहाँ ऐसा दिया हुआ है कि आठवी शती से जो भारतीय विद्वान चीन गये उनकी सख्या चौबीस थी और जो चीनी सन् २६५ ई० से ७९० ई० तक गये उनकी सख्या १८७ थी (जिनमे १०५ नाम निश्चित-से है)। और देखिए प्रो० पी० सी० बागची कृत 'इण्डिया एण्ड चाइना' (हिन्द किताब्स, १९५०) विशेषत अध्याय २ एव ३।

प्रकार मनुस्मृति ने मध्यदेश (उनके द्वारा परिभाषित) के क्षेत्रो एव आर्यावर्त को पृथक् कर रखा है (२।२१-२२) कुछ समय से कुछ लोग ऋ० (९।६३।५-६) मे उल्लिखित 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' पर निर्भर होकर[६] ऐसा प्रतिपादित करने लगे है कि वेद ने हमारे देश को सारे ससार को आर्य वनाने के लिए नियुक्त किया है किन्तु इस प्रकार के अभिमान के लिए यहाँ कोई स्थान नही है। ये शब्द इन्द्र के लिए सोमरस अर्पण के लिए प्रयुक्त हुए है। इनका अर्थ यो है–'ये सोम-तर्पण, जो पिंगल वर्ण के है (सोम पौधे मे निकाले हुए हैं), इन्द्र (की शक्ति) को वढाते हैं, जलो को (आकाश) से गिराते हुए इन्द्र के पास आने वाले विरोधी लोगो को नष्ट करते है, सभी (सम्पूर्ण वातावरण) को सुन्दर वनाते हुए वे अपने उचित क्षेत्र मे पहुँचते है।' यहाँ पर वैदिक लोगो द्वारा सम्पूर्ण विश्व को आर्य वनाने की चेष्टा की ओर कोई भी निर्देश नही है। यहाँ पर कोई भी ऐसा सदेश नही है जिसे आधुनिक भारतीय लोग अन्य लोगो को दे सके या उसका प्रसार कर सके। स्वय सोम पौधा वैदिक काल मे ही लुप्त हो गया और उसके प्रतिनिधि की आवश्यकता पड गयी। भारत मे सम्भवत कई शतियो से कदाचित् ही कोई वैदिक यज्ञ किया गया हो ओर यदि यज्ञ सम्पादित हुए भी हो तो उनमे सोमयज्ञो की सख्या वहुत ही कम रही होगी।

गत दो महायुद्धो के उपरान्त विश्व के आकाश मे युद्ध के वादल उमड-घुमड रहे है और अव विचारको ने अणु-युद्ध मे सकुल हो जाने की सम्भावना पर विचार करके यही उद्घोषित किया है कि विना आध्यात्मिक मूल्यो के पुनर्जागरण के, विना न्यायसगत जीवनयापन के, विना दलित लोगो के प्रति करुणा-दृष्टि फेरे तथा विना मानव मे भ्रातृभावना की स्थापना किये विश्व का कल्याण नही है और न मानव सभ्यता की रक्षा की जा सकती है। यद्यपि हमारे प्राचीन ऋषियो एव विधान निर्धारको ने आध्यात्मिक मूल्यो पर वहुत वल दिया है, तथापि अधिकाश लोग तथा हमारे तथाकथित नेतागण शतियो से इन मूल्यो के अभाव से ग्रसित रहे है और अव भी है। हमे आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। केवल पूर्व गौरव की गाथा गाने से कार्य नही होने का। हमे अव सुस्थिर मन से विचार करना और वास्तविकता का परिज्ञान करना है। क्या कारण था कि १३वी शती के उपरान्त हमने अपनी स्वतन्त्रता खो दी? इसी सन्दर्भ मे हम कुछ प्रश्न रखते है (१) हिन्दू लोग आक्रामको मे, यथा—पारसीको, यूनानियो, सिथियनो, तुर्कों, अग्रेजो से तुलना मे हीन क्यो सिद्ध हो गये, जव वे सख्या मे अधिक थे और वहुत-से आक्रामक उनके साहस से प्रभावित थे और भारतीय सैनिको की मृत्यु-सम्वन्धी उपेक्षा से परिचित थे? (२) हिन्दू लोग कई शतियो तक सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र मे क्यो नही बाँध कर रख सके अथवा वे एकच्छत्र राज्य की स्थापना करके एक स्थिर व्यवस्थित राज्य क्यो नही वना सके? (३) उन्होने भारत मे स्थित प्राकृतिक सामग्रियो का सदुपयोग करके वस्तु-निर्माण, व्यापार एव औद्योगिक क्षेत्र मे विकास क्यो नही किया? हमे इस विषय मे एक वडे पैमाने पर अपनी जाँच करनी चाहिए और पता लगाना चाहिए कि हमारे अध पतन के क्या कारण थे और अपने दोषो को दूर करना चाहिए जिससे शतियो के उपरान्त प्राप्त की हुई स्वतन्त्रता की रक्षा हम प्राणपण से कर सके। अग्रेजो के शासन के पूर्व भारत मे राजनीतिक एकता कभी नही थी। भारतीय राजाओ एव राजकुमारो के मध्य सदैव युद्ध एव

६ इन्द्र वर्धन्तो अप्तुर कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तो अराव्ण ॥ सुता अनु स्वमा रजोऽभ्यर्षन्ति वभ्रव। इन्द्र गच्छन्त इन्दव ॥ ऋ० (९।६३-५-६)। मिलाइए इसी सूक्त का चौदहवाँ श्लोक 'एते धामान्यार्या शुक्रा ऋतस्य धारया। वाज गोमन्तमक्षरन् ॥ 'धामान्यार्या' का अर्थ है (देवो के) 'सुन्दर या भद्र निवास-स्थान या सुन्दर विधियाँ।'

सघर्ष चला करते थे, क्योकि उदाहरणार्थ मराठो ने वगाल पर आक्रमण किया था, अत जब ब्रिटिशो द्वारा मराठे पराजित किये गये तो वगालियो ने हर्ष मनाया । १६वी शती के द्वितीय चरण के पूर्व हममे राष्ट्रीयता की भावना नही के वरावर थी, हम भारतीयो मे भारतीयो के प्रति भावाकुल होने की कोई मानसिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक परम्परा नही थी । इस अध्याय मे हम राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रो मे भारत के अध-पतन के कारणो की जाँच विशद रूप से नही कर सकेंगे, किन्तु कुछ वातो की ओर सकेत कर देना विषयान्तर नही होगा ।

हिन्दू धर्म मे वहुत-से सिद्धान्तो एव धार्मिक विचारधाराओ का सगम पाया जाता हे, यथा—वैदिक क्रिया-सस्कार, वेदान्तवादी विचार, वैष्णववाद, शैववाद, शक्तिवाद तथा अन्य आद्य सम्प्रदाय, जो वौद्धिक एव आध्यात्मिक उपलब्धियो की वडी-वडी विपमताओ के साथ विभिन्न समुदायो एव विभिन्न प्रकार के मनुष्यो की आवश्यकताओ के अनुसार अभिव्यक्ति पाते रहे हे तथा फूलते-फलते रहे ह। वहुत ही कम वातो ने हिन्दुओ को एक सूत्र मे वाँध रखा है, यथा—कर्म एव पुनर्जन्म का सिद्धान्त, विशाल एव श्रेष्ठ सस्कृत साहित्य, जिसने क्रमश क्षेत्रीय भाषाओ को समृद्ध वना दिया हे, धार्मिक विषयो मे सभी लोगो द्वारा वेदो मे अटूट विश्वास, यद्यपि वहुत ही कम लोग ऐसे रहे ह जिन्होने वेदो का अध्ययन किया अथवा उन्हे समझा, हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक भौगोलिक एकता, जिस पर पुराणो ने वल दिया हे तथा मानसरोवर एव वदरीनाथ से लेकर रामेश्वर तक तीर्थस्थानो की धार्मिक यात्राएँ । ये तत्त्व सभी हिन्दुओ को एकता के सूत्र मे वाँध सकने मे उतने समर्थ नही हो सके। आचार्यो एव सन्तो मे परलोक की साधना तथा वेदान्तवाद के प्रति अत्यधिक मोह था, उन्होने लोगो के पारस्परिक कर्त्तव्यो की ओर, वर्गो तथा समाज के प्रति कर्तव्यो की महत्ता पर उतना या उससे अधिक वल नही दिया, जिसका दु खद परिणाम यह हुआ कि अधिकाश मे लोग, चाहे वे योग्य हो या न हो, परलोक साधनारत हो गये और सदाचार के साथ लौकिक कर्तव्यो या मूल्यो के सञ्चयन मे सक्रिय न हो सके । एकता के अभाव एव अध पतन का एक अन्य कारण था वह विचार-वैषम्य जो इस प्रकार परिलक्षित था—एक ओर तो महान् विचारक इसका उपदेश करते थे कि सम्पूर्ण विश्व एक है और दूसरी ओर समाज मे हीन जातियो एव अस्पृश्य लोगो के प्रति उनका व्यवहार कुछ ओर ही था, उन्हे छूना अपवित्र कार्य माना जाता था, जो सचमुच एक विचित्र विरोधाभास था—एक ओर वह उच्च आध्यात्मिक विचार कि सम्पूर्ण विश्व एक हे और दूसरी ओर समाज का एक विशद अग अस्पृस्य मान लिया गया । जन समुदाय की शिक्षा के ध्यान का अभाव था तथा उच्च जातियो के लोग इस वात की चिन्ता ही नही करते थे कि कौन राज्य कर रहा हे, जब तक उनके जीवन की शाति न भग हो जाय। महान् देशभक्त एव क्रान्तिकारी सावरकर ने उन सात शृखलाओ अथवा पाशो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया हे जिनसे हिन्दू समाज शतियो मे वद्ध रहा हे, और वे इस प्रकार ह—(१) अस्पृश्यता, भाँति-भाँति के निषेध (वर्जनाएँ), यथा —(२) समुद्र-यात्रा, (३) सैकडो जातियो एव उपजातियो मे पारस्परिक भोजन, (४) अन्तर्जातीय विवाह, (५) कुछ जातियो द्वारा वेदाध्ययन, (६) कुछ विशिष्ट वृत्तियो का निषेध एव (७) वल, कपट से तथा अवोधता के कारण दूसरे धर्मो मे ले लिये गये हिन्दुओ को फिर से हिन्दुओ मे मिला लेने का निषेध।

हमारे सास्कृतिक इतिहास की कुछ मध्यगत विशेषताएँ एक स्थान पर उल्लिखित की जा सकती हे। प्रथम वात यह है कि वैदिक काल से लेकर आज तक **एक अटूट धार्मिक परम्परा चली आयी हे ।** सभी ब्राह्मणो तथा अधिकाश क्षत्रियो एव वैश्यो द्वारा धार्मिक क्रिया-सस्कारो एव उत्सवो मे वैदिक मन्त्रो का प्रयोग अव भी किया जा रहा है। वैदिक देवो को हम पूर्णतया नही भूल सके हे। सभी कृत्यो के आरम्भ

मे अब भी अग्नि स्थापित की जाती हे, आज विष्णु (जो इन्द्र, अग्नि या वरुण की भाँति वहुधा अधिक प्रशसित नही है। किन्तु ऋ० १।२२।१६-२१, १।१५४।१-६, १।१५५। १-६,६।६६।१-८ मे प्रशसित हैं, इन्द्र एव विष्णु दोनो ऋ० ७।६६।१-७ मे प्रशसित है तथा अथर्ववेद ७।२७।४-६ मे पूजित ह) एव शिव (ऋग्वेद के रुद्र, जो पहले से वहुत अगो मे परिवर्तित ह, तथा पूज्य ह ऋ० २।१।६, २।३३।६, १०।६२।६—जहाँ शिव नाम आया हे)की मुख्य देवो के रूप मे पूजा की जाती हे। भारत के वहुत-से भागो मे ब्राह्मण लोग प्रात एव साय की पूजा मे अब भी क्रम से मित्र (ऋ० ३।५६) एव वरुण (ऋ० १।२५) के मन्त्रो का पाठ करते हैं। दूसरी विशेषता यह हे कि भारत विशाल देश हे (रूस को छोडकर सम्पूर्ण यूरोप के समान) किन्तु सम्पूर्ण भूमि-भाग पर **एक राजनीतिक सत्ता कभी भी नही स्थापित हो सकी** (सम्भवत अल्पकाल के लिए अशोक की राजनीतिक सत्ता के अतिरिक्त)। सम्राट् या चक्रवर्ती के एकछत्र राज्य का आदर्श तो था, किन्तु यदि किसी राजा ने आत्म-समर्पण कर दिया, उसने विजयी सम्राट् की शक्ति को स्वीकार कर लिया तथा कुछ कर दे दिया तो सम्राट् ने अपने साम्राज्य के अन्तर्गत अन्य शासको के राज्यो के कार्य-कलापो की कोई चिन्ता नही की। इसी से वाह्य आक्रामको के विरोध मे कोई सयुक्त मोर्चा नही स्थापित हो सका, कानूनो अथवा विधि-विधानो, लोकाचारो तथा व्यवहारो मे कोई एकरूपता नही प्रदर्शित की जा सकी और राजाओ तथा राजकुमारो मे वहुधा युद्ध हुआ करते थे। तीसरी विशेषता यह रही है कि **सस्कृतियो से सम्वन्धित कोई भी गम्भीर सघर्ष नही हुआ**। विभिन्न विचारधाराओ एव विश्वासो के विषय मे सहिष्णुता विराजमान थी और अनेकता मे एकता स्थापित करने की निरन्तर अनुकूलता विद्यमान थी।

यह जानकर अपार दुख होता है कि जहाँ ११वी शती से आगे वडे-वडे विद्वान् व्रत, दान एव श्राद्ध पर सहस्रो पृष्ठो मे ग्रन्थो के प्रणयन मे लीन थे (जैसा कि विद्वान् मन्त्री हेमाद्रि ने किया था) या तर्कशास्त्र, वेदान्त, साहित्य-शास्त्र आदि अन्य मार्मिक विषयो के ऊपर साधिकार ग्रन्थ-प्रणयन, टीका-मीमासा आदि करते थे, वहाँ एक भी ऐसा विद्वान् नही उत्पन्न हुआ जो अलबेरूनी के समान आगे आता और महमूद गजनी की विजय तथा भारत की पराजय पर प्रकाश डालता और उन दोषो एव दुर्वलताओ को दूर करने का प्रयत्न करता जिनके फलस्वरूप भारत को वाह्य आक्रामको के समक्ष सदैव मुँह की खानी पडी। हिन्दुओ की पराजय के अन्य कारण भी थे। ससार मे १५वी शती से आगे विज्ञान एव प्राविधिक क्षेत्रो मे जो अनुसन्धान कार्य एव आविष्कार हुए उनमे हमारे विद्वानो ने कोई भी सहयोग नही किया। शाहजी ने विदेशियो से आग्नेयास्त्र खरीदे। न तो उन्होने और न उनके महान् पुत्र शिवाजी ने ही, जिन्होने मराठा साम्राज्य स्थापित किया, कोई ऐसी फैक्टरी खोली जहाँ आग्नेयास्त्रो तथा गोलियो आदि का निर्माण किया जा सकता। इसी प्रकार हमारे देश-वासियो ने शक्तिशाली नौ-सेना के महत्त्व को भी नही समझा। यदि हिन्दुओ या उनके शासको के पास नौ-सेना रही होती तो पुर्तगाल वालो, फ्रासीसियो एव अग्रेजो की आकाक्षाओ पर तुषारपात हो गया होता।

अव हम हिन्दू सस्कृति एव सभ्यता की महत्त्वपूर्ण विशेषताओ पर प्रकाश डालेगे।

(१) ऋग्वेद के काल से अव तक चली आयी हुई अत्यन्त विलक्षण धारणा यह रही हे कि **मूल तत्त्व एक** हे, भले ही लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि किसी नाम से क्यो न पूजित करे (ऋग्वेद १।१६४।४६, ८।५८।१, १०।१२६।२)। महाभारत, पुराण, सस्कृत काव्य के काल एव मध्य-काल मे जबकि विष्णु, शिव या शक्ति से सम्वन्धित वहुत से सम्प्रदाय थे, सभी हिन्दुओ मे यह अन्तश्चेतना थी कि ईश्वर एक है, जिसके कई नाम ह। देखिए वनपर्व (३६।७६–७७), शान्तिपर्व (३४३।१३१), ब्रह्मपुराण (१६२।५१), विष्णुपुराण (५।१८।५०), हरिवंश (विष्णुपुराण २५।३१), कुमारसम्भव (७।४४)।

(२) उपर्युक्त धारणा से एक **महान् सहिष्णुता** की उद्भूति हुई। हिन्दू धर्म ने सभी कालो मे विचार-स्वातन्त्र्य एव उपासना-स्वातन्त्र्य की भावनाओ की पूजा की। इस विषय मे हमने इस महाग्रन्थ के खण्ड २ मूल पृष्ठ ३८८, पाद-टिप्पणी ६२८ एव खण्ड ५, मूल पृ० ६७०–७१, १०११–१०१८ मे विस्तार के साथ विवेचन उपस्थित किया है। देखिए गीता (७।२१–२२ एव ९।२३)। ससार मे कुछ धर्मो ने स्वधर्म-विरोधियो को, चाहे वे वास्तव मे रहे हो या उन पर शका मात्र रही हो, कितनी यातनाएँ दी है, इससे विश्व इतिहास के पन्ने भरे पड़े है।[७] हिन्दू धर्म मे इस प्रकार की असहिष्णुता का पूर्ण अभाव है। हिन्दूवाद या हिन्दू धर्म किसी स्थिर धार्मिक पक्ष से बँधा नही है और न यह किसी एक ग्रन्थ या प्रवर्तक के रूप मे किसी पैगम्बर को मानता है। वास्तव मे, व्यक्ति को ईश्वर-भीरु होना चाहिए, सत्य विश्वासो की बात अलग है, जो बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वह है नैतिक आचरण एव सामाजिक व्यवहार। हिन्दू लोग किसी अन्य धर्म की सत्यता को अस्वीकार नही करते और न किसी अन्य व्यक्ति की धार्मिक अनुभूति को ही त्याज्य समझते है। एक श्लोक[८] ऐसा है जो भारतीय धार्मिक विशालता एव उदारता की ओर सारे ससार का चित्त आकृष्ट करता है और धार्मिक विश्वासो एव पूजा-उपासना के प्रति सामान्य हिन्दू-भावना का द्योतक है। श्लोक का अर्थ यो है —'जो हरि त्रैलोक्यनाथ है जिनको शैव लोग शिव के रूप मे पूजते है, वेदान्ती लोग ब्रह्म के रूप मे, बौद्ध लोग बुद्ध के रूप मे, प्रमाणपटु (ज्ञान के साधन मे प्रवीण या दक्ष) नैयायिक लोग कर्ता के रूप मे, जैन शासन मे लीन (जैनधर्म को मानने वाले) लोग अर्हत् के रूप मे और मीमासक लोग कर्म (यज्ञ) के रूप मे पूजते है, तुम्हे वे वाञ्छित फल प्रदान करे। महान् तर्कशास्त्री उदयन ने भी, जिन्होने लक्षणावली शक सवत् ९०६ (९८४ ई०) मे लिखी, अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि (१८) मे वही बात लिखी है। इस प्रकार हम देखते है कि **सहिष्णुता हिन्दूधर्म का सारतत्त्व है** और अनीश्वरवादी (नास्तिक) के साथ भी विनोद ही किया जाता है, न कि उसे किसी प्रकार की यातना दी जाती है।

७ बाइबिल-सम्बन्धी अर्थात ईसामसीह के धर्मावलम्बियो की असहिष्णुता की जानकारी के लिए देखिए जेरमिआह (२६।८-९), कोलोसियस (२।८) एव गलेशियस (१।७-९)।

८ य शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटव कर्तेति नैयायिका
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता कर्मेति मीमासका
सोऽय वो विदधातु वाञ्छितफल त्रैलोक्यनाथो हरि ।।
——सुभाषितरत्नभाण्डागार (निर्णयसागर प्रेस सस्करण, १९३५, पृ० ५, श्लोक २७)

न्यायकुसुमाञ्जलि (१२) मे इस प्रकार आया है——स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिण । यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ।। इह यद्यपि य कमपि पुरुषार्थमर्थयमाना शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदा । आदि विद्वानसिद्ध इति कापिला । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदाय प्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जला लोकवेदविरुद्धैरपि निर्लेप स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपता । शिव इति शैवा । पुरुषोत्तम इति वैष्णवा । पितामह इति पौराणिका । यज्ञपुरुष इति याज्ञिका । निरावरण इति दिगम्बरा । उपास्यत्वेन देशित इति मीमासका । यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिका । लोक व्यवहारसिद्ध इति चार्वाका । किबहुना, कारवोऽपि य विश्वकर्मेत्युपासते ।।

(३) इस सिद्धान्त पर विश्वास करते हुए कि सार तत्त्व एक है या परमेश्वर एक है, उपनिषदो के ऋषियो ने निष्कर्ष निकाला कि जीवात्मा उस तत्त्व से अभिन्न है। बाहुल्य (या अनेकता) केवल अवास्तव है और यहाँ तक कि मछुआ लोग (मछली मारने वाले), दास, जुआरी लोग तथा निर्जीव पदार्थ सभी इसमे अभिन्न है। यह वेदान्त-सिद्धान्त हिन्दू धर्म की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशिष्टताओ मे एक है और मानव के आध्यात्मिक विकास मे भारत की एक उत्कृष्ट देन है, यद्यपि अन्य देशो मे भी कुछ दार्शनिको द्वारा उपस्थित इस सिद्धान्त के कुछ अश बिखरे हुए मिलते है। **अनेक से एक एव एक से अनेक** ही वेदान्त-सिद्धान्त का केन्द्रबिन्दु या अन्तर्भाग है। इस विषय मे हमने अध्याय ३४ मे विस्तार के साथ पढ लिया है। यूरोप मे दर्शन का अध्ययन स्वय अपने मे लक्ष्य है। प्राचीन भारत मे **अनेकता मे एकता की भावना को शिक्षा एव समाज-शास्त्र का आधार माना गया** और ऐसा विश्वास किया गया है कि व्यक्ति के जीवन मे इस एकता की अनुभूति ही परम स्वतन्त्रता (मोक्ष) है।

उपनिषदो की शिक्षा एक सार्वभौम सिद्धान्त है जिसे सभी लोग, जो अच्छी इच्छा रखते है, स्वीकार कर सकते है, बचपन से चाहे जिस प्रकार के धर्म-प्रवाह मे व्यक्ति रहा हो वह इस सिद्धान्त के अनुसार मानस रूप से चलने पर धर्मच्युत नही हो सकता। व्यक्ति का आत्मा परमात्मा अथवा ब्रह्म से भिन्न नही है, यह निष्कर्ष एक महान् निष्कर्ष है और सभी प्रकार के उद्बुद्ध लोगो मे विलक्षण उत्स भरने वाला है। बहुत-से उदाहरण उपस्थित किये जा सकते है, किन्तु यहाँ केवल दो पर्याप्त होगे। मुण्डकोपनिषद् (३।२।८) मे घोषित है—"जिस प्रकार नदियाँ (समुद्र की ओर) बहती हुई, अपने नामो एव रूपो को छोडती हुई, समुद्र मे समाहित हो जाती है, उसी प्रकार वह व्यक्ति जो अनुभूति कर लेता है (जानता है) नाम एव रूप से स्वतन्त्र होकर उस दिव्य व्यक्ति को प्राप्त करता है जो उच्चतर से उच्चतम है।" यही बात गद्य मे प्रश्नोपनिषद् (५।५) मे कही गयी है। कठोपनिषद् (४।१५) मे आया है—"जिस प्रकार शुद्ध जल शुद्ध जल मे डाल दिये जाने पर वही रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार उस ऋषि का आत्मा, जिसने तत्त्वानुभूति कर ली है, साक्षात् परमात्मा हो जाता है।" देखिए ड्यूशन का वक्तव्य (जे० बी० बी० आर० ए० एस०, सख्या १८, १८९३, २० वाँ लेख, पृ० ३३०–३४०), वे०, सू० (२।३।४३–ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मेमे कितवा उत)। यहाँ इतना ही पर्याप्त है। वेदान्त अपने सत्य रूप मे नैतिकता के लिए सर्वोच्च आश्रय है और उसका सबसे बडा आधार है, जन्म एव मरण के दुख मे सबसे बडा सन्तोष है।

(४) आध्यात्मिक एव धार्मिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति पर तीन ऋण होते है, यथा— **देव-ऋण, ऋषि ऋण एव पितृ-ऋण**। अति प्राचीन वैदिक कालो से ही यह धारणा भारतीय संस्कृति की मौलिक धारणाओ मे परिगणित रही है। प्राचीन विद्या के अध्ययन, यज्ञ-सम्पादन एव पुत्रोत्पत्ति से व्यक्ति क्रम से ऋषि-ऋण, देव-ऋण एव पितृ-ऋण से मुक्त होता है। इस विषय मे हमने इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड २, पृ० २७०, ४२५, ५६०–६१, ६७६, खण्ड ३, पृ० ४१६ मे विस्तार से पढ लिया है। इन तीन ऋणो मे महाभारत एक चौथा ऋण जोड देता है, यथा—**मनुष्य ऋण**, जो अच्छाई अर्थात् लोगो के प्रति किये गये अच्छे व्यवहारो से चुकाया जाता है। यह सिद्धान्त केवल ब्राह्मणो तक ही नही सीमित है, प्रत्युत तीनो उच्च वर्णो को तीनो ऋणो से मुक्त होना आवश्यक है (जैमिनि ६।२।३१)। तै० स० मे 'ब्राह्मण' शब्द केवल उदाहरण के लिए है, वास्तव मे सभी वर्णो के लिए तीनो ऋणो से मुक्त होना उनका महान कर्त्तव्य है।

(५) **पुरुषार्थ** की धारणा मानवीय प्रयास (मनुष्य के उद्योग) के ध्येयो अथवा लक्ष्यो की द्योतक है। पुरुषार्थ चार है,—**धर्म** (सदाचार), **अर्थ** (अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र एव नागरिक शास्त्र), **काम** (आनन्दभोग एव सौन्दर्यशास्त्र), **मोक्ष** (आत्मा द्वारा अपने वास्तविक स्वभाव की अनुभूति तथा हीन

इच्छाओ तथा ध्येयो के बन्धन से स्वतन्त्रता)। मोक्ष को **परमपुरुषार्थ** कहा गया है और अन्य तीनो को **त्रिवर्ग** की सज्ञा मिली है। धर्म की धारणा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इस पर अति प्राचीन काल से ही बल दिया गया है। यह उन सिद्धान्तो की ओर इगित करती है जिन्हे व्यक्तियो को जीवन भर तथा सामाजिक सम्बन्धो मे अपने आचरणो मे उतारना पडता है। हमने पुरुषार्थों पर विस्तार के साथ इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड २, पृ० २–११, खण्ड ३, पृ० ८–१० एव २३६–२४१ मे पढ लिया है। अत बहुत ही सक्षेप मे कुछ बाते यहाँ कही जा सकेगी। हमने इस खण्ड के आरम्भिक पृष्ठो मे देख लिया है कि ऋग्वेद मे तीन शब्द आये है, यथा—**ऋत** (जगत्सम्बन्धी व्यवस्था), **व्रत** (वे नियम या अनुशासन जो देवो द्वारा व्यवस्थित हुए है) तथा **धर्म** (धार्मिक कृत्य या यज्ञ या स्थिर सिद्धान्त)। इन तीनो मे **ऋत** शब्द लुप्त-सा हो गया (पृष्ठभूमि मे पड गया) और उसके स्थान पर **सत्य** शब्द आ गया और **धर्म** शब्द सबको स्पर्श करने वाली धारणा का द्योतक हो गया तथा **व्रत** केवल पवित्र सकल्पो एव आचार-सम्बन्धी नियमो तक सीमित रह गया। समापवर्तन के समय गुरु शिष्य से कहता था—'सत्य वद, धर्म चर' (तै० उप० १।११)। बृ० उप० (१।४।१४) ने सत्य को धर्म के बराबर माना है। ससार की अन्यतम एव भद्रतम प्रार्थनाओ मे एक है—'असत्य से सत्य की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर' (बृ० उप० १।३।२८)। इसी उपनिषद् (५।२।३) ने **दम** (आत्म-सयम), **दान** एव **दया** नामक तीन प्रधान सुकृतो अथवा गुणो का माहात्म्य गाया है। छा० उप० (५।१०) ने एक श्लोक उद्धृत किया है—'जो सोना चुराता है, जो सुरापान करता है, जो गुरु के पलग का अपमान करता है (अर्थात् गुरु-पत्नी के साथ सभोग करता है) तथा जो ब्राह्मण की हत्या करता है—वे चारो नरक मे गिरते है, और पाँचवाँ वह जो ऐसे लोगो के ससर्ग मे रहता है।' यह द्रष्टव्य है कि इस प्राचीन श्लोक मे बाइबिल मे उल्लिखित दस अनुशासनो (टेन कमाण्डमेण्ट्स) मे से कुछ पाये जाते है। उपनिषदो के काल मे धर्म की धारणा सर्वोच्च स्थान ग्रहण करने लगी। बृ० उप० (१।४।१४) मे कथित है—'धर्म से उच्च कोई अन्य नही है।' तै० आरण्यक (१०।६३) मे आया है—'धर्म सम्पूर्ण विश्व का आश्रय (आधार या शरण) है।' महाभारत एव मनु ने बार-बार धर्म के उच्च मूल्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।[९] महाभारत ने माना है कि चारो पुरुषार्थों से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु इसमे अवस्थित है, इसमे जो उनके विषय मे नही है, वह अन्यत्र नही है। उद्योगपर्व मे आया है—'यह सभी जीवो को धारण करता है अत धर्म कहलाता है।' वनपर्व एव मनु दोनो मे उद्घोषणा है—'जब धर्म का हनन (उल्लघन) होता है तो वह हननकर्ता को मार डालता है, जब इसकी रक्षा होती है तो यह मनुष्य की रक्षा

९ धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा। लोके धर्मिष्ठ प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठित तस्माद्धर्म परम वदन्ति। तै० आ० (१०।६३), महानारायणोपनिषद, धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति ना तत्क्वचित्।। आदि पर्व (६२।५३ स्वर्गारोहणपर्व ५।५०), और देखिए आदि पर्व (६२।२३), धारणाद्धर्म इत्याहुधर्मो धारयते प्रजा। उद्योग० (८९।६७, १३७।९), धर्म एवहतो धर्मो हन्ति रक्षति रक्षित। तस्माद्धर्मा न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्। मनु (८।१५)। वनपर्व (३१३।१२८) भी वही है, केवल तीसरा पाद यो है 'तस्माद्धर्म न त्यजामि, ऊर्ध्वबाहुर्विशौम्येष नचकश्चिच्छृणोति माम्। धर्मादर्थश्चकामश्चस किमर्थ न सेव्यते।। न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्म जह्याज्जीवितस्यापि हेतो। नित्यो धर्म सुखदु खेत्वनित्येजीवो नित्योहेतुरस्यत्वनित्य ।।स्वर्गारोहणपर्व (५।६२-६३)।

करता है, अत धर्म का हनन (उल्लघन) कभी नही होना चाहिए, नही तो धर्म हमें नष्ट कर देगा।' व्यास ने महाभारत का अन्त एक पवित्र प्रार्थना (या अपील) के साथ किया है—'मैं हाथ ऊपर उठा कर उच्च स्वर से कहता हूँ, किन्तु कोई नही सुनता है, धर्म से अर्थ एव काम (सभी कामनाओ) की उत्पत्ति होती है, धर्म का आश्रय क्यो नही लिया जा रहा है। धर्म का त्याग किसी वाञ्छित उद्देश्य से नही करना चाहिए, न भय से, न लोभ से और न जीवन के लिए ही इसका त्याग करना चाहिए। धर्म नित्य है, सुख एव दुख अनित्य हैं, जीवात्मा नित्य है, किन्तु वे हेतु या परिस्थितियाँ (जिनके फलस्वरूप यह कार्यशील होना है) अनित्य है।' महाभारत मे आया है कि तीन (धर्म, अर्थ एव काम) सभी के लिए है, धर्म तीनो मे श्रेष्ठ है, अर्थ बीच मे आता है और काम सबसे नीचा है, इसलिए जब इनमे से किसी का विरोध होता है तो धर्म का अनुसरण करना चाहिए और अन्य दो को छोड देना चाहिए। इससे प्रकट होता है कि अर्थ एव काम दोनो धर्म के अधीन है और तीनो (धर्म, अर्थ एव काम) आध्यात्मिक लक्ष्य (अर्थात् मोक्ष) के अधीन है। हमारे शास्त्र सबके लिए सन्यास की व्यवस्था नही देते, किन्तु उन्होने मूल्यो की एक सोपान-पद्धति निर्धारित की है। मनु (४।३ एव १५) ने व्यवस्था दी है—'व्यक्ति को अपने (लक्ष्यो) वर्ण आदि की स्थिति के अनुकूल ही आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए तथा बिना किसी की हानि किये अर्थ सग्रह करना चाहिए। किसी को अत्यधिक विषयासक्त होकर तथा शास्त्र द्वारा गर्हित कहे हुए कर्मो द्वारा धन-सग्रह नही करना चाहिए और जब उसके पास पर्याप्त धन है, तब भी ऐसा नही करना चाहिए और न पापी लोगो से धन प्राप्त करना चाहिए, तब भी नही जबकि वह बडी कष्टमय अवस्था मे पडा हुआ हो।' और देखिए आप० ध० सू० (२।८।२०।२२–२३), गौ० ध० सू० (९।४६–४७), याज्ञ० (१।११५) एव भगवद्गीता (७।११)। किन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र (१।७) मे आया है—'अर्थ तीन पुरुषार्थों मे प्रमुख है,' किन्तु कौटिल्य ने भी कहा है कि विषयो का उपभोग इस प्रकार करना चाहिए कि मनुष्य धर्म एव अर्थ के विरोध मे न पड जाय और न आनन्दरहित होकर ही जीवन यापन करना चाहिए। अनुशासन पर्व (३।१८–१९) मे आया है कि धर्म, अर्थ एव काम मानवजीवन के तीन पुरस्कार (फल) है, इनके लिए प्रयत्न करना चाहिए, किन्तु इस प्रकार कि धर्म के साथ विरोध न उपस्थित हो जाय। मनु (५।५६) ने घोषणा की है कि मास खाना, मद्य पीना एव मैथुन करना स्वय पापमय नही ह, क्योकि सभी प्राणी इनकी ओर झुके हुए ह, किन्तु इनसे दूर रहने से बडे-बडे पुण्य (उत्तम फल) प्राप्त होते हे (और इसी से शास्त्र इनकी निवृत्ति या सयम पर बल देते है)। और देखिए अरण्यकाण्ड (९।३०) एव स्वर्गारोहण (५।६२)।

आजकल जब कुछ सुधारो की चर्चा होने लगती है तो अनुदारवादी अथवा रूढिवादी या नव-विद्वेषी लोग ऐसा तर्क उपस्थित करते हे कि हमारा धर्म 'सनातन धर्म है'[१०], अत इसमे किसी

१० 'सनातन धर्म' के अत्यन्त प्राचीन प्रयोगो मे एक प्रयोग माधववर्मन के खानपुर पत्रक से है (एपि० इ०, जिल्द २७, पृ० ३१२)। इस पत्रक के सम्पादक डा० वी० वी० मिराशी का कथन है कि यह लेख लगभग छठी शती का है। 'सनातनधर्म' शब्द यो आया है 'यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहाया (य ?) श्रुतिस्मृतिविहित सनातनधर्मकर्मनिरताय आदि'। एक अन्य प्राचीन प्रयोग है ब्रह्माण्डपुराण (२।३३।३७-३८) अद्रोहश्चाप्यलोभश्च तपो भूतदया दम । ब्रह्मचर्य तथा सत्यमनुक्रोश क्षमा धृति । सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतदुदाहृतम ।। 'सनातन धर्म' शब्द 'प्राचीन प्रयोग जो अब प्रचलित न हो' के अर्थ मे आदिपर्व (१२२।१८, चित्रशाला सस्करण) मे आया तथा

प्रकार का सुधार नहीं किया जाना चाहिए। किन्तु 'सनातन धर्म' शब्दों से यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि धर्म (नियम) सदैव स्थिर रहता है और वह निर्विकार एवं नित्य है। उन शब्दों का अर्थ यही है कि हमारी संस्कृति अति प्राचीन है और इसके पीछे एक लम्बी परम्परा है, किन्तु वे यह नहीं कहते कि धर्म में परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है। वास्तव में धारणाओं, विश्वासों एवं लोकाचारों (प्रयोगों) में परिवर्तन प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल तक विविध उपायों द्वारा हुए हैं। कुछ परिवर्तनों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है। अति प्राचीन काल में वेद ही सब कुछ था, किन्तु उपनिषदों में यह धारणा परिवर्तित हो गयी, यथा—मुण्डकोपनिषद् (१।१।५) ने चारों वेदों को **अपरा विद्या** के अन्तर्गत रखा है और परब्रह्म के ज्ञान को **परा विद्या** माना है। छा० उप० (७।१।४) में चारों वेद एवं ज्ञान की अन्य शाखाएं सनत्कुमार (जिनके पास नारद शिक्षा लेने गये थे) द्वारा केवल **नाम** कही गयी है। प्रारम्भिक वैदिक काल में यज्ञों का सम्पादन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्य माना जाता था, किन्तु मुण्डकोपनिषद् ने यज्ञों को छिद्रयुक्त नौकाओं की संज्ञा दी है और उन लोगों को, जो उन्हें श्रेष्ठ कहते हैं, मूर्ख कहा है। और देखिए दृष्टिकोणों तथा मान्यताओं में अन्तर पड़ जाने के विषय में इस महाग्रन्थ के प्रस्तुत खण्ड का अध्याय २६, जहाँ अनुलोम विवाहों, कलिवर्ज्यों आदि की विस्तृत चर्चा हुई है। मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णुधर्मसूत्र, विष्णुपुराण तथा अन्य पुराणों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब धर्म लोगों के लिए अरुचिकर हो जाय तथा कष्ट उत्पन्न करे तो उसका पालन नहीं होना चाहिए, प्रत्युत उसे छोड़ देना चाहिए। शान्तिपर्व (७८।३२) में स्पष्ट रूप से आया है कि जो कभी (किसी युग में) अधर्म था वह कभी धर्म हो सकता है, धर्म एवं अधर्म दोनों काल एवं देश की सीमाओं से आबद्ध है।[11] काम को भी नहीं त्यागा गया था, जैसा कि कामसूत्र (१।४) में व्यक्त है। भरत का नाट्यशास्त्र, जो ५००० श्लोकों का विशाल ग्रन्थ है, नृत्य, संगीत, नाट्य आदि ललित कलाओं पर अति सुन्दर प्रकाश डालता है और व्यक्त करता है कि प्राचीन भारत में कामजनित कलाओं से सम्बन्धित विषयों में लोगों की कितनी अभिरुचि थी।

धर्म, अर्थ एवं काम तीन पुरुषार्थों से सम्बन्धित भारतीय विचार यह था—'अपना कर्तव्य करो, प्रलोभनों में न पड़ो, कर्तव्य के लिए कर्तव्य करो (गीता २।४७, ३।१९), दूसरे के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम अपने लिए चाहते हो (गीता ६।३२, अनुशासनपर्व ११३।८-९, शान्तिपर्व २५९।२०=२५१।१९ चित्रशाला), धन कमाओ किन्तु उससे धर्म का विरोध न हो और न किसी की हानि हो, पवित्र ब्रह्मचर्य का जीवन बिताओ और सौन्दर्य सम्बन्धी आनन्दों का उपभोग करो। तीनों पुरुषार्थों में निहित विचारों का यही निष्कर्ष है। कहीं पर प्रमुख धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में वास्तविक निराशावाद की झलक नहीं मिलती, किन्तु महाभारत में यत्र-तत्र कुछ झलक मिल जाती है। धर्मशास्त्र-ग्रन्थ जीवन को जीने योग्य ठहराते हैं जब कि सारे कर्म धर्मानुकूल होते रहें। मनु (१२।८८-८९) ने कहा है कि वेद द्वारा व्यवस्थित कर्म (आचरण या कार्य) के दो प्रकार हैं, यथा—**प्रवृत्त** एवं **निवृत्त**, जिनमें प्रथम से इस लोक में आनन्द एवं मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग प्राप्त होता है और दूसरे से **निःश्रेयस** (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, जिसमें ब्रह्म की अनुभूति के उपरान्त सभी प्रकार की अभि-

'कर्तव्य जो बहुत पहले मान लिया हो' के अर्थ में रामायण (अयोध्याकाण्ड, १९।२६, २१।४९ आदि) में प्रयुक्त हुआ है।

११ भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि। कारणाद्देशकालस्य देशकालः स ताद‍ृशः।। शान्तिपर्व (७८। ३२)।

काक्षाओ एव ईहाओ का पूर्ण अभाव हो जाता हे। अनुशासनपर्व (१४६।७६–८०) ने धर्म को **प्रवृत्ति-लक्षण** (जिसमे निरन्तर कार्यशीलता पायी जाती हे) तथा **निवृत्ति लक्षण** (जिसमे लौकिक क्रियाओ एव अभिकाक्षाओ या कामनाओ का अभाव पाया जाता है) नामक दो भागो मे बाँटा हे। जिसमे दूसरे का अनु-सरण मोक्ष के लिए किया जाता हे। अनुशासनपर्व ने कुछ व्यावहारिक एव शुभकर नियम बनाये हैं, यथा–मनुष्य को अपनी समर्थता के अनुसार सदा दान देते रहना चाहिए, सदा यज्ञ करते रहना चाहिए और समृद्धि के लिए कृत्य करते रहना चाहिए । उचित सम्पत्ति का सग्रहण करना चाहिए और इस प्रकार उचित ढग अर्थात् सचाई (ईमानदारी) से प्राप्त धन को तीन भागो मे विभाजित करना चाहिए—सगृहीत धन के एक-तिहाई से **धर्म** एव **अर्थ** की प्राप्ति करनी चाहिए, एक तिहाई का व्यय **काम** के लिए होना चाहिए (अर्थात् पवित्र काम-सम्बन्धी जीवन एव धर्मविहित अन्य आनन्दो मे लगाना चाहिए) तथा एक तिहाई को आर बढाना चाहिए। मनु (७।६६ एव १०१) ने भी इसी प्रकार के नियम राजा के लिए निर्धारित किये है। ओर देखिए अनुशासन पर्व (१४४।१०–२५)। ये व्यवस्थाएँ सामान्य जनो के लिए बनायी गयी है। रामायण ने एक प्रचलित श्लोक उद्धृत किया हे कि मनुष्य असीम दुख को भोगने के लिए नही गर्हित किया जाता, प्रत्युत यदि वह जीवित रहे, उसके पास सौ वर्षो के उपरान्त भी आनन्द आता है।[१२]

चौथा पुरुषार्थ **मोक्ष** बहुत ही कम लोगो द्वारा प्राप्त किया जाता हे। यह धनुष नहीं हे जिसे प्रत्येक व्यक्ति या कोई भी अपने कन्धे से लटका ले। यह छुरे की धार के समान बहुत ही कठिन मार्ग हे (कठोपनिषद् ३।१४), यह भक्ति मार्ग की अपेक्षा बहुत कठिन मार्ग हे (भगवद्गीता १२।५)। उपनिषदो द्वारा प्रतिपादित मोक्ष का सिद्धान्त यह है–मानव स्वभाव वास्तव मे दिव्य हे, मानव के लिए ईश्वरत्व की जानकारी प्राप्त करना तथा उससे तादात्म्य स्थापित करना सम्भव हे, यही मानव का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए, इसकी प्राप्ति अपने उद्योगो एव प्रयासो से ही सम्भव होती हे, किन्तु इसकी प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त कठिन हे, इसके लिए अहकार, स्वार्थपरता एव सासारिक विषयासक्ति से विमुख होना पडता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य कठिनाई भी है। मोक्ष सम्बन्धी धारणा विभिन्न सम्प्रदायो, यथा–न्याय, साख्य, वेदान्त आदि द्वारा विभिन्न ढगो से व्यक्त की गयी है। यहाँ तक कि स्वय वेदान्त मे मोक्ष सम्बन्धी धारणा के विषय मे विभिन्न आचार्य विभिन्न मत प्रतिपादित करते हे। कुछ ने घोषित किया हे कि मुक्ति की चार अवस्थाएँ है, यथा–**सालोक्य** (प्रभु के लोक मे स्थान), **सामीप्य** (सन्निकटता), **सारूप्य** (प्रभु का ही स्वरूप धारण करना) एव **सायुज्य** (समाहित हो जाना)।[१३] इन पर विशेष वर्णन यहाँ नही होगा।

१२ कल्याणी बत गाथेय लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नर वर्षशतादपि।।
—सुन्दरकाण्ड (३४।६)

१३ तै० स० (५।७।५।७) मे आया है—एतासामेव देवताना सायुज्यता गच्छति। किन्तु यह मोक्ष की धारणा से सर्वथा भिन्न है। सायुज्य, सारूप्य एव सलोकता शब्द ऐ० ब्रा० (२।२४) मे भी उल्लिखित हुए है। सायुज्य एव सलोकता बृ० उप० (१।३।२२) मे प्रयुक्त हुए है। सलोकता, सार्ष्टिता (वही सुख) एव सायुज्य छा० उप० (२।२०।२) मे आये है। सूतसहिता (मुक्तिखण्ड, ३।२८) ने भी मोक्ष की इन अवस्थाओ का उल्लेख किया हे। 'सायुज्य' शब्द सयुज् (एक मे सलग्न या सयुक्त) से निष्पन्न हुआ हे। 'सयुज वाजान्' (एक मे जुते अश्व) ऋ०

विभिन्न दृष्टिकोणो के अनुसार धर्म विभिन्न वर्गों मे विभाजित हुआ है। एक विभाजन के अनुसार धर्म के दो प्रकार है—**श्रौत** (वेदो पर आधृत) एव **स्मार्त** (स्मृतियो पर आधृत), एक अन्य अपेक्षाकृत अधिक व्यापक विभाजन के अनुसार धर्म के छ प्रकार है—(१) **वर्ण धर्म** (वर्णो के कर्त्तव्य एव अधिकार), (२) **आश्रम धर्म** (आश्रमो के विषय मे नियम), (३) **वर्णाश्रम धर्म** (ऐसे नियम जो किसी एक वर्ण के व्यक्ति के किसी विशिष्ट आश्रम से सम्बन्धित हो, यथा ब्राह्मण ब्रह्मचारी को पलाश दण्ड धारण करना चाहिए), (४) **नैमित्तिक गुणधर्म** (किसी पद पर आसीन व्यक्ति के लिए नियम, यथा राजा से सम्बन्धित नियम), (५) **नैमित्तिक धर्म** (किसी विशिष्ट अवसर पर किये जाने वाले कृत्यो से सम्बन्धित नियम आदि, यथा ग्रहण पर या प्रायश्चित्त सम्बन्धी) तथा (६) **सामान्य धर्म** (ऐसे कर्त्तव्य जो सबके लिए हो)। इस विवेचन से हम हिन्दू सस्कृति की एक अन्य विशेषता की ओर पहुँचते है, यथा—वर्ण एव जातियाँ।

(६) **वर्ण एव जातियाँ**। वर्णो की उत्पत्ति, विभाजन, जाति-प्रथा, चारो वर्णा के कर्त्तव्यो एव अधिकारो के विषय मे हमने विस्तार के साथ इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड २, पृ० १९–१६४ मे पढ लिया है । यह प्रदर्शित किया गया है कि 'वर्ण' शब्द (जिसका अर्थ है रग) ऋग्वेद मे आर्यो एव दासो के लिए प्रयुक्त हुआ है और **आर्य** एव **दास** एक-दूसरे के विरोधी दो पृथक् दल थे। ऋग्वेद मे **ब्राह्मण** एव **क्षत्रिय** शब्द प्रयुक्त है किन्तु 'वर्ण' शब्द स्पष्ट रूप से इनके लिए नही प्रयुक्त हुआ है। 'वैश्य' एव 'शूद्र', शब्द ऋग्वेद मे पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०।१२) को छोडकर कही भी नही आये है किन्तु वहाँ भी इनके सदर्भ मे 'वर्ण' शब्द नही प्रयुक्त हुआ है। बहुत से आधुनिक विद्वान् पुरुषसूक्त को पश्चात्कालीन क्षेपक मानते है । यह सत्य प्रतीत होता है कि पुरुषसूक्त के प्रणयन के समय समाज चार दलो मे विभक्त था, यथा—**ब्राह्मण** (विचारक, विद्वान लोग, पुरोहित), **क्षत्रिय** (शासक एव योद्धागण), **वैश्य** (साधारण लोग, जो कृषि एव शिल्प मे लगे हुए थे) एव **शूद्र** (जो भृत्य थे या दासकर्म करते थे)। इस प्रकार का विभाजन अस्वाभाविक नही है और आज भी ऐसा विभाजन बहुत से देशो मे विद्यमान है । इग्लैण्ड मे अभिजात कुटुम्ब है, मध्यम श्रेणी के लोग है तथा मिलो एव फैक्टरियो मे काम करने वाले लोग है। वे आवश्यक रूप से जन्म से ऐसे नही है, किन्तु अधिकाश मे उसी प्रकार है। हमने देख लिया है कि याज्ञवल्क्य स्मृति के काल तक ब्राह्मणो तथा अन्य वर्णो के बीच अन्तर्विवाह प्रचलित था (देखिए अध्याय २९), जिसे इसने ठीक नही समझा है और तीन उच्च वर्णो को शूद्रा से विवाह करने को मना किया है । हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नही है जो यह सिद्ध कर सके कि वैदिक युग मे चारो वर्णो के बीच अन्तर्विवाह या अन्तर्भोजन नही होता था। वाज० स० (३०।६-१३), काठक स० (१७।१३), तै० ब्रा० (३।४।२-३) मे तक्षा, रथकार, कुलाल, कर्मार, निषाद सूत आदि शिल्पकारो का उल्लेख हुआ है, किन्तु यह नही पता चल पाता कि वे इन ग्रन्थो के काल मे जातियो के रूप मे बन गये थे कि नही। अथर्ववेद (३।५।६-७) मे रथकार, कर्मार एव सूत का उल्लेख है। यह सम्भव है कि छा० उप० (५।१०।७) के काल तक चाण्डाल लोग (कुत्तो एव सूअरो की भाँति) अस्पृश्य हो गये थे और पौल्कस

(३।३०।११) मे भी प्रयुक्त है तथा 'सयुजा' (अर्थात सयुजौ) शब्द ऋ० (१।१६४।२०) मे आया है। सायण की पुरुषार्थसुधानिधि (मद्रास गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मैनस्क्रिप्ट सीरीज, श्री चन्द्रशेखरन द्वारा सम्पादित, १९५५) के मोक्ष स्कन्ध (२।२-३) मे इस प्रकार आया है—'मुक्तिर्नाना विधा प्रोक्ता सायुज्यादिप्रभेदत । तत्र सायुज्यरूपाया मुक्ते साक्षात्तु कारणम्। सम्यग्ज्ञान न कर्मोक्त नानयोश्च समुच्चय । कर्मणैव हि सिध्यन्ति पसामान्यादश्च मुक्तय ।।

लोग चाण्डाल के समान ही थे (बृ० उप० ४।३।२२)। याज्ञवल्क्य एव पराशर (दूसरी से छठी शती तक) के कालो मे ब्राह्मण जिन शूद्रो के घर मे भोजन कर सकता था वे ये हैं—अपना दास, गोरखिया (गाय चराने वाला या चरवाहा), नाई तथा अधियरा (ऐसा आसामी जो अपनी भूमि जोतता-बोता हो और आधा भाग देता हो)। वर्ण केवल चार थे पाँच नही (मनु १०।४, अनुशासनपर्व, ४८।३०)। आज तक अस्पृश्य लोगो को बहुधा लोग पञ्चम कहते हैं, जो स्मृति-प्रयोग के विरुद्ध है। वैदिक साहित्य मे 'जाति' शब्द अपने आज के अर्थ मे कदाचित् ही प्रयुक्त हुआ हो, किन्तु निरुक्त (१२।१३) एव पाणिनि (५।४।९ यथा 'ब्राह्मणजातीय' जिसका अर्थ है जो जाति से ब्राह्मण हो) मे यह शब्द आया है। कभी-कभी 'जाति' एव 'वर्ण' शब्दो मे स्मृतियो (याज्ञ० २।६९, २६०) द्वारा भेद किया गया है, किन्तु प्राचीन काल से ही 'जाति' शब्द भ्रामक रूप मे 'वर्ण' के अर्थ मे प्रयुक्त होता रहा है। मनु (१०।३१) मे 'वर्ण' शब्द का प्रयोग वर्णसकरो के अर्थ मे किया है और इसी प्रकार, उलटे रूप मे 'जाति' शब्द 'वर्ण' के अर्थ मे मनुस्मृति (८।१७७, ९।८५-८६, १०।४१) मे प्रयुक्त हुआ है।

कुछ अन्य देशो मे, य ा—फारस, रोम एव जापान मे भी एक प्रकार की जाति-प्रथा का प्रचलन था, जो समाप्त हो गया, किन्तु वह भारतीय जाति-प्रथा की जटिलता को नही प्राप्त हो सका था।

आज भारत मे सहस्रो जातियाँ एव उपजातियाँ हैं। वे किस प्रकार उत्पन्न हो गयी, यह एक अभेद्य समस्या है। शेरिंग ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स' (१८८१, जिल्द ३, पृ० २३१) मे यह प्रतिपादित किया है कि यह (ब्राह्मणो द्वारा किया गया) आविष्कार है। किस प्रकार एक इतनी विशाल प्रथा थोडे से ब्राह्मणो द्वारा लाखों व्यक्तियो के ऊपर लादी गयी, यह समझ मे नही आता, जब कि ब्राह्मणो के हाथ मे कोई शारीरिक एव राजनीतिक शक्ति नही थी ! उस पादरी महोदय के मन मे यह बात नही आयी, बडा आश्चर्य है। विशेषत ईसाई धर्म प्रचारक ऐसी ही त्रुटिपूर्ण एव भ्रामक धारणाओ को लेकर मोटे-मोटे ग्रन्थ लिख डालते थे। शेरिंग महोदय का ग्रन्थ १९ शती के तीसरे चरण मे प्रणीत हुआ था।

यह भली भाँति विदित है कि कम-से-कम ई० पू० छठी शती से आगे भारत पर पारसीको (पारसियो), काम्बोजो[१४], यूनानियो, सिथियनो (सामान्यत शक लोगो) के आक्रमण होते रहे तथा पारदो, पह्लवो, चीनो, किरातो, दरदो एव खशो का भारत मे आना जारी रहा। मनु (१०।४३-४) ने इनके तथा पौण्ड्रको, ओड्रो (उडीसावासियो), द्रविडो का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ये मूलत क्षत्रिय थे, किन्तु उपनयन ऐसे सस्कारो से विहीन होने के कारण उनका ब्राह्मणो से ससर्ग टूट गया था। मनु (१०।४५) के समय मे कुछ मिश्रित जातियाँ थी जो म्लेच्छ बोलियाँ एव आर्य भाषाएँ बोलती थी, किन्तु दस्युओ (शूद्रो) मे परिगणित थी। गौतमधर्मसूत्र (४।१४-१७), मनु (१०।५-४०), याज्ञ० (१।९०-९५) आदि ने कहा है कि विभिन्न वर्णो के पुरुषों एव नारियो के विवाहो

१४ अत्रि-स्मृति (७।२, गद्य) ने इन बाह्य जातियों एव लोगो में कुछ का उल्लेख किया है। देखिए अनुशासनपर्व (३३।२१-२३)—'शका यवन-काम्बोजा क्षत्रियजातय। वृषलत्व परिगता ब्राह्मणानां आदर्शनात् ।' एव वही (३५।१७-१८)। महाभाष्य (पाणिनि (२।४।१०) ने शक एव यवन को शूद्रों मे परिगणित किया है अशोक ने अपने प्रस्तराभिलेख स० ५ एव १३ मे योनों योनराज एव काम्बोजों का उल्लेख किया है जो उसके साम्राज्य की सीमाओं पर रहते थे। ए० एम० टी० जैक्सन ने इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (१९१०, पृ० ७७) से लिखा है—'हिन्दू सभ्यता की आकर्षक शक्ति ने, जिसने मुसलमानो एव यूरोपवासियो को छोड़ कर सभी बाह्य आक्रामकों को अपने मे खपा लिया, मध्य एशिया के खानाबदोशो (यायावर जातियो) को सभ्य बना दिया, यहाँ तक कि जगली तुर्कों के दल अत्यन्त शक्तिशाली राजपूत राजघराने के सदस्यो मे परिणत हो गये।'

एव सम्मिलनो से मिश्रित जातियो की उत्पत्ति हुई और आगे विभिन्न वर्गों एव जातियो के पुरुषो एव नारियो के विवाहो एव सम्मिलनो से विभिन्न जातियो एव उपजातियो की उद्भूति हुई। इसी को **वर्ण सकर** या केवल **सकर** कहा गया और इसी के विषय मे अर्जुन ने शका प्रकट की (गीता १।४१-४२) और इसी के विरोध मे भगवद्गीता (३।२४-२५) ने कडा आक्षेप प्रकट किया है। गौतम (धर्मसूत्र ८।३) ने कहा है कि (जातियो एव उपजातियो की) समृद्धि, (वर्णों की) रक्षा एव शुद्धता (असकरता) राजा एव विद्वान् ब्राह्मणो पर निर्भर रहती है। राजा सिरी पुलुमायी (एपि० इ०, जिल्द ८, पृ० ६०, लगभग १३० ई०) के नासिक लेख मे राजा की प्रशसा की गयी है कि उसने वर्णसकरता को रोक दिया है।

प्राचीन काल मे भी वर्णसकरता प्रकट हो गयी थी, वनपर्व (१८०।३१-३३) मे युधिष्ठिर ने कहा है—'वर्णों के अस्तव्यस्त मिश्रण के कारण किसी व्यक्ति की जाति का पता चलाना कठिन हो गया है, सभी लोग सभी प्रकार की नारियो से सन्तान उत्पन्न करते हैं, अत विज्ञ लोग चरित्र को ही प्रमुख एव वाछित वस्तु मानते हैं।' वर्णों की मौलिक योजना स्वाभाविक थी और वह उस कार्य पर आधृत थी जिसे व्यक्ति सम्पूर्ण समाज के लिए करता था। यह जन्म पर आधृत नही थी। वैदिक काल मे केवल वर्ग थे, आधुनिक अर्थ मे जातियाँ नही। मौलिक वर्ण-व्यवस्था मे उस समय के समाज के लिए एक ऐसी स्थापना थी जिसमे किसी प्रतिद्वन्द्विता-सम्बन्धी समानता की प्राप्ति का प्रयास नही था, प्रत्युत उसमे सभी दलो अथवा वर्गों की अभिरुचि अथवा स्वार्थ समान था। स्मृतियो मे भी, जब कि बहुत-सी जातियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं, अधिकारो एव सुविधाओ की अपेक्षा कर्तव्यो पर ही सबसे अधिक बल दिया जाता था, तथा उच्च नैतिक चरित्र एव व्यक्ति के प्रयास का मूल्य अधिक माना जाता था। इसी से गीता (४।१३) मे कहा गया है कि चार वर्णों की व्यवस्था गुणो (सत्त्व, रज एव तम) एव कर्मों के आधार पर की गयी है और पुन (१८।४२-४४) आया है कि मन की शान्ति (निर्मलता), आत्म-सयम, तप, शुद्धता, धैर्य (सहनशीलता), आर्जव (सरलता अथवा ऋजुता), ज्ञान (आध्यात्मिक ज्ञान), सभी प्रकारो का ज्ञान, विश्वास (या ईश्वर मे श्रद्धा)—ये सब ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म (कर्तव्य) हैं, वीरता, क्रोध (आवेश), शक्ति, स्थिरता, समर्थता, युद्ध से न भागना, दया एव शासन—ये सब क्षत्रिय के कर्तव्य हैं, कृषि, पशुपालन, व्यापार एव वाणिज्य—ये सब वैश्य के स्वाभाविक कर्तव्य हैं, सेवा के रूप का कार्य शूद्र का स्वाभाविक कर्तव्य है। गीता के इन शब्दो को हम आधुनिक सहस्रो जातियो एव उपजातियो के समर्थन में प्रयुक्त नही कर सकते। यदि जन्म को ही प्रमुख एव एक मात्र आधार माना गया होता तो गीता के शब्द (४।१३) 'जाति-कर्म विभागश' (या जन्म-कर्म) होते न कि 'गुणकर्म विभागश'। यह द्रष्टव्य है कि ब्राह्मणो के लिए जो नौ कर्म रखे गये हैं उनमे कही भी जन्म पर बल नही दिया गया है। महाभारत के काल मे कठोर जाति-व्यवस्था के विरोध मे कोई बडी क्रान्ति या उपद्रव या आलोचना अवश्य हुई होगी। महाभारत मे बहुधा वर्णों एव जातियो की ओर सकेत किया गया है (देखिए वनपर्व अध्याय १८०, विराट पर्व ५०।४-७, उद्योगपर्व २३।२६, ४०।२५-२६, शान्तिपर्व १८८।१०-१४, अनुशासन पर्व अध्याय १४३)। कुछ वचन यहाँ उद्धृत किये जा रहे है। शान्तिपर्व (१८८।१०) मे आया है—'वर्णों मे कोई वास्तविक अन्तर्भेद नही है, (क्योकि), सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म का है, क्योकि यह आरम्भ मे ब्रह्मा द्वारा सृष्ट हुआ था, और इसमे (मनुष्यो के) विभिन्न प्रकार के कर्मों के कारण वर्णों की व्यवस्था थी, शान्तिपर्व (१८९।४ एव ८) मे पुन कहा गया है—'वह व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता है जिसमे सत्यता, उदारता, विद्वेष का अभाव, क्रूरता का अभाव, लज्जा (बुरा कर्म करने पर नियन्त्रण), करुणा एव तपस्वी का जीवन पाया जाये, यदि ये लक्षण किसी शूद्र मे दिखाई पड जायें और किसी ब्राह्मण मे उनका अभाव हो तो शूद्र शूद्र नही है (उसे शूद्र नही समझा जाना चाहिए) और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नही है। मिलाइए वनपर्व (२१६।१४-१५), धम्मपद (३९३)। जिन दिनो वैष्णवो तथा अन्य लोगो मे झगडे चल रहे थे और वे अपनी

चरमावस्था को पहुँच गये थे तब भागवतपुराण (७।६।१०) मे कहा गया है कि वह चाण्डाल जो विष्णु का भक्त है उस ब्राह्मण से उत्तम है जो विष्णु का भक्त नही है। चारो वर्णो मे प्रत्येक के सदस्यो को जो कुछ विशिष्ट गुण प्राप्त होने चाहिए उनमे नैतिक गुणो को धर्मशास्त्र के ग्रन्थो मे सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। मनु (१०।-६३), याज्ञ० (१।२२) गौतमधर्मसूत्र (८।२३-२५), मत्स्यपुराण (५२।८-१०) ने सभी वर्णो के लिए आचारो एव गुणो की व्यवस्था कर दी है, यथा—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच (शुद्धता), इन्द्रिय निग्रह। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० १।२२)। विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड—२, पृ० १०-११।

ब्राह्मणो के समक्ष बडे उच्च आदर्श रख दिये गये थे। उन्हे कर्तव्य के रूप मे वेद एव वेदागो का अध्ययन करना पडता था, उन्हे यज्ञ-सम्पादन करना पडता था, दान देना पडता था और उनकी जीविका के उचित साधन केवल तीन थे—वेद एव शास्त्रो की शिक्षा देना, यज्ञो मे पौरोहित्य का कार्य करना एव धार्मिक तथा अन्य दान ग्रहण करना। वेदाध्ययन कितना कठिन कार्य था, इसका परिज्ञान इसी से हो सकता है कि एक वेद का ज्ञाता तथा कम-से-कम एक वेद को सम्पूर्ण कण्ठस्थ कर लेने वाला ब्राह्मण बडा विद्वान् गिना जाता था। मान लीजिए कोई ब्राह्मण ऋग्वेद का विद्यार्थी है तो उसे ऋग्वेद के दस सहस्र से अधिक मन्त्रो, उसके पद-पाठ, क्रमपाठ, ब्राह्मण, (सामान्यत ऐतरेय), छह वेदागो (यथा—आश्वलायन का **कल्प सूत्र**, पाणिनि का **व्याकरण** जिसमे लगभग ४००० सूत्र है, **निरुक्त** जो १२ अध्यायो मे है, **छन्द, शिक्षा एव ज्योतिष**) को कण्ठस्थ करना पडता था। छह वेदागो मे प्रथम तीन बहुत लम्बे एव गूढ (दुर्बोध) ग्रन्थ है। बिना अर्थ समझे इतने लम्बे साहित्य को स्मरण रखना पडता था। इस शती के आरम्भ मे इस प्रकार के लगभग सहस्रो ब्राह्मण थे, और आज भी इस प्रकार के सैकडो ब्राह्मण हैं। उन्हें बिना शुल्क लिये वेद का अध्यापन करना पडता था (वेदाध्यापन करने पर शुल्क-ग्रहण पाप समझा जाता था और आज भी ऐसा ही है)। शिक्षा के अन्त मे वे दिये जाने पर कुछ ग्रहण कर सकते थे। यज्ञो मे पौरोहित्य कार्य से पर्याप्त दक्षिणा मिल जाती थी। किन्तु सभी ब्राह्मण पुरोहित नही होते थे, वे यदि चाहे तो हो सकते थे, किन्तु इसके लिए विद्वत्ता अनिवार्य थी। बहुत-से ब्राह्मण श्राद्ध-कर्म मे पुरोहित होना स्वीकार नही करते (कम-से-कम मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त तीन वर्षो तक)। पाणिनि (५।२।७१) मे 'ब्राह्मणक' (वह देश या प्रान्त जहाँ ब्राह्मण आयुधजीवी होते थे) की व्युत्पत्ति बतायी है और कौटिल्य (९।२) ने भी ब्राह्मणो की सेना की चर्चा की है। ब्राह्मणो की आय का तीसरा स्रोत था योग्य सुपात्र एव पापरहित व्यक्ति से धार्मिक दानो का ग्रहण। विपत्तियो मे ब्राह्मण अन्य वृत्ति भी कर सकते थे, किन्तु इस विषय मे भी बहुत-से निषेध थे। ब्राह्मणो के समक्ष दरिद्रता का जीवन, सादा जीवन एव उच्च विचार का आदर्श था, वे धन के लोभी नही थे। उन्हे अपने और आर्य समाज के मूल्य को बढाने की आवश्यकता पर बल देना पडता था, वे प्राचीन साहित्य एव सस्कृति के अध्ययन, रक्षण, प्रसारण एव वृद्धि मे लगे रहते थे। यही उनके जीवन का प्रमुख आदर्श था। राजा, धनिक लोग, सामान्य जन भी विद्वान् ब्राह्मणो को भूमि-दान एव गृह-दान किया करते थे और इस प्रकार दान-कर्म बडा पुण्यकारक माना जाता था। देखिए इस विषय मे इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ११३। ब्राह्मण लोग शतियो से चले आये हुए इतने समृद्ध एव विशाल साहित्य के सरक्षक थे, उनसे ऐसी आशा की जाती थी कि वे नित-नव-नूतन बढते हुए साहित्य की भी रक्षा करे और उसे सम्यक् ढग से औरो मे बाँटें तथा सम्पूर्ण साहित्य का प्रचार करें। यद्यपि सभी ब्राह्मण इतने बडे आदर्श तक नही पहुँच पाते थे, किन्तु तब ब्राह्मणो की बहुत बडी सख्या इस महान् कार्य मे सलग्न थी। इन्ही लोगो के कारण सम्पूर्ण ब्राह्मण-समाज को इतना बडा माहात्म्य प्राप्त हुआ। प्राचीन एव मध्य काल मे बहुत-से लोग अपने पूर्वजो की वृत्तियाँ करते थे। मनु (८।४-८) ने राजा के पद की बडी प्रशसा की है और कहा है कि राजा मे आठ देवो (यथा—इन्द्र, अग्नि, वरुण, सूर्य, चन्द्र, कुबेर, यम एव वायु) का अस्तित्व पाया जाता है और राजा नर रूप मे महान् देवत्व का रूप है। राजा

एव सम्मिलनो से मिश्रित जातियो की उत्पत्ति हुई और आगे विभिन्न वर्गों एव जातियो के पुरुषो एव नारियो के विवाहो एव सम्मिलनो से विभिन्न जातियो एव उपजातियो की उद्भूति हुई। इसी को **वर्ण सकर** या केवल **सकर** कहा गया और इसी के विषय मे अर्जुन ने शका प्रकट की (गीता १।४१-४२) और इसी के विरोध मे भगवद्गीता (३।२४-२५) ने कडा आक्षेप प्रकट किया है। **गौतम** (धर्मसूत्र ८।३) ने कहा है कि (जातियो एव उपजातियो की) समृद्धि, (वर्णा की) रक्षा एव शुद्धता (असकरता) राजा एव विद्वान् ब्राह्मणो पर निर्भर रहती है। राजा सिरी पुलुमायी (एपि० इ०, जिल्द ८, पृ० ६०, लगभग १३० ई०) के नासिक लेख मे राजा की प्रशसा की गयी है कि उसने वर्णसकरता को रोक दिया है।

प्राचीन काल मे भी वर्णसकरता प्रकट हो गयी थी, वनपर्व (१८०।३१-३३) मे युधिष्ठिर ने कहा है—'वर्णो के अस्तव्यस्त मिश्रण के कारण किसी व्यक्ति की जाति का पता चलाना कठिन हो गया है, सभी लोग सभी प्रकार की नारियो से सन्तान उत्पन्न करते हैं, अत विज्ञ लोग चरित्र को ही प्रमुख एव वाछित वस्तु मानते हैं।' वर्णो की मौलिक योजना स्वाभाविक थी और वह उस कार्य पर आधृत थी जिसे व्यक्ति सम्पूर्ण समाज के लिए करता था। यह जन्म पर आधृत नहीं थी। वैदिक काल मे केवल वर्ग थे, आधुनिक अर्थ मे जातियाँ नही। मौलिक वर्ण-व्यवस्था मे उस समय के समाज के लिए एक ऐसी स्थापना थी जिसमे किसी प्रतिद्वन्द्विता-सम्बन्धी समानता की प्राप्ति का प्रयास नही था, प्रत्युत उसमे सभी दलो अथवा वर्गों की अभिरुचि अथवा स्वार्थ समान था। स्मृतियो मे भी, जब कि बहुत-सी जातियाँ उत्पन्न हो चुकी थी, अधिकारो एव सुविधाओ की अपेक्षा कर्तव्यो पर ही सबसे अधिक बल दिया जाता था, तथा उच्च नैतिक चरित्र एव व्यक्ति के प्रयास का मूल्य अधिक माना जाता था। इसी से गीता (४।१३) मे कहा गया है कि चार वर्णो की व्यवस्था गुणो (सत्त्व, रज एव तम) एव कर्मो के आधार पर की गयी है और पुन (१८।४२-४४) आया है कि मन की शान्ति (निर्मलता), आत्म-सयम, तप, शुद्धता, धैर्य (सहनशीलता), आर्जव (सरलता अथवा ऋजुता), ज्ञान (आध्यात्मिक ज्ञान), सभी प्रकारो का ज्ञान, विश्वास (या ईश्वर मे श्रद्धा)—ये सब ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म (कर्तव्य) हैं, वीरता, क्रोध (आवेश), शक्ति, स्थिरता, समर्थता, युद्ध से न भागना, दया एव शासन—ये सब क्षत्रिय के कर्तव्य हैं, कृषि, पशुपालन, व्यापार एव वाणिज्य—ये सब वैश्य के स्वाभाविक कर्तव्य हैं, सेवा के रूप का कार्य शूद्र का स्वाभाविक कर्तव्य है। गीता के इन शब्दो को हम आधुनिक सहस्रो जातियो एव उपजातियो के समर्थन में प्रयुक्त नही कर सकते। यदि जन्म को ही प्रमुख एव एक मात्र आधार माना गया होता तो गीता के शब्द (४।१३) 'जाति-कर्म विभागश' (या जन्म-कर्म) होते न कि 'गुणकर्म विभागश'। यह द्रष्टव्य है कि ब्राह्मणो के लिए जो नौ कर्म रखे गये है उनमे कही भी जन्म पर बल नही दिया गया है। महाभारत के काल मे कठोर जाति-व्यवस्था के विरोध मे कोई बडी क्रान्ति या उपद्रव या आलोचना अवश्य हुई होगी। महाभारत मे बहुधा वर्णो एव जातियो की ओर सकेत किया गया है (देखिए वनपर्व अध्याय १८०, विराट पर्व ५०।४-७, उद्योगपर्व २३।२६, ४०।२५-२६, शान्तिपर्व १८८।१०-१४, अनुशासन पर्व अध्याय १४३)। कुछ वचन यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं। शान्तिपर्व (१८८।१०) मे आया है—'वर्णो मे कोई वास्तविक अन्तर्भेद नही है, (क्योकि), सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म का है, क्योकि यह आरम्भ मे ब्रह्मा द्वारा सृष्ट हुआ था, और इसमे (मनुष्यो के) विभिन्न प्रकार के कर्मो के कारण वर्णो की व्यवस्था थी, शान्तिपर्व (१८९।४ एव ८) मे पुन कहा गया है—'वह व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता है जिसमे सत्यता, उदारता, विद्वेष का अभाव, क्रूरता का अभाव, लज्जा (बुरा कर्म करने पर नियन्त्रण), करुणा एव तपस्वी का जीवन पाया जाये, यदि ये लक्षण किसी शूद्र मे दिखाई पड जायँ और किसी ब्राह्मण मे उनका अभाव हो तो शूद्र शूद्र नही है (उसे शूद्र नही समझा जाना चाहिए) और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नही है। मिलाइए वनपर्व (२१६।१४-१५), धम्मपद (३९३)। जिन दिनो वैष्णवो तथा अन्य लोगो मे झगडे चल रहे थे और वे अपनी

चरमावस्था को पहुँच गये थे तब भागवतपुराण (७।६।१०) मे कहा गया है कि वह चाण्डाल जो विष्णु का भक्त है उस ब्राह्मण से उत्तम है जो विष्णु का भक्त नही है। चारो वर्णों मे प्रत्येक के सदस्यो को जो कुछ विशिष्ट गुण प्राप्त होने चाहिए उनमे नैतिक गुणो को धर्मशास्त्र के ग्रन्थो मे सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। मनु (१०।-६३), याज्ञ० (१।२२) गौतमधर्मसूत्र (८।२३-२५), मत्स्यपुराण (५२।८-१०) ने सभी वर्णों के लिए आचारो एव गुणो की व्यवस्था कर दी है, यथा—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच (शुद्धता), इन्द्रिय निग्रह। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० १।२२)। विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड—२, पृ० १०-११।

ब्राह्मणो के समक्ष बडे उच्च आदर्श रख दिये गये थे। उन्हे कर्तव्य के रूप मे वेद एव वेदागो का अध्ययन करना पडता था, उन्हे यज्ञ-सम्पादन करना पडता था, दान देना पडता था और उनकी जीविका के उचित साधन केवल तीन थे—वेद एव शास्त्रो की शिक्षा देना, यज्ञो मे पौरोहित्य का कार्य करना एव धार्मिक तथा अन्य दान ग्रहण करना। वेदाध्ययन कितना कठिन कार्य था, इसका परिज्ञान इसी से हो सकता है कि एक वेद का ज्ञाता तथा कम-से-कम एक वेद को सम्पूर्ण कण्ठस्थ कर लेने वाला ब्राह्मण बडा विद्वान् गिना जाता था। मान लीजिए कोई ब्राह्मण ऋग्वेद का विद्यार्थी है तो उसे ऋग्वेद के दस सहस्र से अधिक मन्त्रो, उसके पद-पाठ, क्रमपाठ, ब्राह्मण, (सामान्यत ऐतरेय), छह वेदागे (यथा—आश्वलायन का **कल्प सूत्र**, पाणिनि का **व्याकरण** जिसमे लगभग ४००० सूत्र हैं, **निरुक्त** जो १२ अध्यायो मे है, **छन्द, शिक्षा** एव **ज्योतिष**) को कण्ठस्थ करना पडता था। छह वेदागो मे प्रथम तीन बहुत लम्बे एव गूढ (दुर्बोध) ग्रन्थ है। बिना अर्थ समझे इतने लम्बे साहित्य को स्मरण रखना पडता था। इस शती के आरम्भ मे इस प्रकार के लगभग सहस्रो ब्राह्मण थे, और आज भी इस प्रकार के सैंकडो ब्राह्मण हैं। उन्हें बिना शुल्क लिये वेद का अध्यापन करना पडता था (वेदाध्यापन करने पर शुल्क-ग्रहण पाप समझा जाता था और आज भी ऐसा ही है)। शिक्षा के अन्त मे वे दिये जाने पर कुछ ग्रहण कर सकते थे। यज्ञो मे पौरोहित्य कार्य से पर्याप्त दक्षिणा मिल जाती थी। किन्तु सभी ब्राह्मण पुरोहित नही होते थे, वे यदि चाहे तो हो सकते थे, किन्तु इसके लिए विद्वत्ता अनिवार्य थी। बहुत-से ब्राह्मण श्राद्ध-कर्म मे पुरोहित होना स्वीकार नही करते (कम-से-कम मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त तीन वर्षो तक)। पाणिनि (५।२।७१) मे 'ब्राह्मणक' (वह देश या प्रान्त जहाँ ब्राह्मण आयुधजीवी होते थे) की व्युत्पत्ति बतायी है और कौटिल्य (६।२) ने भी ब्राह्मणो की सेना की चर्चा की है। ब्राह्मणो की आय का तीसरा स्रोत था योग्य सुपात्र एव पापरहित व्यक्ति से धार्मिक दानो का ग्रहण। विपत्तियो मे ब्राह्मण अन्य वृत्ति भी कर सकते थे, किन्तु इस विषय मे भी बहुत-से निषेध थे। ब्राह्मणो के समक्ष दरिद्रता का जीवन, सादा जीवन एव उच्च विचार का आदर्श था, वे धन के लोभी नही थे। उन्हे अपने और आर्य समाज के मूल्य को बढाने की आवश्यकता पर बल देना पडता था, वे प्राचीन साहित्य एव सस्कृति के अध्ययन, रक्षण, प्रसारण एव वृद्धि मे लगे रहते थे। यही उनके जीवन का प्रमुख आदर्श था। राजा, धनिक लोग, सामान्य जन भी विद्वान् ब्राह्मणो को भूमि-दान एव गृह-दान किया करते थे और इस प्रकार दान-कर्म बडा पुण्यकारक माना जाता था। देखिए इस विषय मे इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ११३। ब्राह्मण लोग शतियो से चले आये हुए इतने समृद्ध एव विशाल साहित्य के सरक्षक थे, उनसे ऐसी आशा की जाती थी कि वे नित-नव-नूतन बढते हुए साहित्य की भी रक्षा करे और उसे सम्यक् ढग से औरो मे बाँटे तथा सम्पूर्ण साहित्य का प्रचार करें। यद्यपि सभी ब्राह्मण इतने बडे आदर्श तक नही पहुँच पाते थे, किन्तु तब ब्राह्मणो की बहुत बडी सख्या इस महान् कार्य मे सलग्न थी। इन्ही लोगो के कारण सम्पूर्ण ब्राह्मण-समाज को इतना बडा माहात्म्य प्राप्त हुआ। प्राचीन एव मध्य काल मे बहुत-से लोग अपने पूर्वजो की वृत्तियाँ करते थे। मनु (८।४-८) ने राजा के पद की बडी प्रशसा की है और कहा है कि राजा मे आठ देवो (यथा—इन्द्र, अग्नि, वरुण, सूर्य, चन्द्र, कुबेर, यम एव वायु) का अस्तित्व पाया जाता है और राजा नर रूप मे महान् देवत्व का रूप है। राजा

का पद आनुवंशिक था। कुछ अपवादों को छोडकर ब्राह्मण कभी भी शासक नही बने । क्षत्रिय एव शूद्र अवश्य राजा बने। इसी से एक सामान्यीकरण चल पडा कि किसी दल या कुटुम्ब मे जन्म होने से उस दल-विशेष या कुटुम्ब के गुणो की प्राप्ति हो जाती है। ब्राह्मण अध्यापक थे, किन्तु वेतन नही पाते थे, बुलाये जाने पर पौरोहित्य का कार्य करते थे और दक्षिणा पाते थे, किन्तु लगातार उसके मिलने की कोई सुनिश्चितता या गारटी नही थी। ब्राह्मणो का कोई धार्मिक सगठन नही था, जैसा कि ईसाइयो में देखा जाता है, यथा—आर्कबिशप, बिशप, पुरोहित, डीकन आदि। बौद्धो एव ईसाइयो की भाँति उनके मठ नही थे। वे गृहस्थ थे, उन्हें पुत्र उत्पन्न करने पडते थे और उन्हे इस प्रकार शिक्षा देनी पडती थी कि वे भी उन्ही के समान विद्वान् हो और अपनी सस्कृति एव सभ्यता के अध्ययन, सवर्धन, रक्षण एव प्रसारण मे दत्तचित्त हो तथा अपने समाज के माहात्म्य को अक्षुण्ण रखे रहें।

किन्तु अब जाति-प्रथा एव वर्ण-व्यवस्था समाप्त-सी हो रही है। लोग नाम मात्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हैं। कानून द्वारा भी बहुत-से दोष दूर किये जा रहे हैं। किन्तु हो क्या रहा है? पुरानी जातियो के स्थान पर नयी जातियाँ न उत्पन्न हो जायें, इसका महान् डर उत्पन्न हो गया है। कही मन्त्रियों, नौकरशाही वालो, व्यावसायिक लक्षपतियो, शक्तिशाली मनुष्यों की पृथक्-पृथक् जातियाँ न बन जायें। ऐसा होने की अपेक्षा तो हमारी प्राचीन जाति-प्रथा ही अच्छी कही जायेगी। वास्तव मे, राष्ट्रीयता की भावना के उद्रेक के साथ, नि शुल्क शिक्षा तथा सार्वभौम सुविधाओ आदि के द्वारा हम जाति-प्रथा के दोषो को दूर कर सकते हैं। जनता के बीच बचपन से राष्ट्रीयता की भावना को जगाना परम आवश्यक है। पूरे राष्ट्र के लिए एक शिक्षा-विधान होना चाहिए, नि शुल्क एव अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। जातिवाद को केवल गाली देने से काम नही चलेगा, नेता लोग स्वय हीन स्वार्थवृत्तियो के ऊपर उठेंगे तभी आदर्शमय स्थिति की उत्पत्ति होगी। सार्वभौम आरम्भिक एव माध्यमिक शिक्षा, अन्तर्जातीय-विवाह तथा सस्कृति विषयक प्रमुख तत्त्वो के प्रति बद्धमूलता (यद्यपि इस विषय मे कुछ अन्तर्भेद तो रहेगा ही) से ही जातियो का विनाश हो सकता है। इसके लिए, उच्च चरित्र वाले, कर्तव्यशील एव उत्सर्ग करने की प्रवृत्ति वाले व्यक्तियो की पर्याप्त सख्या की आवश्यकता पडेगी, क्योकि ऐसे व्यक्ति ही निरपेक्ष होकर जाति-प्रथा की सडी-गली प्रवृत्तियो को दूर कर सकते हैं।

यह नहीं भूलना चाहिए कि उच्च आध्यात्मिक जीवन एव मोक्ष से शूद्र लोग वञ्चित थे। यह सत्य है कि पूर्वमीमासा ने शूद्रो के लिए वेदाध्ययन एव यज्ञ-सम्पादन वर्जित ठहरा दिया था (६।१।२६)। किन्तु उन आरम्भिक कालो मे भी ऋषि बादरि ऐसे लोगो ने प्रतिपादन किया था कि शूद्र भी वेदाध्ययन एव यज्ञ-सम्पादन कर सकते हैं (पू० मी० सू० ६।१।२७)। यह द्रष्टव्य है कि शूद्र लोग आध्यात्मिक जीवन से वञ्चित नही थे, वे महाभारत (जिसमे मोक्ष-सम्बन्धी सहस्रो श्लोक हैं) के अध्ययन से, जिसे व्यास ने दया करके नारियो एव शूद्रो के कल्याण के लिए लिखा था, जो अपने को धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र एव मोक्षशास्त्र के नाम से पुकारता है (आदिपर्व ६२।२३), जैसा कि भागवतपुराण (१।४।२५) ने उद्घोषित किया है, मोक्ष की प्राप्ति कर सकते थे। एक बात निर्णीत थी कि शूद्र वेदाध्ययन से मोक्ष प्राप्ति नही कर सकते थे। शकराचार्य (वे० सू० १।३।३८) ने व्यक्त किया है कि विदुर (आदिपर्व ६३।९६-९७ एव ११४, १०६।२४-२८, उद्योगपर्व ४१।५) एव धर्मव्याध (वनपर्व २०७) ऐसे शूद्र ब्रह्मविद्याविद् थे और ऐसा कहना असम्भव है कि वे मोक्ष प्राप्त करने के योग्य नही थे। यह द्रष्टव्य है कि वैदिक काल मे भी रथकार (जो तीन उच्च जातियो मे परिगणित नहीं था) को वैदिक अग्नि प्रतिष्ठापित करने की अनुमति थी और वह होम के लिए वैदिक मन्त्रो का पाठ कर सकता था तथा निषाद को (जो तीन उच्च वर्णों मे नही था) रुद्र के लिए वैदिक मन्त्रो के साथ इष्टि करने की अनुमति प्राप्त थी। इससे स्पष्ट है कि सूत्रो एव स्मृतियो के बहुत पहले वैदिक यज्ञो का प्रचार कुछ शूद्रो में भी था। भागवतपुराण (७।९।१०) यह मानने को सन्नद्ध है कि विष्णु भक्त जन्म से चाण्डाल, उस ब्राह्मण से जो विष्णु भक्त नही है, उत्तम है।

जाति-प्रथा के अन्तर्धान या तिरोहित हो जाने का (यह जब भी सम्भव हो सके) यह तात्पर्य नही है कि हिन्दू-धर्म मे जो कुछ है और जो कुछ सहस्रो वर्षों से पूजित एव श्लाघ्य रहा है अथवा जिसके लिए यह इतनी शतियो तक अवस्थित रहा है वह सब तिरोहित हो जायगा।

हमे अपने अध पतन के मूल मे केवल जाति-प्रथा को या इसे ही मौलिक कारण समझ कर लगातार एक ही स्वरालाप नही करते रहना चाहिए। मुसलमानो मे कोई जाति-प्रथा नही है तब भी बहुत से ऐसे मुसलमानी देश है जो अब भी पिछडे हुए है। चीन, जापान एव दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो मे हमारे देश की भाँति जाति-प्रथा नही है तथापि प्रथम दो देश आज से सौ वर्ष पूर्व पिछडे हुए थे और दक्षिण-पूर्वी एशिया के बहुत-से देश एक बहुत छोटे देश हालैण्ड के (जिसकी जन-सख्या आज भी केवल सवा करोड है) अधीन थे। सन् १८१८ ई० से जब अग्रेजो ने दक्षिण पर अपना अधिकार जमाया, लगभग १३० वर्षों तक जो भी भारत मे राजकीय शक्ति विद्यमान थी वह लगभग ६०० छोटी-छोटी रियासतो मे विभक्त थी, जिनमे क्षत्रियो एव अन्य लोगो का आधिपत्य था, उन ६०० रियासतो पर लगभग एक दर्जन से अधिक ब्राह्मणो का आधिपत्य नही था। जो कुछ भी व्यापार एव वाणिज्य था अथवा जो कुछ अग्रेजो ने भारतीयो को इस विषय में अनुमति दे रखी थी, वह पारसियो, भाटियो, बनियो मारवाडियो, जैनो एव लिगायतो तक ही सीमित था, ब्राह्मणो को व्यापार एव वाणिज्य मे कोई भाग प्राप्त न था। तिलक ऐसे ब्राह्मण राजनीतिज्ञो ने ही स्वदेशी का नारा बुलन्द किया। बगाल तथा उसके सन्निकट के अन्य भूमि-भागो को, जहाँ लार्ड कार्नवालिस द्वारा जमीन्दारी प्रथा प्रचलित की गयी थी, छोडकर सभी स्थानो मे कृषि तथा लेन-देन अधिकाशत अब्राह्मण लोगो मे पाया जाता था। शतियो तक अध पतन के गर्त मे जो हम धसते गये उसका एक प्रमुख कारण था हममे (चाहे हम उच्च हो या नीच) कुछ विशिष्ट गुणो एव विचारधाराओ का अभाव। अत अब हमे जाति-प्रथा को ही लेकर बार-बार अपने अध पतन के कारण के लिए अपने को अपराधी नही सिद्ध करते रहना चाहिए, प्रत्युत इसके दोषो को दूर करने के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए और कर्तव्य के लिए कर्तव्य करने की प्रवृत्ति, उच्च उद्योग, उच्च नैतिक चरित्र, राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता एव न्याय ऐसे सद्गुणो को अपने मे उत्पन्न करना चाहिए।

(७) **आश्रम**—हमारी सस्कृति की एक विशेषता है आश्रम-पद्धति, जो ईसा के पूर्व कई शतियो तक समाज मे विद्यमान थी। वैदिक सहिताओ या ब्राह्मणो मे 'आश्रम' शब्द नही आता। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।२१) मे 'अत्याश्रमिभ्य' शब्द आया है जिससे व्यक्त होता है कि 'आश्रम' शब्द उन दिनो प्रचलित था। एक व्यापक शब्द, जिसमें बहुत सारी बाते समन्वित होती हैं, तभी बन पाता है जब उसके अन्य सहयोगी अग कई शतियो तक प्रचलित हो गये रहते हैं। 'श्राद्ध' शब्द प्राचीन वैदिक वचनो मे नही पाया जाता, यद्यपि **पिण्डपितृयज्ञ** (अग्निहोत्री द्वारा प्रत्येक अमावास्या पर किया जाने वाला), **महापितृयज्ञ** (साकमेध नामक चातुर्मास्य कृत्य मे सम्पादित होने वाला) एव **अष्टका** कृत्य (ये सभी पितरो के सम्मान मे किये जाते हैं), आरम्भिक वैदिक साहित्य मे भली भाँति विदित थे। इसी प्रकार कुछ आश्रम निश्चित रूप से ऋग्वेद के काल मे ज्ञात थे। सूत्र साहित्य के काल के बहुत पहले से आश्रमो की सख्या चार थी, यथा—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ्य या वैखानस (गौतम ३।२), सन्यास या मौन या परिव्राज्य या प्रव्रज्या या भिक्षु (गौतम ३।२)।[15] आश्रमो का वर्णन इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड २ के पृष्ठ ३४६-

१५ गार्हस्थ्यमाचार्यकुल मौन वानप्रस्थ्यमिति। आप० ध० सू० (२।६।२१।१), शकराचार्य द्वारा वे० सू० (३।१।४७) के भाष्य मे।

३८२, ४१६-४२६, ६१६-६२६ तथा ६३०-६७५ मे विस्तार के साथ हुआ है । ऋग्वेद (६।४।८, १०।७, १२।६, १७।१५, २४।१०—सभी मे सौ वर्ष जो शीत ऋतु से द्योतित होते थे) के काल से ही मनुष्य की आयु सौ वर्षों की मानी जाती थी (ऋ० ७।१०१।६, १०।१६१।३ एव ४, यहाँ 'शरद्' शब्द का उल्लेख हुआ है)। यह कोई नही कह सकता था कि मनुष्य कब तक जीवित रहेगा, अत यह नही कहा जा सकता था कि प्रत्येक विभाग (आश्रम) २५ वर्षो का था, अत इसका यही तात्पर्य था कि यदि व्यक्ति लम्बी आयु तक जीवित रहे तो वह चारो अवस्थाओ (आश्रमो) को पार कर सकता था। 'ब्रह्मचारी' शब्द ऋ० (१०।१०६।६) एव तै० स० (६।३।१०।११) मे आया है, 'ब्रह्मचर्य' शब्द तै० स० (६।३।१०।५) एव तै० ब्रा० (३।१०।११) मे प्रयुक्त हुआ है। ऋ० (६।५३।२) मे 'गृहपति' शब्द आया है जिसका अर्थ है गृहस्थ। इन्द्र को मुनियो का मित्र कहा गया है (ऋ० ८।१७।१४) तथा यतियो के बारे मे आया है कि उन्होने इन्द्र की स्तुति की (ऋ० ८।६।१८)। कठोपनिषद् (४।१५) मे प्रयुक्त 'मुनि' शब्द सन्यासी का द्योतक है। बृ० उप० (४।४।२२) मे आया है कि परमात्मा विश्व का प्रभु है, ब्राह्मण लोग उसे वेदाध्ययन, यज्ञ-सम्पादन, दान, तप, उपवास से जानने का प्रयास करते हैं और उस ब्रह्म को जानने के उपरान्त व्यक्ति मुनि हो जाता है तथा इस अवस्था को चाहने वाला केवल भ्रमण करने वाला (सन्यासी) ही उसमे आता है (अर्थात् वही इस आश्रम मे आता है)। यहाँ पर तप करने वालो को प्रव्रज्या से पहले ही रखा गया है। और देखिए छा० उप० (२।२३।१) जहाँ धर्म की तीन शाखाओ का उल्लेख है, इन तीन शाखाओं को तीन आश्रमो की सज्ञा दी जा सकती है तथा 'जो ब्रह्म मे सुस्थिर रूप से अवस्थित है, वह अमरता प्राप्त करता है' को चौथे आश्रम का द्योतक माना जा सकता है। वानप्रस्थ्य एव सन्यास के नियमो मे बहुत समानता है, अन्तर केवल थोडी सी बातो मे ही है। बृ० उप० (२।४।१ एव ४।५।२) मे जहाँ 'प्रव्रजिष्यन' शब्द का प्रयोग 'उद्यास्यन्' (२।४।१) के लिए हुआ है, उससे प्रकट होता है कि याज्ञवल्क्य गृहस्थ होने के उपरान्त सन्यासी (परिव्राजक) हो गये। आगे चल कर कलिवर्ज्य कर्मो मे वानप्रस्थ का आश्रम भी सम्मिलित कर लिया गया। देखिए सभी प्रकार के विस्तृत अध्ययन के लिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ४२०, ४२४–४२५, ६४०–४१ तथा प्रस्तुत मूल खण्ड का पृ० १०२६–२७।

सन्यासाश्रम या यति का आश्रम अत्यन्त समादृत था, क्योकि इससे मोक्ष की प्राप्ति होती थी। इसका फल यह हुआ कि बहुत से लोग, जो इस आश्रम अर्थात् सन्यासी होने के लिए सर्वथा अयोग्य होते थे, इसमे प्रविष्ट हो जाते थे और उनमे सभी बाह्य लक्षण , यथा–गेरुआ वस्त्र धारण करना, सिर मुंडा लेना, तीन दण्ड धारण करना एव कमण्डलु धारण करना, पाये जाते थे। ऐसे लोगो की महाभारत मे भर्त्सना की गयी है (शान्ति पर्व ३०८।४७=३२०।४७ चित्रशाला सस्करण)। याज्ञ० (३।५८) मे आया है कि सन्यासी को सभी प्राणियो के लिए अच्छा होना चाहिए, शान्त रहना चाहिए, तीन दण्ड धारण करने चाहिए, कमण्डलु (जल-पात्र) रखना चाहिए और भिक्षा के लिए ही ग्राम मे प्रवेश करना चाहिए। कुछ लोगो ने 'त्रिदण्डी' को 'तीन दण्ड' धारण करने वाले के अर्थ मे लिया है, किन्तु मनु (१२।१०) एव दक्ष (७।३०) के के अनुसार त्रिदण्डी वह है जो तीन प्रकार का सयम रखता है, यथा वाणी, मन एव शरीर का सयम । सन्यासी का समाज मे बडा आदर था और यदि धर्म सम्बन्धी कोई समस्या होती थी तो केवल एक सन्यासी परिषद् का कार्य कर सकता था और उसका निर्णय उचित ठहराया जाता था। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ९६६। इतना ही नही, श्राद्ध मे भोजन करने के लिए भी यति को बुलाने पर बडा बल दिया गया है (देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ४, पृ० ३८८, ३९९)। बृहज्जातक (अध्याय १५) मे आया है कि यदि एक ही राशि मे चार या अधिक शक्तिशाली ग्रहो के योग मे विभिन्न प्रकार के सन्यासी उत्पन्न हो तो उन चार

या अधिक ग्रहो मे यदि क्रम से मगल, वुध, वृहस्पति, चन्द्र, शुक्र, शनि या सूर्य प्रबल होगे तो उस कुण्डली वाला व्यक्ति क्रम से बौद्ध, आजीवक, भिक्षु (वैदिक सन्यासी), वृद्ध (कापालिक), चरक, निर्ग्रन्थ (जैन सन्यासी) या वह सन्यासी होता है जो वन मे उत्पन्न होने वाले कन्द-मूल-फलो पर निर्वाह करता है। इससे सिद्ध होता है कि वराहमिहिर (छठी शती) के बहुत पहले मे भारत मे सन्यासियो के कई प्रकार प्रसिद्ध हो चुके थे।

वर्ण-पद्धति ने सम्पूर्ण समाज को कई दलो मे बाँट दिया था और उसका सम्बन्ध पूरे जन-समुदाय से था, किन्तु आश्रम-सिद्धान्त समाज के सदस्यो को सम्बोधित था और उनके समक्ष एव ऐसा मापदण्ड था जिसके अनुसार वे अपने जीवन को व्यवस्थित क्रम मे रख सकते थे और यह जान सकते थे कि विभिन्न लक्ष्यो के लिए किस प्रकार की तैयारियाँ करनी हैं। ड्यूशन ने अपने ग्रन्थ 'फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्स' (अग्रेजी अनुवाद, १९०६ पृ० ३६७) मे आश्रम-सिद्धान्त के विषय मे लिखा है—'मानव-समाज के इतिहास की इतनी अधिक उपलब्धि नही है कि वह इस विचार (आश्रम व्यवस्था) की उत्कृष्टता के पास आ सके (अर्थात् इसकी श्रेष्ठता को प्राप्त कर सके)।'

(८) **कर्म एव पुनर्जन्म का सिद्धान्त**—हिन्दू धर्म एव दर्शन से सम्बन्धित जितने मौलिक सिद्धान्त हैं उनमे कर्म एव पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। यह बहुत-सी बातो मे विलक्षण है, विशेषत इस बात मे कि आरम्भिक काल से ही इसका अपना विशिष्ट साहित्य निरन्तर गति से चलता एव बढता है। इस विषय मे हमने विशद रूप से गत अध्याय मे पढ लिया है। यहाँ पर कुछ और कहना आवश्यक नही है।

(९) **अहिंसा का सिद्धान्त**—इस विषय मे उपनिषदो, महाभारत, धर्मशास्त्रो एव पुराणो मे जो कुछ कहा गया है उसे हमने इस महाग्रन्थ के मूलखण्ड २, पृ० १० एव प्रस्तुत खण्ड के मूल पृ० ९४४–९४७ मे लिख दिया है। कुछ बाते सक्षेप मे यहाँ दी जा रही हैं। ऋग्वेद मे ऋतु एव यज्ञ शब्द सकडो बार प्रयुक्त हुए है। दोनो मे अन्तर इस प्रकार प्रकट किया जाता है कि 'यज्ञ' शब्द बडे सामान्य ढग से भी प्रयुक्त होता रहा है (इसके अन्तर्गत मनु ३।७० द्वारा व्यवस्थित प्रतिदिन के पाँच धार्मिक कृत्य भी सम्मिलित हैं), किन्तु ऋतु का सम्बन्ध सोमयाग ऐसे पवित्र वैदिक यज्ञो से है। पाणिनि (४।३।६८) ने दोनो को पृथक्-पृथक् उल्लिखित किया है और यही बात गीता (९।१६, अह क्रतुरह यज्ञ) में भी पायी जाती है। इन यज्ञो मे पशु की बलि होती थी, किन्तु सभी यज्ञो मे नही। क्रमश यह ऋग्वेदीय काल मे भी सोचा जाने लगा कि अग्नि की पूजा समिधा से की जा सकती है, या पके भोजन से या घृत से या वेदाध्ययन से या प्रणामो से या किसी पवित्र यज्ञ से की जा सकती है, इस विषय मे ये सभी बराबर हैं और ऐसे उपासक को (शत्रुओ से युद्ध करने के लिए) तेज चलने वाले घोडो का पुरस्कार मिलता है, गौरव मिलता है और उसे किसी प्रकार की दैवी या मानवी विपत्ति का सामना नही करना पडता है (ऋ० ८।१९।५–६)। कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थो की उक्तियाँ भी इसी प्रकार की है। ऐतरेय ब्रा० (६।९) मे आया है– 'जो पुरोडाश से यज्ञ करता है वह पशुओ के मेध (यज्ञ) के समान ही यज्ञ करता है।'[१६] तै० ब्रा० (३।९।३।३) मे आया है कि वन के यज्ञिय पशु अग्नि के चतुर्दिक घुमा दिये जाने के उपरान्त अहिंसा के विचार से छोड

१६ सर्वेषा वा एष पशूना मेधेन यजते य पुरोडाशेन यजते। ऐ० ब्रा० (६।९), पर्यग्निकृतानारण्यानुत्सृजन्त्यहिंसायै। तै० ब्रा० (३।९।३।३)।

दिये जाते हैं। डा० ए० श्विट्जर ने अपने ग्रन्थ 'इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेण्ट' (श्रीमती रसेल द्वारा अग्रेजी मे अनूदित, १९३६) मे वडे प्रयास के साथ अपनी धारणा के अनुसार 'भारतीय विचार के 'लोक एव अभावात्मक जीवन' एव ईसाई धर्म के 'लोक एव भावात्मक जीवन' में अन्तर्भेद प्रकट किया है और विषयान्तर के रूप मे टिप्पणी की है (पृ० ८०)—'अहिंसा सम्बन्धी धार्मिक अनुशासन करुणा की भावना का उद्रेक नही है, प्रत्युत यह व्यक्ति को अदूषित रखने की भावना से उत्पन्न हुआ है।' विद्वान् लेखक ने कतिपय बातो पर ध्यान नही दिया है—(१) अहिंसा के विषय मे छान्दोग्योपनिषद् एव अन्य उक्तियो मे पाये जाने वाले शौच के विषय मे एक शब्द भी नही कहा गया है। (२) किसी व्यक्ति को पीडा न देने के बारे मे जो व्यवस्था दी हुई है (छान्दोग्योपनिषद्)उसके पूर्व ही ऐसा आया है—'आत्मा मे अपनी सभी इन्द्रियो को केन्द्रित करके।' इसका तात्पर्य यह है कि जो यह जानता है और इसकी अनुभूति करता है कि सभी कुछ ब्रह्म है, उसे अन्यो को पीडा नही देनी चाहिए, क्योकि वे सभी ब्रह्म हैं, यह शौच या दूषण के आधार पर नही है। महाभारत एव स्मृतियो मे, जो उपनिषदो से बहुत दूर के ग्रन्थ नही हैं, अहिंसा एव शौच (पवित्रता) पृथक्-पृथक् रूप से सभी वर्णो के लिए अन्य कर्त्तव्यो (धर्मो) के साथ उल्लिखित हैं। गौतमधर्मसूत्र (८।२३—२४) ने सभी द्विजो के लिए आठ गुणो का उल्लेख किया है, यथा—सभी जीवो के प्रति करुणा, सहिष्णुता, विद्वेष रहितता, (अपने प्रति) अत्यधिक हानि का अभाव, पवित्र कार्य-सम्पादन, कृपणता का अभाव तथा असन्तोष का अभाव। और देखिए मत्स्यपुराण (५२।८—१०), अत्रिस्मृति (३४—४१)। मनु (५।४६=विष्णुधर्मसूत्र ५१।६६) मे व्यवस्था है—'जो जीवित प्राणियो को पिजडे मे रखना या मारना या पीडा पहुँचाना नही चाहता, वह सर्वोच्च (अनन्त) सुख पाता है।' शौच बाह्य (शारीरिक) एव आन्तरिक (मानसिक) दोनो होता है। मनु (५।१०६) ने स्पष्ट लिखा है कि जो रुपये-पैसे के विषयो मे पवित्र है वह वास्तव मे पवित्र है, किन्तु वह नही जो अपने को मिट्टी या जल से स्वच्छ करता है। यह द्रष्टव्य है कि शान्तिपर्व (१५६।४—५=१६२।४—५ चित्रशाला सस्करण) मे सत्य को दिव्य रूप दिया गया है और उसे प्राचीन धर्म एव स्वय ब्रह्म कहा गया है और पुन श्लोक ७—६ मे सत्य को तेरह रूपो मे व्यक्त किया गया है, यथा— **त्याग, समता, दम** (इन्द्रिय-सयम), **क्षमा, ह्री** (अपने कर्मो के विषय मे अभिमान प्रकट करने मे लज्जा का अनुभव करना), **अनसूया** (विद्वेष का अभाव), **दया** और अन्त में तेरहवाँ सत्य का प्रकार है **अहिंसा**।

जैन धर्म मे अहिंसा की पूर्ण शिक्षा दी गयी है और उसे कार्यान्वित किया गया है। किंतु इस विषय मे बुद्ध का विचार समन्वयवादी है। जब पशु का हनन प्रस्तुत व्यक्ति के उपयोगार्थ न किया गया हो अथवा उसके आतिथ्य के लिए न किया गया हो तो बुद्ध ऐसे मास के खा लेने मे कोई आपत्ति नही मानते थे।

(१०) **तीन मार्ग—कर्मयोग, भक्तियोग एव ज्ञानमार्ग**—इन तीन मार्गो के विषय मे हमने इस खण्ड के अध्याय २४ एव ३२ मे सविस्तार पढ लिया है। भगवद्गीता ने और आगे बढ़कर एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जिसे **निष्काम-कर्मयोग** कहा जाता है, जिसकी व्याख्या इस खण्ड के अध्याय २४ मे हो चुकी है। बिना फल की आकाक्षा किये अपने कर्त्तव्य को करते जाना ईश्वर की पूजा है।

(११) **अधिकार-भेद**—अति प्राचीन काल से इस बात की परख कर ली गयी थी कि धार्मिक उपासना एव दार्शनिक सिद्धान्तो के विषयो मे मनुष्यो के बीच विभिन्न श्रेणियाँ पायी जाती हैं। सभी लोग गूढ एव दुर्ज्ञेय आध्यात्मिक सिद्धान्तो को समझ लेने एव उपासना की उच्च प्रणालियो का अनुसरण करने मे समर्थ नही होते। देखिए इस खण्ड का अध्याय २४ एव ३२। गूढ दार्शनिक बातो को समझ लेने मे सब लोग समर्थ नही [illegible] पाते, अत उपनिषदो मे इस प्रकार की विज्ञप्तिया प्रकाशित होती रही है कि ब्रह्मज्ञान सबको

न दिया जाय और उसे गुप्त रखा जाय। देखिए इस खण्ड का अध्याय २६ एवं छान्दोग्योपनिषद् (३।११।५, इस खण्ड का अध्याय ३२), श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।२२), कठोपनिषद् (३।१७), बृह० उप० (३।२।१३, याज्ञवल्क्य एवं आर्तभाग ने ब्रह्म के विषय में सबके समक्ष विवेचन नहीं किया)। 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ ही 'गुप्त सिद्धान्त' हो गया (तै० उप० २।९ एवं ३।१०)। अन्य प्राचीन देशों में भी गूढ़ सिद्धान्तों को गुप्त रखने की परम्परा थी (देखिए सेण्ट मार्क ४।११, ३४-३५)। हठयोगप्रदीपिका (१।११) में भी इसी प्रकार की व्यवस्थाएँ पायी जाती हैं (अध्याय ३२)[१७]। आधुनिक काल में बहुत-से लेखक मूर्तिपूजकों की भर्त्सना करते हैं। इस विषय में देखिए इस खण्ड का अध्याय २४। गणेश या काली या सरस्वती या लक्ष्मी की मूर्तियों के पूजक पूजा या उत्सव के उपरान्त उन मूर्तियों को जल (नदी, तालाब, पुष्करिणी आदि) में प्रवाहित कर देते हैं। इससे स्पष्ट है कि पूजक लोग काष्ठ या मिट्टी की वस्तु की पूजा नहीं करते, प्रत्युत उनके मन में भगवान या किसी देवता के प्रति एक संवेगात्मक भावना होती है, जो उस वस्तु में कुछ समय के लिए प्रतिष्ठापित रहती है। यदि जन-साधारण में प्रश्न किया जाय तो यही उत्तर मिलेगा कि 'परमात्मा सभी स्थान में है, तुम में है, मुझ में है और काष्ठ की मूर्त्ति में है'—'हममें तुममें, खड्ग-खम्भ में, सबमें व्यापक राम' एक पुरानी कहावत है। नृसिंह पुराण (६२।५-६, अपरार्क द्वारा याज्ञ० १।१०१ की टीका में उद्धृत, पृ० १४०) में आया है कि मुनियों के अनुसार हरि की पूजा ६ प्रकार से की जा सकती है, यथा—जल में, अग्नि में, अपने हृदय में, सूर्य मण्डल में, वेदिका पर या मूर्ति में[१८]। विष्णुधर्मोत्तरपुराण को यह बात ज्ञात थी कि मूर्ति-पूजा का प्रचलन बहुत काल उपरान्त कलियुग में हुआ है (३।९३।५-७ एवं २०)। यूरोप में बहुत-से ईसाइयों के धर्म में मूर्ति-पूजा देखी जाती है[१९]। प्रस्तुत लेखक ने अपनी आँखों से देखा है कि यूरोप के बहुत-से चर्चों में मडोन्ना एवं सन्तों की मूर्तियाँ रखी रहती हैं, जिनकी पूजा की जाती है और जिनके समक्ष प्रार्थनाएँ की जाती हैं। अतः यदि यह कहा जाय कि यूरोप के बहुत से ईसाई मूर्ति-पूजक हैं, तो इसे कोई असत्य नहीं सिद्ध कर सकता। चार्वाक को छोड़ कर सभी दर्शनों को लगभग सत्य के सन्निकट समझा गया है। सभी के मिथ्या तथा किसी एक के सत्य होने की बात ही नहीं उठती।

(१२) **विशाल संस्कृत साहित्य**—भारत ने कम-से-कम तीन सहस्र वर्षों के भीतर तलस्पर्शी विशाल संस्कृत साहित्य का निर्माण किया। साहित्य के विविध रूपों का जिस प्रकार संवर्धन भारत में हुआ है, वैसा संसार के किसी भी देश में सम्भव नहीं हो सका है। जीवन का कोई भी अंश ऐसा नहीं है, जिस पर संस्कृत

१७ हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।। हठयोगप्रदीपिका (१।११)

१८ अप्स्वग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च। षट्स्वेतेषु हरेः सम्यगर्चनं मुनिभिः स्मृतम्।। अग्नौ क्रियावतां देवो योगिनां हृदये हरिः।। नृसिंहपुराण (६२।५-६)। देखिए स्मृतिचन्द्रिका (आह्निक, पृ० १९८, घर्पुरे द्वारा सम्पादित) जिसमें इसी विषय में हारीत एवं मरीचि की स्मृतियों के श्लोक उद्धृत हैं। देखिए विष्णुधर्मोत्तर पुराण (३।९३।५-७ एवं २०)।

१९ देखिए सर चार्ल्स इलियट कृत 'हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म' (खण्ड—१), जहाँ इसी प्रकार का दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है। और देखिए विलियम जेम्स कृत 'वेराइटीज आव रिलिजिएस एक्सपीरिएंस' (पृ० ५२५-५२७) एवं सर आलिवर लॉज कृत 'मैन एण्ड दि यूनिवर्स' (लण्डन, १९०८, पृ० २४६-२४७)।

मे कुछ लिखा न गया हो। यह विशाल सस्कृत साहित्य अपनी वहुत सी व्यापक एव मार्मिक प्रवृत्तियों के साथ तिब्बत, चीन, जावा आदि देशो मे चला गया था। भारत ने अपने साहित्य से मुसलमानो एव यूरोप वालो के प्रवुद्ध ससार को प्रभावित किया। भारत विश्व का गणित-गुरु हे। दशमलव-पद्धति, जिस पर आधुनिक गणित आधृत हे, भारत की देन हे। भारत की आख्यायिकाओ (प्रवन्ध-कल्पनाओ) एव वेदान्त-पद्धति ने भी मुसलमानो एव यूरोप वालो को प्रभावित किया। देखिए इस विपय मे विण्टरनित्स कृत 'सम प्राब्लेम्स आव इण्डियन लिटरेचर' (रीडरशिप लेक्चर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय, पृ० ५६-८१), जहाँ उन्होने पश्चिम के ऊपर पडे सस्कृत साहित्य के प्रभाव का मार्मिक उल्लेख किया हे। सस्कृत साहित्य का जो अध्ययन यूरोप-वासियो द्वारा १८ वी शती के अन्त मे तथा १६ वी शती मे हुआ उससे कई विज्ञानो के अध्ययन-अध्यापन की नीव पडी, यथा भाषा-शास्त्र, तुलनात्मक धर्म-विज्ञान, विचार-विज्ञान एव प्राचीन आख्यायिका-विज्ञान आदि। वेवर, मैक्समूलर, विण्टरनित्ज, कीथ, एम० कृष्णमाचारियर ऐसे विद्वानो द्वारा लिखित सस्कृत साहित्य के कतिपय इतिहास हे, जो विशाल सस्कृत साहित्य पर प्रभूत प्रकाश डालते हे। भारत ने अपने एव सारे ससार के लिए एक ऐसा विशाल साहित्य रख छोडा हे, जिसके सबसे महत्त्वपूर्ण एव उच्च भाग का प्रमुख आशय यह हे कि व्यक्ति को इन्द्रियो को सयमित करने तथा नैतिकता एव आध्यात्मिकता की उच्च से उच्च भूमिका तक पहुँचने का प्रयास कभी नही छोडना चाहिए। सस्कृत साहित्य की प्रशसा मे एच० एच० गोवेन ने अपने ग्रन्थ 'ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर' (१६३१, पृ० ८) मे जो कुछ लिखा हे उस की उक्ति पठनीय है —'भारतीय साहित्य का एक यथार्थ सत्य मूल्य (लक्ष्य) हे, जिसे काल की दूरी नष्ट नही कर सकती। पुनीतता, विविधता एव अजस्रता मे कोई भी अन्य साहित्य इसकी तुलना मे खडा नही हो सकता, यह निश्चित है कि कोई भी इससे वढ कर नही है। पवित्रता मे कोई अन्य (धार्मिक) शास्त्र, यहाँ तक कि वाइविल भी, वेद से उसकी अजस्रता (लगातार चलते जाने) या सामान्य स्वीकृति मे, तुलना नही कर सकता।' उन्होने भारतीय साहित्य की विविधता एव उसके महत्त्वपूर्ण अजस्र प्रवाह की भी विवेचना की है। परिनिष्ठित सस्कृत वाणी सर्वप्रथम कम-से-कम ई० पू० ५०० मे पुष्पित हुई। पाणिनि ने कम-से-कम अपने इन पूर्ववर्तियो के नाम लिये हे और उनके सूत्र ४।३।८७ एव ८८ स्पष्ट रूप से व्यञ्जित करते हे कि पाणिनि काल के पूर्व पर्याप्त मात्रा मे अवैदिक साहित्य समृद्ध हो गया था।

(१३) **योग**—इसके विपय मे एक लम्बा अध्याय लिखा जा चुका है। देखिए इस खण्ड का अध्याय ३२। अखिल विश्व मे योग के समान कदाचित् ही कोई अन्य मानसिक एव नैतिक अनुशासन इतने सुन्दर ढग से आलोचित और वहु विस्तृत पद्धति वाला रहा हो। मर्सिया इलियाड ने अपने ग्रन्थ 'योग, इम्मॉर्टैलिटी एड फ्रीडम' (विलियम आर० ट्रैस्क द्वारा अनूदित, १६५८, पृ० ३५६) मे लिखा हे—'योग भारतीय मन की विशिष्ट मात्रा का द्योतक है' यह आध्यात्मिक परिकल्पनाओ एव रूढिवद्ध क्रिया-सस्कार विधि की प्रतिक्रिया है।' पाश्चात्य मन, जो आर्थिक समृद्धि के आधिक्य का अनुभव कर चुका हे और आजकल के सकटो एव मानसिक सक्षोभो से आक्रान्त हे, योग एव वेदान्त ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त की ओर अधिक-से अधिक झुक रहा हे। आजकल कुल लोगो पर उन्माद-सा छा गया हे और वे योग सम्वन्धी विविध ग्रन्थो को पढा-पढा कर कुछ विलक्षणता की प्राप्ति के पीछे पड गये हे। वहुत-सी पुस्तके प्रकाशित हुई हे और होती जा रही है। इनमे से कुछ ऐसी पुस्तके हे जो सच्चे व्यक्तियो द्वारा लिखित हे, किन्तु उनमे व्यावहारिक अनुभूति, योग-सम्वन्धी व्यक्तिगत अनुभव या रहस्यवादी अनुभूति का वडा भारी अभाव पाया जाता हे। कुछ ऐसी पुस्तके हैं जो ऐसे लोगो द्वारा लिखित हे जो योग के पीछे पागल वने लोगो की भावना से लाभ उठाते

है और सस्ती ख्याति कमाते है। क्रिस्टोफर ईशरवुड द्वारा सम्पादित 'वेदान्त फार दि वेस्टर्न वर्ल्ड' (एलेन एण्ड अन्विन, लण्डन, १९४८) मे प्रसिद्ध लेखक आल्डुअस हक्सले ने रहस्यवाद एव योग की पुस्तको के बाहुल्य से लोगो को सावधान किया है (पृ० ३७६)

(१४) **दर्शन**—हमारे दर्शन के अधिकाश का केन्द्रीय विन्दु छा० उप० (६।१) मे पाया जाता है, जहाँ उद्दालक ने अपने अभिमानी पुत्र श्वेतकेतु से कहा है—'क्या तुमने उस शिक्षा के बारे मे पूछा है जिसके द्वारा व्यक्ति वह सुनता है जो सुना नही जा सकता, जिसके द्वारा वह प्रत्यक्षीकृत किया जाता है जिसका प्रत्यक्षीकरण नही हो सकता तथा वह जाना जाता है जो नही जाना जा सकता,' और जब श्वेतकेतु ने उस शिक्षा के बारे मे पूछा तो उद्दालक ने उसकी लम्बी व्याख्या की (६।१–१६) और अन्त मे इन शब्दो मे निष्कर्ष निकाला—'तत्त्वमसि' (तुम वह आत्मा हो)। भारतीय दर्शन बहुमुखी है और उसकी विविध शाखाओ मे जो ज्ञान भरा पडा है वह ससार के किसी भी प्राचीन देश मे नही पाया जाता। 'सव दर्शन सग्रह' मे अद्वैत सिद्धान्त के अतिरिक्त पन्द्रह विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त सक्षिप्त रूप से विवेचित है। मुख्य दर्शन छह है—साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमासा एव उत्तर मीमासा (या वेदान्त), जिनके विषय मे हमने प्रस्तुत खण्ड के कतिपय अध्यायो (२८–३३) मे पढ लिया है, और देख लिया है कि उनका धर्मशास्त्र से क्या सम्बन्ध है। भारतीय दर्शन के विशिष्ट रूप ये है—यह आध्यात्मिकता पर विशेष ध्यान देता है, इसे जीवन मे उतारना है न कि केवल विवेचन मात्र करना है, यह वास्तविक तत्त्व की खोज करता है, इसके लिए एक नैतिक भूमिका अनिवार्य है, सत्य की खोज के लिए तर्क का विस्तृत रूप से आश्रय लिया जाता है तथा परम्परा एव प्रमाण को स्वीकार किया जाता है। चार्वाक के अतिरिक्त सभी दर्शनो का सम्बन्ध मोक्ष (जिसके कई नाम है, यथा—मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण, अमृतत्व, नि श्रेयस, अपवर्ग) से है और सभी (चार्वाक को छोड कर) कर्म एव पुनर्जन्म मे विश्वास करते है। भारतीय दर्शन के विषय मे यहाँ पर कुछ और लिखना आवश्यक नही है।

(१५) **कलाएँ, स्थापत्य, तक्षण, चित्रकारी**—इन विषयो पर बहुत-से ग्रन्थ लिखे गये है। भारत के प्राचीन स्मारको मे जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है उनमे साँची के स्तूप, अजन्ता की गुफाओ की चित्रकारी, एलोरा का कैलास मन्दिर एव कोणार्क का मन्दिर अत्यन्त प्रभावशाली है।

कुछ पुराणो मे इन विषयो का उल्लेख हुआ है। मत्स्यपुराण (२५२।२–४) ने वास्तुशास्त्र के १८ व्याख्याताओ के नाम लिये है, यथा—भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र एव बृहस्पति। अध्याय २५३–२५७ मे प्रासादो एव भवनो के निर्माण तथा अध्याय २५८–२६३ मे देव-प्रतिमाओ के निर्माण का विवेचन है। और देखिए वायुपुराण (८।१०८, जहाँ राजधानी के निर्माण का उल्लेख है), अग्निपुराण (अध्याय ४२, १०४–१०६)। विष्णुधर्मोत्तर का तीसरा परिच्छेद **चित्रसूत्र** कहलाता है, क्योकि नृत्य प्रमुख कला है और चित्र कला उस पर आधृत है। कहा गया है कि चित्रकला सभी कलाओ मे श्रेष्ठ है (३।३३।३८), वह घर की सर्वोच्च शुभ वस्तु है तथा जो नियम चित्रकला मे प्रयुक्त होते है वे धातुओ, पाषाण एव काष्ठ की मूर्तियो के निर्माण मे भी उपयोगी होते है। (३।४३।३१–३२)। और देखिए अध्याय ३६–४३ (चित्रकला), ४४–८५ (मूर्ति-निर्माण) तथा अध्याय ८६ (गृह-निर्माण)। वराहमिहिर (५००–५५० ई०) द्वारा प्रणीत बृहत्सहिता (म० म० सुधाकर द्विवेदी द्वारा सम्पादित, १८९५) मे राजा, प्रमुख राजकुमार एव अन्य लोगो के प्रासादो, भवनो एव घरो के निर्माण का उल्लेख है। अध्याय ५२ मे देव-मन्दिरो, अध्याय ५३ मे देव-प्रतिमाओ,

अध्याय ५७ मे राम, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, शिव, बुद्ध, जिन, सूर्य, लिंग, माता देवी, यम की मूर्तियो तथा अध्याय ६८ मे पाँच प्रकार के मनुष्यो, यथा—हंस, शश, रुचक, भद्र एव मालव्य की मूर्तियो तथा उनके शारीरिक रूपो का विवेचन है। ऐसे अन्य ग्रन्थ भी है, यथा—भोज का युक्तिकल्पतरु, सोमेश्वर की अभिलषितार्थचिन्तामणि (अन्य नाम मानसोल्लास), शिल्परत्न (त्रिवेन्द्रम् सस्कृत सीरीज) एव मयमत (त्रिवेन्द्रम सस्कृत सीरीज)। भारतीय कला की अपनी विशेषताएँ है। प्राचीन चित्रकारियाँ अजन्ता की गुफाओ, ग्वालियर की बाघ-गुफाओ एव श्रीलका मे सिगिरिय की गुफाओ मे पायी जाती है। स्थानाभाव से हम भारतीय कला, विशेषत चित्रकारी एव तक्षण-शिल्प के विषय मे कुछ विशेष नही लिख सकेगे।

वास्तुकला, मूर्तिनिर्माण कला, चित्रकला आदि के विषय मे बहुत से ग्रन्थ प्रकाशित है, कुछ के नाम नीचे दिये जाते है—

(१) **ई० बी० हैवेल** कृत 'इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेटिंग (लण्डन, १९०८)।
(२) **वी० ए० स्मिथ** कृत 'हिस्ट्री आव फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन' १९११।
(३) **ए० फाउचर** कृत 'बिगनिंग्स आव बुद्धिस्ट आर्ट' (१९१७)।
(४) **आनन्द के० कुमारस्वामी** कृत 'हिस्ट्री आव इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट' (१९२७)
(५) आध के प्रमुख शासक **बालासाहब पन्त प्रतिनिधि** कृत 'एलोरा'
(६) **जेम्स फर्ग्यूसन** कृत 'हिस्ट्री आव इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर' खण्ड १ एव २, लण्डन १९१०
(७) **टी० ए० गोपीनाथ राव** कृत 'ऐलिमेण्ट्स आव् हिन्दू इकोनोग्रैफी', खण्ड १ एव २, मद्रास (१९१४, १९१६)।
(८) **डा० मिसक्रैमिश्च** कृत 'दि आर्ट आव इण्डिया' (स्कल्प्चर, पेंटिंग, आर्कीटेक्चर), लण्डन, फैडन प्रेस, १९५४।
(९) **डा० मिस क्रैम्रिश्च** 'इण्डियन स्कल्प्चर' (१९३३)।
(१०) **रेने ग्रौसेट** कृत 'दि सिविलिजेशन आव दि ईस्ट' जिल्द २ (इण्डिया)।
(११) **ए० वी० टी० अय्यर** कृत 'इण्डियन आर्कीटेक्चर', तीन खण्डो मे (मद्रास)।
(१२) **आनन्द के० कुमारस्वामी** कृत 'एलिमेण्ट्स आव बुद्धिस्ट आइकोनोग्रैफी' एव 'डास आव शिव।'
(१३) **डी० वी० तारपोरवाला एण्ड सस** द्वारा प्रकाशित 'इण्डियन आर्कीटेक्चर'।
(१४) **बेंजामिन रोलैण्ड** कृत 'दि आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर आव इडिया' (बुद्धिस्ट, हिन्दू, जैन), १९५६।
(१५) **हीनरिख जिम्मर** कृत 'मिथ्स एण्ड सिम्बल्स आव इण्डियन आट एण्ड सिविलिजेशन'।
(१६) **अल्फ्रेड नवरफ** कृत 'इम्मॉर्टल इण्डिया', १९५६।
(१७) **एच्० गोट्ज** कृत 'फाइव थाउजेण्ड इयर्स आव इण्डियन आट', १९५९।
(१८) **सर जॉन मार्शल** कृत 'बुद्धिस्ट आर्ट आव गान्धार', खण्ड १, मेम्वायर्स आव आर्क्यालॉजिकल डिपार्टमेण्ट आव पाकिस्तान, १९६०, 'टैक्सिला' तीन खण्डो मे, 'गाइड टु टैक्सिला' १९६० (चौथा सस्करण)।

दक्षिण भारत की वास्तुकला एव मूर्तिकला की अपनी विशेषताएँ है। तत्सम्बन्धी कुछ विशिष्ट ग्रन्थ ये है—**जी० जे० डुब्रेइल** कृत 'ड्रैविडियन आर्कीटेक्चर', १९१७, **सी० शिवराममूर्ति** कृत 'महाबलिपुरम्', **बी० सी० गागुली** कृत 'आर्ट आव पल्लवज।'

सगीत पर भी कुछ ग्रन्थ है, यथा—**ए० एच्० फॉक्स स्ट्रैग्वे** कृत 'म्यूजिक आव हिन्दुस्थान' (१९१४, आक्सफोर्ड), **ऐलेन डैनिलो** कृत 'नादर्न इण्डियन म्यूजिक'। खण्ड १ एव २ (लण्डन, १९४९, १९५४), **एच० ए० पोप्ले**

कृत 'दि म्यूजिक आव इण्डिया' (कलकत्ता, १९५०), ओ० गोस्वामी कृत 'दि स्टोरी, आव इण्डियन म्यूजिक (बम्बई, १९५७), जी० एच्० रानाडे कृत 'हिन्दुस्तानी म्यूज़िक एण्ड आउटलाइन आव इट्स फिजिक्स एण्ड एस्थेटिक्स' (पूना, १९५१)।

भारतीय वास्तुकला एवं मूर्तिकला-सम्बन्धी प्रतीकवाद जावा, बाली तथा इण्डोनेशिया के अन्य भू-भागों में फैला। इस विषय में बहुत-से ग्रन्थ लिखे गये हैं, यथा—पाल मुस कृत 'बराबुदोर', जी० गोरेर कृत 'बाली एण्ड ऐंग्कोर', कुआरिश वेल्स कृत 'टुअर्ड्स ऐंग्कोर' तथा डब्ल्यू० एफ्० स्टटरहीम कृत 'इण्डियन इंफ्लुएन्सेज इन बालीनीज आर्ट' (लण्डन, १९३५)।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की कुछ अन्य विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला जा सकता था, किन्तु सूची लम्बी हो चुकी है और जो कुछ कहा जा चुका है, पर्याप्त है। यह नहीं प्रदर्शित किया गया है कि किसी अन्य संस्कृति में इतनी विशेषताएँ नहीं हैं। किन्तु इतना तो कहने का अधिकार है ही कि कोई अन्य संस्कृति ऐसी नहीं है जिसमें इतनी विशेषताएँ अब भी पायी जाती हों, या अतीत में पायी गयी हों। कुछ अनुपम विशेषताएँ तो ऐसी हैं—मनुष्य निम्न कोटि के प्राणियों एवं निर्जीव पदार्थों में समाहित रहने वाले एक तत्त्व से सम्बन्धित वेदान्त की अद्भुत एवं सुन्दर धारणा, धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों में विभेद रहते हुए भी सभी युगों में महान् सहिष्णुता की भावना तथा सत्य एवं अहिंसा पर बल देना। ये अद्भुत स्थापनाएँ हैं और अन्यत्र नहीं पायी जातीं।

अध्याय ३७

भावी वृत्तियाँ

सन् १७५७ मे प्लासी के युद्ध के उपरान्त बगाल, बिहार एव उडीसा का शासन जिस पर अग्रेजो का दवाव मात्र सन् १७६५ से ही पड रहा था, सीधे अग्रेजी आधिपत्य के अन्तर्गत आ गया। सन् १८१८ मे जब बाजीराव पेशवा द्वितीय पराजित होकर वृत्तिभोगी (पेशनयाफ्ता) हो गया तो अग्रेजो का प्रभुत्व सम्पूर्ण भारत मे हो गया, केवल पजाब अभी स्वतन्त्र था, किन्तु वह भी सन् १८४५ मे अग्रेजी राज्य मे मिला लिया गया। अग्रेजो ने भारत को सन् १९४७ मे छोड दिया। इस प्रकार अग्रेजो ने भारत के अधिक भाग पर १८० वर्षो तक, पजाब को छोडकर सम्पूर्ण भारत पर लगभग १३० वर्षो तक तथा पजाब पर लगभग १०० वर्षो तक राज्य किया। इन अवधियो मे हिन्दू-समाज पर ब्रिटिश आधिपत्य का प्रभाव अत्यधिक पडा। शारीरिक, मानसिक एव नैतिक क्षेत्रो मे हिन्दू-समाज विदेशी प्रभाव से आक्रान्त हो उठा। ब्रिटिश राज्य के इन वर्षो मे जो परिवर्तन प्रकट हुए वे इसके पूर्व की कई शतियो के परिवर्तनो से कही अधिक एव कई गुने बडे थे। अग्रेजी राज्य के आगमन के साथ सम्पूर्ण भारत मे एक नये प्रकार का शासन स्थापित हुआ, पाश्चात्य ढग के न्यायालय स्थापित हुए, सभी भारतीयो पर समान रूप से एक ही प्रकार के व्यवहार (कानून) व्यवस्थित किये गये, आधुनिक व्यक्तिवादी स्वातन्त्र्य की भावना का प्रवेश हुआ, नगरो एव बडी-बडी बस्तियो मे पाश्चात्य जीवन के ढग निखरने लगे, एक ऐसी शिक्षा-व्यवस्था स्थापित हुई जिसने सभी भारतीयो को समभूमि पर रख दिया, समाचार-पत्रो, आवागमन के विकसित अच्छे साधनो, आधुनिक विज्ञान, अग्रेजी साहित्य तथा कलाओ आदि के अध्ययन आदि ने एक नये जीवन की छटा उपस्थित की।

इस अध्याय मे हम उपर्युक्त परिवर्तनो के विषय मे कुछ लिखने का उद्देश्य नही रखते। बहुत ही सक्षेप मे हम केवल उन प्रभावो की ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट करेगे जो आधुनिक विज्ञान एव नये विचारो, भारतीय लोकतान्त्रिक सविधान, धर्म निरपेक्ष राज्य की भावना, समाजवादी समाज के ढाँचे, आर्थिक योजना, विधान-निर्माण, जनसख्या की वृद्धि एव उसको रोकने के साधनो के फलस्वरूप हिन्दू समाज तथा इसके प्राचीन आदर्शो एव जीवन-मूल्यो पर पड रहे है या पड सकते है।

किन्तु उपर्युक्त विषयो पर प्रकाश डालने के पूर्व हम अति सक्षेप मे उन बातो का उल्लेख करेगे जो स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पूर्व ब्रिटिश भारत मे घटी थी। लार्ड रिपन ने सन् १८८२ मे स्थानीय शासन की नीव डाली, जिसके फलस्वरूप नगरो एव जनपदो मे क्रम से नगरपालिकाओ एव स्थानीय निकायो की स्थापना हो सकी। इस प्रकार सन् १७६५ के लगभग १२० वर्षो के उपरान्त, जब ब्रिटिश राज्य की स्थापना सर्वप्रथम भारत के अधिकाश भागो मे हो चुकी थी, अग्रेजो ने ऐसा सोचा कि शासित लोगो को अपने (अमहत्त्वपूर्ण एव हलके-फुलके) कार्यो को सँभालने का अवसर दिया जाय। तब तक ब्रिटिश लोगो की उपनिवेशवादिता अपनी चरम सीमा तक पहुच गयी थी। अग्रेज लोग भारत से कपास जैसा कच्चा माल इगलैण्ड भेजने लगे और उससे मैनचेस्टर आदि स्थानो मे वस्तुएँ तैयार करके पुन भारत मे ही खपाने लगे। अग्रेज निर्माताओ के

पक्ष मे बहुत-से कानून बनाये गये थे। अंग्रेज व्यापारी भारत मे बने रेशमी एव सूती कपडो को नही बेच सकते थे। इस प्रकार लगभग एक शती से अधिक काल तक भारत का रक्त चूसा जाता रहा और वह ससार के अत्यन्त दरिद्र देशो मे परिगणित होने लगा। दादाभाई नौरोजी ने अपने ग्रन्थ 'पावर्टी एण्ड अन्-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (लण्डन, १६०१, ६७५ पृष्ठो) मे इस विषय पर बडी योग्यता से प्रकाश डाला है। अंग्रेजो के उपनिवेशी राज्य के प्रमुख तत्त्व ये थे—पूर्ण राजनीतिक अधीनता, प्रमुख आर्थिक क्रियाशीलता विदेशियो के हाथो मे थी, भारत मे विदेशी पूजी का ही प्रयोग होता था, कुछ विषयो मे, यथा—रेलवे आदि मे भारत मे अंग्रेजी शासको द्वारा विदेशी पूंजी के लाभ एव व्याज के बारे मे प्रतिभूति (गारण्टी) थी, भारतीयो से उगाहे गये करो से ही उसका भुगतान होता था, बडे-बडे व्यवसायो की बागडोर विदेशियो के हाथो मे थी तथा उनसे केवल विदेशियो का ही लाभ होता था एव भारत की भूमि एव जनता ब्रिटेन के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए मानो एक यन्त्र थी। अत्यधिक दारिद्र्य एव क्लेश का मूल्य चुकाने के फलस्वरूप भारत को शान्ति एव राजनीतिक एकता प्राप्त हुई। स्पष्ट है, आज के भारत की बहुत-सी आर्थिक समस्याओ का मूल ब्रिटेन की भयकर उपनिवेशिक नीतियो मे ही पाया जाता है।

लगभग एक शती से अधिक काल तक भारतीय शासन की सेना अंग्रेज अधिकारियो द्वारा प्रशासित थी। बीसवी शती मे लगभग सात सहस्र अधिकारी (लेफ्टिनेण्ट, कैप्टेन, मेजर, कर्नल) थे, जिनमे एक भी भारतीय प्रथम महायुद्ध तक 'किग कमीशन' नही पा सका। फिर कुछ व्यक्ति प्रतिवर्ष इगलैण्ड मे प्रशिक्षण के लिए भेजे जाने लगे। 'इण्डियन सिविल सर्विस' (आई० सी० एस०) की परीक्षा इगलैण्ड मे होती थी, यद्यपि सन् १८६३ मे ही 'हाउस आव कामस' (इगलैण्ड की लोकसभा) ने ऐसा प्रस्तावित कर दिया था कि तत्सबधी परीक्षाएँ एक-साथ इगलैण्ड एव भारत मे हो। १६ वी शती के अन्तिम चरण मे बहुत ही थोडे लोग इस स्वर्गोत्पन्न नौकरी की परीक्षा मे बैठने के लिए इगलैण्ड जाते थे और अपने को उस योग्य सिद्ध करने मे समर्थ होते थे। कलक्टर, जनपद के न्यायाधीश, पुलिस अधीक्षक, मेडिकल आफिसर अधिकाश मे सभी ब्रिटिश थे। कालेजो मे सभी प्रोफेसर तथा यहाँ तक कि कुछ स्कूलो के हेडमास्टर भी अंग्रेज ही होते थे। स्कूलो की पुस्तके डी० पी० आई० द्वारा निर्धारित होती थी, और ऐसे उच्चाधिकारी विदेशी ही होते थे। जब अंग्रेजो ने सन् १६४७ मे भारत छोडा तो उन दिनो प्रायमरी शिक्षा भी थोडे ही बच्चो को दी जाती थी। इन बातो की ओर जो सकेत किया जा रहा है वह इसलिए कि हम लोग आपस मे एकता के साथ रहे, ऐसा न हो कि हमारे गृह-कलह से तथा पारस्परिक ईर्ष्या एव विरोधी तत्त्वो के फलस्वरूप कुछ बाह्य तत्त्व पुन शक्तिशाली हो जाये और हमारी स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचे। हमे अपने वैरी पडोसियो से सदैव सतर्क रहना है।

मोर्ले ने सन् १६०६ मे यह उद्घोषित किया कि भारत मे लोकनीतिक व्यवस्था न स्थापित की जाय और उसने मुसलमानो के लिए पृथक निर्वाचन की पद्धति निकाल कर हिन्दू-मुस्लिम के सघर्ष को आगे बढाया। किन्तु माण्टेग्यू ने मोर्ले की स्थापना का विरोध किया और ऐसा उद्घोष किया कि ब्रिटिश शासन की इच्छा है कि भारत क्रमश ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर नियमानुमोदित शासन का अनुभव करता हुआ स्वायत्त सस्थाओ का विकास करे। इसी प्रकार कई प्रकार के विरोधी एव अन्तर्विरोधी प्रयत्न चलते रहे। माण्टेग्यू द्वारा स्थापित द्वैध शासन, रौलट कानून, पजाब की अशान्ति, जनरल डायर के अत्याचार एव जलियाँवाला बाग की दुखप घटनाएँ जिनमे सरकारी आँकडो के अनुसार ३०० व्यक्ति मारे गये तथा १२०० घायल हुए, डायर को बलवश अवकाश देना तथा उसके अंग्रेज पक्षपातियो द्वारा उसको ३० सहस्र पौण्डो की भेट

आदि क्रियाएँ भारतीय स्वतन्त्रता के सग्राम की वलिवेदी पर होने वाले यज्ञो की महान् आहुतियाँ एव विरोधी घटनाएँ है।

लार्ड मेकाले ने अपने 'मिनट ऑन इण्डियन एडूकेशन' मे अग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की वकालत की। उसने लिखा है —'हमे इस समय एक ऐसे वर्ग की स्थापना करनी है, जो हमारे और उन करोडो लोगो के बीच मे, जिन पर हम शासन करते है, व्यारयाता का काम करे, यह ऐसे लोगो का वर्ग हो जो जन्म एव रग से तो भारतीय हो, किन्तु प्रवृत्ति, सम्मति, नैतिकता एव प्रज्ञा मे अग्रेजीयत रखते हो[1]। फलत सभी विषयो को इगलिश के माध्यम से पढने मे समय एव उद्योगो का व्यर्थ क्षय होता रहा, यहाँ तक कि सस्कृत भी उसी माध्यम से पढायी जाती रही है, इस प्रकार की प्रणाली के अपनाने से अध्ययन-अध्यापन मे समानुपात की स्थापना नही हो पाती थी, विज्ञान एव प्राविधिक ज्ञान का अध्ययन नाम मात्र को हो पाया और पढे-लिखे लोगो तथा अपढ लोगो के बीच एक लम्बी–चौडी खाई खुद गयी। इस प्रणाली ने पाश्चात्य सस्कृति को गौरव प्रदान कर दिया और भारतीयो को अपनी सस्कृति को पढने एव मूल्याकन करने की ओर प्रवृत्त नही किया। पढे-लिखे लोग, विशेपत अग्रेजी शिक्षा के आरम्भिक काल मे, पाश्चात्य सस्थाओ के प्रति अतिशयोक्तिपूर्ण सम्मान की भावना रखते थे और अपनी धार्मिक एव सामाजिक प्रणालियो की भर्त्सना किया करते थे।

ब्रिटिश राज्य ने भारतीय शिक्षा (विशेषत उच्च शिक्षा) मे उदासीनता प्रदर्शित की। सारे भारत के लिए सन् १८५७ मे केवल तीन विश्वविद्यालय (वम्बई, कलकत्ता, एव मद्रास) स्थापित किये गये और वे भी केवल परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालय मात्र थे। कुछ वर्षो पूर्व तक एक भारतीय दर्शन मे एम० ए० परीक्षा तो उत्तीर्ण करता था, किन्तु उसे भारतीय दर्शन नही पढाया जाता था। किन्तु इतना सब होने पर भी अग्रेजी शिक्षा की प्रणाली ने सरकार एव ईसाइयो के प्रयत्नो एव इच्छाओ के विरुद्ध परिणाम प्रस्तुत किये। ईसाई पादरियो को कुछ भी सफलता नही प्राप्त हुई, वहुत थोडे-से और वे भी हीन जाति के लोग, ईसाई वन सके। सरकार को भी यह विदित हो गया कि इगलिश साहित्य के अध्ययन से, यथा—वर्क, स्पेसर, मिल आदि की कृतियो के अध्ययन से पढे-लिखे लोगो के मन मे राष्ट्रीयता की भावना घर करने लगी, अत उन्हे अपनी अधम राजनीतिक स्थिति के विषय मे परिज्ञान होने लगा। क्रमश राजनीतिक उद्वेग उठने लगा। अग्रेजो ने लोकमान्य तिलक को 'दि फादर आव इण्डियन अन्रेस्ट' ('भारतीय अशान्ति का जनक') कहा। सन् १६२० मे तिलक का देहावसान हो गया। किन्तु अव सारा भार महात्मा गाधी की ओर झुक गया, जिन्होने राजनीतिक शक्ति एव तज्जनित स्वतन्त्रता के लिए विद्रोह करते हुए सत्याग्रह की प्रणाली अपनायी।

१ देखिए 'मिनट आन इण्डियन ऐडूकेशन' के साथ मेकाले के भाषण (जी० एम्० यग द्वारा सम्पादित, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १६५२)। पृ० ३५५-३६१ पर मिनट है। पृ० ३४६ पर निम्नलिखित वक्तव्य है 'मैने यहाँ एव अपने देश मे उन लोगो से बातें की है, जो पूर्वी भाषाओ के ज्ञाता होने के कारण प्रसिद्ध है। उनमे एक भी ऐसा नही मिला जिसने यह न स्वीकार किया हो कि किसी एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की केवल एक आलमारी मे जितनी पुस्तकें पायी जाती है वे भारत एव अरव के सम्पूर्ण साहित्य के वरावर हैं।' ऊपर दिया हुआ उद्धरण पृ० ३५६ पर है।

सन् १६१६ से १६४७ तक के भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की घटनाओं का वर्णन यहाँ अनावश्यक है। भारत के दो टुकड़े हो गये। अंग्रेज यहाँ से चले गये। धर्म के आधार पर देश का विभाजन बड़ा भयंकर सिद्ध हुआ। लाखों हिन्दू-मुस्लिम मर गये, लाखों के घर-बार लुट गये, लाखों निर्वासित हो गये, उनकी करोड़ों की सम्पत्ति लुट गयी। पारम्परिक कलह अपनी सीमा को पार कर गया। परिणामतः आज भारत एवं पाकिस्तान दो पृथक-पृथक देश हैं। भारत के लम्बे इतिहास में सत्ता परिवर्तन की यह अद्भुत घटना थी। एक लम्बे साम्राज्य को पारस्परिक परामर्श से, बिना किसी युद्ध के या बिना रक्त बहाये, छोड़ देना सम्पूर्ण संसार में एक विलक्षण एवं अभूतपूर्व घटना है। ग्रेट ब्रिटेन के राजा का सन्देश, जो वायसराय लार्ड माउण्ट-बेटन द्वारा संविधान सभा के सदस्यों के समक्ष पढ़ा गया था, बहुत ही भद्र एवं अनुकूल शब्दों में विज-ड़ित था—"अनुमोदन (मन्त्रणा) द्वारा शक्ति का हस्तान्तरण उस महान् लोकनीतिक आदर्श का परिपालन है, जिसके ऊपर ब्रिटिश एवं भारतीय जनता सर्वसो भावेन न्योछावर है।" राजा के इस सन्देश का उत्तर डा० राजेन्द्र प्रसाद ने उतनी ही सुन्दर एवं भद्र भाषा में दिया था—'जहाँ हमारी यह उपलब्धि हमारे अति महान् क्लेशों एवं बलिदानों का परिणाम है, वहीं यह संसार की शक्तियों एवं घटनाओं का परिणाम भी है, और अन्त में, जो किसी अन्य तत्त्व से किसी भी दशा में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह ब्रिटिश जाति की ऐतिहासिक परम्पराओं एवं लोकनीतिक आदर्शों का, समापन (निष्पत्ति) एवं परिपालन भी है' (देखिए, वी० पी० मेनन कृत 'ट्रांसफर आव पावर इन इण्डिया', ओरिएण्ट लागमैंस, १६५७ पृ० ४१५)।

भारतीय स्वतन्त्रता का कानून (विधान) [२] ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा पारित किया गया और १८ जुलाई १६४७ को इसे राजकीय स्वीकृति मिली। कैबिनेट मिशन (जिसमें पथिक लारेंस, स्टेफोर्ड क्रिप्स एवं ए० वी० अलेक्जैण्डर नामक तीन ब्रिटिश मंत्री, सम्मिलित थे) द्वारा एक संविधान सभा (कास्टीचुएण्ट असेम्बली) की स्थापना की गयी थी, जिसकी प्रथम बैठक दिसम्बर सन् १६४६ में हुई। इसकी अन्य बैठक अगस्त सन् १६४७ में हुई और उसमें स्वतन्त्र भारत के विधान बनाने का निर्णय लिया गया। इस सभा का कार्य दो वर्षों से अधिक काल तक चलता रहा और २६ जनवरी १६५० को इसके द्वारा पारित विधान कार्या-न्वित हुआ। इस विधान में ३६५ धाराएँ हैं और ६ परिशिष्ट हैं (१५ धाराएँ तत्क्षण कार्यान्वित हो चुकी थीं (देखिए धारा संख्या ३६४)।

स्वतन्त्रता के उपरान्त आधुनिक भारत एवं इसके नेताओं की कुछ उपलब्धियाँ अति संक्षेप में निम्नलिखित हैं। (१) एक ऐसे व्यापक लोकनीतिक विधान की उत्पत्ति, जिसके द्वारा भाषण एवं उपासना की स्वतन्त्रता तथा प्रकाशन की स्वतन्त्रता प्राप्त है, अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा है, व्यवहार (कानून) की दृष्टि में सभी बराबर हैं, स्त्रियों की स्थिति में समानता प्राप्त है और न्याय व्यवस्था को स्वाधीनता प्राप्त है, (२) अस्पृश्यता का उच्छेद (धारा १७), (३) बिना किसी प्रकार के युद्ध के भारत में राजनीतिक एकता की स्थापना, जिसमें ५०० से ऊपर भारतीय रियासतों का एकीकरण हुआ, (इन रिया-

२ देखिए 'ट्रांसफर आव पावर इन इण्डिया', परिशिष्ट संख्या ११ में १६४७ का भारतीय स्वतन्त्रता का कानून है (पृ० ५१६-५३२) और परिशिष्ट संख्या १२ में भारतीय स्वतन्त्रता की बिल पर कांग्रेस की टिप्प-णियाँ हैं जिनके साथ दिनांक जुलाई ३, १६४७ को नेहरू द्वारा किये गये सुधार भी हैं, जिन पर उन्होंने अपने हस्ताक्षर भी जड़ दिये हैं।

आदि क्रियाएँ भारतीय स्वतन्त्रता के सग्राम की बलिवेदी पर होने वाले यज्ञो की महान् आहुतियाँ एव विरोधी घटनाएँ है।

लार्ड मेकाले ने अपने 'मिनट ऑन इण्डियन एडूकेशन' मे अग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की वकालत की। उसने लिखा है —'हमे इस समय एक ऐसे वर्ग की स्थापना करनी है, जो हमारे और उन करोडो लोगो के बीच मे, जिन पर हम शासन करते है, व्याख्याता का काम करे, यह ऐसे लोगो का वर्ग हो जो जन्म एव रग से तो भारतीय हो, किन्तु प्रवृत्ति , सम्मति, नैतिकता एव प्रज्ञा मे अग्रेजीयत रखते हो'[1]। फलत सभी विषयो को इगलिश के माध्यम से पढने मे समय एव उद्योगो का व्यर्थ क्षय होता रहा, यहाँ तक कि सस्कृत भी उसी माध्यम से पढायी जाती रही है, इस प्रकार की प्रणाली के अपनाने से अध्ययन-अध्यापन मे समानुपात की स्थापना नही हो पाती थी, विज्ञान एव प्राविधिक ज्ञान का अध्ययन नाम मात्र को हो पाया और पढे-लिखे लोगो तथा अपढ लोगो के बीच एक लम्बी-चौडी खाई खुद गयी। इस प्रणाली ने पाश्चात्य सस्कृति को गौरव प्रदान कर दिया और भारतीयो को अपनी सस्कृति को पढने एव मूल्याकन करने की ओर प्रवृत्त नही किया। पढे-लिखे लोग, विशेषत अग्रेजी शिक्षा के आरम्भिक काल मे, पाश्चात्य सस्थाओ के प्रति अतिशयोक्तिपूर्ण सम्मान की भावना रखते थे और अपनी धार्मिक एव सामाजिक प्रणालियो की भर्त्सना किया करते थे।

ब्रिटिश राज्य ने भारतीय शिक्षा (विशेषत उच्च शिक्षा) मे उदासीनता प्रदर्शित की। सारे भारत के लिए सन् १८५७ मे केवल तीन विश्वविद्यालय (बम्बई, कलकत्ता, एव मद्रास) स्थापित किये गये ओर वे भी केवल परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालय मात्र थे। कुछ वर्षो पूर्व तक एक भारतीय दर्शन मे एम० ए० परीक्षा तो उत्तीर्ण करता था, किन्तु उसे भारतीय दर्शन नही पढाया जाता था। किन्तु इतना सब होने पर भी अग्रेजी शिक्षा की प्रणाली ने सरकार एव ईसाइयो के प्रयत्नो एव इच्छाओ के विरुद्ध परिणाम प्रस्तुत किये। ईसाई पादरियो को कुछ भी सफलता नही प्राप्त हुई, बहुत थोडे-से और वे भी हीन जाति के लोग, ईसाई बन सके। सरकार को भी यह विदित हो गया कि इगलिश साहित्य के अध्ययन से, यथा—बर्क, स्पेसर, मिल आदि की कृतियो के अध्ययन से पढे-लिखे लोगो के मन मे राष्ट्रीयता की भावना घर करने लगी, अत उन्हे अपनी अधम राजनीतिक स्थिति के विषय मे परिज्ञान होने लगा। क्रमश राजनीतिक उद्वेग उठने लगा। अग्रेजो ने लोकमान्य तिलक को 'दि फादर आव इण्डियन अन्रेस्ट' ('भारतीय अशान्ति का जनक') कहा। सन् १९२० मे तिलक का देहावसान हो गया । किन्तु अब सारा भार महात्मा गाधी की ओर झुक गया, जिन्होने राजनीतिक शक्ति एव तज्जनित स्वतन्त्रता के लिए विद्रोह करते हुए सत्याग्रह की प्रणाली अपनायी।

१ देखिए 'मिनट आन इण्डियन ऐडूकेशन' के साथ मेकाले के भाषण (जी० एम० यग द्वारा सम्पादित, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५२)। पृ० ३५५-३६१ पर मिनट है। पृ० ३४९ पर निम्नलिखित वक्तव्य है 'मैने यहाँ एव अपने देश मे उन लोगो से बातें की है, जो पूर्वी भाषाओ के ज्ञाता होने के कारण प्रसिद्ध है। उनमे एक भी ऐसा नहीं मिला जिसने यह न स्वीकार किया हो कि किसी एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की केवल एक आलमारी मे जितनी पुस्तकें पायी जाती है वे भारत एव अरब के सम्पूर्ण साहित्य के बराबर है।' ऊपर दिया हुआ उद्धरण पृ० ३५९ पर है ।

सन् १६१६ से १६४७ तक के भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की घटनाओं का वर्णन यहाँ अनावश्यक है। भारत के दो टुकड़े हो गये। अंग्रेज यहाँ से चले गये। धर्म के आधार पर देश का विभाजन बड़ा भयानक सिद्ध हुआ। लाखों हिन्दू-मुस्लिम मर गये, लाखों के घर-बार लुट गये, लाखों निर्वासित हो गये, उनकी करोड़ों की सम्पत्ति लुट गयी। पारस्परिक कलह अपनी सीमा को पार कर गया। परिणामतः आज भारत एवं पाकिस्तान दो पृथक्-पृथक् देश हैं। भारत के लम्बे इतिहास में सत्ता परिवर्तन की यह अद्भुत घटना थी। एक लम्बे साम्राज्य को पारस्परिक परामर्श से, बिना किसी युद्ध के या बिना रक्त बहाये, छोड़ देना सम्पूर्ण संसार में एक विलक्षण एवं अभूतपूर्व घटना है। ग्रेट ब्रिटेन के राजा का सन्देश, जो वायसराय लार्ड माउण्टबेटन द्वारा संविधान सभा के सदस्यों के समक्ष पढ़ा गया था, बहुत ही भद्र एवं अनुकूल शब्दों में विजडित था—"अनुमोदन (मन्त्रणा) द्वारा शक्ति का हस्तान्तरण उस महान् लोकनीतिक आदर्श का परिपालन है, जिसके ऊपर ब्रिटिश एवं भारतीय जनता सर्वसो भावेन न्योछावर है।" राजा के इस सन्देश का उत्तर डा० राजेन्द्र प्रसाद ने उतनी ही सुन्दर एवं भद्र भाषा में दिया था—'जहाँ हमारी यह उपलब्धि हमारे अति महान् क्लेशों एवं बलिदानों का परिणाम है, वहीं यह संसार की शक्तियों एवं घटनाओं का परिणाम भी है, और अन्त में, जो किसी अन्य तत्त्व से किसी भी दशा में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह ब्रिटिश जाति की ऐतिहासिक परम्पराओं एवं लोकनीतिक आदर्शों का, समापन (निष्पत्ति) एवं परिपालन भी है' (देखिए, वी० पी० मेनन कृत 'ट्रांस्फर आव पावर इन इण्डिया', ओरिएण्ट लांगमैंस, १६५७ पृ० ४१५)।

भारतीय स्वतन्त्रता का कानून (विधान) [२] ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा पारित किया गया और १८ जुलाई १६४७ को इसे राजकीय स्वीकृति मिली। कैबिनेट मिशन (जिसमें पेथिक लारेंस, स्टैफोर्ड क्रिप्स एवं ए० वी० अलेक्जेण्डर नामक तीन ब्रिटिश मन्त्री, सम्मिलित थे) द्वारा एक संविधान सभा (कांस्टीच्युएण्ट असेम्बली) की स्थापना की गयी थी, जिसकी प्रथम बैठक दिसम्बर सन् १६४६ में हुई। इसकी अन्य बैठक अगस्त सन् १६४७ में हुई और उसमें स्वतन्त्र भारत के विधान बनाने का निर्णय लिया गया। इस सभा का कार्य दो वर्षों से अधिक काल तक चलता रहा और २६ जनवरी १६५० को इसके द्वारा पारित विधान कार्यान्वित हुआ। इस विधान में ३६५ धाराएँ हैं और ६ परिशिष्ट हैं (१५ धाराएँ तत्क्षण कार्यान्वित हो चुकी थीं (देखिए धारा संख्या ३६४)।

स्वतन्त्रता के उपरान्त आधुनिक भारत एवं इसके नेताओं की कुछ उपलब्धियाँ अति संक्षेप में निम्नलिखित हैं। (१) एक ऐसे व्यापक लोकनीतिक विधान की उत्पत्ति, जिसके द्वारा भाषण एवं उपासना की स्वतन्त्रता तथा प्रकाशन की स्वतन्त्रता प्राप्त है, अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा है, व्यवहार (कानून) की दृष्टि में सभी बराबर हैं, स्त्रियों की स्थिति में समानता प्राप्त है और न्याय व्यवस्था को स्वाधीनता प्राप्त है, (२) अस्पृश्यता का उच्छेद (धारा १७), (३) बिना किसी प्रकार के युद्ध के भारत में राजनीतिक एकता की स्थापना, जिसमें ५०० से ऊपर भारतीय रियासतों का एकीकरण हुआ, (इन रिया-

२ देखिए 'ट्रांस्फर आव पावर इन इण्डिया', परिशिष्ट संख्या ११ में १६४७ का भारतीय स्वतन्त्रता का कानून है (पृ० ५१६-५३२) और परिशिष्ट संख्या १२ में भारतीय स्वतन्त्रता की बिल पर कांग्रेस की टिप्पणियाँ हैं जिनके साथ दिनांक जुलाई ३, १६४७ को नेहरू द्वारा किये गये सुधार भी हैं, जिन पर उन्होंने अपने हस्ताक्षर भी जड़ दिये हैं।

सतो ने भारत के क्षेत्रफल का १।३ भाग घेर रखा था, इनकी जनसख्या भारत की जनसख्या की १।४ थी, देखिए वी० पी० मेनन कृत 'स्टोरी आव दि इण्टीग्रेशन आव स्टेट्स'), (४) भारत का १५ प्रदेशो एव ६ सघीय राज्यो मे विभाजन किया गया, यह विभाजन अधिकाशत भाषा एव प्रशासन की सुविधा को दृष्टि मे रख कर किया गया, (५) वयस्क मताधिकार के आधार पर अब तक पाँच चुनाव हो चुके है, प्रत्येक व्यक्ति (पुरुष या नारी) [3] को, जो २१ वर्ष का है, विधान द्वारा या किसी कानून द्वारा जो अयोग्य नही ठहराया गया है, लोक-सभा एव प्रदेशो की विधान सभाओ के चुनाव मे मत देने का अधिकार प्राप्त है, (६) समाजवादी ढग के समाज का निर्माण अपना उद्देश्य है (धारा ३८, ३९), (७) चार पचवर्षीय योजनाएँ कार्यान्वित हो चुकी है और चौथी प्रकाशित हो रही है (परिशिष्ट स० ७, सूची ३, विषय २० के अन्तर्गत)।

सविधान के विरोध मे कुछ आलोचनाएँ की जा सकती है। पहली बात यह है कि यह बहुत बडा है, बहुविस्तृत है और बहुत-से सूत्रो एव स्रोतो मे प्राप्त व्यवस्थाओ का एक सम्मिश्रण है। इग्लैण्ड, आयरलैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशो के सविधानो से बहुत-सी व्यवस्थाएँ ले ली गयी है सन् १९३५ के भारतीय कानून की कुछ व्यवस्थाएँ भी ले ली गयी है। इनमे से कुछ बातो को छोडा जा सकता था और सामान्य व्यवहारो द्वारा उन्हे कार्यान्वित किया जा सकता था। विस्तृत होने पर भी इसमे बहुत-सी बाते छूट गयी है। राजनीतिक दलो, व्यावसायिक निगमो, धर्मो एव राज्य के सम्बन्ध के विषय मे कोई स्पष्ट बात नही कही गयी है। हमारी परम्पराओ से हमारे सविधान का कोई सम्बन्ध नही है। धर्मसूत्र एव स्मृतियाँ वर्णो एव आश्रमो के धर्मो (कर्त्तव्यो) से आरम्भित होती है। स्वय प्रथम प्रधानमत्री स्व० प० जवाहरलाल नेहरू ने 'आजाद मेमोरिएल लेक्चर्स', 'इण्डिया टु-डे एव टुमारो' (१९५९, पृ० ४५) मे कहा है—'हम सभी आज अधिकारो एव स्वत्वो के विषय मे बात करते है और उनकी माँग करते है, किन्तु प्राचीन धर्म की शिक्षा कर्त्तव्यो एव उपकारो के विषय मे थी। अधिकार तो किये गये कर्तव्यो का अनुसरण करते है।' अभाग्यवश हमारे सविधान मे इस विचार का अभाव है।

भारत के जीवन मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है जनता द्वारा शक्ति की प्राप्ति, जो न केवल राजनीतिक है, प्रत्युत वह सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक एव नैतिक भी है। सविधान ने जन-साधारण मे एक भावना का उद्रेक कर दिया है कि उन्हे मानो केवल अधिकार प्राप्त है और कर्त्तव्यो मे उनका कोई सम्बन्ध नही है और वे अपने घरो एव चाय-काफी की दुकानो मे बैठकर जो भावनाएँ बनाते है, अर्थात अपने अधिकारो का जो चित्र खीचते है, उन्हे कानून का रूप मिलना चाहिए, उन्हे कानून की शक्ति प्राप्त होनी चाहिए और होना चाहिए उन विषयो मे पूर्ण न्याय।

भारतीय सविधान मे देश के प्रति या लोगो के प्रति पालनीय कर्त्तव्यो के विषय मे कोई अध्याय नही है। १९वी धारा ने सात प्रकार की स्वतन्त्रताओ का उल्लेख किया है, जिनमे एक है सघो का निर्माण। उपधारा (४) ने राज्यो को लोक व्यवस्था या नैतिकता के हित मे लोगो पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए कानून बनाने की छूट दी है। सविधान बनाने वाले यह बात भूल गये कि कभी ऐसा

३ प्रथम महायुद्ध तक ग्रेट ब्रिटेन मे नारियो को मताधिकार नही प्राप्त था और आज तक भी स्विटजरलैण्ड मे नारियो को यह अधिकार नही प्राप्त हो सका है (देखिए ज्यार्ज सोलोवेय-चिक कृत 'स्विटजर लैण्ड इन पर्स्पेक्टिव', पृ० ३१, सन् १९५४ मे प्रकाशित)।

समय उपस्थित हो सकता है जब देश का सारा कार्य ही ठप्प हो जाये। ऐसा होते होते बचा भी। रेलवे, डाक एव तार विभाग की जो देश व्यापी हडताल हुई, उससे लोगो की आँखे खुल गयीं। सभा के निर्माण तथा हडताल पर रोक लगाने की बात पर उदाहरण के लिए एक प्रयोग के रूप मे सविधान-निर्माताओ को सोचना चाहिए था।

एक अन्य आलोचना यह है कि इसमे अब तक बहुत-से सुधार हो चुके है। सन् १९५० से अब तक कम-से-कम २८ सुधार हो चुके है, जबकि सयुक्त राज्य अमेरिका मे १७० वर्षो के भीतर केवल २२ सुधार किये गये है। प्रथम सुधार डेढ वर्ष के भीतर ही किया गया, जिसके फलस्वरूप लगभग १२ धाराओ पर प्रभाव पडा, जिनमे तीन तो ऐसी है जो मौलिक अधिकारो से सम्बन्धित है, यथा—१५, १९ एव ३१। लगभग ढाई वर्षो तक सविधान के निर्माण के विषय मे विचार-विनिमय होता रहा तब भी डेढ वर्ष के भीतर ही मौलिक अधिकारो के विषय मे परिवर्तन करना पडा! इससे तो 'मौलिक अधिकार' शब्दो का अर्थ समझने मे गडबडी उत्पन्न हो सकती है। ३१वी धारा मे जो सुधार हुआ है उसके अनुसार यदि किसी की सम्पत्ति अनिवार्य रूप से ले ली जाय तो उसकी क्षति-पूर्ति के विषय मे वह किसी न्यायालय मे दावा नही कर सकता। यह व्यक्तिगत सम्पत्ति पर एक गम्भीर आक्रमण है और इसमे अपहरण एव स्वेच्छाचारिता की गन्ध मिलती है। लोकसभा मे निर्दिष्ट सख्या (कोरम) ५० की है, यदि ५० सदस्य उपस्थित हो और उनमे, मान लीजिये, २६ सदस्य यह तय कर दे कि किसी व्यक्ति की कतिपय सम्पत्तियो की अनिवार्य प्राप्ति के लिए निश्चित धन निर्धारित किया जाये जो सम्भवत बहुत ही कम हो, तो उस व्यक्ति को न्याय का आश्रय लेने का अधिकार नही है।

एक अन्य आलोचना है कि विश्वविद्यालयो को सूची स० २ (परिशिष्ट ७, राज्य सूची स० ११) मे रख दिया गया है, जबकि उन्हे समवर्ती (कॉन्-करेण्ट) सूची मे रखना चाहिए था। श्रम-सम्बन्धी व्यावसायिक एव प्राविधिक (विशेष कला या विज्ञान-सम्बन्धी) प्रशिक्षण को कॉन-करेण्ट सूची (स० २५) मे रखा गया है। क्या विश्वविद्यालयी शिक्षा श्रम-प्रशिक्षण के समान सारे देश के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है? केवल ६२ से ६६ (सूची स० १, केन्द्रीय सूची) तक के विषय केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय एव शान्ति निकेतन को क्यो केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत रखा गया है? क्या अन्य विश्वविद्यालय समवर्ती (कॉन-करेण्ट) सूची मे नही रखे जा सकते थे?

आठवे परिशिष्ट मे भारत की चौदह भाषाओ को राष्ट्रीय भाषा कहा गया है, किन्तु धारा ३४३ (१) मे हिन्दी को सघ की भाषा घोषित किया गया है और धारा ३४३ की उपधारा २ मे अग्रेजी को १५ वर्षो तक सहगामिनी भाषा के रूप मे स्वीकार किया गया है और उपधारा ३ मे ऐसी व्यवस्था है कि सन् १९६५ के उपरान्त भी लोकसभा-अग्रेजी को उस रूप मे रख सकती है।[४] भारत की राष्ट्र-भाषा की समस्या का अभी शान्तिमय समाधान नही प्राप्त हो सका है। सभी प्रबुद्ध नागरिको मे राष्ट्रीय एकता की भावना एव आदर्श भरने के लिए एक बडे पैमाने पर कार्यक्रम निर्धारित किया जाना चाहिए। उस कार्यक्रम

४ पाठको को ज्ञात है कि सन् १९६४-६५ मे हिन्दी के प्रश्न को लेकर दक्षिण मे बडे पैमाने पर उपद्रव खडे किये गये। द्रविड मुनेत्र कजगम नामक राजनीतिक दल के लोगो ने राजनीतिक चालें चली, जन-साधारण को उभाडा, जुलूस निकाले, बसें, ट्रकें एव रेलगाडियाँ जला डाली। इतना ही नहीं, ३-४ व्यक्तियो ने बहकावे मे आकर अपने को जला भी डाला। इस प्रकार हिन्दी राष्ट्र-भाषा को लेकर धन-जन की हानि हुई। इन राजनीतिक

मे भारत के अतीत, हमारी समान अभिरुचियो, समान भविष्य, संस्कृत मे पाये जाने वाले ज्ञान एवं विचार के तत्त्वों, क्षेत्रीय भाषाओ तथा युगो से चली आयी सहिष्णुता की भावना का समावेश होना चाहिए। आरम्भिक पाठशालाओ से ही भारत की सांस्कृतिक एकता मे सम्बन्धित मौलिक बातो का अध्ययन-अध्यापन आरम्भ कर देना चाहिए, जिससे बच्चो मे राष्ट्रीयता की भावना का उद्रेक हो। प्रत्येक नागरिक के मन मे ऐसी धारणा बँध जानी चाहिए कि हम सदा से एक देश के नागरिक रहे है, विदेशियो ने सदा से इस देश को एक माना है, हम सभी सदा से भारत के विशाल ज्ञान एवं आध्यात्मिक संस्कृति के अधिकारी रहे है, हमे इस संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन मे प्राण-प्रण से लग जाना चाहिए। यह कार्य १४ वर्षों तक निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा द्वारा सम्पादित किया जा सकता है।

संविधान ने सातवे परिशिष्ट मे जो विषय रखे है और उनका संघ, राज्य एवं समवर्ती (कॉन-करेण्ट) सूचियो मे जिस प्रकार विभाजन हुआ है, वह त्रुटिपूर्ण है। उदाहरणार्थ, मादक पेय पदार्थों का उत्पा उत्पादन, निर्माण, प्राप्ति, क्रय एवं विक्रय राज्य की सूची मे है (राज्य सूची, सूची—२ मे आठवाँ विषय)। इसका परिणाम यह हुआ है कि कुछ राज्यो मे मादक पेय पदार्थों पर प्रतिबन्ध है तो कही पूर्ण छूट है। इससे हमारे चरित्र पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। कही-कही धन-वृद्धि के लिए प्रतिबन्ध हटा लिये गये है। ऐसी स्थिति अशोभनीय है। चाहिए तो यह था कि इसे हम संघ की सूची मे रखते और देश के नागरिको के चरित्र-निर्माण के लिए आवश्यक नियम-प्रतिबन्ध बनाते।

उपर्युक्त बातो से प्रकट होता है कि हमारा संविधान जो दो वर्षों के सुविचार से निर्मित हुआ और जिसके निर्माण मे दिग्गज बुद्धिशाली लोगो का साहाय्य प्राप्त था, कई बातो मे असंतोषप्रद है।

हमारा जनतन्त्र लोकनीतिक है। लिंकन ने लोकनीति की जो परिभाषा की है, वह अत्यन्त प्रसिद्ध है, यथा—'वह शासन जो लोक का है, लोक द्वारा होता है तथा लोक के लिए होता है। ये तीनो बाते, यथा लोक (जनता या प्रजा या देशवासियो) का शासन, लोक (जनता या प्रजा या देशवासियो) द्वारा शासन तथा लोक (जनता या प्रजा या देशवासियो) के लिए शासन, एक सम्यक् लोकनीति मे पायी जाती है। यूनान के नगर-राज्यो मे सभी वयस्क नागरिक (उन दासो को छोड कर जो नागरिको मे कहीं अधिक थे) एक स्थान पर एकत्र हो सकते थे, वाद-विवाद मे भाग ले सकते थे तथा विधि-विधान के निर्माण मे सक्रिय सहयोग दे सकते थे। किन्तु यह बात वहाँ असम्भव है जहाँ एक विशाल देश मे करोडो मतदाता नागरिक फैले हो। अतः लिंकन महोदय की परिभाषा के एक अंश पर पानी फिर गया। करोडो व्यक्ति अपने पर शासन नहीं कर सकते, यह एक असम्भावना है। वे केवल कुछ लोगो को अपने शासक के रूप मे चुन सकते है। प्राचीन काल मे जब सत्ता राजा के हाथ मे रहती थी तो राजा उत्तराधिकार के द्वारा या विजय के द्वारा या विरोधियो के मुण्ड (सिर) फोड कर शासक हो पाता था। किन्तु लोकनीति मे शासक या शासक लोग मुण्ड गिनकर चुना जाता है या चुने जाते है। डा० राधाकृष्णन् ने अपने ग्रन्थ 'कल्किन् ऑर दि फ्यूचर आव सिविलिजेशन' (चौथा संस्करण, १९५६) मे लिखा है—'वास्तव मे, लोकनीति कार्यरूप मे किसी देश को उसके

उपद्रवो के कारण अंग्रेजी को सहगामिनी भाषा के रूप मे अनिश्चित काल के लिए मान लिया गया है। दक्षिण के कुछ मन फिरे लोगो की भाँति बंगाल के कुछ लोगो ने भी उपद्रव किये थे, किन्तु अब संविधान मे सुधार हो जाने से उपद्रव मे नर्मी आ गयी है (रूपान्तरकार)।

योग्यतम व्यक्तियो द्वारा शासित होने का अवसर बहुत कम देती है। जो थोडे-से विचारवान् होते है उन पर विशाल जनता के मत छा जाते है। हमे मानव-व्यापारो को चलाने के लिए बैलट बाक्स की नाटगी से अपेक्षाकृत कोई अधिक अच्छा ढग अपनाने का प्रयास करना चाहिए' (पृ० २०-२२)। रेने गुइनान ने अपने ग्रन्थ 'क्राइसिस आव दि माडर्न वर्ल्ड' (आर्थर आस्बॉर्न द्वारा अनूदित, लण्डन, १९३२) मे लिखा है—'कानून का निर्माण बहुमत द्वारा परिकल्पित किया गया है, किन्तु जिस बात पर लोग ध्यान नही देते वह यह है कि यह मत (अर्थात् बहुत मे लोगो का मत) बडी सरलता से प्राप्त किया जाता है या परिमार्जित हो सकता है, अर्थात् मत को हम बना सकते है। बहुमत मे अधिकतर अयोग्य लोग होते है और उनकी सख्या उन लोगो की अपेक्षा बहुत होती है, जो विषय के पूर्ण ज्ञान के उपरान्त ही अपनी सम्मति दे सकते है (पृ० १०८)।

उपर्युक्त शब्द यूरोप के उन देशो के विषय मे है जहाँ पर कई दशाब्दियो से पढे-लिखे (साक्षर) लोगो की सख्या एक प्रकार से शत-प्रतिशत है। लोकतन्त्रीय व्यवस्था का तात्पर्य है कि मतदाता विभिन्न दलो की नीतियो एव कार्यक्रमो से भली भाँति परिचित है और उन्ही के अनुसार मतदान करते है। यह व्यवस्था पहले से ही मान लेती है कि देश मे शिक्षा है, नागरिक लोग बुद्धिमान् है, वे विधि-विधानो का सम्मान करते है, उनमे सहिष्णुता है, कम-से-कम अपने देशवासियो के प्रति उनमे भ्रातृ-भाव पाया जाता है और समाज मे अधिक या कम एकरूपता पायी जाती है। किन्तु जब, जैसा कि आज के भारत मे पाया जाता है, अधिक सख्या मे लोग अपढ होते है तो स्थिति भयकर हो उठती है। अच्छे दिनो की आशा मे हमे आज की स्थिति को सह लेना चाहिए, यद्यपि बहुत-से विदेशी अपनी असहिष्णुता का प्रदर्शन कर हमारी लोकनीतिक व्यवस्था की खिल्ली उडाते है।[५] सन् १९६१ की जन-सख्या के आँकडो से प्रतीत होता है कि सन् १९५१ मे पढे-लिखो की जन-सख्या, जो १६ ६% थी अब वह २३ ७% हो गयी है। डीन इज ने अपने ग्रन्थ 'क्रिश्चियन एथिक्स' (१९३०) मे उस इगलैण्ड की राजनीति के विषय मे टिप्पणी की है, जहाँ के मतदाता अधिकाशत साक्षर है—'हमारी राजनीति इतनी भ्रष्टाचार-सकुल है कि बहुत-से लोग तानाशाही का स्वागत करेगे।' ब्लेयर वॉलेस ने अपने ग्रन्थ 'कॉरप्शन इन वाशिगटन' (गोलाज, लण्डन, १९६०) मे लिखा है कि सयुक्त राज्य अमेरिका की स्थिति विलक्षण है, वहाँ पर ईमानदार अथवा सच्चा व्यक्ति जिसके हाथ मे शक्ति है वह अपने को भयकर नैतिक सकीर्णावस्था मे पाता है, एक ओर उसके समक्ष जनता के प्रति उत्तरदायित्व है और उसे ईमानदारी बरतनी है तो दूसरी ओर उसे अपने मित्रो एव सहयोगियो के प्रति वफादारी (विश्वासभाजनता) प्रदर्शित करनी है। हमारे देश की दशा के विषय मे न-कुछ कहना ही उचित है। हमारे मन्त्रियो एव राज्यकर्मचारियो के समक्ष उसी प्रकार की विषम अवस्थाएँ है, विशेषत जब कि परमिटो एव लाइसेसो को बाँटने के लिए बहुत-से नियम एव व्यवस्थाएँ विद्यमान है।

राज्य-नीति के सूचक सिद्धान्त (अथवा तत्त्व) धारा ३७ से ५१ मे लिखित है और धारा ३७ मे ऐसी व्यवस्था है कि उनका कार्यान्वय किसी न्यायाधिकरण द्वारा नही होना चाहिए, किन्तु वे देश के शासन मे मौलिक है। धारा ४५ मे ऐसा व्यवस्थित है कि राज्य सविधान लागू हो जाने के दस वर्षो के भीतर १४ वर्ष की अवस्था

५. ए० कोयेस्टलर ने अपने ग्रन्थ 'लोटस एण्ड रॉबॉट' (लण्डन, १९६०) मे लिखा है 'भारत मे डेमॉक्रेसी (लोकनीति) केवल नाम की है, इसे बापूक्रेसी (बापूवाद) कहना अधिक ठीक होगा' (पृ० १५६)। लेखक महोदय खिल्ली उडाते हुए बापू (महात्मा गान्धी) के प्रभाव की ओर सकेत करते है, क्योकि आरम्भिक दिनो मे लोग कांग्रेस को न कह कर गाधी जी को वोट देते थे।

तक के बच्चा के लिए नि शुल्क एव अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा। आज १५ वर्षो से अधिक की अवधि समाप्त हो गयी और ऐसी व्यवस्था को गन्ध नही मिल पा रही हे। दो-एक राज्यो मे कन्याओ के विषय मे नि शुल्क शिक्षा की व्यवस्था हुई हे, किन्तु अनिवार्य शिक्षा अभी खटाई मे पडी हुइ हे। चौथी पचवर्षीय योजना चल रही हे, इसके पूर्व तीन पचवर्षीय योजनाएँ कार्यान्वित हुई, जिनमे अरबो की धन-राशि स्वाहा हो गयी, आगे पाँचवी पचवर्षीय योजना लागू होने जा रही है, किन्तु शिक्षा को अभी वह महत्त्व नही प्राप्त हो पा रहा है जो इसके लिए उपादेय है। अभी ११ वर्ष तक के लिए नि शुल्क एव अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था नही हो पा रही है, १४ वर्ष तक की बात तो अभी बहुत दूर हे। पचवर्षीय योजनाओ मे अनुमान से अधिक धन-राशि लग रही है, जिससे शिक्षा-सम्बन्धी प्रतिवचन की पूर्ति नही हो पाती। जब धन-राशि की कमी की पूर्ति नही हो पाती तो सर्वप्रथम शिक्षा-योजना की ही हत्या की जाती हे। दु ख की बात हे कि स्वतन्त्रता के उपरान्त भी उस जनता की शिक्षा की समुचित व्यवस्था नही हो पा रही हे जो मत देने वाली हे और परोक्ष रूप मे शासक होने वाली हे। देखे, हमारे योजना-नायक इस महान् कमी की पूर्ति कब कर पाते ह।

यह द्रष्टव्य हे कि राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त (या तत्त्व) जनता के जीवन-स्तर को ऊपर उठाने के लिए आर्थिक प्रणाली मे कतिपय व्यवस्थाएँ उपस्थित करने की बाते उठाते ह (देखिए धारा ४३, ४७ आदि), अर्थात् लोगो के भौतिक पदार्थो एव उपादानो पर बहुत अधिक बल दिया गया ह। लगता हे कि भौतिक उन्नति एव समृद्धि के उपरान्त राज्य को और कुछ नही सम्पादित करना हे। क्या ही अच्छा हुआ होता यदि उसी प्रकार नैतिक एव आध्यात्मिक मूल्यो की प्राप्ति के लिए भी बल दिया गया होता। सविधान में ऐसा लिखित होना चाहिए था कि राज्य को लोगो मे उच्च नैतिकता, आत्म-सयम, सहकारिता, उत्तरदायित्व-वहन, करुणा एव उच्च प्रयास करने की भावनाओ के विकास के लिए साधन एकत्र करने चाहिए। मानव कई पक्षो वाला प्राणी हे। केवल भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति ही पर्याप्त नही हे। मनुष्य मे बौद्धिक, आध्यात्मिक, सास्कृतिक एव सामाजिक आकाक्षाएँ भी होती ह। भविष्य का सामाजिक एव आर्थिक स्वरूप हमारी परम्पराओ के सर्वोत्तम अग पर आधारित होना चाहिए, और वह हे धर्म का नियम, अर्थात् वे कर्तव्य जो सबके लिए समान ह और जो मनु (१०।६३) एव याज्ञ० (१।१२२) द्वारा उद्घोषित हे। धर्म निरपेक्ष राज्य का अभिप्राय यह नही होना चाहिए और न ऐसा है कि राज्य ईश्वर विहीन हो या उसका सम्बन्ध नैतिक एव आध्यात्मिक जीवन-मूल्यो मे नही हे। हमारे प्रथम प्रधानमन्त्री स्व० प० नेहरु ने इस बात पर बल दिया हे—'धर्म आवश्यक हो या न हो, हमारे जीवन मे कुछ तत्त्व या सार भरने के लिए तथा हमे एक-सा बाँध रखने के लिए किसी उच्चि आदर्श मे हमारा विश्वास होना परम आवश्यक हे। अपने आह्निक जीवनो की भौतिक एव शारीरिक माँगो के ऊपर हमे उद्देश्य का ज्ञान रखना ही होगा' (देखिए टु-डे एण्ड टुमारो, पृ० ६)। यह कहा जा सकता है कि अधिकाश पुरुषो एव नारियो के लिए धर्म ही एक ऐसा तत्त्व हे जो उचित आदर्शो को उपस्थित करता हे।

लिकन महोदय द्वारा उपस्थित लोक नीति की परिभाषा मे तीसरा सूत्र हे 'लोक (जनता या प्रजा या देशवासियो) के लिए,' (शासन), जिसका अर्थ ह शासन सभी लोगो की भलाई पर ध्यान दे, न कि किसी विशिष्ट वर्ग या सम्प्रदाय का ही ध्यान रखे। आधुनिक लोकनीति पार्टियो अर्थात् दलो पर निर्भर रहती हे और उसे बहुमत के निर्णयो के अनुसार कार्यशील होना पडता हे। ऐसा बहुधा होता हे कि कई दलो की उपस्थिति के कारण किसी एक दल को सब दलो को मिला कर उनसे अधिक मत नही प्राप्त हो पाते। ऐसा हो सकता ह कि एक दल को दिये गये मतो का ४०% मिले और अन्य दलो के (जो विचारधाराओ मे एक-दूसरे से भिन्न ह) क्रम से २५%, २०% एव १५% मिले। ऐसी स्थिति मे ४०% मत पाने वाला दल राज्य करता ह, किन्तु उसे जनता का

बहुमत नही प्राप्त रहता है। दलीय पद्धति मे सामान्यतः शक्ति के लिए संघर्ष उठ खड़ा होता है और जनता का नैतिक स्तर गिर जाता है, विशेषतः उस देश मे जहा जनता का केवल थोड़ा भाग (पुरुष एवं स्त्री दोनों) केवल अपनी क्षेत्रीय भाषा मे लिख-पढ सकता है। प्रस्तुत लेखक ऐसा नही मानता कि निरक्षरता का अर्थ बुद्धि का अभाव है। किन्तु जब तक व्यक्ति स्वयं नही पढ पाता और अपने पढे हुए पर सोच-विचार नही कर पाता, वह कदाचित ही उस विषय के पक्ष या विपक्ष मे अच्छी प्रकार से निर्णय ले सके, जो मतदाताओ के समक्ष योजना या किसी नीति के रूप मे उपस्थित किया जाता है। कानून अंग्रेजी मे लिखे जाते है। लोक-सभा मे अधिकांश वक्ता अंग्रेजी मे भाषण करते है (केवल थोड़े-से लोग हिन्दी मे बोलते है) और जटिल कानून यो ही बहुमत से, या जैसा अवसर रहा, सर्वसम्मति से पारित हो जाते है। जो देश अत्यन्त कम शासित होता है वह अत्युत्तम रूप से शासित होता है। लोक-सभा मे कानूनो की बाढ देखने मे आती है। सन १९५० से १९५६ के बीच केवल सात वर्षो मे ४५० कानून लोक-सभा मे पारित हुए। उनमे से कुछ कानून हिन्दुओ को उनके कौटुम्बिक सम्बन्धो एवं अन्य स्वरूपो मे मार्मिक रूप से प्रभावित करते ह। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे है। हिन्दू पुत्रीकरण (दत्तक) कानून तो प्राचीन हिन्दू सिद्धान्तो से बहुत आगे चला गया। प्राचीन काल मे दो सिद्धान्त थे, यथा—आध्यात्मिक कल्याण एव हित के लिए केवल लडका ही अपनाया जाता है, जो अवस्था एव अन्य बातो मे पुत्र के समान हो। स्त्रियाँ गोद नही ली जा सकती थीं, केवल विधवा अपने पति के आध्यात्मिक लाभ के लिए किसी को गोद ले सकती थी। ये सिद्धान्त अब हवा मे उडा दिये गये हे। एक बात उल्लेखनीय हे। हिन्दू व्यवहार (कानून) को प्रभावित करने वाले कुछ कानूनो द्वारा लोकाचारो को धता बता दिया गया है, देखिए, हिन्दू विवाह कानन (१९५५ का २५ वॉ कानून, विभाग ४), हिन्दू उत्तराधिकार कानन (१९५६ का ३० वॉ कानन, विभाग ४ का १)। १९५६ के ७८ वे कानून हिन्दू पुत्रीकरण एव भरण (पालन-पोषण) कानून द्वारा व्यवस्था दी गयी हे कि गोद लिया जाने वाला व्यक्ति १५ वर्ष से अधिक का नही होना चाहिए और गोद लिये जाने वाले व्यक्ति एव गोद लेने वाली स्त्री तथा गोद ली जाने वाली लडकी एव गोद लेने वाले पुरुष मे २१ वर्षो का अन्तर होना चाहिए। इस विषय मे देखिए विभाग १०, विषय ४ तथा विभाग ११, विषय ४। किन्तु विभाग १० मे ऐसी व्यवस्था हे कि लोकाचार के विरुद्ध ऐसा नही होना चाहिए। यह आश्चर्य हे और समझ मे नही आता कि इस मामले मे लोकाचार को क्यो मान्यता दे दी गयी हे जब कि अन्य विषयो (मामलो) मे लोकाचारो पर कोई ध्यान नही दिया गया हे। सन १९५५ के २५ वे कानून (हिन्दू विवाह कानून) ने बडे-बडे परिवर्तन कर दिये हैं, जिनके विषय मे अधिकांश हिन्दू कुछ भी नही जानते। इस कानून के पूर्व एक हिन्दू सिद्धान्ततः (किन्तु व्यवहारतः बहुत कम) दो या अधिक नारियो से विवाह कर सकता था और अनुलोम विवाह (एक उच्च वर्ण के पुरुष का किसी हीन वर्ण की नारी से विवाह) कुछ उच्च न्यायालयो द्वारा (यथा—इलाहाबाद एव मद्रास) अवैध माना जाता था। किन्तु अब १९५५ के कानून द्वारा विवाह एक पत्नीत्व का द्योतक हो गया (अब एक पुरुष एक से अधिक स्त्री के साथ विवाह नही कर सकता) और किसी जाति का व्यक्ति किसी भी जाति की नारी से विवाह कर सकता हे तथा हिन्दू, सिख, बौद्ध या जैन धर्मो के व्यक्तियो के विवाह अब वैध मान लिये जाते ह। जिन दिनो यह कानन बन रहा था, कुछ लोगो ने एक स्त्री विवाह कानून द्वारा मुसलमानो (जो कुरान के अनुसार एक साथ चार नारियो को पत्नी के रूप मे रख सकते ह) को भी बाँधना चाहा, किन्तु उनकी बात इससे काट दी गयी कि ऐसा करने से मुसलमान नाराज हो सकते ह। अन्य व्यवस्थाएं, यथा विवाह के विषय मे बौद्ध, जैन एव सिख हिन्दू है, जहाँ एक ओर सब को एक साथ ले जाने वाली है, वही वे अपढ लोगो के मन मे द्विधा उत्पन्न करने वाली ह और अन्ततोगत्वा उनमे हिन्दू-समाज मे छिन्न-भिन्नता उत्पन्न हो जाने की सम्भावना हे। कट्टर लोग (अर्थात् रूढिवादी) इस प्रकार के मिश्र विवाहो को घृणा की दृष्टि से

देखते है। यह सम्भव है कि रूढिवादी लोग अबोध लोगो के साथ मिलकर इस नयी व्यवस्था को उखाड फेके। किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि गाधी-युग के उज्ज्वल व्यक्तित्व धीरे-धीरे कम हो जायेगे।

हिन्दू-समाज की महत्त्वपूर्ण विशेषताओ मे एक है सयुक्त परिवार का प्रचलन जो सहस्रो वर्षो से चला आ रहा है। यह प्रचलन **मिताक्षरा** कोटि का है जो बगाल (जहाँ **दायभाग** का प्रचलन है) को छोडकर सारे भारत मे पाया जाता है। सयुक्त परिवार प्रणाली की विशेषता यह है कि परिवार (कुटुम्ब) के सभी सदस्य समाशी (रिक्थाधिकारी) होते है, अर्थात् यदि कुटुम्ब का कोई सदस्य मर जाता है तो उसका धन सभी सदस्यो, जिनमे उसका पुत्र भी सम्मिलित है (यदि कोई हो तो) को प्राप्त हो जाता है, स्त्रियो को कुटुम्ब की सम्पत्ति मे कोई अधिकार नही होता, उन्हे केवल विवाह के व्यय एव भरण-पोषण का अधिकार प्राप्त होता है, सयुक्त परिवार का कोई भी व्यक्ति इच्छापत्र (यहाँ तक कि पिता भी नही) या बिक्री या बन्धक द्वारा सयुक्त सम्पत्ति हस्तान्तरित नही कर सकता, केवल कुटुम्ब की परम्परा के अनुसार कुछ आवश्यकताओ के लिए कुछ छूट मिल सकती है। बाह्य आक्रमणो एव कुशासनो के रहते हुए भी कई शतियो तक सयुक्त परिवार पद्धति एव जाति प्रथा ने ही हिन्दू समाज को विच्छिन्न होने से बचा रखा था। हिन्दू उत्तराधिकार कानून (सन् १९५६ का ३०वाँ) ने मिताक्षरा सयुक्त परिवार मे दो अतिक्रमणकारी परिवर्तन कर दिये है। कानून के ३०वे विभाग की व्याख्या ने यह व्यवस्था दी है कि कोई भी पुरुष सदस्य अपने इच्छापत्र द्वारा रिक्थाधिकार को समाप्त कर सकता है। यह एक बहुत बडा परिवर्तन है। दूसरा परिवर्तन विभाग ६ मे सक्षेपत इस प्रकार है। यदि मिताक्षरा पद्धति वाला कोई समाशी इस कानून के लागू हो जाने के उपरान्त मर जाता है और उसको कोई पुत्र नही है, केवल एक पुत्री है या किसी मृत पुत्र की पुत्री है या किसी मृत पुत्री की पुत्री है तो उसकी सम्पत्ति किसी अन्य समाशी (या रिक्थाधिकारी) को नही प्राप्त होगी, प्रत्युत उपर्युक्त वशजो को होगी और उनको वही अश प्राप्त होगा जो विभाजन होने पर उस व्यक्ति को मरने के पूर्व मिलता। इस कानून के पूर्व उपर्युक्त उल्लिखित व्यक्तियो को यदि व्यक्ति पुत्रहीन मर जाता तो कोई अश न प्राप्त होता। इन दो परिवर्तनो के फलस्वरूप मिताक्षरा पद्धति केवल खोखली रह गयी है। जब यह कानून पारित हो रहा था तो कुछ लोगो ने वक्तव्य दिया कि मिताक्षरा पद्धति को सर्वथा समाप्त कर देना चाहिए, किन्तु वैसा नही किया गया। प्राचीन हिन्दू कानून मे इस प्रकार के परिवर्तनो से स्त्रियो के प्रति उदारता का प्रदर्शन किया गया है। किन्तु कुछ विषयो मे, ऐसा लगता है, मानो विधायको ने बदला (प्रतिहिसा) लिया है। स्थानाभाव से केवल एक उदाहरण उपस्थित किया जा रहा है। हिन्दू उत्तराधिकार कानून के विभाग ८ एव उत्तराधिकारियो के परिशिष्ट वर्ग १ एव २ के अन्तर्गत यदि कोई सम्पत्तिवान् व्यक्ति केवल माता एव पिता को छोड कर मर जाता है (अर्थात् यदि उसके पुत्र न हो, न पत्नी हो और न कोई अन्य व्यक्ति हो) तो माता को उसकी (पुत्र की) सारी सम्पत्ति मिल जाती है और पिता को कुछ भी नही, क्योकि माता वर्ग १ के अन्तर्गत रखी गयी है और पिता वर्ग २ के अन्तगत और विभाग ८वे (क एव ख) मे नियम ऐसा है कि वर्ग २ के उत्तराधिकारी तभी अधिकार पाते है जब वर्ग १ मे कोई शेष न हो। याज्ञ० (२।१३५) के अनुसार पुत्रहीन व्यक्ति के मर जाने पर क्रम से विधवा, तब पुत्री, उसके उपरान्त पुत्री का पुत्र (या जितने पुत्र हो सभी), उसके उपरान्त पितरो (माता एव पिता दोनो, द्विवचन का प्रयोग हुआ है) उत्तराधिकार प्राप्त करते है। कुछ टीकाकारो के मतानुसार माता को पिता की अपेक्षा वरीयता दी जानी चाहिए, किन्तु कुछ लोग पिता को वरीयता देते है और कुछ लोग दोनो को समान रूप से उत्तराधिकारी घोषित करते है। राज्यसभा (कौसिल आव स्टेट्स) मे पिता को माता के साथ ही वर्ग १ मे रखा गया। किन्तु लोक-सभा मे माता को वर्ग १ मे तथा पिता को वर्ग २ मे रखा गया। सविधान की धारा १५ मे लिंग, धर्म एव जाति आदि के आधार पर भेद करना निषिद्ध माना गया है। माता एव पिता मे जो अन्तर यहाँ प्रकट है, वह लिंग-

भेद ही तो है। सम्भवत विधायक लोगो ने इस प्रकार के अन्तर द्वारा शतियो मे चले आये हुए स्त्री-सम्बन्धी अन्याय की क्षतिपूर्ति करनी चाही है। सन् १९५६ का हिन्दू उत्तराधिकार कानून मुस्लिम कानून से भी आगे बढ गया है, क्योंकि इसने परिशिष्ट वर्ग १ मे १२ प्रकार के व्यक्तियो को रखा है जो एक-साथ ही उत्तराधिकार प्राप्त करते है। कुछ उदाहरण ऐसे है जहाँ मृत व्यक्ति की सम्पदा को पाने वाले वर्ग १ के व्यक्ति २० या इससे भी अधिक होते है, यथा मृत के ५ पुत्र, ५ कन्याएँ तथा पहले से मृत पुत्रो एव पुत्रियो की सताने। सम्भवत ससार मे कोई अन्य देश ऐसा नही है, जहाँ किसी के मरने पर इतने व्यक्ति एक साथ ही उत्तराधिकारी हो उठे। इसका परिणाम यह होगा कि सम्पत्ति के बहुत से टुकडे हो जायेगे और लगातार झगडे एव मुकद्दमे मे लगे रहेगे। इससे दरिद्रता का विभाजन (बँटवारा) होता जायेगा। सन् १९५६ के पूर्व हिन्दू कानून के अन्तर्गत स्त्रियो को पुरुषो से उत्तराधिकार के रूप मे सामान्यत एक सीमित सम्पत्ति (अर्थात् केवल जीवन भर के लिए) प्राप्त होती थी। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी एव एक भाई या भतीजे (भाई के पुत्र) को छोडकर मर जाये (और उसका कोई पुत्र न हो) तो उसकी सम्पत्ति उसकी पत्नी को जीवन-काल के लिए मिल जाती थी और उसकी मृत्यु के उपरान्त सम्पत्ति मृत व्यक्ति के भाई (यदि जीवित हो तो) को या उसके पुत्रो आदि को मिल जाती थी। किन्तु अब (सन् १९५६ के उपरान्त) विधवा को उस सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया है अर्थात् अब वह उसे बेच सकती है, उसका दान कर सकती है या उसके लिए इच्छा-पत्र बना सकती है। देखिए १९५६ के हिन्दू उत्तराधिकार कानून का विभाग १४। इतना ही नही, यह विभाग उन विधवाओ को जो १९५६ के पूर्व सीमित रूप मे उत्तराधिकारिणी हुई थी गतकाल-सापेक्ष पूर्ण अधिकार देता है। इसे यो समझिए, मान लीजिए कोई व्यक्ति सन् १९५० मे मर गया और उसके पीछे उसकी विधवा एव भाई बचे है। ऐसी स्थिति मे विधवा को सीमित रूप से उत्तराधिकार प्राप्त होगा अर्थात् वह अपने पति की सम्पत्ति को न तो बेच सकती है और न किसी को दे सकती है, और यदि वह १९५६ के पूर्व मर गयी होती तो उसके मृत पति के भाई को उत्तराधिकार प्राप्त हो जाता। किन्तु मान लीजिए जब १९५६ का कानून पारित हुआ वह जीवित है और मृत पति की सम्पति पर उसका अधिकार प्राप्त है। कानून के पारित हो जाने पर उसका अधिकार अचानक विस्तृत हो जाता है। अब वह उस सम्पत्ति को किसी को दे सकती है या इच्छा-पत्र द्वारा अपने भाई को ही दे सकती है या उसे सर्वथा वञ्चित कर सकती है। स्त्रियो का यह स्थानाधिकार प्रति-हिंसा की भावना से ओत-प्रोत है। अभी सामान्य जनता इस विषय मे विशेष नही जानती। किन्तु आगे चल-कर भयकर विवाद खडे हो सकते है। ऐसे लोगो को कुटुम्ब की सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है। जिनसे उस कुटुम्ब के लोग भारी लडाई ठान सकते है, क्योकि कुटुम्ब की सम्पत्ति के प्रति सदस्यो का स्वाभाविक मोह होता है और जब मृत व्यक्ति की विधवा नये कानून के अनुसार अपने पति की सम्पत्ति को कुटुम्ब मे ही किसी सदस्य को न देकर किसी बाहरी व्यक्ति को बेच देती है, या दान दे देती है या उसे इच्छा-पत्र दे देती है तो कुटुम्ब के सदस्यो को बहुत बुरा लग सकता है और पाठक कल्पना कर सकते है कि किस प्रकार के भूमि-युद्ध जन्म ले सकते है। सन् १९५४ से लेकर सन् १९५६ तक जितने कानून पारित हुए है और उनसे जो बाते समाज मे आयी, यथा— एकस्त्री-विवाह को मान्यता प्राप्त हुई, अनेक पत्नीनता दण्डित मानी गयी, लडकियो एव लडको के लिए विवाह करने की अवस्था क्रम से १५ एव १८ मानी गयी, पुरुषो एव पत्नियो, दोनो को समान नियमो के आधार पर विवाहोच्छेद (तलाक) का अधिकार दिया गया, पुत्री एव उसकी सतानो को उत्तराधिकार का पूर्ण अधिकार दिया गया, पति या विधवा दोनो को, मृत व्यक्ति द्वारा पहले से ही पुत्रीकरण न कर लेने पर भी, पुत्र या पुत्री को गोद लेने का अधिकार दे दिया गया—उनसे स्त्रियो की स्थिति मे बडे-बडे परिवर्त्तन हो गये है और ये परिवर्त्तन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त सभी कानून सम्बन्धी परिवर्तनो की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली बन गये है।

कुछ राज्यो ने भूमि का सीमा-निर्धारण किया है। सूखी (बिना सिचाई की) या सिचाई वाली भूमि के आधार पर व्यक्ति को कतिपय एकड से अधिक भूमि रखने का अधिकार नही दिया गया है। अभी यह स्थिति सभी राज्यो मे नही स्थापित की जा सकी है। किन्तु इस प्रकार के कानून को लोग पक्षपातपूर्ण ठहराते है, क्योकि सामान्य जनता की दृष्टि मे भूमि-सम्बन्धी सीमा-निर्धारण तो स्थापित कर दिया गया है, किन्तु बडे-बडे उद्योगपतियो की अन्य प्रकार की सम्पत्तियो का सीमा-निर्धारण अभी नही किया गया है, जो सचमुच अन्यायपूर्ण एव पक्षपातपूर्ण है। तर्क यह दिया जाता है कि बडे-बडे, सेठ-साहूकारो आदि को आय-कर तथा अन्य कर देने पडते है, किन्तु कृषि करने वाले कहते है कि वे भी कर देते है और महँगी से सामानो के मूल्य बहुत ऊँचे उठ गये है।

हमारे सविधान की धारा ४७ मे ऐसी व्यवस्था की गयी है कि राज्य लोगो को पौष्टिक पदार्थ की उपलब्धि कराये, लोगो के सामान्य जीवन-स्तर को ऊपर उठाये, लोगो का स्वास्थ्य सुधारे और ऐसे पदार्थो, द्रव्यो एव वस्तुओ का प्रयोग निषिद्ध करे जो स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। कुछ राज्यो ने मादक द्रव्यो एव पदार्थो के सेवन के विरोध मे कानून नही बनाये और न कोई योजनाएँ ही उपस्थित की, क्योकि ऐसा करने से राज्य की आय पर दो प्रकार से प्रभाव पडता था, यथा— मादक वस्तुओ पर लगाये गये कर की हानि तथा लोगो को मादक द्रव्यो के निर्माण से रोकने के लिए एक लम्बे कर्मचारी-दल की स्थापना का व्यय। धारा ४५ के अनुसार चौदह वर्षो तक नि शुल्क एव अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था तो नही की गयी, किन्तु कुछ राज्यो मे धारा ४७ को पूर्णरूपेण कार्यान्वित करने का प्रयास किया गया। सारे भारत मे मद्य निषेध का कानून नही अपनाया गया। कही एक पाप अपराध है तो वही दूसरे राज्य मे पालित व्यवस्था है। एक नगर मे लोग नशे मे झूम रहे है तो दूसरे स्थान मे लोगो के हाथो मे हथकडी है। सम्भवत निषेधाज्ञा निकालने वाले मानव-मनोविज्ञान की एक प्रमुख बात भूल जाते है। जब किसी वस्तु का निषेध किया जाता है और वह बहुत कम मात्रा मे प्राप्त होने लगती है तो लोग कानून तोड कर उसे प्राप्त करना चाहते है। ऐसी स्थिति मे अत्यन्त गन्दे स्थानो मे बनाये गये मादक द्रव्यो का गुप्त व्यापार चलने लगता है और जानते हुए भी लोग पुलिस को समाचार नही देते, क्योकि उन्हे इसका डर रहता है कि सेवन करने वाले एव बनाने वाले लोग उनकी हत्या कर देगे। मादक द्रव्यो के व्यवहार पर निषेध लगाने से भयकर परिणाम उपस्थित हुए है। घुडदौड एव दावँबाजी पर प्रतिबन्ध नही है, क्योकि ऐसा करने से धनिक लोग सरकार से रुष्ट हो जायेगे। मद्यपान एव द्यूत वेदकाल से ही अपराध एव पाप माना जाता रहा है (ऋ० ७।८६।६))। अत लोगो मे इस प्रकार के दुराचरणो को रोकने के लिए मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए और क्रमश पीने के आचरणो मे कमी का उपदेश करते रहना चाहिए, नही तो दमन करने से अत्यन्त भयकर दुर्गुणो के उत्पन्न हो जाने का भय है। दहेज प्रथा के विरोध मे सन् १९६१ मे एक कानून बना जो वास्तव मे, एक प्रकार मे व्यर्थ है। जहाँ रुपये के लेन-देन को अपराध माना गया है, वही भेट, अलकार, वस्त्र आदि को वैध माना गया है। इसका परिणाम सामने है। भेट और दान के नाम पर सहस्रो रुपये दहेज के रूप मे लिये-दिये जा रहे है और व्यवस्था ज्यो-की-त्यो बनी पडी है। आज (१९६५ मे) चार वर्ष हो गये, किन्तु कोई भी मुकद्दमा अदालत मे नही आया।

बहुत ही सक्षेप मे सविधान से सम्बन्धित कतिपय बातो पर ऊपर प्रकाश डाला गया है। देश की आर्थिक एव सामाजिक उन्नति के लिए पञ्चवर्षीय योजनाएँ लागू की गयी है। उन्नति एव विकास के लिए हमने जो लम्बी-लम्बी योजनाएँ बनायी है, उनके कार्यान्वयन मे विदेशी पूजी लगायी गयी है। हम पर कतिपय देशो

का भारी ऋण लद चुका है। इन योजनाओ की जाच हम स्थानाभाव से यहा नही करेगे। हमारी वर्तमान लोकनीतिक सरकार लोकनीतिक समाजवाद (डेमोक्रेटिक सोशलिज्म) की स्थापना मे लगी है। कुछ लोग इसकी सफलता मे शका प्रकट करते है। कुछ लोग ऐसी विचारधारा प्रकट करते है कि बिना सर्वतन्त्र स्वतन्त्रवाद (टोटैलिटेरियनिज्म) के सच्चा समाजवाद स्थापित नही हो सकता। चाहे जो हो, स्थानाभाव से इन बातो पर हम यहाँ विचार नही उपस्थित करेंगे। हितकारी राज्य (वेल्फेयर स्टेट) की कल्पना की गयी है और उसके लिए समाज के समाजवादी ढाचे का आदर्श सामने रखा गया है। ऐसे समाज की कल्पना की गयी है जिसमे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय की व्यवस्था हो और राष्ट्रीय जीवन की सभी सस्थाएँ न्याययुक्त व्यवस्था मे ग्रथित एव गठित हो।

हितकारी या कल्याणकारी राज्य सिद्धान्तत 'सर्वोदय' (सबका उदय अर्थात् सबकी समृद्धि) का उद्देश्य सम्मुख रखता है।[६] अभी कुछ काल पहले तक प्रजा के प्रति राज्य के प्रमुख कर्त्तव्य थे—देश का शासन, देश एव इसकी समुद्र-सीमाओ की बाह्य आक्रमणो से रक्षा करना, नियम एव व्यवस्था की रक्षा करना तथा आरम्भिक एव उच्च शिक्षा की व्यवस्था करना। हमारे सविधान के निर्माताओ एव नेताओ की अभिकाक्षा रही है हितकारी राज्य की स्थापना करना, अभियोजित आर्थिक व्यवस्था के आधार पर देश मे समाजवादी ढाँचे की सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था उपस्थित करना। आज बहुत-से महत्वपूर्ण व्यवसाय राज्य के लिए सुरक्षित है और सरकार ने कतिपय वस्तुओ के निर्माण, उनके मूल्य-निर्धारण आदि पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया है। इसने राज्य व्यापार निगम (स्टेट ट्रेडिग कारपोरेशन) स्थापित कर डाला है। बडी-बडी योजनाओ को चलाने के लिए राज्य ने बडे-बडे कर लगाने की व्यवस्था कर डाली है। इनकम टैक्स (१९२२ का कानून जो पुन १९६१ मे सुधारा गया और जिसमे समय पडने पर बडे-बडे परिवर्तन होते रहते है) के अतिरिक्त हमारी लोकनीतिक सरकार ने एक-के-उपरान्त चार कानून पारित कर डाले है, यथा—इस्टेट ड्यूटी ऐक्ट (१९५३), वेल्थ टैक्स (१९५७), एक्स्पेण्डीचर टैक्स (१९५७) एव गिफ्ट टैक्स (१९५८)। इन टैक्सो के विवेचन मे जाने की आवश्यकता नही है। इन टैक्सो के कारण आज की सरकार को 'नयी निरकुशवादी' सरकार कहा जाता है। हितकारी या कल्याणकारी राज्य के नाम पर हमारे नेताओ द्वारा सम्पूर्ण शक्ति नौकरशाही शासन के रूप मे परिणत की जा रही है। स्थानाभाव से हम इस विषय पर अधिक नही लिखेगे।

योजनाओ पर अपार सम्पत्ति व्यय की जा रही है, जिसके कारण महँगाई बढ़ती जा रही है और बेकारी की समस्या द्रुत वेग से देश के सिर पर चढी आ रही है। सर डवल्यू बेवरिज महोदय ने अपनी पुस्तक 'पिलर आव सेक्योरिटी' (१९४४) मे उन पाँच राक्षसो के नाम लिये है जिनसे मानवता को युद्ध करना है यथा—**कमी, रोग, अज्ञान, गन्दगी एव बेकारी**। यह अन्तिम ऐसा है जिससे हमे सबसे पहले लडना है। हमारे सविधान की धारा ४१ मे काम करने, शिक्षा पाने का अधिकार है एव बेकारी की दशा मे, वार्धक्य मे, बीमारी मे तथा कुछ अन्य बातो मे हमे राज्य-सहायता का भी अधिकार प्राप्त है। सबको पूर्ण

६ 'सर्वोदय' का आदर्श निम्नलिखित विख्यात श्लोक से भिन्न नही है 'सर्वेऽत्र सुखिन सन्तु सर्वे सन्तु निरामया। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखमाप्नुयात्॥ जिसका केर्थ यो है 'यहाँ (इस लोक मे) सभी सुखी हो, सभी रोगो से मुक्त हो। सभी समृद्धि को देखे (प्राप्त होवे) और कोई दुख न पाये॥'

कुछ राज्यों ने भूमि का सीमा-निर्धारण किया है। सूखी (बिना सिंचाई की) या सिंचाई वाली भूमि के आधार पर व्यक्ति को कतिपय एकड़ से अधिक भूमि रखने का अधिकार नहीं दिया गया है। अभी यह स्थिति सभी राज्यों में नहीं स्थापित की जा सकी है। किन्तु इस प्रकार के कानून को लोग पक्षपातपूर्ण ठहराते हैं, क्योंकि सामान्य जनता की दृष्टि में भूमि-सम्बन्धी सीमा-निर्धारण तो स्थापित कर दिया गया है, किन्तु बड़े-बड़े उद्योगपतियों की अन्य प्रकार की सम्पत्तियों का सीमा-निर्धारण अभी नहीं किया गया है, जो सचमुच अन्यायपूर्ण एवं पक्षपातपूर्ण है। तर्क यह दिया जाता है कि बड़े-बड़े, सेठ-साहूकारों आदि को आय-कर तथा अन्य कर देने पड़ते हैं, किन्तु कृषि करने वाले कहते हैं कि वे भी कर देते हैं और महँगी से सामानों के मूल्य बहुत ऊँचे उठ गये हैं।

हमारे संविधान की धारा ४७ में ऐसी व्यवस्था की गयी है कि राज्य लोगों को पौष्टिक पदार्थ की उपलब्धि कराये, लोगों के सामान्य जीवन-स्तर को ऊपर उठायें, लोगों का स्वास्थ्य सुधारें और ऐसे पदार्थों, द्रव्यों एवं वस्तुओं का प्रयोग निषिद्ध करे जो स्वास्थ्य के लिए हानिकर हैं। कुछ राज्यों ने मादक द्रव्यों एवं पदार्थों के सेवन के विरोध में कानून नहीं बनाये और न कोई योजनाएँ ही उपस्थित कीं, क्योंकि ऐसा करने से राज्य की आय पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ता था, यथा– मादक वस्तुओं पर लगाये गये कर की हानि तथा लोगों को मादक द्रव्यों के निर्माण में रोकने के लिए एक लम्बे कर्मचारी-दल की स्थापना का व्यय। धारा ४५ के अनुसार चौदह वर्षों तक निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था तो नहीं की गयी, किन्तु कुछ राज्यों में धारा ४७ को पूर्णरूपेण कार्यान्वित करने का प्रयास किया गया। सारे भारत में मद्य निषेध का कानून नहीं अपनाया गया। कहीं एक पाप अपराध है तो वहीं दूसरे राज्य में पालित व्यवस्था है। एक नगर में लोग नशे में झूम रहे हैं तो दूसरे स्थान में लोगों के हाथों में हथकड़ी है। सम्भवतः निषेधाज्ञा निकालने वाले मानव-मनोविज्ञान की एक प्रमुख बात भूल जाते हैं। जब किसी वस्तु का निषेध किया जाता है और वह बहुत कम मात्रा में प्राप्त होने लगती है तो लोग कानून तोड़ कर उसे प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में अत्यन्त गन्दे स्थानों में बनाये गये मादक द्रव्यों का गुप्त व्यापार चलने लगता है और जानते हुए भी लोग पुलिस को समाचार नहीं देते, क्योंकि उन्हें इसका डर रहता है कि सेवन करने वाले एवं बनाने वाले लोग उनकी हत्या कर देंगे। मादक द्रव्यों के व्यवहार पर निषेध लगाने से भयंकर परिणाम उपस्थित हुए हैं। घुड़दौड़ एवं दाँवबाजी पर प्रतिबन्ध नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से धनिक लोग सरकार से रुष्ट हो जायेंगे। मद्यपान एवं द्यूत वेदकाल से ही अपराध एवं पाप माना जाता रहा है (ऋ० ७।८६।६))। अतः लोगों में इस प्रकार के दुराचरणों को रोकने के लिए मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए और क्रमशः पीने के आचरणों में कमी का उपदेश करते रहना चाहिए, नहीं तो दमन करने से अत्यन्त भयंकर दुर्गुणों के उत्पन्न हो जाने का भय है। दहेज प्रथा के विरोध में सन् १९६१ में एक कानून बना जो वास्तव में, एक प्रकार से व्यर्थ है। जहाँ रुपये के लेन-देन को अपराध माना गया है, वहीं भेंट, अलंकार, वस्त्र आदि को वैध माना गया है। इसका परिणाम सामने है। भेंट और दान के नाम पर सहस्रों रुपये दहेज के रूप में लिये-दिये जा रहे हैं और व्यवस्था ज्यों-की-त्यों बनी पड़ी है। आज (१९६५ में) चार वर्ष हो गये, किन्तु कोई भी मुकद्दमा अदालत में नहीं आया।

बहुत ही संक्षेप में संविधान से सम्बन्धित कतिपय बातों पर ऊपर प्रकाश डाला गया है। देश की आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति के लिए पञ्चवर्षीय योजनाएँ लागू की गयी हैं। उन्नति एवं विकास के लिए हमने जो लम्बी-लम्बी योजनाएँ बनायी हैं, उनके कार्यान्वयन में विदेशी पूँजी लगायी गयी है। हम पर कतिपय देशों

का भारी ऋण लद चुका है। इन योजनाओं की जाँच हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं कर सकेंगे। हमारी वर्तमान लोकनीतिक सरकार लोकनीतिक समाजवाद (डेमोक्रेटिक सोशलिज्म) की स्थापना में लगी है। कुछ लोग इसकी सफलता में शंका प्रकट करते हैं। कुछ लोग ऐसी विचारधारा प्रकट करते हैं कि बिना सर्वतन्त्र स्वतन्त्रवाद (टोटैलिटेरियनिजम) के सच्चा समाजवाद स्थापित नहीं हो सकता। चाहे जो हो, स्थानाभाव से इन बातों पर हम यहाँ विचार नहीं उपस्थित करेंगे। हितकारी राज्य (वेलफेयर स्टेट) की कल्पना की गयी है और उसके लिए समाज के समाजवादी ढाँचे का आदर्श सामने रखा गया है। ऐसे समाज की कल्पना की गयी है जिसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय की व्यवस्था हो और राष्ट्रीय जीवन की सभी सस्थाएँ न्याययुक्त व्यवस्था से ग्रथित एव गठित हों।

हितकारी या कल्याणकारी राज्य सिद्धान्त 'सर्वोदय' (सबका उदय अर्थात् सबकी समृद्धि) का उद्देश्य सम्मुख रखता है ।[६] अभी कुछ काल पहले तक प्रजा के प्रति राज्य के प्रमुख कर्त्तव्य थे—देश का शासन, देश एव इसकी समुद्र-सीमाओं की वाह्य आक्रमणों से रक्षा करना, नियम एव व्यवस्था की रक्षा करना तथा आरम्भिक एव उच्च शिक्षा की व्यवस्था करना। हमारे सविधान के निर्माताओं एव नेताओं की अभिकाक्षा रही है हितकारी राज्य की स्थापना करना, अभियोजित आर्थिक व्यवस्था के आधार पर देश मे समाजवादी ढाँचे की सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था उपस्थित करना। आज बहुत-से महत्वपूर्ण व्यवसाय राज्य के लिए सुरक्षित है और सरकार ने कतिपय वस्तुओं के निर्माण, उनके मूल्य- निर्धारण आदि पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया है। इसने राज्य व्यापार निगम (स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन) स्थापित कर डाला है। बडी-बडी योजनाओं को चलाने के लिए राज्य ने बडे-बडे कर लगाने की व्यवस्था कर डाली है। इनकम टैक्स (१६२२ का कानून जो पुन १६६१ मे सुधारा गया और जिसमे समय पडने पर बडे-बडे परिवर्तन होते रहते है) के अतिरिक्त हमारी लोकनीतिक सरकार ने एक-के-उपरान्त चार कानून पारित कर डाले है, यथा—इस्टेट ड्यूटी ऐक्ट (१६५३), वेल्थ टैक्स (१६५७), एक्स्पेण्डीचर टैक्स (१६५७) एव गिफ्ट टैक्स (१६५८)। इन टैक्सों के विवेचन मे जाने की आवश्यकता नही है । इन टैक्सों के कारण आज की सरकार को 'नयी निरकुशवादी' सरकार कहा जाता है। हितकारी या कल्याणकारी राज्य के नाम पर हमारे नेताओं द्वारा सम्पूर्ण शक्ति नोकरशाही शासन के रूप मे परिणत की जा रही है। स्थानाभाव से हम इस विषय पर अधिक नही लिखेगे।

योजनाओं पर अपार सम्पत्ति व्यय की जा रही है, जिसके कारण महँगाई बढ़ती जा रही है और बेकारी की समस्या द्रुत वेग से देश के सिर पर चढी आ रही है। सर डबल्यू बेवरिज महोदय ने अपनी पुस्तक 'पिलर आव सेक्योरिटी' (१६४४) मे उन पाँच राक्षसों के नाम लिये है जिनसे मानवता को युद्ध करना है यथा—**कमी, रोग, अज्ञान, गन्दगी एव बेकारी**। यह अन्तिम ऐसा है जिससे हमे सबसे पहले लडना है। हमारे सविधान की धारा ४१ मे काम करने, शिक्षा पाने का अधिकार है एव बेकारी की दशा मे, वार्धक्य मे, बीमारी मे तथा कुछ अन्य बातों मे हमे राज्य-सहायता का भी अधिकार प्राप्त है। सबको पूर्ण

६ 'सर्वोदय' का आदर्श निम्नलिखित विख्यात श्लोक से भिन्न नही है 'सर्वेऽत्र सुखिन सन्तु सर्वे सन्तु निरामया । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खमाप्नुयात् ॥ जिसका अर्थ यो है 'यहाँ (इस लोक मे) सभी सुखी हों, सभी रोगों से मुक्त हों । सभी समृद्धि को देखें (प्राप्त होवें) और कोई दुख न पाये ॥'

रूप से नौकरी देना सरल नही है। राज्य को चाहिए कि वह बेकारी की समस्या का हल उपस्थित करे, वह न केवल साहित्यिक शिक्षा का प्रबन्ध करे, प्रत्युत वह व्यावसायिक एव प्राविधिक प्रशिक्षण के कार्य को कई गुने वेग से बढाये। इन बातो पर हम यहाँ अधिक नहीं लिख सकेगे।

अब हम हिन्दू समाज एव धर्म के सुधार एव पुनर्व्यवस्था पर विचार करेगे। पुर्तगाली १५वी शती के अन्त मे यहाँ आये और उन्होने भारत के पश्चिमी तट पर कुछ भूमि प्राप्त कर ली। किन्तु धार्मिक अत्याचार एव असहिष्णुता के कारण उन्होने हिन्दू समाज पर कोई अधिक प्रभाव नहीं डाला। किन्तु अग्रेजो के साथ बात दूसरी थी, वे तो व्यापार, धन एव शक्ति के इच्छुक थे। सन् १७६५ से अग्रेजो का जो प्रभाव जमा और भारत के अधिक भागो पर उनका जो आधिपत्य स्थापित हुआ, उससे भारतीय क्रमश अग्रेजी साहित्य एव आधुनिक विज्ञान के सम्पर्क मे आने लगे। आधुनिक काल मे सर्वप्रथम सुधारक थे राजा राममोहन राय (१७७२–१८३३), जो बगाली थे। उन्होने सन् १८२८ मे ब्रह्म-समाज की स्थापना की। भारतीय समाज एव धर्म मे सुधार की व्यवस्था करने वालो मे, कुछ विशिष्ट नाम ये है—देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७–१६०५) केशवचन्द्र सेन (१८३८–१८८४), ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती (१८२४–१८८३, जिन्होने सन् १८७७ मे आर्य समाज की स्थापना की और केवल वेदो को ही प्रमाण माना), रामकृष्ण परमहस (१८३४–१८८६) एव उनके महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द (१८६३–१६०२, जिन्होने वेदान्त के प्रचार के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और दरिद्रो की सहायता के लिए मिशन द्वारा एक महान् अभियान चलाया), महादेव गोविन्द रानाडे (१८४२–१६०१, जो बम्बई के प्रार्थना-समाज से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित थे), आगरकर, फुले, रवीन्द्रनाथ ठाकुर (१८६१–१६४१), गान्धीजी (१८६६–१६४८), डा० कर्वे (जिन्होने सन् १६१६ मे नारियो का विश्वविद्यालय स्थापित किया)। इस विषय मे अधिक जानकारी के लिए देखिए एस० नटराजन कृत 'ए सेचुरी आव सोशल रिफार्म' (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई), जी० एन० फर्कुहर कृत 'माडर्न रिलिजिएस मूवमेण्ट्स इन इण्डिया' (मैक्मिलन, १६१७), डब्ल्यू० टी० डी० बय कृत 'सोर्सेज आव इण्डियन ट्रेडिशन' (न्यूयार्क १६५८, पृ० ६०४–६४६)।

आजकल भारत मे विचारो की बाढ आ गयी है और भाँति-भाँति की विचारधाराओ का उद्गार हो रहा है। आज के बहुत-से देशवासी अपने धर्म मे प्रेरणा नही ग्रहण करते। यह धर्म का दोष नही है, यह हमारे पूर्ववर्ती लोगो एव हमारा दोष है कि हमने अपनी संस्कृति एव धर्म के सारतत्त्व को सबके समक्ष प्रकट नही किया और अन्धविश्वासो एव भ्रामक अवधारणाओ से उत्पन्न अनावश्यक तत्त्वो को पृथक् करके प्रमुख सार-तत्त्वो पर बल नही दिया। आज के सामान्य जन प्राचीन रूढिगत विश्वासो एव आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान के बीच पाये जाने वाले विभेदो से व्यामोहित से हो गये है। इसका दुखद परिणाम यह हुआ है कि सदाचार के परम्परागत जीवन-मूल्य विच्छिन्न होते जा रहे है और कतिपय विचारधाराएँ हमे बाँधती जा रही है, पुराने पाश टूट रहे है और नये पाशो से हम बँधते जा रहे है। आज धार्मिक एव आध्यात्मिक बातो पर बहुत-सी स्पष्ट विवेचित धारणाएँ उपस्थित हो गयी है। समाज का एक वर्ग अपने को **सनातनी** कहता है और विश्वास रखता है कि परम्परानुगत सदाचार-संहिता की स्थापना हमारे विचारशील ऋषियो-मुनियो द्वारा हुई है और आज के अधकचरी बुद्धि वाले लोगो को किसी प्रकार का परिवर्तन करने का साहस नही करना चाहिए। एक अन्य वर्ग (सनातनियो से सम्बद्ध) ऐसा है, जिसके लोगो ने आज के जीव-विज्ञान एव उन शास्त्रो का अध्ययन किया जो मनुष्य जाति की उन्नति से सम्बन्धित है। ऐसे लोगो का कथन है कि हमारी परम्पराएँ एव रूढियाँ, जो जाति व्यवस्था एव विवाह सम्बन्धी प्रतिरोधात्मक नियमो पर

आधृत है, अत्यन्त वैज्ञानिक है और उनमे किसी भी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत परिवर्तन करने मे भयकर परिणामो की उत्पत्ति हो सकती है। एक अन्य वर्ग भी है जिसके लोग कहते है 'हमारे साथ क्या झगड़ा करते हो? काल स्वय आवश्यक परिवर्तन ला देगा।' कुछ ऐसे लोग भी है जो दूसरी सीमा तक जाते है और समाज मे दैवी या आध्यात्मिक स्वरूप वाले जीवन-मूल्यो के अस्तित्व को अस्वीकार करते है। कुछ लोग वाञ्छित परिवर्तनो के लिए नियमो के निर्माण की आवश्यकता पर बल देते है। कुछ लोग कहते है कि भारतीय सस्कृति के आवश्यक मूल्यो को नींव के रूप मे ले लीजिए और उस पर आज के काल की आवश्यकताओ के अनुसार ढाचा खड़ा कीजिए।' हिन्दू धर्म सदैव विकसता आया है और परम्पराओ मे सदैव परिवर्तन होते रहे है। देखिए इस विषय मे इस खण्ड के अध्याय २६ एव ३३। जो परिवर्तन होते रहे वे किसी विधायिका-सभा द्वारा नहीं होते थे, प्रत्युत उनके पीछे टीकाकारो एव निबन्ध लेखको के ग्रन्थ एव वक्तव्य होते थे, जिनके फलस्वरूप भारत के विभिन्न भागो मे विधि-विधानो, लोकाचारो प्रयोगो, धार्मिक एव आध्यात्मिक मतो के विविध स्वरूप प्रकट हो गये। अग्रेजो के आगमन के पूर्व भारत विविध राज्यो मे बँटा था और कोई ऐसी विधायिका सत्ता नहीं थी जो सम्पूर्ण देश के लिए एक समान व्यवहार (कानून) स्थापित कर सके। प्राचीन एव मध्यकालीन धर्मशास्त्र-लेखको का मत था कि राजा को वर्णो एव आश्रमो से सम्बन्धित शास्त्रीय विधियो के विरोध मे जाने का अधिकार नहीं है। इस विषय मे देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ३ (पृ० ९८–१०१)। व्यवहारो एव विश्वासो के विषय मे परिवर्तन सदैव होते रहे, किन्तु ये परिवर्तन विद्वान् भाष्यकारो द्वारा ही उद्भूत हो पाते थे, क्योकि वे समाज मे बैठ गये परिवर्तनो का उल्लेख कर उन्हे शास्त्रीय रूप दे देते थे। आज स्पष्टत समाज मे तीन वर्ग पाये जाते है—(१) **सनातनी** लोग या ऐसे लोग जो परिवर्तन नहीं चाहते, (२) **कट्टर सुधारवादी**, यथा मूर्ति-पूजा विरोधी आदि तथा (३) **समन्वयवादी**, जो प्राचीन एव नवीन बातो का समावेश चाहते है।

अब प्रश्न यह है कि प्राचीन प्रयोगो अथवा आचारो मे किनको सुरक्षित (या पालित) करना चाहिए या किनको हटा देना चाहिए तथा किन नये आदर्शो एव जीवन-मूल्यो को अपना लेना चाहिए। जीवन-मूल्यो के विषय मे यहाँ पर स्थानाभाव से अधिक नहीं कहा जा सकता। मूल्यो (लक्ष्यो) का निर्धारण अधिकाशत वातावरण जन्य होता है। अभी एक या दो शती पूर्व दासता या जातीय वैषम्य एव गर्व, फैक्टरियो मे छोटी-छोटी अवस्था वाले बच्चो को पसीने से लथपथ देखना मानो ईसाई देशो मे नैतिक तटस्थता का द्योतक था। किन्तु आज उन देशो मे कुछ लोग इसे सामान्यत घृणित एव अनैतिक मानते है। किसी काल मे पशु यज्ञो को बड़ी महत्ता प्राप्त थी और उसे परलोक सम्बन्धी महान् लक्ष्य का रूप दिया जाता था। किन्तु उपनिषद्काल मे अहिसा को प्रमुख महत्त्व दिया गया। फिर भी हमारी सस्कृति के कुछ ऐसे विशिष्ट मूल्य है, जो तीन सहस्र वर्षो से आज तक चले आये है, यथा—इसकी चेतना कि सम्पूर्ण लोक अनन्त, नित्य तत्त्व (परम ब्रह्म) की अभिव्यक्ति है, इन्द्रिय-निग्रह, दान एव दया। आज का युग लोकनीतिक है और लोकनीति के महत्त्वपूर्ण मूल्य है—न्याय, स्वतन्त्रता, समानता एव भ्रातृभाव। किन्तु अभाग्यवश उन लोकनायको मे जो आज लोकनीति का जय-घोष करते है, बहुत-से ऐसे है जो स्वार्थ एवं ईर्ष्या की मुट्ठी मे है। लार्ड ऐक्टन ने लिखा है—"सभी प्रकार की सत्ता व्यक्ति को भ्रष्ट करती है, पूर्ण एव अनियत्रित सत्ता व्यक्ति को पूरी तरह भ्रष्ट कर देती है।" कोटिल्य ने दो सहस्र वर्षो से अधिक पहले कहा कि शक्ति मन को मत्त कर देती है। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ३ (पृ० ११४, जहाँ पाद-टिप्पणी १५१ मे उद्धरण दिये हुए है)।

आज के बहुत-से युवा लोगो मे कदाचित् ही ऐसी बात पायी जाती हो जिसके लिए वे उत्सर्ग के साथ प्रयत्न करे, अत उनके समक्ष कोई भी आदर्श नही है। हमे सामान्य जनो पुरुषो एव नारियो मे धार्मिक भावना का सरक्षण करना ही है और विज्ञान तथा सामान्य ज्ञान के मार्ग मे पडे अन्ध विश्वासो के रोडो को क्रमश दूर करना है। हमारे प्राचीन धर्म के सिद्धान्त दोषी नही है, प्रत्युत हमे आधुनिक हिन्दू समाज को फिर से गठित एव व्यवस्थित करना है, विशेषत जबकि आज हमारे देश मे लोकनीतिक जनतन्त्र स्थापित है। महान् आर्थिक विषमता के बीच समानता रखने के लिए बहुत वर्षो तक हमारे नेताओ को महान् प्रयास करने है, शक्तिशाली दलो एव सामाजिक सम्प्रदायो से हमे स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है, दुर्जनो एव खलो के नायको से लोकनीति को बचाना है तथा धनिक लोगो के प्रमुत्व से भी अपने जनतन्त्र की रक्षा करनी है।

हमे अपने देश की विलक्षण एव दारुण कठिनाइयो से विमुख नही होना है। हमे आँखे खोलकर इस विस्तृत एव अति विशाल भारत की जानकारी प्राप्त करनी है । आधुनिक भारत मे आठ प्रमुख धर्म है (हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख, मुस्लिम, पारसी, ईसाई एव यहूदियो का धर्म), कुछ ऐसी जातियाँ है, जिनके अपने विशिष्ट आदिम आचार है, विभिन्न राज्य है जो १४ विभिन्न भाषाओ पर आधृत है, ६ सघीय प्रदेश है और लगभग २०० परिगणित बोलियाँ है। इनसे पूर्ण प्रादेशिक स्वतन्त्र सत्ता और सास्कृतिक पृथकत्व की सभावना हो सकती है। भारतवासियो मे महान् विषमताएँ भी है, एक ओर आदिम जातियाँ एव ऐसे लोग है जो अस्पृश्य कहे जाते रहे है और दूसरी ओर अति पढे-लिखे लोग है और इन दोनो के बीच मे अशिक्षित लोगो की वह विशाल सख्या है जो पूरे देश की जन-सख्या की लगभग ७७ प्रतिशत है। बाह्य लोगो द्वारा शतियो तक विजित होने के उपरान्त हमारे देश ने स्वतन्त्रता पायी है। स्पष्ट है, यह सब हमे बडी गभीरता से सोचने के लिए एव कार्यरत रहने के लिए उद्वेलित करता है। हमे हिन्दू धर्म के आधारभूत सिद्धान्त नही छोडने है, किन्तु नयी एव जटिल दशाओ से सघर्ष करने के लिए हमे उनका नवीनीकरण करना होगा और एक परिवर्तित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना होगा। प्रत्येक व्यक्ति यही कहता है कि हममे राष्ट्रीय एकतानुभव के लिए भावात्मक एकता की परम आवश्यकता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ लोगो ने निर्देश किया है, जाति-प्रथा को उखाड फेकना। यदि जाति-प्रथा कोई विभाव्य मान अथवा स्पर्शवेद्य (स्पृश्य या प्रकट) वस्तु हो तो उसे सुकरता एव शीघ्रता से तोडा जा सकता है। किन्तु बात वास्तव मे वैसा नही है। कानून द्वारा हम इसे नष्ट नही कर सकते। लगातार बहुत दिनो के प्रयासो के फलस्वरूप हृदय परिवर्तन मे ही यह सम्भव हो सकता है, केवल लम्बी-लम्बी एव चिकनी-चुपडी बातो से कुछ नही होगा।

जाति-प्रथा, सयुक्त परिवार पद्धति एव उत्तराधिकार एव रिक्थाधिकार के नियम केवल हिन्दुओ की अपनी विशेषताएँ है और वे सामाजिक विषय है न कि धार्मिक। हमारे सविधान ने इन सभी को स्पर्श कर लिया है। ये तीनो विषय वास्तव मे सामाजिक है, यदि ये धार्मिक होते तो सविधान इन्हे छू नही सकता था। जैसा कि हमने देख लिया है, सविधान ने अस्पृश्यता का नाश कर दिया, हिन्दू-विवाह-कानून ने कतिपय अवरोधो को दूर कर दिया है, अब विभिन्न जातियो के लोग एक-दूसरे से विवाह कर सकते है और अब एक हिन्दू किसी भी हिन्दू (बौद्धो, जैनो एव सिखो सहित) से विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, केवल सपिण्डता एव निषिद्ध पीढियो पर ध्यान देना होता है। जैसा कि हमने ऊपर देख लिया है, हिन्दू-

उत्तराधिकार कानून ने संयुक्त परिवार-पद्धति का नाश कर दिया है, यद्यपि स्पष्टत कानून द्वारा उसका विघटन नही किया गया है।

आज हमे न केवल जाति-प्रथा के विरोध मे आक्षेप या वाग्माडम्बर प्रदर्शित करने हैं और सभी भारतीयो की भावात्मक एकता के लिए प्रयत्न करने है, प्रत्युत हमे एक ऐसी आचार-संहिता का निर्माण करना है जो हममे दिन-प्रति-दिन के आचरणो मे तद्विषयक सचेतनता लाये। हम यहाँ पर आचार-संहिता के विस्तृत विवेचन मे नही पड सकते, क्योकि, उसके लिए एक पृथक् ग्रन्थ की आवश्यकता पडेगी। कुछ आवश्यक प्रत्यक्ष निर्देश एव प्रस्ताव रखे जा सकते है जिनके आधार पर कुछ योग्य लेखक ग्रन्थ उपस्थित कर सकते है। हममे विचारो का मन्थन होना चाहिए। यह सम्भव है कि आरम्भ मे दारुण एव महान् कठिनाइयो का सामना करना पडे, जैसा कि देवो एव असुरो द्वारा किये गये समुद्र-मन्थन मे करना पडा था किन्तु समुद्र-मथन के उपरान्त विष के साथ अमृत भी उत्पन्न होता ही है।

हमे अपनी कठिनाइयो के समाधान मे निराशा नही प्रदर्शित करनी है। निराशा का अर्थ है नाश एव मृत्यु। शतियो से हमारे देश की जो दशा रही है उसमे हमे साहस नहीं छोडना है। हमे गत तीन सहस्र वर्षो की अपनी विलक्षण उपलब्धियो पर ध्यान देना है और धर्मशास्त्रो के प्राचीन ऋषियो की निम्नलिखित सम्मतियो को स्मरण रखना है। मनु (४।१२७) मे आया है [७] —"गत असफलताओ के कारण अपने को गर्हित नही करना चाहिए, मृत्युपर्यन्त समृद्धि की आकाक्षा करनी चाहिए और उसे दुर्लभ नही समझना चाहिए।" ऐसा ही याज्ञवल्क्य (१।१५३) ने भी कहा है—'किसी विद्वान ब्राह्मण, सर्प, क्षत्रिय एव अपने को गर्हित नहीं समझना चाहिए। (इन लोगो की अवमानना नही करनी चाहिए), मृत्यु पर्यन्त समृद्धि (श्री) की आकाक्षा करनी चाहिए और किसी के मर्म को स्पर्श नही करना चाहिए (अर्थात् किसी के कर्मो या छिद्रो का उपहास नही करना चाहिए।)" हम अपने पूर्व पुरुषो की उपलब्धियो पर गर्व करते है। यदि हम अपने देश के उच्चतम विकास के लिए स्वार्थ की भावना एव यश की प्राप्ति की इच्छा से रहित होकर वर्षो तक एकता के साथ प्रयत्न करते रहे तो कोई कारण नही है कि हमारा देश भी ससार मे अन्य देशो मे आगे न बढ जाये या कम से कम उनके समकक्ष मे न आ जाये। ईशोपनिषद् (२, वाज० स० ४०।२) मे सामान्य जनो के लिए ऐसा आदेश है—'इस लोक मे शास्त्र द्वारा विहित) कर्मो को करते हुए व्यक्ति को सौ वर्षो तक जीने की आकाक्षा करनी चाहिए।' ऐतरेय ब्राह्मण (३३।३) ने शुनःशेप की गाथा मे कहा है कि लोगो को सदा कर्तव्य करते रहना चाहिए और इस पर बल दिया है कि जो कम नही करता है, उसके पास श्री (समृद्धि) नही आती है (नानाश्रान्ताय श्रीरास्तीति)। स्वय ऋग्वेद (४।३३।११) मे आया है कि देव लोग उनसे मित्रता नही करते जो अपने को कर्म करके थका नही डालते (न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा)।

भारतीय सस्कृति एव सभ्यता का मुख्य उद्देश्य था अन्य देशो एव लोगो पर सैनिक एव राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति न करना, इसने भारतीयो को आक्रमणात्मक एव सुरक्षात्मक उद्योगो के प्रति उदासीन रखा और धन की प्राप्ति के लिए विशाल परिमाण मे सघो के निर्माण के लिए भी लोगो को उत्साहित नही किया। किन्तु आज हमे वास्तविकता से मुख नही मोडना है। आज विश्व मे प्रतिद्वन्द्विता का साम्राज्य है, चतुर्दिक् सघर्ष-ही-सघर्ष दृष्टिगोचर

७ नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभि । आ मृत्यो श्रियमन्विच्छेन्नैना मन्येत दुर्लभाम् ॥ मनु० (४।१३७), विप्राहिक्षत्रियात्मानो नावज्ञेया कदाचन। आ मृत्यो श्रियमाकाक्षेन्न कचिन्मर्माणि स्पृशेत ॥ याज्ञ० (१।१५३)।

हो रहे है। हमे एक ओर अपनी सस्कृति के अमर सिद्धान्तो को नही छोडना है, किन्तु यह भी सोचना है कि हमारे देशवासी सामारिक सुख की उपलब्धि मे प्रतिद्वन्द्विता मे पीछे भी न पड जाये। हमारे देश मे वहुधा कुछ लोग वहुत अल्प अवस्था मे ही वैराग्य धारण कर लेते हे और यह स्थिति आज भी है, उधर पाश्चात्य देशो मे अत्यन्त कार्यशीलता मे लोगो ने कुछ शतियो के भीतर अपार सम्पत्ति एकत्र कर डाली हे। अत जब आज हमारे नेता हमारे समाज को नवीन रूप देना चाहते हे तो उन्हे ऐमे गुणो की उपलब्धि करनी चाहिए, जिनके द्वारा वे स्थितप्रज्ञ (पूर्णरूपेण विकसित या आदर्शमय आत्मा) हो जाये (भगवद्गीता २।५५-६८) या भगवान् के व्यक्ति (वही १३।१३-१८) हो जाये। हमारे प्राचीन धर्म एव दशन के आधार पर ही सामाजिक सुधारा एव राजनीति के उपदेश होने चाहिए। यदि हमारे देश के अधिक लोग एव हमारे नेता धर्म एव आध्यात्मिकता को छोड देगे तो सम्भावना इसकी है कि हम लोग आध्यात्मिक जीवन एव सामाजिक उत्थान को खो वैठेगे। इस विषय मे यहाँ अधिक कहना सम्भव नही है। देखिए, गत अध्याय—३३। अति प्राचीन काल से ही भारत के सभी धर्मो ने (बौद्ध एव जैन को छोड कर) एक तत्त्व अर्थात् परमात्मा पर तथा आत्मा की अमरता पर विश्वास किया। विज्ञान एव उसके चमत्कारो के कारण कुछ लोग दम्भ एव अहकार मे आ गये हैं और परमात्मा की भावना का उपहास करते है। किन्तु उन्हे जानना चाहिए कि विज्ञान केवल गौण कारणो पर ही प्रकाश डालता है, वह मनुष्य की अन्तिम परिणति एव कारण के विषय मे मूक ही रहता है। *यह जीवन के उद्देश्य पर प्रकाश नही डाल सकता और न यह नैतिक मूल्यो के विषय* मे ही कुछ वता सकता हे। आज की और आने वाली पीढियो को ऐसे वातावरण मे प्रशिक्षित करना है जहाँ आध्यात्मिक जीवन, सत्य-प्रेम, भ्रातृभावना, शान्ति-प्रेम एव दलित के प्रति करुणा एव सहानुभति आदि परम पुनीत गुणो को सभी लोग प्राप्त करने का उद्योग करे।

भारत के करोडो लोगो के लिए थोडे-से शब्दो मे आचरण-सहिता उपस्थित करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु उनके लिए जो सीमित ढग मे शिक्षित है और व्यस्त जीवन विताते है, उदाहरणस्वरूप कुछ निर्देश दिये जा रहे ह। अन्य जातियो के स्पर्श से उत्पन्न अपवित्रता तथा कुछ लोगो की छाया से उद्भूत अपुनीतता की भावना का परित्याग होना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने क्रोध मे आकर कहा था—"आज के भारत का धर्म है 'मुझे न स्पर्श करे" (वक् स, खण्ड ५, पृ० १५२)। प्राचीनता पर आधारित परम्पराओ एव रूढियो की जाँच तर्क एव विज्ञान के आधार पर की जानी चाहिए। विश्व के मूल, ग्रहणो के कारण, आदि के बारे मे जो पौराणिक गाथाएँ हे उन्हे आज के वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश मे त्याग देना चाहिए और अब उन्हे आज की धर्मिक बातो से सर्वथा हटा देना चाहिए, अब उन्हे केवल कपोल कल्पित ही मानना चाहिए। वहुत से क्रिस्तान (ईसाई) एव हिन्दू-मुसलमान ऐसा विश्वास करते है कि स्वर्ग ऊपर है और नरक नीचे। किन्तु भाष्यकार शबर ने प्रथम शती मे ऐसा उद्घोष कर दिया कि स्वर्ग कोई स्थल नही हे। अत आज के लोगो के लिए प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो मे उल्लिखित स्वर्ग एव नरक से सम्वन्धित धारणाएँ विश्वास की वाते नही हो सकती। आधुनिक विज्ञान, पाश्चात्य साहित्य एव विचारधारा ने मूल्यो, ध्येयो एव सस्थागत धारणाओ के मुख को मोड दिया हे। प्राचीन विश्वास टूट रहे ह और नये घर कर रहे है। प्राचीन ढाँचे गिरकर चूर-चूर हो रहे हे और नये आदर्श खडे होते जा रहे हे। किन्तु हो चाहे जो, हमे समाज को इस प्रकार नियमित करना है कि कुटुम्ब एक सामाजिक इकाई के रूप मे अवस्थित रहे, प्रत्येक बच्चे को, वह चाहे जिस वर्ग या जाति का हो, शिक्षा के क्षेत्र मे समान अवसर प्राप्त हो, मनुष्य का आह्निक कर्म दैवी कर्म एव पूजा की सज्ञा पाये तथा धन-सम्बन्धी विषमताएँ दूर हो जाये।

स्वामी विवेकानन्द ने बहुत पहले कहा है—'अबोध भारतीय, दरिद्र एव हीन भारतीय, ब्राह्मण भारतीय नीच जाति का भारतीय मेरा भाई है।' "दुहराओ एव रात-दिन प्रार्थना करो—'हे गौरीश, मुझे मनुष्य बना

दो," (डब्ल्यू० टी० डी० बारी द्वारा 'सोर्सेज आव इण्डियन ट्रेडिशन' मे उद्धृत, न्यू यार्क, १६५८, पृ० ६५६)। देखिए अथर्ववेद (१२।१।४५) जहाँ सभी मनुष्यो के, जिनकी माता पृथिवी है, सार्वभौम भ्रातृत्व के विषय मे उक्ति है।

धर्मशास्त्र के इतिहास के अन्तिम खण्ड की परिसमाप्ति कठोपनिषद् एव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीताञ्जलि के उद्धरण से की जा रही है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गंपथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ (३।१४)

"उठो, जागो तथा श्रेष्ठ (गुरुओ) को प्राप्त कर (सत्य को) समझो, छुरे की तीक्ष्ण धार को पार करना कठिन है, इसी प्रकार विज्ञजन कहते है कि (आत्मानुभूति का) मार्ग बडा कठिन है।"

जहाँ मन निर्भय हो और सिर ऊँचा हो,
जहाँ ज्ञान स्वतन्त्र है,
जहाँ विश्व सकीर्ण घरेलू दीवारो से विभिन्न टुकडो मे न बँट गया हो,
जहाँ शब्द सत्य की गहराई से प्रस्फुटित होते है,
जहाँ श्रान्तिहीन प्रयास अपने बाहुओ को पूर्णता की ओर बढाते है,
जहाँ तर्क की निर्मल धारा मृत आचरण की निर्जन मरुभूमि की बालुका मे अपना पथ भूल न गयी हो,
जहाँ पर तुम्हारे द्वारा मन सतत विशाल होते हुए विचार एव कर्म की ओर ले जाया जाता है—
उसी स्वतन्त्रता के स्वर्ग मे, हे पिता, मेरा देश जगे।